

hp 1.2

सिद्धान्त

“कथंति रघुवशातिलकः काशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

साप्ताहिक

सम्पादक—

श्री गङ्गाशङ्कर मिश्र

श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी

पञ्चम वर्ष

गङ्गातरङ्ग, नगवा, काशी ।

२००१

वार्षिक मूल्य ३)

एक प्रति —)

लेखसूची

(लेख के आगे पृष्ठ का अङ्क दिया हुआ है)

१. सम्पादकीय—हमारा पांचवां वर्ष १, खुली चुनौती ९, नवीन जाति-
मेद २५, विवाह का भविष्य ३३, ब्राह्मणवाद का भय ४१, ४९,
५७, ६५, परस्पर विरोधिनी बातें ८१, 'समय चूक पुनि का पछि-
ताने' ८९, साक्षरता का दौआ ९७, 'पूर्व में उन्नति के चिन्ह ?'
१०५, स्त्रियों को उत्तराधिकार क्यों नहीं ? ११३, 'विवाह में
स्वच्छन्दता' १२१, 'धर्म मरते क्यों है ?' १२५, अमरीका में
राष्ट्रपति का निर्वाचन १२९, ब्रिटिश चुनाव के हतकण्ठे १३३,
'हिन्दूकोड' का मसविदा १३७, १४१, बहिष्कार या प्रतीकार ?
१४५, भारत का भावी शासनविधान १४९, १५३, १५७,
१६१, बर्नाडेशा की विचारधारा १६९, विरोध का जोर १७३,
स्वागत १८१, धर्मसङ्घ चतुर्थ महाधिवेशन १९३, १९७,
'हिन्दूकोड' पर अक्टूबर काटजू के विचार २०१, २०५, आवश्यक
निवेदन २०९, दूसरी चाल २३३, स्वतन्त्र भारतशासनविधान
२३७, २४१, 'हिन्दू धर्मशास्त्रसङ्ग्रह' २४५, प्रयाग में 'रावकमेटी'
२४९, धर्माधिकारियों का प्रभाव २५७, निम्ननीय प्रचार २६१ ।
२. टिप्पणियाँ—सहशिक्षा का भ्रम २, ज्ञान और विश्वास का सिंहासन १०,
दासमन्त्रवृत्ति का एक उदाहरण १०, शास्त्र या अनुभव ? २२,

स्त्रियों की विक्री २६, विरोध की अवधि ३४, विवाहविल पर संयुक्त
समिति ४२, मानवता की झलक ४२, ईश्वर-प्रेम का उपदेश ५०,
बालदीक्षाप्रतिबन्धक बिल ५८, शिक्षा और सभ्यता ६६, बाजी
मारने की धुन ६६, लड़कियों और तैरना ६६, 'भगवदिच्छा' और
ब्रिटिश साम्राज्य ९०, ब्राह्मणों की निःस्पृहता ९८, सरकार
की दीर्घसूत्रता १०६, हिन्दूमुसलिम मेल १०६, क्या करना
चाहिए ? ११५, नया सङ्कट ११५, निस्तार नहीं १२२,
विलविरोध कार्य १२२, 'शिक्षा और धर्म' १२६, भारत में क्या
देखा ? १२९, सन्तान वृद्धि १२९, देश के साथ विश्वासघात
१३०, बड़ोदे में 'एकजी-विवाह कानून' १३४, गान्धीजी
और 'हिन्दू उत्तराधिकार बिल' १३४, जिन्नासाहब और अन्त्यज
१३८, गाँवों में ७ लाख वाचनालय १३८, सामूहिक
उपासना १४५, दुराचरण और अनावृष्टि १४९, मनोरञ्जक
समाचार १५४, 'सारस्वत समाज' में लीड लिटन १५७,
स्वतन्त्रता क्या है ? १६३, शिक्षितों की शिष्टता १७०, शिष्टता का
एक और नमूना १७३, भारतीय नगरनिर्माण कला १९४, 'सगोज-
विवाह बिल' १९४, धर्मग्रन्थों की होली १९४, कुबोग १९८,

अ० भा० धर्मसङ्घ चतुर्थ महाधिवेशन, काशी में स्वीकृत प्रस्ताव १९९, मत मेजने की अवधि बढ़ी २०१, 'हिन्दू महासभा' और 'हिन्दू कोड' २३७, 'रावकमेटी' का दौरा २३७, हगिद्वार अर्द्धकुम्भ मेला और टीका २४२, सुधारक भी विरोधी २४२, वैदिक कहानियों २४५, 'बरेलू दासत्व' २५०, ब्रिटेन में वेदान्त २५०, धर्मग्रन्थों की काटछाँट २५७, 'रावकमेटी' का दौरा २५७, 'सगोत्र विवाह बिल' २५८, केवल धर्मप्रचार के लिए २६१, शुभ समाचार २६१।

३. अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिषपीठाधीश्वर श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज—हमारा कर्तव्य १७, १८५, समदर्शी २२५।

४. श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज—उल्टी समझ २, भगवत्सेवा १०, जीवनसाफल्य १९, प्रसुप्रेम से भयनिवृत्ति २६, गीता की नवीन व्याख्याएँ ३४, यज्ञों की उपयोगिता ४२, प्रश्नोत्तर ५०, सृष्टि कर्तृत्व ५८, 'अनन्ता वै वेदाः' ६७, श्रीविष्णुतत्व ७३, ८२, ९०, ९८, १०७, ११६, १२२, १२६, १३०, भगवान् कृष्ण और उन के परिकर १३४, १३८, प्रेम और अमेद १४२, लक्ष्य और मार्ग १४६, साधन और साधना १४९, अधर्मनाश क्यों? १५४, गोपीगीत १५८, १७०, पाकिस्तान और काङ्ग्रेस १६२, १६५, ब्राह्मणों की कूट नीति १७३, १७७, मीमांसकों की दृष्टि में शास्त्र १८१, १८८, 'धर्मसङ्घ' का सच्चा उपदेश १९४, संस्कार और शिष्टा १९८, नामरूपतत्त्व २०२, प्रचारबल २०६, रामविवाह २०९, २१३, ब्राह्मण भाग का वेदत्व २१७, २२१, २२५, २२९, नवीन या प्राचीन मार्ग? २३४, 'हिन्दू कोड' का विरोध आवश्यक २३८, श्रीभगवतीतत्व २४२, २४५, २५०, २५८, २६२, २६२, २७३, २७७, 'हिन्दू कोड' २५३, आह्वान २७३, लक्ष्मणजी यज्ञ-संस्मरण २७८।

५. श्रीस्वामी शङ्करतीर्थजी—स्वागज्यलाम ४, श्रीभारतसावित्री ११, अनुभूतिप्रकाश ३५, प्रार्थनारहस्य ६०, ६८, आधुनिक उपासक सम्प्रदाय का परिणाम ७५, ८३, ९१, ९९, सदसद्विचार १२७, १३१, १३४, १३८।

६. महन्त श्री शान्तानन्द जी, श्रवणनाथमठ, हरद्वार—केवल प्रकाश १८३।

७. आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्यजी, बरेली—हमारे सिद्धान्त ३६, भारतीय कौन? १४२, समन्वयवाद १७८।

८. श्री श्रीधरशास्त्री वारे, काव्यतीर्थ, मीमांसक, नासिक—क्या सभी वाजसनेय शास्त्रीय शूद्र हैं? २९।

९. श्री जीवनशङ्कर जी याज्ञिक, एम्. ए., अध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय—'मामनुस्मर युद्ध च' ५।

१०. श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती एम्. ए. अध्यापक, त्रिचन्द्र कालेज, काठमाण्डू, नैपाल—चित्तविश्रान्ति १२, २०, २७, ३७, ५१, ६१, ६९।

११. श्री सदाशिवकृष्ण फडके, पनवेल—श्री मच्छङ्कराचार्य से सम्भाषण ८६, ९३, १०१, १०८, ११९, १२४।

१२. श्री विजयानन्द त्रिपाठी 'मानस राजहंस', प्रधान मन्त्री अ० भा० धर्मसङ्घ, काशी—सनातनी योजना और पाकिस्तान, ६३।

१३. श्री विनायक विष्णु देशपाण्डे एम्. ए. प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय—'हिन्दू कोड' पर पण्डितसमिति का शास्त्रीय विचार २०७, २१०, २१५, २१८।

१४. श्री बलदेव उपाध्याय एम्. ए. अध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय—वेदान्त में जड़त्व ४४, शाङ्करवेदान्त और त्रिकदशान २३८।

१५. श्री श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, काशी—वासनायुक्त और वासनाहीन में अन्तर ८५।

१६. श्री जयेन्द्रराय भगवन्मलाल जी दूरकाल एम्. ए. अहमदाबाद—'हिन्दू कोड' भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार) बिल

पर मन्तव्य ५५, ६३, ७१, ७९, विक्रम की बीसवीं शताब्दी में संस्कृति का शास्त्राविस्तार १३६, १३९, 'हिन्दू कोड' पर अभिप्राय १९२।

१७. श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी, अहमदाबाद—सनातनी योजना के प्रधान तत्व १३, भाग्योपसर्ग विधान योजना ७८, ८८, १२७, १३१, १३५, धर्मासुरी स्वराज शासनविधान १७९, १८३, १९५।

१८. श्री नारायण सदाशिव पराण्डे बी. ए., एल्. एल्. बी. नागपुर—सनातनी शासन-विधान योजना में यवनस्थान ५३ 'भारतीय शासन योजना' पर मन्तव्य ११६।

१९. श्री भाईपरमानन्द जी—धर्मशास्त्रों का अन्त करने के लिए १५।

२०. श्रीमती रानी ललिताकुमारी, विजयानगरम्—हिन्दू स्त्रियों के लिए नया खतरा ३०।

२१. राजासाहब श्री दुर्जनसिंह जी, जावली, अलवर—सतयुग की झलक २१४।

२२. श्री श्रीशचन्द्रनन्दी, महाराज कासिमबजार—'हिन्दू कोड' पर अभिप्राय १८८।

२३. श्री सेठ गौरीशङ्कर जी गोयनका, काशी—सामयिक आवश्यकताएँ १९०।

२४. श्री पुरोहित लक्ष्मीनारायण शास्त्री, कांकरोली, मेवाड़—संस्कार, समाज और संस्कृत भाषा २००, २०२।

२५. श्री देवकृष्ण त्रिपाठी, काशी—स्वर्ग या नरक के पथिक २२ 'समय का प्रभाव' ७७।

२६. श्री हीरावल्लभ जोशी—समाज में शूद्रों का स्थान ६।

२७. श्री चन्द्रशेखर शास्त्री, व्यावर—आधुनिक पत्रों की नीति १५२।

२८. श्री इन्द्र एम्. ए.—राज्यशासन का डर ९४।

२९. श्री चन्द्रबली पाण्डेय, एम्. ए., काशी—"प्रतिविम्बि लखयतु जहाँ" ३९, 'मिश्र जी' का मूलस्थान १४९।

३०. विद्याभूषण श्री पं० नन्दलाल जी खेड़वाल, साहित्याचार्य—"शुनि चैव स्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः" २२९।

३१. श्री शिवकुमार शास्त्री व्याकरणाचार्य—विवर्त और अध्यास ३८।

३२. श्री कृष्णदत्त भारद्वाज एम्. ए. आचार्य, शास्त्री—भगवान् की पूजा १४४, १४६।

३३. श्री राजारामशरण जी—'सार्वभौम धर्म' २३८।

३४. श्री हर्षनारायण जी—सृष्टिकर्तृत्व खण्डन ४६।

३५. श्री रामेश्वर पाण्डेय—मनुष्यजाति पर गौ के ऋण ५४।

३६. श्री देवीनारायण जो पण्डोकेट, काशी—प्रचलित हिन्दू उत्तराधिकार कानून ७, दायभाग उत्तराधिकार २३, उत्तराधिकार बिल का विधिवृक्ष ३१।

३७. श्री काशीराम जी इस्सर एम्. ए. मन्त्री—'धर्मसङ्घ शिक्षा मण्डल' की परीक्षाएँ २११।

३८. श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी, काशी—'जाली भगवान्' ११४, ११५ बुद्धिवादी या बुद्धिशत्रु? १४७, १५७, १५८, १६२, १६३, १७०, १७४, १७९।

३९. श्री केशवमणि शास्त्री—वीरस्तुति २८०।

४०. श्री शिवशरण जी, काशी—मानसिक नेतृत्व ४७, भारत में नये दार्शनिक १६७, १७१, १७५, सब धर्मों का खूल १९५ सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था २१८, २२४, २२६।

४१. एक जिज्ञासु—'सामवेद की अशुचिता' २२।

४२. एक सामवेदी—सामवेद की शुचिता २८।

४३. एक किताबी कीड़ा—भारतीय नौनिर्माण कला ९६, १०० मुसलमान शासनकाल में डाकव्यवस्था २०४।

४४. धर्मसङ्घ समाचार—१६०, १६४, १६८, १७२, १७६, १८०, १८४, २०८, २१२, २१९, २२३, २२७, २३१, २३४, २३८, २४३, २४६, २५४, २५९, २६४, २६७, २७६, २७९।

सिद्धान्त

“जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क १]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
स० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—चैत्र शुक्ल ११ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० ४ अप्रैल, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), इस प्रति का =)

हमारा पाँचवाँ वर्ष

मङ्गलमय भगवान् के परम अनुग्रह से इस अङ्क के साथ हमारा पाँचवाँ वर्ष आरम्भ हो रहा है। इस अवसर पर हमें अपने भावी कार्यक्रम पर एक दृष्टि डालना उचित जान पड़ता है। यह वर्ष महाराज विक्रमादित्य की तृतीय सहस्राब्दी का ऐतिहासिक प्रथम वर्ष है। ज्योतिषियों का कहना है कि सहस्राब्दि-परिवर्तन का यह वर्ष न केवल भारत ही अपितु समस्त संसार के लिए महान् परिवर्तन एवं अत्यन्त अनिष्टकारी सिद्ध होगा। इस वर्ष का नाम ‘हेमलम्ब’ है, जो अत्यन्त भयङ्कर होता है। यमस्वरूप शनि महाराज स्वयं इस वर्ष के सम्राट् पद पर आसीन हैं। भाँति भाँति के अभूतपूर्व उत्पातों द्वारा अखिल विश्व को दुःख सागर में डुबाना उन का सहज स्वभाव है। शास्त्रकारों ने लिखा है कि शनि के शासन-काल में खण्डवृष्टि, भाँति भाँति के रोग, चोर-डाकुओं के सन्ताप और दुर्भिक्ष से जनता क्षुधातुर होकर इधर उधर भटकती फिरगी तथा राजाओं में युद्ध होगा—“शनैश्चरे भूमिपतौ सकृज्जलं प्रभून्रोगैः परिपाङ्क्यते जनाः । युद्धं नृपाणां गदतस्कराद्यैर्भ्रमन्ति लोकाः क्षुधिताश्च देशान् ।” यद्यपि ज्ञान एवं सुखस्वरूप देवगुरु बृहस्पति महामन्त्री पद पर नियुक्त हैं, जो संसार के संरक्षण एवं सुखप्रदान करने में तत्पर रहेंगे, पर आजकल अधिनायकों (डिक्टेटरों) का युग है, इसलिए उन्हें अपने सत्प्रयत्नों में सफलता होगी, इस में सन्देह ही ही है। शनि के शासन का प्रभाव वर्ष के आरम्भ से ही देख पड़ रहा है। चैत्र में यत्र-तत्र महावृष्टि हो रही है और ओले पड़ रहे हैं। सोयी हुई महामारी (प्लेग) फिर उठकर विचार रही है, अन्न-वस्त्र के लाले पड़ रहे हैं। महायुद्ध की समस्या जटिल होती जा रही है, उस की लपटें भारतभूमि तक पहुँच गयी हैं। भावी विश्वनिर्माण के सम्बन्ध में मित्रराष्ट्रों के भीतरी-भीतर मतभेद का सङ्केत भावी दीर्घकालीन अशान्ति की सूचना दे रहा है। इतना होते हुए भी हम भीषण भविष्य को गर्भ में धारण करनेवाले नव वर्ष का स्वागत करते हैं। विपत्ति में पड़कर ही मनुष्य की आँखें खुलती हैं, उसे अपनी त्रुटियों तथा विवशता का अनुभव होता है और सर्वनियन्ता ईश्वर की याद अम्ली है। जब किसी का सहारा नहीं रहता तब नास्तिक का हृदय भी एक अदृष्टशक्ति की ओर खिंचता है। कष्ट की पराकाष्ठा देखकर भगवान् को भी दया आती है। भारत-युद्ध समाप्त होने पर जब श्रीकृष्ण द्वारिकापुरी प्रस्थान करने लगे तब कुन्ती ने कहा था कि “राज्य से तो वे विपत्तियाँ ही भली हैं, जिन में भगवान् का सान्निध्य प्राप्त रहता है।” विपत्ति कसीटी है, जिस पर मनुष्य की परीक्षा होती रहती है—“विपत्ति बराबर सुख नहीं, जो थोरे दिन होय। इष्ट मित्र अरु बन्धुगण, जानि परत सब कोय ॥”

भावी विपत्तियों को इसी भावना से देखना चाहिए, पर यदि वे ‘थोरे दिन’ की न हुईं तो फिर अन्त भी निश्चित है, क्योंकि मनुष्य दीर्घ काल तक उन्हें सहन नहीं कर सकता। महायुद्ध से मदनमत्त पश्चिम का मानमर्दन अभी तक नहीं हुआ, वहाँ के नेता कहे जाने वाले लोग आज भी अपनी ही तान अलाप रहे हैं और संसार को उस ओर ही ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं, जिस में उस का पतन सुनिश्चित है। प्रचार की धुन में जो जातिद्वेष का बीज बोया जा रहा है उस के फलस्वरूप क्या कभी शान्ति स्थापित हो सकती है? शत्रुओं के प्रति वालकों के कोमल हृदयों में जो घृणा के भाव भरे जा रहे हैं, उन का परिणाम क्या होगा? विज्ञान और कूटनीति के बल से पश्चिम ने आज सारे संसार पर आधिपत्य जमा रखा है। हमारे सामने प्रश्न है कि हम क्या उसी में पिसते रहेंगे या अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय देंगे? पश्चिम के अधिनायकों का बोलबाला सदा न रहेगा। उन की कारतूतों से जनता थोरे-थोरे ऊब रही है और विचारशील विद्वान् किसी ऐसे मार्ग की खोज में हैं, जिस के अनुसरण से मानवजीवन सार्थक बनाया जा सके। हमारे लिए यही अवसर है, जब हम राजनीतिक तथा उस से भी बढ़कर मानसिक गुलामी का तौक उतारकर फेंक सकते हैं।

हमारे शास्त्रों ने विपत्तियों से निपार होने के लिए दैवी तथा लौकिक दोनों ही उपायों से काम लेने के लिए बतलाया है। इस को ध्यान में रखकर ही हमें अपना कार्यक्रम निश्चित करना पड़ेगा। जहाँ तक बन पड़े सभी प्रकार की दैवी उपासनाओं से लाभ उठाना हमारे लिए परम आवश्यक है। उनसे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की उन्नति होती है। साथ ही लौकिक उपायों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन में शिक्षा और शासन ये दो प्रधान हैं। वास्तव में शासन से भी बढ़कर शिक्षा है, क्योंकि उस के द्वारा मन और बुद्धि का परिवर्तन किया जा सकता है। सरकार की ‘राष्ट्रीय शिक्षा’ योजना तैयार हो रही है, उस में हमारे ही यहाँ के विद्वान् सहायक हो रहे हैं। इस योजना को सफल बनाने का अर्थ है जो कुछ भी हमारी संस्कृति बच रही है, उस का भी विनाश। गत वर्ष हम ने कुछ लेखों में वर्तमान शिक्षा का प्रश्न उठाया था। इस वर्ष भी हम चाहते हैं कि उस पर बराबर विचार चलता रहे। ‘राजा कालस्य कारणम्’ यह प्रसिद्धि है, शासन हमें जैसा चाहता है वैसा बना देता है। इसलिए बिना शासनसूत्र अपने हाथ में लिए हुए हम कुछ भी नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में भावी ‘शासन योजना’ पर विचार करते हुए यह भी देखना है कि हमें कितनी उपायों द्वारा अपना मार्ग साफ करना है। हमारे सामने कई राजनीतिक प्रश्न उपस्थित हैं। धर्मविरोधी कानूनों के विरुद्ध आन्दोलन को प्रबल बनाना है। इस के द्वारा हमें यह सिखलाना है कि जो लोग हमारे

प्रतिनिधि बनकर इन कानूनों को पास कराने जा रहे हैं, वास्तव में हमारे प्रतिनिधि नहीं हैं। इस आन्दोलन के रूप में ही जनता से सम्पर्क स्थापित करके हमें अपना राजनीतिक क्षेत्र भी तैयार करना है। पाश्चात्य प्रजासत्तन्त्र का सिद्धान्त हमें मान्य नहीं है। भारत की 'गुडिया पार्लियामेण्ट' देश का लाभ तो कुछ कर नहीं पाती पर 'वे हानि भरपूर करती है। नये कानूनों द्वारा वे हिन्दूसमाज को खोखला करती जा रही है। इसलिए उन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। बार बार उन के बहिष्कार की घोषणा करके भी कांग्रेस फिर उन्हीं के दरवाजे को खटखटाने के लिए दौड़ती है। 'कार्यसमिति' का कौंसिलों में जाने के विरुद्ध स्पष्ट आदेश होते हुए और गान्धी जी तथा अन्य नेताओं के जेल में रहते हुए भी कांग्रेसी सदस्य केन्द्रीय असेम्बली में जा धमके। ६ वर्षों से असेम्बलियों का चुनाव नहीं हुआ है। बहुत सम्भव है कि शीघ्र ही नया चुनाव हो। उस अवसर पर हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि ऐसे लोग हमारे प्रतिनिधि न चुने जायें, जो हमारे धर्म पर प्रहार करने के लिए उतारू रहते हैं। इस के लिए हमें अभी से प्रयत्नशील होना चाहिए। कानूनों द्वारा हिन्दू धर्मशास्त्रों में कितने छिद्र किये जा रहे हैं, इस को एक लेखमाला द्वारा अगले अङ्कों में दिखलाया जायगा। कांग्रेस और मुसलिम लीग, जो एक दूसरे से लूटी-रहती थीं, अब मिलने के लिए आतुर हैं। यह समाचार भी भावी भय से खाली नहीं है। हिन्दू-मुसलमानों का मेल हम अवश्य चाहते हैं, पर वह 'एकता' नहीं जिस के लिए आज प्रयत्न किया जा रहा है। दोनों ही अपने धर्म तथा संस्कृति की रक्षा करते हुए फूलें-फूलें यह हमारी हार्दिक कामना है। पर दोनों को मिला देने का परिणाम किसी के लिए भी लाभदायक न होगा। 'सिपाही' वायसराय लार्ड वेवेल की स्पष्ट झिड़की से मुसलिम लीग का दिमाग कुछ ठिकाने आया, तब कांग्रेस को भी उस के साथ गठबन्धन करने की उतावली हुई। 'एकता का सौदा' पटाने में कहीं हिन्दू हितों की हत्या न हो जाय, इस की हमें बड़ी चिन्ता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सनातनी हिन्दुओं के लिए यह आवश्यक है कि वे वर्तमान राजनीतिक क्षेत्र की अवहेलना न करें और उस में उतरकर अपना कर्तव्य पालन करें। यह कहीं तक उचित होगा और किन उपायों द्वारा इस में सफलता होगी इस पर विचार करना बड़ा आवश्यक है।

सामाजिक प्रश्न तो हमारे सामने कितने ही हैं। किन किन सुधारों से प्राचीन आदर्शों की रक्षा हो सकती है, इस पर तो बराबर विचार चलता रहना चाहिए। साहित्य, कला, विज्ञान आदि का संस्कृति से बड़ा सम्बन्ध है। उन की आधुनिक प्रगति ऐसी हो रही है जो हमारे आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है। जनता के सामने हमें अपने प्राचीन सिद्धान्तों को रखना है, यह तभी हो सकता है जब हमारे विद्वान् इस ओर ध्यान दें। पत्र-पत्रिकाओं की जिम्मेदारी बड़ी भारी है। जनता की शिक्षा का वे प्रबल साधन हैं। लोकमत के 'ठीकेदार' बन बैठना सहज है, पर उचित पथप्रदर्शन करना बड़ा कठिन है। हम अपनी त्रुटियों का स्वयं अनुभव करते हैं। उन को दूर करने में हमारे लेखक तथा पाठक हमारी सहायता कर सकते हैं। भगवान् पर भरोसा रखते हुए हम नव वर्ष का स्वागत करते हैं।

सहशिक्षा का भ्रम

सम्पत्ति की समानता का भ्रम रुस के दिमाग से वर्तमान महा-युद्ध के पूर्व ही दूर हो गया था और 'नयी अर्थिक नीति' में सम्पत्ति पर व्यक्ति का सीमित अधिकार मान लिया गया था। महायुद्ध की ज्वालाओं में धन-जन स्वाहा होने पर उसे ईश्वर की भी याद आने लगी और ईश्वरविरोधी आन्दोलन बन्द करके प्राचीन ईसाई संस्थाओं को अपने को पुनर्स्थापित तथा धार्मिक प्रचार करने का अधिकार भी दे

दिया गया। स्त्री-पुरुषसम्बन्ध में स्वच्छन्दता के दोषों का कटु अनुभव भी बहुत पहले से हो रहा था। इसी से आगे चलकर तलाक के नियम भी कड़े करने पड़े। सोवियत सरकार का मुखपत्र 'प्रवदा' अपने एक सम्पादकीय लेख में लिखता है कि "तथाकथित स्वतन्त्र प्रेम और स्वेच्छाचार रईसी व्यसन है, साम्यवादी सिद्धान्तों या सोवियत नागरिकों के आचारण या नियमों के साथ उन की कोई समता नहीं है। स्वेच्छाचार घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और उस को दवाने के लिए कड़ाई से काम लिया जाता है। वेश्यालय सरकार द्वारा बन्द कर दिये गये हैं। हम कामवासना को पाप नहीं समझते, हम इतना ही चाहते हैं कि स्वयं अपने तथा समाज के प्रति जिम्मेदारी का अनुभव करते हुए व्यक्ति के लिए उस में शिक्षता आये।" कहा जाता है कि अब वहाँ कुटुम्ब और सदाचारण के प्रति आदर बढ़ रहा है। हाल ही में रुस ने इस ओर एक और कदम बढ़ाया है। लड़के तथा लड़कियों को एक साथ शिक्षा देने की प्रथा तोड़ी जा रही है और दोनों के लिए पृथक् शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। इस पर आलोचना करते हुए लन्दन का "इलस्ट्रेटेड वीकली" लिखता है कि 'इस समाचार से आश्चर्य हो रहा है। यह तो निश्चयेन पोंछे कदम हटाना है।' पर आगे चलकर वह अपना सन्तोष इस तरह करता है कि "सम्भवतः इतने दिनों की सहशिक्षा से वहाँ स्त्री-पुरुषों की समानता पूर्ण रूप से स्थापित हो गयी, इसीलिए अब दोनों की एक साथ शिक्षा देने की आवश्यकता न रही।" परन्तु सचमुच क्या ऐसा ही है? वास्तव में बात यह है कि रुस अब इस प्रथा के दोषों को अच्छी तरह देखने लगा है, तभी उसने इस को हटाने का निश्चय किया है। अपने यहाँ के प्राचीन आदर्शों के तो यह सर्वथा प्रतिकूल है। अग्नि और वारुद एक साथ रखने से कि विस्फोट अवश्य होगा, आश्चर्य है कि यह सीधी सी बात लोगों की समझ में नहीं आती। भारत में सहशिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है और कालेजों में भी, जहाँ बच्चे नहीं युवक-युवतियाँ शिक्षा पाती है, यह प्रथाचल पड़ी है। क्या रुस का उदाहरण सामने होते हुए भी नवशिक्षित भारतीयों का यह भ्रम दूर न होगा?

उलटी समझ

(श्री स्वामी कुरपात्रो जी)

प्रायः कहा जाता है कि भिन्न भिन्न महापुरुषों ने देशकाल, परिस्थिति के अनुसार समाज और विश्व के धारणपोषणालु कूल जिन नियमों को बनाया है, वे ही धर्म हैं। वे नियम किसी समय अपेक्षित होते हैं और कभी अनपेक्षित। अतएव लोकसंग्रही ज्ञानी पुरुषों का कर्तव्य है कि वे देश, काल और समाज की परिस्थिति, योग्यताओं एवं अधिकारों को समझकर धर्माधर्म की व्यवस्था करें। आवश्यकता पड़ने पर नये धर्म बनायें और अनुपयोगी एवं हानिकार पुराने धर्मों को मिटा दें। महापुरुषों के आचार से ही धर्म की उत्पत्ति होती है—“आचारप्रभवो धर्मः।” पहले स्त्रियों का नियमित रूप से एक के साथ विवाह नहीं होता था। महाभारत की कथा है कि श्वेत-केतु और उसके पिता के समक्ष ही, उस की माता को संभोगार्थ लेकुर कोई चला, जब यह देखकर श्वेतकेतु ने मना किया, तब पिता ने कहा—‘पुत्र! कुपित मत हो, सृष्टिकाल से ही स्त्रियाँ स्वतन्त्र हैं। वे किसी एक की नहीं हैं, अतः यथावसर कोई भी उन से रमण कर सकता है।’ इस पर कुपित होकर श्वेतकेतु ने नियम बनाया और कहा कि “आज से मैं सभी स्त्रियों के लिए विशेष नियम बनाता हूँ। यदि वे एक पति का अतिक्रमण करेगी, तो अवश्य ही घोर नरक की भागिनी होगी और पुरुष भी अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य स्त्री में रमण करेगा, तो उसे परदारागमन का पाप लगेगा।” श्वेतकेतु ने

उस व्यवहार को अनुचित और समाज के सौमनस्य, संघटन, धारण का बाधक समझा और वैसा नियम बना दिया। पीछे लोगों ने उसे ही धर्म समझकर माना, तब से ही विवाह का नियम चल पड़ा। परन्तु जब आज वह बन्धन समाज के विपरीत होकर घातक हो रहा है, तो आज के लोकसंप्रदायी ज्ञानी उस बन्धन को क्यों न तोड़ दें और मनोकुल सम्बन्ध न होने से स्त्री-पुरुष सम्बन्धविच्छेदपूर्वक पत्यन्तर और पत्यन्तर क्यों न ग्रहण करें? कहा जाता है कि इसी तरह प्रथम मद्यपान में भी कोई दोष नहीं समझा जाता था। शुक्राचार्य ने उस से कुछ अनर्थ देखकर उस को निषिद्ध ठहराया, तब से मद्यपान में भी पाप समझा जाने लगा। परन्तु आज जब मद्य बिना कोई औषध ही नहीं है, तब उचित मात्रा में उसके सेवन की व्यवस्था क्यों न की जाय? ऐसे ही आज जो भी धार्मिक नियम समाज और राष्ट्र के उत्थान में बाधक हो रहे हैं, जिन के कारण राष्ट्र की प्रगति के पथ में कण्टक बिछाये जाते हैं, जिन नियमों के ही कारण कितने युवक-युवतियों को प्रेम से मुख मोड़ना पड़ता है या तो समाज से वद्विष्ट होकर अपमानित होना पड़ता है, ऐसे निरर्थक नियम और जाति-पाँति, स्वकीय, परकीय कल्पनाएँ क्यों न मिटा दी जाँय?"

यद्यपि ये बातें आपाततः बड़ी ही रमणीय और युक्तियुक्त प्रतीत होती हैं, तथापि विचार करने से इनमें कुछ भी सार नहीं है। अभिज्ञों और शास्त्रों के मतानुसार धर्म-अधर्म से लौकिक हानि-लाभ तो गौण है, पारलौकिक हानि-लाभ ही धर्माधर्म का मुख्य कार्य माना जाता है। इस जन्म में अनुकूल-प्रतिकूल जैसा भी जन्म, आयु और भोग प्राप्त है, वह प्राक्तन धर्म-अधर्म-रूप शुभाशुभ कर्मों का फल है। जब घट जैसा साधारण कार्य बिना कारण के नहीं बनता, दण्ड, चक्र, चीवर, कुलालादि कितने ही साधनों की अपेक्षा होती है, तब विलक्षण शरीरप्राप्ति, विलक्षण बल-बुद्धि, आयु-भोग और तत्-तत् सामग्री, यह सब बिना कारण कैसे बन जायगी? हेतुवैलक्षण्य बिना कार्यवैलक्षण्य का होना असम्भव है। अतः प्राणियों में सुख के तारम्य की न्यूनाधिकता से उस के हेतुभूत और सुखसाधन धर्म-का तारतम्य और न्यूनाधिकता समझी जाती है। दुःख और तत्साधन के वैलक्षण्य या तारतम्य से उस के मूलभूत अधर्म की विलक्षणता को कल्पना होती है और अनन्त जीवों के अनन्त जन्म सम्बन्धी अनन्त धर्माधर्म को जानकर यथोचित फल देनेवाले एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की अपेक्षा होती है, क्योंकि देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि के व्यापार या हलचलरूप कर्म स्वयं जड़ हैं, उन्हें अपना भी ज्ञान नहीं, फिर कर्ता और फल का ज्ञान उन्हें कैसे संभव होगा? जीव भी अल्पज्ञ है, अपने समस्त कर्मों का ज्ञान उसे भी नहीं है। यथाकथञ्चित् ज्ञान हो भी, तो वह अल्पशक्ति होने के कारण फल नहीं सम्पादन कर सकता, यदि समर्थ भी हो तो कभी-भी निषिद्ध कर्मों के अनिष्ट फलों को अवसर ही न आने दें। इसीलिए जैसे राजकीय नियमानुसार आचरण करने से प्रजा में राजा का अनुग्रह होता है, विपरीत से राजा निग्रह करता है, किन्वा स्वामी की सेवा से श्रुत्य के प्रति, स्वामी की अनुग्राह्यता बुद्धि होती है, उसी तरह परमेश्वरीय नियम या शास्त्रों द्वारा सत्कर्मों के करने से भगवान् का अनुग्रह, विपरीत में निग्रह होता है।

परमेश्वर के नियमों और शास्त्रों के अनुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के कर्म या हलचल धर्म कहलाते हैं। इस के विपरीत अधर्म कहलाते हैं। इसी से संन्या, तर्पण, सूर्योपस्थान, जप, अग्निहोत्र, यज्ञ, तप, दान-उपासनादि सत्कर्म और मद्यपान, व्यभिचार, मिथ्या भाषण, हिंसादि असत्कर्म या अधर्म कहे जाते हैं। उन्हीं के बोधक अनादि वेद ईश्वरीय शास्त्र हैं। अनादि जीवों पर अनादि परमेश्वर के नियम या शासनपद्धति का अनादि होना युक्त ही है। अतः उन्हीं परमेश्वरीय अनादि शास्त्र के अनुसार आचरण रूप धर्म को महत्ता से प्राणियों को

सुख और उस के साधन को महत्ता मिलती है। शास्त्रविपरीत कर्मों की अधिकता से दुःख और दुःखसाधनों की बहुलता प्राप्त होती है।

इस दृष्टि से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कर्मफलदाता परमेश्वर और उस का शास्त्र जिन कर्मों को धर्म माने वही धर्म है, वह जिसे अधर्म और अनर्थ का कारण माने वही अधर्म है। उसे ही फल देना है, अतः उसी का मानना यथार्थ मानना है। उस की भावना उस के शास्त्र को छोड़कर और किसी भी तरह नहीं विदित हो सकती। कितना भी बड़ा लोकमत या महापुरुष क्यों न हो, उस का मत संसार के बड़े से बड़े समूह को मान्य और आदरणीय हो, परन्तु वह परमेश्वर को मान्य है या नहीं, यह कैसे समझा जाय? फिर जब लोकमत या महापुरुषों का अत्यन्त विरुद्ध अनन्त मतभेद होता है, तब क्या समाधान होगा? न जाने कितने मान्य पुरुष, न जाने कितने लोकमत हुए, फिर किस की बात परमेश्वर को मान्य है, यह कौन जाने? सर्वमान्य परमेश्वर का हस्ताक्षर किसी के पास नहीं, भले ही कोई अपने ही मत को परमेश्वर की देन कहे। यदि सभी उस को मान्य हैं, तब तो परमेश्वर का अपना कोई मत और सिद्धान्त ही नहीं ठहराता, वह केवल दूसरों के हाथ का ही कठपुतला हुआ, जिस महापुरुष या लोकमत ने जैसा चाहा, वैसा ही उस का निश्चय और कर्तव्य हो जाता है।

इन सब दृष्टिओं से स्पष्ट है कि धर्म को बनाने बिगाड़ने का अधिकार किसी भी समाज, लोकमत या महापुरुष को नहीं है, किन्तु भगवान् के अनादि वेद से ही धर्माधर्म का निर्णय होता है। महर्षिगण वेदों के आधार पर ही धर्माधर्म की व्यवस्था करते हैं। कोई भी ऋषि धर्म-अधर्म के बनाने में स्वतन्त्र नहीं है। अतएव वेदविरुद्ध आर्षवचन भी सङ्कुचित या अमान्य समझे जाते हैं। विवाह की प्रथा को श्वेतकेतु ने चलाया, मद्यपान का निषेध शुक्राचार्य ने किया, ये सब बातें शास्त्र-विचारपद्धति न समझने से उठती हैं। जैसे विद्यार्थी को गणित समझाने के लिए किसी कहानी की कल्पना कर ली जाती है, वहाँ उस को सचाई-झूठई में तात्पर्य नहीं, किन्तु तात्पर्य है गणित समझाने में। वैसे ही श्वेतकेतु या शुक्र की कथा का तात्पर्य सुविधापूर्वक उस की सचाई-झूठई न होकर, तात्पर्य है व्यभिचार और सुरापान के वारण में। वस्तुतः जैसे जगत् के प्रवाह रूप से अनादि होते हुए भी, उसकी उत्पत्ति और क्रम का वर्णन होता है, उसी तरह वेद और वेदोक्त धर्म के प्रवाह रूप से अनादि होते हुए भी, सृष्टि होने पर उन का क्रम से प्रादुर्भाव होता है। जैसे कहा जाता है कि किसी समय वायु, तेज, सूर्य आदि नहीं थे, केवल आकाश ही था। मद्यपान-निषेध की व्यवस्था नहीं थी, पीछे की गयी। पहले ब्राह्मण ही थे क्षत्रियादि वर्णभेद नहीं था, वह सब पीछे से बना। परन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि ये बिल्कुल नवीन हैं, पहले नहीं थे, कारण वेद अनादि है, अतः वेदोक्त धर्म और सृष्टि भी अनादि है। इसीलिए सभी कल्पों में वैसे ही सूर्य-चन्द्र, ब्राह्मण-क्षत्रिय या धर्म-कर्म व्यक्त होते हैं। श्वेतकेतुवाली आख्यायिका में ऐसा कोई वचन नहीं है, जिससे यह सिद्ध होता हो कि स्त्रीगमन में स्वातन्त्र्य है, उल्टे उस आख्यायिका से यही सिद्ध होता है कि श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्य ने स्वातन्त्र्येण स्त्री-गमन और मद्यपान का निषेध कर दिया और उस के करने में घोर पाप बतलाया। यदि कहा जाय कि इस आख्यायिका से यह अनुमान किया जा सकता है कि जैसे स्त्री-गमन आदि में पहले स्वातन्त्र्य था वैसे ही अब हो सकता है, जैसे किसी व्यक्ति के बनाये नियम से स्वातन्त्र्य छीन लिया गया, वैसे ही अन्य व्यक्तियों के नियम बनाने से वह स्वातन्त्र्य पुनः प्राप्त हो सकता है। यहाँ मह ध्यान रखना होगा कि जिस ग्रन्थ की आख्यायिका को प्रमाण मानकर उस के आधार पर अनुमान किया जा रहा है, उसी ग्रन्थ में और ग्रन्थकार के मतानुसार जब विवाह और पातिव्रत-धर्म का

प्रत्यक्ष समर्थन होता हो, तब आख्यायिका के आधार पर कल्पित अनुमान का क्या मूल्य रह जाता है? तब क्या यह उचित है कि उसी ग्रन्थ की उच्छृङ्खलता सिद्ध करनेवाली आख्यायिकाओं को सत्य या प्रमाण मान कर उन के आधार पर असवर्ण-विवाह, विधवा-विवाह, विवाह-विच्छेद के नियम बनाकर प्राचीन मर्यादाएँ तोड़ दी जायँ परन्तु उसी ग्रन्थ के सत्यवती, दमयन्ती, शकुन्तला प्रभृति पतिव्रताओं के विवाहनियम आदि गप और अप्रामाणिक मान लिये जायँ?

रहा यह कि 'यह बात बुद्धिसङ्गत है, वह बुद्धिसङ्गत नहीं', सो भी कुछ नहीं। उच्छृङ्खलों को उच्छृङ्खला भले ही बुद्धिसङ्गत प्रतीत होती हो, परन्तु विवेकियों को तो वह निरी पशुता ही जँचती है। जब कभी उसी पशुता का विस्तार हो गया होगा, तब की घटना का वर्णन उस आख्यायिका में होगा। जब ही किसी प्रभावशाली ने प्राचीन वेद शास्त्र के मर्यादानुसार उस का नियन्त्रण कर दिया, तभी वह रुक गयी। भोजन, पान, मैथुन आदि पशु और मनुष्य में समान ही है। एक धर्म ही मनुष्य की विशेषता है, मनुष्य धार्मिक नियमों से नियमित भोजनपान, मैथुन करता है और पशु उच्छृङ्खलता से। वस, यही पशु की अपेक्षा मनुष्य की विशेषता है—“धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनः पशुभिः समानः ॥” परन्तु आजकल समझ उल्टी हो रही है। किसी प्रसङ्ग को समझने का तो नवशिक्षित लोग प्रयत्न करते नहीं, केवल अपनी ही बात धुनते रहते हैं। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि जो अज्ञ है उन को सहज ही में सन्मार्ग पर लाया जा सकता है, क्योंकि वे अपने आप को अज्ञानी समझते हैं। जो विशेषज्ञ हैं उन को समझा देना और भी सहज है, क्योंकि उन की बुद्धि निर्मल होती है। यदि कहीं थोड़ा भ्रम हुआ तो समझाने से निवृत्त हो जाता है। परन्तु जो 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' अभिमानी हैं, उन्हें ब्रह्मा तक प्रसन्न नहीं कर सकते। अपने ज्ञान के सामने औरों को वे कुछ समझते ही नहीं, अतएव वे न तो किसी के पास जाकर कुछ विचार ही करते हैं, न किसी के उपदेश ही सुनते हैं—“अज्ञः सुखमाराम्यः सुखतरमाराम्यते विशेषज्ञः। ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रक्षयति ॥”

स्वाराज्य-लाभ

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

विराट् विश्वरूप परमेश्वर धर्म-स्थापन के लिए जैसे समय समय पर मत्स्य, कूर्मादि अदृश्य मूर्ति धारण करते हैं, वैसे ही धर्मरक्षा के लिए वे समाज-मूर्ति भी परिग्रह करते हैं। इसी मूर्ति का वर्णन करते हुए श्रुति कहती है—ब्राह्मण उनके मुख हैं, क्षत्रिय बाहु, वैश्य उर तथा शूद्र उनके चरण हैं। कार्यसम्पादनोपयोगी-संस्थान भेद से अङ्ग-प्रत्यङ्ग की उत्कर्षोपकर्ष रहने पर भी कोई भी अङ्ग जैसे हेय नहीं है, समस्त अङ्गों की समष्टि में ही जैसे देह की पूर्णता, एकाङ्ग के वैकल्य से जैसे समस्त देह की विकलता होती है, सुतरां स्व-स्व-कर्तव्य के अनुसार जैसे समस्त अङ्गों का ही श्रेष्ठत्व है, वैसे ही समाज-देह का भी चतुर्वर्ण रूप कोई भी अङ्ग ही हेय नहीं, उनकी स्रष्टि में ही समाज की पुष्टि, एक के वैकल्य से समग्र समाज का वैकल्य है। अतएव कार्यसम्पादनोपयोगी जाति भेद-में उत्कर्षोपकर्ष रहने पर भी स्वस्वकर्तव्यानुसार सभी का ही श्रेष्ठत्व है एवं सभी उस समाजरूपी एक ही परमेश्वर के अङ्ग होने के कारण उत्कृष्ट भी है।

समाज-स्थिति के लिए ज्ञान, शक्ति, अर्थ और सेवा इन चारों की विशेष आवश्यकता है। पूर्वकाल में सनातन आर्य जाति का प्रत्येक परिवार समाज का क्षुद्रतम अंश था। समाज शब्द से कुछ परिवारों को समष्टि समझी जाती थी। हर एक परिवार में एक

मुखिया रहता था, जिस के आदेश से वह परिवार परिचालित होता था। ज्ञानी, उन्नत चरित्र, उन्नतमना न होने पर कोई मुखियापन नहीं कर सकता। दूसरी श्रेणी में ऐसे व्यक्ति रहते थे, जिन का कार्य परिवार की बहिः शत्रु के आक्रमण से रक्षा करना था। तीसरा समुदाय वह था, जो खेती-व्यापारादि द्वारा अर्थोपार्जन करता था। उस अर्थ से परिवार का भरण-पोषण तथा धर्मकार्य हुआ करता था और चौथे वे लोग थे, जिन पर सेवा का भार न्यस्त था, गो-सेवा, अतिथि-सेवा, आतुर-सेवा इत्यादि। सेवा के सदृश महत् कार्य कुछ भी नहीं। इसी सेवा का भार स्त्री और शूद्रों ने लिया था। इसीलिए शास्त्रों में स्त्री और शूद्रों का धर्म प्रायः ही एक प्रकार से निर्दिष्ट हुआ है। इन ज्ञान, शक्ति, अर्थ और सेवा के अर्द्ध समन्वय से हर एक परिवार-सुशृङ्खल के साथ परिचालित होता था। परिवार में प्रत्येक का लक्ष्य समूचे परिवार का मङ्गल रहता था सिर्फ अपना मङ्गल नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता परिवार की सत्ता में लीन रहती थी। अविभक्त परिवार के सदृश त्याग और संयम की शिक्षा के ऐसे उत्कृष्ट क्षेत्र तथा ऐसे कार्य-विभाग के समान सम्पूर्ण कार्य निभाने की उत्कृष्ट प्रणाली और कौन हो सकती है? समाज एक सुबृहत् परिवार है, उसमें ज्ञान, शक्ति, अर्थ और सेवा का प्रयोजन और भी अधिक है। भक्तिशास्त्र में चतुर्व्यूह का प्रसङ्ग आता है। वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण इन चारों मूर्तियों से भगवान् चारों भावों से सर्वत्र प्रत्येक जीव की रक्षा करते हैं। ज्ञान, शक्ति, अर्थ और सेवा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये ही समाजरूपी विगट् पुरुष की चतुर्व्यूह मूर्ति हैं। इन चारों में से कोई भी हीन नहीं है, इस सत्य के स्पष्टीकरण के लिए भगवान् मनु ने इन के कर्मों की तपस्या से तुलना की है, जैसे—“ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्। वैश्यस्य तु तपोवार्त्ता, तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥” (११, २३५)।

जिस समय सेवा का सम्मान था, समाज के प्रति सब को ममत्वबुद्धि थी, उस समय शूद्र अपना 'दास' कहकर परिचय देने में कुण्ठित नहीं होते थे। इसका कारण यह था कि वे कोई भी जाति-विशेष के दास नहीं थे। अपितु समाजरूपी विराट् पुरुष का ही दासत्व करते थे। प्राचीन आर्य समाज में ब्राह्मण को भी व्रत के समान सेवा-धर्म की शिक्षा और पालन करना पड़ता था। गुरुकुल में वास करते हुए, गो-मेवा से लेकर ऐसी कोई भी सेवा न थी, जिस को ब्राह्मण-कुमार एकाग्रचित्त से न करता हो, क्योंकि देव, पितृ तथा समस्त प्राणियों की पूजा के लिए उस का जन्म है। उस की पूजा पतित चाण्डाल, कुमि-कीट सभी को प्राप्य है। सर्वभूत-पूजा में सिद्ध होने पर ही वे परम स्थान के अधिकारी होते हैं—“एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथयुना।” (मनु० ३. ९७)।

विराट् समाज के प्रति ममत्व-बुद्धि खोने के कारण ही इन सब उपद्रवों की स्रष्टि हुई है और आर्य ऋषियों के सिर पर भेदबुद्धि का लाञ्छन डाला जा रहा है। ब्राह्मण अपने उच्च आदर्श से भ्रष्ट हुए हैं परन्तु आर्य ऋषियों के समान समदर्शी जगत् में कोई भी, कदापि नहीं था या हो भी नहीं सकता। जिस शास्त्र ने समाज की आवश्यकता के कारण ब्राह्मण-शूद्र में भेद दिखलाया है, वही कहता है—“निसरन्ति यथा लोहपिण्डात् तस्य स्फुलिङ्गाः। सकाशादात्मनस्तद्वात्मनः प्रभवन्ति हि।” अर्थात् जैसे प्रतप्त लोहपिण्ड से अग्निस्फुलिङ्ग निकलते हैं, वैसे ही परमात्मा से जीवात्मा का उद्भव हुआ है। अर्थात् परमात्मा ही उपाधि के कारण अनन्त जीवात्मा रूप से भासित होता है (याज्ञवल्क्य)। भगवान् मनु ने भी आत्मा के एकत्व का स्पष्टतया उल्लेख किया है—“एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥” (१२. १२६) अर्थात् सर्वभूतों में आत्म-दर्शन

करनेवाला सब के साथ अभिन्नता (समता) प्राप्त कर के ब्रह्मपद में स्थित हो जाता है।

आर्यऋषिओं ने मानव-जीवन का अति उच्च लक्ष्य निर्देश किया है। एक ओर मनुष्य को सुस्थ, सबल, दीर्घजीवी और कर्मकुशल होकर संसार में अपने कर्तव्यों का समुचित भाव से पालन करना चाहिए, दूसरी ओर सांसारिक कर्तव्य पालन के साथ ही साथ मनुष्य-जीवन के चरम लक्ष्य—मोक्षलाभ—के लिए भी प्रस्तुत होना चाहिए। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, “अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्” अर्थात् याग-यज्ञादि उपायों के द्वारा आत्मदर्शन ही मनुष्य का परम धर्म है। मानव-जीवन में कर्मस्रोत दो धाराओं में प्रवाहित रहता है। पहली कामना की धारा—प्रवृत्ति मार्ग—है। इसी के सम्यक् अनुसरण से मनुष्य अर्थात् विषय भोगने में समर्थ होते हैं, दूसरी निःश्रेयस या मोक्षलाभ की धारा—निवृत्ति मार्ग—है। इस के सम्यक् अनुसरण से मनुष्य स्वरूप स्थित हो जाते हैं। इनमें से कोई भी उपेक्षणीय नहीं है—अधिकार भेद से दोनों ही आदरणीय हैं। भगवान् मनु कहते हैं—“कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्थ-कामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥” (२।२.) अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह किञ्चित्। यद्यपि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चैष्टितम् ॥” (२।४) अर्थात् कामना के वशी-भूत होकर कर्म करना प्रशंसनीय नहीं है, परन्तु कामना के बिना जगत् में कोई कुछ भी कार्य नहीं करता। वेद-विहित यज्ञयागादि सभी कामनामूलक हैं। समाज-कल्याण के लिए काम्यकर्म करना ही चाहिए, परन्तु चिरकाल तक कामना के दास बने रहना भी वाञ्छनीय नहीं है। कामना का दमन न करने से वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होकर मनुष्य को अशान्तिरूप अग्नि में जलाती रहती है। इसी अशान्ति का फल युद्ध, विग्रह, लड़ाई-झगड़ा, चोरी-व्यभिचार, मिथ्याव्यवहार इत्यादि हैं, इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि—“न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। इविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥” (मनु, २।९४) अर्थात् उपभोग से कामना-निवृत्ति नहीं होती, घृताहुति से जैसे अग्नि की वृद्धि ही होती है, वैसे ही उपभोग से वासना की वृद्धि ही होती है। अतएव आर्यऋषिओं ने नाना प्रकार के विधानों से मनुष्य का दैनन्दिन जीवन इस रीति से नियन्त्रित किया है कि कामना की धारा शनैः शनैः निष्कामता में परिणत होकर उसे निःश्रेयस लाभार्थ अधिकारी कर सके। तभी—“सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥” (मनु, १२, ९१) अर्थात् समस्त भूतों में परमात्मा की अवस्थिति और परमात्मा में संपूर्ण भूतों की स्थिति देखकर मनुष्य स्वाराज्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है। आर्यऋषिओं ने मनुष्यों को इस ‘स्वराज’ प्राप्ति के लिए ही तैयार होने की शिक्षा दी है। इसी ‘स्वराज’ में सुप्रतिष्ठित होने से मनुष्य चिरशान्ति प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते हैं—“एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः (१।९२)।

अतएव जो लोग कहते हैं कि धर्मशास्त्रों के अत्यधिक आध्यात्मिक उपदेश के कारण हिन्दूजाति जीवन-सङ्ग्राम में परास्त होकर असंख्य लाञ्छना भोग रही हैं, वे शास्त्र के प्रति अन्याय करते हैं। शास्त्र-मर्म की उपलब्धि करने में असमर्थ होकर, प्रवृत्ति-निवृत्ति-मूलक दोनों कर्मधागाओं के सामञ्जस्य-विधानपूर्वक चलने में अपारग होने के कारण ही सनातन हिन्दुओं को यह दुर्दशा हो रही है। शास्त्रों ने बार बार सब को कर्मकुशल होकर शक्तिसञ्चय करने का उपदेश किया है, “नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः” शक्तिहीन को ब्रह्मलाभ नहीं होता। भगवान् मनु ने सम्यक् रूप से वेदाध्ययन का उपदेश दिया है। वेद समस्त शास्त्रों के मूल है और उन में सकाम तथा निष्काम उभयविध कर्म उक्त हुए हैं। वेदाध्ययन के फल से केवल आध्यात्मिक उन्नति ही नहीं होती, अधिकन्तु—“सैनापत्यं च

राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च-। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविद्वर्हति” (१२।१००) अर्थात् वेदशास्त्र पुरुष, सैनापत्य, राज्य, दण्ड, प्रणयन-सामर्थ्य और सर्वलोको के आधिपत्य को प्राप्त होने योग्य है। परन्तु इस को ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य नहीं कहा गया है, ‘स्वाराज्य-लाभ’ ही मानव-जीवन का चरम और परम लक्ष्य है।

‘मामनुस्मर युद्धय च’

(श्री जीवनशङ्कर याज्ञिक)

‘मामनुस्मर युद्धय च’ इस विषय पर गत प्रवेशाङ्कों में पहले कुछ विचार हो चुका है, पर लेखक को यह बात बराबर खटकती रही कि वे लेख अत्यन्त संक्षिप्त थे। सुज्ञ पाठकों ने अपने विचार और मनन द्वारा उस अल्प सामग्री को परिवर्धित करके यदि सम्यक् रूप में उस का रसास्वादन किया हो तो लेखक अपने को कृतार्थ समझेगा। इस भगवद्वाक्य के प्रत्येक पद पर तो अलग से विचार हो चुका, पर यथार्थ रूप से हृदयङ्गम करने के लिए जिस को यह उपदेश दिया गया उस अर्जुन के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। युद्धक्षेत्र में परिजन-कुटुम्बियों को देखकर सहसा अर्जुन की वैसी विकृत अवस्था हो गयी थी इस का अनुपम चित्र तो हमें प्रथम अध्याय में ही मिलता है। अर्जुन के मानसिक भावों का जैसा गूढ़ और साक्षोपाङ्ग वर्णन हमें इस अध्याय के कुछ ही श्लोकों में प्राप्त है वह विश्वसाहित्य में अद्वितीय है। मानसिक स्थिति का ऐसा मनोवैज्ञानिक, विशद, सुन्दर चित्र अन्यत्र देखने को नहीं मिलता, पर यह तो स्वयं एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। गीतोपदेश सुनकर अर्जुन की अवस्था में जो महान् परिवर्तन हुआ, वह उसी के शब्दों में देखिये—“नष्टो मोहः स्मृति-लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥” किन किन सोपानों से उस का मोह नष्ट हुआ तथा कैसे उस को स्मृति मिली यह बड़ा ही रोचक और मनोवैज्ञानिक विषय है, पर इस के लिए तो समग्र गीता का ही आलोड़न-त्रिलोड़न करना पड़ेगा। विस्तारभय से इस लोभ का हमें संवरण करना पड़ेगा। भगवत्कृपा हुई तो फिर कभी स्वतन्त्र लेख-माला में ही इस का विवेचन सम्भव हो सकेगा। आज तो हमें अर्जुन की प्रथम और अन्तिम अवस्था पर ही दृष्टि निक्षेप करना है।

युद्धक्षेत्र में पहुँचते ही अर्जुन के मन में तूफान सा उठ खड़ा होता है और वह कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय नहीं कर पाता। गीतोपदेश का पात्र बनाने के लिए यह आवश्यक था कि श्री भगवान् उस को पहले ‘स्वस्थ’ करें। जब आदमी आपे से बाहर रहता है तब उस पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। उफनते दूध को जैसे शीतल जल तुरन्त ही शान्त कर देता है वैसे ही श्री भगवान् ने अर्जुन की उबलती हुई अनेक शङ्काओं का तीन ही छोटों में तो प्रशमन कर दिया। ‘अनाद्युष्टमत्वर्ग्यमर्कात्तिकरमर्जुन’ सुनकर उफान तो शान्त हो गया परन्तु गरम दूध को ठण्डा करने के लिए अधिक समय चाहिए। संवाद चल पड़ा और अन्त में गीतोपदेश के मार्मिक प्रभाव से अर्जुन की व्याकुलता शान्त हुई। वह स्वस्थ हुआ—‘स्थितोऽस्मि गतसन्देहः’।

शोक और मोह के जाल में अर्जुन की बुद्धि पहले इतनी फँस गयी थी कि वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने लगा था। श्री भगवान् ने उस के मानसिक रोग का निदान एक ही बात से कर दिया कि वह पण्डित नहीं है—‘नानुशोचन्ति पण्डिताः।’ ‘पण्डित’ शब्द का स्वारस्य यहाँ विचारणीय है। ‘पण्डा’ अथवा ‘ज्ञान’ तो

१ इसी भगवद्वाक्य पर ‘सिद्धान्त’ के पिछले चार प्रवेशाङ्कों में विचार किया गया है, वह द्रष्टव्य है। —सम्पादक

प्रत्येक मनुष्य के पास है ही; आवरण भेद कर उस का प्रकाश होते ही सदमद्विवेकिनी बुद्धि का उदय होता है। ज्ञान देने-लेने की वस्तु नहीं है। मिथ्याज्ञान या अज्ञान का पर्दा फटते ही ज्ञान की प्रखर किरणें स्वयं फूट पड़ेंगी। जब हम कहते हैं 'तारकित आकाश' तो इस का यह अभिप्राय नहीं कि आकाश में पहले तारे थे ही नहीं। बात इतनी ही थी कि दिन में वे दिखलायी नहीं पड़ते थे। इसीतरह मिथ्याज्ञान के आवरण के दूर होने पर मनुष्य पण्डितत्व की स्थिति को प्राप्त करता है और तब उसे किसी प्रकार का भ्रम-समुदाय नहीं रहता। मनुष्य में स्वभाव से ही तीन दोष होते हैं—अज्ञान, विस्मृति और संशय। अर्जुन इन तीनों का निदर्शन है। अज्ञान तमोगुण का फल है और उस को दूर करने का उपाय आवरण मोचन द्वारा ज्ञान का उदय है। गीतोपदेश सुनकर अर्जुन को स्वयं अनुभव हो जाता है कि उसका अज्ञानतिमिर दूर हो गया—'नष्टो मोहः'। रजोगुण के प्राबल्य का फल विस्मृति है। अर्जुन अपने स्वभावोचित कर्म को भूल गया है। विज्ञान के उदय होने पर वह कह उठता है—'स्मृतिर्लब्धा'। सत्वगुण की कमी के कारण संशय उत्पन्न हुआ करता है। इस दोष की निवृत्ति आस्तिक्य से होती है। जिसको प्राप्त कर अर्जुन गतसन्देह हुआ है। श्री भगवान् ने भी गीतोपदेश के अनन्तर अर्जुन से यही प्रश्न किया था, 'कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय' जिसका उत्तर अर्जुन ने 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' कहकर दिया। परन्तु यह मानसिक परिवर्तन हुआ कैसे? भगवान् के उपदेश से, जैसा स्वयं अर्जुन ने अनुपदीत होकर स्वीकार किया है 'त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'। अज्ञान या मिथ्याज्ञानरूपी आवरण का भेद गुरु के बिना हो नहीं सकता। पुरुषार्थ या पुण्य कर्म से ज्ञान का केवल अधिकारी बनाया जा सकता है। ज्ञान किसी कर्म का फल नहीं। सूखो तृण-गशि को अग्नि-कण सहज भस्म कर देता है। इसी प्रकार साधन-सम्पन्न अधिकारी को गुरुपदेश फलीभूत होता है। जैसे आग्नि-कण बिना तृण-गशि का प्रज्वलित होना असम्भव है वैसे ही गुरुपदेश बिना ज्ञान-उदय नहीं होता है।

इस प्रकार अर्जुन के तीन दोष—अज्ञान, विस्मृति और संशय-का शमन श्री भगवान् ने उन के उपाय-रूप 'ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यम्' के उपदेश से किया। मनुष्य मात्र में ये तीन दोष हैं, अतः इसी उपाय के अवलम्बन द्वारा मनुष्य अपना कल्याण-साधन कर सकता है।

समाज में शूद्रों का स्थान

(श्री हीरावल्लभ जोशी)

हिन्दू-समाज में शूद्रों का क्या स्थान है, इस पर प्रायः आजकल के लोगो में बड़ा भ्रम रहता है। वे समझते हैं कि उच्च वर्णवालों ने सब अच्छे अच्छे कार्य अपने लिये रख लिये और शूद्रों के साथ सर्वथा अन्याय किया है। परन्तु धर्मशास्त्रों के देखने से पता चलता है कि वास्तव में बात ऐसी नहीं है। हिन्दू-समाज का विभाग गुण-कर्मानुसार हुआ है। वंशानुक्रम का ध्यान रखते हुए वह जन्मना है। इस में प्रत्येक का कार्य जन्म से ही निश्चित रहता है और उसे उस की शिक्षा तभी से बराबर मिलती रहती है। शूद्र चौथा वर्ण, एक जाति है। ब्रह्मा ने उन के लिए यही प्रधान कर्म बतलाया है कि वे लोग शुद्ध चित्त से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करें—'एवमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनुसूयया ॥' (मनु १, ९१) यदि सेवा से निर्वाह न हो तो वह चित्रकार आदि कारक के काम करके अपना निर्वाह कर सकता है—'अशक्नुवन् तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्। पुत्रदारात्ययं प्राप्नो जीवेत् कारककर्मभिः ॥' (मनुः

१, ९२) याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि द्विजों की सेवा करना शूद्रों का धर्म है, किन्तु यदि उस से जीविका न चल सके तो वह वैश्य के कर्म से अथवा द्विजों का हित करता हुआ विविध प्रकार के शिल्प कर्म से अपना निर्वाह कर सकता है—'शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तथा जीवन् वणिक भवेत्। शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेत् द्विजातिहितमाचरन् ॥' (१, १२०) अत्रि ने उन्हें कृषि, गोरक्ष और वाणिज्य द्वारा भी अपना जीवन-निर्वाह करने का अधिकार दिया है—'शूद्रस्य वार्तां शुश्रूषा द्विजानां कारकर्म च' (अत्रिस्मृतिः १५) 'वृहत्पाराशरीय धर्म-शास्त्र' ने भी वाणिज्य द्वारा धनोपार्जन का उन्हें अधिकार दिया है। लवण, मधु, तैल, दधि, तक्र, घृत, दूध आदि को वह बेच सकता है—'शूद्रे वाणिज्येन तु जीवनम्।' लवणं मधु तैलं च दधि तक्रं घृतं पयः। न दूषयेच्छूद्रजातिनम् कुर्यात् सर्वत्र विक्रयम् ॥ (२ अध्याय ५, १२) आज भी ये तथा अन्य कितने ही व्यवसाय शूद्रों के हाथ में हैं। इस तरह आर्थिक उन्नति करने का उन्हें अवसर दिया गया है। परन्तु अधिक धन बढ़ाने पर अवश्य रुकावट लगायी है; क्योंकि ऐसा करने से वह उच्च जातियों का अपमान करेगा—'शक्तेनापि हि शूद्रस्य न कार्यो धनसञ्चयः। शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणान्येव बाधते ॥' (मनुः १, १२९) परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि ब्राह्मण को भी धनसञ्चय करने में पाप बतलाया गया है। इसलिए शूद्र के साथ यह अन्याय नहीं कहा जा सकता।

उनके लिए धार्मिक नियमादि अति सरल रखे गये हैं, वृत्ति, केश, वेष आदि के लिए कोई नियम नहीं है—'अनियता वृत्तिः, अनियतकेशवेषाः। (वशिष्टस्मृति अध्याय २२ लोक २५-२६) खान-पान, विवाह आदि में उन्हें बहुत कुछ स्वतन्त्रता है। लहसुन आदि खाने में उसे कोई पातक नहीं लगता। यज्ञोपवीत न होने से उसे अग्निहोत्रादि के प्रपञ्च में नहीं पड़ना पड़ता—'न शूद्रे पातकं किञ्चित् न च संस्कारमर्हति' (मनुः १, १२६) परन्तु इस के साथ ही उसे कितने ही शास्त्रोक्त कर्म करने का अधिकार भी दिया गया है। अधिकारभेद की दृष्टि से केवल क्रम तथा प्रकार कुछ बदल दिया गया है। द्विज की शरीरशुद्धि तीन बार आचमन से होती है तो शूद्र के लिए एक ही आचमन पर्याप्त है—'चिरान्नामेदयः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम्। शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्रीशूद्रश्च सकृत् सकृत् ॥' (मनु १, १३९) चौथा वर्ण होने के कारण वेदमन्त्र, स्वधा, स्वाहा, वषट्कार आदि शब्दों को छोड़कर वह शास्त्रोक्त कर्म करने का अधिकारी है—'शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद्धर्ममर्हति। वेदमन्त्रस्वधास्वाहावषट्कारादिभिर्बिना ॥' (व्यासस्मृति १, ६) केवल नमस्कार-मन्त्र से वह पञ्चमहायज्ञ भी कर सकता है, इस से उस को पाप नहीं लग सकता—'पञ्चयज्ञ विधानन्तु शूद्र-स्यापि विधीयते। तस्य प्रोक्तो नमस्कारः कुर्वन् नित्यं न हीयते ॥' (विष्णुस्मृति ५, ९) याज्ञवल्क्य ने भी लिखा है कि अपनी भार्या में रत, पवित्र, निजभृत्यों का पालक और श्राद्धकर्म में पारायण शूद्र-नमस्कार-मन्त्र से पञ्चमहायज्ञों को सदा करता रहे—'भार्या रतिः शुचिभृत्यभर्ता श्राद्धक्रियारतः। नमस्कारेण, मन्त्रेण पञ्चयज्ञान् न हापयेत् ॥' (१, १२१ स्मृति) धर्म को चाहनेवाले, धर्मज्ञ और सज्जनों की वृत्ति करनेवाले शूद्र वेदमन्त्र रहित शास्त्रोक्त कर्म करने से शूद्र दोषी नहीं होते किन्तु प्रशंसायोग्य हो जाते हैं—'धर्मेऽस्यस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिता। मन्त्रवज्रं न दुष्यन्ति प्रशंसा प्राप्नुवन्ति च ॥' (मनु २, १२७) सामान्य धर्म तो सब के लिए आवश्यक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दम, दया, क्षमा तो सभी मनुष्यों के धर्मसाधन हैं। परन्तु अपने शास्त्रों में स्वधर्म पर सब से अधिक जोर दिया गया है, उसी से व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है। पवित्र रहने, श्रेष्ठ सेवा करने, कोमल बचन बोलने, अहङ्काररहित होने और सदा ब्राह्मण आदि के आश्रय में रहने से शूद्र अपनी जाति से उत्कृष्ट जातिभाव को प्राप्त होता है—

“शुचिरुक्कृष्टशुभ्रपुष्टदुर्वागनहंकृतः । ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥” (मनु ९, ३३५) सेवा ही उस का तप बतलाया गया है—“तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥” (मनु ११, २३६)

वृद्ध तथा सदाचारी होने से शूद्र प्रशंसनीय तथा आदरणीय हो जाते हैं । ९० वर्ष से अधिक अवस्थावाले शूद्र भी द्विजों के लिए मान्य हैं—“मानार्हा शूद्रोऽपि दशमीम् गतः ॥” (मनु २, १३७) निन्दारहित शूद्र सद्गुणवृत्तियों में जितने प्रवृत्त होते हैं उतने ही इस लोक में माने जाते हैं और मरने पर स्वर्ग का सुख भोगते हैं—“यथा यथा हि सद्गुणवृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः । तथा तथेयं चासुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥” (मनु २, १२८) विद्या, कर्म, अवस्था, सम्बन्ध और धन से युक्त मनुष्य क्रम से मानने योग्य होते हैं । अधिक विद्या आदि से युक्त शूद्र भी वृद्धावस्था में आदरणीय हो जाता है—“विद्याकर्मबयोवन्धु वित्तैर्मान्या यथाक्रमम् । एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि चाधेके मानमर्हति ॥” (याज्ञवल्क्य स्मृति १, १३६) ब्राह्मणों को आदेश है कि सेवा में तत्पर, मध्यम-मांस से वर्जित और सदा अपने कर्म में निरत शूद्रों को कभी न त्यागें—“द्विजशुश्रूषारतान् मध्यमांसविवर्जितान् । स्वकर्मनिरतान् नित्यं तान्छूद्रान् न त्यजेत् द्विजः ॥” (पाराशरस्मृति अ० ८, १६)

‘विष्णु पुराण’ में कहा गया है कि द्विजातियों को पहले ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरण से उपाजित धन के द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं । इस में भी व्यर्थ वार्तालाप, व्यर्थ भोजन और व्यर्थ यज्ञ उनके पतन के कारण होते हैं । इसीलिए उन्हें सदा संयमी रहना आवश्यक है । सभी कामों में विधि के विपरीत करने से उन्हें दोष लगता है, यहां तक कि भोजन, पानादि को भी वे अपनी इच्छानुसार नहीं भोग सकते । सम्पूर्ण कार्यों में उन्हें परतन्त्र ही रहना पड़ता है । इसतरह वे अत्यन्त क्लेश से पुण्य लोकों की प्राप्ति करते हैं । किन्तु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाक यज्ञ का ही अधिकार है वह शूद्र द्विजों की सेवा करने से ही सद्गति प्राप्त कर लेता है । उस के लिए भक्ष्याभक्ष्य अथवा पेयापेय का कोई नियम नहीं है । इसलिए वह अन्य जातियों की अपेक्षा धन्यतर है—“व्रतचर्यापरैर्ब्राह्मणैश्चैव पूर्वं द्विजातिभिः । ततस्त्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टैर्व्यं विधिवद्धतैः ॥ वृथा कथा वृथा भोज्यं वृथेयं च द्विजन्मनाम् । पतनाय ततो भाव्यं तैस्तु संयमिभिस्सदा ॥ असम्भक्करणे दोषस्तेषां सर्वेषु वस्तुषु । भोज्यपेयादिकं चैषां नेच्छाप्राप्तिकरं द्विजाः ॥ पारतन्त्र्य समस्तेषु तेषां कार्येषु वै यतः । जयन्ति ते निजलोकान्कलेशेन महताद्विजाः ॥ द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान् । निजान्जयति वै लोकान्छूद्रो धन्यतरस्ततः ॥ भक्ष्याभक्ष्येषु नास्यास्ति पेयापेयेषु वै यतः । नियमो मुनिशार्दूलास्तेनासौ साधित्तरितः ॥”

ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि शूद्रों के साथ अन्याय किया गया है ?

प्रचलित हिन्दू उत्तराधिकार कानून

(श्री देवीनारायण पडवोकेट, काशी)

इस समय हिन्दुओं के धर्म तथा संस्कृति पर भीषण प्रहार हो रहे हैं । इधर ‘हिन्दू अप्रदत्त उत्तराधिकार’ तथा ‘हिन्दू विवाह बिल’ उपस्थित हैं । इन सुधारों और बिलों द्वारा हिन्दुओं की जड़ खोदने का फरसा चलाया जा रहा है । चारों ओर से हिन्दुओं का अपमान तथा अनादर हो रहा है । दुर्भाग्य से हमारे घर में भी सुन्दर फूट का फल लगा हुआ है । ऐसी दुरवस्था में हम सब को धैर्य के साथ अपनी रक्षा करने के लिए षण्णतया संगठित तथा कटिबद्ध होना चाहिए । ‘हिन्दू अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल’ को अच्छी तरह समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम लोग यह जान लें कि

इस समय प्रचलित हिन्दू उत्तराधिकार का स्वरूप क्या है । हिन्दुओं के उत्तराधिकार के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं—एक ‘मिताक्षरा’ और दूसरा ‘दायभाग’ । मनु के निम्नलिखित श्लोक हमारे हिन्दू दायविभाग की जड़ हैं—“न भ्रातरौ न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ॥ अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् । अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्याद् आचार्यः शिष्य एव वा ॥” अर्थात् पिता की सम्पत्ति पुत्र ही को मिलती है, न माता, पिता या भाई को, जो अनन्तर यानी निकट का सपिण्ड है, वही उसका धन पाता है । सपिण्ड के बाद सकुल्य पाते हैं और सकुल्य के बाद आचार्य, फिर शिष्य ।

उपर्युक्त मनुवाक्यों का भिन्न भिन्न अर्थ किया गया है और उन्हीं अर्थों से दो प्रधान शाखाओं का विस्तृत वृक्ष तय्यार हो गया है । मिताक्षरा के रचयिता विज्ञानेश्वर उपनाम विज्ञान योगी थे । वह ११ शताब्दी के अन्त में हुए । दायभाग के निर्माता जीमूत-बाहन थे । वह १३ व १५ शताब्दी के अन्दर हुए हैं । मिताक्षरा का मान्य सम्पूर्ण भारत में है, पर बङ्गदेश में ‘दायभाग’ का ही प्रधानत्व है । मनु के वाक्य ‘अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्’ में ‘पिण्ड’ शब्द का दो अर्थ लगाया गया है । विज्ञानेश्वर ने उस का अर्थ ‘शारीरक पिण्ड’ माना है और जीमूतबाहन ने ‘ब्राह्म पिण्ड’ किया है । इसलिए ‘मिताक्षरा’ के स्थानों में गर्भ ही से पुत्र पैदा होकर धन का हिस्सेदार हो जाता है परन्तु दायभाग में “पिण्डं दद्यात् हरेत् धनम्” व्यक्ति के मरने पर श्राद्ध करके धन का अधिकार होता है । इन विचार धाराओं का फल यह हुआ कि मिताक्षरा प्रान्तों में पैतृक सम्पत्ति में जन्मना स्वत्व पैदा हो जाता है, परन्तु बङ्गदेश में मरने पर स्वत्व पैदा होता है । जब तक बङ्गदेशीय हिन्दू जीवित हैं वह अपने सम्पत्ति का पूरा मालिक है जो चाहे सो करे, उसके पुत्र पौत्रादि कुछ आपत्ति नहीं कर सकते । परन्तु ‘मिताक्षरा’ में पैतृक सम्पत्ति के बारे में मृत्युपत्र (वसीयतनामा), दानपत्र आदि नहीं लिखा जा सकता । मिताक्षरा का उत्तराधिकार विषय बहुत गम्भीर तथा उच्च सिद्धान्त का है और हिन्दू संगठन की दृष्टि से रचा गया है । उस से हिन्दुओं की सम्पत्ति तथा संस्कृति की गुंथरूप से बड़ी रक्षा हुई है । फलतः मिताक्षरा अधिकृत प्रान्तों में मुसलमानों और ईसाइयों की संख्या बढ़ने नहीं पायी । यह हिन्दुओं का अपूर्व संगठन रहा है । परन्तु अब उस अजेय तथा दुर्मेघ हिन्दू दुर्ग को सुरंग लगाकर उड़ाया जा रहा है । इसीलिए नये नये कानूनी बिल प्रस्तुत किये जाते हैं और सुधार की मृगतण्णा दिखायी जाती है । यही ‘अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल’ तथा ‘हिन्दू विवाह बिल’ का स्पष्ट लक्ष्य है । हिन्दुओं को सचेत तथा सावधान हो जाना चाहिए और जाति, समाज, धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए ।

अब नीचे उत्तराधिकार अथवा दायविभाग का दिग्दर्शन मात्र परिचय दिया जाता है ।

(१) सम्पत्ति के उत्तराधिकार की विधि

‘मिताक्षरा’ में ‘दाय’ शब्द का अर्थ लिखा है ‘तत्र दाय शब्देन यद्धनं स्वामि सम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति’ अर्थात् दाय शब्द का अर्थ है उस सम्पत्ति से जो उस के स्वामी के सम्बन्ध से अपनी हो जाती है । जीमूतबाहन ने दूसरा अर्थ इस प्रकार किया है “दीयते इति व्युत्पत्त्या दायशब्दो ददाति प्रयोगरच-गोणः । मृतप्रज्जितादिस्वस्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात् नतु मृतादीनां तत्र त्यागोऽस्ति ॥ ततश्च पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीनं तत् स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वं तत्र निरुद्धो दायशब्दः ॥” अर्थात् ‘दाय’ शब्द का अर्थ व्यवहार से यह है कि वह सम्पत्ति जिस में स्वामी के मरने पर स्वत्व पैदा हो यानी पहले की मिलीकृत समाप्त हो (चाहे मरने से या संन्यास आदि से) तब दूसरा मालिक हो । ‘दाय’ शब्द के इन दो अर्थों का परिणाम यह हुआ कि पैतृक सम्पत्ति

में मिताक्षरा से जन्मना स्वत्व हुआ और दायभाग से मरने या हटने पर। फिर मिताक्षरा ने दो प्रकार की सम्पत्ति निश्चय किया— एक अप्रतिबन्ध दाय, दूसरा सप्रतिबन्ध दाय। दायभाग में एक ही प्रकार की सम्पत्ति होती है सप्रतिबन्धदाय। अप्रतिबन्धदाय में व्यक्ति को जन्म से अधिकार होता है और सप्रतिबन्ध में मरण से। अप्रतिबन्ध की सम्पत्ति में अवशिष्ट उत्तराधिकार (सर्वाइवरशिप) और सप्रतिबन्ध दाय में परम्परागत उत्तराधिकार (सक्सेशन) चलता है। परन्तु मिताक्षरा में चार नीचे दिये हुए उदाहरण ऐसे हैं, जिनसे सप्रतिबन्ध में भी अवशिष्ट उत्तराधिकार चलता है (क) दो या उनसे अधिक पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि मृत पुरुष की सम्पत्ति अवशिष्ट उत्तराधिकार से पाते हैं (ख) दो या अधिक नाती जो अपने नाना के साथ रहते हैं अवशिष्ट रूप से पाते हैं (ग) दो या अधिक विधवाएँ अपने पति की सम्पत्ति अवशिष्ट सिद्धान्त से पाती हैं। (घ) दो या अधिक कन्याएँ अपने पिता की सम्पत्ति अवशिष्ट रूप से पाती हैं। दायभाग में भी विधवाएँ और कन्याएँ अवशिष्टरूप से पाती हैं।

(२) उत्तराधिकारिणी स्त्रियाँ

बङ्गाल, बनारस तथा मिथिला में प्रचलित सिद्धान्त के अनुसार केवल निम्नलिखित पाँच स्त्रियाँ हैं, जिन को पुरुष की सम्पत्ति मिलती है— (क) विधवा। (ख) कन्या। (ग) माता। (घ) दादी और (ङ) परदादी। इन पाँच स्त्रियों की संख्या में हिन्दू उत्तराधिकार कानून १९२९ के अनुसार तीन स्त्रियों की संख्या और बढ़ी है। पोती, नतिनी और वहन ये तीन और अधिकारिणी हुई हैं। मद्रास और बम्बई में इससे भी अधिक उत्तराधिकारिणी होती हैं। 'हिन्दू महिला सम्पत्ति अधिकार', कानून सन् १९३७ के अनुसार पूर्वमृत पुत्र की विधवा तथा पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा उत्तराधिकारिणी सब सिद्धान्तों से हो गयी हैं।

(३) स्त्रियों का आजीवन अधिकार

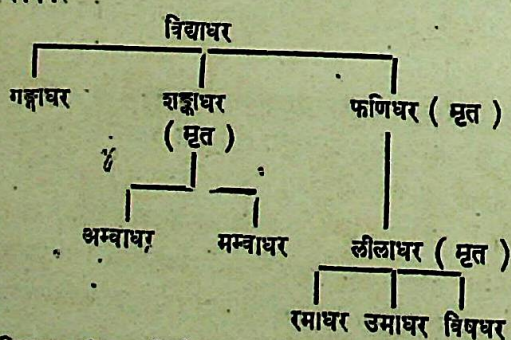
पुरुष सब अवस्था में पूर्ण अधिकार पाते हैं परन्तु स्त्रियों का अधिकार सीमिति है। वे अपने जीवन भर सम्पत्ति का उपभोग कर सकती हैं। केवल बम्बई के कुछ हिस्सों में, जहाँ नीलकण्ठमठ का 'मयूख' चलता है, स्त्रियों को भी पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

(४) प्रतिनिधि का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त बहुत आवश्यक है। यदि किसी हिन्दू कुल में एक पुत्र है, एक पौत्र है जिसके पिता गत हो गये हैं और एक प्रपौत्र है, जिस के पिता, पितामह दोनों गत हो गये हैं, तो वे प्रतिनिधि रूप में सम्पत्ति पायेंगे।

उदाहरण

विद्याधर नामक एक हिन्दू मरता है। उसके एक पुत्र है गङ्गाधर, दो पौत्र हैं अम्बाधर तथा मम्बाधर, तीन प्रपौत्र हैं रमाधर, उमाधर और विषधर



विद्याधर की सम्पत्ति के तीन विभाग होंगे—

(१) एक उस का पुत्र गङ्गाधर पायेगा। (२) एक उस के पौत्र अम्बाधर, मम्बाधर बराबर पावेंगे, और (३) तीसरा हिस्सा उनके प्रपौत्र रमाधर, उमाधर तथा विषधर पायेंगे। यही प्रतिनिधि,

प्रकाशक— श्री गंगाधर ब्रह्मचारी, शहीदरक्त, नगवा, बनारस।

सिद्धान्त है, जिसको अङ्ग्रेजी में 'पर स्ट्रपिज विभाग' कहते हैं। मृत हिन्दू पुरुष के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के विभागों में प्रतिनिधित्व सिद्धान्त से सम्पत्ति विभक्त होती है। इसी प्रकार पौत्र, नाती तथा नतनी भी स्त्री धन पाती हैं। इन्हीं दो में प्रतिनिधि सिद्धान्त लगता है बाकी में सब व्यक्ति बराबर रूप से पाते हैं। इस सिद्धान्त का, जिसे अङ्ग्रेजी में 'पर कैपिट' कहते हैं, उदाहरण आगे दिया जाता है। एक हिन्दू मरता है उसके एक भाई से दो और दूसरे भाई से तीन भतीजे हैं। उसकी सम्पत्ति के पाँच हिस्से होंगे और पाँचो भतीजे बराबर पावेंगे। यही व्यक्तिगत समान विभाग है। यदि प्रतिनिधि होते तो दो हिस्से होते। दो भतीजे एक में से आधा आधा पाते और दूसरे के तीन भतीजे तिहाई तिहाई पाते, परन्तु भतीजे बराबर बराबर पाते हैं। इस तरह पाँच बराबर हिस्से होंगे। यह विभाग भी बहुत आवश्यक है, इसी को अङ्ग्रेजी में 'पर कैपिट' कहते हैं। मिताक्षरा के अनुसार उत्तराधिकारियों का क्रम इस प्रकार है—(क) गोत्रसपिण्ड (ख) समानोदक (ग) वन्धु। प्रथम श्रेणी के पहले, उसके बाद दूसरी श्रेणी के और अन्त में वन्धु पायेंगे। सपिण्डों के उत्तराधिकारियों का क्रम—(१) पुत्र (२) पौत्र (३) प्रपौत्र (४) विधवा (५) दुहिता [पहले अविवाहिता कन्या को मिलता है फिर विवाहिता और गरीब तथा असहाय कन्या को, उसके बाद धनवती विवाहिता को दाय मिलता है] (६) नाती—कन्याओं के न रहने पर नाती को नाना की जायदाद मिलती है। उस को पूर्ण अधिकार मिलता है। वह उन्हें बराबरी के विभाग से मिलता है न कि प्रतिनिधि सिद्धान्त से। और यदि किसी पुरुष के दो कन्याएँ हैं और एक से दो पुत्र हैं तथा दूसरी से तीन पुत्र हैं। दोनों लड़कियाँ उसके जीवन काल में मर जाती हैं। वह पुरुष पाँच नाती छोड़कर मरता है। उसके सम्पत्ति के पाँच हिस्से होंगे। हर एक नाती को एक एक बराबर हिस्सा मिलेगा। (७) माता (८) पिता (९) भाई (१०) भतीजा (११) भतीजे का लड़का (१२) दादी (१३) दादा (पितामह) (१४) पुत्र की लड़की (पोती) (१५) कन्या की कन्या (नतनी) (१६) वहन, (१७) भांजा [इन में १४ से १७ का उत्तराधिकार कानून सन् १९२९ से हुआ], १८ चचा (१९) चचेरा भाई (२०) चचेरे भाई का पुत्र।

इसी प्रकार सपिण्डदाय का क्रम है। अब आगे के लेख में मिताक्षरा तथा दायभाग उत्तराधिकार का विषय और विशेष रूप से दिया जायगा। इसी प्रकार विवाह, दत्तक, विभाग, स्त्रीधन देवोत्तर, मठ सम्पत्ति, धर्मादाय सम्पत्ति आदि अनेक हिन्दू कानून के विषयों का संक्षेप में परिचय कराया जायगा और साथ ही यह दिखलाया जायगा कि उन में परिवर्तन करके किस तरह हिन्दू समाज का विघटन किया जा रहा है।

विषय-सूची

विषय

विषय	पृष्ठ
१—हमारा पाँचवीं वर्ष (सम्पादकीय)	१
२—सहशिक्षा का भ्रम (टिप्पणी)	२
३—उलटी समझ (श्री स्वामी करपात्री जी)	२
४—स्वागज्य-लभ (श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)	४
५—'मामनुस्मर युद्धय च' (श्री जीवनशङ्कर याज्ञिक)	५
६—समाज में शूद्रों का स्थान (श्री हीरावल्लभ जोशी)	६
७—प्रचलित हिन्दू उत्तराधिकार कानून (श्री देवीनारायण एडवोकेट, काशी)	७

मुद्रक—कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

सिद्धान्त

“अयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क २

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
स० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—वैशाख कृष्ण ३ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० ११ अप्रैल, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति का —)

खुली चुनौती

‘हिन्दू विवाह बिल’ पर विचार के लिए दोनों केन्द्रीय धारा-सभाओं की एक ‘संयुक्त समिति’ नियुक्त हो गयी। ‘राज-परिषद’ में भाषण करते हुए श्री हृदयनाथ कुंजरू ने कहा कि “संशोधित बिल लोकमत जानने के लिए प्रकाशित कर देना चाहिए। इस से सरकार को पता लग जायगा कि अधिकांश हिन्दू जनता विवाह-सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन चाहती है।” यह सनातनी हिन्दुओं को खुली चुनौती है। यदि वे अपने मत-प्रदर्शन द्वारा यह प्रकट नहीं कर देते कि श्री कुंजरू का कथन सर्वथा निर्मूल है, तो फिर उन्हें यह कहने का अधिकार न रहेगा कि अधिकांश हिन्दू इन परिवर्तनों के पक्ष में नहीं हैं। ‘समिति’ में कुंजरू, सप्रु सरीखे लोग हैं, जिन को हिन्दूधर्म छू तक नहीं गया है और जिन्हें अपने को हिन्दू कहने तक में लजा आती है। इन लोगों की कृपा से बिल और भी उग्र रूप धारण करके कमेटी के हाथ से निकलेगा। चुनौती का उत्तर हिन्दू जनता को देना है। परन्तु मार्ग में कितनी ही अड़चनें हैं। पाश्चात्य लोकतन्त्र के प्रभाव से कूटनीतिज्ञ धारासभाओं में पहुँच गये हैं और हिन्दूसमाज के प्रतिनिधि बनने का दावा कर रहे हैं। अधिकांश जनता मूक है, उस के जो स्वाभाविक नेता साधु, सन्त आदि हैं, वे उचित रीति से पथप्रदर्शन नहीं कर रहे हैं, फिर उन्हें राजनीति के आधुनिक दांवपेंचों का पता भी नहीं है। फलस्वरूप बहुसंख्यक दल अल्पसंख्यक बन रहा है। इन नये कानूनों का लोगों को तो कुछ भी ज्ञान नहीं है। वे केवल प्रान्तीय गजटों में प्रकाशित कर दिये गये हैं। विभिन्न देशी भाषाओं में उन का अनुवाद करके समा-चारपत्रों में प्रकाशित नहीं किया गया है। सरकार युद्ध-सम्बन्धी प्रचार के लिए सिनेमा, रेडियो, छापाखाना, सभी साधनों का प्रयोग करती है, पर हिन्दू समाज से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले बिलों के प्रचार के लिए केवल गजटों में छाप देना ही पर्याप्त समझा गया। जो संस्थाएँ विरोध करना चाहती हैं, उन को कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। विभिन्न प्रान्तों में मत लेने के लिए अन्तिम तारीखें भिन्न-भिन्न रखी गयी हैं। युक्तप्रान्त, बङ्गाल, मद्रास, उड़ीसा में अन्तिम तारीख ३० अप्रैल है, पर बिहार, मध्य-प्रान्त, बम्बई में १५ अप्रैल ही है। विभिन्न प्रान्तों में मत लेने के लिए अफसर भी विभिन्न रखे गये हैं। किसी प्रान्त में ‘जुडीशल विभाग’, किसी में ‘लॉ विभाग’ और किसी में ‘होम डिपार्टमेण्ट’ के सेक्रेटरी के पास मत भेजना होगा। इन सब का पता लगाने में कितना समय नष्ट हो जाता है। समय से उत्तर देना यहाँ की सरकारों की आदत नहीं है। फिर मत की तीन-तीन प्रतियाँ होनी चाहिए। इस के लिए कागज की कठिनाई पड़ती है। युक्तप्रान्त की

सरकार से लिखापढ़ी करने पर उस ने एक ही प्रति लेना स्वीकार कर लिया है। दूसरे प्रान्तों में यदि प्रयत्न किया जाय, तो कुछ हो सकता है, परन्तु समय कहाँ है? जो सरकारी नौकर हैं, वे सरकार का विरोध समझकर मत देने में हिचकते हैं। गाँवों में कॉम्रेन्-आन्दोलन दबाने के लिए सरकार ने जिस दमननीति से काम लिया है, उस का इतना आतङ्क फैला हुआ है कि लोग हस्ताक्षर करने में भय खाते हैं। कुछ लोग तो समझते हैं कि लड़ाई पर जाने के लिए भरती की जा रही है और धोखा देकर हस्ताक्षर लिया जा रहा है। ऐसी कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। इतने बड़े जनसमूह को जाग्रत करने के लिए काफी धन और कार्यकर्ता चाहिए, पर संस्थाओं के पास दोनों का अभाव है। ऐसी दशा में लोकमत व्यक्त हो तो कैसे?

प्रायः सभी प्रान्तों में संशोधित बिल गत फरवरी में प्रकाशित हुआ है और अप्रैल के भीतर ही मत माँगा जा रहा है। इतने बड़े कार्य के लिए यह समय बहुत थोड़ा है। भारत-सरकार से इस सम्बन्ध में लिखापढ़ी हो रही है, परन्तु एक ही पत्र के उत्तर आने में १५ दिन लग जाते हैं। यदि सरकार सचमुच लोकमत जानना चाहती है, तो उसे इस के लिए पूरी सुविधाएँ भी देनी चाहिए। सनातनी संस्थाएँ इस सम्बन्ध में मिलकर काम कर रही हैं। हमें ज्ञात हुआ है कि ‘सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा’ ने भी इस पर विचार करने के लिए एक उपसमिति बनायी है। हमें हर्ष है कि असेम्बली में भाई परमानन्दजी ने इन बिलों का घोर विरोध किया। इस सम्बन्ध में उन का एक लेख लाहौर के ‘हिन्दू’ में प्रकाशित हुआ था, जिस को वहाँ के उर्दू साप्ताहिक ‘आनन्द’ ने भी निकाला है। यह लेख बड़े मार्के का है। इस को हम अन्यत्र प्रकाशित कर रहे हैं। भाई परमानन्दजी का इन बिलों के सम्बन्ध में वही दृष्टि-कोण है जो हमारा है। वे ‘आर्यसमाज’ के एक प्रमुख नेता हैं और ‘हिन्दू महासभा’ में भी उन का प्रभाव है। उन्हें इन संस्थाओं को अपना स्पष्ट मत व्यक्त करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। इस अवसर पर इन दोनों संस्थाओं का तटस्थ रहना शोभा नहीं देता। यदि सनातनी संस्थाओं को इन दोनों का सहयोग प्राप्त हो जाय, तो बिलों के विरुद्ध आन्दोलन बहुत प्रबल बनाया जा सकता है। परन्तु समय की बड़ी कमी है। इसलिए पहले सब को जोर देकर मत देने की अवधि बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। क्या हम आशा करें कि उन संस्थाओं के नेता शीघ्र ही इस ओर ध्यान देंगे?

ज्ञान और विद्या का सिंहासन

ईरान से जो 'सांस्कृतिक मण्डल' आया था, उस ने भारत और ईरान के सांस्कृतिक लेन-देन पर बड़ा जोर दिया। 'दिल्ली विश्व-विद्यालय' में उस के नेता माननीय आगा अली असगर हिकमत ने अपने भाषण में कहा—“दिल्ली के एक मनोरम स्थान में एक पटल पर यह लिखा है कि 'इरानियों का एक राजा यहाँ से भयूर-सिंहासन (तल्ल ताऊस) ले गया।' मुझे वास्तव में बड़ा खेद और आश्चर्य है कि वह उस सिंहासन को क्यों ले गया, जो केवल धातु और पत्थरों का एक खण्डमात्र था? वह यहाँ से ज्ञान और विद्या का देदीप्यमान सिंहासन क्यों न ले गया? सिंहासनों का सोना-चौदी सदा नहीं बना रहेगा, पर संस्कृति के हीरे-मोती युग-युग तक जगमगाते रहेंगे। तब क्या यह उचित नहीं है कि विश्व के उत्सुक युवक शत्रु उठाकर रक्तपात में संलग्न होने के बदले विज्ञान की ज्योति लेकर आगे बढ़ें और सद्भावना तथा आदरभाव से भरकर संस्कृति की निधियाँ अपने अपने देशों को ले जायँ।” क्या ही सुन्दर बात है? परन्तु आजकल सुनता कौन है? नादिरशाह तो असभ्य कहा जायगा, पर आजकल सभ्यता का दम भरनेवाले पाश्चात्य शासक बर्बरता में नादिरशाह की भी नाक काट रहे हैं।

दास-मनोवृत्ति का एक उदाहरण

सदियों की दासता से सचमुच हमारी मनोवृत्ति दासता में रूढ़ गयी है। इस का एक उदाहरण हमें प्रतिदिन देखने में आता है, वह है अङ्ग्रेजी भाषा का प्रयोग। किसी भी देश ने विदेशी भाषा को इतना नहीं अपनाया, जितना कि भारत ने। अङ्ग्रेजी राजभाषा है, शिक्षा का माध्यम है, सो तो है ही, पर जहाँ उस के बिना काम चल सकता है वहाँ भी हम उसी का प्रयोग करते हैं। हम अपने निजी पत्र अङ्ग्रेजी में लिखते हैं, दिनचर्या भी अङ्ग्रेजी ही में भरते हैं, बोलचाल में अङ्ग्रेजी शब्दों का बिना प्रयोग किये हम से नहीं रहा जाता और हिन्दी लेखों में भी अनावश्यक अङ्ग्रेजी शब्द घुसेड़ते रहते हैं। पुस्तक चाहे संस्कृत में ही क्यों न हो, परन्तु उस पर लेखक का नाम अङ्ग्रेजी ही में होना चाहिए। दूकानों, मकानों के नाम तक अङ्ग्रेजी अक्षरों में लिखे जाते हैं। इस में शब्दों की विचित्र दुर्दशा होती है। 'सिंह' को 'सिनहा', 'मिश्र' को 'मिश्रा', 'गुप्त' को 'गुप्ता' लिखा जाता है। तमाशा यह है कि हिन्दी में भी अब ये शब्द ऐसे ही लिखे जाने लगे हैं। उच्चकोटि के हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं और साहित्यिक संस्थाओं से प्रकाशित लेखों में भी ये नाम ऐसे ही पाये जाते हैं। 'रामचन्द्र' का संक्षिप्त हिन्दी में भी रा. च. न लिखकर आर. सी. लिखा जाता है। छोटे, बड़े तथा समान वयवालों को पत्रों में सम्बोधन करने के लिए हमारे यहाँ मित्र प्रकार हैं, परन्तु सब के लिए अङ्ग्रेजी शब्द 'डियर' का अनुवाद 'प्रिय' लिखा जाने लगा है। और तो और, साधु, संन्यासी, महात्मा, महन्तों को भी अपने को 'हिज होलीनेस' कहलाने का शौक हो गया है। यह दास-मनोवृत्ति नहीं, तो और क्या है?

भगवत्-सेवा

(श्री स्वामी करपात्री जी)

भगवान् अखिलब्रह्मावतारक है, उन की सेवा में सब से बड़ी विलक्षणता यह है कि सेवक अपनी सच्ची सेवा से उन का स्खा ही नहीं, हृदयेन्दुर तक बन जाता है। 'दासोऽहं' कहते कहते 'सोऽहं' की नौबत आ जाती है। गोपीवन्ध्यापहारी भगवान् दठात् 'दासोऽहं' के 'दा'कोर को चुरा लेते हैं—“दासोऽहमिति या बुद्धिः पूर्वमासीद्वज्जनादने । दाकारोऽपहृतस्तेन गोपीवन्ध्यापहारिणा ॥” भगवान् की सेवा कठिन होते हुए भी बड़ी सरल है। वे तो थोड़े ही में प्रसन्न हो जाते हैं। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम भगवान् को धन, जन, विद्या, बल आदिकों की अपेक्षा ही क्या है? सन्देह होता है यदि ऐसी ही बात है, तो भगवान् स्वयं ही भक्तों को अपने सर्वस्व-समर्पण का आदेश क्यों करते हैं? वे अर्जुन-जैसे ऐसा क्यों कहते हैं—हे कौन्तेय! तुम जो कुछ भी यज्ञ, तप, दानादि, लौकिक, वैदिक कर्म-धर्म करते हो, वह सब मुझ सर्वान्तरात्मा को समर्पण कर दो—“यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥” इस का समाधान यही है कि प्रभु स्वयं तो निजलाभ (स्व-स्वरूपभूत अनन्त परमानन्दलाभ) ही से परिपूर्ण है। परन्तु भक्त की कल्याणकामना से ही उस को समर्पित सपत्नियों को ग्रहण करते हैं, क्योंकि प्राणी जो कुछ भगवान् के पादपङ्कज में समर्पण करता है, वही उसे मिलता है। जैसे दर्पणादि के भीतर प्रतिमुख (मुख प्रतिबिम्ब) को यदि कटक-मुकुट-कुण्डलादि भूषण-वसन पहनाकर शृङ्गार करना हो, तो मुख (बिम्ब) का ही शृङ्गार करना आवश्यक है। बिम्ब के शृङ्गार से प्रति-बिम्ब अनायास ही शृङ्गारित हो जाता है, अन्यथा विश्वभर के शिल्पी (कारीगर) भी प्रतिबिम्ब को मुकुट-कुण्डलादि पहनाने में असमर्थ ही रहेंगे। ठीक वैसे ही कोई भी प्राणी अपने पारलौकिक अभ्युदय, निःश्रेयसादि पुरुषार्थों की प्राप्ति तभी कर सकता है, जब श्रद्धा-भक्ति से प्रभु-पद-पङ्कज की सेवा करे। माना कि आज कोई साम्राज्य, वैराज्यादि अनेक आनन्द-सामग्रियों से परिपूर्ण है, परन्तु इस विनश्वर शरीर के पात होने पर कहाँ जायगा, कैसे और क्या करेगा? कोई भी ऐसा व्यक्ति या संस्था नहीं है, जहाँ हम अपनी धरोहर रखें और जन्मान्तर में फिर ग्रहण कर सकें। एकमात्र यही उपाय है कि भगवान् के शास्त्रानुसार यज्ञ, तप, दानादि से भगवान् की सेवा करके भगवान् में ही उसे समर्पण किया जाय। करुणामय, सर्वस्व, सर्वसामर्थ्य, सर्वप्रद भगवान् ही प्राणियों की भक्ति-श्रद्धा-सम्पादित आराधनाओं का परम मनोहर फल प्रदान करते हैं। इसलिए यद्यपि स्वतः “नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः” के अनुसार प्रभु किसी का पाप या पुण्य ग्रहण नहीं करते, तथापि अपनी अचिन्त्य, अनन्त, दिव्य लीलाशक्ति से भक्त-कल्याण-कामना से करुणा करके सम्पादित सम्मानों को ग्रहण करते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत पुनः पुनः भक्त को प्रोत्साहित करते हैं कि तुम सब कुछ भुक्त में ही समर्पित कर दो।

प्रभु को प्रसन्न करने के लिए धन, उत्तम कूल, रूप, तप, व्रत, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धियोग ये सब पर्याप्त नहीं हैं। गजेन्द्र पर तो इन पूर्वोक्त धनादि के बिना भी भगवान् सन्तुष्ट हो गये। यह सेवा का ही अद्भुत महत्व है कि जिस के बिना विप्र भी अकृतार्थ रहता और जिस के सम्बन्ध से श्वपच भी कुलसहित कृतार्थ हो जाता है। धन, जन, देह, गेहादि निज सर्वस्व तथा अपने आप को प्रभु में समर्पण करके श्रद्धा, स्नेहपुरःसर प्रभुपाद-पङ्कज-सपत्नियाँ ही सेवा है। प्रभु के परमानन्दरासात्मक, मधुर स्वरूप,

गुण, चरित्र आदि में मन की गाढ़ आसक्ति तो मुख्य सेवा है। इसी की सिद्धि के लिए वर्णाश्रम धर्म, यज्ञ, तप, दान आदि परमावश्यक है। तन, मन, धन से भगवत्-सेवा में तत्पर सेवक सिवा भगवान् के किसी वस्तु को अपना नहीं समझता। सभी कर्म, धर्म, समाजसेवा आदि सब कुछ भगवान् के लिए ही करता है। निखिल विश्व को अपने भगवान् का ही रूप समझकर उस की सेवा करता है। सोते, जागते सदा ही अनन्य सेवक के समस्त व्यापार केवल स्वामी के लिए ही होते हैं। भगवान् का विश्व और उन के भक्त भगवदीय हैं। भगवदीय सेवा से भगवत्सेवा प्राप्त होती है। इसलिए भगवान् का दास भगवदीय सेवा में बड़ा स्नेह रखता है। वास्तव में यदि किसी सौभाग्यशाली को निष्कपट सेवा मिल जाय, फिर तो कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। भगवत्पादपङ्कज में जिस का मनोमिलिन्द आसक्त है, वह तो अनन्य निश्चिन्त रहता है। जो दशा पुत्रवत्सला माँ के उत्सङ्गलालित शिशु की है, वही दशा सेवक की है। वे तो प्रभु के भरोसे हो अनन्य असोच रहते हैं—“सेवक सुत पितु मातु भरोसे, रहहि असौच बनै प्रभु पोसे।” भगवान् में आत्मनिवेदन करने से बढ़कर शोकनिवृत्ति का और उपाय ही क्या है? अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के माता-पिता भगवान् के सेवक शरणागत को फिर औच-क्यों? शरणागत के लिए ही तो भगवान् का आश्वासन है—‘मा शुचः’।

श्री भारत-सावित्री

(श्री स्वामी श्री शङ्करतीर्थ जी)

‘श्रीमहाभारत’ के स्वर्गारोहण पर्व का अन्तिम श्लोकचतुष्टय ‘भारत-सावित्री’ नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार वेदों का सार श्री सावित्री है, उसी प्रकार पञ्चम वेदस्वरूप ‘महाभारत’ का सार श्रीभारत-सावित्री है। जिस प्रकार श्री सावित्री नित्य ही उपास्या है, उसी प्रकार श्री भारत-सावित्री नित्य अनुस्मरणीया है। जिस प्रकार अगम तथा अनन्त शब्दसागर की सागभूता श्रीसावित्री वेदचतुष्टय-रूप में परिणत हुई है, उसी प्रकार आख्यानों तथा उपाख्यानों से पल्लवित तथा सुशोभित होकर श्रीभारत-सावित्री भी महाभारतरूप कल्पवृक्ष में परिणत हुई है। लक्षश्लोकात्मक महाभारत का पारायण करने का सौभाग्य बहुतेरे को नहीं होता, परन्तु इस श्लोकचतुष्टय का पाठ करके तथा इस के अर्थानुसन्धान से अनायास ही श्रीभारतपरायण का फल कोई भी आस्तिक बुद्धिशाली प्राप्त कर सकता है। इस कारण व्याख्यासहित श्री भारत-सावित्रीरूप उद्धार ‘सिद्धान्त’ के पृष्ठकों में प्रेषित किया जाता है।

प्रथम श्लोक ।

“मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।

संसारेष्वनुभूतानि यास्यन्ति चापरे ॥”

अनादि कर्मफल से जीव संसार में गमनागमन करते हैं। संसार-परम्परा से कर्मचक्र के आवर्तन के कारण जीव हजारों पिता-माता तथा सौ सौ स्त्री-पुत्रों का साक्षात्कार लाभ करके दुश्छेय समता-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी रीति से बहुतेरे माता तथा पिता, स्त्री तथा पुत्र प्राणी ने पाये थे, परन्तु अतीत संसार-प्रवाह से वे सब बह गये, आज भी बहे जाते हैं तथा जबतक ज्ञानदृष्टि

के उन्मीलन से संसारमोह नष्ट न होगा, तबतक इसी तरह से बहते जायेंगे।

द्वितीय श्लोक ।

“हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥”

इस संसार में अगणित आनन्दजनक घटनाएँ तथा अनन्त भीतिप्रद अवस्थाएँ नित्य ही उपस्थित होती हैं। जो लोग संसार-मोह से विमूढ़ हैं, वे ही ऐसे आनन्द से उत्फुल्ल तथा आतङ्क से अभिभूत होते हैं। विचारोन्मूलनबुद्धिसम्पन्न पण्डित लोग उस हर्ष एवं भीति से आविष्ट नहीं होते।

तृतीय श्लोक ।

“उद्धर्षबाहुर्विरोन्मेष न च कश्चिच्छृणोति मे ।

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥”

मैं ऊँचा हाथ उठाकर जोर से चिल्लाकर कह रहा हूँ, परन्तु कैसा आश्चर्य है कि कोई भी मेरा उपदेश नहीं सुनता? मैं कहता हूँ कि एक धर्माचरण से ही अर्थ तथा काम प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार फलप्रसु धर्म को मनुष्य क्यों नहीं सेवन करता है?

चतुर्थ श्लोक ।

“न जातु कामान्न भयाच्च लोभाद् धर्मैत्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥”

काम, भय, लोभ तथा प्राणरक्षा के हेतु भी कदापि धर्मत्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म जीव की शाश्वत सम्पदा है और सुख तथा दुःख आने-जानेवाले अनित्य हैं। जीव नित्य पदार्थ है, परन्तु इस जीवत्वलाभ के उपकरणों अथवा काम, भय तथा लोभ के कारणसमूह अनित्य हैं। जो देहधारण करके प्राणी बड़े हुए हैं, जिन उद्दीपनाओं, काम, भय तथा लोभ से कभी भीत तथा कभी लुब्ध होते हैं, कभी हिताहित विचाररहित हो जाते हैं, वे सब नहीं रहेंगे। सामयिक उद्दीपना से जीव को धर्मपथ से अष्ट करके ये सब अपना अपना रास्ता लेंगे। परन्तु जीव का अविनश्यर आत्मा रह जायगा तथा सुख-दुःख के नित्य सहचर धर्म तथा अधर्म जीव के साथ रहेंगे। परलोक के मार्ग से जिस समय जीव निःसङ्ग एकाकी चलेगा, उस समय जो उस की क्षुधा को अन्नरूप से तथा पिपासा को जलरूप में शान्त करेगा और पिता, माता, स्त्री, पुत्र, कन्या, बन्धुबान्धव, आत्मीयों के मिलन से जात आनन्दभोग में अभ्यस्त जीव जिस समय इन सब की वियोग्यन्त्रणा से अत्यन्त व्याकुल होगा, उस समय जो उस को शान्ति देगा, अनाथों के नाथ उस धर्म को सामयिक मोहवश परित्याग न करना चाहिए—“न हि धर्मात्परः कश्चित् ॥”

फलश्रुति ।

“इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् । स भारत-फलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥” जो मनुष्य प्रातः उठकर इस भारत-सावित्री का पाठ करता है, वह महाभारत-पारायण का समग्र फल प्राप्त करके परब्रह्म लाभ कर लेता है।

जन्मजन्मान्तर की धारावाहिक संसार-मत्तता दूरीभूत करने के लिए श्रीभारत-सावित्री ने प्रथम तथा द्वितीय श्लोकों से वैराग्य का उपदेश किया है। तृतीय श्लोक से धर्माचरण के अभ्यास का उपदेश दिया है और चतुर्थ श्लोक से अनित्य संसार, अनित्य सम्बन्ध, अनित्य सुख-दुःख तथा अनित्य भीति का परित्याग करने का उपदेश किया है। धर्म नित्य

वस्तु है, नित्यप्रति इस नित्यधर्म के किसी प्रकार साधनाभ्यास से समय व्यतीत करना चाहिए। निरन्तर साधन से प्रसन्न होकर यह धर्म अपना उद्देश्य त्यागकर 'तुम और मैं' इस व्यवधान को नाश करके परम धर्मरूप से प्रकट होगा और जीव का चिर विफल जन्म तथा जीवन सफल हो जायगा—“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।” “अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि। स्वर्गान्नाप्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥”

चित्त-विश्रान्ति

(श्री द्वितीशचन्द्र चक्रवर्ती एम. ए.)

१

इस निबन्ध में प्रश्नोत्तर द्वारा चित्त की एकाग्र तथा निरुद्ध भूमिका का विचार किया जायगा। प्र०—“वशिष्ठ, अष्टावक्र आदि अनेक जीवन्मुक्त महापुरुषों ने तो आत्मज्ञान को सुलभ बतलाया है। क्या यह सत्य है?” उ०—“हाँ, जिन उत्तम अधिकारियों की दृष्टि अन्तर्मुख हो चुकी है, उन का अन्तःकरण अन्तरात्मा में स्थित होने के कारण उन्हें स्वरूपविज्ञान अनायास ही सिद्ध हो जाता है। ‘गीताभाष्य’ (अ० १८, श्लो० ५०) में भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है कि “तद्वापरीतानां तु लौकिकग्राह्यग्राहक द्वैतवस्तुनि सद्बुद्धिः नितरां दुःसम्पाद्या आत्मचैतन्यव्यतिरेकेण वस्तुवन्तरस्य अनुपलब्धेः। तस्मात् बाह्याकारमेद्बुद्धिनिवृत्तिः एव आत्मस्वरूपालम्बने कारणम्। तस्मात् यथा स्वदेहस्य परिच्छेदाय न प्रमाणांतरापेक्षा, ततोऽपि आत्मनः अन्तरतमत्वात् तदवगतिं प्रति न प्रमाणांतरापेक्षा। येषामपि निराकारं ज्ञानं अप्रत्यक्षं, तेषामपि ज्ञानवशा एव ज्ञेयावगतिरिति ज्ञानं अत्यन्तं प्रसिद्धं सुखादिवत् एव इति अभ्युपगन्तव्यम्। तस्मात् ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किन्तु अनात्मबुद्धिनिवृत्तौ एव। तस्मात् ज्ञाननिष्ठा सुसम्पाद्या” अर्थात् आत्मचैतन्य से अतिरिक्त अन्य वस्तु के न होने से लौकिक ग्राह्य-ग्राहक द्वैत पदार्थ में सत्यत्वबुद्धि विकृत नहीं हो सकती, अतः बाह्याकार-मेद्बुद्धि की निवृत्ति ही आत्मस्वरूपज्ञान में कारण है। इसलिए अपने देह के परिच्छेद के लिए जैसे अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही देह से भी अधिक अन्तरात्मा होने के कारण आत्मा के ज्ञान में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। जिन के मत में निराकार होने के कारण ज्ञान अप्रत्यक्ष है, उनके वहाँ भी ज्ञेय वस्तु की अवगति ज्ञानाधीन ही है, इसलिए मानना पड़ता है कि ज्ञान सुख आदि की तरह अत्यन्त प्रसिद्ध है। अतएव ज्ञान में यत्न न करके अनात्मबुद्धि की निवृत्ति में ही यत्न करना चाहिए। सारांश यह है कि ज्ञाननिष्ठा का सम्पादन करना अत्यन्त सुगम है।”

प्र०—“आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है, फिर उस के जानने का प्रसङ्ग ही कैसे हो सकता है?” उ०—“आत्मा शरीर नहीं है, अदृश्य नहीं है, इसतरह अनात्म वस्तु का निषेध करते हुए स्वात्मनिरूपण सम्भव एवं सफल होता है। देश-कालादि द्वारा अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व स्वतः प्रकाशरूप होने के कारण सर्वदा ही अनुभव-गोचर रहता है। उसे यथार्थ रूप में जानने के लिए तत्परायणता ही एकमात्र साधन है। विभिन्नविषयक वृत्तिरूप ज्ञान प्रकाश्य होने पर भी उपाधिपरिच्छिन्न, अनन्त आभासज्ञान-समूह के भीतर अनुस्यूत-

रूप में वर्तमान जो सामान्य, अपरिणामी, अखण्ड ज्ञान है, जो समस्त विशेष खण्ड ज्ञानराशि का वास्तविक रूप है, वह अन्य साधन से प्रकाशित होने योग्य न होने पर भी अप्रकाशित किस तरह रह सकता है?” प्र०—“अच्छा, ऐसा होने पर इस चिद्रूप आत्मा का ज्ञान कैसे हो सकता है?” उ०—“कुतर्करहित एवं अज्ञायुक्त बुद्धि की सहायता से विचार करने पर ‘संमुखस्थित घट विषय का ज्ञान’ ऐसा कहने पर घटरूप प्रकाश्य अंश और ज्ञानरूप प्रकाश, ये दो अंश दिखलाई पड़ते हैं। प्रकाश के अन्तर्गत होने से प्रकाश्य अंश है, किन्तु वह भासक के बाहर नहीं है, अतएव वह भासक-भास्यरहित ही सिद्ध होता है। अखिल दृश्य पदार्थविषयक भिन्न भिन्न वृत्तिज्ञान में अनुगत या आरुढ़ यह भासक ही कूटस्थ चित्स्वरूप आत्मतत्त्व है।”

प्र०—“ज्ञान में भासमान भेद वास्तव क्यों नहीं है?” उ०—“घटज्ञान में घटरूप वेद्यभाग ज्ञानस्वरूप नहीं है, क्योंकि वह अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता, किन्तु पृथक् प्रकाशरूप संवित् की सहायता से ही भासित होता है। इसीलिए ज्ञानस्वरूप से अत्यन्त भिन्न घटादि वेद्य पदार्थ के पारस्परिक भेद से प्रकाशक आत्मा में भेद सिद्ध नहीं होता।” प्र०—“घट और पट जैसे भिन्न पदार्थ हैं, वैसे ही घटज्ञान तथा पटज्ञान भी तो विभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं, अतएव ज्ञान में भी तो भेद स्पष्ट दिखलाई पड़ता है?” उ०—“एक निःसीम आकाश में जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि भेद वेद्य घट एवं मठ के भेद के कारण प्रतीत होता है, उस से आकाश में भेद का स्पर्श नहीं हो सकता, वैसे ही साक्षीतत्त्व में वस्तुतः विषय या पुरुषकृत किसी भेद की कल्पना नहीं रह सकती। साक्ष्यद्वारा सदा अस्पृष्ट होने से विभिन्न ज्ञान का आश्रय होकर भी शुद्ध चेतन सर्वदा भेदशून्य एवं उपाधि-द्वारा परिच्छिन्न रूप में प्रतीयमान भिन्न भिन्न घटादिविषयक ज्ञान में अनुगत, समस्त खण्डित ज्ञानों को सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करने-वाला वह अखण्ड एकरस चैतन्य ही जीव का यथार्थ स्वरूप है।” प्र०—“घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि स्थल में जो भेद प्रतीत होता है, वह स्वाभाविक या सत्य न होकर उपाधिकृत या मिथ्या क्यों है?” उ०—“घटज्ञान में भासमान जो घटरूप वेद्य अंश है, वह स्वयं प्रकाशित न हो सकने के कारण ज्ञानअंश का स्वरूप या वित्तिरूप ज्ञान नहीं है, इसीलिए प्रकाश्य पदार्थ से प्रकाश या ज्ञान भिन्न है। यह चिच्छक्ति ही चेत्य को अवभासित करती है। विषय स्वयं अप्रकाशित—सत्ता और स्फुरण से शून्य—होकर ज्ञानशक्तिद्वारा प्रकाशित होते हैं, अतः वेद्यगत भेद विलक्षणस्वभाव चित्ति का स्पर्श नहीं कर सकता। इसीतरह ‘यह घटाकाश है’, ‘यह मठाकाश है’ इत्यादि स्थल में प्रतीत भेद घटादि वेद्य विषय का ही धर्म है, उस से चित्ति या ज्ञान का कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं है। शुक्ल, नील, वर्तुल आदि भिन्न भिन्न आकार के साथ प्रतीयमान परस्पर भेद तत्तत् वेद्य वस्तु में ही प्रतीत होता है। यह आतीतिक भेद निराधार साक्षीचेतन से अतिदूर अवस्थित होने के कारण ज्ञानस्वरूप में भेद उत्पन्न नहीं कर सकता।”

प्र०—“यह विषय प्रत्यक्षरूप में कैसे उपलब्ध हो सकता है?” उ०—“यह सहज में ही अनुभवगोचर किया जा सकता है। असङ्कल्परूप युक्ति द्वारा ज्ञान होने पर ज्ञेय पदार्थ को पृथक् करके आकारशून्य ज्ञान को देखा जा सकता है। मन को सङ्कल्परहित करने पर—सर्व प्रकार की चिन्ता का परित्याग करने पर—शुद्ध, सूक्ष्म मन की सहायता से अनायास ही वेद्यविवर्जित वित्ति का अनुभव होता है। यही मन की अन्तर्मुखता, एकाग्रवृत्ति या स्वात्मा-नुभव कहा जाता है। जबतक चित्त में घटादि दृश्य की भावना

या स्फुरण होता है, तबतक ही दृष्टि की स्थूलता, मन की सकल-रूपता या ध्येय पदार्थ का भाव वर्तमान रहता है। फलतः घट-पटादिविषयक विभिन्न, परिणामी सकल-प्रत्यय के साथ मिश्रित होकर, सङ्कल्पित पदार्थ के आकार में क्षण क्षण में परिणत अन्तःकरण की वृत्तियों पर आरुढ़ या प्रतिफलित होकर, एक अखण्ड, स्वप्रकाश-चित्ति भासमान होती है। दर्पण में जिस तरह विभिन्न प्रतिविम्बों के भासमान-काल में एक ही आदर्श भिन्न भिन्न आकार में प्रतीत होता है, उसी तरह परिच्छिन्न अनात्मविषयक भावना द्वारा अनु-रञ्जित होकर चित्ति भिन्न भिन्न रूप में ज्ञानप्राप्त होती है। जब 'यह नहीं है', 'यह भी नहीं है' इसतरह अशेष साङ्कल्पिक पदार्थ का मन से तिरोधान होगा, तब समस्त निषेधों की परि-समाप्तिरूप में शुद्ध बोध ही प्रकाशित रह जायगा। 'चित्स्वरूप ऐसा है' इस रूप में अनुभविता से भिन्नरूप में चित्त का ज्ञान न होने पर भी वेत्ता का सदा अव्यभिचारी एवं प्रकाशशील निज स्वरूप होने के कारण ध्येय पदार्थ के अभावकाल में सकल दृश्य-रहित, अखण्ड, निराभास, निराकार चिदेकस्वरूप में आत्मा प्रकटित होता है।

प्र०—“तब मुमुक्षु का अनुभव किस प्रकार का होगा ?”
उ०—“शुद्ध चित्ति वेदिता का यथार्थ स्वरूप होने के कारण उस से भिन्न नहीं है, इसलिए उसे किस रूप में और कौन जानेगा ? शुद्ध अनुभव अनुभविता का निजी स्वरूप होने के कारण कर्ता में करणव्यापार का प्रभाव नहीं होता, अतः आत्मविषयक भान में 'यह इस प्रकार है' ऐसी वेद्यता सम्भव नहीं है, परन्तु भ्रम से आत्मरूप में भासमान वेद्य शरीरादि सकल अनात्म दृश्य पदार्थ का 'यह मैं नहीं हूँ' इस तरह प्रतिषेध होने पर, निज यथार्थ स्वरूप का किसी तरह अभाव-सम्पादन नहीं किया जा सकता। अतः सकल प्रतिषेध के उपरान्त अन्य किसी पदार्थ की स्फूर्ति सम्भव न होने से अवशिष्ट रूप में शुद्ध आत्मतत्त्व ही स्वयं प्रकाशमान होता है। इस ज्ञानस्वरूप आत्मस्थिति से व्युत्थानकाल में त्रिपुटी की सहायता से अनुस्मरण या उपदेश करने के समय वित्तिरूप आत्मा को वेद्य कहा गया है अथवा पहले अज्ञात और बाद में परोक्षरूप से ज्ञात चिदात्मतत्त्व ही समाधि की परिपाकदशा में निरावरण चैतन्य-स्वरूप में सम्यक् परिज्ञात होता है।” प्र०—“शरीर, मन, प्राण आदि तो जब साक्षात् अहंरूप में (अपने वास्तव रूप में) अनुभूत होते हैं, तब इन सब में अहङ्कार किस तरह निषिद्ध हो सकता है ?”
उ०—“अपना निजी स्वरूप सर्वदा अव्यभिचारी है, परन्तु देहादि अस्थिर स्वभाववाले होने के कारण शरीरादि में आत्मत्वबुद्धि भ्रम-सिद्ध है। आत्मा स्वप्रकाश होने के कारण सदा अहंरूप में (अन्तर-तम या प्रत्यक्ष में) स्फुरित होता है, शरीरादि वैसे नहीं हैं। जिस समय बाह्य घटादि का ज्ञान होता है, उस समय भी शरीरादि में अहंबुद्धि नहीं रहती (अन्य विषय भासित होने पर घटादि में अहङ्कार का अवभास निवृत्त होता है), अतः घटादि के दर्शनकाल में गौर, दीर्घ आदि गुणयुक्त देह का स्फुरण घटज्ञान में नहीं दिख-लाई पड़ता (घटज्ञान में देहगुण का ज्ञान-प्रसङ्ग अनुभवविरुद्ध है)। 'यह शरीर मेरा है' इस प्रकार अपने से भिन्नरूप में शरीर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः शरीर आत्मा से विलक्षण और अनात्मस्वरूप सिद्ध होता है।”

प्र०—“घटदर्शन-काल में चैतन्य आत्मा भी तो अहंरूप में स्फुरित नहीं होता ?” उ०—“नहीं यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के स्फुरण के बिना घटादि किस तरह प्रकाशित हो सकते हैं ? आत्मा के ही आलोक से तो घटादि समस्त अनात्म दृश्य प्रपञ्च उद्भासित होता है।” प्र०—“प्रकाशमान

रहते हुए भी आत्मा उस समय अहंरूप में स्फुरित नहीं होता।” उ०—“नहीं, यह ठीक नहीं है। प्रकाशमानता अहंरूप में ही योग्य होने के कारण आत्मा सर्वदा प्रत्यग्रूप में (अपने शुद्ध स्वरूप में) प्रतिभात होता है (देहादि के अनवभास-काल में अहं पदार्थ की अस्फूर्ति होना सम्भव नहीं है, अतः प्रत्यक्तरूप में स्फुरित होना ही आत्मस्वरूप की प्रकाशशीलता है।) इसलिए 'मैंने घट जाना' इस रूप में ही प्रत्यक्ष ज्ञान की कभी सम्भावना होती है, अन्यथा (अहंरूप में चिदात्मा का स्फुरण न मानने पर) घट-दर्शन काल में 'मैं हूँ या नहीं' ऐसे संशय-विपर्यय ज्ञान का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता।” प्र०—“ऐसी स्थिति में अहंरूप में होनेवाला स्फुरण घटादिविषयक हो होगा ?” उ०—“नहीं, घटादि-दर्शन-काल में घटादि सम्पर्क का अङ्गीकार करने पर भी 'यह मेरा शरीर है' इसतरह देहादि-ज्ञान के समय देहसंसर्ग का ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि देहद्रष्टा स्पष्ट ही देह से भिन्न होता है।” प्र०—“यह व्यक्ति चैत्र है” ऐसे ज्ञानकाल में चैत्र का चिदात्मा भी पुरोवर्तिरूप 'इदं' प्रत्यय का विषय होने से 'अहं' रूप में स्फुरित होने योग्य नहीं है।” उ०—“यह उचित नहीं है, क्योंकि उस समय चैत्र के निज चित्स्वरूप का बोध (मैं विषयक ज्ञान) अत्यन्त अव्याहत होता है।”

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

(यह स्तम्भ विचारविनिमय के लिए है।)

सनातनी योजना के प्रधान तत्व

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)

सनातनी प्रजा को विदित है कि ता० ८ फरवरी सन् १९४४ के दिन दिल्ली में 'अखिल भारतवर्षीय धर्मसङ्घ' में सनातन धर्मातुल्य भारतीय स्वराज्य-व्यवस्थासम्बन्धी शासनविधान-योजना तैयार करने के लिए श्री जयेन्द्रराय भगवानलाल जी दूरकाळ की अध्यक्षता में सनातनी नेताओं की एक समिति नियुक्त की गयी थी, जिस में 'अखिल भारतीय वर्णाश्रम स्वराज्य संघ' के तीन भूतपूर्व अध्यक्ष, 'असेम्बली' के दो सदस्य, तीन शास्त्रीय विद्वान् आदि हैं। इस समिति ने अपना कार्य आरम्भ किया है और उस के श्रीगणेशरूप में श्री दूरकाळ जी की योजना पर विचार करने का निश्चय किया है। लगभग एक वर्षपूर्व यह योजना ता० ५ फरवरी सन् ४२ को 'सनातन धर्मसभा' की ओर से अहमदाबाद में प्रकाशित हुई थी और इस के उपरान्त वह बम्बई के 'गुजराती' पत्र, कलकत्ता के अहमदाबाद पत्र 'वॉइस ऑफ इण्डिया' और बनारस के हिन्दी पत्र 'सिद्धान्त' में पूर्णरूप से प्रकाशित हुई और उस का सार अयोध्या के 'संस्कृतम्' आदि अनेक पत्रों में प्रकाशित हुआ है। फिर भी यह योजना स्वभावतः अति गम्भीर एवं सङ्कीर्ण होने के कारण उस के मूल तत्वों को गहराई से समझने की स्पष्ट ही आवश्यकता है। विशेषतः इस योजना के, श्री १००८ जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य जी. महाराज-पुरी द्वारा, संशोधित एवं सम्मत होने के कारण उस की उपयुक्तता अधिक बढ़ गयी है। इसीलिए उस के मूल तत्वों की समीक्षा करना उपयोगी तथा आवश्यक है।

इस संशोधित योजना में सब से मुख्य मौलिक तत्व यह है कि "समस्त प्रजा के लिए हितकर तथा उस के धर्मों के अनुकूल राज,

तन्त्र" होना चाहिए। कहा जा सकता है कि यह उस का मूल मन्त्र है। उस पर अधिष्ठित इस योजना में निम्नलिखित तीन मौलिक तत्व हैं—१ बहुमत की हुकुमत के बदले योग्य राजाओं की अध्यक्षता में राजसत्ता का सङ्कलन, २ जातियों को तोड़नेवाली नीति के बदले उन की स्वीकृति तथा उन की उन्नति के लिए अनुकूलता, ३ स्वज जातियों की धार्मिक परम्परा का—राजसभा, जातीय समितियाँ, धार्मिक शिक्षा आदि से संरक्षण। ये तीनों तत्व ऐसे हैं कि उन के लिए सनातनी विचारवाले सौ विचारशील तुरन्त ही सम्मति देंगे। यह सत्तासङ्कलन, जातीय सानुकूलता तथा परम्परा-संरक्षा के तत्व किस तरह इस योजना में उतारे गये हैं, इस का विचार करने के पहले उस के शास्त्रीय आधारों पर भी दृष्टिपात करना उपयोगी होगा। सनातन धर्मशास्त्रों में केन्द्रभूत 'मनुस्मृति' क्षत्रिय के लिए—धर्म का यथान्याय रक्षण करना—कर्तव्य बतलाती है (७।१२) और फिर कहती है कि "रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः" अर्थात् समस्त संसार की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की रचना की। राजा को देवों के अंश में से नृप रूप से निर्माण किया है, इत्यादि कहकर विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि राजा का अर्थ, केवल राज्य करनेवाली चाहे जो समिति या प्रजा, यह नहीं है। यह 'नृपशासन' का सिद्धान्त एशिया तथा यूरोप की संस्कृति में सर्वमान्य था और भारत में अनादि काल से प्रचलित है। प्रजातन्त्र के नवीन सिद्धान्त ने सन् १७८९ की 'फ्रान्स की क्रान्ति' के बाद जोर पकड़ा और उस का ऐसा बुरा फल यूरोप तथा सारे संसार को थोड़े समय में ही मिल चुका है कि उस का अधिकांश स्थलों में प्रच्छन्न या प्रकट रूप में विरोध हो चुका है। प्राचीन यूनान के या हाल में स्विट्जरलैण्ड अथवा युनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त राष्ट्र अमरीका) के छोटे छोटे राज्यों में ही वह जैसे जैसे ठीक ठीक चल सका है। रूस, इटली, जर्मनी, आयरलैण्ड, स्पेन, आस्ट्रिया, तुर्की आदि देशों ने तो अधिनायकता (डिक्टेटोरशिप) स्थापित कर खुले तौर पर उस का उच्छेद किया है। इंग्लैण्ड में तो वस्तुतः धर्मप्रधान नृपवाला तन्त्र है। जापान में भी ऐसा ही है। चीन में नृपतन्त्र टूटने के बाद अव्यवस्था तथा विनाश हुआ है। अमरीका में और चीन में प्रभुओं को प्रायः अधिनायकता का अधिकार दिया गया है। भारत में भी प्रजातन्त्र का झुकाव श्री गान्धी जी या श्री जिन्ना की अधिनायकता की ओर हो रहा है। अपनी काल-प्रमाणित नृपतन्त्र की अनेक सुविधाओं में मुख्य यह है कि उस में एक ही व्यक्ति अन्तिम उत्तरदायी होने से उत्तरदायित्व आँका जा सकता है। दूसरी यह कि उसे योग्य भावना एवं परम्परा में दीक्षित-शिक्षित किया जा सकता है। तीसरी यह कि उस के द्वारा प्रजा पर चढ़ बैठनेवाले अधिनायक गुणों को अवसर नहीं मिलता और चौथी यह कि उस से सिद्धान्त-प्रणालिका का खण्ड खोत बना रहता है। हम देखते हैं कि प्रजातन्त्र से विनाश होने पर स्पेन या चीन की तरह 'सिविल वार', आन्तरविग्रह अथवा रूस या मेक्सिको की तरह धर्ममर्दन और विकारवश पशुबल के प्राधान्य के सिवा अन्य उपाय नहीं रहता। इस के विरुद्ध नृपतन्त्र में नृप के अपराधी होने पर उसे दण्ड दिया जा सकता है, इस के अनेक दृष्टान्त हैं। प्रजातन्त्र में तो बहुमत के कानूनी दायपेंचभरे जोर जुलूम से ही जो अपराध किया जाय, उसे कौन दण्ड दे सकता है? बहुत हुआ तो, निर्वाचन में यदि सफलता मिले, तो नये अधिकारी आयें, पर कौन कह सकता है कि वे भी किस रास्ते चलेंगे? अतः ऊपरी दृष्टि से ही देखें, तो भी हमारा नृपतन्त्र अधिक इष्ट है। हाँ, राजा लोग भी मनुष्य ही हैं, उन्हें किस तरह योग्य बनाया जाय और योग्य रखा जाय इस की योजना भी आवश्यक है और उस के लिए भी—हम आगे चलकर देखेंगे कि—हमारी सनातनी योजना में स्थान रखा गया है।

सनातनी शासनयोजना का दूसरा मौलिक तत्व है जातीय सङ्घटन

(ऐक्य नहीं) तथा सानुकूलता का विधान। इस समय देश के दौर्भाग्य से जातियों में अत्यन्त विस्वाद का वातावरण फैला हुआ है। इस के ऐतिहासिक कारण हैं और वर्तमान सङ्घर्ष के भी कारण हैं। हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों में ऐसे दोनों प्रकार के कारण हैं। फिर भी उन में साम्य यह है कि उन्हें अपने अपने धर्म के प्रति प्रेम है। किन्तु परिस्थिति यह है कि जब मुसलमानों में नेतृत्व धर्माग्रहियों के हाथ में गया है, तब हिन्दुओं में नेतृत्व धर्म की उपेक्षा करनेवाले या धर्म को बिगड़ा हुआ माननेवालों के हाथों में आ पड़ा है। इसी कारण से उन दोनों का मार्ग विभिन्न एवं विरोधी सा हो गया है। दोनों पक्ष के नेताओं में अपनी अपनी धार्मिक भावनाएँ मुख्य हों, तो दोनों में स्नेह, मेल और समान मार्ग समाधान हो सके, पर इस समय तो 'मुसलिम लीग' और 'कांग्रेस' के अर्द्धनास्तिक हिन्दू नेताओं के बीच मूल सिद्धान्त का ही झगडा चल रहा है। एक पक्ष के लिए धर्म ही मुख्य तथा आदर्श का चिन्ह है, दूसरे की दृष्टि में धर्म कोई वस्तु ही नहीं है अथवा बनावटी वस्तु है। अपने कट्टर सदस्य चुन जायें, इसलिए एक पक्ष जाति से निर्वाचन चाहता है। कट्टर हिन्दू किसी भी तरह निर्वाचित न हों, इसलिए दूसरा पक्ष अनेक जातियों के भिन्नवाली मतदाताओं की सभा का पक्षपात और जातीय निर्वाचन का विरोध करता है। एक पक्ष धर्म में हस्ताक्षेप के विरुद्ध है, तो दूसरे पक्ष ने अधिकार मिलने ही, हिन्दूधर्म में हस्ताक्षेप का प्रारम्भ भी कर दिया है। कट्टर हिन्दुओं की तरह कट्टर मुसलमान अलग अलग रहकर भी जब अपने स्वत्व की रक्षा करना चाहते हैं, तब छूटवादी एवं स्वच्छन्दताप्रेमी हिन्दूलोग वर्ण, अन्त्यज, जातियाँ, सब में खान-पान और संसर्ग में भी—विवाह पर्यन्त भी—मिलावट करके एक जाति निर्माण करना चाहते हैं। स्पष्टतया देखने पर यह समझ में आता है कि संस्कृति-प्रेमी हिन्दूलोग अपनी संस्कृति को सुरक्षित करने और इस के लिए बिना एक दूसरे के सङ्घर्ष के रहना अधिक चाहते हैं। इस के लिए हमारे गाँवों तथा शहरों में ऐसी परिपाटी प्रचलित है कि दोनों जातियों के महत्त्व अलग अलग होते हैं और उन के समुदाय एवं सभाएँ तथा शिक्षणसंस्थाएँ भी जहाँ तक हो सके, विभिन्न ही होती हैं और 'मुसलिम लीग' इस धोरण पर ही 'पाकिस्तान' मांगती है। हाँ, मुसलमान उस से हिन्दुओं को परेशान न करें, इसलिए हिन्दू पाकिस्तान का विरोध करते हैं। दूसरी ओर से देखा जाय, तो हिन्दूशास्त्रों में म्लेच्छाक्रान्त तथा गोहत्यावाले देश की अपेक्षा उन से रक्षित देश अधिक पवित्र माना गया है। इन सब हेतुओं को ध्यान में रखकर मुसलमान स्वयं ही मांगते हैं, तो फिर उन्हें मुख्य मुख्य स्थान निश्चय कर अलग प्रान्त दिये जाय, यदि ऐसी परिस्थिति खड़ी हो, तो निर्वाह कर लिया जाय, इस बात को यह योजना स्वीकृत करती है। इस से दोनों जातियों में होनेवाली सदा की खींचतान, लड़ाई-झगड़े आदि बन्द हो जायेंगे। कांग्रेसवादियों में से अधिकांश लोग, हिन्दू-मुसलमानों की जाति एक करके यह हेतु साधना चाहते हैं और इसीलिए जाति का नाम आते ही विरोध करते हैं। यह जानी हुई बात है कि उन में कितने ही तो साम्यवादी ही हैं और धर्म तथा प्राचीन आर्य संस्कृति को छिन्न-भिन्न करने का अवसर ही देख रहे हैं। ऐसे साम्यवादप्रधान राष्ट्रवाद द्वारा होनेवाला संस्कृति का उच्छेद यदि रोकना हो और प्रत्येक जाति को अपनी संस्कृति में प्रगति करने की सुगमता करनी हो, तो प्रचलित भिन्न भिन्न स्थान के धोरण को आगे बढ़ाकर देश में भी दोनों जातियों का स्वातन्त्र्य इष्ट समझा जाना चाहिए। तथापि यह सिद्ध इस तरह होनी चाहिए कि उस से हिन्दुस्तान की एकता में कोई बाधा न आये। इसलिए इस योजना में भारत के सब नियमों की एकता रखी गयी है और 'नरेन्द्रमण्डल' की उचित रीति से पुनः रचना करके उस के हाथ में

अन्तिम राजकीय अधिकार सौंपने की योजना है। आधुनिक मुसलमान अधिकतर हिन्दुओं के वंशज हैं, अतः देश में उन के हिस्से को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृतियों का रक्षण करना, भिन्नता रखना और इकट्ठे रहकर सिरफुड़ीबल करते रहना, इस की अपेक्षा एक ही राष्ट्र में अपने-अपने प्रान्त पृथक् करना, कुटुम्बों में प्रचलित इसी परिपाटी का इस नीति में अनुकरण है। अन्यथा साथ रहना, सहशिक्षा, साथ ही प्रभातफेरी, एक साथ सभाओं में कार्य करना आदि संसर्ग से अन्त में जातिसाङ्ग्य होने की ही सम्भावना है। अतएव जिसे वह संमत नहीं है, उस के लिए तो यही मार्ग है। यह गम्भीर प्रश्न है और उस से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों की चर्चा ही योग्य है। किन्तु अपने धर्म के प्रेम की अपेक्षा सामने-से पर की प्रतिस्पर्धिता इस में जरा अधिक काम कर रही है। कांग्रेस देशों ने तो आत्मनिर्णय की मान्यता द्वारा पाकिस्तान का भिन्न लगभग स्वीकृत कर लिया है। सब धार्मिक पन्थ मूल संस्कृत धर्म से साक्षात् अथवा परम्परा उत्पन्न हैं, अतः हिन्दुओं का तो उस के प्रति दुर्भाव होना ही नहीं चाहिए। इस समय तो सब धर्मों के विरुद्ध आक्रमण है, उस में ऐसा आन्तरिक विरोध दोनों के लिए हानिकारक है। ऐसे सुविधेक के कारण ही मुसलिम राज्यों में हिन्दू और हिन्दुओं में मुसलमान दीवान होते हैं और सब को अपना धर्म मुबारक, यह भावना रखते हैं। इस भावना के पुनः प्रवर्तित होने पर पाकिस्तान की मांग का भी शिथिल हो जाना सम्भव है। यह प्रश्न वर्तमान उत्तेजनाओं से उत्तेजित होकर निर्णय करने योग्य नहीं है।

दूसरा मौलिक तत्व इस योजना में यह है कि नास्तिक अथवा द्वेष करनेवाले किसी तरह हमारे समाज, संस्कृति तथा आदर्शों को रक्षित करने की मोर्चाबन्दी न कर सकें, इस की व्यवस्था रखना। इस योजना में तीन, चार तत्व प्रविष्ट किये गये हैं। तो यह कि राजा को नियमबद्ध रखने के लिए प्रत्येक ऐसे प्रान्त का नाम 'राज्य' रहे—सन्तों की समिति की योजना की प्रजामत जानने के साधनरूप में प्रजासमिति भी रखी गयी है, पर वह अधिकार छीनने का साधन न बन जाय और बहुमत से अल्पमत की उचित बातें भी मारी न जाय, इसलिए उन प्रजासमितियों को सूचित करने या परामर्श देने का अधिकार दिया गया है। इस समय, धारासभाएं, उन पर नियन्त्रण रखा जा सके, इसलिए छोटी रखी जाती हैं, इस के बजाय, जिस में सब पक्षों को उचित स्थान प्राप्त हो, ऐसी बड़ी रखने की योजना है। तीसरा और सब से अधिक महत्व का विषय यह है कि प्रत्येक जाति के अनुसार प्रत्येक प्रान्त या देश में जातीय समितियां रखी गयी हैं, जो उन उन जातियों के अधिकारों पर होनेवाले आक्रमणों से उन जातियों की रक्षा कर सकें और उस पर निर्णय दे सकें। यदि इस प्रकार का शासन-विधान स्थापित हो जाय, तो शायद मुसलमान भी पाकिस्तान में जाने का आग्रह छोड़ दें, यद्यपि दोनों जातियों को एक कर डालने की कई लोगों की इच्छा सफल न होगी।

इस योजना में प्रान्तों की मुख्यतः भाषाओं के अनुसार पुनः रचना करने की व्यवस्था है और ऐसे प्रान्त को गुजरात, महाराष्ट्र, बङ्ग आदि देश कहने की व्यवस्था है और भरतखण्ड जैसा एक छोटे खण्ड के रूप में माना जाता था, वैसा गिना गया है। देशी राज्यों में जैसे राजालोग राज्यकर्ता हैं, वैसे इन प्रान्त—देशों—में भी अध्यक्ष या गवर्नर राज्यकर्ता के रूप में राजा लोग रहेंगे। वायव्य प्रान्त ऐसे मुसलमानी भागों में मुसलमान राजा हो सकेंगे। सब प्रजा को अपने अपने धर्म के अनुसार शिक्षा दी जायगी, इस बात पर इस योजना में जोर दिया गया है। पाश्चात्य

प्रजा को लाभदायक एवं अर्थपरायण धोरणवाली आर्थिक नीति के बजाय, जिस में प्रजा के खर्च को बढ़ाने पर जोर होता है, इस योजना में जीवन को सरल, सुगम और सस्ता करने का ध्येय रखा गया है, जिस से पाश्चात्य आर्थिक झगड़े और अन्त में वैर तथा विग्रह हमारी प्रजा को न छा लें। प्रजासमितियों के निर्वाचन के प्रश्न में भी एक नवीन निर्वाचन-पद्धति का समावेश किया गया है, जिस में मताधिकार भोगने, अपने अनुकूल समुदाय में मत के लिए सम्मिलित होने और मतप्रदान के वय आदि विषयों में ऐच्छिक धोरण का उपयोग किया गया है। आधुनिक पद्धति में अनेक जाति के मतदाता संमिलित होने से सामान्यतया ही संमिलित होनेवाले लोग उस में सफलता प्राप्त करते हैं और जातियों के हित की ओर उन का ध्यान कम ही रहता है। इस पद्धति की मुख्य विशेषता यह है कि जातीय निर्वाचन, 'एडल्ट सफ्रेज' स्त्रियों को निर्वाचनाधिकार आदि प्रश्नों का निर्णय आपोआप उस में आ जाता है और निर्वाचन तीन-चार चलनियों में चल जाने के कारण और सभा को केवल अभिप्राय देने का अधिकार होने से आधुनिक निर्वाचन की अधिकतर खराबियां और लड़ाई-झगड़े उस से कम हो जाते हैं। अभी तो इस योजना की इतनी ही संक्षिप्त समीक्षा से सन्तोष मान लेंगे।

धर्मशास्त्रों का अन्त करने के लिए

(श्री भाई परमानन्द जी)

आजकल 'केन्द्रीय असेम्बली' में एक हिन्दू बिल पर बहस हो रही है। हिन्दू-धर्मशास्त्र हिन्दुओं के लिए महान् पथप्रदर्शक है। लगभग दो हजार वर्ष से वैसा ही चला आता है। उस का प्रभाव हिन्दू-समाज पर आज भी वैसा ही है, जैसा कि पहले था, या यों कहना चाहिए कि यह सदा से ही हिन्दुओं के भीतर आत-भाव बनाये रखने का बड़ा कारण बना रहा है। पश्चिमी सभ्यता के आने से भारत में एक ऐसा दल पैदा हो गया है, जिस को हमारे प्राचीन रीति-रिवाज से घृणा है। हमारे धर्मशास्त्र हिन्दूमात्र के लिए कानून है। मुसलिम राज और ब्रिटिश राज के जमाने में भी इस में कभी तबदीली नहीं हुई। परन्तु कुछ हिन्दू, जिन को पश्चिमी ढङ्ग पर शिक्षा मिली है और जिन्होंने हिन्दुओं के प्राचीन इतिहास तथा दर्शन का कभी अध्ययन नहीं किया है, तबदीली चाहते हैं। वे कहते हैं कि हिन्दू-विवाह की रीति में परिवर्तन किया जाय। जो हिन्दू, सनातनी, सिख या जैन-पन्थ में विश्वास नहीं रखते थे, उन्होंने 'स्पेशल मैरिज ऐक्ट' बनवाया। सन् १९२३ में सर हरिसिंह गोड़ ने इस कानून में यह संशोधन करवाया कि यह बाकी हिन्दुओं पर भी लागू हो। इस के अनुसार कोई भी हिन्दू स्त्री-पुरुष रजिस्ट्रार के सामने जाकर अपना विवाह करा सकते हैं, इस में उन्हें किसी धार्मिक रीति की जरूरत नहीं पड़ती। इस में उन्हें जब चाहे एक दूसरे से विवाहसम्बन्ध तोड़ लेने का भी अधिकार दे दिया गया। इस के अनुसार उन पर 'इण्डियन सेक्शन ऐक्ट' लागू था न कि 'हिन्दू सेक्शन'।

इतनी आजादी मिलने पर भी ऐसे विवाह बहुत हो कम होते थे। अब पश्चिमी शिक्षा के कारण कुछ स्त्रियाँ पुरुषों से उरावरी का अधिकार भोगने लगीं। इस में कोई सन्देह नहीं कि पुरुषों में भी इस विचार के लोग हैं जो स्त्रियों को पूर्वी होने के कारण पुरुषों के

तन्त्र" होना चाहिए। कहा जा सकता है कि यह उस का मूल मन्त्र है। उस पर अधिष्ठित इस योजना में निम्नलिखित तीन मौलिक तत्व हैं—१ बहुमत की हुकूमत के बदले योग्य राजाओं की अध्यक्षता में राजसत्ता का सङ्कलन, २ जातियों को तोड़नेवाली नीति के बदले उन की स्वीकृति तथा उन की उन्नति के लिए अनुकूलता, ३ स्व जातियों की धार्मिक परम्परा का—राजसभा, जातीय समितियाँ, धार्मिक शिक्षा आदि से संरक्षण। ये तीनों तत्व ऐसे हैं कि उन के लिए सनातनी विचारवाले सौ विचारशील तुरन्त ही सम्मति देंगे। यह सत्तासङ्कलन, जातीय सायुकूलता तथा परम्परा-संरक्षा के तत्व किस तरह इस योजना में उतारे गये हैं, इस का विचार करने के पहले उस के शास्त्रीय आधारों पर भी दृष्टिपात करना उपयोगी होगा। सनातन धर्मशास्त्रों में केन्द्रभूत 'मनुस्मृति' क्षत्रिय के लिए—धर्म का यथान्याय रक्षण करना—कर्तव्य बतलाती है (७।२) और फिर कहती है कि "रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः" अर्थात् समस्त संसार की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की रचना की। राजा को देवों के अंश में से नृपरूप से निर्माण किया है, इत्यादि कहकर विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि राजा का अर्थ, केवल राज्य करनेवाली चोहे जो समिति या प्रजा, यह नहीं है। यह 'नृपशासन' का सिद्धान्त एशिया तथा यूरोप की संस्कृति में सर्वमान्य था और भारत में अनादि काल से प्रचलित है। प्रजातन्त्र के नवीन सिद्धान्त ने सन् १७८९ की 'फ्रान्स की क्रान्ति' के बाद जोर पकड़ा और उस का ऐसा बुरा फल यूरोप तथा सारे संसार को थोड़े समय में ही मिल चुका है कि उस का अधिकांश स्थलों में प्रच्छन्न या प्रकट रूप में विरोध हो चुका है। प्राचीन यूनान के या हाल में स्विट्जरलैण्ड अथवा युनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त राष्ट्र अमरीका) के छोटे छोटे राज्यों में ही वह जैसे तैसे ठीक ठीक चल सका है। रूस, इटली, जर्मनी, आयरलैण्ड, स्पेन, आस्ट्रिया, तुर्की आदि देशों ने तो अधिनायकता (डिक्टेटोरशिप) स्थापित कर खुली तौर पर उस का उच्छेद किया है। इंग्लैण्ड में तो वस्तुतः धर्मप्रधान नृपवाला तन्त्र है। जापान में भी ऐसा ही है। चीन में नृपतन्त्र टूटने के बाद अव्यवस्था तथा विनाश हुआ है। अमरीका में और चीन में प्रभुओं को प्रायः अधिनायकता का अधिकार दिया गया है। भारत में भी प्रजातन्त्र का झुकाव श्री गान्धी जी या श्री जिन्ना की अधिनायकता की ओर ही हो रहा है। अपनी काल-प्रमाणित नृपतन्त्र की अनेक सुविधाओं में मुख्य यह है कि उस में एक ही व्यक्ति अन्तिम उत्तरदायी होने से उत्तरदायित्व ओका जा सकता है। दूसरी यह कि उसे योग्य भावना एवं परम्परा में दीक्षित-शिक्षित किया जा सकता है। तीसरी यह कि उस के द्वारा प्रजा पर चढ़ बैठनेवाले अधिनायक गुणों को अवसर नहीं मिलता और चौथी यह कि उस से सिद्धान्त-प्रणालिका का अखण्ड स्रोत बना रहता है। हम देखते हैं कि प्रजातन्त्र से विनाश होने पर स्पेन या चीन की तरह 'सिविल वार', आन्तरिकग्रह अथवा रूस या मेक्सिको की तरह धर्ममर्दन और विकारवश पशुवल के प्राधान्य के सिवा अन्य उपाय नहीं रहता। इस के विरुद्ध नृपतन्त्र में नृप के अपराधी होने पर उसे दण्ड दिया जा सकता है, इस के अनेक दृष्टान्त हैं। प्रजातन्त्र में तो बहुमत के कानूनी दायपेंचभरे जोर जुलम से ही जो अपराध किया जाय, उसे कौन दण्ड दे सकता है? बहुत हुआ तो, निर्वाचन में यदि सफलता मिले, तो नये अधिकारी आयें, पर कौन कह सकता है कि वे भी किस रास्ते चलेगें? अतः ऊपरी दृष्टि से ही देखें, तो भी हमारा नृपतन्त्र अधिक इष्ट है। हाँ, राजा लोग भी मनुष्य ही हैं, उन्हें किस तरह योग्य बनाया जाय और-योग्य रखा जाय इस की योजना भी आवश्यक है और उस के लिए भी—हम आगे चलकर देखेंगे कि—हमारी सनातनी योजना में स्थान रखा गया है।

सनातनी शासनयोजना का दूसरा मौलिक तत्व है जातीय सङ्कटन

(एक्य नहीं) तथा सायुकूलता का विधान। इस समय देश के दौर्भाग्य से जातियों में अत्यन्त विस्वाद का वातावरण फैला हुआ है। इस के ऐतिहासिक कारण हैं और वर्तमान सङ्घर्ष के भी कारण हैं। हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों में ऐसे दोनों प्रकार के कारण हैं। फिर भी उन में साम्य यह है कि उन्हें अपने अपने धर्म के प्रति प्रेम है। किन्तु परिस्थिति यह है कि जब मुसलमानों में नेतृत्व धर्माग्रहियों के हाथ में गया है, तब हिन्दुओं में नेतृत्व धर्म की उपेक्षा करनेवाले या धर्म को बिगड़ा हुआ माननेवालों के हाथों में आ पड़ा है। इसी कारण से उन दोनों का मार्ग विभिन्न एवं विरोधी सा हो गया है। दोनों पक्ष के नेताओं में अपनी अपनी धार्मिक भावनाएँ मुख्य हों, तो दोनों में स्नेह, मेल और समान मार्ग पर समाधान हो सके, पर इस समय तो 'मुसलिम लीग' और 'काँग्रेस' के अर्द्धनास्तिक हिन्दू नेताओं के बीच मूल सिद्धान्त का ही झगडा चल रहा है। एक पक्ष के लिए धर्म ही मुख्य तथा आदर्श का चिन्ह है, दूसरे की दृष्टि में धर्म कोई वस्तु ही नहीं है अथवा बनावटी वस्तु है। अपने कट्टर सदस्य चुने जायें, इसलिए एक पक्ष जातियों से निर्वाचन चाहता है। कट्टर हिन्दू किसी भी तरह निर्वाचित न हों, इसलिए दूसरा पक्ष अनेक जातियों के भिन्नवाली मतदाताओं की सभा का पक्षपात और जातीय निर्वाचन का विरोध करता है। एक पक्ष धर्म में हस्ताक्षेप के विरुद्ध है, तो दूसरे पक्ष ने अधिकार मिलने ही, हिन्दुधर्म में हस्ताक्षेप का प्रारम्भ भी कर दिया है। कट्टर हिन्दुओं की तरह कट्टर मुसलमान अलग अलग रहकर भी जब अपने स्वत्व की रक्षा करना चाहते हैं, तब छूटवादी एवं स्वच्छन्दताप्रेमी हिन्दूलोग वर्ण, अन्त्यज, जातियाँ, सब में खान-पान और संसर्ग में भी—विवाह पर्यन्त भी—मिलावट करके एक जाति निर्माण करना चाहते हैं। स्पष्टतया देखने पर यह समझ में आता है कि संस्कृति-प्रेमी हिन्दूलोग अपनी संस्कृति को सुरक्षित करने और इस के लिए बिना एक दूसरे के सङ्घर्ष के रहना अधिक चाहते हैं। इस के लिए हमारे गाँवों तथा शहरों में ऐसी परिपाटी प्रचलित है कि दोनों जातियों के महल्ले अलग अलग होते हैं और उन के समुदाय एवं सभाएँ तथा शिक्षणसंस्थाएँ भी जहाँ तक हो सके, विभिन्न ही होती हैं और 'मुसलिम लीग' इस धोरण पर ही 'पाकिस्तान' मांगती है। हाँ, मुसलमान उस से हिन्दुओं को परेशान न करें, इसलिए हिन्दू पाकिस्तान का विरोध करते हैं। दूसरी ओर से देखा जाय, तो हिन्दुशास्त्रों में म्लेच्छक्रान्त तथा गोहत्यावाले देश की अपेक्षा उन से रक्षित देश अधिक पवित्र माना गया है। इन सब हेतुओं को ध्यान में रखकर मुसलमान स्वयं ही मांगते हैं, तो फिर उन्हें मुख्य मुख्य स्थान निश्चय कर अलग प्रान्त दिये जायें, यदि ऐसी परिस्थिति खड़ी हो, तो निर्वाह कर लिया जाय, इस बात को यह योजना स्वीकृत करती है। इस से दोनों जातियों में होनेवाली सदा की खींचतान, लड़ाई-झगड़े आदि बन्द हो जायेंगे। कांग्रेसवादियों में से अधिकांश लोग, हिन्दू-मुसलमानों की जाति एक करके यह हेतु साधना चाहते हैं और इसीलिए जाति का नाम आते ही विरोध करते हैं। यह जानी हुई बात है कि उन में कितने ही तो साम्यवादी ही हैं और धर्म तथा प्राचीन आर्य संस्कृति को छिन्न-भिन्न करने का अवसर ही देख रहे हैं। ऐसे साम्यवादप्रधान राष्ट्रवाद द्वारा होनेवाला संस्कृति का उच्छेद यदि रोकना हो और प्रत्येक जाति को अपनी संस्कृति में प्रगति करने की सुगमता करनी हो, तो प्रचलित भिन्न भिन्न स्थान के धोरण को आगे बढ़ाकर देश में भी दोनों जातियों का स्वातन्त्र्य इष्ट समझा जाना चाहिए। तथापि यह सिद्धि इस तरह होनी चाहिए कि उस से हिन्दुस्तान की एकता में कोई बाधा न आये। इसलिए इस योजना में भारत के सब नियमों की एकता रखी गयी है और 'नरेन्द्रमण्डल' की उचित रीति से पुनः रचना करके उस के हाथ में

अन्तिम राजकीय अधिकार सौंपने का योजना है। आधुनिक मुसलमान अधिकतर हिन्दुओं के वंशज हैं, अतः देश में उन के हिस्से को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृतियों का रक्षण करना, भिन्नता रखना और इकट्ठे रहकर सिरफुड़ीगल करने रहना, इस की अपेक्षा एक ही राष्ट्र में अपने-अपने प्रान्त पृथक् करना, कुटुम्बों में प्रचलित इसी परिपाटी का इस नीति में अनुकरण है। अन्यथा साथ रहना, सहशिक्षा, साथ ही प्रभातफेरी, एक साथ सभाओं में कार्य करना आदि संसर्ग से अन्त में आतिसाङ्कर्य होने की ही सम्भावना है। अतएव जिसे वह संमत नहीं है, उस के लिए तो यही मार्ग है। यह गम्भीर प्रश्न है और उस से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों की चर्चा ही करने योग्य है। किन्तु अपने धर्म के प्रेम की अपेक्षा सामने-यों की प्रतिस्पर्धिता इस में जरा अधिक काम कर रही है। पाश्चात्य देशों ने तो आत्मनिर्णय की मान्यता द्वारा पाकिस्तान का पृथक् लगभग स्वीकृत कर लिया है। सब धार्मिक पन्थ मूल सनातन धर्म से साक्षात् अथवा परम्परा उत्पन्न हैं, अतः हिन्दुओं का तो उस के प्रति दुर्भाव होना ही नहीं चाहिए। इस समय तो सब धर्मों के विरुद्ध आक्रमण है, उस में ऐसा आन्तरिक विरोध दोनों के लिए हानिकारक है। ऐसे सुविवेक के कारण ही मुसलिम राज्यों में हिन्दू और हिन्दुओं में मुसलमान दीवान होते हैं और सब को अपना धर्म मुबारक, यह भावना रखते हैं। इस भावना के पुनः प्रवर्तित होने पर पाकिस्तान की मांग का भी शिथिल हो जाना सम्भव है। यह प्रश्न वर्तमान उत्तेजनाओं से उत्तेजित होकर निर्णय करने योग्य नहीं है।

दूसरा मौलिक तत्व इस योजना में यह है कि नास्तिक अथवा द्वेष करनेवाले किसी तरह हमारे समाज, संस्कृति तथा आदर्शों को बाधित करने की मोर्चाबन्दी न कर सकें, इस की व्यवस्था रखना। इस के लिए इस योजना में तीन, चार तत्व प्रविष्ट किये गये हैं। पहला तो यह कि राजा को नियमबद्ध रखने के लिए प्रत्येक ऐसे प्रान्त में—जिस का नाम 'राज्य' रहे—सन्तों की समिति की योजना की गयी है। प्रजामत जानने के साधनरूप में प्रजासमिति भी रखी गयी है, पर वह अधिकार छीनने का साधन न बन जाय और बहुमत से अल्पमत की उचित बातें भी मारी न जाय, इसलिए उन प्रजासमितियों को सूचित करने या परामर्श देने का अधिकार दिया गया है। इस समय, धारासभाएं, उन पर नियन्त्रण रखा जा सके, इसलिए छोटी रखी जाती हैं, इस के बजाय, जिस में सब पक्षों को उचित स्थान प्राप्त हो, ऐसी बड़ी रखने की योजना है। तीसरा और सब से अधिक महत्व का विषय यह है कि प्रत्येक जाति के अनुसार प्रत्येक प्रान्त या देश में जातीय समितियां रखी गयी हैं, जो उन जातियों के अधिकारों पर होनेवाले आक्रमणों से उन जातियों की रक्षा कर सकें और उस पर निर्णय दे सकें। यदि इस प्रकार का शासन-विधान स्थापित हो जाय, तो शायद मुसलमान भी पाकिस्तान में जाने का आग्रह छोड़ दें, यद्यपि दोनों जातियों को एक कर डालने की कई लोगों की इच्छा सफल न होगी।

इस योजना में प्रान्तों की मुख्यतः भाषाओं के अनुसार पुनः रचना करने की व्यवस्था है और ऐसे प्रान्त को गुजरात, महाराष्ट्र, बङ्ग आदि देश कहने की व्यवस्था है और भरतखण्ड जैसा एक छोटे खण्ड के रूप में माना जाता था, वैसा गिना गया है। देशी राज्यों में जैसे राजालोग राज्यकर्ता हैं, वैसे इन प्रान्त-देशों में भी अध्यक्ष या गवर्नर राज्यकर्ता के रूप में राजा लोग रहेंगे। वायव्य प्रान्त ऐसे मुसलमानी भागों में मुसलमान राजा हो सकेंगे। सब प्रजा को अपने अपने धर्म के अनुसार शिक्षा दी जायगी, इस बात पर इस योजना में जोर दिया गया है। पाश्चात्य

प्रजा को लाभदायक एवं अर्थपरायण धोरणवाली आर्थिक नीति के बजाय, जिस में प्रजा के खर्च को बढ़ाने पर जोर होता है, इस योजना में जीवन को सरल, सुगम और सस्ता करने का ध्येय रखा गया है, जिस से पाश्चात्य आर्थिक झगड़े और अन्त में वैर तथा विग्रह हमारी प्रजा को न छा लें। प्रजासमितियों के निर्वाचन के प्रश्न में भी एक नवीन निर्वाचन-पद्धति का समावेश किया गया है, जिस में मताधिकार भोगने, अपने अनुकूल समुदाय में मत के लिए सम्मिलित होने और मतप्रदान के वय आदि विषयों में ऐच्छिक धोरण का उपयोग किया गया है। आधुनिक पद्धति में अनेक जाति के मतदाता संमिलित होने से सामान्यतया ही संमिलित होनेवाले लोग उस में सफलता प्राप्त करते हैं और जातियों के हित की ओर उन का ध्यान कम ही रहता है। इस पद्धति की मुख्य विशेषता यह है कि जातीय निर्वाचन, 'एडल्ट सफ्रेज' स्त्रियों को निर्वाचनाधिकार आदि प्रश्नों का निर्णय आपोआप उस में आ जाता है और निर्वाचन तीन-चार चलनियों में चल जाने के कारण और सभा को केवल अभिप्राय देने का अधिकार देने से आधुनिक निर्वाचन की अधिकतर खराबियां और लड़ाई-झगड़े उस से कम हो जाते हैं। अभी तो इस योजना की इतनी ही संक्षिप्त समीक्षा संतोष मान लेंगे।

धर्मशास्त्रों का अन्त करने के लिए

(श्री भाई परमानन्द जी)

आजकल 'केन्द्रीय असेम्बली' में एक हिन्दू बिल पर बहस हो रही है। हिन्दू-धर्मशास्त्र हिन्दुओं के लिए महान् पथप्रदर्शक है। लगभग दो हजार वर्ष से वैसा ही चला आता है। उस का प्रभाव हिन्दू-समाज पर आज भी वैसा ही है, जैसा कि पहले था, या यों कहना चाहिए कि यह सदा से ही हिन्दुओं के भीतर आदर-भाव बनाये रखने का बड़ा कारण बना रहा है। पश्चिमी सभ्यता के आने से भारत में एक ऐसा दल पैदा हो गया है, जिस को हमारे प्राचीन रीति-रिवाज से घृणा है। हमारे धर्मशास्त्र हिन्दूमात्र के लिए कानून हैं। मुसलिम राज और ब्रिटिश राज के जमाने में भी इस में कभी तबदीली नहीं हुई। परन्तु कुछ हिन्दू, जिन को पश्चिमी ढङ्ग पर शिक्षा मिली है और जिन्होंने हिन्दुओं के प्राचीन इतिहास तथा दर्शन का कभी अध्ययन नहीं किया है, तबदीली चाहते हैं। वे कहते हैं कि हिन्दू-विवाह की रीति में परिवर्तन किया जाय। जो हिन्दू, सनातनी, सिख या जैन-पन्थ में विश्वास नहीं रखते थे, उन्होंने 'स्पेशल मैरिज ऐक्ट' बनवाया। सन् १९२३ में सर हरिसिंह गोड़ ने इस कानून में यह संशोधन करवाया कि यह बाकी हिन्दुओं पर भी लागू हो। इस के अनुसार कोई भी हिन्दू स्त्री-पुरुष रजिस्ट्रार के सामने जाकर अपना विवाह करा सकते हैं, इस में उन्हें किसी धार्मिक रीति की जरूरत नहीं पड़ती। इस में उन्हें जब चाहे एक दूसरे से विवाहसम्बन्ध तोड़ लेने का भी अधिकार दे दिया गया। इस के अनुसार उन पर 'इण्डियन सेक्शन ऐक्ट' लागू था न कि 'हिन्दू सेक्शन'।

इतनी आजादी मिलने पर भी ऐसे विवाह बहुत हो कम होते थे। अब पश्चिमी शिक्षा के कारण कुछ स्त्रियां पुरुषों से उरावरी का अधिकार भोगने लगीं। इस में कोई सन्देह नहीं कि पुरुषों में भी इस विचार के लोग हैं जो स्त्रियों को स्त्री होने के कारण पुरुषों के

बराबर पद देना चाहते हैं। इस के बाद राजनीतिक आन्दोलन के समय में स्त्रियों ने उस क्षेत्र में आगे बढ़कर भाग लेना आरम्भ किया। फिर वे प्रत्येक आन्दोलन में अगुआ बनने का यत्न करने लगीं। केन्द्रीय असेम्बली में इसी तरह के दो एक प्रस्ताव पेश हो चुके हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सरकार ने इस बात से फायदा उठाकर सर व० न० राव के आधीन एक कमेटी बनायी है। उस ने बड़ी मेहनत करके अपनी रिपोर्ट तैयार की है। इस का पहला हिस्सा 'केन्द्रीय असेम्बली' के सामने पिछले साल आया था। उस का सम्बन्ध 'इन्स्टीट्यूट सक्सेशन' (अप्रदत्त उत्तराधिकार) से था। इस का उद्देश्य यह था कि बाप की सम्पत्ति में बेटी का भी हिस्सा रहे। हम ने इस बिल का घोर विरोध किया था। हमारे विचार में इस का अर्थ यह है कि भाई-बहनों में परस्पर शत्रुता हो जाय और हमारा जीवन लड़ाई-झगड़े तथा मुकदमेबाजी का घर बन जाय। अब केन्द्रीय असेम्बली में 'राव कमेटी' की रिपोर्ट के दूसरे हिस्से पर बहस हो रही है। इस का सम्बन्ध हिन्दू-विवाह के विधान से है। हम यह कहेंगे कि यदि इस रिपोर्ट के अनुसार कानून बनाया गया, तो हमारे धर्मशास्त्र का कोई मूल्य न रहेगा।

इस कमेटी ने दो प्रकार के विवाह बतलाये हैं—एक 'सिविल' और दूसरा 'धार्मिक'। हिन्दुओं के लिए इस से बढ़कर अपमानजनक कोई बात नहीं है कि इन दो तरह के विवाहों को साथ साथ रखा जाय। 'सिविल विवाह' कभी भी हिन्दू विवाह नहीं हो सकता। इस कानून में तलाक (विवाह-विच्छेद) की आजादी होने से यह अहिन्दू बन गया है। यह बात तो केवल उन लोगों के लिए थी, जो न शास्त्रों में विश्वास रखते हैं और न अपने आप को विशेषरूप से हिन्दू ही कहते हैं। 'राव कमेटी' ने इस बात पर जोर दिया है कि विवाह एक पत्नीवाला होना चाहिए। हमारे धर्मशास्त्र में भी ऐसा ही लिखा है। उस के अनुसार दूसरा विवाह उभी अवस्था में ठीक हो सकता है, जब कि पहली स्त्री से कोई सन्तान न हो या वह ऐसे रोगों में फँसी हो, जिन के कारण सन्तान होना सम्भव ही न हो। परन्तु 'राव कमेटी' ने इन बातों को परे रख दिया है। सरकार ने यह बिल बकौलों, कुछ नेताओं और सामाजिक संस्थाओं में बाँट दिया है, जिस में कि वह उन की राय ले सके। असेम्बली में इस का विरोध किया गया। कई मेम्बरों की राय है कि 'इस बिल को भारत की विभिन्न भाषाओं में छपवाकर लोगों से उस पर राय ली जाय।' एक राय में यह भी कहा गया है कि 'इस बिल से ऐसा मालूम होता है कि यह हिन्दू-कानून की सभी बातों में परिवर्तन करना चाहता है। यदि इस बिल की कानून का रूप दे दिया गया तो इस में सन्देह नहीं कि हिन्दू-समाज में ऐसी हलचल मच जायगी, जो पिछले दो हजार वर्षों में कभी भी नहीं हुई। कितनी पेचीदा बातों का निर्णय उस समय तक कभी नहीं हो सकता जबतक कि उस के पक्ष में बहुमत न हो।' ऐसी ही राय कई विद्वानों की भी है।

सब से विचित्र बात यह है कि इस बिल के पक्ष में स्त्रियों की कुछ संस्थाएँ हैं। उन्होंने उस का स्वागत करते हुए प्रसन्नता प्रकट की है और यह भी कहा है कि "यह बिल जल्दी कानून बना दिया जाय।" इस सम्बन्ध में यह बहुत आवश्यक है कि इन संस्थाओं की जाँच-पड़ताल की जाय कि इन के सदस्य कौन और कैसे हैं? सरकार ने एक स्त्री (श्रीमती रेणुका राय) को भी आमजद करके असेम्बली का मेम्बर बना लिया है। स्त्री होने के

कारण उस सं दूयरे मेम्बर स्वभावतः सहायभूति दिखलाते हैं। परन्तु एक स्त्री सारे भारत की स्त्रियों की प्रतिनिधि कहाँ तक बन सकती है, यह बात सब को ज्ञात है। हम समझते हैं कि इस बिल का एक ही उद्देश्य है और वह यह कि हमारे धर्मशास्त्रों का अन्त कर दिया जाय। सब से विचित्र बात हमें यही जान पड़ती है कि वह सरकार, जो कहती है कि हम धार्मिक बातों में दखल नहीं देते, ऐसे अवसर पर हिन्दुओं पर क्यों कुठाराघात करने के लिए तत्पर है? ऐसी जटिल समस्या पर शान्ति के समय में ही विचार किया जाना चाहिए, न कि उस समय, जब कि सब लोगों का ध्यान महायुद्ध की ओर लगा हुआ है।

(उ० 'आनन्द' से)

आवश्यक निवेदन

पाँचवें वर्ष का चन्दा कृपया मनिआर्डर से भेजिये। वी० पी० भेजने में बड़ी शंका होती है और आपके तीन आने पैसे भी अधिक लग जाते हैं। हमें खेद है कि गत वर्ष भी दो चार सज्जनों ने साल भर के पूरे अङ्क लेकर अन्त में वी० पी० वापस कर दिया। इस तरह हमको घाटा उठाना पड़ता है। अतः हमारा फिर अनुरोध है कि जो इस वर्ष ग्राहक न रहना चाहें, वे हमें अभी से सूचित करने की कृपा करें। जो ग्राहक किसी कारण अभी रुपया भेजने में असमर्थ हों, तो वे लिख दें कि कब-तक रुपया भेजेंगे, जिसमें तबतक उनके पास वी० पी० न भेजा जाय।

सञ्चालक—

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—खुली चुनौती (सम्पादकीय)	...
२—ज्ञान और विश्वास का सिंहासन (टिप्पणी)	...
३—दास-मनोवृत्ति का एक उदाहरण (,,)	...
४—भगवत्-सेवा (श्री स्वामी करपात्री जी)	...
५—श्री भारत-सावित्री (श्री स्वामी, शङ्कराचार्य जी)	...
६—चित्त-विश्रान्ति १ (श्री क्षितिशचन्द्र चक्रवर्ती)	...
७—सनातनी योजना के प्रधान तत्त्व (श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)	...
८—धर्मशास्त्रों का अन्त करने के लिए (श्री भाई परमानन्द जी)	...

सिद्धान्त

“जयति रघुवंशतिलकः काशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क ३]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
स० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—वैशाख कृष्ण १० सं० २००१
मङ्गलवार, ता० १८ अप्रैल, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति का -)

हमारा कर्तव्य

(श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित ज्योति-
षीठाधीश्वर श्री ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज)

सब से पहले मनुष्यों को अपना धर्म जानना चाहिए। धर्म पर चलने से ही सुख मिलता है तथा धर्म से विपरीत चलने से दुःख और सङ्कट प्राप्त होते हैं। यदि प्रत्येक प्राणी स्वधर्मानुसार अपना-अपना सुधार करने पर तुल जाय, तो सारा समाज और देश का कल्याण अनायास ही हो जायगा, क्योंकि समाज के सुधार का प्रारम्भ व्यक्तियों के सुधार से होता है। इसी की कमी भी है। दूसरों को तरह-तरह की विरुद्ध बातें सिखानेवाले बहुत मिलेंगे, किन्तु स्वयं अपने आचरण को पवित्रकर सम्मार्ग पर चलनेवाले थोड़े ही होते हैं। संसार में किसी भी काम को विगाड़ देना सरल है, किन्तु बनाना कठिन होता है। पाप करना बहुत सरल है, किन्तु पुण्य को प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। किसी बात पर भ्रम पैदा कर देना आसान है, किन्तु उस की सचाई ठीक समझाना बहुत कठिन है। शङ्का करना सरल होता है, किन्तु समाधान बड़ा कठिन है। आचरण बड़ी जल्दी विगाड़ सकते हैं, किन्तु सुधारने में बड़ा समय लगता है। भले आदमी उन्हीं कामों को करते हैं, जो कि कठिन कहे जाते हैं। मन के बहाव में बहता वीरता वा बहादुरी नहीं, बहादुरी तो मन के जीतने में है। इसलिए अपने मन को सुबुद्धि द्वारा जीतकर धर्म के जानने का उद्योग करके धर्मात्मा बनना चाहिए। इस के लिए सब से पहले अपने पिता-पितामह आदि के द्वारा आचरण किये हुए सम्मार्ग पर चलना होगा, तदनन्तर धर्मशास्त्र और विद्वान् पुरुष एवं विवेकी महात्माओं द्वारा धर्म-सम्बन्धी बातें जाननी चाहिए तथा उन का भली-भाँति आचरण करना चाहिए। यदि प्रमादवश ऐसा न हुआ, तो अमूल्य मनुष्य-जीवन व्यर्थ हो गया जानो।

० भिन्न-भिन्न सङ्ग्रहग्रन्थों में धर्म के अनेक तरह के लक्षण पाये जाते हैं। बुद्धिमान् एवं विद्वान् मनुष्य उन को सङ्गति मिलाकर लाभ उठाते हैं, शङ्काशील प्राणी सन्देह में लटके रहते ही हैं। सङ्कल-स्वभाव के जिज्ञासु लोग अक्षे-अपने गुरु के मुख से प्राप्त उपदेश से ही धर्म-ज्ञान प्रप्त करके अपना सुधार कर लेते हैं।

यह संसार स्वभाव से ही गमनशील है। सकल पदार्थों को अपनी ओर खींचता है, बदलने की कोशिस करता है, किन्तु धर्म प्रत्येक पदार्थ के अन्दर बैठा हुआ उस के स्वरूप की रक्षा करता है। वह उसे संसार के वेगयुक्त प्रवाह में बहने नहीं देता बल्कि धारण किये रहता है। इसी से उस का नाम ‘धर्म’ अर्थात् धारण करनेवाला है। वह सकल प्रजा को, अपने स्वरूप में सुरक्षित रख-

कर धारण किये रहता है, इसी से वेद इस प्रकार इस का वर्णन करते हैं—“धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।”

अग्नि और सूर्य का धर्म प्रकाश और गर्मी है। यदि वह प्रकाश और गर्मी से रहित है, तो न वह अग्नि है और न सूर्य ही। इसी प्रकार मनुष्य का धर्म मनुष्यता है। वह मनुष्यता धृति, क्षमा, अहिंसा, सत्य, पवित्रता आदि से ही सम्पादित होती है। अथवा उसे समझना चाहिए कि जिस तत्व के कारण मनुष्य अनन्त काल से समर्थ होते हुए भी पशुओं की तरह आचरण नहीं कर सकता है या अपने को अन्य जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ और सभ्य मानता है, उस तत्व का नाम ‘मनुष्यता’ अथवा ‘मानव-धर्म’ है। उसी के आचरण से इस लोक में उन्नति और परलोक में परम कल्याण प्राप्त होता है—“यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।”

धर्म सभी का होता है। पशु अपने धर्म पर चलते हैं। पृथ्वी, सूर्य, वायु, मेघ आदि अपने अपने धर्म पर दृढ़ हैं। मनुष्य को भी अपने धर्म पर चलना चाहिए। इसी को समझाने की चेष्टा की जा रही है। प्रकाश एक वस्तु है, किन्तु आभ्रय-मेद से वह अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, गैस, लाल-टेन, दीपक, टार्च, लकड़ी, बारूद आदि आधारों के मेद से वह भिन्न-भिन्न तरह का प्रतीत होता है। इसी प्रकार सनातन परमात्मा के द्वारा विश्व की प्रतिष्ठा के लिए रचा हुआ धर्म भी एक ही है, किन्तु वह सामान्य-विशेषादि मेद से तथा अनेकविध देश, काल, व्यक्ति के मेद से अनेक प्रकार का है। सरलता से समझने के लिए मानव सनातन-धर्म के चार मेद पहले ठीक जान लेने चाहिये, वे हैं—सामान्यधर्म, विशेषधर्म, सम्प्रदाय धर्म और आपद्धर्म। जिस का पालन मनुष्य-मात्र को समान भाव से करना चाहिए, उसे ‘सामान्य धर्म’ कहते हैं। सामान्य धर्म के पालन एवं आचरण करने के सभी अधिकारी हैं। स्त्री-पुरुष, आर्य-अनार्य, भारतीय-वैदेशिक, बाल-वृद्ध, विप्र-अन्त्यज आदि सभी के लिए वह एक समान है। उमी को मनु ने दश प्रकार का बतलाया है—“धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।” अर्थात्, धैर्य को धारण करना धर्म का पालन करना है और धैर्य न रखना ही भीरुता या चञ्चलता है, यह पाप है। खाने-पीने, चलने-बोलने, सुख-दुःख, युद्ध, अपमान आदि सभी परिस्थितियों में जो धीरज से काम करते हैं, वे धर्म का पालन करते हैं। सामर्थ्यवान् के द्वारा अपने दोष या अपराध पर पश्चात्ताप करने-वाले को प्राण देना ‘क्षमा’ है। ‘मन को बश में रखना यही पर ‘दम’ कहा गया है। चोरी न करना, इन्द्रियों को बश में रखना, ये मनुष्य

मात्र में सनातन धर्म है। अपने शरीर, वस्त्र, भोजन, निवास-स्थान आदि सकल पदार्थों को साफ, सुन्दर, पवित्र रखना शुचिता या 'शौच' कहलाता है। बुद्धि को बढ़ाने के उपाय करना, अपने-अपने जीवनोपयोगी विविध विद्याओं को सीखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना ये दशविध सनातन मानव-धर्म हैं। इन के विपरीत चलना अधर्म है। मनुष्यों को सब से पहले सामान्य धर्म के पालन का ही अभ्यास करना चाहिए, तदनन्तर आस्तिकता, ईश्वर-भक्ति, बड़ों का आदर करना, आतिथ्य आदि धर्म भी स्वयमेव प्राप्त होने लगते हैं।

देश, जाति, काल, व्यक्तिविशेष की स्वाभाविक परिस्थिति के अनुसार जो धर्म हैं, उन्हें 'विशेष धर्म' कहते हैं। जैसे, भारत देश का वर्णाश्रम धर्म, भूटान और चीन का किम्पुदधर्म, प्राकृतिक ऋतु आदि की अपूर्णतावाले देशों के तादृश विभिन्न म्लेच्छधर्म, दैक्षिक विशेष धर्म हैं। बी, पुरुष, आर्य, यवन, हूण, खश, किरात आदि के विभिन्न जातीय विशेष धर्म हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग, दिन, रात्रि, प्रभात, सायंकाल आदि काल-व्यवस्था के विभिन्न विशेष धर्म होते हैं। व्यक्तिविशेष द्वारा पालनीय धर्म भी सनातन धर्म ही है। राज-धर्म, प्रजा-धर्म, गुरु का धर्म, शिष्य का धर्म, पिता का धर्म, पत्नी का धर्म, सेवक, स्वामी, बाल, वृद्ध आदि सब के विशेष धर्म होते हैं। किसी समयविशेष में किसी विशिष्ट महापुरुष द्वारा तत्कालीन लाभ के लिए प्रचारित मत—सम्प्रदाय—धर्म कहलाता है। सम्प्रदाय धर्म, पूर्वोक्त सामान्य धर्म और विशेष धर्म का बाधक नहीं होना चाहिए, अन्यथा वह धर्म-कोटि में नहीं आ सकता। लिखा है कि—“धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मं तत्। अत्रिरोधीतु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव।” चौथा आपद्धर्म है। विशेष आपत्ति-काल में किये जानेवाले वे आचरण, जो कि आपत्ति के चले जाने पर विविध प्रायश्चित्तों द्वारा शुद्ध किये जा सकते हैं, 'आपद्धर्म' कहलाते हैं। इस में भी विशेष ध्यान रहे कि वह आपद्धर्म नहीं कहलायेगा, जिस से रक्त और स्वरूप ही बिगड़ता हो। आजकल लोग अपने परम्परागत सदाचारों की उपेक्षा करने के लिए समयाभाव एवं आपद्धर्म कह देते हैं, किन्तु विविध प्रकार से समय को बूझा नष्ट करते रहते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। पूर्वोक्त प्रकार से मनुष्य जब धर्म के सभी सामान्य-विशेष रूपों का पालन करता है, तभी धर्मात्मा आर्य कहलाता है।

इस समय पहला बात तो कलियुग है, दूसरी बात यह है कि धर्म-प्रधान शासन-प्रणाली का एकान्त अभाव है। अर्थ-काम-प्रधान नीति का सभी देशों में ताण्डव नृत्य है। उसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा तथा सांग वायुमण्डल बन चुका है। यह भी एक समय है। समय पर अर्थात् कालचक्र पर बलत्कार नहीं किया जा सकता। दिन के अनन्तर रात्रि और रात्रि के अनन्तर दिन होता ही है। उन को निश्चित घड़ियों भी विधाता के विधान में नियत हैं। किन्तु रात्रि होते हुए भी प्रकाश का प्रेमी मनुष्य विविध उपायों द्वारा अन्धकार को हटाने का प्रयत्न करता ही है। इसी प्रकार धर्म के प्रेमी लोग धर्म की रक्षा और अधर्म के निराकरण पर तुले हुए ही रहते हैं, क्योंकि जितनी भी अव्यवस्था, अशान्ति और अनर्थ है, सब का मूल एकमात्र अधर्म ही है। उस के निवारण के लिए धर्म को मात्रा को बढ़ाना होगा, साथ ही सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, निर्बल के बल, अक्षरणशरण परमात्मा की कृपा का बल प्राप्त करना ही होगा। यह भी न भूलना चाहिए कि यह मनुष्यजीवन अलभ्य एवं अमूल्य है। इस समय यदि जीव ने इस से लाभ न उठाया, तो सदा के लिए पछताता रहेगा। प्रमाद और आलस्य, स्वार्थ और अविवेक, राग और द्वेष के बन्धीभूत होकर यदि प्राणी अपने अमूल्य अवसर को खो दे, तो वह उस की भयङ्कर भूल होगी। इसलिए अपने स्वरूप की रक्षा करते हुए उपस्थित परिस्थितियों का सामना करना ही चाहिए।

माना कि पेट का सवाल सब से पहला है, किन्तु उस की बाधा का कारण ठीक जान लेना उस से पहले आवश्यक है। देश के किसी भाग में अकाल क्यों आया? उत्तर में यही कहना होगा कि अवर्षण, अतिवर्षण, युद्ध आदि के कारण और अवर्षण आदि सङ्कट क्यों उपस्थित हुए? इस का एकमात्र यही उत्तर है कि अदृष्ट बुग आ गया था। अदृष्ट पिछले कर्मों से बनता है। इसलिए अब सावधान होकर ऐसे कर्म करने होंगे, जिन से बुग अदृष्ट आगे की न बने और पिछले अदृष्ट के प्रभाव को हटाने के लिए सर्वशक्तिमान् तथा अदृष्ट पर प्रभाव डाल सकनेवाले भगवान् का आश्रय लिया जाय।

आज सारे संसार में युद्ध के कारण त्राहि-त्राहि मची हुई है, किन्तु किसी अखबार में लेख लिख देने से या सभाओं में प्रस्ताव पास कर देने से वह बन्द नहीं हो सकता। इन सभी लड़नेवाली शक्तियों को भी एक बड़ी अदृष्ट शक्ति नचा रही है। देखना है कि क्या परिणाम होता है। यदि आप भविष्य में उस परिणाम को अपने अनुकूल चाहते हों, तो सब से पहले पूर्ण भद्रा के साथ सुबुद्धि देने-वाले सर्वशक्तिमान् भगवान् का आश्रय लो, धार्मिक बनो, राग-द्वेष की भावनाएँ छोड़ो, सत्य, अहिंसा आदि उत्तम गुणों के आधार पर राष्ट्र का सङ्गठन करो। सङ्गठन के लिए प्राचीन सुदृढ़ भित्ति के आधार पर ही काम करना होगा। सनातन धार्मिक दुर्ग ने नैतिक पराधीनता होने पर भी धर्म के छत्र को अटल रखा है। हमारे भारतीय राष्ट्र की आत्मा पर धर्म का ही अमर शासन सदैव बना रहा है और आशा है, आगे भी रहेगा। इसी ने नौ सौ वर्षों से नैतिक पराधीनता होते हुए भी हिन्दू-जाति के अस्तित्व को बचाया है। ध्यान रहे कि नैतिक पराधीनता जिस प्रकार आयी है, उसी प्रकार चली भी जायगी, किन्तु यदि धर्म चला गया, तो फिर वह राष्ट्र अपने स्वरूप को ही भूल जायगा। ऐसी दशा में फिर किस का स्वराज्य और किस का स्वदेश?

इस समय हमारे देश से सामान्य धर्म ही लुप्त हो गया है। सत्य, शौच, दया, दान, अहिंसा, अचौर्य आदि मिटते जा रहे हैं। विशेष धर्मों की बात तो दूर है। जिस के जो में जैसा आता है, वैसा ही बोलता और करता है। शिक्षा इस प्रकार की प्रवृत्त हो गयी है, जो नैतिक पराधीनता की शृङ्खलाओं को मजबूत बनाते हुए आत्मिक दासता की ओर हमारे बालकों को ले जा रही है। देश और समाज के कल्याण के लिए नित्य नये आन्दोलन उठाये जाते हैं, किन्तु अधूरे ही रह जाते हैं। इस का मूल कारण धर्म की उपेक्षा है।

भारत देश संसार का पथ-प्रदर्शक रहा है। इस समय राजनीतिक पराधीनता के कारण इस की सब देशों से अधिक शोचनीय दशा है। भविष्य में भी इस पर अधिक विपत्तियों की सम्भावना है। इस के चारों ओर युद्धाग्नि की लपटें उठ रही हैं। यह स्वयं आन्तर और बाह्य उपद्रवों से जर्जर हो चुका है। परस्पर क्रैमन्तभेदों, कलहों एवं विघटनों से निर्बल और निःश्रीक होता जा रहा है। इस के पास इस समय कोई निश्चित योजना नहीं है। सन्धि-विग्रहादि किसी भी आत्मरक्षणोपयोगी कार्यों-में यह स्वतन्त्र नहीं है, फिर भी यह यदि सङ्गठित होकर कार्य करे, तो बहुत कुछ कर सकता है। सङ्गठन भी तभी हो सकता है, जब परम्परागत धार्मिक विश्वासों एवं भिन्न सम्प्रदायों की उपासना-पद्धति के भेदों में न उलझकर नैतिक दृष्टि-बिन्दु एक बनाया जाय। इस के लिए जातीय, धार्मिक तथा साम्प्रदायिक सहिष्णुता की आवश्यकता है। यदि एक दूसरे को पथभ्रष्ट या बुग बतलाते हुए आन्तरिक कलहों में उलझते ही रहे, तो न कभी सङ्गठन हो सकता है और न देश को कोई आशाप्रद मार्ग ही मिल सकता है। धर्म-मर्यादाओं को छोड़कर तथा समाज के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में असन्तोष पैदा करके कदाचित् कोई लाभ हो भी जाय, तो वह स्थायी नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का प्रश्न सब से बड़ा है और उचल भी है।

सभी स्वतन्त्रता चाहते हैं; तब भारतीय राष्ट्र ही क्यों पराधीन रहे? किन्तु यह चाहनेमात्र से नहीं हो सकता, इस के लिए प्रत्येक राष्ट्र को उत्तम चारित्र्य, नैतिक सङ्गठन तथा अत्यन्त धर्मा-चुराग द्वारा पूर्ण योग्यता का सम्पादन कर लेना चाहिए, तदनन्तर उस का स्वराज्य उस को स्वयमेव प्राप्त हो सकता है। इस समय की परिस्थिति बिल्कुल बदली हुई है। लोग अपने अपने न्यायोचित कर्मों को छोड़कर केवल नौकरी के लिए मारे मारे फिरते हैं। सभी नौकर दूकानदार बनना चाहते हैं। मदरसों में भरती होते ही बालकों के हृदयों में नौकर बनने की भावना उत्पन्न हो जाती है। अब तो लड़कियाँ भी नौकरानो बनने की लालसा से घर की रानी बनने की इच्छा को भूलती जा रही हैं। सभी ओर सङ्घर्ष की मात्रा बढ़ती चली जा रही है। हर एक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र थोड़े से परिश्रम से अधिक से अधिक दाम और आराम चाहता है, परिश्रम नहीं चाहता। श्रम और शिल्प के द्वारा समाज की सेवा करनेवाले शूद्रवर्ग की आजीविकाओं का अपहरण हो चुका है। भौति भौति की मशीनों और विद्युत्-मयों ने उन की रोटी को छीना है। कृषाली और वेरोजगारी से वे दलित हो गये हैं। उन की आज की वास्त-विक माँग उन की आजीविका ही है। किन्तु उस की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, प्रत्युत उन को विद्वशा मनोवृत्तिवाले लोग यह कहकर पथभ्रष्ट करने की कोशिश करते हैं कि उन्हें हिन्दू-धर्म में धृणा की दृष्टि से देखा जाता है। उन्हें बतला देना चाहिए कि सनातनधर्मानुसार अपने धर्म पर ठीक चलनेवाला एक शूद्र तथा एक ब्राह्मण समान पुण्य के भागी होते हैं। समाज के ज्येष्ठ-कनिष्ठ अङ्ग सभी हैं। अपने अपने स्वरूप तथा शास्त्रोक्त अधिकारानुसार सब को काम करना चाहिए।

वर्तमान कर्म-दोषों के मूल पर जब हम विचार करते हैं, तब यही विदित होता है कि सब को मुलानेवाली यह वैदेशिक शिक्षा-प्रवृत्ति ही है, इसलिए शिक्षा-प्रणाली का सुधार करना अत्यावश्यक है। पहले तो भारतीय विविध-विद्याओं का प्रचार करना होगा, तदनन्तर वैदेशिक विद्याओं और कलाओं को भी भारतीय सौँचे में ढालकर सिखलाना होगा। इस समय प्रत्येक शिक्षालय में धर्म-शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। उचित तो यही है कि प्राचीन प्रणाली से शिक्षालयों की पुनःस्थापना हो। विद्वत्समाज में अन्योऽन्य सम्मान, सहयोग, विश्वास तथा सौहार्द की मनोवृत्ति बढ़नी चाहिए। विद्वानों के सङ्ग-ठन से सम्पूर्ण समाज का सङ्गठन हो सकता है। धर्म-सम्बन्धी कार्यों में सकल समाज को उत्साह-पूर्वक सम्मिलित होना चाहिए। द्विजत्व-प्राप्ति के साधनस्वरूप संस्कारों पर बहुत ध्यान देना चाहिए। इस समय बड़ी सावधानी के साथ अपनी सभ्यता की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा को सकल कल्याणकारी धर्म की ओर प्रेरित करना हमारा कर्तव्य है और उस का पालन करके अपने जीवन को सफल करना प्रजा का कर्तव्य है। तदनुसार सब का कल्याण होगा।

(अ० भा० धर्मसङ्घ के विशेषाधिवेशन, कानपुर में
दिये हुए सन्देश का सार)

जीवन-साफल्य

(श्री स्वामी करपात्रो जी)

परब्रह्म भगवान् को पहचानने के पूर्व हमें निजस्वरूप के ज्ञान की आवश्यकता है। स्वरूप-ज्ञान होते ही अहङ्कार का विनाश होगा और भगवद्भक्त को मुरलीमनोहर की दिव्य झाँकी, ज्यों ज्यों उस का स्वरूपज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता जायगा, त्यों त्यों अधिकाधिक रूप में दिखाई पड़ने लगेगी। इस के लिए अहङ्कार और ब्रह्म-तथा जीवन की भिन्नता की भावना का परित्याग करना होगा, क्योंकि बिना इस का त्याग किये भगवान् की पह-

चान एवं उस के फलस्वरूप जीव का कल्याण नहीं हो सकता। एक समय की बात है, मीरा व्रज में गयीं। उन्होंने पूछा—“यहाँ कोई महात्मा है?” मालूम हुआ कि जीवगोस्वामी जी हैं, जो श्रीकृष्ण की हर समय रट लगाये रहते हैं। वही बहुत बड़े भगवद्भक्त हैं। मीरा ने उन से मिलने की उत्कट इच्छा प्रकट की। गोस्वामी जी ने कहा कि “मैं स्त्री का मुख नहीं देखता, इसलिए उन से न मिलूँगा।” इस बात की खबर जब मीरा को लगी, तब उन्होंने कदल भेजा कि “मैं भी उन का मुख देखना नहीं चाहती। जीवगोस्वामी जी नहीं हैं, तो मैं पुरुष से नहीं मिलती। मैं तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दधन से ही सम्भाषण, प्रेम करूँगी। पुरुषत्व के अभिमानी से प्रेम करना मुझे पसन्द नहीं। यदि गोस्वामीजी स्वरूप को पहचानते होते, तो यह बात कदापि न कहते कि ‘मैं एक स्त्री से कदापि न मिलूँगा।’ जीवगोस्वामी को तो मैं स्त्री मानती हूँ। जबतक पूर्ण ब्रह्म से भिन्नता है, तबतक सब के सब स्त्री हैं, पुरुष कोई नहीं।” मीरा का अभिप्राय यह था कि स्वरूप-ज्ञान से ही सब कुछ होता है, मैं कौन हूँ, कहाँ आया हूँ, किसलिए आया हूँ, परब्रह्म परमात्मा कौन है, मेरा उस के साथ क्या सम्बन्ध है, इन बातों का ज्ञान होना चाहिए। यह तभी होगा, जब हम शास्त्र-परतन्त्र बनें। श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीशङ्कराचार्य, जिस के भी सिद्धान्त को देखा जाय, स्वतन्त्र सत्ता, स्थिति किसी के भी सिद्धान्त में नहीं है।

जीव परमात्मा के अधीन ही स्थिति-प्रवृत्तिवाला है। जैसे महा-समुद्र में तरङ्ग का अभ्युदय होता है, पर तरङ्ग की स्थिति-प्रवृत्ति महासमुद्र के अधीन है, वैसे ही जीव की भी दशा है। अपने और अपने प्रियतम को सम्यक् पहचाने बिना गति नहीं, मिलन नहीं, माधुर्य-रसास्वादन नहीं। मध्य में व्यवधान न होने देकर इसे भलो भाँति समझना और इस पर विचार करना मुक्तेश्चुओं का कर्तव्य है। मनुष्य को यह न सोचना चाहिए कि जीव का तादात्म्य सम्भव नहीं है। स्वतःसत्ता-स्फूर्तिराहित्यवाले अन्तःकरण में विवे-कज्ञा प्रज्ञा सुदृढ़ हुई नहीं कि पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दधन के साथ ऐक्य हुआ। हम में उस परमात्मा के साथ ऐक्य करने की योग्यता वर्तमान है। उस का उपयोग वाञ्छित है। विषमता का ख्याल न कर सख्यभाव के लिए चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि मधुरभाव का समावेश उस के अन्तर्गत है। विषमता के भाव से सङ्कोच उत्पन्न होता है और वही सङ्कोच जीव के लिए मिलन न देकर कष्टकर होता है, अतः इस का निर्मूलन शीघ्रातिशीघ्र करना ही उत्तम है। ठीक ठीक स्वरूप-ज्ञान होने पर विषमता का यह भाव आप ही आप हट जायगा और सख्यभाव की स्थिति होगी।

एक व्रजाङ्गना भगवान् श्रीकृष्ण से कहती है—“मैं बहुत थक गयी, मुझे अपने कन्धे पर चढ़ा लो।” भगवान् ने उसे प्रेम से बुलाकर कन्धे पर चढ़ा लिया और उस का पैर भी दबाया। यह सख्यभाव है, भगवान् का प्रेम है, जिसे प्राप्त कर लेने पर भगवान् दास की नाईं प्राप्तिकर्ता की टहल बजाते हैं। जबतक भगवान् हीआ बने रहेंगे, तबतक सख्यभाव बन नहीं सकता। मैं दास हूँ, शूद्र हूँ, छोटा जीव हूँ और भगवान् पूर्ण ब्रह्म हैं, ऐश्वर्यशाली हैं, उन से मिलन कैसा? यह भाव न होना चाहिए। भगवान् से मिलने का द्वार सब के लिए खुला है, किसी के लिए भी बन्द नहीं है, प्रेम, श्रद्धा और विश्वास चाहिए, फिर चाहे जो उन से आलिङ्गन कर ले, उन की दिव्य ज्योति को अपने अन्तःस्थल में रखकर उस का नित्य दर्शन करता रहे। उत्कृष्टता और अपकृष्टता मिथ्या है। जीव और भगवान् दोनों चेतन, अमल, सहज सुखराशि हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने जीव और ईश्वर के भेद को ‘सुधा भेद यद्यपि कृतसाया’ पद से दूर कर दिया है। अब इन में जो भेद मानें, उन को अज्ञता है। जीव की जब परब्रह्म के साथ मैत्री सम्भव है, तब फिर इस में

सङ्कोच क्या ? दासभाव से सखाभाव अत्युत्तम है । सखाभाव तभी प्रतिपादित हो सकता है, जब जीव को परब्रह्म की समानता हो सकने की बात निश्चयात्मक रूप से मालूम हो जाय और विषमता-जन्य वियोग की बात को भुला दे । जैसे दीन, हीन भिक्षुकी को सम्राट् से मिलने में भय होता है, वैसे ही भिक्षुरूप जीव को सम्राट्-रूप परब्रह्म परमात्मा से मिलने में भय प्रतीत होता है । पर वस्तुतः यह भय व्यर्थ है और प्रभु-मिलन में बाधक है । जीव का माया से मुह्यमान हो शोक करना बेकार है । भगवती श्रुति कहती है—
 “द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्पक्षिणश्च न्योऽभिचाकशीति ॥” जीव और परब्रह्म में विषमता नहीं, दोनों की मैत्री हो सकती है । दास को दिव्य मङ्गलमय मूर्ति का आलिङ्गन करने का अवसर नहीं मिलता, सखा को मिलता है । अतः जीव को परब्रह्म के साथ मैत्री करना चाहिए । जीव और ईश्वर, जैसा कि श्रुति कहती है, दो पक्षों की तरह है । दोनों शोभन पखनेवाले हैं, एक जाति के हैं और एक ही वृक्ष को दोनों समाश्रयण करते हैं, अतः दोनों सखा हैं । यहां श्रुति ने जीव और परब्रह्म परमात्मा का सदृशीकरण कर दिया है । इस में सन्देह नहीं करना चाहिए । जीव चाहे स्वर्ग में जाय या नरक में, भगवान् उस का साथ कभी नहीं छोड़ते, दौड़ते हुए वहीं पहुँच जाते हैं । जैसे महाकाश से पृथक् घटाकाश नहीं और समुद्र से पृथक् तरङ्ग नहीं, वैसे ही ब्रह्म से पृथक् जीव नहीं, यह समझना चाहिए । दोनों दंष्ट्रने में कुछ घट-बढ़कर भले ही हों, एक अल्पज्ञ, दूसरा सर्वज्ञ अवश्य है, पर समष्टि प्रपञ्च में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व और अल्पज्ञत्व, अल्पशक्तिमत्त्व दृश्यकोटि में बराबर हैं । यहां गोस्वामी तुलसीदास जी की यह चौपाई सर्वथा प्रयुक्त होती है—“राम भरत एकहि अनुहारी । सहसा लखि न सकहि नरनारी ॥” राम और भरत, ब्रह्म और जीव समान ही हैं, इन में भेद नहीं, पर नर-नारी इसे सहसा समझ नहीं सकते । त्रिवेक और बुद्धि से ही समानता का यह भाव जाना जा सकता है । जीव की, प्रभु-मिलन के लिए हिम्मत पड़ती न देखकर श्रुति ने घबराते जीव का समाधान किया है कि तुम में योग्यता है, तुम परब्रह्म परमात्मा से मिल सकते हो, उस का सप्रेम आलिङ्गन कर सकते हो । इस के लिए पहले मूल को समझो और वेदशास्त्र के परतन्त्र बनो । ऐसा जो करेगा, वही भगवत्कृपा का, उन के आलिङ्गन का, उन के सदृश होने का अधिकारी हो सकता है । मुनीन्द्र शुक्लदेव ने परमवीतराग होकर जिंम महाप्रभु का यशोगान किया, उस को हम जीव अज्ञान में, मायामरीचिका में, पड़कर मूल रहे हैं, यह बड़े ही शोक की बात है । पूर्णरस के अनुभव की, ब्रज की गोपिकाओं की तरह प्रभु के दर्शन एवं आलिङ्गन की, उन की कृपा को प्राप्तकर भांति भांति की आपदाओं से मुक्ति पाने की, इस महाविकट संसार-सागर से सुदृढ़ जहाज पर चढ़कर पार पाने की यदि अभिलाषा है, तो सन्त महात्माओं का साथ करना चाहिए, उन के सदुपदेशों को सुनना चाहिए, वेद और शास्त्र की आज्ञा मानना चाहिए । व्यर्थ के लोभ, मोह, मद, मत्सर और दम्भ में पड़कर अपने अमूल्य जीवन को गवांन महामूर्खता है ।

चित्त-विश्रान्ति

(श्री क्षितिशचन्द्र चक्रवर्ती एम्. ए.)

२

प्र०—“चेतन का अहंरूप में स्फुरण जाग्रत अवस्था में अक्षुण्ण रहने पर भी सुषुप्ति तथा समाधि दशा में तो वह नहीं रह सकता ।”
 उ०—“उस समय यदि अहंप्रतीति न हो, तो सुषुप्ति तथा समाधि के उपरान्त ‘मैं सोया था’, ऐसा स्मरण और ‘मैं समाधिस्थित था’

ऐसा अनुसन्धान नहीं हो सकता । अतः जाग्रत से भिन्न समय के भी असङ्ग प्रत्यगात्मस्वरूप की (मैं की) स्फूर्ति मानना ही चाहिए ।” प्र०—“सुषुप्ति तथा समाधिकाल में आत्मा तो निर्विकल्प भाव से स्थित रहता है, अतः उस समय ‘अहं’ रूप सविकल्प भाव कैसे हो सकता है ?” उ०—“भेदयुक्त भाव सविकल्प और भेदशून्य भाव निर्विकल्प कहा जाता है । परिच्छिन्न देहादि-भावसहित ‘अहं’-प्रतीति (विलक्षण एवं विकारी शरीरादि-विषयक होने से) सविकल्प अहंज्ञान है और समाधि तथा सुषुप्ति-दशा में (अन्य कोई भिन्न वस्तु न होने के कारण) केवल अखण्ड, एकरस, सर्वभेदभावशून्य साक्षी-आकार में ‘अहं’ का स्फुरण होता है, अतएव उस समय ‘अहं’ प्रत्यय निर्विकल्प है अर्थात् जाग्रत अवस्था में ‘मैं देहवान् हूँ’ ऐसा सविकल्प या विशिष्ट भाव से अवि-वेकी जीव अपने को जानता है (जाग्रदवस्था में शरीरादि के स्पष्ट ज्ञानपूर्वक ‘अहं’ज्ञान होता है) । सुषुप्ति तथा समाधियुक्त दशा में स्वरूपमात्र बाकी रहता है, अतः उसी आकार में प्रत्यक् निजभाव अवभात होता है (स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का लय या ‘बाध होने’ से निर्विकल्परूप में अपने आवृत या अनावृत स्वभाव का स्फुरण होता है । उस समय ‘अहं’ प्रत्यय का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि दीप्ति या प्रकाश ‘अहं’ वस्तु का निज, निरपेक्ष, सनातन एवं स्वरूप-गत धर्म है) ।” प्र०—“समाधि तथा सुषुप्तिकाल में यदि ‘अहं’ प्रत्यय स्वीकार किया जाय, तब तो त्रिपुटीभाव आ जायगा ।” उ०—“नहीं, उस समय पूर्वोक्त रूप से ‘अहं’ प्रत्ययमात्र रह जाता है, प्रत्यय, प्रत्ययी और प्रत्ययरूप भेद स्फुरित नहीं होता । निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप ‘अहं’ पदार्थ का अभाव किसी तरह नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि हो सकता है, तो इस कथन की सिद्धि के लिए ‘मैं यह कहता हूँ’ इस तरह चित्स्वरूप आत्मा को (‘मैं’ वस्तु को) निश्चय की विश्रान्तिभूमिरूप में स्वीकृत करना पड़ेगा । जबतक कुछ माना जायगा, तबतक उस उस विषय की सत्ता-स्फूर्ति के लिए नित्य चैतन्यरूप अधिष्ठान अवश्यमेव सिद्ध होगा । जब कुछ न माना जायगा, तब भी उस अभाव की सत्ता एवं स्फूर्ति के लिए इच्छा न रहते हुए भी कूटस्थ साक्षी समर्पित होगा । कोई भी वादी अपने को जड़ या अचेतन मानना न चाहेगा अथवा अमुक पदार्थ का सुक्ष्म ज्ञान नहीं है, ऐसा स्वीकृत न करेगा और वह अपने को अस्तित्वशून्य या असत् मानना न चाहेगा । अतएव नित्य तथा चेतन-रूप में निजस्वरूप का या ‘अहं’ पदार्थ का निरन्तर स्फुरण सर्वथा सिद्ध होता है ।”

प्र०—“शास्त्र में असङ्ग चिदात्मा के ‘अहं’ रूप में स्फुरण का वर्णन है क्या ?” उ०—“हाँ, आगे उदाहृत वचन आत्मा के जीवरूप में प्रवेश और अहंरूप में अभिव्यक्ति के विषय में प्रमाण है—
 “यत् स्वप्रकाशमखिलात्मकमासुषुप्तेरेकात्मनाहमहमित्यभिभाति नित्यम् । बुद्धेः समस्तविकृतेरविकारि बोद्ध यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवल-बोधमात्रम् ॥”, “वाक्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वर्पि व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सद्भा । जाग्रत्स्वमसुषुप्ति-स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते सा ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रे-जगत्साक्षिणी । सैवाहं न च दृश्यवस्तु ॥” इत्यादि । प्र०—“सर्वा-भासक कूटस्थ चित् सर्वदा ‘मैं, मैं’ इस तरह स्फुरित होती है, इसीलिए वही सब जीवों का वास्तविक स्वरूप है, यह बात परोक्ष-

१—स्वप्रकाश, सर्वस्वरूप, जाग्रदादि सुषुप्तिपर्यन्त सर्वदा ‘अहं’ रूप से अवभासित होनेवाला, समस्त विकारमय बुद्धि का स्वयं अविकृत साक्षी, केवल बोधरूप जो ब्रह्म है, वही तू है ।

२—परस्पर विलक्षण वाक्यादि एवं जाग्रदादि सब अवस्थाओं में ‘अहं’ रूप से सदा अनुवर्तमान, अत्यन्त स्फुट जो संवित् देदीप्यमान है, वह ब्रह्मा से लेकर चीटी पर्यन्त सब शरीरों में साक्षिरूप से ओतप्रोत है और वही मैं हूँ, मैं दृश्य वस्तु नहीं हूँ ।

तथा समझ ली। अपने को इसी रूप में स्पष्टतया जानने (कूटस्थ आत्मस्वरूप में स्थित होने) का साधन क्या है ? उ०—“निर्विकल्पचित्स्वरूप को प्रत्यावृत्त चक्षु की सहायता से देखना होगा। यहाँ पर मन ही मुख्य चक्षु है, क्योंकि जाग्रत अवस्था में नेत्रव्यापार मन के ही अधीन होता है और स्वप्न में मन के द्वारा ही पदार्थ-दर्शन होता है। इस मनरूप नेत्र की परावृत्ति (खुलना) के बिना कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ सकता। घट को देखने की इच्छा होने पर घट के अतिरिक्त अन्य सब दृश्य पदार्थ से मन को एकदम हटाकर (छोटाकर या विमुख करके) ईप्सित घटमात्र पर उसे निश्चलभाव से स्थापित करना पड़ता है, तभी घट के साथ मन का दृढ़ संयोग होने से घट स्फुटतया दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा घट सम्मुख उपस्थित होने पर भी विशेषरूप से नेत्रों में भासमान न होगा (समीप में रहने पर भी उस का स्पष्ट ज्ञान न होने से वह न रहने के तुल्य ही हो जायगा)। अन्य पदार्थों से विमुख किया हुआ मन ही श्रोत्र आदि की सहायता से बाह्य शब्दादि के ग्रहण का या करण के बिना आन्तरिक सुखादि के आभास का कारण होता है। पूर्वोक्त रीति से अन्वय-न्यतिरेक युक्ति द्वारा यही सिद्ध होता है कि अभीष्ट वस्तु के अतिरिक्त सब पदार्थों की ओर से मन की परावृत्ति और केवल अभीष्ट वस्तु में एकाग्रता या मन की संलग्नता ही ईप्सित वस्तु के दर्शन में अत्यन्त आवश्यक साधन है।” प्र०—“क्या इन दोनों का प्रयोजन अन्य शास्त्र में भी बतलाया गया है ?” उ०—“हां, इन के सम्बन्ध में ‘गीता’ आदि सब शास्त्रों में निःसन्देह रूप से उपदेश मिलता है, जैसे—“अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते”, “श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः”, “तस्मात् क्रियान्तरं त्यक्त्वा ज्ञाननिष्ठापरो यतिः। सदात्मनिष्ठया तिष्ठेन्नश्चलं तत्परायणः॥”, “सर्वांशः किल सन्त्यज्य फलमेतदवाध्यते। येनाशाविषवल्लीनां मूलमाला विलयते॥”

प्र०—“पीछे गीताभाष्य से उद्धृत ‘ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः, किन्तु अनात्मनिवृत्तौ एव’ इस, मन की अन्य से परावृत्तिमात्र के विषय में कर्तव्यता के बोधक वचन से, उपर्युक्त दोनों क्रियाओं की अपेक्षा का विधान विरुद्ध होगा।” उ०—उत्तम वैराग्य सम्पादित होने पर आत्मैकपरता, प्रत्यक्-प्रवणता, अन्तर्मुखता या ज्ञाननिष्ठा बिना यत्न के सिद्ध हो जाती है। जिस श्रेष्ठ मुमुक्षु ने गुरु तथा आत्मा की कृपा प्राप्त कर ली, जिस ने विधिपूर्वक वेदान्तशास्त्र का श्रवण किया, जिस की बुद्धि सांसारिक विषयों से निवृत्त हो गयी है और जिस ने यथार्थ ज्ञानसाधक प्रमाण के विषय में परिश्रम किया है, उस के लिए प्रत्यक् परमात्मा से अधिक सुप्रसिद्ध, सुविज्ञेय, सुखस्वरूप एक समीपस्थ अन्य कुछ भी नहीं है। बाह्याकार बुद्धि की निवृत्ति के लिए विषय से मन की निवृत्ति होने पर निश्चल मन साधनान्तर के बिना भी आत्मपरायण हो जाता है। इसीलिए स्थिर, प्रत्यावृत्त या एकाग्र बुद्धि में अपने सच्चित्स्वरूप का प्रतिमान या अन्तर्मुख आत्माकार वृत्ति अत्यन्त सुख है, यह पहले कहा जा चुका है।” प्र०—“आत्मस्वरूप का

दर्शन तब तो मन के विषयवैमुख्य से ही सम्पन्न होगा ?” उ०—“मन के उक्त द्विविध व्यापार अनात्मविषय के अवभासन में अत्यन्त आवश्यक होने पर भी निजस्वरूप के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए मन की विषय-परावृत्तिमात्र अपेक्षित है, इस की अपेक्षा पृथक् रूप में तदेकपरता की आवश्यकता नहीं है। विषयों से विनिवृत्त, अत्यन्त शुद्ध बुद्धि का स्वाभाविक प्रत्यक् चिदात्मा का आकार ग्रहण करना या प्रत्यागात्मरूप में सम्यक् परिणत होकर “सर्व अवस्थाओं में चित्सदानन्द आत्मा ही ‘मैं’ इस रूप में स्फुरित होता है और इस असङ्ग प्रत्यक्स्वरूप में देहादि जड़, विलक्षण प्रपञ्च नितान्त रह नहीं सकता, अतएव दृश्यरहित, अखण्ड स्फुरणरूप कूटस्थ आत्मा ही मेरा निजी यथार्थ स्वरूप है” ऐसे विचार के साथ अपार सुखरूप परमात्मा का साक्षात् अनुभव करना ही ‘अपरोक्ष ज्ञान’ कहा जाता है। आत्मा की वेद्यता, मनोगोचरता या वृत्तिव्याप्यता इत्यादि उसी के नामान्तरमात्र हैं। उत्तम मुमुक्षु तदेकनिष्ठा या तत्परायणता के फलस्वरूप देह, अहङ्कार एवं मेदवासना से सर्वथा निर्मुक्त, असङ्ग अविकारी, स्वयम्प्रकाश आत्मा को ही अपने निजी वास्तव रूप में जानता है, तभी अज्ञानकृत, परिच्छिन्न कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसार-बन्धन का परित्याग करके स्वयं परिपूर्ण, सनातन, निरावरण आनन्द-स्वभाव में प्रतिष्ठित होता है। अतएव निजस्वरूप के भानाभाव-रूप भ्रम के नष्ट होने पर मुमुक्षुजन का अन्य कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता, अतएव स्वयंसिद्ध, प्रकाशैकरूप, निर्विकार प्रत्यागात्मा में मनोगोचरता, वेद्यता, फलव्याप्ति आदि क्रियान्तर का कोई अवसर ही नहीं है। साक्षात्काररूप अन्तिम अखण्डाकारित वृत्ति के द्वारा अभानावरण के नष्ट होने पर उसी क्षण बुद्धिवृत्ति और तद्गत चिदाभास का भी बाध होने के लिए अधिष्ठान निराभास साक्षिस्वरूप में स्फुरण रूप अतिशय या फलव्याप्ति का प्रसङ्ग ही नहीं है। साक्षी जब स्वयं ही स्फुरणस्वरूप है, तब मन की विषयों से प्रत्यावृत्ति या अवश्य-म्भावी रूप में सिद्ध आत्मनिष्ठा के परिणामरूप बुद्धि की अखण्डाकारता से पृथक् और पश्चाद्भावी मनोगोचरता, तत्परता या चिदाभास-व्याप्यतारूप अतिरिक्त साधन की आवश्यकता नहीं है।”

प्र०—“जड़ घटादि विषयों का प्रकाश और चिदात्मा का प्रकाश इन दोनों में विलक्षणता का क्या कारण है ?” उ०—“जैसे दर्पण में, किसी एक समीपस्थ वस्तु को देखने की इच्छा होने पर, अन्य प्रतिबिम्ब से दृष्टि को हटाकर अभिलषित प्रतिबिम्ब पर लगाना पड़ता है, पर दर्पण में प्रतिबिम्बित आकाश के दर्शन की इच्छावाला पुरुष अन्य सब प्रतिबिम्बों से दृष्टि को परावृत्त करते ही (दर्पण में स्वभावतः स्थित सर्वव्यापी आकाश की ओर पुनः अभिमुखी न होने पर भी) दर्पण-प्रतिफलित आकाश को देखने में सफल होता है (दर्पण में सर्वत्र स्थित एवं सर्व प्रतिबिम्बों का आश्रयभूत आकाश इन सब प्रतिबिम्बों से आच्छादित होने के कारण प्रतिबिम्बों से परावृत्ति के बिना दर्पणपरायण व्यक्ति के लिए आकाशदर्शन सम्भव नहीं है), वैसे ही सर्वदा समानरूप से सर्वत्र व्याप्त, सब कल्पनाओं का आश्रयभूत, विभिन्न वृत्तिज्ञानों का अधिष्ठान प्रत्यक् ब्रह्मचैतन्य अन्तःकरण में परिपूर्णरूप से विराजमान है, अतः अखिल अनात्म वस्तुओं से मन की केवल प्रत्यावृत्ति ही सच्चित्स्वरूप के स्पष्टतया ज्ञान में हेतु सिद्ध होती है, अन्य कोई आत्माभिमुखीकरणरूप नवीन प्रयत्न या तत्परता की आवश्यकता नहीं होती। प्रमातारूप चिदाभास के द्वारा प्रकाश्य अनात्म विषय के अवभासन में तो अन्य-परावृत्ति और इष्टाभिमुखितारूप उभयविध साधनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उदासीन दशा में (तत्परता के अभाव-काल में) किसी जड़ वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं है। मन स्वभावतः ही किसी ने किसी विशिष्ट आकार में—अनात्म घट, पट, मठ, शकट आदि के आकार में अथवा आत्माकार में अवस्थित होता है। घटाकार परिणाम के निवृत्त होने पर अन्य किसी उक्त ईप्सित आकार को

१—अभ्यास एवं वैराग्य से मन वशीकृत होता है।

२—श्रद्धावान्, इन्द्रियों का संयमी, आत्मपरायण व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है।

३—अन्य क्रियाओं को छोड़कर ज्ञाननिष्ठा में तत्पर यति को निश्चल एवं तत्परायण होकर सदा आत्मनिष्ठा में स्थित रहना चाहिए।

४—समस्त आशाओं का परित्याग करने पर वह फल प्राप्त होता है, जिस से आशाहीन विषमय लताओं की जड़ें सर्वथा कट जाती हैं।

धारण करता है, किन्तु वैराग्य तथा विवेक की सहायता से अशेष विषयाकार वृत्ति के रुद्ध होने पर मन परिशिष्ट आत्मरूप में स्थित होता है। इसीलिए भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है कि मन की बाधवृत्ति के निरोध में मुमुक्षु को प्रयत्न करना चाहिए, आत्माकार वृत्ति के उत्पादन में नहीं।

उस के अवसर पर दूसरे वेद पढ़े तक नहीं जा सकते हैं। क्या किसी भी वेद को अशुचि कहा जा सकता है? फिर 'मार्कण्डेय पुराण' तथा 'मनुसंहिता' में उसी अशुचितता के जो कारण बतलाये गये हैं, उन में कौन मान्य है?"

क्या इन प्रश्नों पर कोई विद्वान् प्रकाश डालने की कृपा करेंगे?

स्वर्ग या नरक के पथिक ?

(श्री देवकृष्ण त्रिपाठी)

'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'

(यह स्तम्भ विचारविनिमय के लिए है ।)

'सामवेद की अशुचितता'

(एक जिज्ञासु)

'श्री रामकृष्ण-मिश्र' के मुखपत्र अङ्ग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के गताङ्क में श्री विमलाचरण दे लिखते हैं कि 'महाभारत' में सामवेद की बड़ी प्रशंसा की गयी है। 'भगवद्गीता' में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि'। अनुशासन पर्व के 'उपमन्यु स्तोत्र' में भी आया है—'सामवेदश्च वेदानाम्'। ऋग्, यजु, साम और अथर्व इस क्रम में साम तृतीय स्थान पर आता है। यहाँ पर पहले ही यह शङ्का उठती है कि वेदों में तृतीय सर्वश्रेष्ठ क्यों माना गया है? प्रायः उत्तरोत्तर पूर्व से श्रेष्ठ माना जाता है ऐसा नियम है, परन्तु यह वेदों के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता। दूसरा प्रश्न यह होता है कि प्रथम दो वेदों की अपेक्षा साम सब से अधिक श्रेष्ठ क्यों माना जाता है? 'श्रीमद्भगवद्गीता' की नव टीकाओं को देखने से ज्ञात होता है कि शङ्कराचार्य सहित छ टीकाकारों ने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। केवल बलदेव, मधुसूदन और नीलकण्ठ ने कुछ लिखा है, पर तीनों ने बात एक ही कही है कि गीतमाधुर्य के कारण। बलदेव ने लिखा है—'गीतमाधुर्येणोत्कर्षात् सामवेदोऽहम्'। मधुसूदन का कहना है—'गानमाधुर्येणातिरमणीयः सामवेदोऽहम्' और नीलकण्ठ ने लिखा है—'सामवेदो गानेन रमणीयत्वात्'। परन्तु केवल इतने ही से क्या अन्य वेदों की अपेक्षा सामवेद की श्रेष्ठता सिद्ध हो जाती है?

फिर एक और टेढ़ा प्रश्न उठ पड़ता है कि सामवेद की ध्वनि अशुचि है। 'मार्कण्डेय पुराण' में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ऋग्वेद, स्थिति के समय में विष्णु यजुर्वेद और प्रलय के समय में रुद्र सामवेद, इसीलिए सामवेद अशुचि है—'विष्टौ ऋद्धम्यो ब्रह्मा, स्थितौ विष्णुर्यजुर्मयः। रुद्रः साममयोऽन्ते च तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनिः' (१०२—११९)। 'मनुसंहिता' में दूसरा ही कारण बतलाया गया है। ऋग्वेद देवों को, यजुर्वेद मनुष्यों को और सामवेद पितरों को प्रिय है, अतः सामवेद अशुचि है—'ऋग्वेदो देवदेवस्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः। सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात् तस्याऽशुचिर्ध्वनिः' ॥' इसीलिए कहा गया है कि जब सागध्वनि हो रही हो, तब ऋक्, यजु का अध्ययन न करना चाहिए—'सामध्वनावृत्त्यजुषी नाऽधीयीत कदाचन' (मनु ४, १२३)। 'स्मृतिचन्द्रिका' के आन्हिक-प्रकरण में इसी वचन का हवाला देते हुए कहा गया है कि "सामशब्दे ऋग्यजुषोरनध्यायः। नान्यस्य तदाह मनुः" (१, २७)।

इस तरह एक ओर तो सामवेद को वेदों से श्रेष्ठ बतलाया है और दूसरी ओर उस की ध्वनि इतनी अशुचि बतलायी गयी है कि

प्राणियों को असत्कर्मों से निवृत्त करने के लिए महर्षियों ने नरक की विभीषिका को सामने रखा है, जिस का वर्णन सुनने से भयत्रस्त होकर लोग अपने आप अनाचार, दुराचार, दुर्विचारों से बचते रहें। इसी तरह सत्कर्मों में प्रवृत्ति के लिए स्वर्ग के अनुपम सुखों का आकर्षक वर्णन शास्त्रों में किया गया है, जिस से आकर्षित होकर मनुष्य कष्ट सहन करके भी स्वयं सदाचार, सद्विचारों में तत्पर हो। जबतक प्राणी स्वयं पापाचरण से बचने और सदाचरण में प्रवृत्त होने का प्रयत्न न करे, तबतक लोकभय, राजभय उसे कहाँ तक और कैसे निवृत्त-प्रवृत्त करने में सफल हो सकते हैं? और बिना ऐसा हुए संसार में सुख, शान्ति की आशा स्वप्नतुल्य ही है। सत्कर्मों में प्रवृत्ति एवं असत्कर्मों से निवृत्ति के लिए उन कर्मों का ज्ञान अपेक्षित होता है। उन कर्मों का संक्षेप में वर्णन 'महाभारत' में एक जगह आता है। महाराज युधिष्ठिर के यह प्रश्न करने पर कि किन कर्मों से बद्ध होकर मनुष्य नरक में और किन कर्मों के बश होकर स्वर्ग में जाते हैं? श्री भीष्म पितामह ने कहा—“पवित्र ब्राह्मण्य की उपेक्षा करके लोभवश कुत्सित कर्मों से जीविका चलाने वाले ब्राह्मण नरक में जाते हैं। ब्राह्मणों से देने की प्रतिज्ञा करके उन्हें धन न देने वाले, ब्राह्मण की सम्पत्ति अपहरण करने वाले, जीविकारहित ब्राह्मणों की, जो भोजन पान की इच्छा से आये हों, परीक्षा करने वाले, कठोर स्वभाव वाले, चुगलखोर, अभिमानी, झूठ बोलने वाले, अति आग्रह से प्रलाप करने वाले, परधन का अपहरण करने वाले, पगाये धन की इर्ष्या करने वाले, दूसरों की सम्पत्ति देखकर जलने वाले, सदा प्राणियों की हिंसा में तत्पर, कूप, तालाब, बावली, मार्ग आदि को नष्ट करने वाले, बच्चे, भृत्य, अतिथि की उपेक्षा करके स्वयं भोजन कुलने वाले, देवता, पितरों की पूजा का त्याग करने वाले, ब्रह्मचारी, संन्यासी एवं वेदों की निन्दा करने वाले, भगवान् शङ्कर तथा विष्णु का अर्चन न करने वाले, ब्राह्मण, गौ, कन्या तथा मित्र से वैर करने वाले, लकड़ी, खूंट, कौटे या पत्थर डालकर रास्ता बिगाड़ने वाले, सभी प्राणियों से अविश्वास, निर्दयता, कुटिलता करने वाले, क्षेत्रजीविका, गृह, प्रीति झैरे आशु का उच्छेद करने वाले, भूख, प्यास, परिश्रम से थके-माँदे और अन्न, जल, विश्राम की आशा से आये अतिथि का अपमान करने वाले, शराबी, सदा नाचने-गाने में लीन, जुआरी, कामान्ध होकर रजस्वला स्त्री से सम्भोग करने वाले, स्त्री-सहवास में पूर्व एवं दिन के समय आदि की पर्वाह न करने वाले, द्वेष से ऋतुस्नाता पत्नी की उपेक्षा करने वाले, अयोनि, वियोनि या पशुयोनि में वीर्यपात करने वाले, स्त्रीधन से जीविका चलाने वाले, स्त्रियों के दास, स्त्रियों की रक्षा न करने वाले, शस्त्रास्त्र, शल्य, धनुष आदि बनाने-बेचने वाले, अनाथ, अपाहिज, दीन, रोगपीडित एवं बालकों पर दया न करने वाले [मनुष्य नरक में जाते हैं। किसी के न्यास (धरोहर) को हड़प जाने वाले, लोभी, नास्तिक, ढोंगी, निर्दय, चुगलखोर, कुटिलस्वभाव, परछी गामी,

विश्वासघात करनेवाले, कृग, कृष्ण और पाप से निडर मनुष्य को देखकर तो स्वयं नरक भी सिर नीचा कर लेता है” —
“न्यासापहारिणं लुब्धं नास्तिकं लोकदम्भकम् । नृशंसं पिशुनं जिह्वं
परदारभिमर्शिनम् ॥ विश्वासघातकं क्षुद्रं कृतघ्नं पापनिर्भयम् । ईदृशं
पुरुषं दृष्ट्वा नरकोऽपि जुगुप्सते ॥”

स्वर्गगमियों की चर्चा करते हुए भीष्म ने कहा—“सत्य, तप, दान, अध्ययन द्वारा धर्म का अनुवर्तन करनेवाले, होम, जप, स्नान, देवतापूजन में तत्पर, उन कर्मों पर अट्टा रखनेवाले, माता-पिता की आदरपूर्वक सेवा करनेवाले, दिन में न सोनेवाले, सभी जीवों की हिंसा से विमुख, सदा सब कुछ सहन करनेवाले, सब की सहायता करनेवाले, गुरु की सेवा तथा तपस्या द्वारा वेदशास्त्राध्ययन करके प्रतिग्रह में प्रीति न रखनेवाले, पाप तथा शोक से उद्विग्न एवं दरिद्रता, व्याधि से दुःखी प्राणियों को पापादि से छुड़ानेवाले, हजारों जीवों को भोजन करानेवाले, हजारों प्राणियों की रक्षा करनेवाले, सम्पन्न, सुरुपवान् और युवावस्थावाले होकर भी जो जितेन्द्रिय है, धैर्यशाली, किसी के कुछ मांगने पर प्रसन्न होनेवाले, उसे इष्ट पदार्थ देकर उस से मधुर भाषण करनेवाले, निवासस्थान, धान्य, रस आदि स्वयं तैयार करके दूसरों को प्रदान करनेवाले, द्वेष करनेवाले से भी द्वेष न करनेवाले, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में वेदशास्त्रोक्त मार्ग का आचरण करनेवाले मनुष्य स्वर्ग जाते हैं” —“प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च वेदशास्त्रोक्तवर्त्म ये । आचरन्ति महात्मानस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” परायी सम्पत्ति देखकर न जलनेवाले, मात्सर्य से रहित होकर हर्षपूर्वक उन का अभिनन्दन करनेवाले, लोकहितार्थ बावली, कूओं, तालाब, पौसरा, देवमन्दिर और वगीचा बनवानेवाले, अन्य के द्वारा असत्य का प्रयोग होने पर भी सत्य पर आरुढ़ रहनेवाले, कुटिलता करनेवाले से भी सरल व्यवहार करनेवाले, किसी के अनिष्ट करने पर भी उस की हितकामना करनेवाले मनुष्य स्वर्गगामी हैं । जिस कुल में सौ वर्ष तक जीनेवाले, दयालु एवं सदाचारसम्पन्न पुरुष उत्पन्न होते हैं, उस कुल के भी प्राणी स्वर्ग जाते हैं । जङ्गल में या निर्जन स्थान में पड़ी हुई ऐसी परायी वस्तु को, जिसे ले लेने पर कोई भय की आशङ्का न हो, देखकर जो मन से भी उस का सेवन नहीं करते, वे स्वर्ग जाते हैं । सर्वदा एक भी धर्मकार्य से दिन को सफल बनाने का व्रत लेनेवाले, आक्षेप करने, गाली देने या निन्दा करनेवाले और स्तुति करनेवाले को समान दृष्टि से देखनेवाले, शान्तचित्त, मन को जीतनेवाले प्राणी स्वर्ग जाते हैं । युवती परायी स्त्रियों को एकान्त में या अपने घर में अकेली पाकर भी सत्त्वस्थ होकर उस की कामना न करनेवाले, युद्ध में शूर, स्वामी के लिए अपना प्राण अर्पण करनेवाले, माता की भक्ति, सेवा करनेवाले, दूसरों के किये हुए उपकार को न भूलनेवाले, गङ्गातट, पुष्कर, गया आदि पवित्र क्षेत्रों में पितरों का श्राद्ध करनेवाले, मन तथा इन्द्रियों को सदा व्रत में रखने में तत्पर, लोभ, भय, क्रोध न करनेवाले, चोर, लकू, दुर्जनों से सन्नत व्रतधर्षण, गौ एवं स्त्रियों की, अपने स्वार्थ की तरह रक्षा करनेवाले, यथाविधि तीर्थों में निवास करनेवाले, सुख-दुःख आदि सब दुन्द्वों को सहन करनेवाले, शरीर को काढनेवाले जू, खटमल, मच्छर आदि जन्तुओं की भी अपने पुत्र की तरह रक्षा करनेवाले, तीर्थसेवा-साधुसेवा में निरत, शास्त्रोक्त विधि से धनो-पार्जन करनेवाले, इन्द्रियनिग्रही और मनसा, वाचा, कर्मणा परस्त्री का रमण न करनेवाले मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।” इतना कहकर, भीष्मजी ने, यह सोचकर कि सभी पुण्य-पापों का बतलाना असम्भव है, संक्षेप में पाप-पुण्यों की पहचान बतलाते हुए कहा कि “जो शास्त्रनिषिद्ध कर्मों से बचते और यथाशक्ति विहित कर्मों का आचरण करते हैं, वे स्वर्ग में जाते हैं” —“निषिद्धानि न कुर्वन्ति विहितानि च कुर्वन्ते । आरम्भं च विज्ञाय ते नराः स्वर्गगामिनः ॥”

यदि शास्त्रों का ज्ञान न होने से पुण्य-पाप का निर्णय करना कठिन पड़े, तो इस का उपाय यही है कि मनुष्यों को ऐसे कर्मों से बचते रहना चाहिए, जो दूसरों के प्रतिकूल हों, जिन से दूसरों का अहित होने की सम्भावना हो । ऐसे कर्मों के परिणाम-स्वरूप घोर नरक का दुःख प्राप्त होता है और सदा ऐसे कर्म करना चाहिए, जो अन्यो के अनुकूल हों, हितकर हों । ऐसे कर्मों को करनेवाले मनुष्य का सब जीवन सुखमय हो जाता है और मुक्ति स्वयं उस के समीप आ जाती है—“नरः परेषां प्रतिकूलमाचरन् प्रयाति घोरं नरकं सुदुःसहम् । सदानुकूलस्य नरस्य जीवतः सुखावहा मुक्तिरदूरतः स्थिता ॥”

क्या कभी हमें यह सोचने का भी थोड़ा-सा अवसर न निकालना चाहिए कि हम स्वर्ग या नरक, किस मार्ग के पथिक बनते जा रहे हैं ?

दायभाग-उत्तराधिकार

(श्री देवीनारायण जी एडवोकेट)

भारतवर्ष का बङ्गदेश एक अद्भुत प्रान्त रहा है । हिन्दू शासन-काल में यह हिन्दू संस्कृति का केन्द्र रहा । बौद्धों का भी यहाँ बड़ा प्रभाव रहा । मुसलमानों के समय में इस्लाम ने यहाँ अच्छा स्वागत पाया, जिस से आजकल वह ‘पाकिस्तान’ का केन्द्र बना हुआ है । हिन्दू धर्मशास्त्र के विषय में भी यहाँ उत्तराधिकार का क्रम भारत के और हिस्सों से अलग रहा है । यहाँ पर उत्तराधिकार में जीमूतवाहन के ‘दायभाग’ का मान है । आजकल अङ्ग्रेजी कानून में ‘दायभाग’ का जीमूतवाहन के बङ्गप्रान्तीय उत्तराधिकार से मतलब समझा जाता है । जीमूतवाहन नवाब जलालुद्दीन शाह के दरबार के पण्डित थे । जलालुद्दीन बङ्गाल के प्रसिद्ध राजा गणेश के पुत्र थे । यह पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए और इन्होंने इसलामधर्म कबूल किया । इसलामधर्म का उस समय प्रभाव हिन्दू धर्मशास्त्र पर पड़ा । रायबहादुर योगेन्द्रचन्द्र घोष महोदय अपने ‘हिन्दू ला’ नामक पुस्तक में लिखते हैं—“यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्र पर इस्लाम के व्यक्तिगत जायदाद के भावों का प्रभाव पड़ा और फलतः हिन्दू धर्मशास्त्र में परिवर्तन हुआ । बङ्गाल प्रायः १३८६ ई० में थोड़े समय के लिए हिन्दू राजा गणेश के आधिपत्य में स्वतन्त्र हुआ । उन का पुत्र मुसलमान हो गया और उस ने जलालुद्दीन की उपाधि धारण की । सन् १३९२ से १४०९ ई० तक उस ने राज्य किया । मुसलमान होने पर भी वह संस्कृतविद्या तथा शास्त्रों का बड़ा संरक्षक था । श्रीकर और रायमुकुट, जिन की ‘अमरकोश’ की टीका प्रसिद्ध है, उन्हीं के दरबार के पण्डित थे और यह भी सम्भव है कि जीमूतवाहन, जो कि एक पारिहाल ब्राह्मण थे, उन के दरबार में रहे और उन की संरक्षता में उन्होंने ने अपने प्रसिद्ध (धर्मशास्त्र) ग्रन्थ ‘दायभाग’ की रचना की ।”

‘मिताक्षरा’ तथा ‘दायभाग’ ये दो प्रधान उत्तराधिकारसम्बन्धी मत बराबर चले आ रहे हैं । बङ्गदेश में ‘दायभाग’ और अन्य प्रान्तों में कुछ कुछ भेद के साथ ‘मिताक्षरा’ का मान है, इसलिए ‘मिताक्षरा’ तथा ‘दायभाग’ का अन्तर समझना आवश्यक है । ऋषि-महर्षियों तथा टीकाकारों ने हमारे धर्मशास्त्रग्रन्थों को बहुत बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता से निर्माण किया है । उन के सिद्धान्त यहाँ की प्रकृति तथा देशकालानुसार निर्माण किये गये हैं । उन सङ्गठनों की ‘अप्रदत्त हिन्दू उत्तराधिकार बिल’ तथा ‘हिन्दू विवाह बिल’ आदि नये नये कानून बनाकर नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

‘दायभाग’ तथा ‘मिताक्षरा’ में निम्नलिखित भेद है— इस भेद के समझने से हिन्दू उत्तराधिकार का विषय बहुत स्पष्ट हो जायगा और नये बिलों के दोषों के समझने में सुमसता होगी । (१) ‘मिताक्षरा’ में

पुत्र जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व प्राप्त करता है। 'दायभाग' में पिता के जीवित रहते पुत्र का कोई स्वत्व नहीं पैदा होता। यदि पिता कोई वसीयतनामा न लिखे, तो एक बह्मदेशी अपने पिता की जायदाद उस के देहान्त के बाद पाता है। 'मिताक्षरा' में पैतृक सम्पत्ति के विषय में मृत्युपत्र नहीं लिखा जा सकता। प्राचीन समय में मृत्युपत्र की प्रथा भारत में नहीं थी, इस प्रथा का प्रवेश धीरे धीरे हुआ। मिताक्षरा-कुटुम्ब एक आदर्श हिन्दू संस्था के रूप में था। प्रत्येक कुटुम्ब अपने अपने कुलाचार, उपासना तथा सामाजिक व्यवहार को जीवित रखता आया है। ग्रामों में अभीतक यह आदर्श पूर्णरूप से जीवित रहता है, परन्तु अब इन आदर्श भारतीय संस्कृति-गढ़ों को नये बिलों की तोपों से स्वार्थी जन उड़ा देना चाहते हैं। 'इनकमटैक्स कानून' ने भी इस हिन्दू मिताक्षरा-कुटुम्ब को निर्मूल करना आरम्भ किया है। मिताक्षरा-कुटुम्ब पर अधिक दार से कर लगता है, इसलिए शीघ्रतिशीघ्र बड़े बड़े हिन्दू कारवारी और धनीमानी लोग अपने कुटुम्ब का खण्ड खण्ड करके बंटवारा कर रहे हैं। अवोध हिन्दू-जनता पर मनमाना अत्याचार किया जा रहा है, पर हम अभी तक सोचे हैं। (२) 'दायभाग' में जन्म से सम्पत्ति में अधिकार नहीं पैदा होता, परन्तु स्वामी के मरने से। इसलिए 'दायभाग' में अप्रतिबन्ध दाय नहीं, अपितु सप्रतिबन्ध होता है। (३) 'दायभाग' में पैतृक सम्पत्ति को हस्तान्तरित करने में कोई रुकावट नहीं है, पिता को पूरा स्वत्व है। (४) 'दायभाग' में 'मिताक्षरा' की भौति खानदानी अर्थात् मौलसी पैतृक सम्पत्ति नहीं होती। पैतृक सम्पत्ति में सब भाइयों के हिस्से नियत रहते हैं और प्रत्येक भाई अपने हिस्से को बेच, रहन, दान आदि कर सकता है, वसीयतनामा भी स्वतन्त्रता से लिख सकता है। 'मिताक्षरा' में भिन्न भिन्न हिस्सा नहीं होता। जबतक संयुक्त कुल है, सब का आधिपत्य है, विभाग होने पर हिस्सा अलग हो सकता है। (५) 'दायभाग' में दो या अधिक व्यक्ति उत्तराधिकार सामान्य अधिकार (टिनेण्ट इन कॉमन) के नियम से पायेंगे, परन्तु 'मिताक्षरा' में पैतृक सम्पत्ति में संयुक्त अधिकार (ज्वाइण्ट टिनेण्ट) से सम्पत्ति के स्वामी होंगे। (६) 'दायभाग' में तीन प्रकार के उत्तराधिकारी होते हैं (क) सपिण्ड, (ख) सकुल्य तथा (ग) समानोदक। 'दायभाग' के सपिण्ड 'मिताक्षरा' के चार श्रेणी के सपिण्ड तक एक ही हैं। 'मिताक्षरा' के कुछ बन्धु भी 'दायभाग' में सपिण्ड रहते हैं। 'मिताक्षरा' के पाँच श्रेणी से सात श्रेणी तक के सपिण्ड 'दायभाग' के सकुल्य होते हैं। बङ्गाल के समानोदक वही हैं, जो 'मिताक्षरा' के आठ श्रेणी से चौदह श्रेणी तक के समानोदक होते हैं, परन्तु 'दायभाग' में चौदह श्रेणी के ऊपर समानोदक नहीं होते। (७) 'मिताक्षरा' में जबतक सपिण्ड व समानोदक हैं, तबतक नाती के अतिरिक्त और कोई बन्धु धन नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु 'दायभाग' में बन्धु भी सकुल्य तथा समानोदक के पहले आ जाते हैं, जैसा कि अग्रिम क्रम से स्पष्ट हो जायगा। आगे दायभाग के उत्तराधिकार का कुछ क्रम दिखाया जाता है।

सपिण्ड का संख्याबद्ध उत्तराधिकार-क्रम—१ सें ३ पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र, ४ विधवा स्त्री, ५ दुहिता, पहले कुँआरी पुत्री पायेगी, तब विवाहिता। परन्तु विवाहिता में वह लड़की पहले पायेगी, जिस के पुत्र है या होने की सम्भावना है। यदि किसी बह्मदेशी को दो लड़कियाँ हैं, एक विवाहिता पुत्रवती है और दूसरी पुत्रहीना विधवा है, तो पुत्रवती अपने पिता का धन पायेगी, पुत्रहीना विधवा कन्या नहीं पायेगी, (६) नानी, (७) पिता, 'मिताक्षरा' में पहले माता पाती है, परन्तु 'दायभाग' में पहले पिता पाते हैं, तब माता। 'मिताक्षरा'

में गर्भधारण से माता के खून का सम्बन्ध निकट है, परन्तु 'दायभाग' में श्राद्धादि पण्ड का सम्बन्ध पिता से अधिक है। (८) माता, (९) भाई, (१०) भतीजे, (११) भतीजों के पुत्र, (१२) भौजा (भगिनी-पुत्र), (१३) दादा, (१४) दादी अर्थात् पितामही, (१५) चचा पुत्र, (१६) चचेरा भाई, (१७) चचेरे भाई का पुत्र, (१८) बूआ का लड़का (पिता के बहन का पुत्र), (१९) प्रपितामह, (२०) प्रपितामही, (२१) पितामह के भाई, (२२) पितामह के भाई के पुत्र, (२३) पितामह के भाई के पुत्र के पुत्र, (२४) पितामह के बहन के लड़के, (२५) पोती का पुत्र, (२६) पोते की लड़की का लड़का, (२७) भाई के कन्या का पुत्र। इसी प्रकार बराबर उत्तराधिकार का क्रम सपिण्ड में चला जाता है। जब सपिण्ड नहीं रहते, तब सकुल्य पाते हैं और जब सपिण्ड और सकुल्य दोनों नहीं रहते, तब समानोदक पाते हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा व्यवहार की मर्यादा से हिन्दू धर्म-शास्त्र का सङ्गठन वैदिक काल से चला आ रहा है। करोड़ों हिन्दुओं के रक्त से सींचा हुआ यह हिन्दुओं का वैदिक विधान है। इन आध्यात्मिक तथा धार्मिक उत्तराधिकार की मर्यादा को किस प्रकार लोग सहज में नये नये बिलों से नष्ट कर देना चाहते हैं, यह विषय दूसरे लेख में दिखलाया जायगा। कुछ मुसलमानी, कुछ अङ्गरेजी तथा कुछ साम्यवादी सिद्धान्तों का आश्रय लेकर यह विदेशी सरकार तथा उन के अनुयायी नाममात्र के हिन्दू भारत की हिन्दू जनता को धोखा दे रहे हैं। मैं इस बात को दावे के साथ कहता हूँ कि इस नये 'अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल' तथा 'हिन्दू विवाह बिल' को भारत के एक प्रतिशत से अधिक वकील भी नहीं समझ रहे हैं और न इस समय समझने का उद्योग कर रहे हैं। पढ़ी हुई हिन्दू जनता भी इन बिलों के गुप्त रहस्य को नहीं समझ रही है। ऐसी स्थिति में बेचारी अपण्डित हिन्दू जनता का क्या पूछना है? हम को शीघ्र सावधान होना चाहिए। आग लग चुकी है, अब सोना घातक है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—हमारा कर्तव्य (श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्त-श्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज)	१७
२—जीवन-साफल्य (श्री स्वामी करपात्री जी)	१९
३—चित्त-विश्रान्ति २ (श्री क्षीतीश्वर चक्रवर्ती एम. ए.)	३०
४—'सामवेद की अशुचिता' (एक जिज्ञासु)	२२
५—स्वर्ग या नरक के पथिक? (श्री देवकृष्ण त्रिपाठी)	२३
६—दायभाग-उत्तराधिकार (श्री देवीनारायण जी एडवोकेट)	२३

सिद्धान्त

“अयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवन्दननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क ४]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
स० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—वैशाख शुक्ल ३ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० २५ अप्रैल, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
{ विशेष ५), एक प्रति का -)

नवीन जातिभेद

वर्णव्यवस्था पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उस ने समाज में भेद उत्पन्न कर दिया है। पर समाज में केवल वर्ण या जाति-भेद ही नहीं है, अन्य प्रकार के भी कितने ही भेद हैं। सबल-निर्बल, धनी-निर्धन आदि भेद तो पहले से ही चले आ रहे थे, परन्तु अब एक नया भेद चल पड़ा है, जिस की सब से अधिक उग्रता अपने देश में दिखलायी पड़ती है। यह भेद है शिक्षित और अशिक्षित का, जो कटुता में जाति-भेद की भी मात किये हुए है। जिस प्रकार मिले रहने पर भी गङ्गा-यमुना के सङ्गम का मटमैला तथा नीला जल मिलकर एक वर्ण नहीं हो पाता, उसी प्रकार हमारे जनसाधारण में शिक्षित तथा अशिक्षित-वर्ग के बीच एक ऐसी रेखा खिंच गयी है, जिसे मिटा सकना सहज नहीं है। आधुनिक शिक्षा हमें एक दूसरे के निकट लानेवाला संतु न बनकर विभाजित करनेवाली खाई बन गयी है, जिसे हमारी स्वार्थपरता प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ाती जा रही है। हम उसे पाकर केवल मनुष्य ही नहीं, किन्तु एक ऐसे विशिष्ट मनुष्य बनने का स्वप्न देखने लगते हैं, जिस के निकट आने में साधारण मनुष्य डरने लगे। समाज में शिक्षितों-अशिक्षितों के बीच एक अमेद्य भित्ति खड़ी हो गयी है। सारा ज्ञान, सारी शिक्षा अपने अविच्छिन्न तथा प्राकृतिक रूप में मानव को जीवन की अनेकरूपता में ऐक्य ढूँढ लेने की क्षमता प्रदान करती है, दूसरों की दुर्गलता में उदार और अपनी शक्ति में नम्र रहने का आदेश देती है तथा मनुष्य के व्यक्तित्व की सङ्कीर्ण सीमा तोड़कर उसे ऐसा सर्गमय बना देती है, जिस में उसकी बुद्धि, उस का चिन्तन, उस के कार्य उस के होते हुए भी सब के बन जाते हैं और उस के जीवन का स्वर दूसरों के जीवन-स्वरों से सामञ्जस्य स्थापित कर सङ्गीत की सृष्टि करता है। इतने ऊँचे आदर्श तक ल पहुँच सकने पर भी हम ज्ञान से पशु की स्वार्थपरता सीखने का विचार तो कल्पना में भी नहीं ला सकते। परन्तु आधुनिक शिक्षा से प्राप्त हमारा ज्ञान हमें निर्बलों पर धौंस जमाने के लिए प्रोत्साहित करता है।

सचमुच यह भाव हमारे समाज के लिए दुर्भाग्यसूचक है। इस के कारण घरों में भी परस्पर भेद उत्पन्न हो गया है। जो चार अक्षर पढ़-लिख लेता है, वह घर के बड़े-बूढ़ों तक को तुच्छ समझता है। प्राचीन व्यवस्था में शिक्षाप्राप्त ब्राह्मण अपने ज्ञान का वितरण करता था। परन्तु नव-शिक्षित किसी अशिक्षित की बात तक सुनना सहन नहीं कर सकते। वे उसे गँवार तथा अकूत समझते हैं। एक ओर तो सब प्रकार के भेद मिटाने और समानता लाने की बीग होंकी जाती है और दूसरी ओर एक नया भेद खड़ा

किया जा रहा है। शिक्षित-समुदाय जनसाधारण से सम्पर्क न रखते हुए भी उस के नेता बनने के लिए सदा आतुर रहता है। इस से भी वे अशिक्षित कहे जानेवाले वर्ग के साथ अन्याय ही करते हैं। अपने अधिकारे ज्ञान से वे जनता में ऐसे भाव फैलाते हैं, जिन से उस की अहित होने की ही अधिक सम्भावना है।

ऐसा दृष्टिकोण उत्पन्न हो जाने का कारण यह है कि आधुनिक शिक्षा का हमारे प्राचीन आदर्शों से कुछ सम्बन्ध नहीं है। अङ्गरेजी शिक्षितों की देखा-देखी यह भाव सङ्क्रामक रोग की तरह संस्कृत-शिक्षितों में भी आ रहा है। सारी शिक्षा-व्यवस्था समुचित रूप से बदलने में तो समय लगेगा, पर कई बातें ऐसी हैं, जिन को अभी से किया जा सकता है। यदि विद्वान् अपनी विद्वत्ता का दम्भ छोड़कर ज्ञान द्वारा जन-साधारण की सेवा को अपनायें, तो वे अपना तथा दूसरे का उपकार ही करेंगे। वर्ण-व्यवस्था में न्यून वर्ण के प्रति घृणा का भाव नहीं है। चारों वर्ण समाज-शरीर के चार प्रधान अङ्ग हैं। परन्तु यह नवीन जाति सर्वथा घृणापूर्ण है। शिक्षितवर्ग का अशिक्षितों के प्रति दुर्व्यवहार अक्षम्य है। जिन्हें अपनी, अपने समाज की, अपने देश की अनेकमुखी दुर्दशा का अध्ययन करना है, उस के कारणों को खोज निकालना है और उन को दूर करने में अपनी सारी शक्ति लगा देनी है, यदि वे ही निस्तेज, उद्योगशून्य, अकर्मण्य तथा निरीह हो गये, तो फिर उन व्यक्तियों का कहना ही क्या, जो अन्धेरे में पगपग पर पथप्रदर्शक चाहते हैं ?

शास्त्र या अनुभव ?

‘श्री जयनारायण सत्सङ्ग काशी’ की ओर से ‘आवाज-ए खल्क’ नामक एक अङ्गरेजी साप्ताहिक पत्र निकलता है। उस के सम्पादक हैं श्री गुलाबचन्द्रजी (बाबा आनन्द), जिन के एकआध चुटकुलों का आनन्द हमारे पाठकों को भी मिल चुका है। हमारे पञ्चम वर्षारम्भ के अवसर पर बधाई देते तथा शुभ कामना प्रकट करते हुए, जिस के लिए हम कृतज्ञ हैं, हमारा सहयोगी लिखता है कि पत्र में “योग्य विद्वानों के लेख रहते हैं, परन्तु उन में अधिकतर प्राचीन ग्रन्थों (शास्त्रों) पर ही निर्भर करते हैं, न कि निजी अनुभव पर।” क्या अनुभव की भी प्रमाण-कोटि में प्रसिद्धि है ? विभिन्न व्यक्तियों का एक ही प्रकार की परिस्थिति में विभिन्न अनुभव हो सकता है। स्वभाव, संस्कार, शिक्षा, सङ्ग आदि कितनी ही बातों पर अनुभव निर्भर करता है। पिताज उग्र से पीड़ित व्यक्ति को शर्करा तित्त प्रतीत होती है, परन्तु उस के इस निजी अनुभव से शर्करा का स्वाद तित्त नहीं कहा जा सकता। इन्द्रिय, मन, बुद्धि

में भी विभिन्न प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। भावों के आवेश में मनुष्य न जाने क्या से क्या अनुभव करने लगता है? कोई भी अपने अनुभव को यथार्थ मान सकता है। यदि अपना अनुभव स्वयं ही प्रमाण है, तो वह अनुभव-कर्ता के लिए ही है, न कि दूसरों के लिए। अनेक प्रकार के अनुभवों में कौन ठीक, कौन नहीं, इस का निर्णय कोई कैसे करे? विभिन्न लोगों के अनुभव को सत्य मान लेने का ही फल यह है कि तरह तरह के सम्प्रदाय चल पड़े हैं, जिन के कारण हर समय कलह मचा रहता है। योगियों के अनुभव तक में भ्रम हो सकता है, फिर साधारण व्यक्तियों का कहना ही क्या? यदि मनुष्य अनुभवों की ही परीक्षा करता रहे, तो उस का सारा जन्म उसी में व्यतीत हो जायगा। इसलिए कोई एक ऐसी कसौटी होनी चाहिए, जिस से व्यक्तिगत अनुभवों की परीक्षा सहज ही में हो सके। यह कसौटी अपौरुषेय वेदों पर परिनिष्ठित त्रिकालज्ञ ऋषियों द्वारा रचे हुए हमारे शास्त्र ही हैं। बिना चित्तशुद्धि के सत्य का अनुभव नहीं हो सकता। इस चित्तशुद्धि के साधन हमारे शास्त्रों में ही बतलाये गये हैं। उन के निर्दिष्ट सन्मार्ग पर चलने से साधारण प्राणी भी अपने परम ध्येय की ओर बढ़ सकता है, पर यदि वह, अपने को सिद्ध समझनेवाले लोगों के अनुभवों की उलझन में पड़ गया, तो क्या वह उन से कभी निकल भी सकता है? अनुभवों का भी मूल्य अवश्य है, परन्तु उन की सत्यता-असत्यता का निर्णय करना बड़ा कठिन है, इसीलिए 'सिद्धान्त' के लेखों में शास्त्रीय सिद्धान्तों पर ही अधिक जोर रहता है।

स्त्रियों की विक्री

लोगों को यह पता नहीं है कि थोड़े ही दिन पहले—१९ वीं शताब्दी के पिछले हिस्से तक—इंग्लैण्ड में स्त्रियाँ बेची जाती थीं और मर्द अपनी स्त्री के गले में रस्सी डालकर बाजार में लाते थे। इस विक्री के ऊपर राजकोष में भी कुछ शुल्क देना पड़ता था। 'टाइम्स आफ लण्डन' पत्र में स्त्रियों की विक्री के विज्ञापन छपा करते थे। सन् १८८४ में विलायत में २४ स्त्रियाँ बेची गयीं, जिन की विक्री के दस्तावेज अभी तक मौजूद हैं। स्त्रियों के व्यापार के लिए लन्दन का 'स्मिथ फोल्ड' बाजार प्रसिद्ध था। इस सम्बन्ध में २२ जुलाई सन् १७९७ के 'टाइम्स' में ऐसा लिखा था कि "गौराङ्गिनियों की कीमत बाजार में बढ़ रही है। इस को देखते हुए इंग्लैण्ड के बड़े बड़े लेखक यह समझते हैं कि हमारी सभ्यता उन्नति कर रही है। इस दृष्टि से 'स्मिथ फोल्ड' को यह गौरव प्राप्त है कि उसी के द्वारा यह उत्कर्ष प्राप्त हो रहा है, कारण गौराङ्गिनियों की कीमत कथित बाजार में आधी गिन्नी से बढ़कर साढ़े तीन गिन्नी तक पहुँच गयी है। सन् १८५४ ई० में साढ़े पचीस गिन्नी और एक पाइण्ट बियर (शराब) में एक स्त्री की विक्री हुई थी।" जिस समय इंग्लैण्ड में सर्वप्रथम ईसाई-धर्म का प्रचार शुरू हुआ था, उस समय वहाँ पर स्त्रियों की विक्री होना साधारण तथा शादी का जरिया था। उस समय से लेकर १८८४ ईसवी तक बर्गवर यह रिवाज चलता रहा। यदि एक दूसरे की स्त्री को मगा लेता था, तो कुछ पैसा देकर मामला आसानी से निपटारा जाता था। 'एथिलरिड' के जमाने में लाखों की तादाद में स्त्रियों का क्रय-विक्रय हुआ था। जिस पिता के जितनी लड़कियाँ होती थी, उस की उतनी ही कदर होती थी, क्योंकि लोभ समझते थे कि लड़कियाँ उस की सुरक्षित पूँजी हैं। उस जमाने में प्रत्येक स्त्री किसी न किसी पुरुष की संरक्षता में रहती थी। वह पुरुष उस स्त्री का 'मण्डोवरा' कहलाता था। जिस देश की स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार होता था, वहाँ के लोगों का यह कहने का कैसे

सुँह हो सकता है कि भोग में प्राचीन काल से स्त्रियों पर अत्याचार होता आया है? वास्तव में पाश्चात्य देशों में स्त्रियों पर जो अत्याचार हुआ, उसी के परिणामस्वरूप आज वहाँ पुरुषों के प्रति विद्रोह की भावना है और स्वतन्त्रता के नाम से उच्छृङ्खलता का ताण्डव हो रहा है। वहाँ का अनुकरण करके हम क्या लाभ उठावेंगे?

प्रभुप्रेम से भय-निवृत्ति

(श्री स्वामी करपात्री जी)

संसार में जो कुछ है, वह पूर्ण सच्चिदानन्दघन ही है। इस के अतिरिक्त जीव और सारा जगत् मिथ्या है। जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दुःख, मोह आदि से परिप्लुत है और यह जगत् भी सुख-दुःख, मोह, बन्धन आदि से संयुक्त है, अतः जीव और जगत् की अपेक्षा परब्रह्म परमात्मा सर्वश्रेष्ठ है। सभी मतमतान्तों से यह बात सिद्ध है कि परमेश्वर अदभुत है, सब से अतीत है। जीव और जगत् व्यावहारिक सत्य और परमेश्वर की सत्ता पारमार्थिक (उत्कृष्ट) है। भक्ति के बीच जीव और जगत् की सत्ता का कोई भी स्थान नहीं है। प्रेम का नशा यदि अदभुत हुआ, तो इच्छित पदार्थ प्राप्त ही समझना चाहिए। सब को भूलकर बस एक ही को भजना चाहिए। गोस्वामीजी का कहना है—“गिरिजा अनुभव कहौं मैं अपना, सत हरिभजन जगत् सब सपना।” एक हरि-भजन ही सत्य है और सारा संसार मिथ्या है। हरिभजन द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति ही सार है। इस के अतिरिक्त अन्य की प्राप्ति में मन लगाना विनाश का साधन सङ्ग्रह करना है। भजन में जगत् और जीव की सत्यता की आवश्यकता नहीं। सूरदासजी परम रसमय थे। उन्होंने ने सत्य और असत्य का झगड़ा ही न छोड़ा। उन्होंने ने ठीक ही सोचा कि जीव और जगत् से हमें क्या करना है? जो कुछ है, वह तो परब्रह्म परमात्मा ही है। श्री कवीर का वचन है—“जब मैं था तब प्रभु नहीं, अब प्रभु हैं मैं नाहिं। कबिरा नगरी एक में, राजा दुइ न समाहिं ॥” मैं भी रहूँ, प्रभु भी रहें, यह कदापि सम्भव नहीं। पृथक्त्व की स्थिरता नहीं है। समुद्र से व्यतिरिक्त तरङ्ग नहीं, महाकाश से व्यतिरिक्त घटाकाश नहीं। पृथक्त्व का मानना भूल है। जीव कुछ नहीं, जगत् कुछ नहीं, जो कुछ है, वह गोस्वामी तुलसीदासजी और सूरदासजी के वही दयासागर प्रभु ही हैं, जिन के चरणरज की धूलि स्पर्शकर सब को पवित्र होना है। जीव का परम स्वत्व-समर्पण ब्रह्म से है, अर्थात् यही प्रेमवाद शुद्धवाद है। इन दृष्टियों से आग्रही भावुक मानते हैं कि भगवान् ही एकमात्र सत्य हैं, उन का चरणाम्बुज सत्य है और यह सारा दृश्य जगत् असत्य है। भूसे को व्यर्थ पीटने से कोई लाभ नहीं, राग-द्वेष के बखेड़े में पड़ना उचित नहीं। हमारे ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य सब कुछ वही है। एकमात्र उन्हें को, प्रेम से-पारंगती ने जिस प्रेम से शिवजी को जपा था, उसी प्रेम से, भजना चाहिए, तब दर्शन मिलेगा। पारंगती कहती है—“महादेव अवगुण बहुत, विष्णु सकल गुणधाम। जाकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम ॥” माना कि शङ्कर सब प्रकार से अवगुणी और विष्णु गुणी हैं, पर मेरा मन तो शङ्कर में लगा है। मैं विष्णु को लेकर क्या करूँगी? यह है प्रेम। स्वाति-विन्दु से पवित्र अमृत भी यदि पपीहा को पान करने के लिए मिले, तो भी वह स्वाति-नक्षत्र के पानी को छोड़कर उसे ग्रहण न करेगा। क्यों? उस का उस से अकाट्य प्रेम है। प्रेम की बात में उत्कृष्टता और अपकृष्टता नहीं। इन्हीं बातों को भक्त याद रखें, तभी कल्याण सम्भव है। निर्गुण ब्रह्म की पूजा हो या सगुण की, सब की अन्तिम पहुँच उसी एक तक ही होगी।

अद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि के पक्षों में अपने को भूलकर भी न डालना चाहिए। जीव और जगत् की अपेक्षा परमेश्वर की सत्ता और उस का स्वरूप निराला है, इसे स्मरण करते हुए उस बृहत् परमानन्दस्वरूप अपरिच्छिन्न के रूप को देखना चाहिए। तदुपगन्त उसी रूप का स्मरणकर उस का ध्यान करना चाहिए और उस के गुण-गान में इतने मस्त हो जाना चाहिए कि अपने शरीर तक की सब सुधि-बुधि भूल जाय।

हमारे गुणगान करने से भगवान् न तो बड़ा होगा और न उसे सुख ही पहुँचेगा। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि उस को बड़ा करने के लिए हम उसे भजते हैं। वह तो 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' है, देश-काल-वस्तु-परिच्छेदशून्य है, स्वभाव से ही वह निर्गुण है। ये गुणगण अपनी गुणत्व-सिद्धि के लिए उस प्रभु का समाश्रयण करते हैं। हमारे गुणगान से उस की महत्ता, उस को सुख नहीं है। महत्ता और सुख तो हमें है। भगवान् ने कौस्तुभमणि धारण किया है, हाथ, पैर तथा शरीर के अन्यान्य सभी अङ्गों में नानाप्रकार के आभूषण धारण किये हैं, परं कुछ अपनी शोभा बढ़ाने के लिए नहीं। वे तो यों ही शोभासीव हैं, हजारों कामदेव की शोभा को मात करनेवाले हैं। वे सारे भूषण, जिन्हें वे धारण किये हुए हैं, अनन्त जन्म तप करके प्रभु के मङ्गलमय विग्रह का समाश्रयण कर रहे हैं। भगवान् से गुण गुणी होते हैं। वे अपनी शोभा बढ़ाने के लिए उन गहनों को नहीं पहनते। भगवान् स्वयं कहते हैं—“निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।” अर्थात् मैं निर्गुण हूँ, मुझे सब गुण भजते हैं, यद्यपि मुझे उन की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः हमारे भगवद्गुणगान से उन को क्या लाभ है? लाभ तो हमें है, इस महाविकट भवार्णव से तैरकर पार जाना तो हमें है। परब्रह्म को बिना जाने जीव अभय नहीं होता। संसार के सैकड़ों प्रकार के भयों से वह सदा सन्तुष्ट रहता है। याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को परब्रह्म का उपदेश किया और जब उन्हें उस का ज्ञान हो गया, तब उन्होंने ने कहा कि “अब तुम अभय हुए।” वस्तुतः उन्हें फिर किसी बात का भय न रहा। भय की समाप्ति तभी होती है, जब प्रभुचरण का समाश्रयण किया जाय, उस के अमृतमय सौन्दर्य-माधुर्य का सम्यक् समास्वादन किया जाय। नहीं तो जहाँ जाय, मृत्यु-व्याल सदा पोछे लगा रहेगा। अतः अभी से सचेत हो इस महाव्याधि से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहिए। इस के लिए कोई बहुत बड़ा प्रयत्न करना नहीं है। बिल्कुल साधारण काम है। बिना कुछ खर्च किये ही वह अमूल्य रत्न प्राप्त हो सकता है। शुद्ध मन से अहङ्कार तथा ऐहलौकिक वैषयिक सुखों से मुँह मोड़कर शुद्ध चैतन्यानन्दधन का विशुद्धाति-विशुद्ध स्मरण करना चाहिए। उस से सब भय और बाधाएँ दूर होकर सकल कामिना क्षणमात्र में सिद्ध हो जाती है।

चित्त-विश्रान्ति

(श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती एम्. ए.)

३

प्र०—“आत्मा यदि सर्वगत और मन की स्वरूपाभिमुखता यदि स्वभावसिद्ध होती, तो आत्मचैतन्य अवश्य क्यों होता?”
उ०—“धनात्म विषयों से मन की परावृत्ति का या स्वाभिमुख्य का अभाव ही आत्मसम्बन्धी अज्ञान में कारण है। मन जब सांसारिक सङ्कल्प-विकल्प से बिल्कुल मुक्त होगा, तभी शुद्ध तथा सूक्ष्मता को प्राप्त होकर अन्तर्मुख या अखण्ड आकार में आकारित होगा और जिज्ञासु के आत्मस्वरूप का सहज ज्ञान होने लगेगा। अतएव मन

से जड़ एवं दुःखरूप समस्त स्थूल-सूक्ष्म दृश्य वस्तुओं का निर्वान्त मार्जन या मन का एकदम शोधन ही तत्त्वज्ञान का प्रधान साधन है। शास्त्रों में बतलाये हुए सब कर्म, उपासना, वैराग्य, भक्ति, श्रद्धा आदि समस्त साधन-कलाप मन की निर्विषयता या निष्कामता के उत्पादन के लिए ही उपदिष्ट हुए हैं। इन की तत्त्वज्ञान में साक्षात् हेतुता नहीं है, किन्तु शुद्ध बुद्धि ही आत्मज्ञान में साक्षात् कारण है। दृश्य पदार्थ का अत्यन्त अभाव होने पर निर्मल हृदय में यथार्थ आत्मस्वरूप का स्पष्ट ज्ञान बिना हुए नहीं रहता।”
प्र०—“विषयों से परावृत्त मन की सहायता से यदि आत्मा प्रकाशित होता है, तब तो सुषुप्ति में आत्मा का स्पष्ट अवभास होना चाहिए, क्योंकि उस समय मन सब-अनात्म विषयों से निवृत्त ही रहता है।”
उ०—“विषयों से परावृत्त होने पर भी सुषुप्ति के समय मन का वस्तुप्रकाशन-सामर्थ्य लीन होने के कारण मन आत्मा का प्रकाश नहीं कर सकता। जैसे काजल से लिप्त दर्पण में आकाश प्रतिभासित नहीं होता, वैसे ही तमोरूप जड़शक्ति से विलिप्त मन—अयोग्य होने के कारण—यद्यपि विषयों से सर्वथा परावृत्त रहता है, तथापि आत्मावभासन में समर्थ नहीं होता। निर्मल—सात्विक—तथा योग्य मन ही स्वरूप-प्रकाशन में समर्थ होता है। निद्रा से आच्छन्न होने पर मन शुद्ध चैतन्य का प्रकाश कैसे करेगा? इसीलिए सद्योजात शिशु का मन, अयोग्य होने के कारण, शुद्ध होता हुआ भी कुछ भी जानने में समर्थ नहीं होता।”

प्र०—“निद्रा के संश्लेष का ज्ञान सुषुप्ति में तो नहीं होता।”
उ०—“सुषुप्ति से उत्थित पुरुष के ‘मैं ने कुछ नहीं जाना’ इस स्मरण से सुषुप्ति-दशा में निद्रा या अज्ञान का अनुभव सिद्ध होता है। यदि निद्रात्मक मूढ़ता का ज्ञान उस समय हुआ न होता, तो जागने पर उस की स्मृति न हो सकती। निद्रासंलग्न होने से मन की विषय-परावृत्ति भी उस समय वस्तुतः सिद्ध नहीं होती, अपितु उस समय तमोरूप आवरणशक्ति सूक्ष्म दृश्यरूप में विद्यमान रहने के कारण उस का ग्रहण या ज्ञान होता है। अल्पचित्प्रकाश आत्मा आवरणसहित भासमान होता है, इसीलिए सुषुप्ति को मन की निर्विकल्प स्थिति, प्रकाशावस्था या मूढ़दशा कहा गया है।”
प्र०—“जागरण में मन किस रूप में रहता है?”
उ०—“क्षणे भर स्थिर रहकर मन बहुत देर तक गतिशील होता है, इसी अस्थिर अवस्था का नाम जाग्रत है। यही मन की सविकल्प स्थिति—विभिन्न पदार्थों के दर्शन का काल—विमर्शविस्था या अमूढ़ दशा कही जाती है। जागरण में क्षणिक निर्विकल्प ज्ञान, प्रकाश या मनोऽलं विद्यमान रहने पर भी प्रधानरूप में सविकल्प वृत्तिज्ञान या मन की चञ्चल अवस्था ही कर्तमान रहती है। विषय और वृत्ति मन का ही परिणाम होने से दृश्यभेद या अवस्थाभेद मनःकृत ही है। यद्यपि जाग्रदौ दि अवस्था के सामान्य धर्म परस्पर अनुप्रविष्ट देखे जाते हैं, तथापि सुषुप्ति और जाग्रत में मन की स्पष्टरूप में विलक्षण स्थिति पायी जाती है।”
प्र०—“मन के इन दोनों भेदों का स्वरूप और स्पष्टरूप से बतलाइये।”
उ०—“बाह्य पदार्थ से मन का सम्बन्ध ‘प्रकाशावस्था’ कही जाती है, फिर मन में प्रतिबिम्बरूप से गृहीत उस पदार्थ का ‘वह ऐसा है’ इस तरह स्पष्ट निर्णय, ‘विमर्श’ कहा जाता है। मन पहले इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलकर घट आदि विषयों से सम्बन्ध होता है, उस समय घट आदि वस्तु सामान्यतः प्रकाशित होती है। इसी को निर्विकल्प ज्ञान या वस्तुप्रकाश कहा गया है। इस प्रकाशावस्था के बाद मन में जो बाह्य घट आदि का आकार ‘यह घट है’ इस तरह पड़ता है, वह—अन्य पदार्थ से व्यावृत्तरूप में घटाकार वृत्तिज्ञान होने के कारण—विमर्श या सविकल्प ज्ञान कहा जाता है। अपृथक् रूप में पदार्थ का प्रकाश या सामान्य ज्ञान निर्विकल्प होता है, भेदयुक्त एवं स्पष्टरूप में पदार्थ का आमर्श (चिन्तन, विचार) सविकल्पक है अर्थात् निर्विकल्पीक वस्तुदर्शन ही ‘यह घट

है' इसतरह पदार्थसम्बन्धी उत्तरकालीन विशेष ज्ञान का कारण होता है। यह विमर्शरूप आन्तर विचार या सविकल्प ज्ञान पुनः दो प्रकार का है—(१) नूतन वस्तुविषयक अनुभव या प्रत्यक्ष ज्ञान और (२) पूर्वकालीन अनुभव के संस्कार से उत्पन्न स्मरण एवं अनुसन्धानरूप विकल्प या परोक्ष ज्ञान। इसतरह निर्विकल्प प्रकाश और सविकल्पक विमर्श इन दोनों शक्तियों से युक्त होकर मन विलासप्राप्त होता है।”

प्र०—“जाग्रत और सुषुप्ति, दोनों अवस्थाओं में चिदात्मा तो समानरूप से प्रकाशमान होता है और जाग्रत में मन कभी कभी स्थिर भाव में स्थित होता है, ऐसी स्थिति में जागरण को अमृद दशा और सुषुप्ति को मृदुदशा क्यों कहा जाता है ?” उ०—“आवरणक अज्ञान की भावरूप सुषुप्ति दीर्घकालस्थायी निर्विकल्प या विमर्शरहित अवस्था है, अतः उसे मृदुदशा कहा गया है। जाग्रत में घटादि वस्तु-दर्शनरूप निर्विकल्प या सामान्य अवभास की अवस्था—मन का अनुत्थानरूप परिणामशून्य स्वैर्यभाव—क्षणिक ही होता है। यही जागरण में मन का लय या निर्विकार सुषुप्तिभाव है। किन्तु अगले क्षण में बहुविध विकल्प का—विभिन्नविषयक ज्ञानसमूह का—उदय होने के कारण अनेक सविकल्प ज्ञान की अवस्था होने से जाग्रतकाल को अमृद दशा कहा गया है। यदि विकल्प ज्ञान का उदय न होकर केवल अनुत्थित मन बहुत देरतक निर्विकार या विलीनरूप में स्थित होता, तो वही सुषुप्ति कहा जाता। सुषुप्ति में कोई विमर्श, विकार या मन का परिणाम नहीं होता, अतएव वह तमोयुक्त आत्मा की निविड प्रकाशावस्था है (‘कुछ भी नहीं’ इसतरह दृश्यसामान्य का अभाव ही निद्रा या आवरणशक्ति है। उस से युक्त आत्मा सुषुप्ति में प्रकाशमान होता है।)” प्र०—“जाग्रत में भी क्षणिक सुषुप्ति हो सकती है ?” उ०—“जाग्रत अवस्था में घट आदि के सामान्य या निर्विकल्प अवभासकाल में मन का क्षणिक मृदुभाव दिखलायी पड़ता है, किन्तु दूसरे ही क्षण में उत्पन्न भिन्न भिन्न विकल्पज्ञान से वह लय-भाव तिरोहित हो जाता है। पर सुषुप्ति में दीर्घकाल तक मन केवल निर्विकल्परूप में स्थिर रहने के कारण प्रतिक्षण भिन्न भिन्न परिणाम का अभाव हो जाता है। इसीलिए सुषुप्ति में मन को विलीन कहा गया है। क्षणिक या अधिककालस्थायी मनोलय में मन नष्ट नहीं हो जाता। “चेत्याभिमुखतां प्राप्तं चित्तत्वं चित्तमुच्यते” (चेत्य विषय के अभिमुख हुआ चित् तत्त्व ही चित्त कहा जाता है) इत्यादि उक्तियों से विषयाभिमुखी होने पर चिदात्मा का ही ‘चित्त’ इस नाम से निर्देश किया गया है। दृढ़ विवेक एवं समाधि के अभ्यास से इस चेत्याभिमुखता के नष्ट हो जाने पर चेत्ययुक्त चिदात्मा ही जिज्ञासु पुरुष के निज अविनाशीरूप में अवशिष्ट रह जाता है।”

प्र०—“समाधि का क्या स्वरूप है ?” उ०—“आत्मा की केवल स्वप्रकाशरूप में अवस्थिति निर्विकल्प समाधि कही जाती है। सुषुप्ति में प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव और वस्तुदर्शन-काल में घटादि भाव (घटाकार आन्तर वृत्ति) दृश्यरूप में विद्यमान रहता है। किन्तु इन तीनों अवस्थाओं में विमर्शात्मक (‘यह इस प्रकार है’ ऐसी) स्थूल विकल्पशक्ति वर्तमान नहीं होती, अतः उक्त तीनों अवस्थाएँ प्रकाशमात्रस्वरूप एवं वास्तविक अभिन्न हैं।” प्र०—“तब सुषुप्ति, वस्तुदर्शन और समाधि, इन तीन अवस्थाओं का भेद-व्यवहार कैसे सिद्ध होगा ?” उ०—“ये अवस्थाएँ स्वरूपतः समान होने पर भी उत्तरकालीन अनुसन्धानरूप विमर्श भिन्न भिन्न होने से उन का व्यावहारिक भेद सिद्ध हो सकता है। समाधि से व्युत्थित होने पर ‘मैं इतनी देरतक चुपचाप था’, निद्रा से जागने पर ‘मैं ने कुछ भी नहीं जाना’, और पदार्थ-प्रत्यक्ष के बाद ‘यह घट है’ या ‘मैं ने घट देखा’ इसतरह भिन्न भिन्न परामर्श उत्पन्न होते हैं। घ्याता, भोक्ता, ज्ञाता इत्यादि भिन्न भिन्न त्रिपुटियों का कूटस्थ

आत्मस्वरूप से अभेद—प्रकाशात्मा के साथ एकीभाव—होने पर ही उक्त तीन अपरोक्ष अवस्थाएँ सिद्ध होती हैं, अतएव घटदर्शन इत्यादि रूप तीन अवस्थाएँ—क्षणिक या अधिक कालस्थायी—आत्मतादात्म्य के अनुभव या आत्मसाक्षात्कार का काल है। इसतरह आत्मैकता का स्वयं मान होने के उपरान्त विज्ञानमय कोश में अवतरण करके ध्यानकर्ता या प्रमाता—जिस सूक्ष्म वृत्ति या वासना को लेकर अपने चिदानन्दस्वरूप में पहले प्रवेश किया हो, तदनुसार—भेदसंस्कार के आविर्भाववश उत्थानकाल में अनुस्मरण करता है। दृढ़ अभ्यास के फलस्वरूप ज्ञानी, योगी या धारणाभ्यासी आत्मविषयक या अनात्मविषयक वासना के साथ आत्मा में एकी-भूत—समाधिस्थित—होता है। इसके उपरान्त व्युत्थित होने पर ज्ञान का (‘मैं ब्रह्म हूँ’), योग का (‘मैं ब्रह्मा हूँ’) या धारणा का (‘मैं ने अपने इष्ट देवता का दर्शन या अनुग्रह प्राप्त किया, इसतरह’) अनुसन्धान—त्रिपुटीपूर्वक—करता है। निरन्तर अभ्यास (पुनः पुनः सम्पादन) करने से तद्विषयक संस्कार (सूक्ष्म क्रियाशक्ति) हृदय में उत्पन्न होते ही साक्षी आत्मा से साधक को स्वयः ऐक्यानुभव सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि जैसे बुद्धि विज्ञाता की उपाधि है, वैसे ही संस्कार या अविद्या साक्षी आत्मा की उपाधि है। पुनः पुनः अभ्यस्त बौद्ध विचार ही सूक्ष्मशक्ति या संस्काररूप में परिणत हो जाते हैं और इस दृढ़ वासना के अवलम्बन से ही जीव विज्ञानमय या आधिभौतिक भाव का परित्याग करके आनन्दमय या आति-वाहिक स्वरूप में उन्नत हो सकता है। आत्मानुभव या समाधि से उत्थानकाल में साधक त्रिपुटीरूप भेद अङ्गीकार करके अभेदानुभव का अनुसन्धान या कथन करता है। घटादि प्रत्यक्ष ज्ञान भी इस रूप में—कूटस्थ आत्मा के साथ त्रिपुटी के साक्षात् अभेदक्षण में घटाकार बुद्धिवृत्ति का लय हो जाने के कारण—एक प्रकार की समाधि है। आत्मा ही साक्षात् अपरोक्ष है, अतः योगयुक्त या समाहित—आत्मा से एकीभूत—अवस्था में ही प्रत्यक् ब्रह्म का, ईश्वर का, देवता का या अलौकिक, अतीन्द्रिय, स्थूल सब पदार्थों का प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव होता है।

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

(यह स्तम्भ विचारविनिमय के लिए है ।)

सामवेद की शुचिता

(एक सामवेदी)

गताङ्क में ‘सामवेद की अशुचिता’ शीर्षक लेख में ‘श्री एक जिज्ञासु’ ने कुछ प्रश्न उठाये हैं। प्रश्नों में प्रथम प्रश्न तो व्यर्थ ही है, क्योंकि यह कहीं नहीं कहा गया है कि वेदों में तृतीय होने के कारण सामवेद सर्वश्रेष्ठ है। दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में निवेदन यह है कि ‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ से सामवेदातिरिक्त अन्य वेदों की निकृष्टता बतलाना अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि “पिता-इमस्य जगतो माता धाता पितामहः। वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च” इस वचन द्वारा भगवान् पहले ही अपनी सर्ववेद-स्वरूपता बतला चुके हैं, सामवेद की गणना भी उसी में की जा चुकी है। फिर भी “वेदानां सामवेदोऽस्मि” इस वचन द्वारा सामवेद की अतिशयता दिखलाने का कारण यही है कि वह वेद प्रधानतया स्तुतिपरक है और गानमाधुर्य के कारण अन्य वेदों की अपेक्षा सुनने में अधिक चित्तावहादक एवं आकर्षक है। इस के

अतिरिक्त परब्रह्म-प्रतिपादक या साक्षात् ब्रह्मस्वरूप उद्गीथ (प्रणव) का सम्बन्ध भी मुख्यतया सामवेद से ही है। इन्हीं विशेषताओं के कारण अन्य वेदों की अपेक्षा सामवेद का कुछ वैशिष्ट्य मान लेने में क्या आपत्ति है ? उसी प्रकरण में बतलायी हुई अन्यान्य विभूतियों के सम्बन्ध में भी तो यही बात देखने में आती है। फिर एक आस्तिक की दृष्टि में तो भगवान् की आज्ञा ही पर्याप्त है, उसे अन्यान्य हेतुओं के अन्वेषण की अपेक्षा ही क्या है ?

इसतरह सामवेद की विशेष रूप से भगवत्स्वरूपता दिखलाते हुए भी उस की ध्वनि की जो अशुचिता बतलायी गयी है, वह सचमुच आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। परन्तु वस्तुतः “तस्याशुचि-ध्वनिः” का, उस की ध्वनि को साक्षात् अशुचि बतलाने में अभिप्राय नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर “वेदानां सामवेदोऽस्मि” आदि वचनों से विरोध होता है, अतः ‘अशुचि’ का अर्थ ‘अशुचिः इव’—अशुचि सा—ही किया जाना चाहिए, न कि साक्षात् अशुचि। “न हि निन्दा निन्धं निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विधेयं स्तोतुम्”, “यस्परः शब्दः स शब्दार्थः” इत्यादि नियमों से विचार करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि “तस्मात्तस्याशुचिध्वनिः” इस वचन का तात्पर्य सामध्वनि की अशुचिता बतलाकर उस की निन्दा में नहीं है, अपितु उस का वास्तविक तात्पर्य सामध्वनि-काल में ऋक्, यजु के अध्ययन निषेध में है। “तस्याशुचिध्वनिः” यह वचन “सामध्वनौ ऋग्यजुषी नाधीयीत कदाचन” इस निषेध का अर्थवादमात्र है। अर्थवाद-वाक्यों का स्वार्थबोधन में तात्पर्य नहीं होता, अपितु विधेय की प्रशंसा में होता है। इसी दृष्टि से विचार करने पर “तस्याशुचिध्वनिः” इस वचन का स्वार्थ में तात्पर्य न होने से सामध्वनि का अशुचित्व ही वस्तुतः सिद्ध नहीं होता। इसी दृष्टि से ‘मार्कण्डेयपुराण’ का वचन भी चरितार्थ हो जाता है, क्योंकि वह भी अर्थवादमात्र है। “सामध्वनौ ऋग्यजुषी नाधीयीत” इस वचन द्वारा केवल ऋक् और यजुमात्र को ही सामध्वनि के समय अध्ययन करने का निषेध किया गया है, अतः उस समय यदि ऋग्यजुर्वेद के ब्राह्मणभाग का अध्ययन किया जाय, तो कोई आपत्ति नहीं है। सामध्वनि की अशुचिता के सम्बन्ध में ‘मनुस्मृति’ के प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि लिखते हैं कि सामगान की ध्वनि के समय ऋग्यजु का जो अनध्याय बतलाया गया है, उस का “तस्याशुचिध्वनिः” यह अर्थवाद है—“सामगातध्वनावृग्यजुषस्यानध्याय उक्तः, तत्रायमर्थवादः” (४।१२४)। आगे चलकर वे ही लिखते हैं कि यहाँ उस ध्वनि की अशुचिता परमार्थतः नहीं समझनी चाहिए, अपितु अशुचि ही। अशुचि वस्तु के समीप जिसतरह अध्ययन नहीं किया जाता, वैसे ही जिस समय सामध्वनि होती हो, उस समय अन्य वेदों का अध्ययन न करना चाहिए, इसतरह सामान्य अशुचित्व कहा गया है। यह निषेध भी प्रकरणवद्वात् अध्ययन-काल में ही जानना चाहिए, यज्ञप्रयोग आदि अवसरों में नहीं—“नात्र तदीयध्वनेरशुचित्वं परमार्थतो विज्ञेयं, किं तर्हि, यथा अशुचिसंज्ञिधाने नाध्येतव्यं, एवं तत्संज्ञिधाने, इति सामान्यमशुचित्वाल्म्बनम्। अयं च अध्ययनविधौ प्रकरणात् सामिनीयमाने ऋग्यजुषः प्रतिषेधो, न यज्ञप्रयोगे” (४।१२४)। कुल्लूकभट्ट भी लिखते हैं कि सामवेद पितृदेवताक होने से पित्र्य है। पितृकर्म (ब्राह्म आदि) करके जल का उपस्पर्शन (आचमन) करना बतलाया गया है, अतः उस की ध्वनिमात्र अशुचि-सी है, न कि सामवेद ही अशुचि है—“सामवेदः पितृदेवताकत्वात् पित्र्यः, पितृकर्म कृत्वा जलोपस्पर्शनं स्मरन्ति, तस्मात् तस्याशुचिरिव ध्वनिः, न त्वशुचिरेव।” राघवानन्द भी लिखते हैं कि “अशुचि सा (पितृ-पक्षपाती होने के कारण) है, न कि वस्तुतः अशुचि ही, क्योंकि वेदध्वनि कभी अशुद्ध हो ही नहीं सकती—“अशुचिरिति अशुचिरिव, पितृपक्षपातित्वात्, न त्वशुचिरेव, वेदध्वनेरशुचित्वाभावात्।” इन सब वचनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सामध्वनि वस्तुतः अशुद्ध नहीं है।

किन्हीं किन्हीं की कल्पना इस सम्बन्ध में जरा विलक्षण है। उन का कहना है कि ‘अशुचि’ शब्द का अर्थ अपवित्र नहीं, अपितु ‘अधिक पवित्र’ (अ = अधिक, शुचि = पवित्र) है। सामवेद पितृदेवताक होने के कारण उस की अधिक पवित्रता स्वाभाविक है। मनु ने पितृकर्म में अधिक पवित्रता रखने का आदेश दिया है और कहा है कि समृद्ध पुरुष को भी ब्राह्म में विस्तार न करना (अधिक ब्राह्मणों को निमन्त्रित न करना) चाहिए, क्योंकि विस्तार होने से पवित्रता आदि का पर्याप्त ध्यान नहीं रखा जा सकता—“द्वौ देवे पितृकार्ये त्रीनैकमुभयत्र वा। भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ सक्तियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः। पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्” (३।१२५-१२६)। इसी दृष्टि से दैव कार्य की अपेक्षा पितृकार्य के लिए योग्यतम ब्राह्मणों का अन्वेषण करने पर मनु ने अधिक जोर दिया है। वे लिखते हैं कि धर्मज्ञ पुरुष दैवकर्म में भले ही ब्राह्मण की योग्यता की परीक्षा न करे, पर पित्र्य कर्म में तो प्रयत्नपूर्वक उन की परीक्षा करना चाहिए—“न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्। पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः” (३।१४९)। जब पितृकार्य में उपयोगी सामग्री की पवित्रता पर इतना जोर दिया जा रहा है, तब जिन के लिए उस सामग्री का विचार किया जा रहा है, उन पितरों एवं उन से सम्बद्ध सामवेद तथा उस की ध्वनि की पवित्रता का तो कहना ही क्या है ? एवञ्च अधिक पवित्र वेदध्वनि के समय, अपेक्षया कम पवित्र वेदों का अध्ययन न करना, युक्तियुक्त ही है। इस के अतिरिक्त एक बात और है। सामवेद के देवता पितृगण हैं। पितरों का महत्त्व देवों, मनुष्यों की अपेक्षा बहुत अधिक माना गया है। जैसे पिता, पितामह आदि की अनुपस्थिति के समय पुत्र, पौत्रादि घर में ऊँघम मचाते हैं, चिल्लाते हैं, पर पिता आदि के आते ही सब चुप हो जाते हैं, अथवा पिता आदि गुरुजन जिस समय बोल रहे हों, उस समय पुत्र आदि चुपचाप होकर बैठे रहते हैं, वैसे ही पितृदेवत्व सामवेद अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली एवं गुरुस्थानीय होने से उस की ध्वनि जिस समय हो रही हो, उस समय अन्य वेदों का चुप रहना स्वाभाविक ही होना चाहिए। इसी दृष्टि से सामध्वनि के समय ऋक्, यजु के अध्ययन का निषेध किया गया हो, तो भी क्या आश्चर्य है ?

क्या सभी वाजसनेयशाखीय शूद्र हैं ?

(श्री श्रीधर शास्त्री वारे, काव्यतीर्थ, मीमांसक)

कलियुग के धर्म का वर्णन करते हुए ‘ब्रह्मपुराण’ में यह श्लोक आया है—“सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति द्विजा वाजसनेयकाः। शूद्रा भोवादिनश्चैव ब्राह्मणाश्चान्यवासिनः ॥” यही श्लोक ‘हरिवंश’ में थोड़े से पाठभेद से इसतरह मिलता है—“सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सर्वे वाजसनेयिनः। शूद्रा भोवादिनश्चैव भविष्यन्ति युगक्षये ॥” इसी के आगे दो श्लोक के बाद और एक श्लोक इस प्रकार है—“अन्या मध्ये निवत्स्यन्ति मध्याश्चान्यावासिनः। यथानिर्गन् प्रजाः सर्वा गमिष्यन्ति युगक्षये” (अ० १८४ श्लो० १३, १६)। इन श्लोकों का अर्थ विपरीत करके कुछ लोग वाजसनेयी (शुक्ल यजुर्वेदी) लोगों की हीनता दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। वे लोग इन श्लोकों का अर्थ यह करते हैं कि कलियुग में सब वाजसनेयी ब्राह्मण ब्रह्मवाद करनेवाले (वृथा वेदान्तवादी) होंगे, उदरभरण के लिए शूद्रों का भी उच्च पदों से सम्बोधन करेंगे और भले-बुरे देशों में रहेंगे। इसतरह का अर्थ करना अपनी अल्पज्ञता का

प्रदर्शन करना है। इन श्लोकों का वास्तविक अर्थ यह है कि कलियुग में सभी ब्राह्मण, फिर वे चाहे अधिकारी हों या अनधिकारी, ब्रह्मवाद करनेवाले होंगे अर्थात् ब्रह्मवाद का दम्भ करके कर्मभ्रष्ट होंगे। 'सर्वे' इस पद का 'मण्डूक्युतिन्याय' से आगे सभी पादों में अन्वय करने से पूर्वोक्त श्लोकों का अभिप्राय ध्यान में आयेगा, जो इस प्रकार है—कलिदोष के प्रभाव से विद्या, कुल और धन के मद के अधीन होकर अपने अपने वेद एवं उन उन शाखाओं का ब्राह्मण त्याग करेंगे और फिर पश्चात्ताप होने पर वेदों का आश्रय लेने के लिए वाजसनेयी होंगे अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद का अध्ययन करेंगे (कलौ माध्यन्दिनी शाखा कलौ चण्डीविनायकौ)। तात्पर्य यह कि कलियुग में सर्वत्र अधिकता से वाजसनेयी माध्यन्दिनी शाखा ही अस्तित्व में रहेगी। इसीतरह अधिकतर ब्राह्मण शूद्रों को उच्च पद से सम्बोधित करेंगे और मध्यदेश पुण्यभूमि का निवास छोड़कर म्लेच्छदेशों में रहने लगेंगे। यही वास्तविक अर्थ है, यह बात ऊपर उद्धृत 'हरिवंश' के वचनों से स्पष्ट प्रतीत होती है और इन श्लोकों की व्याख्या श्रीनीलकण्ठ चतुर्वर्ग ने भी इसीतरह की है। सारांश यह कि कलियुग में वाजसनेयी लोग अवशिष्ट रहेंगे, अतः उन के अस्तित्व की बात कलिधर्म-प्रसङ्ग में बतलायी गयी है। इस से वाजसनेयी निन्द्य कैसे ठहराये जा सकते हैं? अन्य वेदों का उच्छेद होने से कलियुग में वेदत्रय या वेदचतुष्टय से साध्य यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों का नाश होगा, यही बतलाने में व्यास भगवान् का तात्पर्य है।

"शूद्रा वाजसनेयिनः" इस वचन का अनुसरण करके दूसरा भी एक आक्षेप किया जाता है। अहिताग्नि श्री शङ्कर रामचन्द्र राजवाड़े ने 'सनातन वैदिक धर्म-मण्डल, पूना' इस संस्था के शाके १८४६ के तीसरे विवरणपत्र में उक्त वचन का लगभग इसतरह से उपयोग किया है कि मानो वाजसनेयी लोग जानबूझकर शूद्र होते हैं। शाके १८४६ में ही, श्री राजवाड़े से, जिस समय वे नासिक में प्रवचन करने के लिए आये थे, इस विषय में जब पूछा गया, तब उन्होंने कहा कि "निबन्धग्रन्थ सामिमान पौरुष ग्रन्थ होने के कारण उन में निर्मूल, अव्यवहार्य एवं विसङ्गत बातें भी देखने में आती हैं। उदाहरणार्थ—“शूद्रा वाजसनेयिनः” और “तैलङ्ग-कर्नाटकलिङ्ग सम्बन्धिनो माधुरियाश्च विप्राः। आद्रे विवाहे खलु यज्ञपाके न पूजनीया अपि शम्भुतुल्याः” आदि। ऐसे अव्यवहार्य वाक्य जिन निबन्धग्रन्थों में हों या जिन के मुख में हों, उन निबन्धग्रन्थों एवं उन वादियों को मैं अप्रमाण समझता हूँ। ये वाक्य कहाँ के हैं और किस अभिप्राय से उत्पन्न हुए हैं, इस का हमें पता नहीं है। अच्छे अभिप्राय से यदि वे वाक्य बने हों, तो हमारा उन के विषय में कुछ भी कहना नहीं है, पर यदि बुरे आशय से कोई उन का प्रयोग करता हो, तो अनुचित अभिप्राय से उपयोग करनेवाले उस ग्रन्थ का प्रामाण्य हमें मान्य नहीं है।” श्री राजवाड़े महोदय ने यह स्पष्टीकरण करके अपने मन की समतोल वृत्ति तथा सरलता व्यक्त की, यह उन के लिए भूषणावह है।

अब इस पर विचार करना आवश्यक है कि “शूद्रा वाजसनेयिनः” वाक्य मूलतः है कहाँ का और उस का वास्तविक अर्थ क्या है। श्री कमलाकर भट्ट ने 'शूद्रकमलाकर' में लिखा है कि यह वाक्य 'गौड़ निबन्ध' में दक्ष के नाम से उद्धृत किया गया है। उन्होंने उस का अर्थ भी इस प्रकार किया है कि “शूद्राणां पञ्चमहायज्ञाश्च भवन्ति, भार्यास्तः शुक्रिर्मृत्युभर्ता आदक्रियारतः। नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान् न हापयेत्”, इति याज्ञवल्क्योक्तेः। एतच्च 'मिताक्षरायां' स्पष्टम्। 'भारते' राजधर्मेषु 'तस्मात् शूद्रः पाकयज्ञ-यज्ञेतामृतवान् स्वयम्। दक्षिणा पाकयज्ञानां हिरण्यं तु विधीयते॥” ते च वाजसनेयिशाखायां कार्यः, 'शूद्रा वाजसनेयिनः' इति गौड़निबन्धे दक्षोक्तेः। हरिहरभाष्ये विवाहप्रकरणेऽप्येवमुक्तम्” अर्थात् शूद्रों को

पञ्च महायज्ञ करने का अधिकार है, क्योंकि याज्ञवल्क्य ने बतलाया है कि उन्हें नमस्कारमन्त्र से पञ्चमहायज्ञ करना चाहिए, परन्तु उन यज्ञों का अनुष्ठान न होने देना चाहिए। 'महाभारत' में राजधर्म में भी कहा गया है कि शूद्रों को पाकयज्ञों का अधिकार है। शूद्रों को सब कर्म वाजसनेयी शाखा के अनुसार करना चाहिए, यह बात गौड़-निबन्ध में दक्ष ने बतलायी है। 'हरिहरभाष्य' के विवाह-प्रकरण में भी ऐसा ही बतलाया गया है—“आर्षक्रमेण सर्वत्र शूद्रा वाजसनेयिनः। तस्माच्छूद्रः स्वकं कर्म यजुर्वेदीव कारयेत्” (शूद्रान्हिकाचारतत्त्व)। “शूद्रा वाजसनेयिनः” इस वाक्य में 'शूद्राः' पद उद्देश्य है और 'वाजसनेयिनः' यह पद विधेय है। वाजसनेयी यह संज्ञा मन्त्रनिमित्तक अर्थात् एतत्संज्ञक वेदनिमित्तक है। शूद्रों को वेदाध्ययन आदि का अभाव होने के कारण उन के लिए यह संज्ञा मुख्यार्थ से तो लागू नहीं हो सकती, अतएव लक्ष्यार्थ से यही वास्तविक अर्थ है कि शूद्र वाजसनेयी हैं अर्थात् वाजसनेयी (शाखा) के वेद के तन्त्रानुसार (अमन्त्रक ही, पर क्रियाकलाप की सरणी केवल वाजसनेयी लोगों की तरह) कर्मानुष्ठान करनेवाले हैं। इसतरह इस विषय के स्पष्टीकरण का हेतु यही है कि उपर्युक्त रीति से, अपने या पगये, किसी को भी उक्त वचन के विषय में फिर भ्रम न हो और वस्तुस्थिति ध्यान में आ जाय।

हिन्दू-स्त्रियों के लिए नया खतरा

(श्रीमती रानी ललिताकुमारी, विजयानगरम्)

हमारे धर्मशास्त्रों की रचना त्रिकालज्ञ महर्षियों ने की है। उन के आधार पर न्यस्त समाज-व्यवस्था में स्त्री को उस के योग्य उचित पद दिया गया है। छोटी होने पर कुमारीरूप से, विवाहिता होने पर सुहासिनीरूप में और पुत्रवती होने पर मातृ-रूप में उस का पूजन किया जाता है। मनु ने लिखा है कि पिता से माता का आदर हजारगुना अधिक करना चाहिए। उपासना में मातृ-भाव का बहुत प्राधान्य है। अन्य धर्मों में परमेश्वर को स्त्री हो सकने की कल्पना ही दुःसह है, पर हमारे विष्णु आदि भगवान् लक्ष्मी आदि देवियों के साथ पूजे जाते हैं। दोनों के जब एक साथ नाम लिये जाते हैं, तब प्रथम भगवती का नाम आता है। सभी स्मृतिकारों ने कुटुम्ब में स्त्रियों का सत्कार और सन्तोष रखने पर बहुत जोर दिया है। इस से स्त्री-वर्ग के विषय में हिन्दू-समाज में कितना आदर और पूज्यभाव है, यह स्पष्ट है। समाज के समुचित सञ्चालन के लिए स्त्री-पुरुष का कार्यक्षेत्र बँटा हुआ है। कौटुम्बिक जीवन में स्त्री का प्राधान्य है, वह 'गृह-लक्ष्मी' है, पर सामाजिक कार्यों में पुरुष का प्राधान्य माना गया है। दोनों में कभी संघर्ष का अवसर न आये, इसलिए परस्पर ऐक्य सम्पादित किया गया है। यह ऐक्य सिद्ध होने के लिए पत्नी के व्यक्तित्व का धर्म-बुद्धि और प्रेम-भाव से पति के व्यक्तित्व में लय होना आवश्यक समझा गया है। स्त्री-पुरुष-समस्या को हल करने के लिए हिन्दू-धर्मशास्त्रों की संसार को घेरे खास देन है।

भगवान् को आत्म-समर्पण कर देना भक्त की सब से बड़ी भक्ति है। स्त्री पति को आत्म-समर्पण करके प्रेम को पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है। वहाँ 'मेरे-तेरे' का भेद ही नहीं रहता और न कभी विलग होने की सम्भावना ही होती है। इस जन्म की कौन कहे, हिन्दूस्त्री की तो यह भावना रहती है कि जन्म-जन्मान्तर उस का अपने पति के साथ सम्बन्ध अटूट बना रहे। शास्त्रीय सिद्धान्तों की अनभिज्ञता के कारण यह उच्च आदर्श व्यवहार में कुछ विकृत अवश्य हो गया है। स्त्री की स्वाभाविक सरलता का लाभ

उठाकर पुष्ट उस पर अत्याचार करने लगा है। पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित कुछ लोग इस अत्याचार का बहाना लेकर हिन्दुसमाज-रचना में आमूल परिवर्तन करने जा रहे हैं। 'हिन्दू-उत्तराधिकार' तथा 'विवाहबिल' का परिणाम समाज के लिए घातक होगा। इन के द्वारा नये अधिकारों को प्राप्त कर हिन्दू-स्त्री सुखी न होगी। जो आदर्श धर्मशास्त्रों में स्थापित किया है, वह छिन्न-भिन्न हो जायगा और हिन्दू-स्त्री भी अपनी पाश्चात्य बहनों की तरह दरदर भटकती फिरेगी। यह उस के लिए नया खतरा उत्पन्न किया जा रहा है, जिस से मैं अपनी बहनों को सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझती हूँ। विवाह तथा उत्तराधिकार दोनों धार्मिक विषय हैं, उन में हस्तक्षेप करने का सरकार को कोई अधिकार नहीं है। यदि उन में कहीं दोष आ गया है, तो उसे आपस में ही मिलकर शास्त्रीय उपायों द्वारा दूर कर देना चाहिए। सरकार को यह अधिकार सौंपना भयानक भूल होगी। कहा जाता है कि स्त्रियों के हित के लिए ही ये कानून बनाये जा रहे हैं। हिन्दू-स्त्री को खूब विरोध करके दिखला देना चाहिए कि हमें ऐसा हित नहीं चाहिए, जिस में सुख का केवल आभास है। वास्तव में हमारा हित उसी मार्ग पर चलने में है, जिस को हमारे शास्त्रों ने बतलाया है। मुझे आशा है कि यदि स्त्रियों ने इन बिलों का विरोध किया, तो वे अवश्य रही की टोकरी में फँके दिये जायेंगे।

“उत्तराधिकार बिल का विषयवृक्ष”

(श्री देवीनारायण जी, पडवोकेट)

पिछले लेखों में दिखलाया जा चुका है कि इस समय हिन्दू-धर्मशास्त्र का क्या स्वरूप है तथा उत्तराधिकार की कैसी व्यवस्था है। अब अगले लेखों में यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि नवीन 'अप्रदत्त उत्तराधिकार बिल' हिन्दू संस्कृति तथा सङ्घटन को किस प्रकार निर्मूल तथा विघटित करना चाहता है। 'हिन्दू उत्तराधिकार बिल' में २३ धाराएँ हैं। इन के अतिरिक्त इस की भूमिका भी है। इस का समझना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए उसे नीचे दिया जाता है। 'युक्तप्रान्तीय सरकार' की ओर से बिल का जो हिन्दी अनुवाद प्रान्तीय गजट के ता० ५ फरवरी सन् १९४४ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है, इस लेख में वही अनुवाद दिया जाता है। भूमिका में कहा गया है कि “धर्मशास्त्र के उस भाग को संशोधित और सङ्गृहीत करने के लिए, जो बिना मृत्युलेख (वसीयत) किये उत्तराधिकार की प्राप्ति से सम्बन्ध रखता है, चूंकि यह उचित है कि उस सम्पूर्ण धर्मशास्त्र को, जो वर्तमान में ब्रिटिशभारत में प्रचलित है, क्रमशः संशोधित और सङ्गृहीत किया जाय, और चूंकि यह उचित है कि पहले उस साधारण कानून को, जो बिना मृत्युलेख किये उत्तराधिकार की प्राप्ति के सम्बन्ध में है, संशोधित और सङ्गृहीत किया जाय। इसलिए निम्नलिखित कानून बनाया जाता है।” इस तरह धर्मशास्त्रों में ‘संशोधन’ हो रहा है। इसाई, मुसलमान और केवल हिन्दूनामधारी कुछ हिन्दुओं—इन आधुनिक ऋषियों और मन्त्रद्रष्टाओं—द्वारा, अङ्गरेजी भाषा में हिन्दुओं के लिए नया धर्मशास्त्र रचा जा रहा है। यह हमारी संस्कृति में विष का ‘इन्जेक्शन’ दिया जा रहा है। यह बड़ी गहरी चाल है, जिस का हिन्दूजनता को पता तक नहीं है। इस के लिए समय भी बहुत उपयुक्त सोचा गया है। इस समय जनता भूखों मर रही है, शत्रु के भय से त्रस्त तथा पीड़ित है, जान-माल की रक्षा के लिए परेशान है, तब ६, ७ वर्षों के पुराने मेम्बरों की निर्जीव धारा-सभाओं की आड़ लेकर यह चाल चली जा रही है। इस कूटनीति-पूर्ण बिल धाराओं पर संक्षेप में विचार करने से हिन्दूसमाज पर इस बिल के घातक प्रभावों का पता लगता है।

धारा (दफा) १ में लिखा है कि यह ‘सम्पूर्ण ब्रिटिशभारत पर लागू होगा।’ उत्तराधिकार का विषय समस्त हिन्दुओं के लिए है, केवल ब्रिटिश भारत के हिन्दुओं के लिए नहीं। देशी राज्यों के हिन्दुओं पर यह कानून लागू न होने से बड़ी कठिनाइयाँ खड़ी हो जायँगी, क्योंकि देशी राज्यों तथा ब्रिटिश भारत के हिन्दुओं में परस्पर विवाह शादी होती है। देशी राज्यों के अतिरिक्त चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों को भी इस ने अलग कर दिया है। इस का क्या अर्थ है? क्या यह अखण्ड भारत का विभाजन नहीं है? एक ओर कहा तो यह जाता है कि समस्त हिन्दुओं के लिए समान कानून होने चाहिए और दूसरी ओर हिन्दू आबादीवाले प्रदेश ही अलग किये जा रहे हैं। अभी तक हजारों वर्षों से ‘मिताक्षरा’, ‘दायभाग’, ‘मयूख’ आदि के सिद्धान्तों से उत्तराधिकार चलता आया है, परन्तु उन के स्थान पर अब २३ धारावाला, नवीन धर्मशास्त्र तैयार किया जा रहा है। इस के फलस्वरूप कुछ समय में ‘मिताक्षरा’ आदि केल इतिहासरूप में रह जायँगे। इस धारा में यह भी कहा गया है कि यह कानून ‘कृषि की भूमि’ पर लागू न होगा। परन्तु यह भी एक धोखा ही है। बात यह है कि कृषि, केन्द्रीय नहीं, प्रान्तीय विषय है, इसलिए उस के विषय में कानून बनाने का अधिकार प्रान्तों को है। जहाँ एकबार केन्द्रीय धारासभाओं में ऐसा कानून पास हुआ कि प्रान्तीय सभाएँ वैसे ही कानून भूमि के सम्बन्ध में पास करने लग जायँगी।

धारा २ में परिभाषाएँ तथा व्याख्याएँ हैं। उस में ‘गोत्रज’ ‘बन्धु’, ‘उत्तराधिकारी’, ‘उत्तराधिकारोपभोग्य सम्पत्ति’, ‘सम्बन्ध होना’, ‘सोदर’, ‘पुत्र’, ‘जीधन’ आदि की परिभाषा दी गयी है। इन में कितने ही परिवर्तन किये गये हैं। ‘मूल बिल’ में जो अङ्गरेजी में है, ‘आगनेट’ और ‘कागनेट’ शब्द आये हैं। उन के आगे कोष्ठक में अर्थ दिया हुआ है—‘गोत्रज’ तथा ‘बन्धु’। इन की व्याख्या इस प्रकार की गयी है। (क) ‘कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का ‘गोत्रज’ कहा जाता है, यदि वे दोनों किसी एक ही पूर्वज के वंशज हों और पुरुषों ही की पीढ़ी में पैदा हुए हों। (ख) कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का ‘बन्धु’ कहा जाता है, यदि वे दोनों किसी एक ही पूर्वज के वंशज हों, किन्तु पुरुषों की ही पीढ़ी में पैदा न हुए हों।’ इस में विदेशी शब्द ‘आगनेट’ तथा ‘कागनेट’ को प्राधान्य दिया गया है और ‘गोत्रज सपिण्ड’, ‘भिन्न गोत्र’ या ‘सपिण्ड’ की कहीं चर्चा भी नहीं आयी है। कारण यह है कि विदेशों में पण्ड का भाग ही नहीं है। ‘आगनेट’, ‘कागनेट’ शब्दों से वह भाव कभी व्यक्त नहीं हो सकता। अङ्गरेजी मूल तथा हिन्दी अनुवाद में एक ही शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। ‘सपिण्ड’ शब्द निकालकर ‘आगनेट’ (गोत्रज) शब्द रखने में भी बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया गया है। हमारे यहाँ मनु, मिताक्षरा, दायभाग आदि धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में तथा प्रचलित कानून में ‘सपिण्ड’, ‘समानोदक’, ‘सकुल्य’, ‘भिन्न गोत्र सपिण्ड’ अथवा ‘बन्धु’ आदि जो शब्द आये हैं, वे धर्ममूलक हैं, क्योंकि उत्तराधिकार तथा दायविषय इहलोक, परलोक तथा साक्षात् धर्म से सम्बन्ध रखता है। मनु का वाक्य “अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्” यह हिन्दू उत्तराधिकार तथा विवाह की जड़ है। अब उस को हटाकर प्राचीन शब्दों की जगह ‘आगनेट’, ‘कागनेट’ शब्द रखे जा रहे हैं। हिन्दू-व्यवस्था में विदेशी भाव लाने का यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। ‘जीधन’ की परिभाषा भी अत्यन्त विचारणीय है। ‘हिन्दी अनुवाद में कहा गया है कि ‘जीधन से तात्पर्य उस सम्पत्ति से है, जिसे किसी स्त्री ने उत्तराधिकार में या इच्छापत्र (वसीयतनामा) द्वारा या विभाग के समय या निर्वाह के लिए निष्क्यात्मक दान के रूप में या निर्वाह के लिए धकाया के रूप में या जो उसे अपने विवाह के पहले या विवाह के समय या उस के बाद किसी सम्बन्धी या किसी अन्य व्यक्ति ने उपहार-स्वरूप दी हो या जिसे उस ने स्वयं अपने कौशल और प्रयत्न से प्राप्त किया हो, या जिसे

उस ने खरीदा हो या जो उसे किसी परम्परागत प्रथा से प्राप्त हुई हो, या जिसे उस ने किसी भी अन्य विधि से प्राप्त किया हो। यह परिभाषा इतनी व्यापक बना दी गयी है कि 'पुरुष-धन' तथा 'स्त्री-धन' में कोई भेद ही नहीं रहा। पहले ही दोनों का अधिकार तथा स्वत्व बराबर मान लिया गया है। स्त्रीधन का विषय धर्म-शास्त्रों में बड़ा गम्भीर तथा जटिल है। इस प्रकार की परिभाषा बनाकर उस के प्राचीन महत्व को नष्ट करना सर्वथा अन्याय है।

धारा ३ में यह बतलाया गया है कि यह कहाँ कहाँ लागू होगा। धारा ४, ५, ६ तथा ७ बहुत आवश्यक हैं, इसलिए उन को यहाँ दिया जा रहा है। "धारा ४—पुरुषों की उत्तराधिकारोप-भोग्य सम्पत्ति का उत्तराधिकार में पहुँचना—किसी ऐसे पुरुष की, जो बिना मृत्युलेख किये मर गया हो, उत्तराधिकारोप-भोग्य सम्पत्ति उन नियमों के अनुसार उत्तराधिकार में पहुँचेगी, जो इस एक्ट में दिये गये हैं—(क) उन उत्तराधिकारियों को, यदि कोई हो, जो धारा २ में क्रमबद्ध किये गये हैं, (ख) यदि क्रमबद्ध उत्तराधिकारियों में से कोई उत्तराधिकारी न हो, तो उस के गोत्रजों को, यदि कोई हो; (ग) यदि कोई गोत्रज न हो, तो उस के बन्धुओं को, यदि कोई हो; (घ) यदि कोई बन्धु न हो, तो उन उत्तराधिकारियों को, यदि कोई हो, जिन का उल्लेख धारा १० में किया गया है। धारा ५—क्रमबद्ध उत्तराधिकारी—किसी ऐसे व्यक्ति के, जो बिना मृत्युलेख किये मर जाय, निम्नलिखित सम्बन्धी क्रमबद्ध उत्तराधिकारी हैं—वर्ग १—माता, पिता, विधवा सन्तान तथा सन्तान की विधवा—(१)—माता-पिता, यदि वे उस व्यक्ति के आश्रित हों, जो बिना मृत्युलेख किये मर गया हो, विधवा, पुत्र, पुत्री, पूर्वमृत पुत्र का पुत्र तथा उस की विधवा और पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र का पुत्र (यहाँ जो उत्तराधिकारी दिये गये हैं, उन्हें इस के पश्चात् इस एक्ट में 'युगपद उत्तराधिकारी' कहाँ गया है) (२) कन्या का पुत्र (नाती), (३) पुत्र की कन्या (पोती), (४) कन्या की कन्या (नातिन)। वर्ग २—माता, पिता और उस की सन्तान—(१) माता, जबतक कि उस व्यक्ति की आश्रित होने के कारण, जो बिना मृत्युलेख किये मर गया है, उस ने वर्ग १ के उपविभाग १ में सम्मिलित होने के कारण उत्तराधिकार न पा लिया हो। (२) पिता, जबतक कि उस व्यक्ति के आश्रित होने के कारण, जो बिना मृत्युलेख किये मर गया है, उस ने वर्ग १ के उपविभाग में सम्मिलित होने के कारण उत्तराधिकार न पा लिया हो। (३) भाई। (४) भाई का पुत्र (भतीजा)। (५) भाई के पुत्र का पुत्र। (६) बहन। (७) बहन का पुत्र (भांजा)। (८) भाई की पुत्री (भतीजी)। (९) बहन की पुत्री (भानजी)। वर्ग ३—पितामही (दादी), पितामह (दादा) और उस की सन्तान—(१) पितामही, (२) पितामह, (३) चाचा, (४) चाचा का पुत्र, (५) पिता के भाई के पुत्र का पुत्र, (६) पिता की बहन का पुत्र। वर्ग ४—पिता के पिता की माता (प्रपितामही), पिता के पिता का पिता (प्रपितामह) और उस की सन्तान—(१) पिता के पिता की माता (प्रपितामही), (२) पिता के पिता का पिता (प्रपितामह), (३) पिता के पिता का भाई (पितामह का भाई), (४) पिता के पिता के भाई का पुत्र (पितामह के भाई का पुत्र), (५) पिता के पिता के भाई के पुत्र का पुत्र (पितामह के भाई का पुत्र), (६) पिता के पिता की बहन का पुत्र (पिता की बूआ का पुत्र)। वर्ग ५—माता की माता (मातामही), माता का पिता (मातामह) और उस की सन्तान—(१) माता की माता (मातामही), (२) माता का पिता (मातामह), (३) माता की भाई (मामा), (४) माता के भाई का पुत्र (मामा का पुत्र),

(५) माता के भाई के पुत्र का पुत्र (मामा का पोता), (६) माता की बहन का पुत्र (मौसी का पुत्र)।"

धारा ४ तथा ५ के देखने से साफ मालूम पड़ता है कि यह मुसलमानों के उत्तराधिकार-क्रम की नकल की गयी है और आगे की धाराओं से यह बात और स्पष्ट हो जायगी।

"धारा ६—क्रमबद्ध उत्तराधिकारियों में उत्तराधिकार का क्रम—क्रमबद्ध उत्तराधिकारियों में से किसी एक वर्ग के उत्तराधिकारियों को उस के बाद के किसी वर्ग के उत्तराधिकारियों के समक्ष में पूर्व को उत्कर्ष दिया जायगा और प्रत्येक वर्ग के उत्तराधिकारियों में पूर्व के उपविभाग के उत्तराधिकारियों को गौरव दिया जायगा और एक ही उपविभाग में सम्मिलित उत्तराधिकारियों को युगपद अर्थात् एक साथ अधिकार मिलेगा।

उदाहरण

(१) किसी व्यक्ति के, जो बिना मृत्युपत्र किये मर गया है, जीवित सम्बन्धी उस की विधवा स्त्री, उस की माता और उस के पिता के पिता अर्थात् दादा हैं। उस की माता, जो वर्ग २ में है और पिता, जो वर्ग ३ में है, सम्पत्ति नहीं पायेंगे, परन्तु विधवा, जो वर्ग १ में है, पायेगी। (२) जीवित सम्बन्धी दो पुत्रियाँ और एक पोती हैं। पुत्रियाँ, जो वर्ग १ के उपविभाग १ में हैं, अधिकारिणी होंगी न कि पोती, जो इसी वर्ग के उपविभाग ३ में है। दोनों पुत्रियाँ एक साथ हिस्सा पायेंगी। (३) जीवित सम्बन्धी एक विधवा, दो पुत्र, तीन लड़कियाँ, पूर्वमृत पुत्र से दो पोते और पूर्वमृत एक दूसरे पुत्र के पूर्वमृत पुत्र से एक प्रपौत्र। इस में वर्ग १ उपविभाग, १ में होने के कारण सब हिस्सा पायेंगे।"

इस में सब हिस्सा तो पायेंगे, परन्तु कौन कितना पायेगा, इस का पूर्ण विवरण धारा ७ में दिया गया है, जो आगामी लेख में दिखलाया जायगा। परन्तु इस में भी मुसलमानों के उत्तराधिकार की पूरी नकल की गयी है। वहाँ लड़कियों को लड़कों का आधा मिलता है, यहाँ भी ऐसा ही है। वहाँ माता-पिता को छठा हिस्सा है, यदि पुत्र नहीं है, यहाँ आठवाँ हिस्सा है। शरीयत की तरह हिन्दू को जायदाद के खूब टुकड़े किये जायेंगे। मोतीचूर का लड्डू टूटेगा, तभी सब मोती चुनेंगे।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—नवीन जातिभेद (सर्पादकीय)	२५
२—शास्त्र या अनुभव? (टिप्पणी)	२५
३—स्त्रियों की विक्री (,,)	२६
४—प्रभुप्रेम से भय-निवृत्ति (श्री स्वामी करपात्री जी)	२६
५—चित्त-विश्रान्ति ३ (श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती एम्. ए.)	२७
६—सामवेद की शुचिता (एक सामवेदी)	२८
७—क्या सभी राजसनेयशास्त्रीय शूद्र हैं? (श्री श्रीधर शास्त्री वारे, काव्यतोर्थ, मीमांसक)	२९
८—हिन्दू-स्त्रियों के लिए नया खतरा (श्रीमती रानी ललिताकुमारी, विजयानगरम्)	३०
९—"उत्तराधिकार बिल का विषयवृक्ष" (श्री देवीनारायण जी एडवोकेट)	३१

सिद्धान्त

“जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क ५]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,]
स० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी]

काशी—वैशाख शुक्ल १० सं० २००१
मङ्गलवार, ता० २ मई, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
{ विशेष ५), एक प्रति का -)

विवाह का भविष्य

इसाई धर्म में ‘रोमन कैथलिक’ सम्प्रदाय परम्परावादी है। उस में विवाह धार्मिक बन्धन है, तलाक की स्वतन्त्रता नहीं है, सदाचार के नियम बने हुए हैं। यद्यपि उन के अनुयायियों में व्यवहार की गड़बड़ी होती रही, पर तब भी स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्ध में एक मर्यादा बँधी रही। परन्तु ‘प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय’ के प्रादुर्भाव होने पर सभी बन्धनों को तोड़ने तथा प्राचीन परम्परा को छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। ‘इंग्लैण्ड के चर्च’ की नींव एक व्यसनी बादशाह की कामवासना पूर्ति के लिए डाली गयी। मशीनों के प्रचार, औद्योगिक जीवन की बहुलता तथा स्वतन्त्रता के भावों ने जोर पकड़ा और पाश्चात्य देशों में ‘न्यू मोरैलिटी’ नाम से एक ‘नवीन सदाचार’ चल पड़ा। इस का मूल तत्व यह है कि जैसे मूख और प्यास को बुझाने के लिए मनुष्य साधारण उपायों से काम लेता है, उसी तरह कामवासना चरितार्थ करने के लिए सहज उपायों को ग्रहण करना स्वाभाविक तथा उचित समझना चाहिए। इस नवीन सिद्धान्त के अनुसार पुरुष और नारी में प्रेम एवं काम का ही सम्बन्ध रहना आवश्यक तथा उचित है। इस के अनुसार नर-नारी परस्पर मनमाना सम्बन्ध जोड़ने के लिए स्वतन्त्र है, इस में उन के माता-पिता या समाज को दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। इस सिद्धान्त ने पश्चिम में विवाह को एक तमाशा बना दिया है। डनवर अमरीका का एक छोटा शहर, जिस की आबादी २ लाख है। यहाँ श्री लिण्डसे ‘जुविनाइल कोर्ट’ (बाल न्यायालय) के २६ साल तक जज थे। इस पद के कागण आपको हजारों लड़कें-लड़कियों के सम्पर्क में आना पड़ता था। आपने अपने अनुभव ‘दि गिवोल्ट आफ मार्डन यूथ’ (आधुनिक युवकों का विद्रोह) नामक पुस्तक में दिये हैं। उस में एक स्थान पर आप का कहना है कि “इस शहर के ‘हाई स्कूल’ में पढ़नेवाली लड़कियों में से ४९५ ने यह स्वीकार किया कि उन का लड़कें के साथ नाजायज सम्बन्ध था।” इन में केवल उन्हीं लड़कियों की संख्या है, जिन की अवस्था १४, १५, १६, तथा १७ साल की थी। जिन लड़कियों ने अपना अपराध स्वीकार नहीं किया और जिन की अवस्था १७ साल से ऊपर की रही, यदि उन को भी शास्त्रित किया जाय तो वहाँ के समाज में ‘नवीन सदाचार’ के प्रसार का अनुमान लग सकता है। आगे चलकर आप लिखते हैं कि “यह बात केवल उसी नगर की ही नहीं है, अमरीका के प्रत्येक नगर में यही दशा है।” एक दूसरे अमरीकन लेखक श्री काल-वर्टन ने ‘दि वैङ्गारपी आफ मैरिज’ नामक अपनी पुस्तक में सैकड़ों उदाहरण देकर यह दिखलाया है कि आजकल वहाँ ‘विवाह का दिवाला’ पिट रहा है। तलाक का अधिकार स्वीकार कर लेते ही ‘एक पुरुष या एक स्त्रीविवाह’ का कोई अर्थ ही न रह गया।

जो जब चाहे एक दूसरे को छोड़ सकता है और जितने चाहे नवीन सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। आप लिखते हैं “कि ‘नवीन सदाचार’ के प्रसार ने तो विवाह की पवित्रता को सर्वथा नष्ट कर दिया है और इस के अनुसार विवाह संस्था की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गयी है।” इंग्लैण्ड के विख्यात लेखक श्री वेस्टरमार्क ने, जिन्होंने बड़ी बड़ी तीन जिल्दों में ‘विवाह का इतिहास’ लिखा है, अपनी अन्तिम पुस्तक ‘दि फ्यूचर आफ मैरिज’ (विवाह के भविष्य) में इसी बात पर चिन्ता प्रकट की है। अन्य कई विचारशील विद्वान भी इसी चिन्ता में पड़े हुए हैं कि महायुद्ध के पश्चात परस्पर नर-नारी सम्बन्ध फिर कौन रूप धारण करेगा।

पश्चिम की यह दशा है, और इधर हम धीरे धीरे उन्हीं सिद्धान्तों को अपनाना चाहते हैं। आधुनिक शिक्षा द्वारा ‘नवीन सदाचार’ का पाठ हमें भी पढ़ाया जा रहा है। अब सरकार प्रत्यक्ष रूप से इस में सहायक बन रही है। यदि ‘उत्तराधिकार बिल’ द्वारा हिन्दू धर्मशास्त्रों में इसलामी सिद्धान्त घुसेड़े जा रहे हैं तो ‘विवाह बिल’ द्वारा ‘नवीन सदाचार’ की जड़ मजबूत की जा रही है। शिक्षा के प्रभाव स्वरूप ही जो स्थिति उत्पन्न हो गयी है, उसी से समाज की दुर्दशा हो रही है, मनमानी करने का कानूनी अधिकार मिलने से तो कोई ठिकाना ही न रहेगा। स्त्रियों के प्रति कठोर होने का प्राचीन विचारवाले हिन्दू समाज पर कलङ्क लगाया जाता है, परन्तु नव शिक्षित सुधारवादियों की उन के प्रति कठोरता क्रूरता को भी लज्जित कर रही है। नवीनता के पूजकों में विवाह एक व्यवसाय हो रहा है। लड़की के पिता को पहले अपनी पुत्री की प्रदर्शनी करनी पड़ती है, भावी पति या उस के परिवार का कोई व्यक्ति उसे चलाकर, हँसाकर, लिखा पढ़ाकर, गवा-नचाकर देखता है, उस की लम्बाई, चौड़ाई, मोटापन, दुबलापन, नख-शिख आदि के विषय में जाँच-परताल करता है। यह सब देखकर बाजार में बिकनेवाली दासियों की क्या याद आये बिना रह सकती है? पति होने के इच्छुक युवकों की मनोवृत्ति के विषय में तो कहना ही क्या है? वे प्रायः पत्नी के भरणपोषण का भार ग्रहण करने के पहले लड़की के पिता से भारी रकम वसूल करना चाहते हैं। एक विलायत जाने का खर्च चाहता है, दूसरा यूनीवर्सिटी की पढ़ाई खेतम करने के लिए रुपया चाहता है, तीसरा व्यापार के लिए प्रचुर धन माँगता है। उपाधिधारी बेकार युवक भी विवाह के बाजार में अपने आप को ऊँची से ऊँची बोली के लिए नोलास पर चढ़ाये हुए हैं। क्या यह क्रय-विक्रय—यह व्यवसाय—स्त्री या पुरुष किसी के भी लिए पवित्र बन्धन हो सकता है? शिक्षित कहे जानेवाले पति ही सीधी-साधी पत्नियों का परि-त्याग कर रहे हैं। क्या स्त्रियों के प्रति यही न्याय है? विवाह समाज की जड़ है, उस के साथ खिलवाड़ करना सारे समाजको नष्ट करना है। जो पाश्चात्य आदर्शों के लिए उतावले हो रहे हैं,

गीता की नवीन व्याख्याएँ

(श्री स्वामी करपात्री जी)

उन्हें पश्चिम के ही इतिहास पर दृष्टि डालनी चाहिए और त्यों की वर्तमान परिस्थिति देखना चाहिए। इतिहास में यह देखा गया है कि जिस समाज में विवाहप्रथा तथा वंशवृद्धि के व्यापार में नैतिक शिथिलता एवं स्वेच्छाचारिता आ गयी, उस समाज की अवनति अनिवार्य रूप से हुई है। 'यूजनिक्स विज्ञान' के प्रवर्तक प्रैंसिस गाल्टन साहब का दृढ़ मत है कि "विश्वविक्षात एथीनियन जाति के अधःपतन के मूल में सामाजिक दुराचरण का प्राबल्य ही प्रधान कारण है। इस के प्राबल्य से विवाहप्रथा शिथिल पड़ गयी, जिस के परिणामस्वरूप प्रतिभाशाली, विचारशाल नेतृत्व के उपयुक्त शक्तिशाली पुरुषों का उद्भव होना दुर्लभ हो गया।" (हेरीडिटी जीनियस, पृष्ठ ३३१) इसी प्रकार, रोमन साम्राज्य के अवनति के दिनों में भी विवाहप्रथा के मूल में कुठाराघात हुआ था। प्रसिद्ध विद्वान लेकी साहब का कहना है कि "रोमन लोगों में दुराचारिणियों को अत्यधिक सम्मान दिया जाने लगा था। इस के परिणामस्वरूप समाज से विवाहप्रथा उठ सी गयी।" रोम के वैभव काल में वैवाहिक दुर्नीति चरम सीमा तक पहुँच गयी थी और उसी समय से उस का पतन होना भी आरम्भ हुआ। 'सोशल इवोल्यूशन' (सामाजिक विकास) के लेखक वेजामिन किड का भी मत है कि "रोमन जाति के अधःपतन के मूल में यही सामाजिकदुर्नीति प्रधान कारण थी।" पाश्चात्य देशों की वर्तमान परिस्थिति भी यही दिखलाई रही है। इस ऐसा स्वतन्त्रतावादी देश भी 'नवीन सदाचार' का कटु अनुभव करके पीछे कदम हटा रहा है।

हमारे शास्त्रों में विवाह का आदर्श बड़ा उच्च रखा गया है। वह स्त्री-पुरुष के चिन्तन ऐक्य की गॉठ है। 'विवाह बिल' उसी को ढीला करने जा रहा है। यदि वह पास हो गया तो इस में सन्देह नहीं कि अपने यहाँ भी विवाह का भविष्य अन्धकारमय होगा।

विरोध की अवधि

नये बिलों के विरोध में हिन्दू जनता में बड़ा उत्साह दिखाया जा रहा है। 'धर्मसंघ कार्यालय' में सहस्रों स्त्री-पुरुषों के हस्ताक्षर सहित विरोध-पत्र प्रतिदिन आ रहे हैं। उसे देखकर सफलता की बहुत कुछ आशा होती है। परन्तु सब से भारी अड़चन समय की है। अधिकांश प्रान्तों में 'उत्तराधिकार बिल' पर मत देने की अन्तिम तारीख ३० अप्रैल रखी गयी, कुछ प्रान्तों में अवधि १५ अप्रैल को ही समाप्त हो गयी। परन्तु इस का ध्यान न करके विरोध-पत्र बराबर-मेजते रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों से लिखा-पढ़ी हो रही है। 'विरोध-पत्र' बराबर पहुँचते रहने से हमें सरकार से यह कहने का अवसर मिलेगा कि अवधि और बढ़ायी जाय। नवीन बिलों की जानकारी न होने से जनता उन के प्रति उदासीन है। जब उन के घातक परिणामों का पता लगता है, तो अधिकांश लोग तिल-मिला उठते हैं। 'धर्मसंघ कार्यालय' में प्रतिदिन पत्रों का ताँता लगा रहता है। उन से लोगों के हृदयदगार का आभास मिलता है। यदि कुछ मास तक का समय मिल जाय तो यह आन्दोलन बहुत प्रबल हो सकता है। यदि सरकार अवधि न बढ़ाये तो केन्द्रीय असेम्बली के सभापति को हस्ताक्षरसहित प्रार्थनापत्र भेजकर भी विरोध प्रकट किया जा सकता है। इस विषय पर भी विचार हो रहा है। सच्चे लोकतन्त्र में लोकमत प्रकट करने के लिए अधिक से अधिक सुविधाएँ होनी चाहिए। परन्तु अजकल का ढङ्ग ऐसा है कि वास्तविक लोकमत प्रकट करने में सैकड़ों बाधाएँ डाली जाती हैं। केवल एक ही बिल के विरोध में लाखों रुपया खर्च करने से भी काम नहीं बनता। भारत ऐसे गरीब देश के लिए ऐसी शासकव्यवस्था सचमुच बड़ी कष्टप्रद है। परन्तु जब सिर पर आ पड़ती है, तब सब कुछ करवा ही पड़ता है। हमें अपना प्रयत्न किसी प्रकार शिथिल नहीं करना चाहिए। यदि जायति उत्पन्न हो गयी है, तो कभी सफलता भी मिलेगी।

गीता का आज-कल बहुत प्रचार हो रहा है, यह हर्ष का विषय है। पर साथ ही साथ उस के अर्थ का अनर्थ भी किया जा रहा है। इसका नमूना हाल ही में प्रकाशित 'गीताप्रवेश नामक' एक पुस्तक में हमें मिलता है। "अशौचानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञा। वादांश्च भाषसे, गतासूनगतासूंश्चनानुशोचन्ति पण्डिताः॥" यहाँ भगवान् कृष्णचन्द्र का यह प्रथम वाक्य अर्जुन को शोकमोह-रहित बनाने के लिए प्रवृत्त हुआ है। भगवान् कहते हैं कि "अर्जुन, तुम न सोचनेयोग्य भीष्मादिकों के सम्बन्ध में सोचते हो और पण्डितों की सी बातें करते हो। पण्डित लोग जीवित और मृत प्राणियों के विषय में सोच नहीं करते। भीष्म आदि का आत्मा नित्य है इसलिए शोच्य नहीं है। शरीर अनित्य है, अवश्य ही कभी अन्त होनेवाला है। मरने के बाद भीष्मादि की दुर्गति होगी यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे सदाचारी एवं धर्मात्मा हैं। युद्ध में प्राणत्याग कर वे सीधे स्वर्ग जायेंगे। इस तरह आत्मदृष्टि, देहदृष्टि, परलोकदृष्टि किसी भी तरह वे शोच्य नहीं हैं। फिर उन के लिए शोक करना कहाँ तक उचित है?" आचार्य श्री शङ्कर, श्री रामानुज आदिकों के लगभग इसी ढङ्ग के व्याख्यान हैं, परन्तु इस पुस्तक में कहा गया है कि "इस तरह की व्याख्या सङ्गत नहीं है। यदि आत्मा के नित्य एवं शरीर के अनित्य होने से भीष्मादि अशोच्य हैं, तब तो गवादिवध में भी पाप न होना चाहिए, क्योंकि उन का भी आत्मा नित्य और शरीर अनित्य है। ऐसा विचार करने पर ज्ञात होगा कि भीष्मादि की अशोच्यता में आत्मा की नित्यता एवं शरीर की अनित्यता हेतु नहीं बन सकती। भीष्मादि का सद्वृत्त होना भी अशोच्यता का कारण नहीं, क्योंकि सद्वृत्त के मरने में और अधिक शोच किया जाता है अतः शङ्कर, रामानुज आदि की व्याख्या सर्वथा असमीचीन है। यहाँ भीष्मादि को आततायी होने के कारण ही अशोच्यता कही गयी है। आततायी ही आततायी के स्वजन होते हैं। अतः भीष्मादि स्वजन भी नहीं।" इस कथन पर विचार करने से यही जान पड़ता है कि यह गीता एवं उस के भाष्य का तात्पर्य न समझकर प्रलाप मात्र है। वस्तुतः आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता ही अशोच्यता का कारण है। इस दृष्टि से गवादि भी अशोच्य ही हैं। रही पुण्य-पाप की बात, सो तो गवादिवध निषिद्ध होने से पाप का प्रयोजक है। संग्राम में भीष्मादिवध निषिद्ध नहीं है, अतः वह पाप का प्रयोजक नहीं। यदि कहा जाय "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इत्यादि वचनों से प्राणिमात्र की हिंसा निषिद्ध है, अतः भीष्मादिवध से भी पाप की उत्पत्ति होती है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'न हिंस्यात्' यह सामान्य शास्त्र है। "तस्मात् युद्धयस्व भारत," "अथ चेत्वमिमं धर्मं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पाप-मवाप्स्यसि।" अर्जुन, तुम युद्ध करो यदि धर्मयुक्त संग्राम न करो तो स्वधर्म और कीर्ति को छोड़कर केवल पाप के भागी होंगे। इन विशेष वचनों से सामान्य वचन बाधित हो जाते हैं। इस तरह संग्राम में वध निषिद्ध नहीं है, गवादिवध निषिद्ध है। भीष्मादिवध से गवादिवध में वैषम्य है। आततायी के वध से दोष नहीं है, यह भी 'नाजतायि वधे दोषः' इत्यादि वचनों से ही सिद्ध है। आततायी कोई जाति नहीं होती, जन्म से ही भ्राता, पिता, पिता-महादि का सम्बन्ध होता है। आततायी के भी स्वजन वही रहते हैं इन के कोई नये स्वजन-सम्बन्ध नहीं होते हैं। यहाँ भी 'न हिंस्यात्' को सङ्कुचित करना होगा। ऐसी स्थिति में "आहूतो न निबर्तेत घृतावपि रणादपि" इत्यादि वचनों के बल से युद्ध में वध

केवल धर्म ही है। निषिद्ध न होने से उस में पाप की कल्पना को अवकाश ही नहीं रहता। इसीलिए भाष्यकारों ने इन बातों को उठाया ही नहीं। अर्जुन ने जिन भीष्मादिकों को महाबुभुक्षु एवं पूजनीय बतलाया है, उन्हें 'आततायी' कहना केवल अज्ञता है। 'महाबुभुक्षु है, पूज्य है' यह भीष्मादि के सम्बन्ध में अर्जुन के वचन हैं। इस के अतिरिक्त देखना यह है कि अर्जुन की क्या शङ्का थी, किसलिए शोक था और भगवान् ने किसलिए क्या कहा और क्या क्या बतलाया? अर्जुन की यह शङ्का नहीं थी कि संग्राम में भीष्मादि को मारने से पाप होगा, क्योंकि इस का निर्देश अर्जुन ने कहीं भी नहीं किया। प्रत्युत अर्जुन सोचता था कि अपने पूज्य भीष्मादि का वध करने से उन्हें कष्ट होगा, वे मर जायेंगे। शोक, मोह आदि अज्ञान के कार्य हैं, प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञान हुए बिना अज्ञान तथा शोक-मोह की निवृत्ति नहीं होगी। इसीलिए भगवान् ब्रह्मात्मज्ञान का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हुए, आत्मा की अशोच्यता बतलाते हैं। आगे चलकर भी भगवान् आत्मा की नित्यता और देहादि अनात्मा की अनित्यता दिखलाते हैं—“नैनं छिन्दन्ति”, “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरि हाप्यर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि”, “तत्र का परिदेवना” इत्यादि वचनों से स्पष्ट ही आत्मा को अच्छेय, अदाय, अशोच्य आदि बतलाकर शरीर को अनित्य कहकर शोक करना मना किया है। शोक मिटने का परम कारण ज्ञान ही है, यह 'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि' इत्यादि वचन से बतलाया गया है। शोकनिवर्तक ज्ञान का मुख्य विषय ही अनात्मा का अनित्यत्व, मिथ्यात्व, आत्मा का नित्यत्व, असङ्गत्वाद ही है। उसी का गीता में प्रतिपादन भी है, फिर उसे छोड़कर अश्रुत किसी कारणक अर्थ का क्या मुख्य हो सकता है? “अशोच्यानन्वशोचस्त्वं” इस उपक्रम का 'मा शुच' इस उपसंहार “नैनं शोचितुमर्हसि, तत्र का परिदेवना” इत्यादि अभ्यासों से यही जान पड़ता है कि शोक एवं तदुपलक्षित संसार की निवृत्ति ही गीता शास्त्र का परम प्रयोजन है। उस का परम कारण ब्रह्मात्मज्ञान ही सर्वप्रसिद्ध है। “तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः” इत्यादि श्रुति में एकत्वदर्शन से शोक-मोह की निवृत्ति कही गयी है। “नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते स्तः” इस गीता वचन से भी आत्मा की असत्यता एवं अनात्मा की सत्ता का ऐकान्तिक अभाव बतलाया गया है। “अविनाशि तु तद्विद्धि”, “अन्तवन्त इमे देहा” इन दोनों वचनों से उसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। यही मुख्य ज्ञान है, इसी से शोकादि की निवृत्ति होती है। इसीलिए भाष्यकारों ने उसी बात को सामने रखकर भीष्मादि की अशोच्यता की व्याख्या की है। परन्तु इन को छोड़कर नये ग्रन्थों में मनमानी व्याख्या की जा रही है। इस से गीता के अध्ययन से उपकार होना तो दूर रहा अपकार ही अधिक होगा।

अनुभूति-प्रकाश

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

एक तत्त्वनिष्ठ की भावना है कि मायामोहजाल से जड़ित, विद्या-अविद्या के विवेक में अक्षम, ऐहिक सुखार्थी, यथार्थतः अज्ञानी, दुःखी मनुष्य अनित्य स्त्री-पुत्रादि की कामना से संसार में निमग्न रहे, परन्तु प्राप्य-प्राप्तिपूर्वक कृतकृत्य तमा तप्त, परमानन्द से परिपूर्ण मैं किस वस्तु की इच्छा से संसार में आसक्त होऊँ अर्थात् मुझ निरपेक्ष का संसार-धर्म से कुछ प्रयोजन नहीं है—“दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया। परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥” स्वर्गादि-फलभोग-कामना-विशिष्ट पुरुष यज्ञादि कर्मानुष्ठान करके तृप्त हों, पर समस्त लोको का स्वरूप तत्त्वज्ञानी मैं क्यों किस कर्म को, किस प्रकार कहूँ अर्थात् परलोकार्थ कर्म भी

मुझे कर्तव्य नहीं है—“अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः। सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥” परार्थ प्रवृत्तिवाले लोग शास्त्रों की व्याख्या करें या वेद पढ़ायें, क्योंकि वे इस के अधिकारी हैं, परन्तु मैं तो ज्ञानपरिपाकवश अक्रिय अर्थात् वाणी के व्यापार का अकर्ता हूँ, अतः मेरा तो इस में अधिकार ही नहीं है—“आचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा। येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥” स्वरूपतः मैं निद्रा वा देहक्षार्थ भिक्षाटन अथवा परलोकार्थ स्नान अथवा और किसी भी संस्कार की इच्छा नहीं करता और आचरण भी नहीं करता, तथापि यदि द्रष्टा लोग मेरे में यह सब कल्पना करें, तो अन्यो की कल्पना से मेरा क्या अनिष्ट होगा? अर्थात् वैसी कल्पना मेरी बाधक नहीं है—“निद्रामिक्षे स्नान-शौचे नेच्छामि न करोमि च। द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्य-कल्पनात् ॥” कदाचित् कहा जाय कि अन्य की कल्पना से भी बाध होता है, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि एकत्रित गुञ्जासमूह को दूर से यदि कोई अग्नि समझ ले, तो भी वे दग्ध करने में समर्थ नहीं होते, इसी प्रकार यद्यपि मेरे में अन्य पुरुष संसार-धर्म का आरोप भी करें, तो उस से मैं संसारो नहीं हो जाऊँगा—“गुञ्जापुञ्जादि दग्धे नान्यारोपितवह्निना। नान्यारोपितसंसारधर्मानिवमहं भजे ॥” अज्ञात-तत्त्वज्ञानी लोग श्रवणादि साधनों का अनुष्ठान करें, परन्तु साक्षात् परब्रह्म को जानकर क्यों मैं पुनः श्रवणादि कहूँ? तत्त्व ऐसा है या अन्य प्रकार, का ऐसे संशयापन्न पुरुष मनन-साधन करें, पूर्वोक्त संशय-रहित मैं क्यों मनन कहूँ अर्थात् अज्ञान के अभाव से श्रवण, मनन आदि का कर्ता भी मैं नहीं हो सकता—“शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्। मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥” विपरीतज्ञानी लोग विपरीत ज्ञान की निवृत्ति के लिए निदिध्यासन करें, पर विपरीतज्ञानरहित मैं फिर किस कारण निदिध्यासन कहूँ? अर्थात् विपरीत ज्ञान के अभाव से मुझे निदिध्यासन करना निष्फल है। देह में आत्मत्वज्ञानरूप विपर्यय ज्ञान अर्थात् देह आत्मा है, ऐसा विपरीत ज्ञान मैं नहीं भजता हूँ अर्थात् वह मुझे कभी भी नहीं होता है—“विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानं विपर्ययात्। देहात्मत्वविपर्ययसं न कदाचिज्ज्ञाम्यहम् ॥” यदि कहा जाय कि विपरीत ज्ञान के अभाव में मैं मनुष्य हूँ ऐसा व्यवहार कैसे सम्भव हो सकता है? तो इस का समाधान यह है कि वैसे विपरीत ज्ञान के बिना भी चिरकाल के अभ्यासज संस्कारवशात् प्राग्व्यकर्मानुसार ज्ञानियों में भी कदाचित् मैं मनुष्य हूँ ऐसा व्यवहार हुआ करता है—“अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम्। विपर्ययसं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥”

यदि किसी को प्राग्व्यनिमित्त व्यवहार ज्ञान-विरोधी बोध हो और उस की निवृत्ति के लिए ध्यानसाधन ही उसे अभीष्ट हो, तो ध्यानानुष्ठान उस को विधेय है, परन्तु उसी व्यवहार को ज्ञानविरोधी देखता हुआ मैं क्यों ध्यान कहूँ? अर्थात् मेरी दृष्टि में ज्ञानी का व्यवहार ज्ञानस्थिति का बाधक नहीं है—“विरलत्वां व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥” क्योंकि मेरे अन्तःकरण में कुछ भी विक्षेप नहीं है, अतः विक्षेप की निवृत्ति के लिए मुझे समाधि के अभ्यास का प्रयोजन है? विक्षेप या समाधि, ये दोनों विकारी मन के ही धर्म हैं—“विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम। विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद् विकारिणः ॥” परम ज्ञानावुभव द्वारा नित्य अनुभव रूप मेरे से पृथक् अनुभव (ज्ञान) कौन सा है? अर्थात् कोई नहीं है। नित्य सुखप्राप्तिपूर्वक मैं कृतकृत्य हूँ—केवल ऐसा ही मेरा निश्चय है—“नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्। कृतं कृत्यं प्रापयार्थं प्राणमित्येव निश्चयः ॥” यदि अन्यो की दृष्टि में प्राग्व्यवस्थात् लौकिक भिक्षाहादि, शास्त्रीय जपध्यानादि या कदाचित् हिंसादि प्रतिषिद्ध व्यवहार मेरे में होने लगे, तो उस से मेरी कुछ हानि नहीं है, क्योंकि मैं अकर्ता निर्लोपस्वरूप हूँ—“व्यवहारो लौकिको वा

शास्त्रीयोऽप्यन्यथापि वा । ममाकर्तुरेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥
अथवा कृतकृत्य होकर भी यदि संस्कारलेशवशात् में प्राणियों के
अनुग्रह की कामना से शास्त्रीय व्यवहार में प्रवृत्त होऊँ, तो मेरी क्या
हानि है ? अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है—“अथवा कृतकृत्योऽपि
लोकांनुग्रहाय । शास्त्रीयेणैव मार्गेण चतुर्हं काम क्षतिः ॥”
मेरा शरीर देवपूजन, स्नान, शौच या भिक्षादि में प्रवृत्त रहे, वाणी
प्रणवजप वा उपनिषत्-पाठ में निविष्ट रहे, बुद्धि सर्गव्यापक तत्त्व का
ध्यान करे वा ब्रह्मानन्द में विलीन हो जाय, नित्य, शुद्ध, साक्षी, चैत-
न्यस्वरूप मैं किसी कर्म में स्वयं प्रवृत्त नहीं होता हूँ या किसी को कर्म
में प्रवृत्त भी नहीं करता हूँ—“देवाचर्चन-स्नान-शौच-भिक्षादौ वर्ततां
चपुः । तारं जपतुवाकृतं त्रयलब्धवान्नायमस्तकम् ॥ विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा
ब्रह्मानन्दे विलीयताम् । साध्यं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥”

हमारे सिद्धान्त

(आचार्य पीठाधिपति श्रीराधवाचार्य स्वामी जी)

सनातन-धर्म के सिद्धान्त क्या क्या हैं ? यह प्रश्न बहुधा लोगों
के हृदय में उठा करता है । इस प्रश्न के विशद उत्तर के लिए
हमारे सारे धर्म-ग्रन्थ प्रस्तुत हैं । उन की शरण लेने पर सारे
सिद्धान्त स्पष्ट हो ही जाते हैं । इन्हीं के आधार पर प्रधान प्रधान
सिद्धान्तों का यहाँ सङ्ग्रह किया जाता है । उपर्युक्त प्रश्न का इस
सङ्ग्रह से उत्तर हो जायगा । साथ ही इस से उन लोगों की जिज्ञासा
भी शान्त होगी, जो एक साथ ही सारे प्रमुख सिद्धान्तों का सिंहाव-
लोकन करने के अमिलापी हैं । इन सिद्धान्तों को क्रमपूर्वक समझना
उचित होगा । अतएव सारे सिद्धान्तों को मोटे तौर पर इन पाँच
विभागों में विभाजित कर लेना चाहिए—१—प्रमाणविषयक
सिद्धान्त, २—धार्मिक सिद्धान्त, ३—दार्शनिक सिद्धान्त, ४—सम्प्र-
दायविषयक सिद्धान्त, ५—इतिहास विषयक सिद्धान्त । हम क्या
क्या प्रमाण मानते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर प्रथम विभाग में
मिलेगा । आचारसम्बन्धी सिद्धान्त दूसरे विभाग में और दर्शन-
सम्बन्धी सिद्धान्त तीसरे विभाग में आते हैं । सनातनधर्मान्तर्गत
सम्प्रदायों का उल्लेख चौथे विभाग में होगा । हमारी ऐतिहासिक
घारणाएँ क्या क्या हैं ? इस प्रश्न के लिए अन्तिम विभाग है ।

प्रमाण विषयक सिद्धान्त

१—पदार्थों का इन्द्रियों के द्वारा जो साक्षात्कार किया जा
सकता है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है । २—अनुमानगम्य पदार्थों को
अनुमान के द्वारा जाना जाता है । ३—इन दोनों से आगे शब्द की
पहुँच है । सारा वाङ्मय शब्द के ही अन्तर्गत है । ४—इन तीन
(प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) की ही ज्ञान का साधन मानने पर
अन्य साधनों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव हो जाता है । अन्य
साधनों को अलग गिनती करने पर यह तीनों प्रमुख साधन माने
जावेंगे । ५—नित्य और अपौरुषेय वेद स्वतः प्रमाण हैं । सर्वेश्वर
प्रत्येक सृष्टि के आदि में इस का उपदेश दिया करते हैं । याज्ञिक
दृष्टिकोण से वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।
अन्य प्रकार से वेद के चार भेद हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्य और
उपनिषद् । संहिता में मन्त्र हैं । ब्राह्मण में विधियाँ हैं । आरण्यक
और उपनिषद् में वेदान्त हैं । ६—प्रवचन के भेद से वेद की
अनेकों शाखाएँ हो गयी थीं । इन में से अधिकांश लुप्त हो गयी हैं ।
कुछ शाखाओं की संहिताएँ, ब्राह्मण आदि आजकल मिलते हैं ।
७—वेद के अङ्ग छः हैं, जो इस प्रकार हैं—शिक्षा, कल्प, व्याक-
रण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष । कल्प के द्वारा यज्ञों के विधियों
का ज्ञान होता है । शिक्षा के द्वारा उच्चारण करने का ठीक ठीक
ज्ञान होता है । व्याकरण के द्वारा पदों का स्वरूप जाना जाता है ।
निरुक्त के द्वारा पदों के निर्द्वन्द्वों का ज्ञान होता है । छन्द के द्वारा
गद्य-पद्यादि भेदों का ज्ञान होता है । ज्योतिष के द्वारा कालसम्बन्धी

ज्ञान प्राप्त होता है । इन वेदाङ्गों के द्वारा वेद के अर्थ का स्पष्टीक-
रण होता है । ८—वेद के उपाङ्ग चार हैं, जो इस प्रकार हैं—
धर्मशास्त्र, पुराणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र और न्यायशास्त्र । धर्मशास्त्र में
वेद के कर्मभाग का रहस्य समझाया गया है । लोकव्यवहार की
व्यवस्था भी इसी के द्वारा होती है । सारे स्मृतिग्रन्थ तथा धर्मसूत्र
इसी धर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं । पुराणशास्त्र में वेद के ब्रह्मभाग
(वेदान्त) का रहस्य समझाया गया है । यही शास्त्र लोकवृत्त
का भी ज्ञान कराता है । महापुराण, उपपुराण, महाभारत
तथा रामायण इस के अन्तर्गत हैं । मीमांसाशास्त्र में वेद के अर्थ
पर विचार किया गया है । यह शास्त्र तीन काण्डों में विभक्त है—
कर्म, देवता और ब्रह्म । कर्मकाण्ड (धर्ममीमांसा) में कर्म पर, देवकाण्ड
(देवत मीमांसा) में देवताओं पर तथा ब्रह्मकाण्ड (ब्रह्ममीमांसा)
में ब्रह्म पर विचार किया गया है । न्यायशास्त्र में तर्क का विशद
निरूपण है । इस के प्रत्येक अंश का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य
मीमांसाशास्त्र पर ही अवलम्बित है । ९—ये चार वेद, छः अङ्ग
और चार उपाङ्ग मिलकर चौदह धर्म-स्थान कहलाते हैं । इन्हीं के
द्वारा सनातनधर्म के सिद्धान्तों का निर्णय होता है । १०—इन धर्म-
स्थानों के आधार पर लिखे गये आचार्यों तथा विद्वानों के सारे ग्रन्थ
सनातनधर्म का प्रतिपादन करते हैं ।

धार्मिक सिद्धान्त

११—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, और इन्द्रियनिग्रह धर्म के
मूलतत्त्व हैं । प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि इन तत्त्वों को अपनावे ।
नीतिशास्त्र में वर्णित अन्य सारे तत्त्वों का समावेश इन्हीं में हो
जाता है । १२—पूर्वजन्मों के कर्मों के आधार पर इस जन्म में जाति
अथवा वर्ण की प्राप्ति होती है । जिस मनुष्य का जन्म जिस वर्ण में
हुआ है अथवा जिस जाति में हुआ है, उस के लिए जो कर्तव्य
वर्तते गये हैं, उन का उस को सदा पालन करना चाहिए । उन
कर्तव्यों के पालन पर ही उस के वे अधिकार निर्भर हैं, जो उस
जाति में अथवा वर्ण में जन्म होने के कारण उस को प्राप्त हुए हैं ।
१३—माता, पिता तथा आचार्य की सेवा करते हुए सर्वभूतहित
का सदा ध्यान रखना आवश्यक है । इसी हित में देश, जाति तथा
विश्व का हित छिपा हुआ है । १४—प्रत्येक मानव का इस संसार
में जन्म तीन ऋणों के साथ होता है । वे यह हैं—देवऋण, ऋषि-
ऋण और पितृऋण । इन ऋणों का चुकाना आवश्यक है ।
१५—नित्य कर्म तथा नैमित्तिक कर्म का किसी भी परिस्थिति में
त्याग नहीं किया जा सकता । निषिद्ध कर्म से सदा दूर रहना
चाहिए । काम्य कर्म से भी अलग रहना अच्छा है । १६—
हस्कारों के द्वारा शरीर, मन तथा मानसिक भावों की शुद्धि होती
है, इसलिए गर्भाधान आदि संस्कारों को अवश्य विधिपूर्वक करना
चाहिए । १७—सर्वेश्वर ने यज्ञ के साथ ही साथ प्रजा की सृष्टि
करके यज्ञ करने का आदेश दिया है । ये यज्ञ देवताओं तथा पितृ-
से को दत्त करने के उद्देश्य से किये जाते हैं । इन की दृष्टि से
जगत् का कल्याण होता है । इन की दृष्टि से सर्वेश्वर को प्रस-
न्नता होती है । १८—मृत माता-पिता आदि की दृष्टि के लिए
श्राद्ध, तर्पण आदि करना चाहिए । इन के द्वारा उनकी दृष्टि
होती है । १९—जगन्नियन्ता भगवान् की अर्चाविग्रह, तीर्थ आदि
के रूप में आराधना करनी चाहिए । २०—मनुष्य सामाजिक प्राणी
है । जैसे जैसे उस का समाज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता
जाता है, वैसे ही वैसे उस के व्यक्तिगत अधिकारों तथा कर्तव्यों
की रूपरेखा में परिवर्तन होता है । इस का ही दूसरा नाम आश्रम-
धर्म है । प्रत्येक व्यक्ति को अपने आश्रम के अनुसार धर्म का
पालन करना अनिवार्य है । २१—समाज नर-नारीमय है । नर
और नारी का अन्योन्य सम्बन्ध है । जिस प्रकार नर के लिए
आश्रम-धर्म निर्दिष्ट है उसी प्रकार नारीजीवन भी अवस्थाओं

में-विभक्त है। कन्या रूप में वह समाज के समक्ष आती है और माता के रूप में विदा होती है। उन के धर्म का सारा प्रतिव्रत धर्म है, जिस का आदर्श-पद्धति पर पालन करने के लिए उन को वैधव्यावस्था में ब्रह्मचारिणी रहने का आदेश दिया गया है। नियोग, विधवाविवाह आदि नारीधर्म के विरुद्ध हैं।

दार्शनिक सिद्धान्त

२२—धार्मिक सिद्धान्तों को आचार में परिणत करने से संसार में अभ्युदय की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। परन्तु श्रेय की प्राप्ति सांसारिक बन्धन से मुक्त होने पर ही हो सकती है। २३—श्रेय की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के द्वारा होती है। २४—उपासना, भक्ति, विद्या, शरणागति आदि शब्द इसी ज्ञान के वाचक हैं। २५—परमात्मा, पुरुषोत्तम, भगवान्, ब्रह्म आदि शब्द परम-तत्त्व के ही वाचक हैं। तत्त्व-ज्ञान में 'तत्त्व' पद के द्वारा परमतत्त्व ही अभीष्ट है। २६—परम-तत्त्व सत्, चित् और अनन्त है। वह आनन्दमय है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण भी वही है। २७—वह जगत्-मय है, अतएव सारे शब्दों का पर्यवसान परतत्त्व में ही होता है। इसीलिए वह सर्वशब्द वाच्य है। २८—श्रेय को प्राप्त करने के लिए अप्रसर होते ही सारा धर्माचरण निवृत्ति की भावना से करना पड़ता है। जबतक दृष्टि अभ्युदय पर रहती है, तबतक प्रवृत्ति की भावना की जरूरत रहती है। श्रेय को अपना लक्ष्य बनाते ही उस भावना की जरूरत नहीं रहती। २९—श्रेय की प्राप्ति के लिए सभी मनुष्य प्रयत्न कर सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि यह प्रयत्न उन को अपने अधिकार के अनुसार ही करना होगा। ३०—जिस व्यक्ति का लक्ष्य अभ्युदय की ओर रहता है, उस को इस नश्वर शरीर का परित्याग करने के बाद पितृयान मार्ग के द्वारा स्वर्ग आदि लोकों को जाकर फिर इसी मृत्युलोक में आना पड़ता है। किन्तु जो श्रेय को लक्ष्य करके चलता है और अपने साधन में सफल हो जाता है, वह इस नश्वर शरीर का परित्याग करने के बाद देवयान मार्ग के द्वारा जाकर इस संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

सम्प्रदाय विषयक सिद्धान्त

३१—परम्परागत सदुपदेश को 'सम्प्रदाय' कहते हैं। यह उपदेश परम्परागत आचार्य के द्वारा प्राप्त होता है। जिस प्रकार धार्मिक सिद्धान्तों को समझने के लिए किसी योग्य आचार्य की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार श्रेय को तथा उस के साधन को समझने के लिए किसी परम्परागत आचार्य की शरण लेना अनिवार्य है। कहना न होगा कि सनातनधर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों का उपदेश इन्हीं सम्प्रदायाचार्यों द्वारा प्राप्त होता है। ३२—सृष्टि के आरम्भ से सनातनधर्म की दो परम्पराएँ चलीं। एक का उद्देश्य था अभ्युदय और दूसरी का श्रेय। उद्देश्य के भेद से पहिली परम्परा प्रवृत्ति प्रस्थान अथवा प्रवृत्ति-सम्प्रदाय और दूसरी परम्परा निवृत्ति प्रस्थान अथवा निवृत्ति-सम्प्रदाय कहलायी। प्रवृत्ति प्रस्थान के प्रवर्तक थे सप्तर्षि और निवृत्ति-प्रस्थान के प्रवर्तक थे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। ३३—बाद में श्री कपिल, श्री ब्रह्माजी तथा श्री शिवजी ने अलग अलग निवृत्ति प्रस्थान के तीन सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। आगे चलकर इन्हीं के नाम पर सांख्य-प्रस्थान, योग-प्रस्थान, तथा ज्ञानेश्वर-प्रस्थान प्रतिष्ठित हुए। ३४—फिर जब इन-प्रस्थानों (सम्प्रदायों) में विरोध उत्पन्न हुआ तब श्री सङ्कर्षण ने 'पाञ्चरात्र' आगम के द्वारा, श्री कृष्ण ने 'भगवद्गीता' के द्वारा तथा श्री व्यासजी ने मीमांसा के द्वारा इस सारे विरोध का प्रशमन किया और सब सम्प्रदायों के प्रामाण्य की व्यवस्था की। ३५—बाद में श्री शङ्कराचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि ने ब्रह्ममीमांसा की विराट् व्याख्या करते हुए निवृत्ति-प्रस्थान का उपदेश दिया। उन के शिष्य परम्परागत आचार्यों का आश्रय लेकर आज लोग श्रेय के साधन-पथ को समझ रहे हैं।

इतिहास विषयक सिद्धान्त

३६—वेद नित्य है, इसी प्रकार धर्म नित्य है, अतएव वह सनातनधर्म कहलाता है। ३७—सर्वेश्वर ने सृष्टि के आदि में वेद के द्वारा सनातनधर्म का उपदेश दिया। ३८—यह दृष्टिगोचर होने वाला जगत् एक ब्राह्माण्ड है, जिस में चौदह लोकों की स्थिति है। जिस प्रकार भूलोक में मनुष्ययोनि का निवास है, उसी प्रकार अन्य लोकों में अन्य लोगों का निवास है। ३९—देवता, असुर, आदि का जो इतिहास पुराणशास्त्र में मिलता है, उस का सम्बन्ध इन्हीं अन्य योनियों से है। ४०—मानवयोनि की सृष्टि इस भूलोक में सर्वप्रथम भारत में हुई। तभी उस को वेद के द्वारा सनातनधर्म का उपदेश मिला। तभी से वह इस सनातनधर्म का पालन कर रही है। अतएव भारत मानवयोनि का आदि देश (आदिम निवासस्थान) है। सनातनधर्म का अनुसरण करते हुए सनातनधर्मी भारतीयों ने अपनी धार्मिक संस्कृति, सभ्यता तथा समाजव्यवस्था को अपनाया है और इसी के कारण वे आज तक जीवित हैं। ४१—जब जब अधर्म बढ़ा और धर्म पर ग्लानि आयी, तब तब सर्वेश्वर ने अवतार लेकर सनातनधर्म की प्रतिष्ठा की। भविष्य में भी सदा धर्म की प्रतिष्ठा करने की प्रतिज्ञा उन्होंने की है। इसलिए सनातनधर्मी भयरहित होकर सदा सनातनधर्म का अनुसरण करते हैं और अभ्युदय तथा श्रेय को प्राप्त करते हैं।

चित्त-विश्रान्ति

(श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती, एम० ए०)

४

प्र०—“स्वप्रकाश आत्मभाव में अनन्यरूप से स्थिति यदि सुषुप्ति, वस्तुदर्शन (जाग्रत्) और समाधि का स्वरूप है, तो उन का लक्षण भिन्न होने का क्या कारण है?” उ०—“विषय भिन्न भिन्न होने के कारण अनुसन्धान भी भिन्न भिन्न होता है। भास्यभेद होने से परामर्श का भेद अनुपपन्न नहीं है।” प्र०—“विषय विभिन्न होने पर तो समाधि आदि का स्वरूप भी भिन्न भिन्न होगा?” उ०—“नहीं, उक्त तीन अवस्थाओं में स्पष्ट विकल्प (अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान) का अभाव होने के कारण उन का वस्तुतः कोई भेद सिद्ध नहीं होता।” प्र०—“उक्त तीनों प्रकाशात्मक अवस्थाओं के भिन्न भिन्न भास्य—सूक्ष्म दृश्य—क्या है?” उ०—“समाधि में ब्रह्मज्ञान आदि सब वासनाओं से रहित अति सूक्ष्म बुद्धि की अखण्ड ब्रह्माकार-वृत्ति में आरुढ़ केवल चिदात्मा ही प्रकाशित होता है। सुषुप्ति में दृश्यसामान्याभाव रूप जड़ अव्यक्त या आवरक अज्ञान से मिश्रित आत्मतत्त्व स्फुरित होता है और जाग्रत् में—पदार्थ-प्रत्यक्ष काल में—विशिष्ट घटादि विषयक बुद्धि वृत्ति या उसके संस्कार से संवलित साक्षिचैतन्य दीप्यमान होता है। इस प्रकार समाधि में अपना शुद्ध चित्प्रकाश, निद्रा में अविद्या की सूक्ष्म—साक्षी-आकार, सुखाकार तथा अज्ञानाकार-वृत्ति और वस्तुदर्शन के समय घटाकार आन्तर वृत्ति का संस्कार वर्तमान रहता है।” प्र०—“यदि भास्य भिन्न भिन्न हैं, तो समाधि, सुषुप्ति और जाग्रत् एक किस तरह हो सकते हैं?” उ०—“ज्ञेयवस्तु भिन्न भिन्न होने पर भी ज्ञान या अनुभव में भेद नहीं हो सकता। ज्ञान में वस्तुतः ज्ञेय का स्पर्श भी नहीं है। मलिन या विषयासक्त मन से क्लिप्त सम्बन्ध होने के कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा में भास्यभाव मिथ्या ही प्रतीत होता है। घटादि ज्ञेय की तरह ज्ञान को जानने के लिए बुद्धिवृत्ति की कोई अपेक्षा नहीं होती, इसीलिए निरपेक्ष, निराभास, स्वयम्प्रकाश ज्ञान सब को अत्यन्त प्रत्यक्ष है और प्रकाशस्वरूप से अनन्य अहंपदार्थ या ज्ञाता भी निजी रूप होने के कारण अत्यन्त प्रत्यक्ष है। अतएव समाधि, सुषुप्ति एवं जाग्रत्, इन तीनों अवस्थाओं में बाणी और मन

से अतीत, एकरस, निर्विकल्प, अपरोक्ष आत्मचैतन्य ही जाग्रतमान होने से ये सब अवस्थाएं स्वरूपतः अभिन्न हैं।" प्र०—“अच्छा, समाधि और सुषुप्ति का जैसे उत्थानकाल में स्पष्ट स्मरण होता है, वैसे ही घटादि पदार्थों का स्पष्ट अनुसन्धान क्यों नहीं होता?" उ०—“जाग्रत में अस्थिर मन घट से पट, पट से मठ की ओर दौड़ता है, अतएव एक घटाकार वृत्ति या परिणाम क्षणिक ही उत्पन्न एवं स्थित होता है, दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है, इसीलिए आगे चलकर एक घट वस्तु का स्पष्ट स्मरण नहीं हो पाता। समाधि तथा सुषुप्ति दीर्घकाल-स्थायी होती है, अतः पोछे से उन का स्मरण स्पष्ट रूप में होता है। जाग्रत में क्षणिक समाधि और सुषुप्ति आ जाती है, पर परिचित दीर्घकालीन सुषुप्ति की सहायता से क्षणिक सुषुप्ति के सूक्ष्मरूप में लक्षित होने पर भी—समाधि का अनुभव संसारी मनुष्य को बिल्कुल न होने के कारण—क्षणिक समाधि का परामर्श नहीं होता।" प्र०—“जाग्रत में होनेवाली समाधि कैसी होती है?" उ०—“मनोव्यवस्था के बिना चिन्तन के अभाव का क्षण ही समाधि है। व्यवहारकाल में जो सूक्ष्म समाधि होती है, उस से अपरिचित होने के कारण स्थूलदर्शी—अविवेकी—पुरुष को ब्रह्म भासित नहीं होती—साधारण मनुष्य उस विषय में कुछ भी नहीं जानता। मनोव्यापार या विकल्प का अभाव ही समाधि है अतः सुषुप्ति एवं पदार्थज्ञान, दोनों एक तरह समाधि हो हैं।"

प्र०—“तब तो सुषुप्ति और वस्तुदर्शन से ही समाधि का फल प्राप्त हो जायगा?" उ०—“नहीं, दृश्यसम्बन्धी विकल्पज्ञान के संस्कार उक्त दोनों अवस्थाओं में विनष्ट नहीं हुए हैं, अतएव आत्मा का अभाव रह जाता है। निद्रा एवं प्रटरूप विलक्षण दृश्यविषयक वृत्ति ज्ञान—सूक्ष्म शक्ति रूप में कारण विद्या में—वर्तमान रहते हैं, इसलिए सुषुप्ति और पदार्थ प्रतिभास की अवस्था मुख्यतः समाधि नहीं है, क्योंकि बाद में अज्ञान एवं घट की स्मृति होती है। समाधि से व्युत्थित होने पर चिदात्म मात्र विषय की (‘मैं शुद्ध, बुद्ध, शान्त, असङ्ग, सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ’ ऐसी) प्रत्यभिज्ञा होती है, किसी जड़ दृश्य वस्तु का स्मरण नहीं होता। इसीलिए देखा जाता है कि समाधि में अनात्म दृश्य का सूक्ष्म शक्तिमय रूप या अविद्या वृत्ति का लेश भी नहीं रहता।" प्र०—“इस से तो जाग्रत, सुषुप्ति और समाधि भिन्न भिन्न सिद्ध हुए।" उ०—“नहीं, जाग्रत में मन का क्षणिक मूढ़भाव—मनोव्यवस्था या निद्रा का अनुभव—रूप सुषुप्ति और क्षणिक संविदात्मा का ज्ञानरूप समाधि—(मूढ़ एवं विक्षिप्त भाव का क्षणिक अभाव होने पर चिदात्मस्वरूप का अनायास अनुभव होता है)—ये दोनों अवस्थाएं, दीर्घकालस्थायी सुषुप्ति और समाधि की तरह एवं जाग्रत में घटज्ञान की तरह, बुद्धि की विकल्पशून्य अवस्थाएं हैं। इस तरह सामान्यतः समाधि तथा सुषुप्ति की समता होने पर भी उन में सूक्ष्म भेद है। सुषुप्ति जड़तायुक्त और समाधि सम्यक् बोधयुक्त है। जाग्रत में जैसे निद्रा और समाधि क्षण क्षण में प्राप्त होते हैं, वैसे ही निद्रा में भी क्षणिक जाग्रत और समाधि भाव आ जाता है।" प्र०—“यह कैसे?" उ०—“सुषुप्ति के समय यद्यपि इन्द्रिय एवं मन की सब वृत्तियों का अभाव होकर प्रकाशस्वरूप आत्मा ही अवशिष्ट रहता है, तथापि अभाव पूर्व अज्ञान का गुण और वृत्तिभेद से गौणरूप में जाग्रत और समाधिभाव सिद्ध हो सकता है। पुण्यफल के निमित्त अविद्या की सत्वमात्र वृत्ति का उदय होने पर सुषुप्ति में क्षणिक जागरण का अनुभव हो जाता है, जिस के फलस्वरूप उत्थानानन्तर ‘मैं सुख से सोया था’ इस तरह परामर्श सम्भव होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट पुण्य का उदय होने पर अविद्या के सार्दिक राजस और तामस परिणाम का अभाव होने पर अशेष दृश्यरहित साक्षी चिन्मात्ररूप का क्षणिक अनुभव होता है, वही सुषुप्तिकालीन समाधि है।" प्र०—“व्यवहारकाल में किस किस समय सूक्ष्म समाधि होती है, इसे विस्तार से बतलाये।" उ०—“जाग्रत

में जब बाह्य या आन्तर किसी प्रकार के भाव का परिज्ञान नहीं रहता, मन विक्षेपरहित होकर निश्चल भाव में स्थित होता है और निद्रा—मन का लय—नहीं रहता—तब बुद्धि क्षणिक आत्माकार में परिणत हो जाती है, यही जागरण में क्षणसमाधि है। इस तरह लय एवं विक्षेप का अभाव होकर मन की क्षणिक स्वरूप में स्थिति, साधारण मनुष्य को अपरिचित होने पर भी, प्रतिदिन असंख्यवार होती है। नूतन प्रियतमा पत्नी के प्रथम आलङ्घन के समय एकक्षण के लिए भीतर और बाहर सब वस्तुओं का विस्मरण हो जाने पर मन लीन न होकर अकस्मात् आत्मस्वरूप में आकारित हो जाता है। चिरवाञ्छित एवं दुर्लभ पदार्थ की अकस्मात् प्राप्ति के समय मन आनन्दस्वरूप आत्मा में मग्न या समाहित हो जाता है। निर्भय एवं सुखपूर्वक भ्रमण करते हुए एकाएक भयानक व्याघ्र आदि के दिखलायी पड़ने पर, अत्यन्त प्रिय कर्मकुशल एवं बलवान् पुत्र के अकस्मात् मृत्यु का समाचार सुनकर पास की वस्तु को छोड़कर एकाग्र मन से, दूर की वस्तु के ग्रहण के पूर्वक्षण में, मन के निराकार या स्थिर हो जाने से, स्वरूपनिष्ठा या समाधि स्त्रभावतः सिद्ध हो जाती है। सर्वविस्मरणपूर्वक क्षणिक तन्मयता—निश्चल या निःस्पन्द स्थिति—सूक्ष्मसमाधि रूप है, अतः कृष्णद्वैधी कर्म, शिशुपाल आदि को भी क्षण क्षण में भगवत्संस्पर्शजनित पुण्यराशि सञ्चित होती थी। व्यवहारदशा में अनुभवसिद्ध—घटादिविभिन्न विषयाकार—ज्ञान धारा—एक वस्तु विषयक ज्ञान—नहीं हो सकता, क्योंकि सब का आकारभेद प्रत्यक्षसिद्ध है। भिन्न भिन्न वस्तु के आकार में खण्डित ज्ञानराशि का विस्तार व्यवहार कहा जाता है। जाग्रत में यदि ज्ञान—अनुभव—एक, अखण्डरूप में अवस्थित होता, तो व्यवहार ही असम्भव होता। अतएव एक पदार्थ या जाग्रदादि एक दशा को छोड़कर अन्य पदार्थ या सुषुप्ति आदि अन्य अवस्थाओं के ग्रहण के पूर्व क्षण में मन—विलीन न हो जाने के लिए—स्वरूप में ही निष्ठित रहेगा, यद् युक्तिसिद्ध है। विषयाकार, विभिन्न, क्षणिक मनोव्यापार-समूहों के मध्य में या जाग्रदादि की सन्धि के समय विकल्परहित अवस्था के प्रकाशक, निविषय, कूटस्थ आत्मा का भान स्पष्ट रूप में सिद्ध होता है। “अर्थादर्थान्तरे वृत्तिर्गन्तुं चलति चान्तरे। निराधारा निर्विकारा याः दशा सोमनी स्मृता ॥ नष्टे पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः। निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते ॥ देशादेशान्तरं दूरं प्रासायां संविदो वपुः। निमेषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः। यादृशः स्यात्समोभावः स चिदाकाश उच्यते ॥ अनागतायां निद्रायां मनोविषयसंक्षये। पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥” इत्यादि भगवान् शङ्कर एवं वशिष्ठजी के बचन, इस में प्रकट प्रमाण हैं। अमूढ़ मन की विकल्पशून्य स्थिति ही समाधि है, ऐसा जानकर एक, दो, तीन क्षण जितने परिमित स्वल्प कालपर्यन्त मनोव्यापार के निरोधन में प्रयत्न करना कर्तव्य है। इसके परिणामस्वरूप ईश्वरानुग्रह होने पर सब प्रकार की वृत्तियों का सम्यक् निरोध होने से जीव शिव हो जाता है, क्योंकि विकल्पयुक्त चित ही जीव और विकल्परहित चेतन ही ब्रह्म है।

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

(यह स्तम्भ विचारविनिमय के लिए है।)

विवर्त और अध्यास

(श्री शिवकुमार शास्त्री व्याकरणाचार्य)

जैसे सभी नदियां साक्षात् एवं परम्परया समुद्र की सहायिका होकर उसी में मिल जाती हैं, तैसे ही न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि सभी दर्शन अन्ततो गत्वा वेदान्त शास्त्र के परमोपकारी होकर उसी में स्वसिद्धान्तों को समर्पित कर देते हैं। आरम्भवाद, विकारवाद (परिणामवाद) आदि सभी दार्शनिक वाद सूक्ष्मेष्टया

वेदान्तशास्त्र के सर्व प्रमुख एवं निर्णीत विवर्तवाद में क्रमशः सहायक होकर उसी में समा जाते हैं। अरुन्धतीनिर्दानन्याय से उक्त सभी दर्शन आन्तरिक दृष्टि से वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म को लेकर ही सरल एवं सौष्ठवपूर्ण शैली से वेदान्तशास्त्र तक पहुँचाने का अत्यधिक प्रयत्न करते पाये जाते हैं। जिज्ञासु विद्वान् एकाएक अति-विलुप्त जीव-ब्रह्म की अभिन्नता के विषय को देखकर ऊब न उठे, अतएव भिन्न भिन्न दर्शनों की प्रतिपादन शैली सूक्ष्मरीत्या परस्पर सम्बद्ध होकर भी सर्वथा निराली ही प्रतीत होती है। निम्नोच्च श्रेणी के अनुसार एक दूसरे के विचार समझने के लिए वे दर्शन अत्यन्त उपयोगी हैं। सभी दर्शनों का समन्वय कोई नवीन कल्पना नहीं है। वेदान्तशास्त्र का यथाविधि परिशीलन करने-वाले विद्वान् यह अच्छी तरह समझते हैं कि प्रत्येक दर्शन अपने प्रतिपाद्य सिद्धान्त के अनुसार अपने उच्च दार्शनिक सिद्धान्त तक पहुँचाने का सहायक मात्र है। अतएव वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करनेवाले मनुष्य के लिए उस से निम्न श्रेणी के दर्शनों का अध्ययन पहले ही अनिवार्य हो जाता है। इस से यह न समझना चाहिए कि वेदान्तशास्त्र के अतिरिक्त सभी शास्त्र अत्यधिक उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि ये सभी दर्शन यदि न होते, तो वेदान्तशास्त्र का कोई भी अधिक महत्त्व न रह जाता। जिस तरह प्रथम, द्वितीय आदि सोपानों से चढ़कर ही क्रमशः ऊपर जाया जा सकता है, उसी तरह स्थूल बातों के द्वारा हमारे दर्शन हमें सूक्ष्म सिद्धान्तों तक अनायास ही पहुँचा देते हैं। 'ब्रह्मसूत्र' में भगवान् शङ्कराचार्य ने क्रमशः वेदान्त सिद्धान्त की रीति से नैयायिकों के आरम्भवाद एवं सांख्यो के विकारवाद आदि दार्शनिक वादों का खण्डन करते हुए एक दूसरे की क्रमिकता रखते हुए स्पष्ट ही आस्तिक दर्शनों के परस्पराश्रित भाव को व्यक्त किया है। प्रत्येक दर्शन का वास्तविक सिद्धान्त क्या है और वह एक दूसरे का कैसे सहयोगी है, इस विषय में हम क्रमशः फिर कभी विद्वान् पाठकों की सेवा में अपने विचार उपस्थित करेंगे। प्रस्तुत जिज्ञासात्मक लेख में विवर्त एवं अध्यास के विषय में हमें कुछ लिखना है। वेदान्त शास्त्र में उक्त दोनों ही पारिभाषिक शब्द अत्यधिक प्रयुक्त पाये जाते हैं। वस्तु की अन्यथा प्रतीति परिणाम एवं विवर्त इन दो भावों से होती है। इस तरह वस्तु का अन्यथाभाव भी दो प्रकार का होता है। परिणामभाव एवं विवर्तभाव यथार्थ रूपेण वस्तु का अन्यरूप हो जाना ही परिणामभाव है। जैसे दूध अपने रूप को छोड़कर दही के रूप में परिणत हो जाता है और जहाँ अपने रूप को बिना छोड़े ही दूसरे रूप से वस्तु की मिथ्या प्रतीति होती है, वहाँ विवर्तभाव है। जैसे शुक्ति अपने रूप को बिना त्यागे ही रजतरूप से प्रतिभासित होती है। इस तरह 'सत्त्वतोऽन्यथा पृथा विकार इत्युदीरितः। अतत्त्वतोऽन्यथा पृथा विवर्त इत्युदाहृतः॥' अर्थात् यथार्थतः अन्यथाप्रसिद्धि को 'विकार' एवं मिथ्या अन्यप्रकारक प्रसिद्धि को 'विवर्त' कहा जाता है। वेदान्त शास्त्र ब्रह्म में प्रपञ्चात्मक जगत् का परिणामभाव नहीं मानता, क्योंकि ब्रह्म को परिणामी मानने से दुग्धादि की भौति ब्रह्म को भी विकारी मानना पड़ेगा और इस दशा में उस का अनित्यत्व अनिवार्य होगा, जो वेदान्त शास्त्र को कथमपि अभीष्ट नहीं है। किन्तु विवर्तभाव को मानने से ब्रह्म में प्रपञ्च की प्रतीति मिथ्या रूप होने से ब्रह्म विकारी नहीं हो सकता। इस तरह ब्रह्म के विवर्तभूत प्रपञ्च को उसी ब्रह्म में अवस्थित हो जाना ही उस मिथ्या प्रतीति रूप विवर्त का वाच है। "अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः" आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि सभी जिस ब्रह्म के विवर्त हैं, आप्त गुरु श्रद्धायुक्त मुमुक्षु को परोक्षतः 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उस विवर्ती ब्रह्म की अभिन्नता का उपदेश देते हैं और इस तरह 'सोऽहमस्मि' इस प्रत्यक्ष ब्रह्मावुभव की पराकाष्ठा

तक पहुँचना ही वेदान्त की अन्तिम चरितार्थता है। हमने ऊपर स्पष्ट बतलाया है कि अतत्त्वतः (मिथ्यारूपेण) अन्यप्रकारक प्रसिद्धि होना ही 'विवर्त' है, जैसे कि आकाशादि ब्रह्म के विवर्त हैं। इस तरह ब्रह्म को छोड़कर प्रपञ्चमात्र मिथ्या ही है, क्योंकि ब्रह्म में प्रतीयमान मिथ्या रूप जगत् (प्रपञ्चात्) ब्रह्म के अतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नहीं रखता और स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट पदार्थ का अन्य स्थल में अवभास होना ही 'अध्यास' कहा जाता है। 'अध्यास भाष्य' में भगवान् शङ्कराचार्य स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं— "कोऽयमध्यासो नामेति, उच्यते स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।" इसी विषय में आगे चलकर वे सरल एवं संक्षिप्त शब्दों में अध्यास की व्याख्या करते हुए लिखते हैं— "अध्यासो नाम अतर्दिमस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम" अर्थात् उस से भिन्न वस्तु में उस की बुद्धि होना ही 'अध्यास' है। जैसे शरीर, इन्द्रियादि के स्थूलत्व, कृशत्व, काणत्व, बधिरत्वादि धर्मों का आत्मा में, इस तरह मिथ्या प्रतीति-स्वरूप ही अध्यास है और सब अनर्थों के कारणभूत इसी अध्यास की निवृत्ति के लिए तथा ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार के लिए वेदान्त-शास्त्र की रचना है। अब यह सुतरां सिद्ध है कि स्मरण की जा रही वस्तु के समान दूसरे स्थल में दूसरी वस्तु में पहले देखी गयी वस्तु की प्रतीति ही अध्यास है। जैसे शुक्तिका में रजतबुद्धि या मरुमरीचिका में जलबुद्धि, वैसे ही यह प्रपञ्च भी ब्रह्म में अध्यस्त ही है और जैसे सीपी में रजतबुद्धि या मरुमरीचिका में जल बुद्धि मिथ्या प्रतीति ही है, तैसे ही यह प्रपञ्च भी ब्रह्म में मिथ्याप्रतीति कृत ही है। केवल ब्रह्म ही सत्य है— "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जगो ब्रह्मैव नापरः" इस तरह विवर्त एवं अध्यास में शाब्दिक भिन्नता होकर भी क्या आर्थिक भिन्नता भी है? यदि है, तो उसे वस्तुतः किन शब्दों में कहा जा सकता है? आशा है कि वेदान्तपरिशीलनशील विद्वज्जन इस विषय में अधिकाधिक यथेष्ट प्रकाश डालने की कृपा दिखायेंगे।

"प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ"

(श्री चन्द्रबली पाण्डेय, एम. ए.)

अध्यात्म के क्षेत्र में विहारी 'प्रतिबिम्बवादी' हैं, तो भक्ति के क्षेत्र में 'युतिवादी'। युति और प्रतिबिम्ब के सहारे विहारी ने काव्य का जो भव्य-भवन खड़ा किया है, उस में कला का साम्राज्य और विलास का बोलबाला भले ही हो, पर उसमें नीति का अभाव और मर्यादा का उल्लङ्घन कहीं नहीं है। विहारी के कौशल पर विचार करने का यह अवसर नहीं, यहाँ तो उनके प्रतिबिम्बवाद पर भी पूरा पूरा विचार न हो सकेगा। हाँ, प्रसङ्गवश तत्ता भर दिखा दिया जायगा कि अपने एक दोहे में अपने इस वादको उन्होंने किस प्रकार व्यक्त किया है, कहते हैं— "मैं समुद्रशैल निरधार, यह जगु कौंचो कौंच सौ। एकै रिपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ" ॥ १८१ ॥ इस पर विहारी के परम पारखी श्री रत्नाकर जी की टीका है— "निरधार = निश्चय। अपार = अनन्त। (अवतरण) — यह किसी ब्रह्मज्ञानी अद्वैतवादी का वाक्य स्वगत अथवा किसी सत्सही से है— (अर्थ) — मैंने [तो यह] निरधार [सिद्धान्त] समझा है [कि] यह कच्चा [असत्य] जगत् कौंच के समान है, जहाँ एक ही रूप [एक ही ईश्वर का रूप] अपार [अनन्त रूप से] प्रतिबिम्बित भासित होता है [अर्थात् जगत् में जितने पदार्थ दिखाए जाते हैं, वे सब एक ही ईश्वर के अनन्त रूप की आभा-मात्र हैं]।" निश्चय ही रत्नाकर जी ने इस दोहे के 'अपार' का सम्बन्ध प्रतिबिम्ब अथवा जगत् से जोड़ा है, कुछ 'रूप' अथवा ईश्वर से नहीं, पर क्या वस्तुतः यह ठीक है? क्या समुद्रमुच विहारी 'कौंचो कौंच' के अनन्त रूप के 'बिम्ब' को एक ही दिखाना चाहते हैं अथवा उन का तात्पर्य यह है कि इस 'कौंचो कौंच' में बस वही वह 'प्रतिबिम्बित' हो रहा है, जिस के रूप की इच्छा नहीं?

अच्छा, तो सम्यक्विचार के लिए विहारी का एक दूसरा दोहा लीजिये और उन के पद्य पर पूरा ध्यान दीजिए। कहते हैं—“मोहन मूर्ति स्याम की अति अद्भुत गति जोह। वस्तु सुचित-अंतर तज प्रतिबिम्बितु जग होह ॥१६१॥” इसकी टीका है—“मोहन-मूर्ति = मोहनेवाली मूर्ति है जिसकी, ऐसे, यह समस्त पद ‘स्याम’ शब्द का विशेषण है। (अवतरण)—कोई भक्त, जिस के हृदय में श्यामसुन्दर बस गये हैं; जिस को समस्त जगत् में सब पदार्थ श्याममय ही दिखायी देते हैं, अपने मन से कहता है—(अर्थ)—[हे मन,] मोहिनी मूर्तिवाले श्याम की [यह] अति अद्भुत गति [रीति, व्यवस्था] देख [कि यद्यपि] वह बसते [तो] चित्त के भीतर है, तथापि प्रतिबिम्बित जगत् में होते हैं [अपना रूप जगत् के सब पदार्थों में दिखलाते हैं, अर्थात् श्यामसुन्दर के हृदय में बसने से सर्व जगत् तन्मय दिखायी देने लगता है]। अद्भुतता यह है कि जो वस्तु किसी अन्य वस्तु किसी अन्य वस्तु के भीतर रहती है, उस का प्रतिबिम्ब बाहर नहीं पड़ता; पर श्याम यद्यपि चित्त के भीतर बसते हैं, तथापि जगत्-भर में उन्हीं का प्रतिबिम्ब भक्त को दिखाया देता है। ‘मोहन-मूर्ति’ यह विशेषण कवि ने यह सूचित करने के लिए रखा है कि श्यामसुन्दर की मूर्ति में ऐसी मोहिनी शक्ति है कि उन के हृदय में बसते ही चित्त मोहित होकर सब जगत् को तन्मय देखने लगता है।”

श्री रत्नाकरजी ने प्रथम दोहे को ‘ब्रह्मज्ञानी अद्वैतवादी का वाक्य’ माना है तो द्वितीय को भक्त का, किन्तु है दोनों में ही वस्तुतः प्रतिबिम्बवाद ही। एक ही ‘वाद’ ‘ज्ञान’ और ‘भक्ति’ के क्षेत्र में अपना कैसा गुण दिखा रहा है, यही विहारी का दर्शनीय काव्य-कौशल है। विहारी के प्रतिबिम्बवाद पर खुलकर विचार करने की आवश्यकता है और भरोसा यह भी दिखा देने की कि वस्तुतः ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र में उन का पक्ष क्या था और किस प्रकार उन्होंने दोनों का समन्वय कर एक में दर्शा दिया। सो प्रत्यक्ष ही विहारी अपने अवतरित उक्त दोहों में इस का कुछ आभास अवश्य देते हैं। प्रथम में ‘समुद्भूति निर्धार’ का व्यवहार करते हैं, तो द्वितीय में ‘मोहन-मूर्ति’ का, किन्तु परिणाम दोनों का ही वही दिखाते हैं। परन्तु क्या रत्नाकरजी की टीका से यही बात सिद्ध होती है? क्या ‘अपार’ का ‘अनन्त’ अर्थ इस के प्रतिपादन में बाधक नहीं होता और स्थिति को कुछ अस्पष्ट नहीं कर देता? हमारी समझ में तो ‘अपार’ ‘रूप’ का विशेषण है, कुछ ‘प्रतिबिम्बित’ का नहीं। कारण कि उस ज्ञाता ने तो स्पष्ट जान लिया कि यह समस्त जग ‘कौंच’ वा असत्य है, और इस में जो कुछ गांच हो रहा है, उस की अपनी कोई निजी सत्ता नहीं, वह तो वस्तुतः उसी का आभासमात्र है। वास्तव में वह बिम्ब नहीं ‘प्रतिबिम्ब’ मात्र है। उस में जो नानात्व दिखायी देता है, उस का कारण कुछ यह नहीं है कि वस्तुतः वह नाना है, प्रत्युत यह है कि उस दर्पण में जो रूप दिखायी देते हैं, वास्तव में वे उस रूप की छाया हैं, जो ‘अपार’ हैं। ‘अपार’ होने के कारण ही उस के रूप भी अपार हैं, पर है वे वस्तुतः वही, जो दृष्टिभेद के कारण देश और काल को पाकर कहीं कुछ दिखायी पड़ते हैं, तो कहीं कुछ। यह ‘कहीं-कुछता’ रूप के कारण नहीं, ‘कौंचो कौंच’ के कारण ही है। सचमुच नानात्व तो यहाँ है ही नहीं। वह तो सम्यक् दृष्टि के अभाव में ऐसा भासता है।

अच्छा, तो ज्ञानी ने ज्ञान-दृष्टि से जिस सिद्धान्त को ग्रहण कर लिया, उसी को भक्त ने किस ‘कृपा’ से प्राप्त कर लिया? भक्त समझ नहीं पाता, पर जग की अलौकिक लीला देख चमत्कृत हो उठता और विस्मय के साथ देखता है कि उस के सामने संसार में चारों ओर वही रूप छाया हुआ है, जो उस के हृदय में बस गया है, कहीं कुछ अन्यथा दिखायी ही नहीं देता। उस तपस्वी को पता हो

नहीं कि उसे क्या हो गया और क्यों उस के हृदय के देवता विश्व में छा गये। इसे वह ‘माया’ तो कहने से रहा, और कुछ कहे भी तो कैसे कहे? कहने को भी तो कुछ समझ चाहिए। उस के पास वह समझ कहाँ, जो कुछ को कुछ कहती फिर? वह तो बस उस ‘मूर्ति’ पर निछावर हो चुका है, जो उस के हृदय में बसती और अपनी योगमाया से यह लीला रचती है कि सर्वत्र वही वह दृष्टिपथ में आती है। कहिये है न यह विस्मय की बात कि जो बसता तो घट के भीतर चित्त में है, पर प्रकट दिखायी देता है घट के बाहर कण-कण में और सो भी सदा उसी रूप में, जो घट के भीतर विराजमान है। और कोई इस जग को कुछ भी कहता रहे, पर वह तो प्रत्यक्ष देखता है कि यह उस के परम प्रिय रूप का दर्पण हो रहा है, जिस में सर्वत्र वही वह गोचर हो रहा है। तभी तो किधी प्रेममत्त सुप्ती कवि का कहना है—‘दर दिवार दर्पण भयो, जित देखौं तित तोहि।’ तात्पर्य यह कि भक्त भी उसी तथ्य को ग्रहण करता है, जिस को ज्ञानी। हाँ, उन की अनुभूति की साधना में अन्तर अवश्य है, भक्त को जिस तत्त्व का आभास मिलता है, ज्ञानी उसी को समझता है, पर दोनों को बोध अपने अपने ढङ्ग से उसी परम तत्त्व का होता है, निदान विहारी भी स्पष्ट घोषणा करते हैं—“अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोर। उषौं त्यों सबकौं सेइबो एकै नन्दकिमोर ॥ ५८१ ॥” अस्तु, यदि ‘वादी’ लोग अपने अपने ‘मत’ वा वाद के लिए व्यर्थ ही विवाद करते हैं, तो करते रहे, पर यथार्थ बात तो यह है कि वस्तुतः सभी अपने अपने रूप में उस परम रूप की उपासना करते हैं, जो जग में सर्वत्र उसी रूप में व्याप्त है और जिस के अतिरिक्त संसार में और कुछ है ही नहीं। यहाँ तक कि संसार भी केवल इसीलिए है कि उस में उस का प्रतिबिम्ब पड़ता रहे, जिस से सर्वत्र उस के उसी रूप का साक्षात्कार होता रहे। निदान मानना पड़ता है कि उक्त दोहे में ‘अपार’ का सीधा सम्बन्ध वस्तुतः रूप से ही है, न कि ‘प्रतिबिम्बित’ से, जैसा कि ‘रत्नाकर’ जी ने समझ लिया है। विचार करने की बात है कि जिसे संसार में नाना रूप अलग अलग दिखायी देते रहे अथवा जो जग में नानात्व ही देखता रहा, भला वह प्रतिबिम्बवाद की अद्वैती सीढ़ी पर कब पहुँच सका कि वहाँ से ‘एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ’ का उद्घोष कर सका। अतः मानना पड़ता है कि विहारी ने प्रकृत दोहे में अपने प्रतिबिम्बवाद का ही प्रतिपादन किया है और यत्र-तत्र प्रत्यक्ष दिक्षा भी दिया है कि अध्यात्म वा दर्शन के क्षेत्र में उन्हें प्रतिबिम्बवाद इतना क्यों प्रिय है। विहारी के प्रतिबिम्बवाद पर फिर कभी स्वतन्त्र रूप से विचार किया जायगा। संक्षेप के लिए यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—विवाह का भविष्य (सम्पादकीय)	३३
२—विरोध की अवधि (टिप्पणी)	३४
३—गीता की नवीन व्याख्याएँ (श्री स्वामी करपात्री जी)	३४
४—अनुभूति-प्रकाश (श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)	३५
५—हमारे सिद्धान्त (आचार्य पीठाधिपति श्रीराघवाचार्य स्वामीजी)	३६
६—चित्त-विश्रान्ति ४ (श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती, एम. ए.)	३७
७—विवर्त और अध्यास (श्री शिवकुमार शास्त्री व्याकरणाचार्य)	३८
८—“प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ” (श्री चन्द्रबली पाण्डेय, एम. ए.)	३९

सिद्धान्त

“जयति रघुवंशातिलकः काशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क ६]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी]

काशी—ज्येष्ठ कृष्ण १ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० ९ मई, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष (५), एक प्रति का -)

• ब्राह्मणवाद का भय

गत मास ‘ब्रिटिश पार्लमेण्ट’ की ‘कामन्स सभा’ में ‘ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल’ के भविष्य पर एक मार्के की बहस हुई, जिस में भारत की भी चर्चा आयी। इस अवसर पर ‘कंजरवेटिव’ दल के सदस्य सर हरबर्ट विलगम्स ने जो उद्गार निकाले, उन को पढ़कर भारत के प्रति ब्रिटेन की मनोवृत्ति का पता लगता है। आपने कहा कि “अस्तु-श्यों का शोषण करनेवाले ब्राह्मणों को औपनिवेशिक पद तक नहीं दिया जा सकता, पूर्ण स्वतन्त्रता की तो बात ही क्या ?” उन के इस कथन में ब्राह्मणों पर जो दोषारोपण किया गया पार्लमेण्ट के किसी सदस्य ने उसका खण्डन नहीं किया। इस तरह यह सारे पार्लमेण्ट का मत समझा जाना चाहिए। इस बहस पर कई भारतीय पत्रों ने टीका-टिप्पणी की है। ‘अमृतबाजार पत्रिका’ ने गत २४ अप्रैल के अङ्क के अग्रलेख में हरबर्ट साहब की खूब खबर ली है। हमारे स्थानीय सहयोगी ‘आज’ के ता० २६ अप्रैल के अङ्क में श्री मुनीश्वर जी ने भी एक लेख लिख डाला है। सर हरबर्ट ने अपने भाषण में ब्राह्मणवर्ग की जो कड़ी भर्त्सना की है, उसका खण्डन करना तो दूर रहा, इस लेख में उसका बड़े जोरों से समर्थन किया गया है। ‘ब्राह्मणवाद और साम्राज्यवाद’ का साम्य दिखलाते हुए मुनीश्वर जी लिखते हैं “ब्राह्मणवाद से हमारा आशय उस ब्राह्मण युग से है, जब भारतीय समाज में ब्राह्मणों का बोलबाला हो गया। ब्राह्मण अपने त्याग, तप और ज्ञान के बल पर समाज का अग्रणी बना, पर क्षात्र अथवा क्षत्रिय धर्म के सम्मुख नतमस्तक होकर और राज्यसत्ता का आश्रित बनकर उसने अपनी प्रमुखता खो दी। समाज के कल्याण में निरन्तर रक्त रहनेवाला ब्राह्मण जब ब्रह्मवेत्ता के अपने सहज पद से च्युत हुआ तो उसे पाखण्ड और दबदबे के बल पर अपने पूर्व गौरव की रक्षा करनी चाही। उसका नैतिक पतन इस सीमा तक हुआ कि ब्रह्म में रस लेने के स्थान पर वह व्यञ्जनों में रस लेने लगा—यह पेटपूजक हो गया। लोककल्याण के चिन्तन के स्थान पर वह सङ्कुचित ‘स्व’ के कल्याण पथ का गामी हो गया। ब्राह्मणवाद की साख टूटने अथवा ब्राह्मण धर्म के भी हत होने के मूल में ब्रह्म से ब्राह्मण की विभक्ति तथा पार्थिव सुख की आसक्ति मुख्य रूप से विराजमान हुई थी। कहने का आशय यह कि सत्य से हटकर तथा असत्य में लीन होकर ब्राह्मणवाद खन्दक में गिरा। आज वह किसी भी अति दयनीय अवस्था में जीवित है। वस्तुतः वह आज भी ब्राह्मणाचार पर अनासक्त एवं अवाञ्छनीय जोर देता जा रहा है और सत्य की पूर्णतया उपेक्षा करता है। जिस अवस्था में ब्राह्मणवाद का पतन हुआ, बहुत कुछ उसी अवस्था में आज साम्राज्यवाद भी अन्तिम साँसें गिन रहा है।” परन्तु मुनीश्वर जी

को सन्तोष इतना ही है कि “ब्राह्मणवाद अच्छा रहा या बुरा, उस का अभ्युदय और पतन दोनों हो चुका है।” अन्त में आपने चर्चिल सरकार को ‘ब्राह्मणवाद के इतिहास से शिक्षा ग्रहण करने’ की सलाह दी है।

सम्पादकीय अग्रलेख लिखने का तो आजकल ‘आज’ को साहस होता नहीं केवल लेखक के कल्पित नाम से अग्रलेख के स्थान पर एक लेख प्रकाशित कर दिया जाता है। मुनीश्वर जी का भी लेख उसी कोटि का है, इस तरह इस लेख में प्रकट किया हुआ मत आज सरीखे राष्ट्रवादी जिम्मेदार पत्र का ही मत है। इस में सन्देह नहीं कि ब्राह्मणवर्ग का आज पतन हो गया है और वह भी अपने दोषों ही के कारण। पर यहाँ ‘ब्राह्मणवाद’ की उत्पत्ति जिस प्रकार से बतलायी गयी है और जैसा उस का चित्र खींचा गया है क्या वह सत्य है ? ब्राह्मण-क्षत्रिय के परस्पर सम्बन्ध को समझने के लिए हमें अति प्राचीन काल के इतिहास में जाना पड़ेगा। ‘बृहदारण्यकोपनिषद्’ अध्याय १ में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। उस में बतलाया गया है कि आरम्भ में एक ही ब्रह्म है। अकेले होने के कारण वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। तब उस ने अतिशयता से क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की। अतः क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसी से राज-सूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है, वह क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है। यह जो ब्रह्म है क्षत्रिय की योनि है। इसीलिए यद्यपि राजा उत्कृष्टता को प्राप्त होता है तो भी अन्त में वह ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है। अर्थात् उसे पुरोहित करके आगे स्थापित करता है। क्षत्रिय जाति उग्र होती है, इसलिए वह नियन्त्रण में नहीं रह सकती, इस आशङ्का से श्रेयोर्धर्म धर्म की उत्पत्ति हुई। यह धर्म क्षत्रिय का भी नियन्त्रण करता है—क्षत्र का भी क्षत्र है। धर्म द्वारा निर्बल भी बली पर शासन करता है जैसे राजा द्वारा, अतः धर्म से उत्कृष्ट कुछ नहीं—“स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म-स्तस्माद्भर्मात्परं नास्ति अथो अबलीयान बलीयाँ शमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञोव।”

इस तरह लोभवश ब्राह्मण क्षत्रिय का आश्रित नहीं बना। केवल वन में भटकना त्याग कर लोकाहित की दृष्टि से उस ने पुरोहित पद से राजनीति सञ्चालन का सूत्र अपने हाथ में लिया। हिन्दू धर्मशास्त्र में कोई भी सर्वोच्चस्वतन्त्र नहीं है, सभी एक दूसरे के आश्रित एवं पर-तन्त्र हैं। ब्राह्मण राजा को शास्त्रीय मार्ग बतलाता है और राजा उस पर शासन करता है। दोनों पर धर्म का अहङ्कश है। यह व्यवस्था संसार के राजनीति शास्त्र में भारत की खास देन है। ‘राजा कोई गलती कर ही नहीं सकता’ यह पाश्चात्य राजनीतिशास्त्र का सिद्धान्त है। हमारे

धर्मशास्त्रों ने राजा को ऐसा खतरनाक अधिनायक कभी नहीं बनाया। राजा के मन्त्रिमण्डल में पुरोहित का सर्वप्रथम स्थान है। शुक्र के अनुसार वह सब से श्रेष्ठ, प्रथम तथा सम्पूर्ण देश का पालन करता है—‘पुरोधाः प्रथमं श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत्’। उसे मन्त्र और अनुष्ठान में कुशल, वेदत्रयी का पण्डित, कर्म में तत्पर, जितेन्द्रिय, जितक्रोध, लोभमोहरहित, वेद के व्याकरणादि अङ्गों का ज्ञाता तथा धनुर्विद्या और धर्म का पूर्ण जानकार होना चाहिए, जिस में उस के कोप के भय से राजा धर्मनीति में रत रहे—“मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नस्त्रैविद्या-कर्मतत्परः। जितेन्द्रियो जितक्रोहो लोभमोहविवर्जितः ॥ षडंगविस्तरांग धनुर्वेदविचार्य धर्मवित्। यत्कोपमीत्याराजाऽपि धर्मनीतिरतो भवेत् ॥ कोटव्य ने भी लिखा है कि शास्त्रप्रतिपादित विद्या आदि गुणों से युक्त, उन्नतिकुलशील, षडङ्गवेद में, ज्योतिषशास्त्र में, शकुनशास्त्र में, दण्डनीति शास्त्र में अत्यन्त निपुण, दैवी और मातृषी आपत्तियों का अथर्ववेद आदि में बताए हुए उपायों से प्रतिकार करनेवाले व्यक्तियों को पुरोहित नियत करना चाहिए और राजा उस पुरोहित का इस प्रकार अनुगामी बना रहे जैसे कि शिष्य आचार्य का, पुत्र पिता का और भृत्य स्वामी का अनुगामी होता है—“पुरोहित मुदितोदित कुल-शीलं षडंगे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां चाभिनिनीतमापदां दैवमा-नुषीणामथर्वभिरुगयैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो मृत्युः स्वामिनमिव चानुवर्तेत ॥”

इस पद को वशिष्ठ, शतानन्द, कौटिल्य आदि ने किस योग्यता से विभूषित किया इस का इतिहास साची है। क्या यह कभी कहा जा सकता है कि ये परम तपस्वी, त्यागी तथा धर्मनिष्ठ नहीं थे? ब्राह्मणवर्ग ने उच्च पद का कहीं तक दुरुपयोग किया और किस का शोषण किया इस पर हम अगले अङ्क में विचार करेंगे।

विवाह बिल पर संयुक्त समिति

‘हिन्दू विवाह बिल’ पर विचार करने के लिए दोनों केन्द्रीय धारा-सभाओं की एक ‘संयुक्त समिति’ नियुक्त हो गयी। इस के प्रस्ताव पर, जो बहस चल रही थी उस में ‘कौंसिल आफ स्टेट’ (राज-परिषद्) के सरकारी नेता सर मुहम्मद उस्मान ने ठीक ही कहा कि इस समिति में मुसलमानों को न रहना चाहिए, क्योंकि इस बिल का सम्बन्ध केवल हिन्दुओं से ही है। वहाँ हुआ भी ऐसा ही, जो सदस्य चुने गये, उन में कोई मुसलमान नहीं आया। परन्तु ‘असेम्बली’ के चुनाव में इस का कोई ध्यान नहीं रखा गया। उस के द्वारा निर्वाचित सदस्यों में श्री गुलाम भीक नैरङ्ग का भी नाम है। ‘असेम्बली’ में ‘कौंसिल आफ स्टेट’ की नीति का अनुसरण क्यों नहीं किया गया, यह समझ में न आया। ‘संयुक्त समिति’ में १९ सदस्य हैं, उन में मुसलमान, ईसाई, सिख भी हैं। दो तीन को छोड़कर बाकी जो हिन्दू सदस्य हैं, वे नाममात्र के हिन्दू हैं। स्त्रियों की ओर से केवल श्रीमती रेणुका राय हैं, जिन को ‘भारत सरकार’ ने समस्त हिन्दू नारियों का प्रतिनिधि मान लिया है। सदस्यों का नाम देखने से पता लगता है कि उन में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो हिन्दू धर्मशास्त्र का पण्डित कहा जा सके। जहाँ तक हम समझते हैं, उन में किसी को संस्कृत भाषा तक का अच्छा ज्ञान नहीं है? भला ऐसे लोग ‘विवाह बिल’ पर क्या विचार करेंगे? हिन्दू समाज में विवाह एक धार्मिक संस्कार है। उस पर सम्मति देने के वे ही अधिकारी हो सकते हैं, जो धर्मशास्त्र के ज्ञाता हैं। ऐसे विषयों पर विचार करनेवालों की योग्यता मनु ने बड़ी उच्च रखी है। उन का कहना है कि तीनों वेदों के ज्ञाता, श्रुति, स्मृति से अविच्छिन्न न्यायशास्त्र के पण्डित, मोमांसा रूप तर्कशास्त्र जाननेवाले,

धर्मशास्त्र के वेत्ता, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ इसतरह के दस विद्वानों की परिषद् ही विवादप्रस्त विषयों पर निर्णय देने की अधिकारी है। जिन के द्वारा हिन्दू धार्मिक जीवन में इतना गम्भीर परिवर्तन किया जा रहा है उन में क्या एक भी ऐसा विद्वान है? हिन्दू जनता को अपने घोर विरोध द्वारा यह दिखला देना चाहिए कि अहिन्दू, नाममात्र के हिन्दू, शास्त्रानभिज्ञों द्वारा किए हुए परिवर्तन उसे कभी मान्य न होंगे।

मानवता की भूलक

आजकल प्रतिदिन समाचार आ रहे हैं कि युद्धलिप्त राष्ट्र एक दूसरे पर अभिघर्षा कर रहे हैं, जिस में कितने ही निरपराधों की आहुति पड़ रही है। शत्रुओं के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए प्रचार के सभी साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। परन्तु मनुष्य सर्वथा पशु नहीं बनाया जा सकता, उस का हृदय है। द्वेष, घृणा, शत्रुता, वर्चरता के वातावरण में भी मानवता की भूलक कभी आ ही जाती है, भविष्य के अन्धकार में वही ज्योति की—आशा की—किरण है। ऐसी ही झलक का एक समाचार हाल ही में आया है। समाचार पत्रों के एक कोने में, दो चार पंक्तियों में एक छोटासा समाचार दिया हुआ है कि इटली के रणक्षेत्र के किसी स्थान पर गत ‘ईस्टर’ के त्योहार पर जर्मनों तथा ब्रिटिश सैनिकों ने एक साथ मिलकर उपासना की। सर्वोच्च शक्ति के सामने जब एक दूसरे के खून के प्यासे सत्रु सब वैरभाव भूलकर शिर झुकाते हैं, तब यह भविष्य के लिए शुभ संकेत ही समझना चाहिए। परन्तु इस मानवता का स्वागत नहीं किया गया, उल्टे इस की जाँच हो रही है कि किस की आज्ञा से सैनिकों ने ऐसा किया? साधारण मनुष्य स्वभाव से सरल तथा सहृदय है, परन्तु स्वार्थसिद्धि के लिए जो उस के रक्त बचने का दावा करते हैं उसे पशु बनाये रखना चाहते हैं। यह धोखाधड़ी सदा नहीं चल सकती। कभी न कभी आँखें अवश्य खुलेंगी, तब शत्रु-शत्रु से गले मिलेंगे। पर यह तभी होगा जब लोगों में धार्मिक भावना जाग्रत होगी और वे सब अपने को एक परम पिता की सन्तान होने के नाते एक दूसरे को भाई समझेंगे।

यज्ञों की उपयोगिता

(श्री स्वामी करपात्री जी)

शास्त्रों में यज्ञों का वर्णन बड़े समारोह के साथ मिलता है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि प्रजापति ने यज्ञों के साथ ही प्रजाओं को रचकर कहा कि: इस यज्ञ के द्वारा आप समृद्धि को प्राप्त हों। यह यज्ञ आप सब के मनोरथों को पूरा करनेवाला हो—‘देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥’ यज्ञ से आप सब देवताओं का आप्यायन करें देवता लोग फलप्रदान द्वारा आप सब को आप्यायित करेंगे। इस तरह परस्पर एक दूसरे का आप्यायन संवर्धन करते हुए परम श्रेय के भागी होंगे। “यज्ञं देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु” इस पाणिनीय स्मृति के आधार पर मालूम पड़ता है कि ‘यज्ञ’ शब्द ‘यज’ धातु से निष्पन्न होता है। यज्ञ में देवपूजा होती है, मातृष जगत् का देवजगत् के साथ यज्ञ के द्वारा ही संगतिकरण होता है, साथ ही यज्ञ में दान भी होता है। यह सम्पूर्ण भौतिक स्थूल जगत् किसी सूक्ष्म आधि-दैविक जगत् से अधिष्ठित है। इस की सम्पूर्ण गतिविधि आधि-

दैविक जगत् से पूर्ण संबन्ध रखती है। यद्यपि स्थूलदर्शी स्थूल जगत् को ही अधिक महत्व देते हैं तथापि स्पष्ट रूप से देखने में यह आता है कि स्थूल सर्वथा सूक्ष्म के पराधीन है। स्थूल देह लम्बा-चौड़ा है, मन की लम्बाई-चौड़ाई का कुछ भी पता नहीं तथापि शास्त्रों में उस की अणुता और सूक्ष्मता ही बतायी जाती है। उसी सूक्ष्म मन से अथवा तज्जन्य विकार या सङ्कल्प से ही स्थूल देह का चलना, फिरना, उठना, बैठना कार्य निश्चित है। वस, यह एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है, जिस से यह सिद्ध हाता है कि स्थूल जगत् की प्रवृत्ति सूक्ष्म जगत् से होती है। सूक्ष्म विचार करने से मालूम होता है कि इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हैं। यह जिस कार्य-करण-संघात-स्वामी जीवात्मा के करण हैं उस से अतिरिक्त भी किन्हीं विशिष्ट विशिष्ट देवताओं से नियन्त्रित होकर अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। जैसे नेत्र का अधिष्ठाता सूर्य, मन का अधिष्ठाता चन्द्रमा आदि आदि शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, उसी तरह देखने में मालूम होगा कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक दोनों ही प्रकार के जगत् के ऊपर आधिदैविक जगत् है और दोनों ही जगत् की गतिविधि पर आधिदैविक जगत् का पूरा हाथ रहता है। इसी लिए पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवता, जल, तेज आदि सभी वस्तुओं के अधिष्ठात देवता पृथक् पृथक् हैं। वस्तुतः परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का उपादान एवं निमित्त कारण है। कारण रूप से सम्पूर्ण जगत् में रहकर वही नियमन करता है। समष्टिरूप से वही अन्तर्धामी है। पृथक् पृथक् विभाग के व्यवस्थापक रूप से देवता भी वही हैं। यद्यपि इन्द्रियों एवं पृथिव्यादि भूतों को भी अनेक दृष्टियों से देवता कहा गया है तथापि उत्तरमीमांसकों की दृष्टि से ऐश्वर्यशील विशिष्टविग्रहवती भी देवता सर्वथा सिद्ध ही हैं। समष्टि-व्यष्टि सम्पूर्ण जगत् की प्रत्येक हलचलों पर देवताओं का प्रभाव रहता है। इसीलिए यज्ञ के द्वारा देवताओं को अनुकूल बनाने का प्रयोजन व्यष्टि-समष्टि जगत् को अपने अनुकूल बनाना है। वृष्टि होना, अन्न होना, पवित्र वातावरण होना आदि सब कुछ देवता की प्रसन्नता का फल है। इन्द्रिय, मन बुद्धि आदिकों का स्वच्छ रहना भी देवता की प्रसन्नता का ही फल है। वृष्टि क्यों हुई, क्यों न हुई इन प्रश्नों पर यद्यपि आजकल कुछ विचार चलने लगे हैं तथापि वृष्टि बन्द करना या वृष्टि कराना यह किसी वैज्ञानिक की शक्ति का विषय नहीं। परन्तु मन्त्रों और यज्ञों से संबन्ध रखने वाले देवताओं के अनुग्रहविशेष से सब कुछ कर लेते हैं।

खेतिहर प्रान्तों की अधिकाधिक किसान परमेश्वर या देवता पर विश्वास रखते हैं, वे अपने सभी कामों में देव को मनाया करते हैं। भगवान् तो गीता में स्पष्ट ही कहते हैं “यज्ञान्नवन्ति पर्जन्यः पर्जन्या-दन्नसंभवः १ अग्नान्नवन्ति भूतानि” अर्थात् यज्ञ से बादल बनते और बादलों से वृष्टि अन्न होने है। अन्न से सम्पूर्ण भूतों की सृष्टि होती है। यह तो स्पष्ट ही है चराचर विश्व की उत्पत्ति में देवताओं की हाथ है, उन को अनुकूल बनाने में यज्ञ का परम उपयोग है। इस दृष्टि से यज्ञ व्यापक रूप से सर्वथा उपयुक्त है। व्यापक होने से ही ‘यज्ञो वै विष्णुः’ इत्यादि श्रुतियों ने यज्ञ को विष्णु रूप से व्यवहृत किया है। किसी यन्त्र का निर्माण या सञ्चालन मनमाना नहीं होता किन्तु जिस वैज्ञानिक ने उस यन्त्र का आविष्कार किया है, उस की सम्मति उस यन्त्र के सञ्चालन और निर्माण में परमावश्यक होती है। वैज्ञानिकनिर्दिष्ट पद्धति के विपरीत एक छिद्र या कील की कमी-बेवशी से यन्त्र बेकार या हानिकारक भी हो सकता है। ठीक वैसे ही अनादि अपौरुषेय वेदों ने देवता के पूजन का मानुष जगत् देवजगत् के संगतिकरण का जो प्रकार बतलाया है बिना ‘ननु नच’ किये ठीक ठीक उसी का अनुकरण करना परमावश्यक होता है। यह विषय प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का अविषय है। सायन्स (विज्ञान) आदिक यज्ञों के स्वरूप और फल के संबन्ध में सर्वथा बेकार है।

साधारण रूप से तो देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग को ही यज्ञ कहते हैं, परन्तु कौन द्रव्य, कौन देवता, किस द्रव्य का किस देवता के साथ, क्यों संबन्ध है? किस विधान से किस चरु, पुरोडाश आदि को निर्मित किया जाय? किस पात्र से किस विधान किस मंत्र एवं किस प्रकार से देवता को दिया जाय? यह सब बातें बड़ी ही गहन हैं, सिवा अपौरुषेय वेदों के और किसी तरह इस का ज्ञान सम्भव नहीं है। बुध्यारोहणार्थ वेदों ने कुछ उपपत्तियाँ भी दी हैं, परन्तु उतने से ही शास्त्रैकसमाधिगम्य अर्थों में औपपत्तिकता नहीं आती। इन यज्ञों में ऋक्, साम, यजु तीनों ही वेदों का उपयोग होता है। ब्राह्मणभाग और मन्त्रभाग दोनों साथ साथ यज्ञ में उपयुक्त होते हैं। वेद के अधिकांश भाग में इन यज्ञों का ही विधि-विधान वर्णित है। श्रौत सूत्रों और साम्प्रदायिक पद्धतियों में उन यज्ञों का स्पष्ट निरूपण आया है। श्रौतयज्ञ ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों के आधार पर प्रवृत्त होते हैं और स्मार्त यज्ञ गृह्यसूत्रों के आधार पर पौर्णिक, तान्त्रिक यज्ञ भी वेदमूलक होने से ही आदरणीय हैं। श्रौतयज्ञों में चरु, पुरोडाशादि द्रव्य अधिक नहीं उपयुक्त होते, किन्तु वहाँ विधानों में ही अधिक कठिनायियाँ और व्यय होते हैं। स्मार्तों में चरु का भी अधिक व्यय होता है, कुण्ड-मण्डपादि निर्माण में भी बहुत विशेषता रहती है। ठीक प्राचीन साधन करके हवन संख्या के अनुसार चरु एवं तदनुसार ही कुण्ड तथा तदनुसार ही मण्डप के परिमाण का विचार रहता है। हर एक चीज प्रमाण के आधार पर चलती है, अटकल बाजी की किञ्चिन्मात्र भी गुञ्जायश नहीं होती। अपूर्व के द्वारा यज्ञ से विश्व का उपकार होता है, अपूर्व द्वारा ही मेधादि की सृष्टि में भी यज्ञ का उपयोग होता है। यज्ञीयधूम से बने बादलों से स्वास्थ्यकर बुद्धिप्रद जल एवं अन्न की सृष्टि होती है। रेल, मोटर, मिलों के दूषित पाषाणीय कोयलों तथा बीड़ी सिगरेट के धूओं से बने बादलों से अस्वास्थ्यकर दुर्बुद्धिप्रद जल एवं अन्न की प्राप्ति होती है। मुख्य यज्ञों के अतिरिक्त बहुत से गौण भी यज्ञ शास्त्रों में बतलाये गये हैं। एक आधार में एक को होमविलीन करना यज्ञ है। वस, इस परिभाषा के आधारपर योगयज्ञ, तपोयज्ञ, जपयज्ञ आदि अनेक यज्ञ हो गये। इन्द्रियों की उच्छृङ्खलता को संयम में होम करना, प्राण में अपान को, अपान में प्राण को होम करना भी यज्ञ है। वाङ्मय पृथक् पृथक् व्यापारों को रोककर केवल एक मन्त्रजप में लगाना भी यज्ञ है। किन्तु यहाँ भी मनमाना नहीं होना चाहिए। सब कुछ अनादि अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक शास्त्रों के आधार पर ही होना चाहिए। इस तरह वेद-शास्त्रोक्त सभी सत्कर्म यज्ञ हो सकते हैं, उस सत्त से अदृष्ट पुण्य बनता है। सब का सृष्टिवर्धन रक्षणादि में उपयोग होता है, तभी तो भगवान् ने कहा है कि अर्जुन यज्ञ न करनेवाले को यह मानवलोक भी नहीं प्राप्त हो सकता फिर किसी दिव्य लोक की प्राप्ति तो दूर रही—‘नायं लोकोऽस्त्य यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुप्रत्तम १’ इसीलिए प्रत्येक गृह में कण्डनी (ओखली), पेषणी (चक्की), उदकुम्भी (जलधरी), चुल्ली (चूल्हा), मार्जनी (झाड़ू), के द्वारा होनेवाली पञ्चसूना मिटाने के लिए ब्राह्म, दैव, पितृ, मानुष, श्रौत इन पञ्चम-हायज्ञों का विधान मिलता है। और बिना देवता आदिकों को दिये हुए खानेवाले केवलादी को केवलश्री (पाप खानेवाला) बतलाया गया है। अपने मात्र के लिए भोजन बनानेवाले को चोर कहा गया है। यज्ञ से शिष्ट अन्न के भोगी को सर्व किल्बिषों से मुक्ति बतलायी गयी है। यज्ञ इसतरह भारतीय प्रजा के व्यवहार में प्रविष्ट थी कि उस के बिना कोई आस्तिक ही नहीं होता था। रामायण में ऐसा लेख मिलता है कि रामराज्य में कोई भी द्विजाति अनाहिताग्नि और अयज्वा था ही नहीं।

पञ्चाग्निविद्या के अनुसार अन्त्येष्टि के अनन्तर लौकिकाग्नि में आहुत होकर कर्मठ प्राणी धूमादि मार्ग से शुलोक रूप अग्नि में

इस कार्य में उसे किसी चेतन अध्यक्ष की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। परन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। प्रकृति के जगद्रूप से परिणत होने में एक महान् उद्देश्य है—पुरुषों के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि। प्रकृति के परिणाम का ही यह फल है कि पुरुष अपने पूर्व कर्मानुसार सुख-दुःखरूप भोगों को प्राप्त कर लेता है तथा प्रकृति से अपने को विविक्त (पृथक्) जान लेने पर वह इस संसार से विमुक्तिलाभ कर लेता है। क्या इस प्रकार के उद्देश्य की कल्पना कोई अचेतन पदार्थ कर सकता है? लोकायुभव इस का नितान्त विरोधी है। दूसरी बात यह है कि बिना किसी चेतन अध्यक्ष के अचेतन में क्रिया की उत्पत्ति नितान्त असिद्ध है। चेतन-पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होने पर हाथ की लेखनी लेखन व्यापार में प्रवृत्त होती है। स्वारथि की अध्यक्षता में रथ में गति का आविर्भाव होता है। तब अचेतन प्रकृति में प्राथमिक प्रवृत्ति का उदय क्योंकर हुआ? इस के उत्तर में सांख्य का कथन है कि जिस प्रकार बछड़े के लिए गाय के स्तन से दूध आप से आप बहने लगता है, उसी प्रकार अचेतन प्रवृत्ति बिना किसी बाह्य कारण के स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है। वत्स की विवृद्धि के लिए गो-स्तन से स्वयं प्रवृत्त होनेवाले दूध का यह उदाहरण उचित नहीं है, क्योंकि गाय चेतन पदार्थ है जिस के हृदय में अपने बछड़े की पुष्टि की कामना विद्यमान है। पुरुष की सहायता भी प्रकृति को इस महत्त्व के कार्य में नहीं मिल सकती, क्योंकि सांख्य ने पुरुष को क्रियाहीन तथा उदासीन मानकर उसे नितान्त पङ्गु बना डाला है। प्रकृति की कल्पना भी केवल आनुमानिक है। बादरायण सूत्रों में सर्वत्र प्रकृति के लिए 'आनुमानिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रुति में इस के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इतनी प्रति पत्तियों के होने पर जगत् को प्रकृति का परिणाम मानना युक्तियुक्त नहीं है।

वैशेषिक मत का तिरस्कार

सूक्ष्म परमाणुओं के संघात से इस विवित्र जगत् की उत्पत्ति सिद्ध होती है—यह वैशेषिक सिद्धान्त है जो तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरा। परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक, त्रयरेणु आदि के क्रम से यह संसार उत्पन्न बतलाया जाता है, परन्तु अचेतन परमाणु इस नियमबद्ध जगत् की उत्पत्ति में क्या कभी समर्थ हो सकता है? वैशेषिक अदृष्ट को इस जगत् का नियामक बतलाते हैं, परन्तु अदृष्ट भी तो अन्ततोगत्वा अचेतन ही ठहरा। परमाणु में प्रथम संयोग की उत्पत्ति किसी भी युक्ति के बल पर समझाई नहीं जा सकती। यदि परमाणुओं में स्वभाव से ही गतिशीलता का सिद्धान्त मानें, तो उनमें कभी विराम न होगा, सदा गति ही विद्यमान रहेगी। तब प्रलय की कल्पना ही उच्छिन्न हो जायगी। जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श उत्पन्न करने के लिए परमाणुओं में इन गुणों का सञ्चय माना जाता है। तब परमाणु सगुण हुए और ऐसी दशा में सगुण पदार्थ न तो नित्य हो सकता है और न सूक्ष्म। गुणान्वय उसे स्थूल, क्षतएव अनित्य ही बनाता है। ऐसी दशा में वैशेषिकाभिमत परमाणुओं की स्वरूपहानि होती है। अतः परमाणु को जगत् का उपादान मानना युक्तियुक्त नहीं है।

बौद्धमत का खण्डन

वास्तववादी बौद्ध—सौत्रान्तिक तथा वैभासिक—दार्शनिकों की सम्मति में यह जगत् समूहात्मक है। आन्तरजगत् पञ्चस्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—का संघातमात्र है तथा बाह्य जगत् विभिन्न स्वरूपात्मक परमाणुचतुष्टय का पुञ्जमात्र है। जगत् के समस्त पदार्थ क्षणस्थायी हैं; परन्तु क्षणिक पदार्थों में कारणता सिद्ध हो नहीं सकती। कारण मानने के लिए किसी भी पदार्थ को उत्पन्न होना चाहिए तथा स्थित होना चाहिए। ऐसी दशा

में पदार्थ क्षणद्वयस्थायी होगा। एक क्षण में उत्पन्न होगा और दूसरे क्षण में स्थित होगा। इस प्रकार क्षणिकवाद का स्वतः खण्डन हो जाता है। चेतन की अध्यक्षता मानने पर भी यह मत सुसम्भन्न नहीं हो सकता। क्योंकि यदि चेतन स्थायी है, तो क्षणवाद का निरास होता है। यदि वह क्षणिक है, तो वह कार्य उत्पन्न ही नहीं कर सकता। एक क्षण उत्पन्न होने के लिए तथा दूसरा क्षण परमाणुओं को संयोग करने के लिए मानने से क्षणिकवाद का खण्डन हो जाता है। अचेतन कारण का दोष अभी बतलाया गया है। ऐसी दशा में जगत् को आतात्मक तथा क्षणिक मानना नितान्त निराश्रय सिद्धान्त है। विज्ञानवादी बौद्धों का भी सिद्धान्त इतना ही है तथा अप्रामाणिक है। शङ्कराचार्य ने इस मत के विरुद्ध बड़ी प्रौढ़ युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। सब से प्रधान युक्ति यह है कि जगत् को असत्य मानकर विज्ञान-मात्र को सत्य मानना प्रति दिन के लोकायुभव के निरान्त विरुद्ध है। अनुभव के विषम होने पर भी घटपटादि की सत्ता का तिरस्कार करना उसी प्रकार उपहारात्मक है जिस प्रकार रसभरी मिठाइयों के स्वाद का अनुभव करते हुए भी उन्हें मिथ्या (असत्य) ठहराना है। जगत् के असत्य होने पर घटपटादि का पारस्परिक विभेद किस कारण पर ठहरा? विज्ञानरूपेण तो ये दोनों अभिन्न ठहरे। ऐसी दशा में घट माँगने पर यदि पट लाकर उपस्थित कर दिया जाय तो लोक-व्यवहार कैसे सिद्ध होगा? अतः जगत् को विज्ञान का ही विकृत रूप बतलाना नितान्त अनुचित है। जब विज्ञानवाद की ऐसी विषम दशा है तो समस्त पदार्थों के अभाव माननेवाले शून्यवादियों का सिद्धान्त किस प्रकार प्रमाण प्रतिपन्न माना जाय? अतः सौगतमत की जगदुत्पत्ति कल्पना नितान्त तर्कशून्य, अप्रामाणिक, अतः अविश्वसनीय है।

द्वैतवादियों—पाशुपत, शैव तथा नैयायिक आदि दार्शनिकों—के मतानुसार ईश्वर जगत् का निमित्तकारणमात्र है, उपादान कारण नहीं। यह मत भी सन्तोषप्रद नहीं है। यदि ईश्वर जगदुत्पत्ति में केवल निमित्त मात्र है, तो वह पक्षपात के दोष से बिना लाल्छित हुए रह नहीं सकता। जगत् में कोई जीव सुखी है, और कोई नितान्त दुःखी। इस वैषम्य का क्या कारण है? यदि कर्मानुसार विषम सृष्टि की घटना मानी जाय, तो श्रुतिमूलक होने से ईश्वर का उपादान कारण होना भी अनिवार्य है। जो श्रुति ईश्वर को कर्मानुसार जगत् का स्रष्टा बतलाती है, वही उस उपादान कारण भी बतलाती है। कोई भी पुरुष शरीर के द्वारा ही जड़ पदार्थों में क्रिया-कलाप का आविर्भाव क्रिया करता है, परन्तु द्वैतवादीसम्मत ईश्वर न तो शरीरी है और न रागद्वेषादि भावों से मण्डित है। ऐसी दशा में केवल निमित्तकारण मानने पर ईश्वर में जगत्कर्तृत्व का सिद्धान्त उत्पन्न नहीं होता। अतः वेदान्त बाध्य होकर एक ही चेतन पदार्थ को उपादान तथा निमित्त कारण दोनों बतलाता है। श्रुति तथा युक्ति दोनों इस सिद्धान्त के पोषक हैं। इस विषय में उपनिषद् ऊर्णामि (मकड़) का उदाहरण प्रस्तुत करता है—यथोर्णामिः सृजते गृह्यते च। यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ॥ यथा सतः पुरुषात् केशलो-मानि। तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् (मुण्डक उप० १।१।७) मकड़ी बिना किसी उपकरण के अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को स्वयं रचती है (अर्थात् उन्हें अपने शरीर के बाहर फैलाती है) और फिर उन्हें ग्रहण कर लेती है (अर्थात् अपने शरीर में मिलाकर अभिन्न बना देती है)। उसी प्रकार यह विश्व उस परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म उपादानकारण है तथा निमित्तकारण भी। वेदान्त का यही परिनिष्ठित मत है। अतः जगत् की उत्पत्ति चेतन पदार्थ से ही होती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

(यह स्तम्भ विचारविनिमय के लिए है ।)

सृष्टि-कर्तृत्व खण्डन

(श्री हर्षनारायणजी)

एक निष्पक्ष जिज्ञासु की हैसियत से मैं ने ईश्वरास्तित्व के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञान पाया है, विद्वज्जन के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है इस विषय में रुचि रखनेवाले महानुभाव सत्समालोचना का कष्ट उठाकर कृतार्थ करेंगे। मुझ में अनीश्वरवाद की धारणा दृढ़बद्ध-सी हो चुकी है, अनीश्वरवाद इन दिनों मेरा सिद्धान्त-सा हो रहा है।

कार्यत्व तथा कर्तृजन्यत्व में अपरिहार्य साहचर्य मान कर जगत्कार्य-के कर्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि करने का सामान्य प्रचलन है। किन्तु एवंविध अपरिहार्य साहचर्य मानने का हमें क्या अधिकार है ? जहाँ तक प्रत्यक्षता का प्रश्न है, वहाँ तक तो प्राणिकृत कार्यों के अतिरिक्त अप्राणिकृत कार्यों में इस की व्याप्ति का लेश भी नहीं है। अतएव जिस प्रकार “अग्निरनुष्णः कार्यत्वात् घटवत्” यह अनुमान कष्टकल्पित और फलतः एकान्ततः दुष्ट है, एवमेव “क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्” यह अनुमान भी अनुमानाभास ही है। वस्तुतः दृष्टान्त असम्भावना की निवृत्ति मात्र कर सकता है, किसी नियम की स्थापना का भार यह नहीं वहन कर सकता। और दृष्टान्त भी अव्यभिचारी होना चाहिए। व्यभिचारी दृष्टान्त तो असम्भावना की निवृत्ति भी नहीं कर सकते। अतएव कार्यत्व और कर्तृजन्यत्व में अपरिहार्य साहचर्य मानने में कोई हेतु न देकर घट का व्यभिचारी दृष्टान्त उपस्थित करके ईश्वरसिद्धि का प्रयत्न सर्वथैव हास्यापद है। कहा जाता है कि जगत् में निरपवाद सुनियमितता दीख पड़ती है वह बिना किसी ज्ञानवान कर्ता के सम्भव न होने से ईश्वर की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। परन्तु यहाँ नियमों से क्या तात्पर्य है ? नियम दो प्रकार के होते हैं, स्वाभाविक और वैभाविक तथा ऐच्छिक। स्वाभाविक नियम वे हैं जिन का अन्यथा सम्भव कल्पनातीत है—हो ही नहीं सकता। वे पदार्थों की अवस्थारूप होकर वस्तुतः पदार्थस्वरूप ही हैं; यथा ‘हाईड्रोजन’ की आर्द्रता तथा ‘आक्सीजन’ की उष्णता। इसी को हम दूसरे शब्दों में कहने लगते हैं कि ‘हाईड्रोजन’ से आर्द्रता तथा ‘आक्सीजन’ से उष्णता प्राप्त होने का नियम है। स्पष्ट है कि इस नियम का कर्ता ढूँढ़ना निरो मूर्खता है। दो भाग ‘हाईड्रोजन’ और एक भाग ‘आक्सीजन’ परस्पर संयुक्त करने से जल तैयार हो जाता है। कहनेवाले कहेंगे कि ‘आक्सीजन’ तथा ‘हाईड्रोजन’ के अमुक अमुक मात्रा में मिलने से जल उत्पन्न हो जाने का नियम है। किन्तु जल के जलत्व का तनिक विश्लेषण पर ज्ञात होगा कि जल वस्तुतः ‘आक्सीजन’ और हाईड्रोजन के अतिरिक्त कोई तृतीय पदार्थ ही नहीं है। हम तो अपनी दर्शन शक्ति की स्थूलता के कारण ‘आक्सीजन’ और ‘हाईड्रोजन’ को प्रकृत रूप में न देखकर एक तीसरे पदार्थ जल के रूप में देखा करते हैं और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इस के लिए किसी कर्ता की खोज करने की क्या आवश्यकता है ? अब रहे ऐच्छिक नियम : स्वाभाविक नियमों से इन में यह विशेषता है कि स्वाभाविक नियमों-से ऐसी बातें भी संघटित हो आया करती हैं जो किसी इच्छावान प्राणी के लिए अवाञ्छनीय ठहरे, किन्तु ऐच्छिक नियमों से वाञ्छनीय बातें ही संघटित होती हैं। अतएव इन के लिए कर्ता की आवश्यकता है। अब जब तक जगत् में ऐच्छिक नियमों का राज्य न माना जाय तब तक किसी

ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। मेरा दावा है कि जगत्सञ्चालन में एक भी ऐच्छिक नियम कार्यशील नहीं दिखाया जा सकेगा। हों विरोधी दृष्टान्त तो पग पग पर मिलते हैं। हम देखते हैं कि कुएँ में एक पीपल का पौधा उग रहा है, जिस का कोई उपयोग नहीं। यह भी तय है कि पूर्ण विकास से पूर्व ही इस का नाश भी हो जायगा। इतना जान लेने के पश्चात् सब को इस एक ही नतीजे पर पहुँचना होगा कि यदि किसी बुद्धिमान प्राणी की यह कर्तृत्व होती तो उस ने इस पौधे को किसी अनुकूल देश और काल में उगाया होता तथा इसे किसी न किसी प्रकार से उपयोजित किया होता। किन्तु वस्तुस्थिति इस के सर्वथा विपरीत है। अतएव स्पष्ट है कि इस का कोई ज्ञानवान कर्ता नहीं है। यहाँ यह कहकर पीछा नहीं छोड़ा जा सकता कि इस का भी कोई न कोई उपयोग होगा ही, हम लोग जानते नहीं। ऐसा नहीं हो सकता, उपयोग सिद्धि के आधार पर ईश्वर सिद्धि और ईश्वर सिद्धि के आधार पर उपयोग सिद्धि में तो अन्योन्याश्रय दोष है।

वादी—जगतस्थ क्रम और सौन्दर्य के देखने से ऐच्छिक नियम कार्यशील प्रतीत होते हैं। देखिए, अपने चेहरे की बनावट पर ही ध्यान दीजिए, आँख, नाक, मुँह और दाँत की सर्व-प्रचलित सौन्दर्यमयी स्थिति ही क्या एक ज्ञानवान कर्ता की सिद्धि नहीं करती ?

सिद्धान्ती—उपर्युक्त अवयवों की सौन्दर्यमयी स्थिति विधान में ऐच्छिक नियम ही कारण हैं, इस का प्रमाण क्या है ? अनैच्छिक नियमों के आधार पर यदि रचना हुई होती तो स्थिति में क्या भेद पड़ता ? वस्तुतः यहाँ प्राकृतिक अनुकूलन का नियम (अडाप्टिविलिटी) काम कर रहा है। परिस्थित्यनुसार प्रत्येक प्रकार की अवयव-स्थितियों का विधान हुआ होगा, उन में पश्चाद्भावी परिस्थितियों का साथ दे सकनेवाली रचनाएँ शेष रहीं और सब नष्ट हो गयीं। वैसी ही एक वच रहनेवाली स्थिति का यहाँ प्रसङ्ग है।

यदि इतनी लम्बी व्याख्या के पश्चात् भी कोई जिद करे कि प्रत्येक प्रकार के नियमों का कोई न कोई कर्ता होना ही चाहिए तो इस पर मैं एक बात निवेदन करूँगा। ईश्वर भी तो किन्हीं नियमों के मातहत ही कार्य करता होगा ? उन नियमों का कर्ता कौन है ? यदि ईश्वर ही है तो प्रश्न है कि उन स्वगत नियमों की रचना के पूर्व ईश्वर जिन नियमों के मातहत कार्य करता होगा, उन का कर्ता कौन था ? यदि फिर ईश्वर ही का नाम लिया जाय तो अनवस्था होगी। यदि कहा जाय कि उन नियमों का कर्ता कोई दूसरा ईश्वर था, तब भी अनवस्था का प्रसङ्ग होगा तथैव ईश्वर ईश्वरत्व से ही हाथ धो बैठेगा। अतः अनिवार्यतः मानना पड़ेगा कि कम से कम उन नियमों का, जिन के मातहत ईश्वर को बर्तना पड़ता है, कोई कर्ता नहीं है। तो फिर क्यों न तत्पश्चात् प्रथम ही जगत्सञ्चालक नियमों के ही कर्तृत्व का अस्वीकार कर दें ? वस्तुतः सृष्टि में प्राकृतिक अन्धे नियमों का ही साम्राज्य है। जगत्सञ्चालन में बुद्धियुक्त हस्तक्षेप की कौन कहे किसी प्रकार के वैकल्पिक हस्तक्षेप की भी झलक नहीं मिलती कि किसी ज्ञानवुक्त जगत्कर्ता की सिद्धि हो सके।

कहा जाता है कि “सृष्ट्युपादान गतिहीन है। यदि इस में स्वाभाविक गति की कल्पना की जाय तो प्रश्न होगा कि वह एक दिक् है अथवा बहुदिक् ? यदि कहा जाय कि एकदिक्, तो जगदन्तर्गत सर्व-दिक् गतियों की व्याख्या नहीं हो सकेगी। यदि बहुदिक् तो परस्पर प्रवृत्तिवाले परमाणु संयुक्त होकर रह जायेंगे और अवशिष्ट निवृत्तिशील परमाणु परस्पर अतिदूरस्थ होते चले जायेंगे। फलतः सृष्टि में

सर्वदैव एक ही प्रकार की अवस्था बनी होगी, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय की त्रिपुटी के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। अतएव परमाणुओं में नैमित्तिक गति ही मानी जा सकती है जो ईश्वर से आती है।”

अच्छा ! ईश्वर का गतिदातृत्व स्वाभाविक है अथवा ऐच्छिक ? यदि स्वाभाविक है तो फलतः परमाणुओं में एकदिक् गति उत्पन्न होगी अथवा बहुदिक्। और घूम फिर कर कोरू के बेल के समान वही आक्षेप समुत्थित हो जायेंगे, जो परमाणुगति स्वभावत्ववाद के विरुद्ध ऊपर किये गये हैं। अब यदि ऐच्छिक है तो प्रश्न होता है कि ईश्वरीय इच्छा नित्य है अथवा जन्य ? यदि नित्य है तो ज्ञानाधीन न होने से अव्यवस्थारूपेण फलोन्मुख होगी, जिस से पूर्ववत् स्वभाववादसम्बन्धी आक्षेपों का पुनरुत्थान होगा। अब यदि अव्यवस्थारूपेण ही ईश्वरेच्छा नित्य है तो यही बात परमाणुगति स्वभावत्ववाद के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अर्थात् कहा जा सकता है कि परमाणुओं की गति-शक्ति स्वभावतः इस प्रकार की है कि वह अव्यवस्थारूपेण फलोन्मुख हुआ करती है, यदि ईश्वरेच्छा जन्य है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इच्छोत्पत्ति का प्रधान कारण पूर्वानुभूत ज्ञान तथा स्मृति हुआ करती है और अनुभूति के पूर्व अनुभाव्य विषय की उपस्थिति आवश्यक है। अतएव यदि कहा जाय कि ईश्वरेच्छा का कारण पूर्वानुभूत ज्ञान तथा स्मृति और इन का कारण ईश्वरेच्छा है तो अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी।

एक मजेदार बात, परमाणुओं को गति देते समय ईश्वर स्वयं गतिमान हो जाया करता है अथवा वह अगतिगतिदाता है ? प्रथम पक्ष तो बल नहीं सकता, क्योंकि सर्वगतत्व और गतिमत्त्व का सामानाधिकरण्य असम्भव है। अब रहा द्वितीय पक्ष, यह भी सर्वथा असमीचीन है, जो स्वयमेव गति का मुहताज है, वह दूसरे को क्या गति दे सकता है ? लेखनी चलाने के लिए अपने हाथ का भी चलाना अपरिहार्यतः आवश्यक है। वस्तुतः अनुमान से भी यही सिद्ध होता है बिना स्वयं गतिमान हुए दूसरे को गति नहीं दी जा सकती। सम्बन्ध बिना गतिदान नहीं हो सकता; संयोग-बिना सम्बन्ध नहीं; समानदेशवृत्तित्व बिना संयोग नहीं। अतः गतिशील पदार्थ ही दूसरे को गतिशील कर सकता है, इतर नहीं। अतः ईश्वर चाहे एकदेशेन परमाणुओं को गति दे अथवा सर्वात्मना, प्रत्येक अवस्था में उसे स्वयं गतिमान होना पड़ेगा। चुम्बक और लौह का दृष्टान्त भी कि चुम्बक लौह को गति देते समय स्वयं अगति रहता है, असमीचीन है, क्योंकि चुम्बक शक्तिः गतिशील होकर ही गति दिया करता और दे सकता है।

एक और मजेदार बात, यदि ईश्वर सूर्गदेशी है, यत्किञ्चित् स्थान भी उससे खाली नहीं है, तो यह भी स्पष्ट है कि किसी दूसरे पदार्थ के ठहरने की कड़ी गुञ्जाइश भी नहीं है; क्योंकि यह एक सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि बिना अवकाश के कोई पदार्थ स्थित हो ही नहीं सकता। अतएव या तो ईश्वर को परिछिन्न मानना होगा अथवा अनीश पदार्थों की सत्ता से ही इनकार करना होगा—“नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनमस्य।”

इस लेख में हमने ईश्वर-सिद्धि में दिये जानेवाले कतिपय मुख्य प्रमाण का खण्डन करके ईश्वराभाव प्रदर्शित किया है। यदि किसी महाबुद्धिमान ने विचार-विनियम चलाने का कष्ट किया तो ईश्वरसाधक अवशिष्ट प्रमाणों के खण्डन के साथ साथ स्वतन्त्ररूप में ईश्वरबाधक प्रमाणों की भी सीमासा की जायगी और अन्ततोगत्वा बिना किसी ईश्वर के भी व्यवस्था कैसे बनी रहती है, इस का भी यथामति प्रतिपादन किया जायगा।

मानसिक नेतृत्व

(श्री शिवशरणजी)

प्राण का महत्त्व दिखलाने के लिए सब इन्द्रियों द्वारा एक दूसरे के बाद शरीर को एक वर्ष तक छोड़ देने की औपनिषदिक कथा प्रसिद्ध है। परन्तु वर्तमान संसार के तमाशा में एक इस से और विलक्षण अनुभव होता है। यहाँ इन्द्रियों ने तो शरीर को नहीं छोड़ दिया, परन्तु हर एक इन्द्रिया किसी दूसरी इन्द्रिय का काम करने के लिए उद्यत हो गयी है। विराट् स्वरूप समाज-शरीर चार वर्ण के रूप में है। सिर विमर्श के लिए, बाहु रक्षा के लिए, उर बैठने के लिए और चरण चलने के लिए होते हैं। परन्तु ऐसे उचित और पर्याप्त प्रयोग आजकल के शिक्षित कवि लोगों को नीरस मालूम होते हैं। इसलिए आजकल के समाजरूप क्रीडामण्डल में यह तमाशा दिखलायी पड़ता है कि समाज का शरीर अत्यन्त प्रयत्न करके सिर पर चलने का प्रयत्न करता है। फिर चरण से विमर्श करना चाहता है, अपने उर से लड़ना चाहता और बाहु पर बैठना चाहता है। चकित हुए देखने-वालों से यह कहा जाता है कि इस कठिन कर्म से संसार की अत्यन्त भलाई होगी और सर्वभोग नामक युग उपस्थित होगा। बहुत लोग मानते हैं कि आजकल के ‘सामाजिक सुधारवालों’ का नीच जातियों को ऊँचे पद पर बैठाने का प्रयत्न हानिकारक है। परन्तु मानसिक नेतृत्व के अभाव से जो सामाजिक व्यवहार होता है उसपर तथा कला-कौशल और नौकरी का काम ऊँची जातियों के लोगों से ज्यादा से ज्यादा करने के अभ्यास से उत्पन्न कठिन समस्याओं पर लोग कम ध्यान देते हैं। आजकल की यह विचित्र स्थिति है कि सब विद्याओं और कौशल के आधारभूत शास्त्र लुप्त होते जाते हैं, क्योंकि कोई इस का अध्ययन नहीं करना चाहता। परन्तु शास्त्र के अधिकारी ब्राह्मण प्रायः नीच कौशल का काम अपने हाथ से करना चाहते हैं और शूद्रों की जीविका ले बैठते हैं, जिस का यह अनिवार्य फल होता है कि एक शरीर का भिन्न अङ्ग न होने पर भी जातियाँ एक दूसरे की शत्रु बन जाती हैं।

जातियों का भेद सिर्फ तारतम्य का नहीं बल्कि अधिकार की भिन्नता से है। वैश्य वह नहीं है, जिस का सब शूद्रोचित तथा वैश्योचित कर्मों में अधिकार हो। ब्राह्मण वह नहीं है, जिन के पास सब क्षत्रिय-गुण हैं और कुछ विशेष गुण भी, परन्तु दिखलायी पड़ता है कि बहुत लोगों में ऐसा विश्वास होता है। बहुत कम ब्राह्मण मिलेंगे, जो समझ सकते कि मोटर चलाने में उन का सामर्थ्य उतना कम है, जितना शूद्रों को व्याकरण समझने में। सामाजिक मान से दुरुपयोग करके ऊँची जाति के लोग नीच जाति के लोगों से अपनी जीविका छोन लेते हैं और यह देश के लिए हानिकारक है, क्योंकि ऊँची जाति के लोगों का इन नीच कर्मों में सामर्थ्य नहीं है और इससे यह कहा जाता है कि हिन्दू लोग शिल्प-विषयक और उद्योगविषयक कर्मों में समर्थ नहीं हैं दो। तीन शताब्दी पहले यह बात उलटी थी, परन्तु उस समय सूत्रधार ब्राह्मण थे और शिल्पी शूद्र, आजकल शिल्पी होता है ब्राह्मण और सूत्रधार कोई भी नहीं। परन्तु वे ब्राह्मण-शिल्पी इन शारीरिक कर्मों का महत्त्व नहीं समझते, उस का नियम और धर्म नहीं जानते। अपने को बुद्धिमान समझकर सब उलट-मलट अपने मन से करतें हैं। परन्तु परम्परा से शिक्षित शूद्र शिल्पी की दृष्टि दूसरी है। वह अपने हथियारों की पूजा करके पत्थर, लोहा, लकड़ी को प्रणाम कर नियमपूर्वक और श्रद्धाभाव से काम करता है। वह गरीब, अशिक्षित, कुपक्ष भले ही हो, पर उस के काम में क्रम है, नियम है, गुण है और कोई त्रुटि, गलती नहीं मिलती। उस का काम शुद्ध, साफ और शुभ है।

परन्तु हस्तलाघव होने पर भी शिल्पी के पास आधारभूत विद्या का ज्ञान नहीं है, इसलिए उस का सामर्थ्य सीमित है। आजकल की हिन्दू सभ्यता की यह अति गम्भीर समस्या है कि ब्राह्मण लोग उन शास्त्रों का अध्ययन नहीं करना चाहते, जिन के ज्ञान से वे सामाजिक और औद्योगिक क्षेत्रों में नेतृत्व धारण करने में समर्थ हों। मुख्य धर्मशास्त्र और ज्ञानशास्त्र को छोड़कर यदि सामाजिक और आर्थिक आधारभूत स्थिति की ओर देखा जाय, तो विदित होता है कि अनेक शास्त्र जिन के विषय समाज की रक्षा और आर्थिक उत्थिति थी, लुप्त हो चुके और लुप्त होते जा रहे हैं। विद्याविषयक ऐसे बहुत ग्रन्थ हैं, जो यदि विदेशियों द्वारा प्रकाशित न होते, तो आज लुप्त हो चुके थे। ऐसी विद्याएँ भी जिन का अध्ययन आज तक होता है, जैसे आयुर्वेद और ज्योतिष, वहाँ तक पढ़े जाते हैं, जहाँ तक गाँव के वैद्य और ज्योतिषी इन से कुछ आर्थिक लाभ उठा सकते हैं। उन के आधारभूत सिद्धान्त और विज्ञान पर, उन के दर्शन पर कोई ध्यान नहीं देता। उन के अनुयायियों के इस दार्शनिक असमर्थता से इन विद्याओं की अपकीर्ति हो रही है और ये विद्याएँ नयी परिस्थिति में नया रूप धारण करने में असमर्थ होकर शिथिल-सी होती जा रही हैं। आजकल के आयुर्वेद के अनुयायियों के कथन से यह प्रमाणित नहीं होता कि आयुर्वेद की विधि वर्तमान पश्चिम के वैद्यक विज्ञान से भिन्न है। यह कथन कि आयुर्वेद के सिद्धान्त अनुभव से प्राप्त नहीं, अपितु अनादि शास्त्र के आधार पर, विश्वस्वरूप के निस्सन्देह ज्ञान पर अवलम्बित हैं, आधुनिक वैद्यों के प्रमाणहीन कथन से कथमपि प्रमाणित नहीं होते, क्योंकि आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद कहने पर भी वे नहीं दिखला सकते कि यह सम्बन्ध क्यों और कैसे है और जब आवश्यकता पड़ती है तब विदित होता है कि आजकल के वैद्य योग से नहीं, अपितु मुर्दे चीरकर शरीर का रहस्य समझने का प्रयत्न करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे स्वयं आयुर्वेद को प्राचीन समय के अनुभव से प्राप्त विज्ञान समझते हैं।

ज्योतिष के विषय में यह भी कहा जाता है कि ज्योतिष वेद का नयन है—“तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यज्ज्योतिषं वेद स वेद सर्वम्।” इस का महत्त्व गाँव के दैवज्ञ फकीर के ज्ञान से कुछ और है, परन्तु आजकल ज्योतिष सिद्धान्तों को और इस के आधारभूत शास्त्रीय गणित विद्या को कौन पढ़ता है? “भगवज्ज्योतिःशास्त्रं विना गणितेन दुरवगाहमतो गणितविधिमाचक्ष्व। तमुवाच श्री भगवान्मृगु बत्स ! गणितज्ञानं अनादिनिर्धनः काळः प्रजापतिर्विष्णुस्तस्य ग्रहगत्यनुसारेण ज्ञानं गणितम्।” (विष्णुधर्मोत्तर)। परन्तु आजकल के ज्योतिषी लोग पश्चिम के ज्योतिषियों के गणित के आधार पर काम करते हैं और गणित के विषय में उन पश्चिमी गणितकारों से किसी तरह सङ्घर्ष नहीं कर सकते। फिर भी इस में कोई सन्देह नहीं कि यदि प्राचीन गणित विद्या के सिद्धान्त अच्छी तरह समझे और स्पष्टीकृत किये जाय, तो एक क्षण में सब वर्तमान कल्पित गणित-विद्या हवा हो जायगी और वह बालकोचित असङ्गत कल्पना प्रतीत होगी। परन्तु दुःख की बात है कि यहाँ भी, जैसे हर एक क्षेत्र में प्राचीन विद्याओं की उपेक्षा के कारण, इस बात की सम्भावना होती है कि हिन्दू सभ्यता तथा सामाजिक व्यवस्थाओं पर आक्रमण हो सकता है।

हिन्दू सभ्यता को खतरनाक परिस्थिति आजकल सब लोगों को विदित है। चारों ओर से हिन्दू जीवन के आधारभूत सिद्धान्त और सामाजिक व्यवस्थाओं पर आक्रमण हो रहा है। और उस को ‘सुधार’ का नाम दिया जाता है। परन्तु अब, जब यह आवश्यकता पड़ी कि संसार को सनातन धर्म की दृष्टि स्पष्ट करना ही चाहिए, यह दुःख की बात है कि कोई भी हिन्दू शिक्षित अङ्गरेजों की

दार्शनिक भाषा में अपना पक्ष कथमपि नहीं लिख सकता। जो कुछ लिखा गया है वह इतना अविस्तीर्ण दृष्टि से हुआ है, इतनी अशिक्षित भाषा में, इतना प्रमाणहीन वचनों से भरा हुआ है कि इस का कोई प्रभाव विपक्षियों के मन पर नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि यदि बहुमत के डर से नीति के लिए उस को नगण्यता न कर सकेंगे। परन्तु इन लेखों से ब्राह्मण जाति के शत्रुओं का पक्ष पुष्ट हो जाता है।

न्यायव्यवस्थापक और विधायक मण्डलों (ब्रह्म तथा क्षत्र) के विषय में एक अति उत्तम पुस्तक, जो कि हर एक शिक्षित पुरुष को, चाहे जो कुछ भी हो, मान्य है, चार-पाँच वर्ष हुए श्री आनन्द कुमार स्वामी द्वारा अमरीका में प्रकाशित हुई है। इसका नाम है ‘स्पिरिचुअल अथारिस्टी ऐण्ड टेम्पोरल पावर’। यह दुःख की बात है कि ऐसी उत्तम दार्शनिक भाषा में लिखित और अच्छी तरह से सनातनधर्म का पक्ष स्पष्ट करनेवाली पुस्तक से काम न लिया जाय। लोग कह सकते हैं कि अङ्गरेजी हमारी भाषा नहीं है। हम अपना पक्ष ऐसी विलक्षण भाषा में कैसे स्पष्ट करें? परन्तु इस तर्क में तत्त्व नहीं है, जो लोग अपनी भाषा में धातुव्याकरण समझकर शुद्ध विचार और वचन कर सकते हैं, वे दूसरी भाषाओं में भी अपने अभिप्राय स्पष्ट कर सकते हैं। व्याकरण की गलतियों भले ही हों, धातु के अनुसार शब्दप्रयोग और तर्क में गलती नहीं होना चाहिए। देशादि भाषा, यवन-मत, नास्तिक मत, देशादि धर्म या दर्शन, आजकल की परिस्थिति में इन सब विषयों का अध्ययन करना ब्राह्मणों के लिए बड़ा आवश्यक है। यदि दूसरों का मत और भाषा ज्ञात नहीं होती, तो उन के सामने अपने पक्ष को प्रमाणित करना कठिन होता है। यदि विपक्षी देश पर शासन करता है, तो उस की भाषा में अपना पक्ष कहने की असमर्थता अवश्य हानिकारक है।

इन सब विद्याओं के विषय में अधिकारी लोगों के अध्ययन न करने से समाज की हानि होती है। यदि अनेक कार्य के सिद्धान्तों को पढ़कर हर एक क्षेत्र में ब्राह्मण लोग हिन्दू समाज के मानसिक नेतृत्वरूप अपने कर्तव्य का पालन न करेंगे और हर एक विषय में उचित मार्ग न दिखला सकेंगे तो देश पतवारहीन नौका की तरह हवा की इच्छा से इधर-उधर भटककर किसी खतरनाक चट्टान पर ठोकर खाकर बड़ी विपत्ति में फँस सकता है।

विषय - सूची

विषय	पृष्ठ
१—ब्राह्मणवाद का भय (सम्पादकीय) ...	४१
२—विवाद बिल पर संयुक्त समिति (टिप्पणी) ...	४२
३—मानवता की झलक ...	४३
४—यज्ञों की उपयोगिता (श्री स्वामी कृपाजी जी) ...	४३
५—वेदान्त में जडतत्त्व (श्री बलदेव उपाध्याय) ...	४४
६—सृष्टि-कर्तृत्व खण्डन (श्री हर्षनारायण जी) ...	४५
७—मानसिक नेतृत्व (श्री शिवशरण जी) ...	४७

सिद्धान्त

“जयति रघुशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क ७]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
स० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी]

काशी—ज्येष्ठ कृष्ण ९ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० १६ मई, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति का -)

ब्राह्मणवाद का भय

२

ब्राह्मण के भरणपोषण का भार समाज को दिया गया है । पर साथ ही उस को ऐसे नियमों से कषा गया है कि किसी वर्ग के शोषण की कहीं गुञ्जाइश ही नहीं रहती । बैठे बैठे मुफ्त खाने का विधान कहीं नहीं है । जो कुछ उसे समाज से मिलता है, उस का कई गुना वह समाज की सेवा करके वापस करता है । मनु का, जिन पर ब्राह्मण-पक्षपाती होने का सब से अधिक लाञ्छन लगाया जाता है, कहना है कि जिस वृत्ति से किसी जीव में कुछ द्रोह न हो अथवा अल्प द्राह हो, बिना आपत्काल के अन्य समय में वह ऐसी ही वृत्ति का अवलम्बन करे—“अद्रोहेणैव भूतानामत्पद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥” केवल गृहस्थीधर्म-निर्वाह के लिए निज वर्णविहित उत्तम कार्य से, शरीर को क्लेश न देकर धन का सञ्चय करे । ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत अथवा सत्यामृत वृत्ति से अपना निर्वाह करे, किन्तु इववृत्ति से कभी नहीं । उच्छ तथा शिलवृत्ति को ऋतवृत्ति, बिना मांगे हुए भिक्षा आदि प्राप्त को अमृतवृत्ति, मांगी हुई भिक्षा को मृतवृत्ति, कृषिकर्म को प्रमृतवृत्ति और वाणिज्य को सत्यामृतवृत्ति कहते हैं, इस से भी जीवन बिताये, किन्तु सेवा करना कुत्ते की वृत्ति कहलाती है, इसलिए उसे कभी न करना चाहिए । गृहस्थ ब्राह्मण कोठिले भर अन्न अथवा ऊंटनी भर अन्न, तीन दिन खाने योग्य अन्न, केवल एक दिन के भोजनयोग्य अन्न का सञ्चय करे—“यत्रामात्रप्रसिद्धयर्थं त्रैः कर्म-भिरगर्हितैः । अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ ऋतामृताभ्यां जीवेत् मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यामृताभ्यामपि वा न इववृत्त्या कदाचन ॥ ऋतमुच्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ सत्यामृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते । सेवा इववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा । ग्रहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥” इन ४ प्रकार के गृहस्थ ब्राह्मणों में क्रम से पहले से पीछेवाले श्रेष्ठ और स्वर्गादि लोकों के जीतनेवाले होते हैं । इन में से ६ कामों से अर्थात् उच्छवृत्ति, शिलवृत्ति, अयाचित तथा याचित भिक्षा, कृषि तथा वाणिज्य से, तीन कामों से अर्थात् याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह से, दो कामों से अर्थात् याजन और अध्यापन से और केवल एक काम अर्थात् अध्यापन से ही अपना निर्वाह करना चाहिए—“चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेभिनाम् । ययान् परःपरो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ षट्कर्मैको भवेत्तेषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते । द्वाभ्यामेकचतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥”

सुख की इच्छावाला गृहस्थ ब्राह्मण सन्तोष का अवलम्बन करके बहुत धन की प्राप्ति की चेष्टा न करे, क्योंकि सन्तोष ही सुख का मूल और असन्तोष ही दुःख का कारण है । दान लेने में समर्थ होने पर भी सदा दान न लिया करे, क्योंकि दान लेने से ब्राह्मण का ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है । बुद्धिमान् ब्राह्मण को उचित है कि बिना विशेष-रूप से प्रतिग्रह के विधान को जाने हुए क्षुधा से पीड़ित होने पर भी द्रव्यादि दान न ले—“सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् । सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गे तत्र वर्जयेत् । प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ न द्रव्याणामवि-ज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे । प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥”

अयोग्य ब्राह्मण की अतिकटु शक्तों में निन्दा की गयी है । विद्या से हीन ब्राह्मण सोना, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल अथवा घृतदान लेने से कष्ट के समान भस्म हो जाता है । यदि विद्याहीन ब्राह्मण सोना अथवा अन्नदान लेता है, तो उस की आयु की, भूमि या गोदान लेता है, तो उस के शरीर की, घोड़ा दान लेता है, तो उस की आँख की, वस्त्र दान लेता है, तो उस की त्वचा की, घी दान लेता है, तो उस के तेज की और तिल दान लेता है, तो उस की सन्तान की हानि होती है । जैसे पत्थर की नाव उस पर चढ़नेवाले के साथ जल में डूब जाती है, वैसे ही तपस्या से रहित और वेदाध्ययन से हीन ब्राह्मण दान लेने पर दाता के सहित नरक में डूबता है । जैसे गौ की चङ्क में घँसती है, वैसे ही मूर्ख ब्राह्मण थोड़ा भी दान लेने से नरक में फँसा रहता है, इसलिए मूर्ख लोगों को दान लेने से डरना चाहिए—“हिरण्यं भूमिमश्वं गामञ्च वासस्तिलान्मृतम् । प्रतिगृह्यविद्वांस्तु भस्मीभवति दासवत् । हिरण्यमायुरञ्च च भूगौश्चाप्योषजस्तनुम् ॥ अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहहृत्त्रिजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ तस्माद्विद्वान्निभिया-द्यस्मात्तस्मात् प्रतिग्रहात् । स्वल्पकेनाप्यविद्वान् हि पङ्के गौरिव सीदति ॥” क्या यह शोषकवर्ग की भाषा है ? कहा जा सकता है कि यह तो केवल करने की बात है । यदि ब्राह्मणों ने उन का पालन क्रिया होता, तो उन का पतन ही क्यों होता ? ठीक है, परन्तु किसी वाद में दो अंश होते हैं, एक सैद्धान्तिक और दूसरा व्यावहारिक । पहले सिद्धान्तदृष्टि से देख लेना चाहिए, फिर व्यवहार की बात आयेगी । ब्राह्मण को कुछ विशेषाधिकार भी दिये गये हैं । वह राज्यकारों से मुक्त रखा गया है, परन्तु यह रियायत केवल ब्राह्मणों के ही साथ नहीं की गयी है । अन्ध, जड़, पङ्क, बूढ़े, श्रोत्रिय, उपकारी मनुष्य से किसी प्रकार कर न लेने का मनु ने विधान किया है—“अन्धो जड़ः पीठसर्पी सप्तस्थाःस्थविरश्च यः । श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित् करम् ॥” वशिष्ठ ने ब्राह्मणों के साथ ही अनार्य, वन्यासी, बालक, वृद्ध, ब्रह्मचारी, दाता, विधवा स्त्री और कुमारी

कन्या को भी राजकर से मुक्त रखा है और लिखा है कि राजा को जलहीन खेत, वर्षा से डूबनेवाले खेत और जिस का अन्न चोर ले जाते हैं, ऐसे खेतों से कर न लेना चाहिए—“निरुद्धस्वरोमोन्मो-
ऽकरः श्रोत्रियो राजपुमानवाधप्रप्रजित-बाल-वृद्ध-तरुणप्रदातारः
प्रागगामिकाः कुमार्यो मृतपत्न्यश्च।” इसतरह यह केवल ब्राह्मणों के साथ कोई खास रियायत नहीं है। दण्ड-विधान में ब्राह्मण अवध्य बतलाया गया है। मनु का कहना है कि ब्राह्मण का शिर मुगडन करा देना ही वध के समान है—“मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते।” यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो यह ब्राह्मण का पक्षपात नहीं है, इस से तो स्मृतिकारों के उच्च मनोविज्ञान के अनुभव का पता लगता है। किसी योग्य विद्वान् के लिए अपराध करने पर उसे अपमानित करने से बढ़कर और क्या दण्ड हो सकता है? केवल वध को छोड़कर अन्य दण्डों की उस के लिए भी व्यवस्था की गयी है। ब्राह्मण समाजशरीर का शिर है। अपने श्रेष्ठ पद के कारण वह अन्य सभी वर्गों के लिए आदरणीय है। उच्च कुल में उत्पन्न होने के साथ ही साथ उस में गुण, शील, आचरण का होना भी आवश्यक है। उस की दिनचर्या के कठिन से कठिन नियम रखे गये हैं। इन सब पर ध्यान देने से यह निश्चय हो जाता है कि ब्राह्मण का जीवन दूसरों के मल्ये रहकर पड़े पड़े मौज उड़ाने का नहीं है। साथ ही साथ प्रत्येक के लिए वर्गों में रहकर बराबर ब्रह्मचिन्तन में ही लगे रहने का विधान भी नहीं है। आश्रम-व्यवस्थानुसार चतुर्थ आश्रम में ही वह ऐसा कर सकता है। गृहस्थाश्रम उस के लिए भी आवश्यक है और उस में रहकर संसार के सङ्घर्ष का उसे भी सामना करना पड़ता है।

ब्राह्मणवर्ग के भरण-पोषण का भार यद्यपि समाज पर रखा गया, तथापि किसी के साथ जोर-जबर्दस्ती नहीं है। गृहस्थ की इच्छा पर निर्भर है कि वह अपने मान-मर्यादानुसार दान-दक्षिणा दे। इङ्ग्लैण्ड में जिस तरह पादरियों का दशांश (टाइड) कर सब पर लगाया जाता था, ऐसी अपने यहां कोई व्यवस्था न थी। अस्तुत्य से तो कुछ भी लेना ब्राह्मण के लिए निषिद्ध है, फिर उसके शोषण का प्रश्न क्या?

समाज ने ब्राह्मणों के प्रति जो आदर-श्रद्धा दिखलायी, उस के बदले में ब्राह्मणों ने उस की कैसी सेवा की, इस पर हम अगले अङ्क में विचार करेंगे।

ईश्वर-प्रेम का उपदेश

आजकल भारत को, जो किसी समय जगद्गुरु था, तरह तरह के उपदेश देना विदेशी विद्वानों की बान पड़ गयी है। भारत की वर्तमान समस्या सुलझाने के लिए विदेशी गुरुओं के ऐसे उपदेश प्रायः सुनने को मिलते हैं। इङ्ग्लैण्ड में ‘कैन्टरबरी के प्रधान पादरी’ वहाँ के सब पादरियों के प्रमुख माने जाते हैं। आजकल इस पद को प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर टेम्पुल सुशोभित कर रहे हैं। हाल ही में आप ने भी भारत को एक उपदेश साड़ दिया है। आप कहते हैं कि “केवल ईश्वरप्रेम ही परस्पर की कटुता को दूर कर सकता है और भारतवासियों की, सच्ची मित्रता तथा एकता में लाने की, सहायता कर सकता है। भारत को ईसाई बनाना हम सभी को हृदय से अभीष्ट होना चाहिए।” ईश्वरप्रेम सब कुछ कर सकता है, इस में सन्देह नहीं, परन्तु क्या भारत को भी ईश्वर-प्रेमके उपदेश देने की आवश्यकता है? वह तो सारे संसार को यही उपदेश दिया करता है और अन्य देशों की अपेक्षा आज भी भारत में ईश्वरप्रेम की मात्रा कुछ अधिक ही है। इङ्ग्लैण्ड के इस ‘पोप’ ने यदि कहीं अपने देशवासियों को ऐसा उपदेश दिया होता,

तो ठीक होता, क्योंकि ईसाई होते हुए भी आज वे ईसाईयों का ही गला काट रहे हैं। ‘शत्रु से भी प्रेम करना’ ईसाई धर्म का प्रधान उपदेश है। परन्तु इङ्ग्लैण्ड तथा यूरोप के ईसाईयों को क्या इस का कुछ भी ध्यान है? अङ्गरेज जैसा कुछ भारत के साथ व्यवहार कर रहे हैं, क्या वह ईसाई-धर्मानुमोदित है? दो सौ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध विद्वान् बर्क ने कहा था कि “भारत जाते हुए अङ्गरेज ‘पवित्र बाइबिल’ को स्वेज नहर के इस पार ही छोड़ जाते हैं।” क्या आज भी यही बात नहीं है? भारत के प्रति ब्रिटेन जो अन्याय कर रहा है, उस पर तो वहाँ के प्रधान पादरी की जबान से एक शब्द तक न निकला, पर आप ने भारत को ईश्वरप्रेम का उपदेश देने का साहस कर डाला। यह ‘ईश्वरप्रेम’ यदि विशुद्ध होता, तो भी ठीक था, पर ‘ईश्वरप्रेम’ से प्रधान पादरी का क्या अभिप्राय है, यह भी स्पष्ट हो गया। केवल ईसाई बनकर ही मनुष्य ईश्वरप्रेम कर सकता है। बिना ‘व्यतिस्मा’ के यदि ईश्वर-प्रेम सम्भव नहीं है, तो भारत को ऐसा ईश्वरप्रेम नहीं चाहिए। उस का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक प्राणी स्वधर्म में परिनिष्ठित रहकर परमेश्वर का प्रेमी बन सकता है। ईश्वरप्रेम इतना सङ्कीर्ण नहीं है कि वह किसी एक सम्प्रदायविशेष में ही सीमित रहे। समस्त भारत को ईसाई देखने की अभिलाषा जो इन सब के हृदयों में है, कभी पूर्ण न होगी, इस का हम ‘ब्रिटेन के पोप’ को विश्वास दिलाते हैं। इसलिए भारत को ईश्वरविमुख ही छोड़कर पहले उन्हें ईसा के अनुयायियों को ही ईश्वरप्रेम का उपदेश देना चाहिए।

प्रश्नोत्तर

(श्री स्वामी करपात्री जी)

एक सज्जन के प्रश्न हैं—(१) धर्म का लक्षण—अभ्युदय और निःश्रेयस—क्या स्वीकार है? (२) यदि हाँ, तो अभ्युदय और निःश्रेयस से क्या तात्पर्य है? (३) उक्त धर्म मनुष्यमात्र के लिए है या नहीं? यदि नहीं, तो क्यों? (४) अपने अपने निःश्रेयस और अभ्युदय के अनुकूल कर्मों के करने का निर्णय करने के लिए प्रत्येक मनुष्य क्या स्वतन्त्र है? (५) यदि नहीं, तो निर्णय कैसे हो? यदि शास्त्र से हो, तो हिन्दूशास्त्रों से ही क्यों? (६) यदि केवल हिन्दूशास्त्रों से ही हो, तो फिर शास्त्र पढ़ने और विचार करने का अधिकार मनुष्यमात्र को है या नहीं? (७) शास्त्र किसी जमाने में उस समय की आवश्यकता के लिए बने थे। यदि उन के कुछ वचन किसी वर्ग या व्यक्ति के अभ्युदय और निःश्रेयस की शीघ्र प्राप्ति में बाधक हों, तो वह उन वचनों के मानने से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने में पिछड़ जायगा या नहीं? (८) वर्णव्यवस्था जन्म से क्यों मानी जाय? यदि जन्म से मानी जाय, तो रज-वीर्य दोनों से या माता-पिता के कर्मों में जन्म लेने ही से? (९) फिर यदि जन्म से ही मानी जाय, तो वर्तमान में मनु के बाद अपने को जिन वर्गों या जातियों के लोग बतलाते हैं, उन को उसी वर्ण का मान लेने के प्रमाण क्या हैं? क्या बड़े बड़े शहरों में बसनेवाले लोगों का सैकड़ों वर्षों से चला आनेवाला अन्तर्जातीय व्यभिचार किसी से छिपा हुआ है? विभिन्न प्रान्तों के लोग दूसरे प्रान्तों में जाकर स्थायी रूप से बस गये हैं और अपनी जाति दूसरी बतलाकर उस जाति के लोगों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। क्या ऐसी दशा में वर्ण या जाति की शुद्धता रह सकती है?

इन के उत्तर में कहना है कि “चोदनालक्ष्मणोऽर्थो धर्मः” इस जैमिनि-सूत्र के अनुसार वैदिक विधिबोधित कर्म ‘धर्म’ और

निषेधवचनों से निषिद्ध कर्म 'अधर्म' है। अर्थात् वेदादि शास्त्रों द्वारा कर्तव्यरूप से बोधित कर्म 'धर्म' तथा अकर्तव्यरूप से बोधित कर्म 'अधर्म' है। धर्म से ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। लौकिक-पारलौकिक उन्नति ही 'अभ्युदय' है और प्रत्यक्षचैतन्याभिन्न परब्रह्म की प्राप्ति ही 'निःश्रेयस' है। अभ्युदय-निःश्रेयस के उपयुक्त कर्मों का बोध शास्त्रों से ही हो सकता है। कर्मों का मनमानी निर्णय मान्य नहीं होता। कर्मों के अनुष्ठान में प्राणियों को भगवान् ने स्वतन्त्रता दे रखी है। अलौकिक साध्य-साधनभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान से नहीं हो सकता, अतएव प्रत्यक्ष एवं अनुमान से अज्ञात उपाय को बतलाने के लिए ही वेदादि शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है। जैसे रूपज्ञान में चक्षु का प्रामाण्य होता है, वैसे ही धर्म के ज्ञान में स्वतन्त्ररूप से वेद प्रमाण होते हैं। वे अपौरुषेय हैं, अर्थात् किसी पुरुष की बुद्धि एवं प्रयत्न से नहीं बने हैं, किन्तु प्राणी के सहज निःश्वास के समान सनातन परमात्मा के सनातन निःश्वासभूत हैं। उन में पुरुषाश्रित भूम, प्रभु, विप्रलिप्सा, करुणापाटवादि की सम्भावना तक नहीं है। दूसरे सभी ग्रन्थ पौरुषेय हैं, उन में पुरुषाश्रित दूषणों की सम्भावना अवश्य रहती है। वेदों की पौरुषेयता में कुछ भी प्रमाण नहीं है। दूसरे ग्रन्थों की पौरुषेयता उन उन ग्रन्थों एवं तदनुयायियों को भी स्वीकृत है। अतएव वेद एवं तदनुकूल, तदविरुद्ध आर्षग्रन्थ ही शास्त्र हैं। तद्भिन्न केवल शास्त्राभास ही हैं।

विश्वभर के मनुष्यों के कल्याण का मार्ग वेदादि शास्त्रों में बतलाया गया है। उपनीत त्रैवर्णिक विधिविधानसहित अध्ययन करके शास्त्रों से अपने कर्तव्य को जानते हैं। अनुपनीत अत्रैवर्णिक इतिहास-पुराणों के श्रवणद्वारा अपने शास्त्रोक्त कर्तव्य को जान सकते हैं। वेदादि शास्त्र सनातन ईश्वर के सनातन निःश्वासभूत हैं। वे सर्वथा, सर्वदा, सर्व प्राणियों के कल्याणार्थ हैं, किसी भी वर्ण, किसी भी व्यक्ति के कल्याण के बाधक नहीं। दूसरा कल्याण का रास्ता है ही नहीं। अनिवार्य विलम्ब तो सब को सद्य होना चाहिए। वर्णाश्रमानुसारी कर्मों के अनुष्ठान में वर्णव्यवस्था का अपेक्षा होती है। 'जन्मना' वर्ण मानने में ही व्यवस्था हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि 'कर्मणा' वर्ण मानने से जीवन में कर्मों के बदल जाने पर वर्ण भी बदलता रहेगा, फिर व्यवस्था कैसी? इस के अतिरिक्त शास्त्रों में वर्ण को जन्मसिद्ध मानकर तत्तत् वर्णों के लिए तत्तत् कर्मों का विधान किया गया है। अमुक अमुक कर्म करने से अमुक अमुक वर्ण की सिद्धि होती है, ऐसा विधान शास्त्रों में नहीं मिलता। कर्म पुरुषार्थसाधन है, अतः उस का विधान सङ्गत है, परन्तु वर्ण न स्वयं पुरुषार्थ है, न तो उस का साधन। जब कर्म से ही वर्ण बनता है, तब कर्म भी वर्ण का फल नहीं माना जा सकता।

रज-वीर्य दोनों से ही वर्णनिर्णय ठीक है। जैसे सिंह से सिंहनी में उत्पन्न सिंह होता है, वैसे ही ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न ब्राह्मण होता है। वर्तमान जातियों में कोई वर्ण और कोई वर्णसङ्कर है। कोई मिथ्या बनी हुई भी जातियाँ हैं। पुराणों के आधार पर बना हुआ जातिनिर्णय 'वर्णविवेकचन्द्रिका' आदि ग्रन्थों में है। समाज को भी परिज्ञान रहता है। ईश्वरीय सुधार प्रारम्भ होते ही क्षीर-नीर के समान सब भेद खुल जाता है। जबतक वैसा न हो, तबतक भी समाज के निर्णयानुसार ही विवेकी लोग व्यवहार करते हैं। जहाँ कुछ कुलों में व्यभिचार के उदाहरण मिलते हैं, वहीं करोड़ों कुलों की शुद्धता भी स्पष्ट है। मनु आदिकों ने स्त्री-रक्षा पर बहुत जोर दिया है। स्त्रीरक्षा पर ही वंशरक्षा अवलम्बित है। जहाँ स्त्रियों के लिए पिता-भ्राता तक के साथ एकान्त में रहना मन किया गया है, फिर अन्य संसर्ग कैसे सद्य हो सकता है? स्त्रियों के परपुरुष-संसर्ग का निषेध ही एक ऐसा कारण है, जिस से कि भारत का एक कुलीन पुरुष मस्तक उठाकर कह सकता है कि "हम ब्राह्मण

हैं", "हम क्षत्रिय हैं।" दुनियाँ में कोई व्यक्ति यह भी नहीं कह सकता कि 'मैं अमुक का पुत्र हूँ।' जहाँ नारीस्वातन्त्र्य का बोलबाला है, वहाँ तो जातिव्यवस्था सर्वथा दुर्घट है। अन्यत्र की अपेक्षा शास्त्रीय-नियमों का आदर होने से भारत में व्यभिचार-प्रथा बहुत कम है। देहातों में १५ आना, नगरों में १२ आना कुटुम्ब ऐसे हैं, जहाँ स्त्रीरक्षा पर पूर्ण ध्यान है। ऐसी स्थिति में यहाँ वर्णव्यवस्था 'जन्मना' ही ठीक है। जहाँ स्त्री-पुरुष सभी व्यभिचार को दोष मानते हैं, उस से बचना चाहते हैं, करनेवाले भी छिपाते हैं, फिर वहाँ व्यभिचार से अव्यभिचार की मात्रा अधिक ही रहती है। अतएव सङ्कर की मात्रा भी कम ही रहेगी। सङ्कर होने पर भी उन का ज्ञान समाज को रहता है। किसी ईश्वरीय शक्ति का हाथ होने से अन्त में विवेक भी हो ही जाता है।

चित्त-विश्रान्ति

(श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती, एम. ए.)

५

प्र०—“क्षणिक समाधि में स्वरूपातिरिक्त विलक्षण कोई इस्य ही नहीं भासता, अतः इस प्रकार की समाधि प्राप्त होने पर फलतः सांसारिक बन्धन का अभाव होना उचित है।” उ०—“इस तरह की स्वाभाविक समाधि में आत्मा का अमानापादक आवरण, पुरुष-प्रयत्न का अभाव होने से, विनष्ट नहीं होता, अतः यद्यपि विज्ञान-स्वरूप परमात्मा प्रतिक्षण समाधि में देदीप्यमान रहता है, तथापि ऐसी अत्यन्तसिद्ध समाधि परम निःश्रेयस की जनक नहीं हो सकती। बन्धन जीव द्वारा कल्पित है, इसलिए अपनी बुद्धि के अपराध तथा संसृति का प्रशमन अपने प्रबल पुरुषार्थ से ही सम्भावित है, अन्यथा नहीं। ऐसे अन्ध मनुष्य का दृष्टिदोष बाह्य सूर्यादि-प्रकाश की सहायता से निरस्त नहीं हो सकता। जैसे अपना पाप अन्यकृत पुण्य से निवृत्त नहीं होता, वैसे ही अपनी बुद्धि की मलिनता नित्यसिद्ध अज्ञात आत्मा के भास्वर प्रकाश से दूर नहीं हो सकती।” प्र०—“अज्ञान का अपाकरण (हटाना) कैसे हो ?” उ०—“दृढ़ या प्रत्यक्षसिद्ध संसारभ्रम अपरोक्ष या सुदृढ़ आत्मज्ञान की सहायता से विनष्ट हो जाता है। देहादि-वासना द्वारा प्रतिबद्ध, आपात या परोक्ष आत्मज्ञान परम कल्याण का साधक नहीं है। निरन्तर अभ्यस्त समाधि का परिपाक होने पर जिस निष्प्रकम्प अपरोक्ष बोध का उदय होता है, वही संसार-बन्धन का विध्वंस करने में समर्थ होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमादरहित आत्मनिष्ठा के द्वारा सम्पादन किया जाता है।” प्र०—“अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमतिर्ज्ञमः” पञ्चदशो-कार की इस उक्ति का तात्पर्य क्या है ?” उ०—“सब प्रकार के ज्ञान में वस्तु का सब अंश स्फुरित नहीं होता, इसीलिए परोक्ष ज्ञान से आत्मा का असत्वापादक आवरण निवृत्त होता है, अतः वह सर्वथा निष्फल नहीं है, यही पूर्वोक्त वचन का अभिप्राय है। गुरु एवं शास्त्र द्वारा श्रद्धापूर्वक श्रवण करके जो ज्ञान पहले उत्पन्न होता है, वह सांसारिक दुःख का निवर्तक नहीं है। उस के उपरान्त अच्छी तरह समाधि-निरत होकर प्रयत्न की सहायता से परमात्मा के साथ प्रत्यगात्म की एकता का प्रत्यक्ष रूप में दर्शन करना होता है, तभी संसृति का अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है। श्री वशिष्ठ जी ने रामचन्द्रजी से कहा है कि 'उपदेश-वाक्य से बहिर्मुख रहकर—जन्मान्ध व्यक्ति को

रूपदर्शन की तरह—जो ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह अवोध-रूप ही होता है, क्योंकि अपरोक्ष आत्मतत्त्व में परोक्षज्ञान अन्ति-के सिवा और कुछ नहीं है। अतएव हे राम ! तुम ऐसे ज्ञानाभास का तिरस्कार करके अपने नित्य प्रत्यक्ष बोधरूप आत्मा में साक्षात् अनुभव की सहायता से स्थित होकर बोधरूप ही हो जाओ। तभी तुम जन्मादिरहित होकर निर्वाण लाभ करोगे—“जात्यन्धरूपानुभवांशु रूपं यदागमैर्बुद्धमनुबुद्धरूपम् । अधश्चदीकृत्य तदन्तरेऽस्मिन् बोधे निपत्यानुभवो भवामूः ॥” ‘तल्लवकारभ्रुति’ भी कहती है कि अखण्ड, एकरस तत्त्व में त्रिपुटी का अवलम्बन करने से (‘मैं ब्रह्म जानता हूँ’ ऐसा) ज्ञान खण्डित (विभागयुक्त) होने कारण, अल्प या अयथार्थ होता है। प्रयत्नपूर्वक समाधि के अनुष्ठान की अति-कर्तव्यता का भगवान् शङ्कर विधान करते हैं—“समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं श्रोत्रादिचेतःस्वमहं चिदात्मनि । त एव मुक्ता भवपाशबन्धैर्नान्ये तु पारोक्ष्यकथामिधायिनः ॥ यावच्च तर्केण निरामितोऽपि दृश्यपञ्चस्वपरोक्षबोधात् । विलीयते तावदमुष्य भिक्षोर्ध्यानादि सम्यक् करणीयमेव ॥”

प्र०—“अपनी बुद्धि के दोष दूर करने के लिए जिन पुरुष-प्रयत्नों का आश्रय करना होगा, उन का स्वरूप विस्तार से कहिए ।” उ०—“बुद्धिकल्पित संसार का आत्मा में आरोप करके जीव अपने में जो सुख-दुःख, जन्म-मरण का प्रत्यक्ष अनुभव करता है, उस अध्यास (अमनिध्यय) का अभाव, बुद्धिकृत नित्य, परिपूर्ण, चैतन्यघन निजानन्दस्वरूप के सुदृढ़ निश्चय से ही साधित हो सकता है। तभी प्रत्यक् चिदात्मा के अभानापादक आवरण की निवृत्ति होकर साधक का यथार्थ निजस्वरूप में सम्यक् अवस्थान सम्भव होता है। “उद्ध-रेदात्मनाऽऽत्मानम् ॥” “मिथ्यारोपितसंसारो न स्वयं विनिवर्तते । राम जीवबलीवर्द्धमिमं संसारबन्धनात् ॥ परमं यत्नमास्थाय चिरमुत्तारयेद्बलात्” इत्यादि अनेक अनेक शास्त्रवाक्य दीर्घकाल, निरन्तर एवं सच्छब्दासहित प्रत्यग्रह्यस्वरूप के श्रवण, मनन और ध्यान का कर्तव्यरूप में उपदेश करते हैं। उत्कृष्ट आदर या अतिशय सत्कारपूर्वक अनुष्ठित होने पर ही उक्त श्रवणादि बुद्धि के संशयादि दोषों के निवारण में फलपर्यवसायी होते हैं। असकृत् उपदिष्ट श्रवण, मनन और निदिध्यासन का फल भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होता है। जैसे इप्सित विषय से तदाकार अन्तःकरणवृत्ति अधिकतर प्रिय एवं मोद, प्रमोद आनन्दवृत्ति से उस का प्रकाश—सर्वान्तर प्रत्यक्ष निज-स्वरूप होने के कारण—अधिकतम प्रिय होता है, वैसे ही श्रवण की अपेक्षा मनन सौगुना उत्कृष्ट है और निदिध्यासन से दृढ़ ब्रह्माकार-वृत्तिपूर्वक (तज्जन्य सहज संस्कारसहित) निर्विकल्प स्थिति असंख्यगुना श्रेष्ठ होती है। यदि विशिष्ट यत्नपूर्वक बुद्धि का आत्मस्वरूप में क्रमिक परिणमन होते होते, अनादि काल से अभ्यस्त विपरीत देहादिभावना का निःशेष ध्वंस होकर, बोधस्वरूप में अचलीभाव प्राप्त नहीं होता, तो अत्यन्तसिद्ध सूक्ष्म समाधि या उस के परिज्ञान से दुःखनिवृत्ति की आशा नहीं है। सुतरां देह को काष्ठ तथा मिट्टी के समान समझकर तितिक्षा तथा इन्द्रियसंयमपूर्वक प्राणस्पन्द का निरोध करके, विषय-वासना का विचार द्वाग अभाव करते करते धीरे धीरे निश्चल मन को, निर्विकल्प समाधि का परिपाक होमपर, समाधिसाक्षी चिदानन्द आत्मस्वरूप में विलीन कर देना होगा। तभी जीव प्राण-मन-रहित, शुभ्र परमात्मस्वरूप में स्थित या सांसारिक बन्धन से मुक्त होगा। हृदय में से देह तथा जगद्रूप विजातीय वासना की त्रिशेष निवृत्ति के लिए प्राणस्पन्द एवं चित्तस्पन्द का सकृत् निरोध अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि प्राण के शान्त हुए बिना मन भी शान्त नहीं होता और मन के बिना प्रशान्त हुए शुद्ध द्रष्टा का स्वयं ज्ञान नहीं हो सकता। उपशम तथा निर्वाण-प्रकरण में और

‘विवेकचूडामणि’, ‘सर्ववेदान्तसिद्धान्त-सारसङ्ग्रह’ आदि अत्युत्तम वेदान्त-ग्रन्थरत्न में इस अभ्यास का रहस्य अनेक प्रकार से प्रतिपादित हुआ है—“अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां त्रयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥ परं पौरुषमास्थाय बलं प्रोच युक्तिः । नाभिं संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत् ॥ विवेकैका-नुसंधानात् चिदंशात्मतया मनः । चिदेकतामुपायाति दृढाभ्यासव-शादिह ॥ यत्र प्राणमनोवृत्तिरत्यन्तं नोपलभ्यते । वासनानागुरोःकान्ता तद्विद्धि परमं पदम् ॥ ज्ञानादवामनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः । प्राणात्स्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥ ज्ञानात् सर्वपदार्थानां असत्त्वं समुदेत्यलम् । ततोऽथ वासनानाशात् वियोगः प्राणचेतसोः ॥ वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः । चित्तशब्दस्तु पर्यायो वास्त्वा-नाया उदाहृतः ॥ परं पौरुषमाश्रित्य यस्मात् परमया धिया । भोगा-शाभात्राजं चित्तात् समूलामलमुद्धरेत् ॥ जाता चेदरतिर्जन्तोः भोगान् प्रति मनागपि । तदासौ तावतैवोच्चैर्पदं प्राप्त इति श्रुतिः ॥ न भोगे-स्वरतिर्यावत् जायते भवनाशिनी । न परा निर्बृतिस्त्वावत् प्राप्यते जयदायिनी ॥ कृष्णतासंक्षये यद्वत् क्षीयते कज्जलं स्वयम् । स्पन्दा-त्मकर्मविगमे तद्वत्प्रक्षीयते मनः ॥ बन्धौष्ण्ययोरिव सदा क्षिप्रयोश्चित्त-कर्मणोः । द्वयोरेकतराभावे द्वयमेव विलीयते ॥ एतावतैव देवेशः परमात्मावगम्यते । काष्ठलोष्टसमत्वेन देहो यदवलोक्यते ॥ क्रिया-नाशे भवेच्चिन्ता नाशोऽस्मात् वासनाक्षयः । वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥ अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं न स्थूलदृष्टया प्रति-पत्तुमर्हति । समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या ज्ञातव्यमायैरतिशुद्धबुद्धि-भिः ॥ प्राणायामाद्भवति मनसो निश्चलत्वं प्रसादो स्वस्याप्यस्य प्रति-नियतदिग्देशकालाद्यवेक्ष्य । सस्यग् दृष्ट्या क्वचिदपि तथा नो दमो-ह्न्यते चेत् कुर्याद्भीमान् दममनलसश्चित्तशास्त्रे प्रयत्नात् ॥ तस्मात् तितिक्षया सोढवा तत्तदुःखमुपागतम् । कुर्याच्छक्त्यानुरूपेण श्रवणं दि-शनैः शनैः ॥ सर्वेन्द्रियाणां गतिनिग्रहेण भोग्येषु दोषाद्यवमर्शनेन । ईशप्रसादाच्च गुरोः प्रसादात् शान्तिं समायात्यचिरेण चित्तम् । अस्मिन् समाधौ कुरुते प्रयासं यस्तस्य नैवास्ति पुनर्विकल्पः । सर्वात्म-भावोऽप्यमुनैव सिद्ध्येत् सर्वात्मभावः खलु केवलत्वम् ॥”

प्र०—“उपर्युक्त उक्तियों का सारांश क्या है ?” उ०—“सर्वत्याग, ब्रह्माभ्यास या समाधि के अनुष्ठान बिना आत्मा का प्रत्यक्षज्ञान सम्भव नहीं है। ‘त्यागैर्नैके अमृतत्वमानुजः’, ‘सर्वावस्थापरित्यागे शेष आ-त्मेति कथ्यते। सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ ॥ चित्तत्यागं विदुः सर्गत्यागं सर्वविदो जनाः । अन्तर्योऽयमहंभावो जन्तोस्तच्चित्तमुच्यते ॥ वस्तुतो नास्त्यहङ्कारः पुत्र मिथ्याभ्रमो यथा । सर्वावस्थासु सर्वदा । सर्वत्र सर्वतः सर्वब्रह्ममात्रावलोकनैः । सद्भाववासनादादर्यात् तत् त्रयं लयमश्नुते ॥ निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतरवमवगम्यते ध्रुवम् । नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥ निरन्तरा-भ्यासवशात् तदित्थं पक्वं मनो ब्रह्मणिःक्रीस्ते यदा । तदा समाधिः सविकल्पवर्जितः स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः ॥” चित्तत्याग ही सर्वत्याग है। प्राणी का आन्तरिक अहंभाव ही चित्त है, पर वह भी वास्तविक न होकर भ्रमात्मक है। निरन्तर अभ्यासवश चित्त जब परब्रह्म में लीन होता है, तब अद्वय, अखण्ड आनन्दानुभवरूप समाधि सिद्ध होती है। अतएव बुद्धिवृत्त बन्ध के दूरीकरण के लिए अखण्डवृत्ति की सहायता से आत्मदेव का सर्वत्र और सम्यक् साक्षात्कार अत्यन्त आवश्यक है। उस दे होने पर सर्वदा और सर्वत्र अनायास ही आत्मसुख का सुस्पष्ट अनुभव सम्भव होगा। तद्विषय समाधि-प्रदर्शन का आशय यही है कि यत्नसाध्य सफल समाधिरिति तुरीयावस्था में परवसित हो जाती है।

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

(यह स्तम्भ विचारविनिमय के लिए है)

सनातनी शासनविधान-योजना में यवनस्थान

(श्री नारायण सदाशिव पराण्डे, बी.ए., एल्. एल्. बी.)

‘सिद्धान्त’ के ता० ११ अप्रैल १९४४ के अङ्क में श्री अनूपरामजी शास्त्री ने श्री प्रो० दूरकाळ जी की ‘स्वराज्य-शासनविधान-योजना’ के तत्त्वों का विवेचन किया है। उस योजना का विचार इस समय, योजना तैयार करने के लिए जो समिति बनायी गयी है, उस में पूर्ण नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण योजना के विषय में विचार प्रकट करना उचित न होगा, पर ‘पाकिस्तान’ का समर्थन करने के लिए शास्त्रीजी ने जो कारण प्रस्तुत किये हैं, उन का विचार करना आवश्यक है, क्योंकि श्री प्रो० दूरकाळ जी ‘अ० भा० धर्मसङ्घ’ और ‘अ० भा० वर्णाश्रम स्वराज्य सङ्घ’ के माननीय सदस्य हैं और ‘अ० भा० धर्मसङ्घ’ ने जो शासनविधान तैयार करने के लिए एक समिति बनायी है, उस के आप अध्यक्ष हैं। इन कारणों से जनता में ऐसा भ्रम फैलना सम्भव है कि इन दोनों अखिल भारतीय सङ्घों का मत भी ‘पाकिस्तान’ के अनुकूल है और ऐसा भ्रम फैलना इष्ट नहीं है। पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज के मुख से ‘पाकिस्तान’ का विरोध जनता ने अनेक बार सुना होगा। ‘अ० भा० वर्णाश्रम स्वराज्य सङ्घ’ के अयोध्या के १४ वें महाधिवेशन में जो अध्यक्षीय भाषण हुआ, उस में ‘पाकिस्तान’ की माँग का अयुक्तत्व स्पष्ट ही दिखलाया गया है। इन दोनों संस्थाओं में पाकिस्तान-विरोधी प्रस्ताव सर्वसम्मति से मान्य किये गये हैं। अतः जनता को यह स्पष्टरूप से समझ रखना चाहिए कि दोनों ‘सङ्घों’ को ‘पाकिस्तान की माँग’ का विरोध है और श्री प्रो० दूरकाळ जी की योजना में जो इस माँग के अनुकूल विचार प्रकट किये गये हैं, वे प्रोफेसर महोदय का व्यक्तिगत मत दिखलाते हैं। दोनों सङ्घों को इस माँग का विरोध है, यह बात जानते हुए ‘शासनविधान-समिति’ के अध्यक्ष-पद से अपनी योजना प्रस्तुत करने में इस माँग का क्यों समर्थन किया गया है, यह बड़ा विचारणीय प्रश्न है। इसीलिए श्रीशास्त्री जी ने उस माँग के समर्थन के जो कारण उक्त लेख में विशद किये हैं, उन का परीक्षण आवश्यक है।

श्रीशास्त्री जी ने यह दिखलाया है कि ‘पाकिस्तान’ की माँग कोई अनोखी बात नहीं है। व्यवहार की सुकरता के लिए हर एक गांव और शहर में दोनों जातियों के महत्त्वे अलग अलग रहते हैं, उसी प्रकार की यह व्यवस्था होगी। महत्त्वे अलग होने से जिस तरह गांव या शहर की एकता नष्ट नहीं होती, उसी तरह ‘पाकिस्तान’ बनने से भारतवर्ष की अखण्डता नष्ट न होगी। इस व्यवस्था से यह लाभ दिखलाया है कि एक सन्तरेटने से जो झगड़े होते हैं, वे न होंगे और जो संस्कृति में श्रद्धा और समाज में जाति-साङ्गैय होने का डर है, वह मिट जायगा। श्रीशास्त्री जी समझते हैं कि अधिकतर मुसलमानों के ‘पाकिस्तान’ में चले जाने से शेष प्रान्तों की भूमि नियंत्रण और गोवर्धरहित अतः पवित्र तथा धर्मानुष्ठानानुकूल आप से आप हो जायगी। इस माँग की युक्तता दिखलाने के लिए श्रीशास्त्री जी कहते हैं कि अधिकतर मुसलमान हिन्दुओं के ही वंशज हैं, अतः उन का हिस्सा माँगने का हक अवश्य ही मान्य करना होगा और ‘स्वयंनिर्णय-तत्त्व’ को सान्यता देकर काँग्रेसपक्ष भी रूपान्तर से इस माँग को स्वीकार करता है, फिर हम उदारचरित सनातनी इसे क्यों अमान्य करें? श्रीशास्त्री जी ने सूचित किया है कि धर्मप्रेम और समबुद्धि से विचार किया जाय, तो ये कारण सयुक्तिक प्रतीत होंगे, पर आजकल

इस प्रश्न का विचार प्रतिस्पर्धा की भावना से उत्तेजित होकर किया जाता है, इस प्रकार दूषित बुद्धि से विचार नहीं करना चाहिए। इस सूचना के अनुसार वर्तमान वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर इस प्रश्न का विचार जब मैं अत्यन्त शुद्ध बुद्धि से करता हूँ, तब भी मुझे श्रीशास्त्री जी का साग कोटिक्रम सदोष प्रतीत होता है। श्रीशास्त्री जी समझते हैं कि यदि हिन्दू ‘पाकिस्तान’ की माँग मान्य कर लें और जगह जगह कुछ प्रदेश मुसलमानों के रहने के लिए निश्चित हो जाय, तो अन्य प्रान्तों में रहनेवाले सब मुसलमान इन ‘पाकिस्तान’ नामक प्रदेशों में रहने के लिए चले जायेंगे और अन्य समस्त प्रान्त नियंत्रण हो जायेंगे। फिर वहां गोवर्ध न होगा और असत्सम्पर्क न रहेगा, इस से शान्ति रहेगी और धर्मवृद्धि होगी। ‘पाकिस्तान’ की माँग करने-वालों में से किसी ने आजतक यह सूचित किया मेरे ध्यान में नहीं है कि ‘पाकिस्तान’ निश्चित हो जाने पर अन्य प्रान्तों के सब मुसलमान अपनी अपनी स्थावर सम्पत्ति, व्यापार और व्यवसाय छोड़कर ‘पाकिस्तान’ में रहने चले जायेंगे। फिर ऐसी काल्पनिक और अनहोनी बात मानकर अन्य प्रान्त नियंत्रण और प्रशान्त वातावरण के, धर्मानुकूल, बन जायेंगे, ऐसा समझना अत्यन्त अयोग्य है। ‘पाकिस्तान’ बन जाने पर भी जो मुसलमान जहाँ रहते हैं, उन का वहीं रहना सम्भव है। अतः एकत्र रहकर भिन्नता रखने की अवस्था संस्कृति-रक्षा की कठिनाई इस योजना से मिट नहीं सकती और न सङ्घर्ष तथा ‘सिर-फुडौवल’ का डर मिट सकता है। श्री शास्त्रीजी को पूर्ण रीति से समझ लेना चाहिए कि ‘पाकिस्तान’ की माँग अलग रहने के लिए नहीं है। आज भी हिन्दू अथवा मुसलमान जहाँ चाहें, वहाँ रह सकते हैं। माँग है ‘प्रान्त अलग काटकर उनमें अलग मुसलमानी राज्य स्थापित करने की’। यदि बुद्धि की सरलता के कारण राजनीतिक क्षेत्र में जिस कूटनीति का आश्रय प्रतिपक्षी करते हैं, उस से प्रच्छन्न उन का आन्तरिक भाव ध्यान में न आये, तो वह सरलता राजनीतिक क्षेत्र में अथवा व्यवहार में भी भूषण नहीं समझी जा सकती। वह एक बड़ा दोष है, जिस का सौम्य नाम ‘भोलापन’ है। विदेशी शासकों की अनुकूलता पाकर, काँग्रेसपक्ष को इस भोलेपन की नीति से राजकीय क्षेत्र में धीरे धीरे अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करते जाने से बड़ी हुई दृष्टि का वर्तमान स्वरूप यह ‘पाकिस्तान’ की माँग है। उस का यह स्वरूप समझकर श्रीशास्त्री जी को चाहिए कि उस का अश्लेष्य समर्थन करना वे छोड़ दें। इसी दृष्टि का स्वरूप पहचानकर काँग्रेस में ‘हिन्दू-महासभा’ का पक्ष उत्पन्न हुआ। यह दृष्टि हिन्दुस्तान का एक भाग अथवा कुछ प्रदेश पाकिस्तान बनाकर शान्त होनेवाली नहीं है। उस का अन्तिम ध्येय सारे हिन्दू ‘काफ़िरो’ के संसर्ग से दूषित, अपवित्र हिन्दुस्थान को ‘पाक’ अर्थात् पवित्र बनाना है। वस्तुतः यह ‘पाकिस्तान’ शब्द ही, यह ध्वनित करने से कि हिन्दुओं का निवासस्थान अपवित्र देश है, इतना आक्षेपाई और घृणित है कि उस का उपयोग करना भी हम को असह्य होना चाहिए, पर प्रस्तुत विषय का विचार करने के लिए भावनाओं से उत्तेजित न होकर शुद्ध, सम बुद्धि से हम देखें, तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि समस्त भूमण्डल पर जो वैदिक संस्कृति व्याप्त थी, वह सङ्कुचित होते होते अब एक भारतवर्ष ही के मूलभूत भूखण्ड के आश्रय से “पिण्डीकृत्य महोन्नतामपि तनुं कष्टेन हा। वतते” इस पण्डित जगन्नाथराय की उक्ति के अनुसार रह रही है। असत्सम्पर्क और ‘सिर-फुडौवल’ के डर से श्रीशास्त्रीजी हिन्दुओं के निवास-प्रदेश का कहाँ तक सङ्कोच करेंगे? श्रीशास्त्रीजी जिस नीति का आश्रय करने की सलाह दे रहे हैं, उसी नीति का यदि हम आश्रय करते रहेंगे, तो कालान्तर में हमारे निवास के योग्य हम को भूमण्डल पर कहाँ स्थान ही न रहेगा। अतः यह नीति आत्मविघातक और त्याज्य है।

जगह जगह ‘यवनस्थान’ (मैं सिफारिश करता हूँ कि हमारे

० अफगानिस्थानादि यवनशासित प्रान्तों से लगे हुए पञ्जाब, बायब्य-सीमाप्रान्त तथा सिन्ध में यवनों का ही शासन होना भारत-वर्ष के हिन्दुओं को हानिकारक न होगा क्या ? भारतवर्ष के वर्तमान शासक विदेशी और विधर्मी होने के कारण हिन्दू और मुसलमानों को एकत्र होना आवश्यक है, इस स्थिति में जब ऐक्य-सम्पादन दुःसाध्य है, तब अलग यवनस्थानों में शासन करते हुए मुसलमान और हिन्दुओं का ऐक्य हो जायगा और भारतवर्ष अखण्ड बना रहेगा, यह श्रीशास्त्री जी की आज्ञा कर्हातक योग्य समझी जाय, यह भी एक प्रश्न ही है। श्रीशास्त्री जी का यह कहना कि "आधुनिक मुसलमान अधिकतर हिन्दुओं के वंशज होने के कारण देश में उन के हिस्से को अस्वीकार नहीं किया जा सकता" मुझे सर्वथा अमान्य है। यहां स्वामित्व का विषय कोई स्थावर अथवा जङ्गम सम्पत्ति नहीं है, जिस में हिस्सा पाने का प्रश्न हो। यहां स्वामित्व का विषय "देश के शासन का अधिकार" है। इस शासनाधिकार की दृष्टि से भारतवर्ष के मुसलमानों के विचारार्थ तीन भाग हो सकते हैं। एक भाग में वे मुसलमान आते हैं, जिन के पूर्वज विदेश से यहां आये और भारतवर्ष के कुछ प्रदेशों पर आक्रमण कर कुछ सदियों तक अन्याय से शासन करते रहे। उन का वह अन्यायोपार्जित शासनाधिकार, भारतवर्ष में अङ्गरेजों के शासन का आरम्भ होने के पहले ही, सिख, महाराष्ट्र, जाट, रजपूत आदि ने उन से छीन लिया था, अतः शासनाधिकार में हिस्सा माँगने का उन्हें कोई हक नहीं है। दूसरे विभाग में उन सब मुसलमानों का अन्तर्भाव होता है, जो हिन्दुओं के वंशज हैं। धर्मशास्त्र की दृष्टि से उन का शासनाधिकार वर्गान्तर करने ही से नष्ट हो गया है। स्थलसङ्कोच के कारण इस विषय का यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जा सकता। इन दो वर्गों के मिश्रण से जो उत्पन्न हुए हैं, उस तीसरे विभाग के मुसलमानों को शासनाधिकार न्यायतः न कभी रहा, न इस समय है। इस दृष्टि से हिन्दुओं के वंशज होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से हिन्दुस्थान के किसी विभाग को शासन के लिए अलग करा लेने का मुसलमानों को कोई अधिकार नहीं है।

‘स्वयंनिर्णय’ की मान्यता द्वारा ‘पाकिस्तान’ का सिद्धान्त काँग्रेस-पक्ष ने लगभग मान्य कर लिया है, ऐसा श्रीशास्त्रीजी लिखते हैं, पर यह काँग्रेसपक्ष पर मिथ्या आरोप है। श्री राजगोपालाचार्य को छोड़कर (जो अभी काँग्रेसपक्ष से अलग से हैं) काँग्रेसपक्ष के किसी माननीय नेता ने ‘यवनस्थान’ की योजना को सम्मति नहीं दी है। मि० जिन्ना का काँग्रेस से विरोध करने का यही मुख्य कारण है। स्वयंनिर्णयतत्वं का दावा वे ही कर सकते हैं, जिन्हें न्यायतः शासनाधिकार हो। शासनाधिकार ही न रहने से मुसलमान स्वयंनिर्णयतत्त्व के आधार पर भारतवर्ष का बँटवारा करा लेने का कोई दावा नहीं कर सकते।

इस प्रकार शुद्ध न्याय की दृष्टि से, राजनीतिक दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टि से भी 'यवनस्थान' बनाने की माँग का समर्थन नहीं किया जा सकता, इस बात का श्रीशास्त्रीजी विचार करें ऐसी मेरी उन से प्रार्थना है। विशेषतः इस समय, जब कि मुसलमानों ही के अनेक श्रेष्ठ नेता यह कह रहे हैं कि राष्ट्रीय वृत्ति के मुसलमानों की यह माँग नहीं है, जिस पर जिम्माजी इतना जोर दे रहे हैं और जब कि वर्तमान वायसराय महोदय ने भी अपने भाषण में इस माँग का अयुक्तत्व स्पष्ट कर दिया है, ऐसे समय में, धर्मरक्षा, संस्कृतिरक्षा आदि हेतुभास दिखलाकर उस माँग का समर्थन करना हम सर्वथा अयोग्य ही नहीं, किन्तु हानिकारक भी समझते हैं।

(श्री रामेश्वर पाण्डेय)

इस जगत् में मानवजाति पर अनेक पशुओं की सेवाओं का ऋण लदा हुआ है। परन्तु उन में से अधिकांश पशु ऐसे हैं, जिन की सेवा का भार बहुत कम मात्रा में माना जा सकता है और उस के ऋण से मनुष्य सुगमता से छुटकारा पा सकता है। लेकिन गाय की निःस्वार्थ सेवाओं के ऋण से मनुष्यजाति कभी भी उच्छ्रान्त नहीं हो सकती। भारत एक कृषिप्रधान देश है, अतः गाय और उस के पुत्रों (दैत्यों) के बिना हम भारतवासियों का कोई भी काम नहीं चल सकता। गाय हिन्दूजाति को प्राचीन काल से भौतिक जीवन में सहायता देने के अतिरिक्त आध्यात्मिक जीवन में भी पग-पग पर सहयोग प्रदान करती रही है। इन्हीं कारणों से तो उस की उपयोगिता और पवित्रता की प्रशंसा हिन्दूधर्मशास्त्रों में विस्तृतरूप में की गयी है। वेदों तक ने, जिन की सत्ता विश्व स्वीकार करता है, गायों की महिमा गायी है। गाय मनुष्य के लिए उस के प्राणों के सदृश उपयोगी है। ऋग्वेद में अग्नि की प्रशंसा के तारतम्य में यह बात हृदयङ्गम होती है कि “पयोदधेनुः शुचिर्विमाना” अर्थात् अग्नि पयस्विनी गौ के ही समान उपयोगी है। फिर एक स्थान पर वेद में गोमाता की उपयोगिता के लिए इस प्रकार वर्णन लाया है— “माता रुद्राणां दुहिता वसूनां, स्वसाऽऽदित्यानां प्राणः प्रजानां ममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामिदिति वचिष्ठ।” अर्थात् गौ १० प्राण, १ आत्मा, इन ११ रुद्रों की माता; ८ वसु (ऐश्वर्य के देनेवाले) की पुत्री, १२ आदित्यों की बहन और प्रजा का प्राण है और (अमृत की नाभि) क्षीर की पैदा करनेवाली है। यही कारण है कि हिन्दुओं ने गौ को ‘गोमाता’ शब्द से सम्बोधित किया है।

यह बहुत सम्भव है कि कुछ लोग ऐसे कथनों में इस कारण से विश्वास न करें कि गाय हिन्दुओं की धार्मिक एवं भौतिक वस्तु

होने के कारण वे उस की प्रशंसा बढ़ा-चढ़ाकर कर सकते हैं। परन्तु उन की यह शक्ती तब निर्मूल हो जायगी, जब उन के समक्ष विदेशी विद्वानों के गम्भीर विचार गाय की उपयोगिता के प्रति लक्षित होंगे। वे विद्वान् न तो कृषिप्रधान देश के ही रहनेवाले हैं, न तो गाय को हिन्दुओं के समान धार्मिक दृष्टि से ही देखते हैं। इसलिए गाय के प्रति उन के उच्च विचारों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं। अमरीका के टेन्नीसी प्रान्त के भूतपूर्व गवर्नर मैलकोम आर. पेटरसन साहब का गाय के प्रति इस प्रकार विचार है—“अन्वे होमर ने ट्रोजन की लड़ाइयों और उन के वीरों का गीत गाया, वरजिल ने सिपाहियों और हथियारों के, होरेस ने प्रेम के, दान्ते ने नरक के और मिक्टन ने स्वर्ग के गीत गाये। परन्तु यदि परमात्मा इन सब प्राचीन महाकाव्यों के सारे गुणों को मुझे देता, तो मैं एक हजार स्वरोवाली सितार पर अपनी पूरी शक्ति से आन्तरिक सच्चे प्रेम के साथ संसार के सब लोगों को गौ का गीत गाकर सुनाता, उस के गुणों को प्रसिद्ध करता और आनेवाली सन्तान को उस का नाम याद कराता। यदि मैं शिल्पकार होता और मुझ में अपने विचारों को सङ्गमरमर पत्थर में खोदने की शक्ति होती, तो मैं कहीं मनोरम-जङ्गल में संसार की सब से अच्छी, सब से सफेद, सङ्गमरमर पत्थर की खान को ढूँढता, जहाँ के आकाश सब से अधिक नीले होते, जल बहुत ही पवित्र होता और पक्षी दूर रात की कोमल तथा शीतल चोंदनी में भीठे गीत गाते होते। उस स्थान में मैं अपने इस प्रेम और धर्म के पवित्र कार्य को शुरू करता। जैसे ही मैं अपनी छेनी को उस पत्थर पर लगाता, मैं उस ठण्डे पत्थर को अपने लिए बोलने को कहता। जब वह खुरदरा कठोर पत्थर मेरी इच्छा के अनुसार रूप में बन जाता और अन्त में चौड़ी तथा प्रेमभरी आखोंवाली गौ निकल आती, जो अपने फूले हुए स्तन का बहुमूल्य पदार्थ (दूध) देने के लिए सन्तोषपूर्वक खड़ी प्रतीक्षा कर रही है और उस दूध के पीनेवाले को आनन्द, स्वास्थ्य और शक्ति प्रदान करती है। गाय बिना ताज और बिना राजसत्ता की महारानी है और उस का राज्य समुद्रों के बीच की सब ही जगहों में है। उस का उद्देश्य सेवा है और वह हमेशा जो लेती है, उस से ज्यादा देती है। यदि दुर्भाग्य से कल दुनियाँ की सारी गायें मर जाय या सूख जाय, तो मनुष्यजाति पर एक बहुत ही बड़ी विपत्ति आ पड़े, जिस का वर्णन भी नहीं किया जा सकता। हम बिना रेलों के, बिना बैलों के या बिना रुई की फसल के रह सकते हैं, परन्तु गाय के बिना आदमी बीमार हो जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे और अन्त में समाप्त हो जायेंगे। आओ, हम सब गौ का सम्मान करें और उस की प्रशंसा करें, जिस की वह अधिकारिणी है। मैं आशा करता हूँ कि जैसे जैसे हमारा ज्ञान बढ़ता जायगा, हम कठोरता तथा स्वार्थ त्यागकर, जिस गौ ने हमें शक्ति तथा आराम प्रदान किया है और हमारे बच्चों को जिन्दगी दी है, उस का मारना तथा उस का मांस खाना छोड़ देंगे।”

इसी प्रकार श्री रॉलफ ए० हेन साहब के विचार गाय के प्रति इस प्रकार हैं—“मनुष्य-जाति के लिए गौ एक अमूल्य रत्न है। कोई जाति या मनुष्य गौ के बिना पूर्ण सभ्य नहीं हुआ। पृथ्वी पर गौ मनुष्य के लिए श्रेष्ठ भोजन उत्पन्न करती है। गौ घास और मोटे पौधे खाकर शरीर को स्वस्थ रखने और बल देनेवाला आहार पैदा करती है। गौ केवल अपनी सन्तान और अपने स्वामी के परिवार के लिए ही भोजन नहीं देती, बल्कि इस से बकाया बेचने को देती है। गौ के बिना खेती स्थायी रूप से सफल नहीं हो सकती, मनुष्य स्वस्थ और प्रसन्न नहीं रहते। जहाँ गौ रहती है और उस का उचित रूप से पालन किया जाता है, वहाँ सभ्यता उन्नति करती है, देश मालामाल हो जाता है, गृहस्थ सुखी होते हैं, दरिद्रता दूर भाग जाती है। सत्य है, गौ सब सभ्यताओं की आदि जननी है।”

इसी प्रकार प्रसिद्ध ‘इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका’ (विश्वकोष) के ग्यारहवें संस्करण भाग ७, पृ० ७६८ नी. में लिखा हुआ है कि “यदि कोई जाति कभी पशुपालन की ओर झुके, तो निस्सन्देह गौ उन की मुख्य देवी होगी। गौ आनन्दवर्द्धक वस्तुओं का भण्डार है। गौ दूध की माता, मक्खन का स्रोत, पनीर (दही) का मुख्य कारण है। खुर, सींग, बाल और खाल का तो वर्णन ही क्या? गौ बहुत भोली, प्रेम करनेवाली और स्वामिभक्त पशु है, जिस को अपने परिवार के ऐसे काम में कोई दिलचस्पी नहीं है, जिसमें मनुष्य के साथ वह भाग नहीं लेती। हम सारे दूध को लेने के लिए उस के बच्चों का हरण करते हैं और इस लूट को जारी रखने के लिए ही हम उस का पालन करते हैं।” मारटिनी नामक एक पश्चिमी विद्वान् का कहना है कि “अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया की प्राचीन असली जातियाँ अभीतक जङ्गलीपन से आगे न बढ़ सकीं, इस का मुख्य कारण यह है कि उन जातियों ने गाय के दूध का भोजन के तौर पर प्रयोग नहीं किया।”

इन कथनों से यह चरितार्थ होता है कि पश्चिमी विद्वान् भी गाय की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। फलतः आज पाश्चात्य देशों में इस कल्याणप्रदान करनेवाली गौ की सेवा-शुश्रूषा बड़े अच्छे ढङ्ग से हो रही है। इसी से वहाँ की गौएँ आज मन, डेढ़ मन तक प्रतिदिन दूध देती हैं। परन्तु कितने दुःख और सन्ताप की बात है कि जिस भारत का मुख्य धन गोधन है, जिस का मुख्य कर्तव्य गोपालन है, वहाँ की अधिकांश गौएँ आज चुल्लू भर भी दूध देने में समर्थ नहीं हैं। यही कारण है कि हम दिनों-दिन निर्बल, निस्तेज और निस्सहाय होते जा रहे हैं एवं पतित और पददलित हो रहे हैं। जब हम गोप्रास तक का देना भूल गये, तब और अधिक क्या कर सकते हैं? गोप्रास का देना तो दूर रहा, अब हमारे अधिकांश शिक्षित समाज के लोग गाय का नाम ही सुनकर नाक और भौं सिकोड़ने लगे हैं। ‘हिन्दू महासभा’ के अध्यक्ष वीर सावरकर गाय से कुत्ते को अधिक उपयोगी समझते हैं। शिक्षितों की यह उदासीनता और धनवानों का इस के नाम को सुनकर अपनी थैली में कड़ी गाँठ का लगाना ही किसी दिन ले डूबेगा। हम कहीं के नहीं रहेंगे और अन्त में नरक के भागी बनेंगे। ‘महाभारत’ में तो महर्षि वेदव्यास ने यहाँ तक कह डाला है कि जिस के घर में कम से कम एक गाय नहीं है, वह घर श्मशान के तुल्य है—“धेनुः यस्य गृहे नास्ति श्मशानसदृशं हि तत्।” इसलिए भगवान् ने जिस को जिस योग्य बनाया है, उसे उसी ढङ्ग और सच्ची लगन से गोमाता की सेवा करने में कटिबद्ध हो जाना चाहिए। इस मार्ग से हम इस लोक के सुख-वैभव को प्राप्त करते हुए अपना परलोक भी बनायेंगे।

हिन्दू कोड भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार)

बिल पर मन्तव्य

(श्री जयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाठ. एम. ए.)

२१

‘श्री सनातन वैदिक धर्मसभा, अहमदाबाद’ उक्त बिल तथा वैसी सभी कार्यवाही के, जो चाहे जैसे सुधरे रूप में की जा रही हो, विरुद्ध है और ऐसे विषय में हस्ताक्षेप करने की केन्द्रीय धारासभा की योग्यता के सम्बन्ध में गम्भीर सन्देह प्रकट करती है। यह सभा देश के लाखों संरक्षक हिन्दुओं के विचार को प्रदर्शित करती है और आशा करती है कि उनके मत की उपेक्षा न की जायगी।

१ यह अभिप्राय श्री सनातन वैदिक धर्मसभा, अहमदाबाद की ओर से ता: २८ मार्च सन् ४४ ई० को सरकार के पास भेजा गया है।

वर्तमान बिल के विरुद्ध हमारा विरोध हम निम्नलिखित पाँच प्रकरणों द्वारा दिखलाना चाहते हैं— १ यह बिल जनता की मांग के बिना पेश किया गया है, २ हिन्दू आदर्शों से वह विरुद्ध है, ३ इस बिल के पीछे सन्देहपूर्ण मन्तव्य हैं, ४ यह बिल धारासभा की मर्यादा के बाहर है, ५ सूचना तथा प्रार्थना ।

जनता की मांग के बिना हस्ताक्षेप

१—जनता के प्राचीन सम्प्रदायपुरस्सर के सांस्कृतिक विधि-विधानों में इसतरह का कानूनी हस्ताक्षेप अनावश्यक है और जनता उसे मांगती भी नहीं है । २—यह सच है कि स्थापित धर्म को न माननेवाले और स्वार्थवाले तथा वे तटस्थ पक्ष, जो हिन्दुओं का पतन देखकर प्रसन्न होते हैं, कई बार ऐसी कार्यवाही के लिए मांग का शोर मचाते हैं, जिन कार्यवाहियों से हिन्दुओं के मौलिक नियम तथा समाजरचना की नींव शिथिल पड़ जाय । ३—ऐसे लोगों ने हिन्दूसमाज में उलटफेर कर डालने के लिए परस्पर ठाने हुए बनावटी झगड़े, बनावटी सुलहनामे और परस्पर दिये हुए वचन, इस प्रवृत्ति के पीछे काम कर रहे हैं, इसलिए ऐसी कानूनी चालवाजियों की जड़ समझनेवाला कोई निरीक्षक धोखे में नहीं डाला जा सकता । ४—यह बात सुप्रसिद्ध है कि विधवा-गुनर्विवाह, सिविल मैरेज (आधुनिक सुधार विवाह) आदि ऐच्छिक कानूनों से, हिन्दू जनता के अत्यन्त स्वतन्त्र अंश ने ही लाभ उठाया है । वैसे व्यक्ति अपने को जातीय समुदाय में से बहिष्कृत हुआ देखते हैं और वे अपने स्वतन्त्रता-सम्बन्धी उच्छृङ्खल विचार अनिवार्य कानूनों द्वारा हिन्दूसमाज पर जबरदस्ती लादना चाहते हैं, जिस से उस के आश्रय से समाज में उन की प्रतिष्ठा प्रचलित हो । संरक्षक हिन्दूजनता ऐसी प्रवृत्ति को, हिन्दूसमाज को पतन के अधोमार्ग की ओर ले जानेवाला एक अधम षडयन्त्र, समझती है । ५—शास्त्रों को माननेवाले हिन्दूसमाज में से अलग होकर जो अपने लिए ऐसे ऐच्छिक कानून बनवाना चाहते हों, उस में हिन्दू उन्हें रोकना नहीं चाहते या वे यदि 'हिन्दू' इस नाम को बहुत आकर्षक समझकर उसे छोड़ना न चाहते हों, तो 'धारासमाज' की तरह वे एक पृथक् समुदाय बनाकर उसके लिए सुधार हुए कानून बना सकते हैं । ऐसे नवीन समुदाय की संख्या से ऐसे बिल की अप्रियता एवं बनावटीपन स्पष्ट प्रकट हो जायगा । ६—यह सच है कि किसी भी संस्कृति में ऐसे परपक्षगामी वेवफा लोग समूचे समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं, परन्तु देश में चारों ओर फैले हुए स्वच्छन्दता के प्रवाह का जोर हमें समझना है और वैसे लोगों के मनोवेग को सन्तुष्ट करने की इच्छा भी ध्यान में रखना है कि जिन्होंने क्रान्ति-कारी सुधार के लिए ऐसा उत्पात मचा रखा है, जिन्होंने सरकार को एक खास कमेट्री के खर्च में डाल दिया है और जिन्होंने ऐसे समय में, जब कि हिन्दुस्तान महासङ्ग्राम की दारुण वेदनाओं से घिरा हुआ है और प्रस्तुत धारासभा में जब कि उपस्थिति भी पूरी नहीं है, ऐसे बिलों को लाते हुए कुछ सोचना उचित नहीं समझा है । ७—परिस्थिति की विचित्रता यह है कि यद्यपि धारासभा अखिल भारतीय है, तथापि अन्य किसी जाति के कानूनों में हस्ताक्षेप करने की उस की हिम्मत नहीं है, पर उस ने हिन्दूकानून में हस्ताक्षेप करना उचित समझा है, मानो यह विधान बिना अनुमति किया हुआ, लाभरहित एवं हस्ताक्षेप करने योग्य ही हो ।

८—हिन्दूसमाज, समाज की दृष्टि से, हिन्दूकानूनों को नये प्रकार से धाराबद्ध करने की समूची प्रवृत्ति तथा नवीन 'हिन्दू कोड'

भाग १-२ के बिलों से सर्वथा विरुद्ध है । यह बात इस से स्पष्ट होती है कि 'अखिल भारतीय वर्णाश्रम स्वराज्यसङ्घ', 'अखिल भारतीय धर्मसङ्घ', 'समातनधर्म महासभाएँ' तथा समूचे भारत के हिन्दू धर्माचार्यों ने उन का विरोध किया । ऐसी संस्थाओं को सुधारवादी संस्थाओं से इसतरह अलग किया जा सकता है कि सुधारवादी संस्थाओं को धर्माचार्यों का आश्रय नहीं होता ।

९—थोड़ी सुधारवादी संस्थाओं ने प्रकट रूप से ही ऐसी धारा-बद्धता के अनुकूल मत दिया है । संरक्षक-विचार के हिन्दू अधिकतर धर्मप्रधान मानस के होने के कारण ऐसी कानूनवाजी की कार्यवाहियों के विरुद्ध राजकीय युद्ध चलाने के लिए वे अच्छी तरह सज्जित नहीं हुए होते और इस से यह सम्भव है कि सरकार की ओर से मंजूर होनेवाली समितियों में उन की संख्या थोड़ी हो और इस के फलस्वरूप बिल के पक्ष में अधिक संख्या दिखलायी पड़े । इस विषय में विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात यह है कि इस में की अधिकतर समितियाँ अनेक जातियों की मिश्रित हैं । १०—स्त्रियों की संस्थाओं की, इस विषय की ओर अधिक तरफदारी का, ऊपर प्रदर्शित के अतिरिक्त अन्य कारण यह भी है कि पतनवश शैतान ने जैसे किया था, वैसे ही यह बिल शास्त्रसम्बन्धी उस की वेवफाई से स्त्रीजाति को लालच से लुभाकर शुरु करता है । ११—कई अर्द्धश्रद्धावाले लोग इस नये बिल से होनेवाले व्यक्तिगत लाभ के कारण उस की ओर आकर्षित होते हैं, पर जो मुख्य बात है, उधर से उन्हें अन्धेरे में ही रखा गया है, वह यह है कि हिन्दी राज्यव्यवस्था का एक सुस्थापित एवं स्वीकृत सिद्धान्त पानी में फेंक देने का इस में स्पष्ट प्रयत्न है । वह सिद्धान्त यह है कि "हिन्दुओं के लिए उन के पुरातन नियम ही लागू रहेंगे, जिन नियमों से उन के आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक अधिकार तथा राजकीय एकता ओतप्रोत है ।"

विषय - सूची

विषय	पृष्ठ
१—ब्राह्मणवाद का भय २ (सम्पादकीय)	४९
२—ईश्वर-प्रेम का उपदेश (टिप्पणी)	५०
३—प्रश्नोत्तर (श्री स्वामी करपात्री जी)	५०
४—चित्त-विश्रान्ति ५ (श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती, एम्. ए.)	५१
५—सनातनी शासनविधान-योजना में युवतृस्थान (श्री नारायण, सदाशिव पराण्डे, बी. ए., एल्. एल्. बी.)	५३
६—मनुष्यजाति पर गौ के ऋण (श्री रामेश्वर पाण्डेय)	५४
७—हिन्दू कोड भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार) बिल पर मन्तव्य १ (श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाळ. एम्. ए.)	५५

सिद्धान्त

“जयति रघुवंशातिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क ८

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी]

काशी—ज्येष्ठ शुक्ल १ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० २३ मई, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति का -)

ब्राह्मणवाद का भय

३

ब्राह्मणवाद क्या है और साम्राज्यवाद से उस की कहां तक समता है, इस पर भी पहले विचार कर लेना आवश्यक है। आज-कल ‘साम्राज्यवाद’ का अर्थ है शासनालु होकर अपने अधिकारों द्वारा अनेक रूप से प्रजा का शोषण करना। परन्तु भारत के प्राचीन साम्राज्यों की यह नीति कभी नहीं रही। राजधर्म ने राजा को सदा प्रजा का सेवक माना है। प्राचीन भारत में भी कुछ अत्याचारी राजा हुए परन्तु पाश्चात्य भाववाला ‘साम्राज्यवाद’ अपने यहां कभी नहीं चला। इसीतरह ब्राह्मणों के पथभ्रष्ट हो जाने पर भी ब्राह्मणवाद की सृष्टि नहीं होने पायी। इस का मुख्य कारण यह है कि ब्राह्मणों ने पाश्चात्य देशों की ‘चर्च’ (पादरीसङ्घ) ऐसी कोई संस्था स्थापित करके उस के सर्वोच्च पद पर किसी ‘पोप’ को अभिषिक्त नहीं किया, न मुसलमानों की तरह किसी को ‘खलीफा’ बनाकर उस के हाथ में सारे धार्मिक तथा राजनीतिक अधिकार सौंप दिये। शक्ति का दुरुपयोग तभी होता है, जब वह किसी एक के हाथ में केन्द्रीभूत हो जाती है। हिन्दू-समाजव्यवस्था की यही विशेषता है कि उस ने किसी को अनियन्त्रित नहीं रखा। हम यह पहले ही दिखला चुके हैं कि लोकाहित के उच्च भाव को लेकर ‘ब्रह्म और क्षत्र’ का परस्पर क्या सम्बन्ध रहा है। डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने, सन् १९४२ में अमरीका से प्रकाशित “दि स्पिरिचुअल अथारिटी ऐण्ड टेम्पोरल पावर इन दि इण्डियन थियोरी आफ गवर्मेंट” नामक अपनी पुस्तक में, जिस की चर्चा पहले भी की गयी है, इस विषय का बड़ा सुन्दर तथा विशद विवेचन किया है। वास्तव में ब्रह्म और क्षत्र दोनों में से कोई भी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र नहीं है। इसलिए दोनों के सङ्घर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं उठा और दोनों पर शास्त्र का समान रूप से अङ्कुश बन रहा। परन्तु पाश्चात्य देशों में सभी तरह के अधिकारों को ‘चर्च’ ने अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया। राजाओं को पदच्युत करने तक का अधिकार ‘पोप’ के हाथ में आ गया, जिस से ‘राज और पादरियों’ (स्टेट और चर्च) में सङ्घर्ष छिड़ गया। ‘चर्च’ की व्यवस्था बिगड़ गयी और उस के द्वारा बहुत कुछ अत्याचार होने लगा।

जिसतरह पाश्चात्य साम्राज्यों की नीति को लेकर आधुनिक ‘साम्राज्यवाद’ की कल्पना हुई, उसीतरह ‘चर्च’ के अत्याचारों को लेकर भारत के लिए ‘ब्राह्मणवाद’ शब्द गढ़ा गया। परन्तु पाश्चात्य समाज में जो पद पादरियों का है, हिन्दूसमाज में वैसा पद ब्राह्मणों के लिए कभी भी नहीं रहा। हमारे नवशिक्षित विद्वान् अपने प्राचीन शास्त्रों तथा इतिहासों का तो कभी अध्ययन करते नहीं, परन्तु उन के सामने पाश्चात्य देशों का रक्तरञ्जित

इतिहास सदा नाचा करता है। वहां की घटनाओं के चश्मे से वे भारतीय इतिहास को देखा करते हैं, इसीलिए उन्हें भारत में भी ‘ब्राह्मणवाद’ तथा ‘साम्राज्यवाद’ का भूत दिखलायी देने लगता है। भारत में ब्राह्मण या सम्राट् दोनों में से किसी ने अपने आश्रित वर्गों का ऐसा शोषण कभी भी नहीं किया कि इन दोनों के साथ आधुनिक भाववाला ‘वाद’ शब्द जोड़ा जा सके, फिर दोनों की समता का प्रश्न ही क्या? ब्राह्मणों में कितने ही दोष अवश्य आ गये, पर यह कहना कि उन्होंने ने अन्य वर्गों का शोषण किया तथा आज भी कर रहे हैं, अपनी ऐतिहासिक अनभिज्ञता प्रकट करना है।

जिस लेख की हम आलोचना कर रहे हैं, उस में यह माना गया है कि ब्राह्मण पहले विरक्त, तपस्वी जीवन व्यतीत करके ब्रह्मचिन्तन में लीन रहते थे, परन्तु उस लेख में यह कहीं नहीं दिखलाया गया है कि क्यों, कैसे और कब ‘ब्राह्मणवाद’ के भूत का जन्म हुआ? ब्राह्मणों के वर्तमान पतन को समझने के लिए हमें पिछले इतिहास पर एक दृष्टि डालनी पड़ेगी। राज के साथ ब्राह्मण का सम्बन्ध उस के पतन का कारण नहीं हुआ, यह हम दिखला चुके हैं। यह सम्बन्ध कोई नवीन नहीं था। वास्तव में यह अतिप्राचीन काल से चला आता था, जिस के वैदिक साहित्य, इतिहास, पुराणादि में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। तब फिर उस का पतन क्यों हुआ? बात यह है कि किसी वस्तु की निरन्तर उन्नति होती रहे, ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। उत्थान और पतन, उन्नति और अवनति का चक्र प्रकृति में सर्वदा चला करता है। जो बात सतयुग में थी, वह कलियुग में नहीं रहती। इसतरह काल के प्रभाव से ब्राह्मणों का भी हास आरम्भ हुआ और अन्य कारणों ने उस की गति को तीव्र करके वर्तमान शोचनीय दशा को पहुंचा दिया। हिन्दुशासनकाल के अन्त तक समाजव्यवस्था ने बहुत कुछ अपना प्राचीन स्वरूप बनाये रखा। परन्तु मुसलमानों के प्रवेश के साथ नवीन भावों का प्रादुर्भाव हुआ। जाति-बन्धन ढीले पड़ने लगे और सब वर्गों की खिचड़ी तैयार करने का प्रयत्न होने लगा। तब भी सर्वसाधारण में ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा का भाव बना रहा। परन्तु अङ्ग्रेजी शिक्षा ने उन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया और उन में बची-खुची श्रद्धा को भी नष्ट कर दिया। नीतिनिपुण ईसाई शासकों की दृष्टि में ब्राह्मण खटकने लगा। उन्होंने ने देखा, जबतक ब्राह्मण का नेतृत्व बना हुआ है, उन के शासन की नींव दृढ़ नहीं हो सकती, इसलिए जानबूझकर उन्होंने ने उस के गिराने का प्रयत्न आरम्भ किया। अन्य वर्गवालों को उन्होंने ने उस के शिर पर बिठलाकर उसे अपमानित किया, ढूँढ ढूँढ कर उस की धूर्तता दिखलाना आरम्भ किया और उसे दान-दक्षिणा देना पाप बतलाया। सीधा-सादा जीवन व्यतीत करके वह अध्यापन के कार्य में लगा था। उस का यह परम्पराप्राप्त

व्यवसाय छीन लिया गया और जहाँ रखा गया, वहाँ भी उसे बेतन के लोभ में फँसाया गया। समाज में उस के उच्च पद के कारण अन्य वर्णों में उस के प्रति ईर्ष्या के भाव भरे गये। एक तो वह गिर ही रहा था और दूसरी ओर जब समाज ने उस के प्रति अपने उत्तरदायित्व की उपेक्षा की, तब उस का पतन अनिवार्य हो गया। 'बुद्धिमतः किं न करोति पापम्' भूखा क्या नहीं करता? दरिद्रता के वशीभूत होकर ब्राह्मण को भी धूर्तता सूझी, जिस से उन के प्रति श्रद्धा और भी घटने लगी। इसतरह एक कुचक्र चल पड़ा। आचरणविहीन होने से उन में श्रद्धा और उस में श्रद्धा न होने के कारण उन की दरिद्रता, जिस के परिणाम-स्वरूप उन को दुश्चरित्रता। संक्षेप में यह है उन के पतन की कहानी।

भारतीय संस्कृति का, जिस की धाक संसार को माननी पड़ रही है, निर्माण ब्राह्मणों के ही मस्तिष्क ने किया है। प्रत्येक विषयों पर भारत का अमूल्य साहित्य ब्राह्मणों की देन है। अपनी शिक्षा द्वारा, अपने आचरण द्वारा उन्होंने ने आज तक प्राचीन परम्परा को जीवित रखा है। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय, तो क्या कभी यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मणवर्ग ने समाज का जितना नमक खाया, उस का पूरा बदला नहीं चुकाया? इन गिरे दिनों में भी जहाँ योग्यता का सम्बन्ध है, ब्राह्मण ही आगे बढ़ा हुआ है। इसीलिए तो लोगों को ईर्ष्या होती है। तभी तो उस की निन्दा करते हुए भी अन्य श्रेणी के लोग ब्राह्मण बनने के लिए उतावले रहते हैं।

बालदीक्षा-प्रतिबन्धक बिल—

कई सम्प्रदायों में छोटे छोटे बालक तथा बालिकाओं को साधु-साधुनी बना देने की प्रथा प्रचलित है। इस के अनुसार देश में हजारों बालक-बालिकाएँ प्रतिवर्ष मूण्ड लिये जाते हैं। नौ-दश वर्ष का बालक शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक, किसी भी दृष्टि से साधु के कठार व्रत को पालन करने योग्य नहीं होता। भ्रूव, प्रह्लाद, शङ्कराचार्य आदि अवतारी पुरुषों की बात दूसरी है। उन का उदाहरण सब के लिए लागू नहीं हो सकता। एक नासमझ बालक से आजो-वन ब्रह्मचर्य एवं सर्वस्वत्याग की प्रतिज्ञा करवाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। ऐसा बालक यदि युवा होने पर दीक्षा छोड़ देता है, तो वह जाति-बहिष्कृत एवं धृणित समझा जाता है। उस के साथ न कोई विवाह करना पसन्द करता है, न तो उस का पैतृकसम्पत्ति पर ही अधिकार रहता है। युवावस्था में वासनाओं के प्रबल होने पर वे समाज में दुराचार फैलते हैं। इसतरह वे अपना तथा साथ ही दूसरों का भी जीवन बरबाद करते हैं। कहीं कहीं यह भी देखा जाता है कि खर्च से बचने और कुछ धन पाने के लोभ से लड़के-लड़कियों को उन के मातः-पिता साधुओं को सौंप देते हैं। कई राज्यों में यह प्रथा उग्र रूप पकड़ रही है। इस को रोकने की दृष्टि से ही बीकानेर 'राज्य-प्रभा' में एक 'बाल-दीक्षा-प्रतिबन्धक बिल' के आगामी अधिवेशन में पेश किया जा रहा है। इस के अनुसार "जो कोई, किसी भी उम्र के या लड़के को, जिस की आयु १८ वर्ष से कम है, दीक्षित करेगा, दीक्षा में सहायता देगा या उस के लिए ऐसा प्रयत्न करेगा, जिस से नाबालिग को साधु-साधुनी, यति-यतिनी बनाया जाता हो, उसे एक वर्ष तक कैद तथा जुर्माने की सजा दी जायगी। यदि कोई नाबालिग दीक्षित कर लिया गया, तो दीक्षा देनेवाले सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रों में चाहे कुछ भी लिखा हो, उस की दीक्षा अनियमित, अवैध तथा गलत समझी जायगी और वह लड़का ऐसा ही माना जायगा, जैसा वह बिना दीक्षा के माना जाता। यह अपराध पुलिस के हस्ताक्षेप-योग्य समझा

जायगा।" इस बिल के उद्देश्य तथा हेतु से हम सर्वथा सहमत हैं। नाबालिगों में ऐसा परिपक्व ज्ञान और निर्णयशक्ति नहीं होती कि जिस से वे दीक्षा के अर्थ को अच्छीतरह समझ सकें और जिस के अनुसार वे सारा जीवन व्यतीत कर सकें। इस प्रकार की दीक्षाओं का प्रत्यक्ष परिणाम यही होता है कि समाज में व्यभिचार तथा दुराचार फैलता है और दीक्षा देनेवाले साधु तथा सम्प्रदाय भी बदनाम होते हैं। परन्तु इस दोष को दूर करने का जो उपाय बतलाया गया है, वह हमें कदापि मान्य नहीं है। धार्मिक विषयों में राज को, विशेषकर जिस प्रकार आजकल वे सङ्घटित हैं, हस्ताक्षेप करने का कोई भी अधिकार नहीं है। एक बार यदि यह अधिकार मान लिया गया, तो फिर राज जब चाहे जिस रूप में हमारे धार्मिक जीवन में हस्ताक्षेप कर सकता है, जिस के परिणाम-स्वरूप बची-खुची धार्मिक स्वतन्त्रता भी नष्ट हो जायगी। प्रधानतः इसी बात को लेकर हम ब्रिटिशभारत में केन्द्रीय सरकार द्वारा 'राव कमेटी' की नियुक्ति और 'हिन्दू-उत्तराधिकार' तथा 'हिन्दू-विवाह' बिलों का घोर विरोध कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि देशी राज्यों के शासक हिन्दूनरेश हैं, पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उन पर भी विदेशी प्रभाव कुछ कम नहीं है। यदि एक बार उन का यह अधिकार मान लिया गया, तो सुधारों के नाम पर मनमाने परिवर्तन होने लगेंगे। वैसी दशा में एक रोग-को दबाने की चिकित्सा का परिणाम अन्य भयङ्कर रोगों को उत्पन्न करना होगा। इसलिए ऐसी चिकित्सा से दूर रहना ही अच्छा है। वास्तव में किसी भी रोग की ऐसी चिकित्सा होनी चाहिए, जो उस रोग की निवृत्ति के साथ सारे शरीर के लिए स्वास्थ्य-प्रद हो। इसलिए ऐसे मामलों में उचित उपाय यही है कि ऐसे दोषों के विरुद्ध पूर्णतया लोकमत जाग्रत किया जाय। उस के द्वारा जो सुधार होगा, वही हितकर तथा स्थायी होगा। हर एक बात में पुलिस की सहायता लेना किसी दिन अवश्य असह्य हो जायगा। इसलिए हम तो उचित यही समझते हैं कि बिलों की बला को छोड़ कर लोकमत जाग्रत करते हुए ऐसा प्रचार करना चाहिए कि किसी साधु या सम्प्रदाय को ऐसी घृष्टता करने का साहस न पड़े। हमारे दान, दक्षिणा, धन से इन सम्प्रदायों का काम चलता है। यदि हम उस से हाथ खींच लें, तो शीघ्र ही इन का दिमाग ठिकाने आ सकता है।

क्या हम आशा करें कि बिल के प्रस्तावक, जो एक सुयोग्य विद्वान् हैं और समाज-हित की दृष्टि से ही ऐसा बिल पेश करना चाहते हैं, प्रश्न के इस पहलू पर भी विचार करेंगे?

सृष्टि-कर्तृत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

गताङ्क में 'सृष्टिकर्तृत्व-खण्डन' शीर्षक लेख पढ़ा। प्रसन्नता की बात है कि उक्त लेख के लेखक जिज्ञासु हैं। 'आप का कहना है कि "कार्यत्व तथा कर्तृजन्यत्व में अपरिहार्य साहचर्य मानकर जगत्कार्य के कर्ता के रूप में ईश्वरसिद्धि करने की सामान्य रीति है, किन्तु एवंविध अपरिहार्य साहचर्य मानने का कोई आधार नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से हमें प्राणिकृत कार्यों के अतिरिक्त अप्राणिकृत कार्यों में यह साहचर्य सर्वथा अदृश्य है, अतः 'अधिरनुष्णः कार्यत्वात् घटवत्' इस अनुमान के सदृश ही 'क्षित्यादिकं कर्तृजन्य कार्यत्वात् घटवत्' यह अनुमान भी असङ्गत ही है। वस्तुतः दृष्टान्त असम्भावना की निवृत्तिमात्र कर सकता है, किसी नियम की स्थापना नहीं कर सकता, पर दृष्टान्त भी अव्यभिचारी होना चाहिए। व्यभिचारी दृष्टान्त तो असम्भावना की निवृत्ति भी नहीं कर सकता, अतः

एव कार्यत्व-कर्तृजन्यत्व के अपरिहार्य साहचर्य मानने में कोई हेतु न देकर घट का व्यभिचारी दृष्टान्त देकर ईश्वरसिद्धि का प्रयत्न केवल हास्यास्पद है। परन्तु लेख पर विचार करते ही उपर्युक्त युक्तियों पर भी हँसी ही आती है, क्योंकि उस में बहुत से ईश्वरवादी को अनभ्युपेत युक्त्याभासों का उपस्थापन किया गया है। वस्तु-स्थिति तो ऐसी है कि अन्य-व्यतिरेकादि द्वारा कतिपय स्थलों में अव्यभिचारित साहचर्य-दर्शन से व्यप्य-व्यापकभाव का निर्णय होता है, तदनन्तर व्याप्य हेतु से व्यापक साध्य का अनुमान होता है। जैसे महानसादि में धूम-वह्नि का साहचर्य देखकर 'जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ वह्नि होता है, जहाँ वह्नि नहीं होता, वहाँ धूम नहीं होता' ऐसी व्याप्ति निश्चित होने पर धूम से वह्नि का अनुमान होता है। इस दृष्टि से घटादि में कार्यत्व-कर्तृजन्यत्व का साहचर्य दृष्ट होने से कार्यत्वरूप हेतु से कर्तृजन्यत्वरूप साध्य की सिद्धि की जाती है। अपरिहार्य साहचर्य जहाँ दृष्ट ही हो, वहाँ उस के दूसरे आधार ढूँढने की अपेक्षा ही क्या है? दृष्टान्त के व्यभिचारी या अव्यभिचारी होने का प्रश्नोत्तर ही अप्रासङ्गिक है। हेतु के व्यभिचार से साध्यसिद्धि में बाधा पड़ सकती है, सो कार्यत्वरूप हेतु अप्राणिक्ृत कार्य में भी लेखक को मान्य है, अतः कार्यत्वरूप हेतु से अप्राणिक्ृत कार्यों में भी कर्तृजन्यता सिद्ध हो जायगी। "अग्निरनुष्णः" आदि अनुमान में तो प्रत्यक्ष बाध है। इसतरह "क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं" इस अनुमान में क्या दोष है, यह दिखलाना चाहिए था। घट का दृष्टान्त पहले तो व्यभिचारी कैसे हुआ और यदि किसी तरह व्यभिचारी हो, तो इस से अनुमान का क्या बिगड़ा? हेतु-व्यभिचारादि के बिना अनुमान में कोई भी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। वस्तुतः वहाँ बहुत सी शास्त्रसङ्गत बातें कही जा सकती थीं, परन्तु लेखक ने तो बिल्कुल ही वेसिरपैर की बातें उठायी हैं।

यदि कहा जाय कि अप्राणिक्ृत कार्य में कार्यत्वरूप हेतु है, परन्तु उस में कर्तृजन्यत्वरूप साध्य नहीं है, इसतरह साध्याभाव-वद्वृत्ति होने से हेतु-व्यभिचार हुआ, तो इस का समाधान यही है कि जो भी सन्दिग्धसाध्यवान् है, वह सब पक्ष या पक्षसम ही है। फिर तो वहाँ का साध्याभाव-सन्देह दूषण है ही नहीं। इस के अतिरिक्त अप्राणिक्ृत कार्य को भी अन्तर्तोगत्वा कार्य होने से कृत तो कहना ही पड़ता है, प्राणिक्ृत न सही, अप्राणिक्ृत ही सही। ऐसी स्थिति में भी तो कर्तृजन्यता में कोई बाधा नहीं होती। कर्तृजन्यता का प्राणिजन्यता तो अर्थ है ही नहीं, फिर अप्राणिक्ृत में भी कर्तृजन्यता रहने में क्या बाधा है? परमेश्वर "अप्राणो ह्यमनाः" माना जाता है। परमेश्वरकृत वस्तु भी अप्राणिक्ृत ही है। यदि अप्राणिक्ृतत्वरूप हेतु से कर्तृजन्यता सिद्ध करना चाहें, तो वह भी असम्भव है, क्योंकि कोई अनुकूल तर्क नहीं है। 'हेतुस्तु, साध्यं मा भूत् तर्हि किं स्यात्?' हेतु रहे, साध्य न रहे, तो क्या दोष है? ऐसे पर्यनुयोग का कोई भी उत्तर नहीं है। जैसे धूम यदि वह्नि-व्यभिचारी हो, तो क्या होगा? ऐसे पर्यनुयोग का उत्तर यह है कि फिर लोकदृष्ट वह्नि और धूम का कार्यकारणभाव भग्न हो जायगा। इसतरह यहाँ कोई व्यभिचारशङ्कानिवर्त्तक अनुकूल तर्क नहीं है। प्राण्यकृतिव को यदि कर्तृजन्यत्व का हेतु बनायें, तो व्यभिचारकारक होने से व्यर्थ विक्षोषणता-दोष आयेगा, अतएव विश्व की नियमित व्यवस्था देखकर भी उस के नियन्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सिद्धि होती है। जो सर्व विश्व का निर्माता तथा नियन्ता है, वह लाघवात् एक है और सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है।

जो नियम का वैविध्यनिरूपण करते हुए कहा है कि "नियम दो तरह के होते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरे ऐच्छिक। स्वाभाविक नियम वे हैं, जिन का अन्यथासम्भव कल्पनातीत है, वे पदार्थ के स्वरूप ही होते हैं, जैसे 'हाईड्रोजन' से आग्निता, 'ऑक्सीजन' से

उष्णता प्राप्त होने का नियम है। इस नियम के निर्माता को ढूँढना निरी मूर्खता है।" यह भी ठीक नहीं। जब प्रत्येक मूल पदार्थ ही सकर्तृक हुए, तब उन के नियमों में सकर्तृकता स्वाभाविक है। हाईड्रोजन, ऑक्सीजन के पृथक् पृथक् स्वभाव क्यों? उन के स्वभावों में साध्य क्यों नहीं होता? इस का भी नियामक चेतन अवश्य चाहिए। जिस को स्वभाव कहेंगे, वह भी जड़ होकर नियामक होगा या चेतन होकर? जड़ में नियामकत्व असम्प्रतिपन्न होने से प्रथम पक्ष असङ्गत है। यदि नियामिका शक्तिसम्पन्न स्वभाव को चेतन कहें, तब तो नामान्तर से वही परमेश्वर सिद्ध हुआ। ऐच्छिक नियम के सम्बन्ध में जो कहा गया है कि "अगर कोई बुद्धिमान् जगत् का सञ्चालक होता, तो अनावश्यक एक कुएं में पीपल का पौधा न उगाता। अगर कोई बुद्धिमान् कर्ता होता, तो समुचित देश-काल में उसे उगाता, जहाँ ठीक विकास होता।" यह भी विचार आपातरमणीय है। कुएं के पीपल से भी कुछ पक्षियों और कीटों को आश्रय प्राप्त होता है। स्वयं पीपल के वृक्ष के प्राक्तन कर्मानुसार ही ईश्वर उस को वहाँ जन्म देता है। जैसे कर्मानुसार किन्हीं मनुष्यों को पूर्ण विकास के उपयुक्त देश, काल-सामग्री नहीं प्राप्त होती, वैसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए। इस के अतिरिक्त जब एक साधारण सी यन्त्र-सम्बन्धिनी शिल्प-कलाओं में, चित्रकारियों में, ज्ञानवान् कर्ता का अन्वेषण होता है, तब फिर देह के विचित्र अवयवों, नाड़ियों, यन्त्रों का निर्माण बिना ज्ञानवान् के कैसे होगा? वन्य पत्र, पुष्प, पल्लवों का सौन्दर्य, माधुर्य, हंस, शुक, पारावत, मयूर की बनावट एवं विचित्र रङ्ग अपने आप कैसे हुए? यदि यह सब प्रकृति से ही हो जाता है, तो बाह्य यन्त्र आदि अपने आप प्रकृति से क्यों नहीं बन जाते? वहाँ कर्ता आदि का अन्वेषण क्यों होता है? किसी भी कार्य को देखकर कर्ता की जिज्ञासा क्यों होती है? यदि प्रकृति को शक्तिमान् चेतन मान लें, तब तो नामान्तर से परमेश्वर की ही स्वीकृति हुई। बिना चेतन माने उस के द्वारा व्यवस्थित कार्य कथमपि नहीं बन सकता।

इसीतरह "ईश्वर भी किन्हीं नियमों के मातहत काम करता होगा। उन नियमों का कर्ता कौन है?" इत्यादि विरूप अकिञ्चित्कार हैं। स्वतःसिद्ध अनादि परमेश्वर के नियम भी अनादि ही हैं। जड़ अस्वतन्त्र वस्तु नियम-निर्माण में समर्थ नहीं होती, परन्तु चेतन के नियम-निर्माण में तो कोई भी आपत्ति नहीं। यह आवश्यक नहीं कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भी अन्यनिर्मित नियम के पराधीन हो। अनादि ईश्वर के स्वगत नियम-निर्माण में अनवस्थादि दोष नहीं होते। इस के अतिरिक्त अनादिसिद्ध परमेश्वर की नियति के अनादि होने पर भी परतःसिद्ध कार्यों के नियम अकृतक कैसे होंगे? यदि सब नियम अकृतक ही हों, तो फिर व्यवहार में भी नियमनिर्माण की अपेक्षा न होनी चाहिए। परन्तु व्यवहार में पद पद पर कृतक नियमों की अपेक्षा देखी जा रही है। ईश्वर और अवान्तर कारणों या कार्यों की बराबरी नहीं होती। अन्तिम मूल के अमूल, अनाधार, स्वप्रकाश-होने पर भी अवान्तर मूलों या कार्यों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ निर्माण-पराधीन सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध है, वहाँ लाघवमात्र क्या करेगा? परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, सत्य-सङ्कल्प है, विश्व के उत्पादनानुकूल सङ्कल्प से विश्व की उत्पत्ति होती है। नित्य इच्छा हो, तो नित्य क्रिया बनी रहेगी। अन्तिय होगी, तो कारणादि की उपपत्ति करनी होगी। यह सब बातें जब ईश्वरपराधीन जीव के लिए भी नहीं कही जा सकती, तब फिर ईश्वर के सम्बन्ध में उन विकल्पों को अवकाश ही कहाँ? परमाणु के जड़ होने से विश्वव्यवस्थोन्मुख उस की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, परन्तु प्रेक्षापूर्वकारी परमेश्वर तो प्रयोजन एवं नियम के अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों ही सम्पादन कर सकता है।

जो कहा गया है कि "गतिविहीन सर्वगत परमात्मा परमाणुओं में गतिप्रदान कैसे करेगा ? जो स्वयं गतिमान नहीं, वह दूसरों को गति दे ही कैसे सकता है ?" परन्तु यह कोई उपयुक्त प्रश्न नहीं है। कर्म या ईश्वर स्वयं दुःखो न होने पर भी दूसरों को दुःख देते हैं, अयस्कान्त मणि (चुम्बक) स्वयं गतिविहीन रहकर भी लोहा में गति देता है, वैसे ही परमात्मा स्वयं गतिविहीन होने पर भी सान्निध्यमात्र से औरों में गतिदान कर सकेगा। जैसे काल, दिक्, आकाश सब जगह रहने पर भी दूसरी वस्तुओं की स्थिति के बाधक नहीं होते, वैसे ही परमेश्वर भी व्यापक रहकर किसी की स्थिति का प्रतिरोधक नहीं होता। चेतन की इच्छा व्यवस्थित हो सकती है, परन्तु जड़ परमाणु या स्वभाव से व्यवस्थित कार्य असम्भव है। जड़ की व्यवस्थित प्रवृत्ति में प्रमाण नहीं मिलता। चेतन की व्यवस्थित चेष्टाओं में प्रत्यक्षादि प्रमाण मिलते हैं। व्यवस्थित नित्य ज्ञानवान् में व्यवस्थित इच्छा भी नित्य ही होनी ठीक है।

इस के अतिरिक्त प्रत्यक्षज्ञानमान के अतिरिक्त वेदादि शास्त्रों को प्रमाण माननेवालों के यहां तो शास्त्रप्रमाण से हो ईश्वर का स्रष्टिकर्तृत्व मान्य होता है। तदनुसार सच्चिदानन्द परमेश्वर ही अपनी आचक्षत्य, दिव्य लीलाशक्ति के योग से विश्वात्मना विवर्तित होता है। फिर तो स्वतन्त्ररूप से परमाणु या प्रकृति की कल्पना ही नहीं बन सकती। इस पक्ष में परमेश्वर को गतिमान् किंवा उसे सत्य प्रपञ्च का आश्रय आदि मानने की कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती। निरवयव, निरवकाश, व्यापक, असङ्ग परमेश्वर में किसी भी वास्तविक प्रपञ्च की सत्ता सम्भव नहीं है, अतएव आनिर्वाच्य मायाशक्ति के कारण दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब के समान ही ब्रह्म में विश्व का भान होता है। इसतरह शास्त्र एवं तदनुसारी 'युक्तियों' का सहारा लेकर अद्वैतभक्तिपूर्वक विचार करने से परमेश्वर का अस्तित्व निश्चित होता है। श्रुति ने कहा है "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेदचेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्ब्रह्म सन्तमेनंततो विदुः॥" अर्थात् वह स्वयं असत् हो जाता है, पशु, पक्षि, वृक्ष, पाषाणवत् प्रभावहीन होकर असत्प्राय हो जाता है, जो ब्रह्म को असत् समझता है और जो ब्रह्म को सत् समझता है, वह सत्य कहा जाता है। ईश्वराणुग्रह से वह उच्च पदवी पर विराजमान होकर प्रभावशाली हो जाता है, अन्त में स्वयं सत्वरूप परमेश्वर हो जाता है।

प्रार्थना-रहस्य

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

१

किसी विज्ञात वस्तु की प्राप्ति के लिए जो प्रतीक्षा, उसी का नाम है 'प्रार्थना'। अर्थात् किसी भी अनिलक्षित वस्तु के प्राप्त्यर्थ अन्त में जो आकांक्षा उत्पन्न होती है, वही प्रार्थना कही जाती है। जिस वस्तु का अवयव, विस्तार तथा परिमाण ज्ञात है, जगत् में उसी की प्रार्थना की जाती है। इस के विपरीत, जिस वस्तु की आकृति, परिमाण तथा विभूति ज्ञात नहीं, उस की प्राप्ति की अभिलाषा का नाम प्रार्थना नहीं, अपितु 'आशा' है। 'प्रार्थना' और 'आशा' में यही भेद है। प्रार्थना के सम्बन्ध में उपर्युक्त सूत्र दार्शनिकों की दृष्टि में युक्तियुक्त है, किन्तु व्यवहारतः 'प्रार्थना' शब्द का ऐसा अर्थ समाज में प्रचलित नहीं है, अतएव यहां के लोग प्रार्थना को अति उच्च प्रकार का एक उपासनाविशेष समझकर तृष्ट हैं। इसतरह तृष्ट रहने में कोई साम्यता नहीं है, यही बतलाने का आगे प्रयत्न किया जायगा।

पुराणादि शास्त्रों के अध्ययन से विदित होता है कि ज्ञानदुर्बल कर्मों की कर्मानुष्ठान में सहज ही प्रवृत्ति होती है, ज्ञानपथ अति-जटिल एवं आयाससाध्य है, अतः कर्मात्माओं में से अनेक उस में प्रवृत्त नहीं होते। विशेषतः कर्मानुष्ठान में निरत लोगों को कर्मफल के दोष दिखलाकर ज्ञानपथ में लाने की चेष्टा भी बिल्कुल निरापद नहीं है। इस तत्त्व को अच्छीतरह हृदयङ्गम करके ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि कर्म में आसक्त अज्ञ लोगों को आत्मोपदेश करके उन की कर्मविषयक बुद्धि में भेद उत्पन्न कर देना विद्वान् के लिए उचित नहीं है—“न बुद्धिभेद जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्॥” इस का निगूढ़ कारण यही उपलब्ध होता है कि अज्ञजन कर्मफल की हेयता और ज्ञानफल की उपादयता सुनकर, सहसा कर्मानुष्ठान का त्याग कर बैठेंगे और ज्ञानपथ में प्रवेश के लिए अत्यन्त उत्सुक हो जायेंगे। किन्तु ज्ञानपथ इतना दुर्गम है कि उस के भीतर प्रवेश करना तो दूर रहा, उस के पास जाना भी उन के लिए असम्भव है। ऐसी स्थिति में अनेक लोग 'इतो भ्रष्टः ततो नष्टः' होंगे अर्थात् जो लोग सूक्ष्म विषय में मन को एकाग्र नहीं कर सकते, जिन्हें धारणा तथा ध्यान में कुछ भी आनन्द नहीं आता, जिन्हें निरोध क्या वस्तु है, इस का पता तक नहीं, अधिक क्या, कर्म में जिन्हें उत्साह होता है और फलकामना की आशा से जो कर्मानुष्ठान करते हैं, उन्हें ज्ञानोपदेश अर्थात् 'कर्म ही अज्ञान है, आत्मा में कोई कर्म नहीं है, जबतक कर्म हैं, तबतक संसार से उद्धार नहीं होगा, तुम, हम और यह सारा जगत् ही ब्रह्ममय है, तुम (आत्मा) अकर्ता, अभोक्ता हो' इत्यादि शिक्षा अर्थात् यथार्थ बात कहना कदापि उचित नहीं है, क्योंकि कर्मानुष्ठान द्वारा उन का अन्तःकरण शुद्ध न होने से वे सूक्ष्म ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं, इसीलिए ऐसे उपदेश से उन की कर्म में अग्रज्जा हो जाती है और इस से वे कर्म तथा ज्ञान, इन दोनों पथों से भ्रष्ट होकर स्वयं नरकगामी होते हैं और उन के अधःपतन में कारणभूत होने से उपदेष्टा भी नरक में जाता है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है कि जो पुरुष अर्द्धप्रबुद्ध अज्ञ को 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा उपदेश करता है, वह उसे नरक भेजता है—“अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥” निष्काम कर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि, इस के उपरान्त ज्ञानोदय, इस से अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से मुक्तिप्राप्ति की आशा नहीं है—“अकृत्वा वैदिकं कर्म नरः पतनसृच्छति”, “नास्ति ज्ञानात्तरं किञ्चित् पवित्रं पापनाशनम्। तदभ्यासादते नास्ति संसारोच्छेदकारणम्”, “ज्ञानादेव तु कैवल्यम्”। इसीलिए लोककल्याण-कामनावाले महर्षिगणों ने पहले कर्मकाण्डोक्त यज्ञादि का अवलम्बन करके उपासना की अवतारणा की है। इस से यही सुविधा हुई कि जो लोग द्रव्यमय यज्ञ में अनुरक्त हैं, वे अग्नि, जल, वायु, पृथिवी, आकाश तथा स्वर्ग आदि पदार्थों से परिचित हो जाते हैं। उन उन पदार्थों पर दृष्टि का आरोप करके क्रमशः चिन्तनशक्ति की वृद्धि हो जाने पर, उस की अपेक्षा समुन्नत उपासना में क्रमशः उन्हें अधिकार प्राप्त होता है। “ब्रह्मदृष्टिरुक्तं गीत् (४।१।५) कहकर 'वेदान्तदर्शन' में भक्त्युद्बुद्ध्यास ने इसी भवि का सङ्केत किया है। अतएव अज्ञबुद्धि लोगों के लिए कर्माङ्ग उपासना में प्रवृत्ति उत्पन्न काने की व्यवस्था की गयी है और इसीलिए हम-लोग वेद में कर्म और ज्ञान, इन दोनों व्यवहारतत्त्व का अवगमन करते हैं।

इन सब बातों का विचार करने पर हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्माङ्ग उपासना में प्रार्थना का आवश्यकता है। सम्भवतः इसीलिए प्रार्थना उपासना के अङ्गरूप में ग्रहण की गयी है। जो लोग शास्त्र से परिचित नहीं हैं, पुराण, इतिहास का अध्ययन, ग्रहण नहीं करते और लोकायत सदाचार आदि का अनुवर्तन करने से भी जिन का काम नहीं चलता, उन की अन्ततः यदि देव-दृष्टि में अज्ञ हो, तो क्रमशः अभ्यास द्वारा, उस के फलस्वरूप वे उन्नत

उपासना के अधिकारी हो सकते हैं। ऐसा विचार करके ही तत्त्वदर्शी पुरोहों ने उन के लिए देव-देवियों की उपासना के उपलक्ष्य में प्रार्थना को जोड़ दिया है। ऐसी प्रार्थना न रहती, तो वे देव-देवी की पूजा में भी आसक्त न होते। इसीलिए शक्तिपूजा में भौतिक ऐश्वर्यप्राप्ति की प्रार्थनाओं का सन्निवेश होने से ही ऐहिक भोग-सुखलिप्सु, कर्मपरतन्त्र मनुष्य देव-देवी की पूजा में इतने आकृष्ट हो सके हैं। सभी कर्म शुभ या अशुभ, किसी फल को उत्पन्न करते हैं। कर्म की गति अति दुर्लभ है, अतः कैसे कर्मानुष्ठान से कैसा फल प्राप्त होगा, इस का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए कर्मानुष्ठाना लोग देवता आदि की पूजा से कितने समय में, किस तरह अपने पद पर अभिरुद्ध होंगे, यह निश्चित रूप से निर्धारण करने का कोई उपाय नहीं है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि तत्परतापूर्वक अनुष्ठित होने पर कर्म का फल अवश्य ही महलजनक होगा। मालूम पड़ता है कि समाज में यह तत्त्व ध्रुव सिद्धान्तरूप में व्याप्त होने के कारण ही कर्मियों की कर्मों में प्रगाढ़ आस्था है। यदि देव-देवीपूजा में इस तरह ऐहिक सुख-समृद्धि की कामना के उद्देश्य से प्रार्थनाएँ न होती, तो इतने दिनों में समाज में ये देव-देवीपूजा का अभिनय अवश्य ही लुप्त हो जाता, क्योंकि ऐहिक भोगसुखनिरत लोग पार्थिव सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए सर्वदा लालायित हैं और देव-देवीपूजा की प्रार्थनाएँ भी उन्हें अभीष्टित हैं, केवल इसी कारण से अबतक उन में देव-देवी की पूजा का अनुष्ठान अव्याहत प्रचलित है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि देव-देवियों की उपासना में, ऐसी बात नहीं है कि केवल प्रार्थना ही प्रधान अवलम्बन है। देव-देवीपूजा में प्राणायाम, अङ्गन्यास, करन्यास, ऋष्यादिन्यास, भूतशुद्धि, ध्यान, धारणा प्रभृति यागाङ्ग क्रियाएँ भी विशेषरूप से निबद्ध हैं। जो भूतशुद्धि करना नहीं जानते, जो सांख्यशास्त्र के अनुसार चौबीस तत्त्वों का लय करना नहीं जानते अर्थात् चित्त की एकाग्रता के प्रभाव से शब्दादि विषयों से इन्द्रियों को निवृत्त करके, अङ्गुष्ठ से लेकर मस्तकपर्यन्त प्राणवायु का स्तम्भन करके, जीवात्मा को चौबीस तत्त्वों से पृथक् करके परमात्मा में लय करना नहीं जानते, जो ध्यान-धारणा-समाधि में मग्न होने में अभ्यस्त नहीं हैं, उन का देव-देवीपूजा में अधिकार नहीं है। बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आधुनिक पुरोहितों में अनेक इस प्रकार की योगादि क्रिया-साधन में अपारग हैं और वे ही इस समय पुरोहित-पद पर अधिकार करके बैठे हुए हैं। इन सब बातों का विचार करे कौन? आजकल कार्य करने पर जो उस का फल प्राप्त नहीं होता, यदि इस के कारण का अनुसन्धान करने के लिए समाज का एक भी व्यक्ति कुछ चिन्ता करके विचार करता, तो भी हम लोगों की आज इतनी अवोगति न होती। देव-देवी की पूजा में प्रार्थना है, यह देखकर प्रबन्धता से फूले से काम न चलेगा। पूजा-प्रकरण में जो सब योगाङ्ग क्रियाएँ देव-देवीपूजा के अवलम्बन कहकर परिकल्पित हैं, उन की भी व्युत्पत्ति होना आवश्यक है, अन्यथा देव-देवी की अर्चना विफल हो जायगी। वस्तुतः यही हो भी रहा है। आजकल व्यापकन्यास, भूतशुद्धि, ध्यान, धारणा प्रभृति योगाङ्गों की परित्याग करके अप्रति, भोगराग और नृत्य-गीत आदि का अभिनय करके किसी तरह देव-देवियों की अर्चना सम्पन्न की जाती है। कहना न होगा कि ऐसी पूजा का फल भी पूजक लोग हाथोहाथ पा रहे हैं।

पहले तत्त्वदर्शी के अतिरिक्त और कोई देव-देवी की अर्चना नहीं करता था। वे ही लोग समाज के शिष्ट स्थान में—पुरोहित-पद पर—समासीन थे। रामचन्द्र के कुलपुरोहित वशिष्ठ, जनक के कुलपुरोहित याज्ञवल्क्य, पाण्डवों के पुरोहित धौम्य, ये सभी योगी थे। योगी के सिवा देव-देवियों की पूजा किस के लिए साध्य है?

विश्वम्भर योगी के सिवा विषयान करने में और है किसी दूसरे का सामर्थ्य? वस्तुतः यह कहने में कोई बुराई नहीं होगी की आजकल देव-देवियों की जो अर्चना होती है, वह एक बाह्य आडम्बरपूर्ण व्यापारविशेष रह गया है। पहले योगी बनों, योगक्रिया में कुशल होकर कर्मानुष्ठान करो, तब कर्म का फल हाथोहाथ मिलेगा, अन्यथा ठगपना करके और कितने दिन काम चलेगा? सभी कार्यों का एक न एक परिणाम है। इस तरह अकरणीय कर्मानुष्ठान का जो प्रत्येक है, इस बात को भी क्या समझाना पड़ेगा? महर्षियों की यही चतुराई है कि उन्होंने मूर्तिपूजा की निरर्थक कल्पना नहीं की। मनुष्य की योग्यता समझकर, अधिकारिभेद से मूर्तिपूजा विहित हुई है। उद्दाम प्रकृतिसम्पन्न जो सब मनुष्य सहज में अन्तर्मुख होना नहीं चाहते, उन्हें स्तव, स्तुति, नृत्य, गीत प्रभृति कतिपय रसाल व्यवहारों में से परिचालित करके अन्तर्मुख करने के लिए पूजा-प्रकरण में योगानुष्ठान की कई एक क्रियाएँ निबद्ध कर दी गयी हैं। इस का परिणाम यह हुआ कि बहिर्मुख लोग पूजा-प्रकरणसम्बन्धी योगाङ्गों के अनुशीलन से क्रमशः अन्तर्मुख हो सकेंगे। इस तरह आगे चलकर वे लोग अपने दोषों को देखकर बाह्य विषयों से मन को खींचकर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में समर्थ हो सकेंगे। किन्तु खेद है कि साधनपथ में जो मूर्तिपूजा अधमाधम बतलायी गयी है, वह भी आज सर्वाङ्गसुन्दर रूप में अनुष्ठित नहीं होती। कौन जाने, मनुष्य की अधोगति अभी और किस रूप में, कहाँ जाकर पर्यवसित होगी? वस्तुतः यह सच है कि जो शाश्वत और तत्त्वदर्शी हैं, वे देवतादि के स्वरूप-प्रकाशक विज्ञान से विदित हैं। वे ही उस विज्ञान की सहायता से देव-स्तुति करने में समर्थ हैं और यह भी सच है कि स्तुति के उपलक्ष्य में विज्ञान का स्मरण करने से साधक की आत्मोन्नति होती है। इसीलिए जप एवं स्तव आदि को पुण्य कार्य बतलाया गया है। वस्तुतः अनादि प्रचलित अमोघ वेदवाक्यानुमोदित विज्ञानमूलक मन्त्र तथा स्तवादि का पुनःपुनः उच्चारण या जप करते रहने से साधक के हृदय में उस का अर्थस्वरूप विज्ञान आविर्भूत हो जाता है। इस सम्बन्ध में 'पातञ्जलयोगसूत्र' के भाष्य में वेदव्यास का एक वचन प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हुआ है—“स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमा-मनेत्। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥” अर्थात् मन्त्र-जप एवं स्तवादि द्वारा योग प्राप्त किया जाता है और योगद्वारा तादृश जप-पाठादि साधित होते हैं। उन जपादि एवं योग की सहायता से परमात्मभाव का विकास होता है।

चित्त-विश्रान्ति

(श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती, एम. ए.)

६

प्र०—“जीवन्मुक्त पुरुष के तो देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, अङ्गुष्ठ की क्रिया या स्पन्दन और वासना दिखलायी पड़ती है, तब उन सब प्रपञ्च के सम्यक् त्याग या निरोध को निष्फल मानना पड़ेगा।” उ०—“नहीं, कल्पित बन्ध या जीवभाव की निःशेष निवृत्ति के लिए प्राणादि का निरोध अत्यावश्यक है। उस के बिना हुए ब्रह्मावगाही सुदृढ़ चित्तवृत्ति का उदय नहीं होता और निरावरण आत्मस्वरूप का सम्बन्ध ज्ञान नहीं हो सकता। आवरणभङ्ग हुए बिना मन विगलित न होगा, मन का आत्यन्तिक बाध हुए बिना प्रमादभाव का विनाश न होगा और ज्ञाननिष्ठ सुमुख स्वयं शान्त आत्मा न हो सकेगा। वासना का अत्यन्त क्षय हुए बिना अविद्या का आत्यन्तिक नाश नहीं हो सकता और यह अतिसूक्ष्म अविद्यावृत्ति

ही ध्याता और ध्येय में व्यवधान उत्पन्न करेगी। ध्यान का फल साक्षात्कार-उत्पन्न न होने के लिए भेदयुक्त ऐसा आत्मविषयक ज्ञान अल्प या परोक्षरूप रह जायगा। किन्तु प्रबल प्रयत्नपूर्वक चित्त आदि सकल अनात्मप्रपञ्च का बिल्कुल विरोध करके अन्तिम साक्षात्कार-वृत्ति के उदय हो जाने पर आवरक अज्ञान समूल विनष्ट हो जाता है और परमात्मा के साथ साधक को एकता का अनुभव सम्पन्न होता है। आत्मस्वरूप भगवान् का अभिन्नरूप में दर्शन होते ही यथार्थ निजस्वरूप का सुस्पष्ट ज्ञान—चिदात्मा का स्वरूपभूत प्रकाश—सहज और सब अवस्थाओं में हो जाता है और जबतक शरीरादि प्रपञ्च या प्रारब्ध वर्तमान रहता है, तबतक उन का आविष्टक धर्म—क्रिया या स्पन्दन—प्राण, इन्द्रिय, मन का स्फुरण—अक्षुण्ण रहता है। व्यावहारिक पदार्थ, मिथ्या होने से, पारमार्थिक सत्य आत्मस्वरूप का स्पर्श नहीं करते। जैसे स्वाभिक प्रपञ्च का स्मरण या कथन पूर्ण जागरण में कोई विशेष फल उत्पन्न नहीं कर सकता, वैसे ही जिस महात्मा पुरुष ने अपना यथार्थ स्वरूप प्रत्यक्ष जान लिया है, परमात्मस्वरूप प्राप्त कर लिया है, उस के लिए अविद्या के कार्यरूप प्रातीतिक शरीरादि की क्रिया—माया या नियति शक्ति के निर्देशानुसार—अनुवृत्त रहने पर भी, भूँजे हुए बीज की तरह, किसी अतिशय (कर्मबन्धन या संसृतिरूप नवीन कर्मफल) की जनक नहीं हो सकती। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष का चित्त आत्मदशा (सत्त्वभाव) को प्राप्त होकर सर्वदा चिन्मात्ररूप में अवस्थान—जाग्रत में सुषुप्ति या विश्रान्ति-सुख का अनुभव—करता है। मन का चञ्चल मननस्वभाव—विषय-चिन्तन—समूल विनष्ट हो जाता है, बुद्धि गलित होकर निरतिशय आनन्दस्वरूप से एकीभूत हो जाती है, निर्वसनिक एवं निरहङ्कार ज्ञानी पुरुष अपने सहज सच्चित्सुखरूप में प्रतिष्ठित होकर, सगुण, साकार ईश्वर की तरह, कर्मफल से सर्वथा और सर्वदा अलिप्त रहता है।”

प्र०—“इस निर्मलरूप परम सुखविश्रान्ति का साधन-रहस्य बतलाइये।” उ०—“अज्ञानपूर्वक अनात्म दृश्यप्रपञ्च में सदबुद्धि और देहादि में अहम्भाव ही संसरण का हेतु है। अज्ञान की अत्यन्त निवृत्ति के बिना इच्छा, भय, दुःख, शोकप्रद इस संसार का सम्यक् अभाव नहीं हो सकता। चिदानन्द आत्मस्वरूप के सुस्पष्ट दर्शन के बिना अज्ञान का ध्वंस नहीं होता। शुद्ध बुद्धि की सहायता से क्षण-क्षण में वृत्तिसाक्षी आत्मदेव के साथ अभेदानुभव होने से उत्पन्न ऐक्यज्ञान का दृढ़ संस्कार के ही परिणामस्वरूप संवित् आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव होता है। अन्यथा मलिन बुद्धि के द्वारा क्षणिक समाधि में किया हुआ आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्माकार वासना का अभिवर्द्धक न होने के कारण, देहादि से अहम्भाव की अनादि वासना को शिथिल करने में समर्थ नहीं होता। स्वप्रकाशरूप में आविर्भूत चिदानन्द आत्मतत्त्व में अभेदबुद्धि, एकता-निश्चय या दृढ़ भावना, वृत्तिपूर्वक होने और आवरण-भङ्ग की अवश्यमावी प्रयोजक न होने से, ज्ञानाभासमात्र है। संशय और विपर्यय से अपराहत देहात्मबुद्धि की तरह जब अशेष दृश्यनिर्मुक्त चेतनस्वरूप में दृढ़, अपरोक्ष आत्मबुद्धि, ईश्वरानुग्रह से उत्पन्न होगी, तभी समस्त प्रपञ्चवहित अज्ञान समूल विनष्ट होगा और कृतकृत्य साधक की मोक्षानन्दस्वभाव में सर्वदा और सहज स्थिति होगी। यह अज्ञान-निवर्तक अन्तिम ब्रह्माकार वृत्ति—अपरोक्ष साक्षात्कार—ज्ञानपूर्वक निरन्तर अनुष्ठित समाधि में ही, अनात्मवासना का परिक्षय होने पर, उद्भूत होती है।” प्र०—“ज्ञानपूर्वक समाधि किसे कहते हैं?” उ०—“स्वाभाविक या प्रतिक्षण समाधि से विलक्षण, विवेकजनित बुद्धि की कूटस्थ आत्माकार वृत्ति के अवशेषरूप में अवस्थान ‘ज्ञानपूर्वक’ या सविकल्प समाधि कहा जाता है। प्रकृष्ट ध्यानाभ्यास के फलस्वरूप ध्यातारूप अहम्भाव के शिथिलतापूर्वक आलोचनाकार वृत्तिप्रवाह, जलधारा की तरह, मलता है, वही सविकल्प

समाधि या ब्रह्मभावना है। अखण्ड वृत्ति-धारा की सहायता से संस्कारपूर्वक सच्चिदात्मा का निजरूप में अनुभव करना ही ‘ज्ञान’ कहा गया है। ‘मैं नित्य, चेतन और आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ’ इस तरह प्रयत्नपूर्वक शुद्ध, सात्विक और विवेकशील बुद्धि की सहायता से क्षण क्षण में स्वरूप में स्थित होते होते, अद्वैतवासना के प्रकर्ष से जनित, ध्यातृभावरूप प्रधान विकल्प का लय होता है। इस के फलस्वरूप ध्यानरूप वृत्ति का विस्मरण होकर, चिरकालपर्यन्त परमात्मा से एकता का अनुभव करने के लिए, चित्त का स्पन्दन, परिणाम या विकल्प—ध्याता, ध्यान आदि त्रिपुटी—अत्यन्त शिथिल होकर अद्वैतरूप में निर्विकार अवस्थान या निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है। इस निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात समाधि का सम्यक् परिपाक होने पर, सब आशाओं का उच्छेद और सब प्रकार की कल्पनाओं का क्षय होने पर, ब्रह्मात्मैक्यबोध या ब्रह्म-ज्ञान की सफलतारूप मुमुक्षु को निज निरावरण, चिन्मात्रस्वभाव में दृढ़ प्रतिष्ठा साधित होती है। सार्थक ज्ञान संवित् आत्मा के अज्ञान-आवरण का अपसारण करके, अपने आप को और ध्याता को निरतिशय सुखरूप अधिष्ठान में विलीन करके अस्त हो जाता है या नित्य चिदानन्दरूप में पर्यवसित होता है।”

प्र०—“निर्विकल्प समाधि तो चिन्मात्ररूप में चित्त की अवस्थिति है, तब सुषुप्ति या क्षणिक समाधि से उस का क्या भेद है?” उ०—“समाधि में ब्रह्मज्ञान या विशिष्ट ब्रह्माकार वासना वर्तमान होने से तज्जनित साधन या प्रयत्न का अवश्य अङ्गीकार करना होगा। इस सूक्ष्म सजातीय संस्कार का प्रचय-साधन करने के लिए निर्विकल्प समाधि के प्रकृष्ट अभ्यास से परमात्मदेव प्रसन्न होकर साधक के निज वास्तव स्वरूप में प्रत्यक्ष दर्शन देकर उत्तम मुमुक्षुजनों को कृतार्थ कर देते हैं। श्रद्धा और सत्कारपूर्वक स्वस्वरूप के विशेष अनुसन्धान का अभाव होने पर अत्यन्त निद्रा या समाधिदशा में आत्माकार वासना की उत्पत्ति और उस का क्रमिक उपचय नहीं हो पाता। इसीलिए सुषुप्ति आदि अबुद्धिपूर्वक स्वरूपस्थिति मुक्तिसुख का प्रयोजक नहीं होती। विवेक तथा समाधिद्वारा चित्त अत्यन्त निर्मल होने पर हृदय में आत्मभगवान् आविर्भूत होकर निज परिपूर्ण उद्योति से सब अज्ञानान्धकार को दूर कर देते हैं।” प्र०—“स्वाभाविक समाधि और प्रयत्नपूर्वक समाधि का पार्थक्य दृष्टान्त द्वारा समझाइये।” उ०—“अहङ्कार का साक्षी प्रत्यक् चिदानन्द ही मेरा वास्तव स्वरूप है” ऐसे नित्य एवं निरन्तर अनुसन्धान में तत्पर होने पर धीरे धीरे प्रत्यक् परमात्मा के ऐक्यविमर्श के संस्कार हृदयक्षेत्र में पड़ने लगते हैं। इसतरह परिणामस्वरूप सङ्कल्परहित चित्त की, ब्रह्माकार वासना की अभिवृद्धि होने से, प्रयत्नपूर्वक आत्मस्वरूप में दृढ़ स्थिति होती है। मन का इस बहुआयाससाध्य, मननशून्य, ब्रह्माकार में अचल रूप से अवस्थान निर्विकल्प समाधि है—“प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम्। असम्प्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः ॥ प्रशान्तः सर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः। जगद्भिराविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥” अत्यन्तसिद्ध क्षणिक समाधि में विचार—आत्मतत्त्व का अनुसन्धान—नहीं होता, अतएव स्वस्वरूप का ज्ञान नहीं होता अथवा वहिर्मुख परोक्षज्ञानी को प्रत्यगात्मविषयक परिचय होने पर भी विषयवासनाजनित प्रमाद के कारण, तत्परता का अभाव होने से हृदय में सजातीय संस्कार का उपचय—भगवत्प्रेम, उत्कृष्ट भक्ति—नहीं होने पाती। फलतः प्रयत्न की शिथिलता से आत्मभगवान् में निष्ठा कम होती है। स्वरूप का अभ्यास और वासना का नाश न होने से मन का विकल्प क्षीण नहीं होता, प्राण-सञ्चार के निरोध बिना चित्तवृत्ति का अभाव नहीं होता और अन्तःकरण में शीतलता नहीं आने पाती। फलस्वरूप सांसारिक वासना से पुनः प्राण एवं शरीरादि की उत्पत्ति होती है। जबतक

विषयों में दृढ़ विरसता नहीं आती, जबतक मन की कल्पना निरस्त नहीं होती, तबतक अनात्मपदार्थ का ज्ञान और तद्विषयक राग निवृत्त नहीं होता। संक्षेप में, जबतक चित्त की सत्ता रहेगी, तबतक चित्तसाक्षी प्रत्यगानन्द ब्रह्म प्रत्यक्षरूप में अधिगत न होगा। जैसे कोई मनुष्य 'मणि किसे कहते हैं' यह न जाकर खजाने में मणि को देखकर भी उसे माणिक्यरूप में नहीं पहचान सकता या मणिस्वरूप का पूर्ण परिचय होने पर भी मणि को देखने में यदि जिज्ञासापूर्वक तत्पर—एकाग्रचित्त—न हो, तो वह उसे देखकर भी मणि कहकर विशेषरूप से उसे नहीं जान सकता, वैसे ही परोक्षज्ञान-रहित पुरुष स्वाभाविक समाधि से आत्मस्वरूप को नहीं जान सकता या शास्त्रज्ञ पण्डित होकर भी आत्मनिष्ठ और समाधिनिरत न होने के कारण, प्रत्यक्षरूप में परमात्मा को आत्मस्वरूप में जानकर विश्रान्ति-सुख प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। इसीलिए विषयपरावृत्त एवं मनन-शील बुद्धि की 'शास्त्र-श्रवण से ज्ञात एकरस, नित्य, असङ्ग, सुखरूप निज महत् स्वरूप का सुस्पष्ट ज्ञान मैं सर्व प्रकार से अवश्य ही सम्पादित करूँगा' ऐसी एकनिष्ठा या तत्परता—परोक्षज्ञान के प्राप्त होने के उपरान्त—अत्यावश्यक कर्तव्य कही गयी है। अन्यथा प्रतिक्षण समाधि के प्राप्त होने पर भी परोक्षज्ञानी स्वात्मनिष्ठा न होने के कारण स्वयम्प्रभ अपने देहादि से विभिन्न स्वरूप को स्पष्टतया जान नहीं सकता, विशेषरूप में पहचानकर उस स्वरूप में परिणति—ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति—तो निश्चय ही दूर की बात है।

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

(यह स्तम्भ विचारविनिमय के लिए है)

मनातनी योजना और पाकिस्तान

(श्री विजयानन्द त्रिपाठी, प्रधानमन्त्री अ० भा० धर्मसङ्घ)

देहली के 'अखिल भारतीय धर्मसङ्घ' के महाधिवेशन में 'भारतीय शासनविधान-योजना' तैयार करने के लिए एक कमेटी नियत हुई है। इस समय श्री दूरकाळ जी की योजना उस के सामने है। इस में सन्देह नहीं कि वह योजना बड़ी बुद्धिमानी, नीतिकौशल और धर्मभावना के साथ बड़े परिश्रम से तैयार हुई है और श्रीदर्शनकेसरीजी ने उस का स्पष्टीकरण भी 'सिद्धान्त' अङ्क ६ में युक्तियुक्त रीति से किया है। फिर भी 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' के न्याय से कुछ कहना अवसरप्राप्त है। इस योजना में 'पाकिस्तान-योजना' मान ली गयी है और उस के लिए बलवान् कारण यह दिखलाया गया है कि शेष देश (नापाकिस्तान) म्लेच्छाक्रान्त तथा गोहत्यावाला देश न रह जायगा। यदि यह सम्भव हो, तो इस के लिए हम कौन सा बलिदान नहीं कर सकते? नेतानामधारी आकाश में उड़ते हैं या यों कहिए कि नये लाभ के लिए और अड़कें लगाया करते हैं। क्या यह कभी सम्भव है कि सब मुसलमान उजाड़कर 'पाकिस्तान' में बसा दिये जायेंगे और वहीं के हिन्दू उजाड़कर 'नापाकिस्तान' में बसाये जायेंगे? यह सब कुछ न होता और न हो सकता है। मुसलमान अरब से नहीं आये हैं, ये सब हिन्दोस्तानी हैं, मुसलमानी राज्य के समय मुसलमान हो गये हैं, इन की हजारों पीढ़ियाँ यहाँ बीत चुकी हैं, ये जिन्ना जी के कहने से अपना बतन (घर) न छोड़ देंगे? यदि किसी बड़े पद पर न जाना हो, तो जिन्ना साहब स्वयं बम्बई न छोड़ेंगे। 'पाकिस्तान' इसलिए तैयार किया जा रहा है कि वह स्वतन्त्र होकर स्वतन्त्र मुसलिम राज्यों से सन्धि करे। इधर 'नापाकिस्तान' के मुसलमान आन्दोलन करें कि हिन्दू हम पर जुल्म कर रहे हैं और 'नापाकिस्तान' अपने मित्र-राष्ट्रों को साथ लेकर 'नापाकिस्तान' को मरियामेट कर दे, यह मुस-

लिम राज का सपना है, इसे गर्वमेय भी दिल से न चाहेगी, यह स्वराज के लिए अड़क़ा का काम खूब देगा। साहस के साथ स्पष्ट कहना चाहिए कि 'नहीं स्वराज देना चाहते, तो मत दो, पर झूठे अड़क़ों के खड़ा होने का अवसर क्यों देते हो? हम पाकिस्तान-योजना मानकर अपने पुण्य प्रदेश को नापाकिस्तान (अपवित्र देश) नहीं बनने देंगे। हम पाकिस्तान मान नहीं सकते।' अ० भा० धर्मसङ्घ ने बार बार इस का विरोध किया है। उस के शासन में पाकिस्तान स्वीकृत नहीं किया जा सकता। श्री दूरकाळ जी की योजना में मुख्य मतभेद का विषय 'पाकिस्तान' है। अन्य स्थानों में सम्मार्जनमात्र की आवश्यकता मुझे प्रतीत होती है।

हिन्दू कोड भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार)

बिल पर मन्तव्य

(श्री जयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाळ, एम. ए.)

२

१२—इस सब आडम्बर की पोल—कमेटी की रिपोर्ट में स्त्रियों के लिए जो आधार प्रदर्शित किये गये हैं, उस के पृथक्करण से—देखी जा सकती है। उन को कुल संख्या बुद्धिमानी से अप्रकट रखने में आयी है, पर जिस प्रसङ्ग में वह प्रकट की गयी है, वहाँ १०, ४०० सम्बन्धिता बतलायी गयी है, जब कि स्त्रियों की बस्ती लाखों की है। उस में बतलायी हुई संस्थाएं बम्बई (दादर, खार, विलेपारखे आदि), कलकत्ता, शिमला, दिल्ली, हैदराबाद और पूना ऐसे शहरों की हैं, जो उच्छेदक सुधार के केन्द्र हैं और उन संस्थाओं में बहु-जातीय संस्थाएं और ईसाई संस्थाएं भी—संख्या बढ़ाने के लिए—दाखिल की गयी हैं। सच बात तो यह है कि हिन्दू स्त्रियाँ अधिकतर क्लबों और संस्थाओं से सम्बन्ध नहीं रखती और यदि कोई सम्बन्ध रखती हो, तो उन में से भी बहुत थोड़ी उस की सभाओं में भाग लेती हैं। हिन्दुस्तान में अन्य अनेक शहर, गांव हैं, पर कमेटी की रिपोर्ट उन के सम्बन्ध में समझ-बूझकर मौनावलम्बन करती है। १३—हिन्दूकानून सुधारने के सम्बन्ध में ऐसी बड़ी जाल बिछायी गयी है कि बहुतेरे तो उस जाल में फँसकर बिल के एक या दूसरे दोष या हानि बतलाने लग जाते हैं और यह बात भुला दी जाती है कि आधुनिक बनावटवाजों के पास इस प्रकार की टीका या चुकताचीनी मुख्य विषय के समूल विरोध को मिटा डालने के लिए उपाय बन सकती है। मुख्य विरोध तो यह है कि यह समूची प्रवृत्ति और कार्यवाही धर्म तथा संस्कृति में अस्वीकार्य हस्ताक्षेप है और इसीलिए उसे बिना सङ्कोच के घक्का मारकर रद्द करना आवश्यक है। १४—कमेटी की रिपोर्ट का सब से अधिक हास्यास्पद एवं लुब्धतापूर्ण अंश वह है, जिस में वेदवाक्यों के प्रमाण के विषय में लोगों को 'बनाया' गया है। सभी लोग यह स्पष्ट रूप में जानते हैं कि इस विषय में वैदिक प्रमाण थोड़े ही होंगे। हिन्दू कानूनों के स्पष्ट एवं प्रधान आधार तो धर्मशास्त्र हैं और वे प्रमाणरूप हैं, क्योंकि दिव्यदृष्टिसम्पन्न ऋषि-मुनियों के द्वारा किये गये विधि-निषेधों को वे बतलाते हैं। यह सब दृष्टि-भेद इस पर निर्भर है कि धार्मिक हिन्दूजनता ऋषियों को एक दृष्टि से और उच्छेदक सुधारक उन्हें दूसरी दृष्टि देखते हैं। हिन्दू-समाज धर्मशास्त्रों को दैवी आश्रय मानता है और इसीलिए उस ने कभी भी परिदृष्टतन्त्रियों या भ्रमशील नेताओं से उस फेरफार या परिवर्तन को यत्न नही की है। वे उन को आग्रहपूर्वक अपने गले लगाये हुए हैं, इसीलिए इतिहास में अन्य सब जातियों की अपेक्षा वे अधिक विरसवाची बने ए हैं।

हिन्दू आदर्शों से विरुद्ध बिल

१५—प्रस्तुत बिल तथा हिन्दूकानूनों को धाराबद्ध करने और समूचे देश में एक समान करने के दो बहानों की आड़ में हिन्दू धर्मशास्त्र को बदल देने की सब धारणा उस भारतीय संस्कृतिसम्बन्धी समस्त मूल पर कुठाराघात करने ऐसी है, जो संस्कृति वेदादि शास्त्रों पर निर्भर है। १६—कानून को धाराबद्ध करने के प्रदर्शन तथा बहानों की ओट में क्रान्तिकारक परिवर्तन घुसेड़ दिये गये हैं और कानून समान करने के बहाने एक परम्परागत नियम को दूसरे नियम से इच्छानुसार दबा देने की सिफारिश की गयी है। इस समय स्थानीय या अन्य किसी स्थिति के अनुसार एक अथवा दूसरी अर्थपरम्परा को सामने रखकर शास्त्रोक्त नियम स्वीकृत किये जाते हैं। इस के उपरान्त परायी (अङ्गरेजी) भाषा में कानून को धाराबद्ध करने में हमें तीव्र विरोध है। रूस को छोड़कर बाकी यूरोप जितने बड़े भरतखण्ड देश में जबर्दस्ती ऐसी कानून की समानता ला देने का कोई भी कारण नहीं है। १७—यह समानता का बहाना कुछ भी तब चल सकता है, जब वह कानून सब हिन्दुओं के लिए लागू हो, पर ऐसी बात तो नहीं है, इसलिए जनता के हित का निमित्त, यह केवल झूठा बहाना ही है। नये बिल का कानून इसतरह न तो रहता है हिन्दूकानून और न बनता है हिन्दीकानून। उच्छेदक सुधारकों के अन्तःकरण की तरह वह वर्णसंस्कार है, न तो वह हिन्दू है, न हिन्दी। १८—हिन्दुओं की एकता उन के शास्त्रों के ऐक्य में है। इसतरह के हस्ताक्षेपवाले मनमाने कानूनों से तो प्रान्तीय स्वराज्य होने पर भिन्न भिन्न प्रान्तों में कुछ समय बीतने पर अधिकाधिक परिवर्तन तथा अधिक-विरोध उत्पन्न होंगे और शास्त्रीय प्रमाण की उपेक्षा करने से समानता की व्यवस्था और अधिक छिन्न-भिन्न हो जायगी, जिस के परिणामस्वरूप हिन्दूसंस्कृति का ऐक्य भी विच्छिन्न हो जायगा। १९—अन्य धार्मिक संस्कृतियों की तरह भारतीय संस्कृति उस के अपने शास्त्रों पर स्थित है और उन धर्मशास्त्रों की पूज्यता, पवित्रता एवं प्रामाण्य को उड़ा देना तथा हिन्दू-भावनाओं को समय के प्रवाह में मनमाने धक्के मारते हुए तोड़-फोड़ कर मिटा डालना, इस से बढ़कर संस्कृतिद्रोह दूसरा क्या हो सकता है? २०—इन परिवर्तनों के लिए प्रकट बहाना यह बतलाया जाता है कि असल हिन्दूकानून में हिन्दू स्त्रियों की व्यवस्था अन्यायपूर्ण है, अतएव उन्हें स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति देकर उस व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया गया है। यह धारणा उक्त विषयसम्बन्धी भारतीय दृष्टि को ठीक न समझने का परिणाम है और पाश्चात्य शिक्षा का, जिस ने पाश्चात्य देशों की सामाजिक नीति को धराशायी कर दिया है तथा समूची विवाहसंस्था को अप्रिय, उपहासास्पद एवं तिरस्कारयोग्य बना डाला है, अनुसरण करने से उत्पन्न हुई है।

२१—हिन्दुओं की नारीप्रतिष्ठा एवं नारी का समाज में स्थान-सम्बन्धी आदर्श भारतीय संस्कृति के तीन तत्त्वों पर आधार रखता है—(क) स्त्री पुरुष का अर्धाङ्ग है, उस के हृदय का वामाङ्ग है और उस की विशुद्धि पर प्रजा की विशुद्धि तथा दीर्घ आयु का मुख्य आधार है। (ख) स्त्री शारीरिक तथा प्राकृतिक बनावट से सुकोमल होने के कारण दुष्ट प्रभावों से शिक्षित होने के लिए अपने पिता, पति या पुत्र आदि की रक्षा में बह रही चाहिए। (ग) अतएव उन के द्वारा उस की देखरेख होती रहनी चाहिए और अपने जीवन-निर्वाहार्थ उसे अकेले भटकना न पड़े, पर उन के द्वारा वह धन की स्वामिनी हो। २२—समग्र जाति अथवा समाज के नैतिक बल एवं जीवनशक्ति के लिए स्त्रीसम्बन्धी पवित्रता की सुरक्षा पर-सारी भारतीय दृष्टि का केन्द्र है, जिस पवित्रता के बिना, उस के देखते देखते जैसे अन्य अनेक जातियाँ नष्ट हो चुकी हैं, वैसे ही हिन्दूजाति भी

प्रकाशक—श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गावरन्, नगवा, बनारस।

नष्ट हो गयी होती और इसी कारण से स्त्रियों की रक्षा, लज्जा, मर्यादा, योग्य समय में विवाह एवं कुटुम्ब का आश्रय, ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण किया है और वह व्यवस्था उस के परिणामों से उत्तम प्रमाणित हुई है। २३—स्त्रियों के लिए इसतरह की रक्षण-चिन्ता तथा स्वातन्त्र्य-मर्यादा प्रेम एवं सामाजिक व्यवस्थाओं को दृष्टि से स्वीकृत की गयी है। वह, इसलिए नहीं कि हिन्दूलोग स्त्रीजाति की महिमा कम समझते हैं, बल्कि इसीलिए है कि अधिक समझते हैं। धर्मशास्त्रों का—जो सती स्त्रियों को देवी की श्रेणी में रखते हैं—रहस्य इस दृष्टि से समझना चाहिए। २४—इस प्रकार से बना हुआ हमारा समाजतन्त्र, प्रजा की विशुद्धि तथा चिरञ्जीवित्व से सुयोग्य प्रमाणित हो चुका है, इतना ही नहीं, यूरोप तथा अमरीका की स्वच्छन्दता के परिणाम इतने प्रसिद्ध हो चुके हैं कि उन के अनुकरण का तो विचार भी करनेयोग्य नहीं है। जातीय सङ्करता एक बार जहाँ प्रविष्ट हो गयी कि वहाँ प्रजा की विशुद्धि सदा के लिए नष्ट हो जाती है। इसलिए हस्ताक्षेप करनेवालों का उत्तर दायित्व बहुत ही गम्भीर है।

२५—यह सम्भव है कि ऐसी कार्यवाही के साथी उन पतनों से रहित स्वतन्त्रता चाहते होंगे, पर समाज तो केवल दिग्दर्शन को ही समझता है। वह, इतनी दूर जाना और इस स्थान पर रुकना, ऐसी मर्यादाओं की बारीकी में नहीं पड़ता। मनुष्य के अन्तर में स्थित पशुवृत्ति को दैवी भावनाओं के बिना नियम में रखना कठिन है। २६—कोई यह नहीं कहता कि हमारा समाजतन्त्र उत्तम है, अतः सभी कुछ अच्छा है। मानवों में परस्पर, हजार तरह के स्वभाव तथा दोषों के कारण, अन्याय हो सकते हैं, परन्तु इस का यह प्रतीकार नहीं है कि समूचे समाजतन्त्र के विरुद्ध बलवा खड़ा किया जाय। इस का उपाय तो यह है कि उन व्यक्तिगत दोषों का निवारण किया जाय। कोई भी समाज सम्पूर्ण नहीं होता, क्योंकि उस के अवयवरूप व्यक्ति अनेक होते हैं और वे सभी के सभी उत्तम एवं न्यायी कभी नहीं होते। २७—यह बिल स्त्रियों को पुरुषों के विरुद्ध खड़ा करता है और यह सम्भव है कि वे दगाबाजों और बुरी नीयतवालों का शिकार बन पड़े। यह भी सम्भव है कि थोड़े ही दिनों में अधिकतर प्रसङ्गों में उन की स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता के रूप में बदल जाय। पुरुष तथा स्त्री को प्रतिवादी या प्रतिपक्षीरूप में अथवा स्वामी और गुलाम के रूप में बतलाना अनुचित है। यह ऐसे मस्तिष्कों का आविष्कार है, जिन का व्यक्तिगत लाभ अथवा स्वार्थ वैसा दिखलाने में है। अन्य किसी भी जाति की अपेक्षा हिन्दुओं की, स्त्रियों के सम्बन्ध में भावना, अधिक उदार, अधिक कृतज्ञतापूर्ण एवं अधिक न्याययुक्त है, दूसरे किसी भी समाज को 'सीता' माता का स्वप्न तक नहीं हुआ है।

विषय - सूची

विषय	पृष्ठ
१—ब्राह्मणवाद का भय ३ (सम्पादकीय) ...	५७
२—बालदीक्षा-प्रतिबन्धक बिल (टिप्पणी) ...	५८
३—सृष्टि-कृतत्व (श्री स्वामी करपात्री जी) ...	५८
४—प्रार्थना-रहस्य १ (श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी) ...	६०
५—चित्त-विभ्रान्ति ६ (श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती, एम्. ए.) ...	६१
६—सनातनी योजना और पाकिस्तान (श्री विजयानन्द त्रिपाठी, प्रधानमन्त्री अखिल भारतीय धर्मसङ्घ) ...	६३
७—हिन्दू कोड भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार) बिल पर मन्तव्य २ (श्री जयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाळ, एम्. ए.) ...	६३

मुद्रक—कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

सिद्धान्त

“जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क ९]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—ज्येष्ठ शुक्ल ८ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० ३० मई, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
{ विशेष ५), एक प्रति का -)

ब्राह्मणवाद का भय

४

जिन ब्राह्मणों को भरपेट कोसा जा रहा है, कई विदेशी विद्वानों को भी उन की योग्यता माननी पड़ी है। सन् १७६८ में इतिहासकार अ-कजेण्डर डौ लिखता है कि “आधुनिक यात्रियों ने यूरोप में ब्राह्मणों के विरुद्ध भाव भर दिये हैं और इधर-उधर की बातें लिखकर उन के धर्म तथा दर्शन को, जिन को समझने की उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की, अपमानित किया है।” श्री टामस मारिस को इङ्ग्लैण्ड के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों ने भारतीय पुरातत्व पर एक वृहत् ग्रन्थ लिखने के लिए भेजा था। वह ग्रन्थ सन् १८०० में सात भागों में प्रकाशित हुआ, उस के पाँचवें भाग में मारिस महोदय लिखते हैं—“ब्राह्मण धर्म में सर्व-साधारण के पथ-प्रदर्शक तथा राजप्रबन्ध में राजाओं के मन्त्री होते थे। इसीलिए उन का अध्ययन विभिन्न प्रकार का हुआ करता था। उन में कुछ ने धर्मशास्त्र तथा दर्शन को अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाया और कुछ ने, जो न्यायशास्त्र में पारङ्गत थे, समाज और राजनीतिशास्त्र के उच्च तथा गम्भीर सिद्धान्तों को रखा। गुफाओं में या एकान्त वनों में उन्होंने प्रकृति के रहस्य की खोज की और सदाचार तथा श्रेष्ठ सिद्धान्तों का प्रचार किया। चाहे बड़े बड़े नगरों में या विशाल महलों में, जहाँ राजा-महाराजा उन का स्वागत करने में अपना अहोभाग्य समझते थे, वे कहीं भी हों, उन के आचरण की उच्चता और बुद्धि समान रूप से चमकती थी। उन का दोष-रहित जीवन, उन के व्यवहार की सादगी, मादक वस्तुओं से परहेज, उन की पवित्रता, धार्मिक तथा राजनीतिक गम्भीर ज्ञान सर्वसाधारण के हृदय में उन के लिए आदर उत्पन्न करता था और सिंहासनासीन शासक को भी प्रभावित करता था। कभी कभी उन के त्याग, उन की तपस्या तथा तितिक्षा देखकर चकित होना पड़ता था। जीवन के जो साधारणतया दुःख-समझे जाते हैं, उन को ठुकराने का वे बरबस ढूँढा करते थे। शासक से उच्च पद प्राप्त होते हुए भी वे दरबारों की तड़क-भड़क तथा सम्पत्ति का तिरस्कार करते थे, पृथिवी से उत्पन्न अन्न और फल के अतिरिक्त उन्हें अन्य व्यञ्जनों की भोजन में चाह न थी, अपने एकान्त निवास के निकट प्रवाहित नदी के शुद्ध, स्वच्छ जल के अतिरिक्त अन्य किसी पेय के लिए प्यास न थी, अपनी इन्द्रियों पर उन का नियन्त्रण था और अपनी साधारण आवश्यकताओं से उन की आकांक्षाएं सीमित थीं। इसतरह अपने कर्तव्यों से मन हटाने के लिए कोई प्रलोभन न था। बालकों के शिक्षण, अनेक क्रिया-कलाप, एकान्त में भगवद्भ्यान, प्राणिमात्र का उपकार, इन्हीं सब में उन के दिन का सदुपयोग होता था। रात्रि

भगवद्भजन या ऐसी हलकी निद्रा में, जो संयम तथा शुद्धता से ही प्राप्त हो सकती है, व्यतीत होती थी। प्राचीन समय के ऐसे ब्राह्मण थे। आजकल इस पवित्र वर्ग का पतन होने पर भी कितने ही ऐसे सदाचारी ब्राह्मण मिलेंगे, जो दुनियाँ की झंझटों से अलग रहकर गङ्गा या कृष्णा के तट पर पूजन-भजन में लगे रहते हैं।”

सन् १८२९ ईसवी में एक विद्वान् ने अपना नाम गुप्त रखकर तत्कालीन भारतसरकार की नीति पर एक गम्भीरतापूर्ण लेख प्रकाशित किया था। उस में वह लिखता है कि “जनसाधारण का आचरण प्रतिदिन बिगड़ता जाता है, इस का मुख्य कारण यह है कि ब्राह्मणों का उस पर नियन्त्रण नहीं रहा और उन के सदाचार तथा उपदेशों के प्रति आदर नष्ट हो गया। कानूनों द्वारा या सब को समान बनाने की अपनी मोन नीति द्वारा जनता के स्वाभाविक नेताओं के प्रभाव को दबा दिया गया। धार्मिक नेता तथा विद्वान्, प्रोत्साहन के अभाव में और वर्णव्यवस्था पर आक्रमण के कारण शीघ्रता से निरादर के पात्र होते जा रहे हैं और उन की संख्या घट रही है।” (ए डिसेंटेशन आन दि पौलिसी आफ दि गवर्मेंट ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १४५)। सन् १८७१ से ८० तक प्रसिद्ध पादरी शेरिङ्ग ने तीन भागों में एक पुस्तक लिखी, जिस में वर्णव्यवस्था की विस्तृत आलोचना की गयी है। ब्राह्मणों की निन्दा करते हुए भी उस को यह कहना पड़ा कि “अपनी शुचिता, अपने बुद्धिप्रसन्न, विचार तथा अध्ययन के कारण वे आदरणीय माने जाते हैं।” आगे चलकर वह लिखता है कि “गौर वर्ण, प्रशस्त ललाट, दीप्यमान आकृति, पतले ओंठ, भावव्यञ्जक मुख, लम्बी अङ्गुलियाँ, गम्भीर—कभी कभी देवतुल्य—गतिवाला सच्चा ब्राह्मण, जिस को यूरोपीय प्रभाव तथा आचरण ने भ्रष्ट नहीं कर दिया है, अपने उच्च आत्मज्ञान, अपने श्रेष्ठत्व के अभिमान में विश्वाससहित, जो उस के मुख के प्रत्येक रंग रंग में झलकता है और उस के शरीर के प्रत्येक कार्य में व्यक्त होता है, ईश्वर की इस भूमि पर चलता हुआ मानवता का एक विचित्र नमूना है। ज्ञानप्राप्ति में उस को बुद्धि बड़ी तोत्र, हिसाब-किताब में दक्ष, वह निपुण राजनीतिज्ञ, चतुर वकील, सूक्ष्मदर्शी जज, सुयोग्य अध्यापक और प्रभावशाली लेखक है।” सन् १९१३ में सर जार्ज बर्डबुड लिखता है कि “भारत के किसानों को कौन उन पर शासन कर रहा है, इस से कुछ मतलब नहीं, वे तो चुपचाप रहकर अपना काम करना चाहते हैं। परन्तु ब्राह्मण उन का देवता है, उन के आत्मा का रक्षक तथा मुक्तिदाता है। राजपूत तथा अन्य हिन्दूशासक हृदय से राजभक्त हैं, परन्तु उन के आत्मा पर सर्वोच्च अधिकार है ब्राह्मण का। इस का वह अधिकारी भी है, क्योंकि यह उसी की सूक्ष्म बुद्धि है, जो मनु तथा अन्य स्मृतियों में मूर्तिमान् होकर व्यक्त हो रही है, जिस ने भारत को—हिन्दुओं के

भारत को—गत ३००० वर्षों में अनेक राजक्रान्तियों के मध्य धार्मिक तथा साम्प्रदायिक पूर्ण एकता के साथ अखण्ड बनाये रखा है।” सन् १९१४ में ५ जून को ‘ब्रिटिश पार्लामेंट’ की ‘कामन्स सभा’ में भाषण करते हुए मद्रास प्रान्त के एक रिटायर्ड आई. सी. एस. रीस साहब ने ठीक ही कहा था कि “सब बात तो यह है कि जिस तरह चीनी अपने उद्योग और परिश्रम के कारण घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, वैसे ही अपने मस्तिष्क के कारण ब्राह्मण से भय और डर होता है।” डाक्टर वेरोडेल कीथ ने भी, जिन्होंने भारत के सम्बन्ध में कई पुस्तकें लिखी हैं, एक बात लिखकर और भी भण्डा-फोड़ किया है। आप का कहना है कि “सन् १९३५ के कानून का, जिस के द्वारा धारासभाओं को नये अधिकार दिये गये हैं, एक असन्दिग्ध फल यह हुआ है कि उस के द्वारा उच्च जाति के हिन्दुओं को दण्डित किया गया है।”

क्या सर हरबर्ट विलियम्स ने कभी इन वाक्यों की ओर भी ध्यान दिया है? रही ‘आज’ की बात, उस में कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि ब्राह्मणों को दश खोटो-खरी सुना देना आजकल के विद्वानों की चाल पड़ गयी है। ब्राह्मण का पतन अवश्य हुआ, पर वह अभी मरा नहीं है। अपने पतन के लिए वह स्वयं तो जिम्मेदार है ही, पर दूसरे लोगों की जिम्मेदारी भी कुछ कम नहीं है। ऐसी दशा में केवल उसे ‘सावधान’ करने से काम न चलेगा, स्वयं भी ‘सावधान’ होना पड़ेगा। जो स्वयं स्वधर्म-पालन नहीं कर रहे हैं, उन्हें क्या दूसरों को स्वधर्म-पालन का उपदेश देना शोभा देता है?

शिक्षा और सम्यता

‘युद्धोत्तर विश्वनिर्माण-योजनाओं’ की बाड़ सी आयी है। आजकल पत्रों में प्रायः ऐ-नी योजनाएँ निकल रही हैं। हाल ही में ‘एशियाटिक डाइजेस्ट’ में प्रसिद्ध अङ्गरज विद्वान् जूलियन हक्सले की एक ऐसी ही योजना प्रकाशित हुई है। सब के लिए भोजन, औषध, निवास, आर्थिक सुख का प्रबन्ध बतलाते हुए आप अन्त में लिखते हैं कि “यहाँ तक तो हुई उन सुविधाओं की चर्चा, जो मानव-जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। किन्तु मनुष्य केवल स्थूल को लेकर ही नहीं जी सकता। यदि उस के मानसिक विकास की व्यवस्था न की जायगी, तो वह पशु ही रह जायगा। अतः मनुष्य को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा चाहिए। ब्रिटेन तथा अन्य उन्नत देशों में व्यक्ति को एक तबसङ्गत सीमा तक—कम से कम—शिक्षित बना देने का प्रबन्ध है। अन्ततः १६ वर्ष की आयु के बाद भी और दो वर्ष तक वह अन्य कार्य करते हुए पढ़ना-लिखना जारी रख सकता है। जो अधिक ज्ञानार्जन के योग्य है, उन के लिए विश्वविद्यालय है। प्रौढशिक्षा की योजना भी बनी है। किन्तु विश्व में अभावे अभागे देश भी मौजूद हैं, जिन के निवासियों में पढ़े-लिखे लोगों की गणना डेढ़ उँगली के पोंरों पर की जा सकती है। ऐसी दशा में क्या यह सम्भव है कि युद्धोत्तर विश्व अपने को ‘सभ्य’ और ‘शिक्षित’ कह सकेगा? मानवता अभिशाप बन-जायगी, यदि शिक्षा केवल श्वेत जातियों की जागोर समझी गयी।” जिस शिक्षा से शिक्षित होकर आज पश्चिम अपनी सम्यता का परिचय दे रहा है, यदि वही शिक्षा है, तो हम हक्सले साहब से कहेंगे कि “वह श्वेतों की ही जागीर बनी रहे, पूर्व के ‘अभागे’ देशों को आप अपनी ‘युद्धोत्तर-योजना’ में ‘अशिक्षित’ तथा ‘असभ्य’ ही रहने दीजिये।” वास्तव में पश्चिम की यह शिक्षा ही है, जिस ने उसे ‘केवल’ ‘असभ्य’ ही नहीं ‘पशु’ बना रखा है, जिस की बर्बरता तथा क्रूरता का आज संसार को परिचय मिल रहा है। भोजन, वसन, घर की ‘गारम्टी’ भी बेकार हो जायगी, यदि मनुष्य शिक्षा

द्वारा मनुष्य न बनाया गया। आधुनिक शिक्षा ने बड़ी वैज्ञानिक उन्नति की है, पर यदि उस का उचित उपयोग करनेवाला न हुआ, तो उस का परिणाम वही होगा, जो आज हो रहा है। यदि युद्धोत्तरान्त सचमुच नवीन विश्व का कल्याण करना है, तो पश्चिम को अपनी सम्यता का घमण्ड ताक पर रखकर ‘अभागे’, ‘असभ्य’ पूर्व की शरण में आना चाहिए।

बाजी मारने की धुन

आजकल दौड़ने, कूदने, तैरने, बोझ उठाने आदि कितने ही पराक्रमों में ‘नयी पराक्रमा’ स्थापित करने के समाचार प्रायः छपा करते हैं। उन के शीर्षक मोटे अक्षरों में दिये जाते हैं। वीरों का पराक्रम देखने के लिए दूर दूर से लोग आते हैं, टिकट लगता है, खूब रूपया खर्च होता है और अन्त में धूमधाम के साथ विजेताओं का जुलूस निकाला जाता है। इस रेकार्ड तोड़ने की बढ़ती हुई ‘धुन’ के विरुद्ध ‘राष्ट्रसङ्घ’ के स्वास्थ्यविभाग ने आवाज उठायी थी। सन् १९३७ में उस के एक ‘बुलेटिन’ (पत्रक) में कहा गया है कि “इस तरह के प्रदर्शन से कोई शारीरिक लाभ नहीं होता। एक अङ्ग की अधिक कसरत से प्रायः दूसरे अङ्ग दब जाते हैं। व्यायाम शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए है। स्वास्थ्य तभी ठीक रह सकता है, जब आवश्यकतानुसार सभी अङ्गों की कसरत की जाय। इस का ध्यान न रखने से अन्ततः स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। एक ही कसरत का अधिक समय तक लगातार अभ्यास करने के कुपरिणाम प्रत्यक्ष दिखलायी देते हैं। लगातार साइकिल चलाने का अभ्यास करनेवालों की स्वाभाविक चाल में अन्तर पड़ जाता है, बहुत फुटबाल खेलनेवालों के नीचे के पैर भद्दे हो जाते हैं। यदि व्यायाम का उद्देश्य शरीर की रक्षा और उस की उन्नति है, तो ऐसे ‘पराक्रम-प्रदर्शन’ व्यर्थ हैं। इन के दिखलानेवालों की प्रशंसा और सम्मान से प्रेरित होकर दूसरे लोग बाजी मारने का प्रयत्न करते हैं, जिस में वे प्रायः अपना स्वास्थ्य चौपट कर देते हैं।”

लड़कियाँ और तैरना

वनारस में प्रतिवर्ष गङ्गा दशहरा पर एक ‘तैराकी का दङ्गल’ होता है। इस में प्रायः लड़कियाँ भी योग देती हैं। ‘राष्ट्रसङ्घ’ के उक्त ‘बुलेटिन’ में लड़कियों के लिए तैरने का व्यायाम कदांतक ठीक है, इस पर भी विचार किया गया है। डाक्टर वेस्टमैन की राय है कि लड़कियों के लिए अधिक तैरना लाभदायक नहीं है। सफल तैराक के लिए चौड़े कंधे, लम्बी भुजाएँ तथा गहरा सीना होना आवश्यक है, पर स्त्री-शरीर की बनावट ऐसी नहीं होती। लम्बी दौड़ के लिए भी वे अयोग्य हैं। हालैण्ड के ‘ओलम्पिक खेल’ में दौड़नेवाली हृष्ट-पुष्ट स्त्रियाँ भी दौड़ समाप्त होने पर मुर्च्छित होकर गिर पड़ीं। अधिक साइकिल चलाने से उन के शरीर में कितने ही भीतरी और बाहरी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक परिश्रम की कोई भी कसरत उन के उपयुक्त नहीं कही जा सकती। अन्य कई डाक्टरों की राय है कि शारीरिक परिश्रम के खेलों में बाजी मारने का प्रयत्न करना स्त्रियों के लिए उचित नहीं है। फ्रांस के शिक्षाविभाग ने तो नियम बना दिया था कि विद्यालयों की लड़कियाँ किसी ‘बल-प्रदर्शन’ में भाग नहीं ले सकतीं। फ्रांसीसी डाक्टर लावे का कहना है कि सब के लिए एक सी ही व्यायाम की शिक्षा लाभदायक नहीं हो सकती। स्त्री-पुरुष के शारीरिक भेद का ध्यान रखकर प्रत्येक की शिक्षा उस के वय, स्वभाव, निजी तथा राष्ट्रीय प्रवृत्ति, परम्परा, रहन-सहन की स्थिति तथा देश के जल-वायु के अनुसार होनी

चाहिए। इसीलिए पाश्चात्य देशों में 'खेल-विशेषज्ञ' नियुक्त करने की चाल चलायी गयी। वे कौन खेल या कौन व्यायाम किस के लिए उपयुक्त है, इस का वैज्ञानिक अध्ययन करके लड़के-लड़कियों को सलाह देते हैं। जर्मनी में इन डाक्टरों को साधारण चिकित्सा करने का अधिकार नहीं है। खेलसम्बन्धी सलाह देना ही उन का मुख्य काम है। पर हमारे यहां तो हर बात में बिना समझे-बूझे विदेशियों की नकल होने लगती है। व्यर्थ समझकर वे जिस बात को छोड़ देते हैं, उस के भी हम पीछे पड़े रहते हैं। 'जिमनास्टिक' का ऐसा फैशन चल गया है कि हा एक स्कूल में उस का प्रचार हो रहा है। कोई लड़का उस के योग्य है या नहीं, इस का विचार किये बिना ही 'कलाबाजी' सिखायी जाने लगती है। यदि कभी राष्ट्रीयता की धुन आगयी, तो 'सूर्य-नमस्कार' या 'योगासन' की 'कवायद' करायी जाने लगती है। योग्यायोग्य, साध्य, साधक, साधन के परस्पर सम्बन्ध पर कोई विचार ही नहीं होता। यही कारण है कि प्रायः फल उल्टा होता है। अब विशेषज्ञों का निश्चित मत है कि सब को एक ही सौंचे में ढालने से सफलता नहीं मिल सकती। जन्म से ही बच्चों की डाक्टरी परीक्षा होती रहनी चाहिए और उस के आधार पर उन के व्यायाम का क्रम बनाना चाहिए। 'बुलेटिन' के अन्त में कहा गया है कि 'परम्पराप्राप्त जन्मना गुण-स्वभाव का पूरा ध्यान रखे बिना शारीरिक तथा मानसिक शिक्षा में सच्ची सफलता कभी प्राप्त नहीं हो सकती।' अपने यहां का यह भुलाया हुआ सिद्धान्त यदि विदेशी विशेषज्ञों की कृपा से ही हमारी समझ में आ जाय, तब भी गनीमत है।

“अनन्ता वै वेदाः”

(श्री स्वामी करपात्री जी)

“भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवाच। तं ह जीर्णं स्वविरं शयानं इन्द्र उपव्रज्योवाच—भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति, ब्रह्मचर्यमेतेन चरेयमिति, होवाच तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दशंयाञ्चकार, तेषां ह्येकैस्मान्मुष्टिमुपाददे। स होवाच—भारद्वाजेत्यामन्त्र्य वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः, एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्योवाच, अथ त इतरदन्तमेव इति” (तै० ब्रा० ३, १०, ११, ३, ४,) अर्थात् भरद्वाज अपने तीन जीवन-काल ३०० वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करके वेदाध्ययन करते रहे। तृतीय जीवन के अन्त में अतिवृद्ध एवं शिथिल होकर पड़े थे। इन्द्र ने उन के पास आकर पूछा—“भरद्वाज! यदि तुम्हें चतुर्थ जीवन दूँ, तो उस से क्या करोगे?” भरद्वाज ने कहा—“उस से ब्रह्मचर्य करके वेदाध्ययन ही करूँगा।” इन्द्र ने भरद्वाज के लिए अज्ञात तीन बड़े पर्वतों को दिखलाया और उन से तीन मुष्टि लेकर कहा—“ये तीनों पर्वत ऋक्, साम, यजु, तीनों वेद हैं, उन में से अभी तुम ने केवल तीन मुष्टि ही पड़ा और सब अनधीत ही हैं। वेद अनन्त हैं।” परब्रह्म परमात्मा से ही इन अनन्त वेदों का प्रादुर्भाव होता है। सुषुप्तिकाल में इन्द्रियों के लय हो जाने पर शब्द, स्पर्श आदि से जीवों का जागना प्रसिद्ध है। इन्द्रियों की लयावस्था में जीवों के लिए शब्दादि का सुनना सम्भव नहीं है। यदि इन्द्रिय के बिना सुन सकें, तब तो मृत आत्माओं को भी सुनना चाहिए। अतः जीवों से अन्य कोई सदा चेतन परमात्मा मानना चाहिए। उस में इन्द्रिय या सुषुप्ति आदि कुछ भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर उस के भी जगाने के लिए किसी अन्य चेतन की आवश्यकता पड़ेगी। फिर अनवस्था आदि दोषों की प्रसक्ति होगी, अतः वही नित्य चेतन शब्दादि को सुनकर सुप्त प्राणी के प्रारंभ कर्मावसार सुख-दुःख एवं तज्जनक शब्दादि का अनुभव कराने के

लिए जीवों को जगा देता है। मृतकों का प्राणव कर्म शेष नहीं रहता, अतः उन्हें नहीं जगाता। सुप्ति, मूर्च्छा, प्रलय, महाप्रलय में अनन्त जीवों एवं उन के कर्मों का विवेक करके तदनुरूप फल-भोग की व्यवस्था करना सर्वज्ञ परमेश्वर का ही काम है। वही सर्वज्ञ सर्वव्यवहारमूल ज्ञान के एकमात्र उद्गमस्थान वेद का आविर्भाव करते हैं।

परमेश्वर से प्रादुर्भूत वेद अनन्त हैं। “दश दश तच्छतं, दश शतानि तत्साहस्रं, तत्सर्वं अनन्ता वै वेदाः” अर्थात् दश दशक सौ होते हैं, दश शत सहस्र होते हैं, सम्पूर्ण संख्या वेद के अवयवों में आ जाती है, अनन्त वेद है। वे वेद पहले अविभक्त ही उद्भूत होते हैं। उन्हीं का भगवान् व्यास के द्वारा विभाग होने से अनेक भेद उपलब्ध होते हैं। जैसे किसी वृक्ष में, छेदन के पहले भी अन्योन्यमिलित सहस्रों शाखाएँ रहती हैं, परन्तु साधारण पुरुष उन की पृथक् गणना नहीं कर सकता, किन्तु चतुर गणितज्ञ हो उन की गणना करता है, वैसे ही एक वेद में अन्योन्यमिलित अनन्त शाखारूपी अवयवों को जीवमात्र पृथक् पृथक् नहीं समझ सकते, किन्तु वेद ही अपनी गणना स्वयं करते हैं। जैसा कि ‘मुक्ति-कोपनिषद्’ में स्वयं वेदों की गणना है। ‘मुक्ति-कोपनिषद्’ का परिगणन भी सम्पूर्ण वेद के अवयवों का नहीं है, किन्तु वह परिगणन जातिभेद से है। जैसे वृक्ष, मनुष्यादि-भेद से जगत् के अनन्त होने पर भी स्थावर, जङ्गम इन दो जातियों में उस का परिगणन किया जा सकता है, वैसे ही वेद के अवयवों के अनन्त होने पर भी ऋक्, साम, यजु, अथर्व इन चार जाति के भेद से उन का परिगणन किया जाता है। ‘मुक्ति-कोपनिषद्’ में जो ११३१ शाखाओं का परिगणन है, वह भी सम्पूर्ण शाखाओं की नहीं, किन्तु ऋगादि के उसी भाग की संख्या है, जो कि जीवों के ग्रहणयोग्य हैं। जो भग्न जीव-प्राण नहीं हैं, केवल परमेश्वर के ही प्राण हैं, उन की संख्या ‘मुक्ति-कोपनिषद्’ में नहीं है अथवा जैमे भगवान् ने अपनी अनन्त विभूतियों में से कुछ का निर्देश करके अन्त में यही कह दिया कि सब को पृथक् पृथक् कहाँ तक गिनायें? यह सम्पूर्ण विश्व मेरे एक अंश में स्थित है, वैसे ही अनन्त वेदों में कुछ का परिगणन करके शेष को भी उपलक्षित मान लिया जाता है। इस का विशेष विवरण और हास आदि का वर्णन ‘सिद्धान्त’ वर्ष २, अङ्क ४६ में किया गया है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि कुछ वेदविरोधी लोगों के ग्रन्थों को भी लुप्त श्रुति के आधार पर प्रामाणिक माना जा सकता है, परन्तु उन्हें यह भी ध्यान देना चाहिए कि जो ग्रन्थ वेदविरोधियों के ही बनाये हुए हैं या जिन ग्रन्थों में वेदविरोध प्रत्यक्ष है, उन के आधारभूत श्रुति की कल्पना ही किसतरह की जा सकती है? उपलब्ध शाखाओं से विरुद्ध ग्रन्थों का आधार लुप्त श्रुति कथमपि मानी नहीं जा सकती।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि कोई वैदिक ही कोई स्मृति बना ले और उसे लुप्त श्रुतिमूलक कहे, तो क्या समाधान है? परन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि उस से यह प्रश्न होगा कि “जब तुम्हारे ग्रन्थ का आधार श्रुति लुप्त है, तब तुम्हें उम का कैसे पता लगा?” अर्थात् जिस की सम्प्रदाय-परम्परा समाज में उपलब्ध नहीं है, उस के वेदत्व में संशय बना ही रहता है, क्योंकि “सम्प्रदायविच्छेदे सति अस्मयः प्रवर्तते” ही ‘अपौरुषेयत्व’ एवं ‘वेदत्व’ की प्रयोजक है। यों सामान्यरूप रूप से वेदविदों के वचन भी वेदवत् मान्य होते ही हैं, परन्तु स्मृतिकोटि में परिगणित अष्टादश स्मृति, रामायण, भारत, पुराणादि ही प्राण्य हैं। प्रसिद्ध श्रुति, स्मृति, पुराणादि-संमत ही आधुनिक वचन मान्य हो सकते हैं, इन से अविरुद्ध, शिष्टाचारानुमोदित अन्य आचार भी मान्य हो सकते हैं। परन्तु, पूर्वोक्त किन्हीं प्रमाणों से अनुमोदित कोई भी अर्वाचीन ग्रन्थ

मान्य नहीं हो सकता। कि बहुना उपर्युक्त प्रमाणों से अननुमोदित होने पर किसी का उच्चारित या लिखित, वेदशाखा नाम से प्रख्यापित ग्रन्थ भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि सम्प्रदाय लुप्त होने से प्रामाणिक निबन्ध एवं टीकादि या प्राचीन प्रामाणिक प्रति के आधार बिना विप्रलम्भ की सम्भावना से अप्रामाण्य-शङ्का बनी ही रहेगी। अतः आज के छद्मनय युग में किसी की यह बात नहीं मानी जा सकती कि हमें लुप्त शाखाएँ या अनन्त शाखाओं में से कई शाखाएँ अभ्यस्त हैं। जिसे लुप्त शाखाओं का प्रत्यक्ष है, उस से यह भी प्रश्न है कि 'विद्यमान शाखाएँ तुम्हें प्रत्यक्ष हैं या नहीं?' यदि वह वैदिक विद्वानों में ठीक सस्वर सभी शाखाओं का उच्चारण कर सके, तो कुछ विश्वास किया जा सकता है। फिर भी अर्वाचष्ट लुप्त शाखाएँ कहाँ से, कैसे मिलें, यह विद्वानों में उसे प्रमाणित करना होगा, अन्यथा केवल प्रतारणामात्र समझकर कोई भी आस्तिक ऐसे लोगों की उक्तियों पर विश्वास नहीं कर सकता। जिन मन्त्रों की कहीं सम्प्रदाय-परम्परा प्रचलित हो या जो मन्त्र अन्ध्रन आर्ष प्रमाणों में मान्य हों तथा जो मन्त्रद्रष्टारूप से आर्ष वचनों से स्वीकृत हैं, उन्हीं का मन्त्रद्रष्टृत्व या ऋषित्व मान्य हो सकता है। किसी 'सिद्धि' या चमत्कार के प्रदर्शनमात्र से ऋषित्व या उस के द्वारा लुप्त शाखाओं के बोध का विश्वास नहीं किया जा सकता। इसी-लिए "अनन्ता वे वेदाः" का सहारा लेकर या लुप्त शाखाओं का सहारा लेकर किसी शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थ या सिद्धान्त की मान्यता नहीं सिद्ध की जा सकती है।

प्रार्थना-रहस्य

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

२

पूर्वोक्त आलोचना के उपरान्त यह ज्ञात होगा कि देव-देवी की पूजा के प्रकरण में स्तव, स्तुति का समावेश किसलिए है। कहना होगा कि स्तव, स्तुति का उद्देश्य है विज्ञान-स्मरण और योगाङ्गादि के अनुशीलन का फल है इस विज्ञान का अन्तःकरण में दृढ़रूप से अङ्कित करना। इन दो उपायों से जो प्राप्त होगा, वह है परमात्मभाव का प्रकाश। अतः देव-देवी-पूजा का परम फल हुआ आत्मज्ञान या परमार्थ तत्त्वज्ञान। पर लोग बुद्धि की न्यूनता के कारण एक क्रिया के एक अङ्ग को छोड़कर दूसरे एक अङ्ग को पकड़े हुए हैं। 'पकड़े हुए हैं' यह कहने का भी साहस नहीं होता, क्योंकि स्तव, स्तुति या प्रार्थना में हम विज्ञान का स्मरण नहीं करते, क्योंकि हमलोग शास्त्र-वेत्ता या तत्त्वदर्शी नहीं हैं, इस के अतिरिक्त हमलोग अपनी स्वरचित भाषा में स्तव, स्तुति करते हैं। हमारी स्वरचित भाषा शास्त्रोक्त विज्ञान-स्मरण के अनुकूल नहीं, अपितु प्रतिकूल है। इसलिए प्रार्थना या अर्चना, इन दोनों में से हम कुछ भी नहीं करते। करते हैं बकरे आदि की वलि, श्राद्ध-भूदण्ड का वादन, नृत्य-गीत का अभिनय तथा चावल, केला आदि से शृङ्गार और कर्मकाण्ड के ज्ञान से रहित पुरोहित। विचारशील पाठक देखेंगे कि देव-देवी-पूजा में हमलोग जिन सब आयोजनों का अनुष्ठान करते हैं, उन में कोई भी देवता का प्रतिकर नहीं है। हमलोग इतने काण्डज्ञानहीन भी हैं कि किसी में यह भी नहीं समझते कि इसतरह ढोलकबाजी खेलकर आत्मप्रतारणा क्यों करते हैं? हे महामाये! तुम्हारी इस महामाया का रहस्यभेद कौन कर सकता है? इसतरह आत्मप्रतारणा करना हमलोगों का हार्दिक स्वभाव सा हो गया है, अतएव अपने दोष को हम देख नहीं पाते। फलश्रुति करके हो संसार में कर्मानुष्ठान किया

जाता है। अर्थव्ययसाध्य कर्म करके भी उस से फल उत्पन्न न हो, ऐसी अकांक्षा कौन करेगा? वस्तुतः यह बहुत बड़े खेद का विषय है कि जिस बुद्धिवृत्ति की विशेषता के कारण मनुष्य ने अन्य प्राणी की अपेक्षा श्रेष्ठ पद प्राप्त किया है, उसी बुद्धिवृत्ति का अपव्यवहार किया जाता है। क्या यह निन्दनीय नहीं है?

इस सम्बन्ध में अपने किसी प्राचीन बन्धु के मुख से एक हास्यजनक कहानी सुनायी थी, उस का स्मरण हो आया है। पाठकों के कौतूहल को उद्दीप्त करने के लिए उसे प्रकट किया जा रहा है—“अतुल ऐश्वर्य के अधिपति किसी अनामक सज्जन के यहां हजारों रूपये खर्चकर प्रतिवर्ष दुर्गोत्सव मनाया जाता था। उन हजारों रूपयों में से कुछ थोड़े से रूपये ही देवपूजा के खर्च के लिए निर्धारित थे। अधिकांश धन बारात, कवितापाठ, नाटक, साहसों को पाटी देना, मद्य, वाद्य, आतशबाजी आदि कामों में खर्च होता था। अनामक सज्जन का नाम लेने से वह दिन लोगों का अच्छा न बीतता, इसलिए कोई उन का नाम न लेता था। एक समय दुर्गोत्सव के अवसर पर कोई एक हास्यप्रिय ब्राह्मण उस उपर्युक्त सज्जन के घर आये। उक्त सज्जन, जिन्हें हम वसु बाबू कहेंगे, उस समय देवी-मन्दिर के सामनेवाले दालान में बैठे थे। उन्हें देखकर आगन्तुक ब्राह्मण ने खूब लची आवाज से—“आस्तिकस्य मुनेर्माता भगिनी वासुकेस्तथा। जरत्कारमुनेः पत्नी मनसादेवि नमोऽस्तुते” (अर्थात् हे आस्तिक ऋषि की माता, वासुकि नाग की वहन और जरत्कार मुनि की पत्नी मनसा देवी! आप को नमस्कार है) यह मन्त्र पढ़कर देवी के द्वार पर प्रणाम किया। वसु बाबू ने यह सुनकर बहुत क्रुद्ध होकर उस ब्राह्मण से पूछा—“तुम्हारा मकान कहाँ है? कौन जाति हो?” ब्राह्मण ने विनीत भाव से कहा—“मेरा निवास शान्तिपुर-उल्ला है, मैं ब्राह्मण हूँ।” वसु बाबू ने कहा—“तुम यदि ब्राह्मण हो, तो चण्डी देवी के द्वार पर 'मनसा' को क्यों प्रणाम किया?” ब्राह्मण ने कहा—“मैं इस समय कैलाश से आ रहा हूँ, इसी से मुझे सब भीतरी खबर का पता है।” यह सुनकर वसु बाबू को कुछ कौतूहल हुआ और उन्होंने पूछा—“भीतरी खबर के क्या माने?” इस पर उस आगन्तुक ब्राह्मण ने कहना प्रारम्भ किया—“सुनिये, गत महालया अमावास्या के दिन मैं कैलाश में था। वहां महादेव, महादेवी, कार्तिकस्वामी, गणेश आदि में बड़ा विवाद मचा हुआ था।” वसु बाबू ने बीच में बाधा देकर कहा—“सो क्या? बड़ा विवाद क्यों?” तब ब्राह्मण ने कहा—“मुनो भाई! मैं सब कहता हूँ, जरा धैर्य रखिये।” यह कहकर ब्राह्मण ने आगे कहना आरम्भ किया—“पूजा के अवसर पर कौन कहाँ जायगा, यही विषय विवाद का कारण था। आप के यहां पूजा के उपलक्ष्य में जितना खर्च होता है, उतना बड़े बड़े अमीरों के वहां नहीं होता। इसीलिए महादेव ने दुर्गा से कहा—“भगवति! तुम वसु बाबू के वहां जाना।” दुर्गा ने इस पर बड़ी आपत्ति की और बोली—“देखिये, मुझे कुछ भूख अधिक लगती है। जानते हैं, इसीलिए मेरे दस हाथ हैं। छेना, सन्देस और रसगुल्ला जहां मिलेगा, वहां जाऊंगी। राजशाही का छेना, सन्देस बहुत अच्छा होता है, मुझे वहां गये बिना न चलेगा।” वहां तक न देखकर महादेव ने गणेश से कहा—“गणेश! तुम जाओ।” गणेश ने अनेक आपत्ति करते हुए कहा—“देखिये, आप जानते हैं कि मैं बहुत दिनों से पण्डितों का साथ पसन्द करता हूँ, इसलिए नवद्वीप, भाटपाड़ा, पूर्वस्थली, विक्रमपुर आदि स्थानों में मेरा आना-जाना है। मैं वहां जाना छोड़कर वसु बाबू के वहां किस तरह जाऊँ?” इस के बाद महादेव ने कार्तिक से कहा—“तब तुम्हीं जाओ।” कार्तिक ने कहा—“मुझे वैसी आज्ञा मत दीजिये, मैं कलकत्ता की शोभावाजारवाली राजबाड़ी में जाया करता हूँ, इस वर्ष भी वहाँ जाना स्थिर कर चुका हूँ।” तब महादेव ने सरस्वती से कहा—“मा! न हो तो तुम्हीं वहां चली जाओ।” इस पर सरस्वती ने कहा—

“नहीं बाबा, मैं तो जोड़ासाकूवाले महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के वहाँ जाया करती हूँ, इस बार भी वहाँ जाना निश्चित कर चुकी हूँ।” यह सुनकर महादेव बड़े असमञ्जस में पड़े। कोई उपाय न देखकर लक्ष्मी को बुलवाकर कहा—“माँ! ऐसा करो कि....” अभिप्राय समझकर लक्ष्मी ने कहा—“बाग। मुझे ऐसी कठिन आज्ञा न देना। मुझे बर्दवान के राजा के वहाँ बिना गये न चलेगा।” तब असुर से कहा गया—“भैया! तुम्हारे बिना गये वसु बाबू की इतने रूपयों के खर्च से होनेवाली पूजा व्यर्थ हो जायगी।” असुर ने कहा—“स्वामि! आप बूढ़े हैं, इसलिए यह बात आप की समझ में न आयेगी। देखिये, वसु बाबू के वहाँ ‘शीतली’ भोग की व्यवस्था सिर्फ चार आने हैं। मैं वहाँ जाकर भूखा नहीं रहना चाहता। मुझे तो तलपुर के चौधरी महाशय के वहाँ के ही प्रतिवार्षिक निमन्त्रण को स्वीकृत करना पड़ेगा।” महादेव ने तब सिंह से वसु बाबू के वहाँ जाने का आदेश दिया। सिंह ने कहा—“मैं कुछ मांसाहारी हूँ, इसलिए आप तो जानते ही हैं कि मैं उस वैष्णवप्राय वसु बाबू के वहाँ जाऊँ उपवास न कर सकूँगा, क्योंकि वहाँ बकरे आदि की बलि दी नहीं जाती, पांछे से अपव्यय होता है। इसलिए मैं सदा महिषादल के राजा के वहाँ जाया करता हूँ। इस वर्ष भी वहाँ जाऊँगा। आप कृपा करके मुझे न रोके।” यह सुनकर महादेव ने महिष से कहा—“तुम जाओ।” महिष ने कहा—“कहाँ?” महादेव ने कहा—“कलकत्ता में... वसुबाबू के वहाँ।” सुनकर महिष ने कहा—“प्रभु! मुझे ऐसा कठोर आदेश न दोजिये। मैं जलाकोर्ण देश एवं घास पसन्द करता हूँ, इसलिए प्रतिवर्ष बारासाल के कलम-काठीवाले वरदाकान्त राय चौधरी के वहाँ जाया करता हूँ, इस वर्ष भी वहाँ जाना पड़ेगा।” इस के उपरान्त भगवती ने महादेव से कहा—“आप ही भला वहाँ क्यों नहीं चले जाते?” यह सुनकर महादेव ने कहा—“देखो, तुम तो जानती ही हो कि भांग, गांजा, धतूरा बिना मुझे चैन नहीं पड़ता। वसुबाबू के वहाँ इन वस्तुओं की गन्ध भी नहीं है, इसलिए मैं तो बागबाजार के पशुपति वसु के वहाँ जाऊँगा।” यह सुनकर महादेवी ने कहा—“सर्प। तब तुम्हीं जाओ न। कुछ भी हो, बिना किसी एक के गये ठीक नहीं दिखलायी पड़ता। वह तो इतने रूपये खर्च करता है।” यह सुनकर सर्प ने कहा—“अच्छा माता। वही होगा। मैं वायुभक्षण करके भी काम चला सकता हूँ, इसलिए कुछ दिनों तक न होगा, तो उसी तरह रह जाऊँगा।” यह कहकर सर्प यहाँ आये हैं। समझे महाशय! सर्प यहाँ आये हैं, यह जानकर मैं ने उन्हें ही नमस्कार किया है। अब आप समझे कि ‘भीतरी खबर’ क्या है?”

हमलोग भी वसु बाबू की तरह पूजा का आयोजन करते हैं या नहीं, यह विद्वानों का विवेचनीय विषय है, अतः उस सम्बन्ध में अधिक आलोचना करना व्यर्थ प्रतीत होता है। आजकल यदि केवल प्रार्थना से ही पूजा की जाय, तो भी वह व्यर्थ होगी, क्योंकि प्रार्थना करे किस से? यह जो “शरयं देहि नृगान् जित्वा” कहते हैं, इसे सुनता है कौन? जिन ऋषिवाहन किया है, वे तो आसन पर हैं नहीं, फिर ऐसी प्रार्थना क्या अरण्यरोदन की तरह निष्फल नहीं हो रही है? “देवे परिचयो नास्ति वद पूजा कथं भवेत्?” जिस देवता को लाकर खड़ा किया है, पहले उसे लाने की क्रम-पद्धति जानना, वह आयी या नहीं, इस की परीक्षा करना, जानकर फिर प्रार्थना करना चाहिए, तब निश्चय ही अमीष्ट सिद्ध होगा। कर्म का फल प्राप्त करना ही तो कर्मों को वाञ्छित है, इसे कौन अस्वीकार करेगा?

इस के उपरान्त प्रार्थना करना भी जानना चाहिए। जो लोग तृष्णा के समय अन्न-वितरण करते हैं, उन के पास जाकर, ‘हां’ करके खड़े रहने से वे ग्रास दगे कहाँ? मुह में तो अन्न धरेंगे नहीं। अतएव वहाँ हाथ फैलाकर लेना पड़ेगा। इसी तरह कहाँ, किस तरह, किस अस्थान में, कैसी प्रार्थना करना चाहिए, यह बिना

जाने प्रायः सर्वत्र ही व्यर्थमनोरथ होना पड़ेगा। आधुनिक जनता शास्त्र के पास नहीं फटकती, सत्सङ्ग नहीं करती, अपनी उदाम वृत्ति का आश्रय लेकर मनमाना काम करती है, इसलिए यह जानता हूँ कि उन्हें यह सब बातें अच्छी न लगेंगी, तथापि उन्हें लक्ष्य करके कुछ बातें लिपिवद्ध करने का प्रयत्न करता हूँ। कौन कह सकता है कि उन में से एक की भी मति-गति का परिवर्तन इस से न होगा। बात यह है कि अज्ञानी की कर्मप्रवृत्ति के लिए मूर्तिपूजा की प्रवर्तना है। मूर्तिपूजा के उपलक्ष्य में बाह्य आडम्बर होने पर भी पूजाप्रकरण में योगाङ्गादि का जो अनुष्ठान विहित हुआ है, उस का अनुशीलन करते रहने से क्रमशः अज्ञानी को योगानुष्ठान में पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त होगा। इस तरह योगी हो जाने पर अपने आप बाह्याडम्बर परित्यक्त होने लगेगा, उस समय प्रार्थना करने में भी प्रवृत्ति न होगी। कोई-का जब उत्पन्न होता है, तब पहले फूल के साथ वह एकत्र संलग्न रहता है। उस समय यदि फूल को नष्ट करें, तो फल भी मर जाता है, पर फल के पुष्ट होते होते फूल अपने आप झड़ जाता है, किसी की चेष्टा की अपेक्षा नहीं करता। ठीक इसी तरह पहले कर्म के आरम्भकाल में बाह्याडम्बर रहने पर भी, समय पाकर वह अपने आप हट जाता है। विशेषकर, आरम्भ के समय कोई भी कार्य सर्वाङ्गसुन्दर नहीं होता, धूमावृत अग्नि की तरह सभी कर्म सामान्यतः दोषावृत रहते हैं—“सर्वाङ्गभा हि दोषेण धूमेनानिर्निवायताः” (गोता)। हाँ, इन कतिपय बातों पर आस्था रखकर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होने पर ही ज्ञात होगा कि प्रार्थना का कुछ प्रयोजन है या नहीं, और तभी पता लगेगा कि स्वधर्माचरण से ही शुद्धान्तःकरण होकर ब्राह्मणादि मुक्ति प्राप्त करके धन्य हो सकते हैं—“वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्निवृतः। तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥”, “स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति माचवः।”

चित्त-विश्रान्ति

(श्री क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती, एम. ए.)

७

प्र०—“ज्ञाननिष्ठा के प्रयोजक मनन तथा ध्यान के विषय में कुछ कहिए।” उ०—“गुरुवाक्य-श्रवणजनित परोक्ष आत्मज्ञान के उपरान्त ‘यह अद्वैत परमेश्वर अत्मा सम्भावित है या नहीं’ अर्थात् ‘मैं संसारी मनुष्य न होकर वास्तव में परमात्मस्वरूप हूँ या सचमुच सुखी-दुःखी जीव हूँ और परमात्मा ब्रह्म मुझ से भिन्न एवं चिदानन्दस्वरूप है?’ इत्यादि रूप अनेकविध संशय (असम्भावना) को मननात्मक विचार द्वारा दूर करके उक्त अद्वयात्मतत्त्व को सुतर्क की सहायता से हृदय में प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। इस के उपरान्त निश्चितरूप में परिज्ञात प्रत्यक् वस्तु के आकार में चित्त को सर्वदा आकारित रखना होगा। ध्यान के सहारे, स्वरचित समस्त अनात्म विकल्पज्ञान का एकदम ध्वंस करके परमानन्दस्वरूप अवशिष्ट आत्मब्रह्म को अवश्य ही मैं प्राप्त होऊँगा’ इस तरह प्रकृष्ट भक्ति या अनन्यव्यापारता उत्तम मनन का अवश्यम्भावी फल है, अतः यदि उसे अखण्डाकार में स्थिर न रखा जाय, तो भी बलपूर्वक—प्राप्त-संयम, धारणादि द्वारा—अवश्य ही चित्त की एकाग्रता सम्पादन करना होगा। ऐसा करते हुए कभी विरत न होना चाहिए। यत्न अत्यन्त तीव्र होना आवश्यक है। वशिष्ठ भगवान् कहते हैं—“इत्थं हस्तेन समीक्ष्य दन्तान् दन्तेर्विचूर्णयन्। अज्ञानज्ञैः समाक्रम्य जये-

दादौ स्वर्क मनः ॥” जब तक अपरोक्षानुभव—अनादृत्य स्फुरणशील आत्मस्वरूप में स्वयं और सम्यक् स्थिति—प्राप्त न हो, तबतक निरन्तर समाहित रहने का परम हितकर उपदेश भगवान् शङ्कराचार्य देते हैं—“मातापित्रोर्मनोभूतं मलमांसमयं वपुः । त्यक्त्वा चाण्डालवद्वरं ब्रह्मीभूय कृती भव ॥ प्रारब्धं पुण्यं च वपुरिति निश्चित्य निश्चलः । धैर्य-मोलम्ब्य यत्नेन स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ तस्माद्ब्रह्मकारिमं स्वशत्रुं भोक्तृगणैः कण्टकवत्प्रतीतम् । विच्छिद्य विज्ञानमहाभिना स्फुटं भुङ्क्त्वा-त्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ॥” अद्वैत आत्मतत्त्व का इसतरह अन्तिम साक्षात्कार भगवान् के अनुग्रह से उत्पन्न होने पर आवरक अज्ञान समूल विनष्ट हो जाता है और समाधि-काल में अनुभूत प्रत्यगभिन्न परमात्मदेव की वासना—ब्रह्मज्ञान का सहज संस्कार या ब्रह्मविद्या-जन्य आनन्द—अपरोक्षज्ञानवान् महात्मा पुरुष के ब्रह्मभावप्राप्त, अतिनिर्मल चित्त में—सातवीं भूमिका तक—स्वतः स्फुरित होता है । इसी को ज्ञेयवासना, प्रत्यभिज्ञा, सहज समाधि, अन्तःकरण की शीतलता, विकल्पक्षय, चित्तनाश, स्वरूपविभ्रान्ति या जीवन्मुक्ति कहा जाता है । अनात्मवासना या ज्ञेयवासना का अत्यन्त अभाव हो जाना ही सरूप मनोनाश एवं सदेह मोक्ष है । इसी के परिणाम-वश तुर्यगा या सातवीं ज्ञानभूमिका में—प्रारब्धकर्म के भोग का अवसान होने पर—ज्ञेयवासनात्याग, अरूप मनोनाश, चित्त का निर्वाण या विदेहावस्था प्राप्त होती है । यही तुरीयातीत अवस्था भी कही जाती है ।”

प्र०—“समाधि जब निर्विकल्प प्रकाशरूप है, तब व्युत्थान में उस का स्मरण कैसे होगा ?” उ०—“जैसे जागरणप्राप्त पुरुष को पुनः स्वप्नावस्था की प्राप्ति सम्भव नहीं है, वैसे ही परमार्थ दृष्टि से कैवल्यभावप्राप्त ज्ञानयोगी का व्युत्थान सम्भव नहीं है । शाब्ददृष्टि से समाधि में अन्तःकरण का सम्यक् बोधपूर्वक अखण्डरूप में अवस्थान-ज्ञात ब्रह्मस्वरूप में वर्तन या आवरणशून्य अद्वय ब्रह्माकार में स्फुरण—अनुभवसिद्ध या स्वयं उपलब्ध होता है, इसलिए व्युत्थान-दशा में ब्रह्मात्मज्ञान या प्रत्यगब्रह्मविषयक स्मृति सम्भव होती है अर्थात् सविकल्प समाधि के समय चित्त का अचल या अखण्डित रूप में अवस्थान हो जाता है । इस परिणामशून्य या अत्यन्त निर्विकार चित्त की अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति में आरुढ़ होकर शुद्ध प्रत्यगात्म-स्वरूप समाधि-दशा में स्फुरित होता है, इसीलिए व्युत्थानकाल में आत्मब्रह्म की निजरूप में प्रत्यभिज्ञा या अभेदानुभव का स्मरण असम्भव नहीं है । अन्तःकरण का, वृत्तिपूर्वक विशेषरूप से उपस्थापित किसी वस्तु की आत्मज्योति में, सकल प्रकाशित होना ही तद्विषयक अनुभव या प्रत्यक्षज्ञान का कारण है, अतएव साभास अन्तःकरण-वृत्ति की स्पष्ट विषयता ही बाद में स्मरण का हेतु हो जाती है । जिस वस्तु के ज्ञान में प्रयोजनानुसार या यथारुचि जितना जितना अंश विशिष्ट वृत्तिपूर्वक निर्विकल्प चेतन का भास्य होता है, उतने अंश की ‘यह मनुष्य है’, ‘यह पुरुष है’, ‘यह देवदत्त है’ इसतरह भिन्न भिन्न रूप में कालान्तर में स्मृति होती है । स्वात्मिक प्रपञ्च का भी इसीलिए जागरण में स्मरण देखा जाता है और आत्मज्ञ पुरुष का अविद्याकालीन व्यवहार भी विस्मृत नहीं होता । ज्ञानी पुरुष के अन्तःकरण में भी उस के संस्कार—दश बीज की तरह—निर्वाणवस्थापर्यन्त विद्यमान रहते हैं, यही सरूप मनोनाश कहा जाता है । अविद्या तथा उस के कार्य से मुक्त पुरुष का वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता ।”

प्र०—“समाधि-अभ्यास के विघ्न कौन कौन हैं ?” उ०—“अखण्ड, एकरस ब्रह्मस्वभाव में निरावरण स्थितिरूप मोक्षानन्दप्रद समाधियोग का प्रधातु प्रतिबन्धक है आत्मस्वरूप के आदरपूर्वक निरन्तर अनुसन्धान से विरति । यही प्रमाद, मृत्यु, ज्ञानवन्धुता आदि

विभिन्न नामों से कही गयी है । सर्वदा भक्तिपूर्वक आत्मानुसन्धान न करने से आत्माकारवासना की वृद्धि सम्भव नहीं है और अखण्ड वृत्ति की दृढ़ता के बिना प्रत्यगात्मा का सुस्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता । “ये यथा मां प्रपद्यन्ते”, “अनन्याश्चिन्तयन्तो मां”, “मामेव ये प्रपद्यन्ते” इत्यादि असङ्ख्य भगवदुक्तियाँ इस नियति-मर्यादा का ही विधान कर रही हैं । अत्यन्त तीव्र ब्रह्माभिमुखी संवेग या सर्वारम्भपरित्यागपूर्वक निरन्तर ब्रह्माभ्यास ही ईश्वरानुग्रहलभ्य सम्यक् साक्षात्कार में नियति-निर्दिष्ट हेतु है, क्योंकि प्रयत्नसाध्य ब्रह्मज्ञान की सहायता से आवरक अज्ञान पूर्णरूपेण निवृत्त होने पर प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकटित होता है । समाधि-अनुष्ठान के पथ में प्रमाद के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विघ्न हैं, जैसे आलस्य, राग, निद्रा, अविवेक, विषय का स्फुरण, चित्त की सुखाकार वृत्ति या क्षोभ । “श्रेयांसि बह्वु विघ्नानि” के अनुसार श्रेष्ठ मुमुक्षु को समाधि के अभ्यास में किसीतरह अनादर करना उचित नहीं है । सुतीव्र ब्रह्मात्मस्वरूप की भावना के बिना प्रत्यक्ष जीव-भाव की निवृत्ति कदापि सम्भव नहीं है ।”

प्र०—“कोई कोई कहते हैं कि समाधि में किसी को किसी का भी अनुभव नहीं होता, क्या यह सत्य है ?” उ०—“ब्रह्मवेत्ता गुण की कृपा से वञ्चित मनुष्य का अपना भ्रान्त अनुभव, सर्वथा मिथ्या होने के कारण, उपेक्षणीय है । सब अनात्मविषयों से दृढ़ वैराग्यपूर्वक परावृत्त मन की, प्रत्यक् चिदात्मा के आकार में निर्विकार स्थिति का नाम है ‘समाधि’ । इस तुरीय अवस्था में ‘किसी को किसी’ रूप जड़ शक्ति या दृश्य का अवभास नहीं रहता । देश, काल आदि सब परिच्छेदक उपाधियों का अभाव होने से अनवच्छिन्न चित्त उस समय बृहत् या ब्रह्मरूप में भासमान रहती है । चिन्मात्र प्रत्यक् वस्तु का तो कभी और कहीं भी अभाव हो नहीं सकता । अपने स्वरूप की नित्यता और प्रकाश-रूपता सब को अभीष्ट है । अनात्म देह, अहङ्कार और वासना अनित्य, जड़ एवं दुःखरूप है । ‘ये सब आगमापायी हैं’ ऐसा निश्चय करके दृढ़ विषय-वितृष्णा सम्पादित करने पर चित्त अत्यन्त निर्वासनिक होकर परिणामशून्य ओर ब्रह्मरूप में स्थित हो जायगा । दृढ़ आत्मवासना के बल से भूम से कल्पित सब विषयों एवं विकल्पों का सम्यक् अभाव होने पर उस अवस्था के साक्षी रूप में नित्य, कूटस्थ प्रत्यगात्मा निज, अपरिच्छिन्न, सामान्यरूप में देदीप्यमान रहेगा । परिपूर्ण, अविनाशी, स्वप्रकाश अपना आनन्दस्वरूप—सब सङ्कल्पों का क्षय होने पर—अवशिष्ट रहेगा । जैसे सर्पाश्रय साक्षात् रज्जु-स्वरूप ही होता है, उस से भिन्न और कुछ नहीं, वैसे ही समाधिअवस्था में सङ्कल्प के भावाभाव के प्रकाशक, कल्पनारहित, चिन्मात्र, एकरस, परमानन्दस्वरूप आत्म भगवान् अपने भास्वरूप में विराजमान रहते हैं । मिथ्या दृश्य वस्तु को अनुपलब्धि या अत्यन्ताभाव—चित्प्रकाश से अतिरिक्त कोई सद्रूप वस्तु न होने के कारण—एकमात्र प्रकाशरूप नित्य ब्रह्म है । सब कल्पनाओं का अधिष्ठान—दृश्यभाव की सहायता से उपलक्षित—सर्वोपाधिशून्य त्वंपदलक्ष्य अपने वास्तव स्वरूप का, अद्वितीय, शुद्ध, शान्त परमात्म-चेतन्य से, अभेद-परिज्ञान होने पर आत्मज्ञ पुरुष का, परिपूर्ण ब्रह्म-रूप में ही अवस्थान हो जाता है । अनुभवरूप पूर्ण परमात्मा का निवारण कौन कर सकता है ? यह किसी के अनुभव का विषय न होकर भी अनुभविता के आत्मरूप में सर्वदा और सर्वत्र प्रकाशमान है । स्वयंप्रकाश निजानन्द में बोधपूर्वक अवस्थान चित्त की शास्त्र-सिद्ध पूर्णता या चित्त-विभ्रान्ति है ।”

प्र०—“इस परमार्थ का अनुभव क्या मन की सहायता से होता है ?” उ०—“समाधि के परिपाक में सम्यक् ज्ञात आत्म-भगवान् अनन्त सुखरूप में स्वयं ही उपलब्ध होते हैं । आवरण-

निवृत्ति न होने तक ब्रह्माकारा वृत्ति या ब्रह्मविषयक बोध की अनिवार्य आवश्यकता है। आवरणभङ्ग के उपरान्त आत्मब्रह्म निज नित्य, निरतिशय ज्योति में भासमान हो जाता है। जिस प्रकार मणि की स्वकीय दीप्ति से मणि प्रकाशित होता है, उसी प्रकार चिदात्मा भी अपने भास्वरूप से सर्वदा दीप्तिशील रहता है, प्रत्यक्ष बोध होने पर 'सकृत् विभात' रूप में स्फुरित हो उठता है। निर्विकल्प समाधि की परिपक्व अवस्था में सकल वृत्तियों का एकदम निरोध होने पर वृत्ति चिन्मात्ररूप या ब्रह्मात्मक हो जाने से बोधस्वरूप ब्रह्म अपने स्फुरणस्वभाव में स्वयं सम्यक् प्रकटित हो जाता है, पृथक् उपलब्धा द्वारा उपलब्ध नहीं होता। चिदात्म्य बोधरूप अन्तिम अखण्ड वृत्ति और बोधस्वरूप ब्रह्म अनन्य स्वरूप होने के कारण—
बाधित त्रिपुटी के अधिष्ठानरूप होने के कारण—“स्वयं तदन्तः-कारणेन गृह्यते” यह कथन युक्तियुक्त ही है। जबतक अन्तःकरण ब्रह्मस्वरूप में अत्यन्त परिणत नहीं होता, तबतक प्रत्यगात्मा का ज्ञान चित्प्रदीप्त वृत्ति की सहायता से (परोक्षरूप में) होता है, त्रिपुटीभाव का विगलन होने पर अत्यन्त निर्मल चित्त में निरालम्ब परमात्मा स्वयं प्रकाशित हो जाता है। जड़ चित्त उस का प्रकाश कैसे कर सकेगा ?” प्र०—“यह अनुभव क्या नष्ट हो जाता है ?” उ०—“साक्षात्कार वृत्ति या बोध परमात्मस्वरूप में विलीन हो जाता है, त्रिपुटी-साक्षी अनुभवस्वरूप प्रत्यक् ब्रह्म अविनाशी होने के कारण ब्रह्मज्ञानी महापुरुष सर्वदा और सर्वत्र परमानन्द में अवस्थित रहता है। हृदयग्रन्थि के विनष्ट होने पर मुक्त पुरुष बुद्धि आदि के गुण में कभी लिप्त नहीं होता, यही अविद्या का नाश है।”

प्र०—“अपरोक्ष ज्ञान का फल क्या है ?” उ०—“परम तृप्ति ही सम्यक् ज्ञान का फल है। चित्त के विनष्ट होने पर सर्व आशारूप ज्वर—सन्ताप—का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है और सुख की पराकाष्ठा या देहादिनिरपेक्ष अकृत्रिम आनन्द का आविर्भाव होता है। कर्माभाव या कर्मबन्धन से मुक्ति, ब्रह्मवेत्ता महात्मा पुरुष की ही, सम्भव है, अन्य की कभी नहीं। आत्मदर्शी की व्यवहार में या समाधि में, सुख या दुःख में, जन्म या मरण में सर्वत्र सहज समबुद्धि हो जाती है। आत्मज्ञानी में किसी तरह की दीनता नहीं रहती। ज्ञानी सदेह होता हुआ भी वास्तव में देहरहित, क्रियावान् होकर भी सर्वदा निष्क्रिय है। वह देहवान् होकर भी साक्षात् ईश्वररूप में विराजमान होता है, अतएव उस की सेवा, संमान, पूजा आदि—भगवदर्चन की तरह—भक्तजनों के निःमन्दिग्र कल्याण—(मुक्ति और मुक्ति दोनों ही)—को सिद्ध करते हैं।”

हिन्दू कोड भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार)

बिल पर मन्तव्य

(श्री जयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल, एम्. ए.)

३

प्रस्तुत बिल के पीछेवाली सन्दिग्ध धारणाएँ

२८—हिन्दुओं को सुधार डालने का यह नया जोम, अधिकतर उन लोगों में अधिक मात्रा में फैला दिखलायी पड़ता है, जो राजनीतिक क्षेत्र में थोड़े-बहुत 'क्रान्तिकारियों' की गणना के हैं। अधिक शायजनक बात यह है कि एक मुँह से वे लोग विदेशी शासकों को

सैकड़ों गालियाँ देते और उन पर अभियोग लगाने दिखलायी पड़ते हैं और दूसरे मुँह से उन्हीं शासकों के पाश्चात्य आदर्शों को अप्रमद करने में वे उन के सांस्कृतिक पुत्रों ऐसा कार्य करते हुए दिखलायी पड़ रहे हैं। वस्तुतः वे लोग अपने दिमाग के प्रभुओं की, अच्छे गुलामों की तरह, अनुकरण द्वारा, मानो कुर्निश बजा रहे हैं और साथ ही उसी समय, आश्चर्य यह है कि उन्हें भारत छोड़कर चले जाने का आग्रहपूर्वक सन्देश भी दे रहे हैं !” २९—यह परिणाम पाश्चात्य शिक्षा एवं पाश्चात्य प्रभाव का है, जिस ने उन्हें एक ओर से अपने आदर्शों के प्रति भ्रष्टाहीन बना दिया है और दूसरी ओर से भौतिक पराधीनता के प्रति असह्यताशील कर दिया है। विदेशी सत्ता को तो वे निकालबाहर कर नहीं सकते, अतः अपनी संस्कृति को उलट डालने का सरल कार्य उन्होंने हाथ में लिया है। ३०—उन लोगों का समूचा दृष्टिकोण उल्टा और जहरोला है, यह बात इतर जातियों के नेताओं जातिसम्बन्धी धार्मिक या सामाजिक तन्त्रों के साथ प्रति वर्तमान भावों के साथ जरा तुलना करने से मालूम पड़ती है। मुसलमान, जैन, पारसी, ईसाई आदि अपने अपने धर्म के लिए साभिमान हैं। हिन्दुओं का समाजतन्त्र सवपिषया आश्चर्यजनक एवं अपूर्व जीवनशक्ति से पूर्ण होते हुए भी, जब हम मुसलमान नेताओं को “इसलाम सब से आगे” के आदर्श से सारी जाति को सङ्कटित करते हुए देखते हैं, तब नेतानामधारी हिन्दू को, हिन्दूधर्म को सारे जगत के सामने उपहासार्थ आगे रखते देख रहे हैं। ऐसे संस्कृतिद्रोहियों को, हिन्दुओं के प्रतिनिधिरूप में व्यवहृत होते, बने रहते, देखकर हमें सिर नीचा कर लेना पड़ता है। ३१—यह बात सुप्रसिद्ध है कि ‘राष्ट्रमङ्ग’ (लोग ऑफ नेशनस) ने भी अल्पसंख्यक जातियों के धर्म तथा संस्कृति के संरक्षण का सिद्धान्त स्वीकार किया है। इस से यह प्रकट हो रहा है कि वे इस दायभाग का, जिस के बिना मनुष्य थोड़े समय में ही पशुता को प्राप्त हो जाय, कितना मूल्य आँकते हैं। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि अल्पसंख्यक जातियों की रक्षा करना और बहुसंख्यक जाति को विनष्ट हो जाने देना चाहिए। बहुसंख्यक जाति के संस्कृतिद्रोही, उस की संस्कृति का विनाश करें, ऐसी सत्ता तथा स्थिति में, आ सकते हैं, ऐसी सम्भावना का ख्याल भी शायद उन्हें न आया होगा। बहुसंख्यक जाति का धर्म तथा संस्कृति अधिक सुपूज्य मानी जानी चाहिए, क्योंकि वे अधिक जनता पर प्रभाव डालते हैं। ३२—किन्तु भारत ऐसे देश में, जहाँ अनेक जातियाँ हैं और जिन में कई एक दूसरे की ईर्ष्या करती रहती हैं और जहाँ राजनीतिक कारणों से ही मुख्य सम्बन्धवाले उन विदेशियों का राज्य है, जो अपने पृष्ठानुयायी को उत्तेजन देने के लिए तैयार ही रहते हैं, जिस देश में जाति का जाति की हैसियत से प्रतिनिधित्व ही नहीं है और जातियों को उड़ा देने का ही आन्दोलन जहाँ चलाया गया है, यह आवश्यक हो जाता है कि बहुसंख्यक जाति की प्रजा के धर्म तथा संस्कृति में हस्ताक्षेप के विरुद्ध पर्याप्त रक्षण होना चाहिए।

३३—यह शायद ही सूचित करने की आवश्यकता है कि यूरोपीय समाज और आधुनिक राजनीतिक स्थिति, सन् १७८९ वाली फ्रांस की राज्यक्रान्ति के सिद्धान्तों के प्रसार के प्रति आभारी है। उन सिद्धान्तों के कार्यकर सूत्र ‘स्वतन्त्रता’ एवं ‘समानता’ थे। वस्तुतः आधुनिक राज्य में, मनुष्य अधिकाधिक बन्धनों में जकड़ा गया है और समानता तो, सिर्फ बड़ती जा रही असमानता पर ढांकने का बुरखा हो गया है। प्रकृति देवी ने शक्तियों तथा गुणों में स्पष्ट असमानता रखी है, फिर भी ‘सब समान हैं’ यह कहना और मानवजाति को उबटे रास्ते चलाना, यह मनुष्य तथा प्रकृति, दोनों के विरुद्ध अपराध है। ३४—जीवन के संवाहक बलरूप स्थान पर से धर्म को जब से गिरा दिया गया, तब से ये नयी धारणाएँ

सवार हो गयीं। सामान्यतः कहा जाय, तो सब धार्मिक पन्थ जीवन के प्रायः समान आदर्शों का बोध करते हैं। भेद सिर्फ इतना ही होता है कि संयम, संशुद्धि, त्याग, दया इत्यादि भावनाओं में वे भिन्न भिन्न मर्यादाएँ स्वीकार करते हैं। ३५—सब विकसित समाजों में सामान्यतया श्रेणी तथा वर्ग होते हैं और उन से समाज के आनुवंशिक या कामचलाऊ समुदाय बनते हैं। ये समुदाय गुण एवं चरित्र के सतत विकास तथा संस्कृति के संरक्षण की सिद्धि में साधनरूप होते हैं। हिन्दू समाज, जो कि वस्तुतः मूल प्राथमिक मानवसमाज था और जिसे परमात्मा की कृपा से वेदरूपी दैवीज्ञान आध्यात्मिकी संस्कृत भाषा में प्राप्त हुआ था, स्वाभाविक तथा योग्य रीति से मनुष्यों के चार वर्णरूपी विभाग करता है, जिन की उत्तम प्रकार की उन्नति, अपने अपने में ही सम्बन्ध करने से, हो सकती है। आगे चलकर ये विभाग अधिकाधिक वैज्ञानिक एवं स्वाभाविक दिखलायी पड़ते हैं। ३६—इन वर्णों में से, उस से छोटी ज्ञाति (अर्थात् पहचानने) के समुदाय बने हैं, जो समाज को उस से भी अधिक सङ्गठित तथा वर्गीकृत करते हैं। ज्ञातियों एकीकरण तथा सांस्कृतिक सहयोग की बलवान् शक्तियाँ हैं। वे बल का पैसे के आगे झुक जाना नहीं जानतीं और संस्कृतिभञ्जक बलवाइयों तथा विरुद्ध चलनेवालों की खबर ले डालती हैं। इसलिए पाश्चात्य विचारवाले उच्छेदक, ज्ञातिसंस्था को, विच्छिन्न कर डालना चाहते हैं, किन्तु जब वे उस की शक्ति अधिक देखते हैं, तब कानून द्वारा उस की जड़ काट डालना चाहते हैं। दूसरे पन्थ के लोग चलते-फिरते ज्ञातिसंस्था पर दो लात जमाते हुए, उन का बहुधा सहयोग करते हैं, मानो वे भी कुछ अधिक ज्ञान रखते हों।

३७—ईश्वर तथा धर्म को गद्दी पर से हटा देने के प्रयत्न में अन्त में जोड़ा गया पुच्छला प्रजासत्ताक या लोकतन्त्र है। बहुप्रशंसित एवं अल्पविदित यह एक अपसिद्धान्त है। उस का अर्थ है लोगों की अर्थात् उन के बहुमत की इच्छा का ही अन्तिम तथा पूर्ण सत्ताधीश होना। ऐसी सत्ताधीशता ने लोगों पर ऐसा बोझ लादा है कि जिस का इन्हें इस महासङ्ग्राम में ज्ञान हुआ है और जिस का, इस जमाने की यादगारवाले बहुत थोड़े लोगों को ही, भविष्य में मोह रहेगा। खासकर उस समय उन्हें यह भी याद आयेगा कि प्रत्येक 'डिक्टेटर' (अधिनायक) लोकतन्त्र की ही पैदाइश था। ब्रिटिश राज्यपद्धति—चाहे जितना इधर-उधर का डौल दिखलाये, पर—है नृपप्रधान धार्मिक राज्यपद्धति, जिस में चुने हुए पुरुषों के नेतृत्व तथा लोकमत के विवेकके सहित काम चलता है। ३८—अन्तिम एवं पूर्ण सत्ताधीशता लोगों के बहुमत के हाथ में हो, ऐसी शासनप्रणाली में कोई सिद्धान्त स्थिर या संरक्षित नहीं रहता और नैतिक सिद्धान्त भी सदा की अनिश्चितता, परिवर्तन एवं अशुक्लता के ढर्रे पर निर्भर रहते हैं। ऐसी पद्धति, नैतिक आदर्श का संरक्षण करने के राज्यशासनसम्बन्धी मौलिक हेतु से, विरुद्ध जाती है। ३९—अतः राज का वास्तविक कर्तव्य यह है कि प्रजा के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक मूल्यों का, जो प्रजा के स्थायी

धार्मिक आदर्श-समुच्चय में वर्तमान होते हैं, बाहर तथा भीतर से संरक्षण करना। इसतरह धर्म का संरक्षण राज का एक सामान्य गौण कर्तव्य नहीं, अपितु मौलिक कर्तव्य है। ४०—यह जरा विप्रिय परिस्थिति है कि जब अङ्गरेज सरकार ने राज्य-कारभार अपने हाथ में रखा था, वह धार्मिक मामलों में हस्ताक्षेप नहीं करती थी, पर उसने अपने पीछेवालों को धार्मिक विषयों में इच्छासुसार फाँसी देने के लिए लम्बी रस्सी पकड़ा दी है। सन् १९३५ का हिन्दी राज्यशासनसम्बन्धी कानून, सार्वजनिक शान्ति जिस समय भङ्ग होने की सम्भावना हो, ऐसे समय गवर्नर या वाइसराय को हस्ताक्षेप करने का अधिकार देता है, पर इस के सिवा ऐसे धार्मिक हस्ताक्षेप को सलामत रखता है। अपने धर्म का संरक्षण करने के लिए शान्तिभङ्ग पर अधिक आधार रखना पड़े, ऐसी व्यवस्था, श्रीमती महारानी विक्टोरिया के उस महान् डिंडोरे के, जिस से ब्रिटिशराज का प्रारम्भ हुआ है, आदर्श के अनुरूप नहीं है।

मूल सुधार

गत अङ्क ८ में, 'सृष्टि-कर्तृत्व' शीर्षक लेख में संशोधन-सम्बन्धी असावधानी के कारण कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं। पाठक उन्हें इसतरह सुधार लेने की कृपा करें—पृष्ठ ५९, कालम १, पैरा २, पङ्क्ति १२ में 'कर्तृजन्यता' के स्थान पर 'कर्त्रजन्यता' तथा उसी के आगे पङ्क्ति १९ में 'व्यभिचारकारक' के स्थान पर 'व्यभिचाराकारक' बना लें।

सम्पादक।

विषय - सूची

विषय	पृष्ठ
१—ब्राह्मणवाद का भय ४ (सम्पादकीय) ...	६५
२—शिक्षा और सभ्यता (टिप्पणी) ...	६६
३—बाजी मारने की धुन " ...	६६
४—लड़कियाँ और तैरना " ...	६६
५—"अनन्ता वै वेदाः" (श्री स्वामी करपात्री जी) ...	६७
६—प्रार्थना-रहस्य २ (श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी) ...	६८
७—चित्त-विश्रान्ति ७ (श्री क्षीतीशचन्द्र चक्रवर्ती, एम्. ए.) ...	६९
८—हिन्दू कोड भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार) विल पर मन्तव्य ३ (श्री जयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाळ. ए. एम्.)	७१
९—मूलसुधार ...	७२

सिद्धान्त

“अयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क १०

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
स० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी]

काशी—ज्येष्ठ शुक्ल १५ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० ६ जून, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति का -)

श्री विष्णुतत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

१

व्याप्त्यर्थक ‘विष्णु’ धातु से ‘विष्णु’ शब्द की निष्पत्ति होती है तथाच व्यापक परब्रह्म परमात्मा को ही विष्णु कहा जाता है। “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति” इस श्रुति के अनुसार यही मालूम पड़ता है कि सम्पूर्ण जगत् की जिस से उत्पत्ति होती है, जिस में स्थिति होती और जिस में प्रलय होता है, वही ब्रह्म है। विशेष रूप से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोत्पादनी शक्ति में कार्योत्पत्ति के लिए प्रकाशात्मक सत्त्व, चलनात्मक रज तथा अवष्टम्भात्मक तम की अपेक्षा होती है। तत्तद्गुणों की प्रधानता से ब्रह्म ही, रज के सम्बन्ध से ब्रह्मा, तम के सम्बन्ध से रुद्र एवं सत्त्व के सम्बन्ध से विष्णु बन जाता है। प्रकारान्तरेण उत्पादनीशक्तिविशिष्ट ब्रह्म ब्रह्मा, संहारिणीशक्तिविशिष्ट ब्रह्म रुद्र तथा पालिनीशक्तिविशिष्ट ब्रह्म विष्णु शब्द से व्यवहृत होता है। प्रकारान्तर से समष्टि कारणप्रपञ्चाभिमानि अव्याकृत रुद्र, समष्टि सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानि हिरण्यगर्भ विष्णु और समष्टि स्थूलप्रपञ्चाभिमानि विराट् ब्रह्मा कहा जाता है। मुख्य रूप से अव्यक्तादि के नियामक अन्तर्ध्यामी को ही रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि कहा जाता है। जहाँ कहीं उपासनाविशेष के कारण किसी जीव का ब्रह्मा होना सुना जाता है, वह अन्तर्ध्यामी न होकर अभिमानी ही समझा जाना चाहिए। “स एकाकी न रेमे”, “सोऽभिमेत” इत्यादि श्रुतिवचनों में जहाँ हिरण्यगर्भ में भय, अरमण आदि का श्रवण है, वहाँ हिरण्यगर्भ में जीवभाव का ही निर्णय किया गया है, क्योंकि परमेश्वर में भय, अरमण आदि कथमपि सम्भव नहीं। अभिमानी जीव भी हो सकता है, परन्तु अन्तर्ध्यामी सर्वत्र परमेश्वर ही है। पुराणों में ब्रह्माण्डों की अनन्तता का पता लगता है, अतएव तदनुसार विराट्, हिरण्यगर्भ आदिकों की भी अनन्तता ही मालूम पड़ती है। उत्पादक-पालक-संहारक-दृष्टि से ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र की अनन्तता ही सिद्ध होती है। अन्तर्ध्यामी होने से सभी परमेश्वर ही हैं। इस विचार से उपनिषदों का विराट् पुराणों का महाविराट् है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक समष्टि स्थूल प्रपञ्च का एकमात्र अभिमानी एवं अन्तर्ध्यामी उपनिषदों का विराट् है। यही बात हिरण्यगर्भ और अव्यक्त के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। तदनुसार ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक सम्पूर्ण विश्व के उत्पादक ब्रह्मा, पालक विष्णु और संहारक रुद्र, सर्वथा एक ही हैं। वे ही महाविष्णु, महारुद्र आदि नामों से भी तत्र

तत्र व्यवहृत होते हैं। जैसे गोधूमादि सत्त्वों का एक ही किसान उत्पादक, पालक तथा लवक होता है, वैसे ही विश्व का भी उत्पादक, पालक, संहारक एक ही है, अन्यथा सर्वशक्तिमान् विष्णुपरमात्मा से पलित जगत् का संहार दूसरा कैसे कर सकता है? यदि सर्वसंहारक रुद्र को ही परमेश्वर मानें, तो फिर संजिहीर्षित विश्व को पालनेवाला कौन हो सकता है? यदि विष्णु से भिन्न ही रुद्र हैं, तब सर्वसंहारक रुद्र के द्वारा विष्णु के भी संहार का अवसर उपस्थित हो जायगा। अतएव विष्णु एवं रुद्र दोनों को एक ही परमेश्वर मानना समुचित है। कोई भी संहारक अपनी अन्तरात्मा का संहार नहीं कर सकता। तभी सर्वसंहारक शिव का आत्मा ही होने से विष्णु बने रहते हैं। अनेक ईश्वर का मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध भी है, क्योंकि जब दोनों में मतभेद होगा और साथ ही विरुद्ध प्रकाश के सङ्कल्प होने, तब दो ईश्वर कथमपि नहीं टिक सकेंगे। यदि परस्पर के विरुद्ध सङ्कल्प से दोनों ही के सङ्कल्प प्रतिरुद्ध होकर वितथ हो गये, तब तो दोनों ही अनीश्वर सिद्ध होंगे। यदि एक के सङ्कल्प से दूसरे का सङ्कल्प कट गया, तो सिद्ध-सङ्कल्प ही परमेश्वर हुआ, तदतिरिक्त में असत्य सङ्कल्पता होने से अर्थसिद्ध अनीश्वरता हुई। अतः जगत् का उत्पादक, पालक, संहारक एक ही परमेश्वर है। किसी भी नाम से भले ही व्यवहार हो, परन्तु प्रमाणभूत शास्त्र से जिस में जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्वादि अवगत हों, उसे ही परमेश्वर समझा जा सकता है। विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा आदि नामों से अतिरिक्त आकाशादि शब्दों से भी जगत्कारणत्वादि हेतुओं से ही परमेश्वर का ही बोध हुआ है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकारिणी ब्रह्मनिष्ठ महाशक्ति ही सम्पूर्ण अवान्तर अचिन्त्य अनन्त शक्तियों की केन्द्र है। उन्हीं शक्तियों से अनन्त ब्रह्माण्ड बनते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड की शक्तियों में तमःप्रधान शक्ति से भूत-भौतिक प्रपञ्च की सृष्टि होती है। तामस भूतों में भी सत्त्व, रज, तम आदि का अंश रहता है, अतएव सात्त्विक भूतों से अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, राजस से प्राण एवं कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तामस से स्थूल भूत बनते हैं। ब्रह्माण्डशक्ति के जैसे तामस अंश से उपर्युक्त प्रपञ्च बनता है, वैसे ही रजस्तमोल्लेशादुविद्ध सत्त्वांश से अविद्या एवं रज आदि से अननुविद्ध सत्त्व से विद्या या माया का आविर्भाव होता है। अविद्योऽं रज आदि के अनुवेष्टवैचित्र्य से अनन्त है, अतः उन में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव भी अनन्त है। जो लोग अविद्या को भी एक ही मानते हैं, उन के मत से जीव भी एक ही होता है। विशुद्ध सत्त्व-प्रधाना विद्या में भी अंशतः सत्त्व, रज, तम होते हैं। उसी सत्त्व-प्रधाना शक्तिस्वरूपा विद्या के सात्त्विक अंश से विष्णु, राजस अंश से ब्रह्मा और उधी विद्या के तामस अंश से रुद्र का आविर्भाव होता

है। अवान्तर शक्ति के ही विभाग के समान ही महाशक्ति के भी विभाग समझने चाहिए। महाशक्ति के तमःप्रधान अंश से जड़-वर्ग का, अशुद्ध सत्वप्रधान शक्ति से भोक्तृवर्ग का और विशुद्ध सत्वप्रधाना शक्ति से महेश्वर का आविर्भाव होता है। महाशक्ति-विशिष्ट ब्रह्म एक ही है, अतः एक ब्रह्म का ही भोग्य, भोक्ता तथा महेश्वर के रूप में आविर्भाव समझा जाता है। भोग्यवर्ग एवं भोक्तृवर्ग की एकता-अनेकता का प्रश्न उठ सकता है, परन्तु महेश्वर की अनेकता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उत्पत्ति-स्थिति-लयकारण एक ही है, तथापि उत्पत्तिकारणत्वादि की पृथक् पृथक् विवक्षा से ब्रह्म, विष्णु, रुद्र आदि कहा जाता है। तमःप्रधाना शक्तिविशिष्ट चित् में उपादानता तथा विशुद्ध सत्वप्रधाना विशाशक्तिविशिष्ट में निमित्तता होने पर भी एक मूल प्रकृतिविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान है, उस में नानात्व नहीं है। उपादान में कार्य की सदृशता होती है, अतः जड़ कार्य के अनुरूप ही तमः-प्रधानशक्तिविशिष्ट चित् में जड़ता के अनुरोध से उपादानता मानी गयी है। निमित्त में कुलालादि के सदृश कार्य से विलक्षणता होती है, अतः तदनुरूप ही विशाविशिष्ट में निमित्तकारणता मानी गयी है। सर्वापेक्षया प्रबल ही सर्वसंहारक होता है, वही पालक भी हो सकता है, वही विश्व का उत्पादक भी है। अनन्तब्रह्माण्डनायक भगवान् ही 'विष्णु', 'पद्म' आदि पुराणों में विष्णु, 'रामायण' 'भारत' आदि में राम, कृष्ण आदि रूप में गाया गया है। 'शिव', 'स्कन्दादि' पुराणों में वही शिव, रुद्र आदि नामों से कहा जाता है। शिवपरक पुराणों में कार्म्यविष्णु अर्थात् एक एक ब्रह्माण्ड के विष्णु का वर्णन है, इसीलिए उस का कुछ अपकर्ष भी भासित होता है। विष्णुपरक पुराणों में शिव भी कार्म्यान्तःपाती ही है। अनन्त-ब्रह्माण्डनायक की प्राप्ति की अपेक्षा एक ब्रह्माण्डनायक की प्राप्ति में अपकर्ष की कल्पना भी सङ्गत ही है। फलतः अनन्तब्रह्माण्ड-नायक परब्रह्म परमात्मा ही वेद, रामायण, भारत, पुराण आदिकों में अनेक रूपों एवं नामों से गाया गया है। वही भगवान् 'विष्णु' शब्द से प्रसिद्ध है।

जगत् के पालन में सर्वातिशायी ऐश्वर्य्य की अपेक्षा होती है, अतः विष्णु भगवान् में परमैश्वर्य्य का अस्तित्व है। समग्र ऐश्वर्य्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य जिस में हों, वही भगवान् है अथवा प्राणियों की उत्पत्ति, प्रलय, गति, आगति, विद्या, अविद्या को खूब जाननेवाला ही भगवान् है। विश्व-मात्र को फलित-प्रफुल्लित करना, अनेक ऐश्वर्य्य से पूर्ण करना पालक का काम है। इसीलिए विष्णु भगवान् में पराकाष्ठा का ऐश्वर्य पाया जाता है। यद्यपि परमविष्णु साक्षात् चैतन्यधन ही है, तथापि उपासना में उन की पादादि अङ्ग-उपाङ्ग, गरुडादि, आयुध सुदर्शनादि, आकल्प कौस्तुभादि की कल्पना की जाती है।

माया, सूत्रात्मा, महान्, अद्वैतार, पञ्चतन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियां, पञ्चमहाभूत इन पौड्श विकारों के साथ महाविराट् भगवान् का स्थूल रूप है। भगवान् के उसी सच्चिद्रूप में तीनों भुवन प्रतिभासित होते हैं। यही पौरुष रूप है। भूलोक ही इस पुरुष का पाद है, द्यौलोक ही शिर है, अन्तरिक्षलोक ही नाभि है, सूर्य्य नेत्र, वायु नासिका, दिशाएं कान, प्रजापति प्रजननेन्द्रिय, मृत्यु पायु (गुदा), लोकपाल बाहु, चन्द्रमा मन और यम ही भगवान् की भ्रुकुटी है। उत्कृष्टता के अभिप्राय से द्यौलोक को शिर कहा गया है, गर्भीरता के अभिप्राय से अन्तरिक्ष को नाभि कहा गया है, प्रतिष्ठा के अभि-प्राय से भूलोक को पाद कहा गया है, नेत्रानुग्राहक तथा सर्वप्रका-शक होने के कारण सूर्य्य को चक्षु कहा गया है। लज्जा भगवान् का उत्तराष्ट्र है (लज्जा से जैसे प्राणी उन्मुख न होकर अवनतानन हो जाता है, तद्वत् उत्तमाधर अवनत ही रहता है) और लोभ अवरोध है, ज्योत्स्ना दन्त है, माया ही मन्दहास है, सम्पूर्ण भूरुह

(वृक्षादि) लोम है, मेघ मूर्धज (केश) है। जैसे सप्त वितस्ति (३॥ हाथ) का यह व्यष्टि पुरुष है, वैसे ही अपने मान से समाधि पुरुष भी सप्त वितस्ति है — "सप्तवितस्तिर्कायः"। परमेश्वराधिष्ठित होने से ही वैराज रूप की उपासना होती है। इसीलिए 'पुरुषसूक्त' में तथा अन्यत्र पुराणों में उपर्युक्त सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों की भावना भगवान् विष्णु में की गयी है। वैसे तो भगवान् विष्णु का अखण्ड सच्चिदानन्द ही स्वरूप है, तथापि भक्तानुग्रहार्थ भगवान् विशुद्ध सत्वमयी लीलाशक्ति के योग से चिदानन्दमय विग्रह को भी धारण करते हैं। वही अतसीपुष्पसङ्काश तथा नवनीलनोरदश्यामल या नीलकमलकान्ति भगवान् का सगुण, साकार स्वरूप है। उसी स्वरूप को कोई केकीकण्ठाभ कहते हैं, कोई तमालश्यामल कहते हैं। जैसे शैत्य के योग से निर्मल जल ही शुद्ध वर्ण बनता है, घृतवर्तिका के योग से केवल अग्नि ही दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट दीपशिखा के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही त्रिशुद्ध सत्वमयी लीलाशक्ति के योग से चिदानन्द ब्रह्म ही सगुण, साकार श्रीविष्णुरूप में प्रकट होता है। जैसे निराकार तथा अतिगम्भीर आकाश का श्यामल रूप ही तत्वरदृश्यज्ञों को अभिमत है, वैसे ही निराकार, निर्विकार, परम गम्भीर विष्णुतत्त्व का भी श्यामल ही रूप श्रुतिसंमत है। तम की उपाधि से उपहित, तम के नियामक भगवान् शिव का वर्ण श्यामल है। उन्हीं का ध्यान करते करते विष्णु श्यामल हो जाते हैं। उन का ध्यान करते करते उन का स्वाभाविक शुक्ल रूप शङ्कर में प्रकट हो जाता है। ये दोनों ही परस्परानुरक्त एवं परस्परआत्मा हैं। युग के अनुरूप भी युगनियामक भगवान् का रूप होता है। जैसे मनुष्यों का नियमन करने के लिए भगवान् को मनुष्यानुरूप बनना पड़ता है, वैसे ही युग-नियमन के लिए भगवान् को युगानुरूप बनना पड़ता है। स्वतः अरूप भगवान् में उपाधि के संसर्ग से ही रूप की आविर्भूति होती है। सत्वप्रधान कृतयुग, रजोमिश्रित सत्वप्रधान त्रेता, रजःप्रधान द्वापर और तमः-प्रधान कलि होता है। अतः कृत के अनुरूप ही कृतयुगीन भगवान् शुक्ल रूप में प्रकट होते हैं। त्रेता के अनुरूप भगवान् का रक्त रूप है, द्वापर के अनुरूप पीत एवं कलि के अनुरूप भगवान् का कृष्ण रूप होता है — "शुक्लो रक्तस्तथा पीतः इदानीं कृष्णतां गतः।" इस दृष्टि से कलिनियामक होने से भगवान् श्यामल हैं।

भगवान् जीव-चैतन्य ज्योतिःसमूह को ही कौस्तुभमणि के रूप में धारण करते हैं। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार एक, अखण्ड, अनन्त, सच्चिदानन्द भगवान् के ही समाश्रित सम्पूर्ण जीव-चैतन्य होते हैं, अतः अवश्य ही जीव भगवान् के भूषण हो सकते हैं। विशेषतः भगवत्प्राप्त भगवद्भक्त तो अवश्य ही भगवान् के कण्ठ के देदीप्यमान, चमत्कारपूर्ण भूषण बनते ही हैं। भक्तलोग तभी तो इन की ईर्ष्या करते हैं — "अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेररः। न त्यजन्ति वयं तत्र का वा स्मरवशाः स्त्रियः।" अर्थात् अहो! मुक्ता (मोती) एवं सुमनस (पुष्प) (पक्षान्तर में मुक्तलोग तथा देवतालोग) वैदूर्यादि वज्रक (पक्षान्तर में कूटस्थ ब्रह्मभाव-पन्न लोग) भी जब श्रीहरि के उरःस्थल को छोड़ना नहीं चाहते, तब भला स्मरवशा गोपाङ्गना कैसे भगवान् को छोड़ दें? उस कौस्तुभ मणि की व्यापिनी साक्षात् प्रभा को ही श्रीवत्स के रूप में भगवान् धारण करते हैं। दक्षिण वक्षःस्थल पर कमलगालतन्तु के सदृश दक्षिणावर्त्त श्वेत रोमराजि 'श्रीवत्स' कही जाती है। वाम वक्षःस्थल पर वामावर्त्त सुवर्णवर्णा रोमराजि लक्ष्मी का चिन्ह है। एतावता भोक्तृवर्ग का सार तथा भोग्यवर्ग का सार श्री एवं श्रीवत्स के रूप में भगवान् के वक्षःस्थल पर विराजमान है। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति भगवती लक्ष्मी 'श्री' है। परमात्मकटंक गर्भाधान की महिमा से श्रीप्रसूत जीवचैतन्यसार 'श्रीवत्स' है। श्री वाम वक्षःस्थल में और श्रीवत्स दक्षिण वक्षःस्थल में है।

और बीच में भृगुचरणचिन्ह है। एतावता विप्रचरणारविन्द का समाक्षरपूर्वक सेवन करने से ही श्री एवं श्रीवत्स की प्राप्ति सूचित होती है। नानागुणमयी त्रिगुणात्मिका माया ही 'वनमाला' है। परम सौगन्ध्यमय तथा अनेक रङ्ग के तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात, सरोहों से विरचित माला त्रिगुणात्मिका प्रकृति के ही मनोहर पुष्पों की बनी समझनी चाहिए। छन्दःसमूह ही भगवान् का पीताम्बर है। जैसे छन्दों से भगवान् का स्वरूप चमत्कृत एवं शोभित होता है, वैसे ही पीताम्बर से भगवान् का स्वरूप चमत्कृत एवं सुशोभित होता है। किन्हीं किन्हीं स्थानों पर मोहिनी माया को ही पीताम्बर बतलाया गया है। जैसे माया की निजी चमक-दमक से ब्रह्म-स्वरूप तिरोहित हो जाता है, वैसे ही पीताम्बर से भगवान् का मङ्गलमय श्रीअङ्ग आवृत रहता है। माया के चाकचिक्य से अनासक्त एवं अप्रभावित ही जैसे भगवत्स्वरूप को जानता है, वैसे ही पीताम्बर की चमक-दमक को पार करने पर ही भगवत्स्वरूप का उपलब्ध होता है। छन्दों को भी पहले छानक बतलाया गया है।

त्रिवृत अर्थात् त्रिमात्र प्रणव ही भगवान् का उपवीत है। सांख्य एवं योग को भगवान् ने मकराकृत कुण्डल के रूप में कानों में धारण कर रखा है। पारमेष्ठ्य पद ही भगवान् का मुकुट है। अनन्त नामक अव्याकृत ही भगवान् का आसन है। प्रकृतिरूप समष्टि कारणदेहाभिमानी चैतन्य ही अव्याकृत कहलाता है, उसी को शेष भी कहा जाता है। कार्यप्रपञ्च के प्रलय हो जाने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही शेष है। उन अनन्त शेषरूप अव्याकृत पर ही चतुर्भुजमूर्ति भगवान् विष्णु विराजते हैं। यों भी अव्याकृत के ऊपर ही कार्यकारणतीत तुरीयतत्त्व विद्यमान रहते हैं। चतुर्वर्गप्रद, चतुर्वेदात्मा, चतुर्युग चतुरस्र भगवान् की चार भुजाएँ हैं। एक हाथ में धर्म-ज्ञानादियुक्त सत्त्वमय पद्म को धारण किये हैं। पद्म की सी ही सुन्दरता, मधुरता, सरसता, सुगन्धता धर्मादि-मय सत्त्व में होती है। ओज, बलदियुक्त प्राणतत्त्व ही भगवान् की गदा है। जलतत्त्व को शङ्ख के रूप में, तेजतत्त्व को सुदर्शन के रूप में दो हाथों में धारण कर रखा है। आकाशतत्त्व को ही तलवार एवं अन्धकार को ही चर्म (ढाल) के रूप में, काल को शार्ङ्ग धनुष के रूप में, कर्मों को ही निषङ्ग के रूप में भगवान् ने धारण किया है। इन्द्रियाँ ही भगवान् के तूणीरों में रहनेवाले बाण हैं, क्रियाशक्तियुक्त मन ही रथ है, शब्दादि पञ्च तन्मात्रा इस रथ का अभिव्यक्त रूप है। जैसे रथारूढ़ होकर व्यक्ति तूणीर से बाण निकालकर धनुष पर रखकर सन्धान करता है, वैसे ही क्रियाशक्ति-युक्त मन पर आरूढ़ होकर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान् ही कालरूप धनुष पर इन्द्रियों को प्रतिष्ठित करके उन का सन्धान करते हैं। वर, अभय आदि की मुद्राओं के रूप में भगवान् अर्थ-क्रिया (प्रयोजनसम्पत्ति) को धारण करते हैं। देवपूजास्थल सूर्यमण्डल है, दीक्षा ही पूजायोग्यता-सम्पत्ति है, भगवान् की परिचर्या ही अपने सम्पूर्ण दुरितों के क्षय का कारण है। भगवद्दार्थ—ऐश्वर्य्य षाड्गुण्य—ही भगवान् के 'ब्रह्म' में विराजमान लीलाकमल है। इस दृष्टि से प्रथम वर्णित कमल आसनभूत कमल है। धर्म और यश ही भगवान् के ऊपर ढुलनेवाले चमर और व्यजन हैं, अकुतो-भय वैकुण्ठ-धाम ही छत्र है, 'वेदत्रयीरूप गरुड़ ही यज्ञस्वरूप भगवान् के वाहन है, ऋग्यजुःसाम इन्हीं तीनों वेदों से ही यज्ञ की सम्पत्ति होती है, अतः वेदात्मा ही गरुड़ है, यज्ञस्वरूप विष्णु ही उन पर विराजमान होकर चलते हैं। चिद्रूपा भागवती शक्ति ही भगवत्प्रिया लक्ष्मी है, भगवदुपासनाविधायक पञ्चरात्रादि आगम ही पार्षदाधिप विष्वक्सेन है। अणिमा, महिमा आदि अष्ट विशु-तियाँ ही भगवान् के नन्द, सुनन्दादि पार्षद हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूप से विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, तुरीय, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय आदि रूप में भी उन्हीं चतुर्व्यूह, चिदु-

मूर्ति भगवान् का स्वरूप वर्णित है। यह भगवान् वेदों के भी कारण है। स्वयंभू एवं स्वमहिमपूर्ण है। परमार्थतः सर्वविध भेद-विवर्जित होने पर भी भगवान् अपनी शक्तिमूला माया से ही विश्व का उत्पादन, पालन एवं संहार करते हैं, अतएव ब्रह्मरूप विष्णु इन आख्याओं से, अनाच्छन्नज्ञान होते हुए भी विभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। फिर भी वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वदर्शी विद्वानों को आत्मरूप से ही भगवान् का उपलब्ध होता है।

आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

१

इस असंख्य जीवपूर्ण जगत् को सूक्ष्म करते करते यदि इस के आदिमूल को खोजते चलें, तो अन्त में लक्षणविहीन किसी एक अव्यक्त अवस्था में पहुँच जायेंगे। उसे सूक्ष्मता की चरम सीमा कहा जा सकता है। नास्तिक इस अवस्था को अभाव या शून्य कहते हैं, आस्तिकजन सत्यनिषेध-सूचक अभाव या शून्य शब्द का प्रयोग न करके अव्यक्त, आकाश आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् अवतक उतनी दूर नहीं पहुँच पाये हैं। वह लक्षणहीन अवस्था ही (नास्तिक का शून्य और आस्तिक का व्योम) जगत् का उपादान है, इस सम्बन्ध में आस्तिक-नास्तिकों में कोई मतभेद नहीं है। हमारी आलोच्य वस्तु तो इस के भी ऊपर है—उसे किस नाम से पुकारें ? जगत् जब उसी आकाश या नास्तिक के मतानुसार अभाव अथवा मिथ्या से ही बना हुआ है, तब जगत् को भी उसी मिथ्या की ही श्रेणी में रखना उचित होगा। हमारी मनोगत वस्तु इस से विरुद्ध प्रकार की है। उस का नाम 'सत्य' रख सकते हैं। शास्त्र में उसी वस्तु का सत्य, आत्मा, ब्रह्म, शिव, अमृत, नियुंण, सत्, अद्वितीय प्रभृति नामों से निर्देश पाया जाता है।

आधुनिक समाज में, ईश्वर है या नहीं, इस विषय को लेकर आलोचना होती है, किन्तु सत्य कुछ है या नहीं, इस विषय में वितर्क उपस्थित नहीं होता। उस का कारण यही है कि आस्तिक तथा नास्तिक, दोनों सम्प्रदाय द्वारा, यह जगत् मिथ्यारूप से स्वीकृत है। इसी मिथ्या जगत् को समाज सत्य मानकर सन्तुष्ट है। इसीलिए जगत् का मूल है या नहीं, इस विषय में प्रायः कोई नहीं सोचता। न सोचना भी स्वाभाविक है। समाज जगत् को सत्य कहता है, फिर जगत् को छोड़कर, पृथक् सत्य का अनुसन्धान करने कौन बैठे ? अन्ततः इस निबन्ध-पाठ के अनुगोच से, यद्यपि पाठकों की उधर ही बुद्धिचालना करना है, तथापि सूक्ष्मता की चरम सीमा—उस अव्यक्त उपादान—को जगत् का एकमात्र कारण स्वीकृत करते हुए—वह अचेतन शून्यकर्तृक है, ऐसी परिपाटी, जगद्व्यापारचित होने की आशा नहीं की जाती। आस्तिक भी उस आकाश (शून्य) को ही जगत् का उपादानकारण कहते हैं, किन्तु उस नितान्त निर्जीव अचेतन नहीं बतलाते। वे उस 'अस्ति' शब्द के वाच्य सत्य से इस का एक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वह इस प्रकार है कि वह आकाश उस सत्य ब्रह्म की शक्ति है। चुम्बक की शक्ति जिस समय पास के लौह का आकर्षण करती है, उस समय हम लौह को चुम्बक की ओर आकृष्ट होता देखते हैं, चुम्बक से पृथक् आकर्षणी शक्ति को अलग नहीं देखते। इसीतरह माध्याकर्षण शक्ति एवं रासायनिक शक्ति आदि का भी पृथक् अस्तित्व नहीं पाया जा सकता। यह शक्ति जिस की है, उस सत्य का अस्तित्व तो बिबुल ही अज्ञात है, अतः शक्ति को लेकर जिस अस्तित्व को प्रकट करना चाहते हैं, वह हुआ शक्ति का पृथक् अस्तित्व, किन्तु वह तो न पाना ही है। जल के नीचे रहनेवाले किसी अज्ञात

चुम्बकस्तम्भ से किसी लौहखण्ड को आकृष्ट होते देखकर, जो लोग चुम्बकाकर्षण का तत्त्व नहीं जानते, वे अनेक प्रकार की कल्पनाओं का सहारा लेंगे ही, परन्तु जो (आस्तिकस्थानीय) चुम्बक के तत्त्व से अवगत हैं, वे आकर्षणशक्ति की गतिविधि को देखकर उस जलमग्न चुम्बकस्तम्भ का अनुमान लगा लेंगे। इसीतरह आस्तिकजन जगत्-व्यापार को उस ब्रह्मशक्ति का कार्य जानकर उस शक्ति का अनुसरण करके सत्य वस्तु को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

‘कृष्ण यजुर्वेद’ के ‘श्वेताश्वतर उपनिषद्’ में इस का उदाहरण मिलता है। ऋषियों ने अपना तथा जगत् का कारण अनुसन्धान करते हुए अन्त में इस शक्ति को ही कारणरूप में प्राप्त किया था। इस के उपरान्त उस शक्ति की सहायता से ब्रह्मलीन होने में समर्थ हुए—‘ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निर्गुणाम्। यः कारणाणि निखिलाणि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा स्त्रीनां ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।’ ‘शुक्ल यजुर्वेद’ के ‘केनोपनिषद्’ से ज्ञात होता है कि इस ब्रह्मशक्ति आकाश ने सहसा हैमवती उमा के नाम से स्त्रीमूर्ति धारणकर इन्द्र को दर्शन दिया और उसे ब्रह्म से परिचित कराया। पुराण में इस हैमवती उमा की व्याख्या इस प्रकार मिलती है—‘या सा माहे-श्वरी शक्तिर्ज्ञानरूपातिलालसा। व्योमसंज्ञा पराकाष्ठा सेयं हैमवती मता।’ अर्थात् अति आदरणीय, ज्ञानस्वरूप, ऐसी शक्ति की चर-मता व्योम कही जाती है। वह व्योमशक्ति ही लोकव्यवहारार्थ हैमवतीरूप में आविर्भूत हुई है। यहाँ पर आविर्भाव कहने का तात्पर्य यह है कि इस रूप में ग्रहण करना आवश्यक है। सतत एवं सर्वत्र सञ्चरणशील, अप्रतिहतगति वायु जैसे स्थानविशेष से आँधी आदि के रूप में आविर्भूत होकर प्रभञ्जनादि नाम से अभिहित होता है और ऐसा होने पर अन्यान्य स्थान के वायु का अभाव नहीं होता, यहाँ पर भी वैसे ही ईश्वरी शक्ति का सर्वत्र सङ्कोच होकर हैमवती का आविर्भाव नहीं समझना चाहिए। एक ओर सत्य वस्तु और दूसरी ओर हमलोग, इस व्यवधान के बीच में वह ब्रह्मशक्ति सेतु की तरह संयोजनी होकर अवस्थित है। सत्य में प्रवेश करना हो, तो हमलोगों को इस शक्ति की योगावस्था का आश्रय लेना पड़ेगा। इसीलिए प्राचीन काल के ऋषि-मुनिगण एतादृश योगाश्रय करते थे। उसी योगदृष्टि के अभिप्राय का संक्षेप में आलोचन करने का यत्न किया जा रहा है।

जगत् के उपादानकारण को नास्तिकों ने शून्य और आस्तिकों ने अव्यक्त या आकाश कहा है। उस का किसतरह अनुभव किया जा सकता है, एक बार इस का विचार कर देखना चाहिए। जहाँ पर बुद्धि का आलम्बन कुछ भी प्राप्त नहीं होता, उस में जितना ही बुद्धि का प्रवेश किया जायगा, उतनी ही बुद्धि निस्तेज, निराश्रय हो जायगी और अन्धकार को देखने लगेंगी। जाली या छप्पर के बीच में से, घर के आकाश या अन्धकार को भेद करके सूर्यरश्मि जिसतरह भूमि या अन्य पदार्थ पर पड़ती है, उसे अनेक लोगों ने देखा होगा। अस्तु, जो रश्मिदण्ड गृहस्थित आकाश या अन्धकार का भेद करके गृहादि की भूमि आदि का स्पर्श करता है, उस रश्मिदण्ड को क्या कोई देख पाता है?—कोई नहीं। रश्मिदण्ड का जो अन्तिम भाग भूमि आदि का स्पर्श करता है, केवल वही दिखलायी पड़ता है, इस के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से रश्मिदण्ड की सत्ता सिद्ध नहीं होती। सत्ता के सिद्ध न होने पर भी रश्मिदण्ड के अस्तित्व का अस्वीकार करने का उपाय नहीं है। आकाश की ओर देखने पर हमें क्या दिखलायी पड़ता है? पहले धूसर और फिर नीलिमा दिखलायी पड़ती है। इसीतरह यह विदित होगा कि वह शून्य या परमाकाश योगदृष्टि में तम (कृष्णवर्ण) लक्षित होता है अर्थात् बुद्धि के अगम्य ज्ञात होता है। परन्तु योगजन उस गाढ़ अन्धकार को देखकर ही,

उधर से प्रत्यावृत्त नहीं हो जाते। वे उसी तामसी शक्ति को सहायता से आत्मसत्ता की उपलब्धि कर सके हैं। यदि उस शून्यमय तमोराशि में सत्ता (अस्ति शब्द का वाच्य) नाम की कोई वस्तु हो, तो वह कैसी होनी चाहिए? यही कहना होगा कि वह अन्य किसी से भी प्रकाश होने का विषय नहीं हो सकती, वह अपने में स्वयं प्रकाशित है। योगी लोगों ने इसी अभिप्राय से उस अस्तित्व को स्वप्रकाश कहा है। इस को समझाने के लिए पहले जो गृहागत सूर्य-रश्मि को रश्मिदण्ड कहा गया है, पाठक यहाँ उस अवस्था का स्मरण करें। गृहस्थित आकाश में वह रश्मिदण्ड स्वप्रकाश है। उसे दीपक जलाकर प्रकाशित करना नहीं पड़ता। पहले उस का अस्तित्व ठीक निश्चित करके फिर उस में अङ्गुलि या अन्य पदार्थ का योगकर, उस को सत्ता की उपलब्धि करनी पड़ती है। इसीतरह आस्तिक्यबुद्धिशाली व्यक्ति उपयुक्त योगावलम्बन द्वारा उस स्वप्रकाश अस्तित्व का पता पा लेते हैं। अतएव आस्तिकता सब की अपेक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

वह स्वप्रकाश सत्यवस्तु जब हमारे लिए स्वभावतः तमोराशि (शून्य या आकाश) द्वारा आवृत्त है, तब पहले उरु का अस्तित्व जाने बिना उस में शक्तिसंयोग कैसे किया जा सकेगा? जलमग्न चुम्बकस्तूप से लौह के आकृष्ट होने पर, जो लोग (आस्तिकस्थानीय) चुम्बक की वैसी शक्ति के विषय में अवगत हैं, वही चुम्बक को पा सकते हैं, अन्य लोग (नास्तिकस्थानीय) उस चुम्बकशक्ति के कार्य को देखकर भी कोई निश्चित सत्य का निर्णय नहीं कर पाते। उस आकाशरूप शक्ति के उपादान से ही जब यह व्यक्त जगत् रचित है, तब सभी कुछ शक्तिमय है। सभी जीव शाक्त हैं। नास्तिक भी शाक्त ही हैं। तभी वे शक्ति को शक्तिरूप में न जानने के कारण ही शक्ति के अस्तित्व का निरूपण करते हुए, उस का कोई पृथक् अस्तित्व न पाकर उसे पहले अभाव या शून्य कहने को बाध्य होते हैं। केवल इसी कारण से वे योगशक्ति का आश्रय नहीं ले पाते, इसीलिए केवल जड़ शक्ति की उपासना करते हैं। उस आस्तिकता को प्राप्त करना भी कोई साधारण बात नहीं है। ‘भगवद्गीता’ में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों वर्णों के स्वाभाविक कर्म पृथक् पृथक् बतलाये गये हैं। उस से विदित होता है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण के स्वाभाविक कर्मों में ‘आस्तिकता’ का नाम नहीं आया केवल ब्राह्मण के विषय में ‘आस्तिकता’ को स्वाभाविक कहा गया है। फिर क्या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नास्तिक हैं? नहीं, यह बात नहीं है, उन्हें आस्तिक्य का अर्जन करना पड़ेगा। इसीलिए क्षत्रिय आदि तीन वर्णों को आस्तिक ब्राह्मण के अनुसरणपूर्वक चलना आवश्यक है, अन्यथा आस्तिकता का अर्जन करना उन के वश की बात नहीं है।

योगशक्ति का आश्रय करने में पहले आस्तिक संस्कार और दूसरे योगानुरूप एकनिष्ठा, सहिष्णुता प्रभृति योग्यता का होना आवश्यक है। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या अत्यन्त विरल है। साधारण हिन्दू को योगसाधन के उपयुक्त बनाने में पहले उसे वैसे साधन में नियुक्त करना आवश्यक है, जिस साधन की वस्तु में आस्तिकता और शक्ति, इन दोनों का एकत्र समावेश हो। हमें प्राचीन पुरुषों से ऐसे व्यवहार उपलब्ध होते हैं, जैसे—वे कहते हैं ‘व्योममहादेव’। व्योम, नास्तिक का शून्य और उस के भीतर महादेव (महाद्योतन-शाली) स्वप्रकाश सत्य वस्तु। शास्त्रों से भी यह समर्थित है, जैसे—‘ज्योतिषामपि तत् ज्योतिः तमसः परमुच्यते’ (गीता १३।१७) अर्थात् उस ज्योति की ज्योति को अन्धकार से परवर्ती कहा गया है। हम ने जिस प्रकाशहीन, गृह के भीतर आये हुए, सूर्यरश्मिदण्ड का दृष्टान्त दिया है, वह गृहस्थित शून्य भाग (प्रकाशहीनताप्रयुक्त तमोरूप में परिदृष्ट) में रहता है। इस प्रकाशहीन शून्य को व्योम-स्थानीय तथा रश्मिदण्ड को महादेवस्थानीय समझना चाहिए। इसी व्योम महादेव की मूर्ति है ‘शिवलिङ्ग’।

“समय का प्रभाव”

(श्री देवकृष्ण त्रिपाठी)

स्थानीय साप्ताहिक ‘आज’ के विगत ४३-४४ अङ्कों में दर्शन-केसरी श्रीगोपाल शास्त्रीजी ने भी बाबू सम्पूर्णानन्दजी का पदानुसरण करते हुए ‘समय का प्रभाव’ शीर्षक लेख द्वारा ब्राह्मणों को ‘सावधान’ करने की दया की है। उक्त लेख में लिखी हुई प्रायः सभी बातें असङ्गत हैं। भिन्न भिन्न प्रसङ्गों में आयी उक्तियों का जो परस्पर विरोध दिखलाने का प्रयास किया गया है, वह विरोधाभासमात्र है। “सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा” और “निराश्रया न तिष्ठन्ति पण्डिता वनिता लताः” इन वचनों से ब्राह्मणों के पूर्वापर आदर्शों में जो पार्थक्य एवं क्रमशः पतन दिखलाया गया है, वह ठीक नहीं है। विद्वानों का आदर्श सदा स्वतन्त्रता ही था, पर भोजन, वसन आदि के लिए किसी राजा आदि का आश्रय स्वीकारना कोई दूषण नहीं। भगवान् मनु ने “यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाज्ञेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्मात् ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥” (३।७७-७८), “सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् विभर्ति हि ॥ यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यन्ति संस्थितिम्” आदि वचनों द्वारा अन्य आश्रमवालों को गृहस्थ के आश्रित बतलाया है, एतावता क्या विरक्त संन्यासी आदि के स्वातन्त्र्य या उत्कर्ष में न्यूनता कही जा सकती है ? यहाँ जैसे संन्यासी को भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ की आश्रितता होते हुए भी अन्यत्र स्वाधीनता है, वैसे ही विद्वानों—ब्राह्मणों—के लिए भोजन, वसन आदि के विषय में ही धनिकाश्रय की दृष्टि से ‘निराश्रया न तिष्ठन्ति’ आदि उक्तियां सङ्गत हैं, एतदतिरिक्त विषयों में ‘सोमोऽस्माकं’ आदि वचनों का आदर्श ठीक ही है। “उदयति दिशि यस्यां” यह तो विद्वान् की दर्पोक्ति है।

“आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः” और “श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वाथैश्वरीमांस्ये ताभ्यां धर्मौ हि निर्बभौ” का भी परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि पहला वचन धर्मविवेक में वेदशास्त्रानुकूल तर्क के साहाय्य का अनुमोदन करता है। दूसरे वचन का आशय वेद-शास्त्राविरोधी तर्क के विरुद्ध नहीं, अपितु वेदशास्त्रविरोधी तर्क का निवारण करने में है। तर्क कोई स्वयं प्रतिष्ठित प्रमाण नहीं है, अपितु केवल सहायक है। इसीलिए भगवान् व्यास ने ‘ब्रह्मसूत्र’ में “तर्काप्रतिष्ठानात्” से तर्क का अप्रतिष्ठितत्व बतलाया है। शास्त्रवेद्य विषय में केवल तर्क अकिञ्चित्कर है। जैसे चक्षुरिन्द्रियैकसमधिगम्य रूपज्ञान में श्रोत्रादि अनुपयुक्त है, वैसे ही धर्म, ब्रह्म आदि शास्त्रैकसमधिगम्य विषयों में केवल तर्क अनुपयुक्त है। हां, सभी तर्कों का अप्रतिष्ठितत्व नहीं कहा जा सकता, अन्यथा जिस तर्क से तर्कों का अप्रतिष्ठितत्व बतलाया जा रहा है, वह भी तर्क होने से स्वयं अप्रतिष्ठित होकर तर्कों का अप्रतिष्ठितत्व सिद्ध न कर सकेगा और सभी तर्कों को अप्रतिष्ठित कहे, तो लोकव्यवहार भी चलना कठिन हो जायगा। अतः अनुकूल तर्क का आदर मान्य किया गया है, इसीलिए “प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एतं विदन्ति वेदेन” यह कहते हुए भी “प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता” द्वारा वेद-शास्त्रानुकूल तर्क वा आश्रय लेने की अनुमति दी गयी है। फिर भी दर्शनकेसरीजी “ते सर्वाथैश्वरीमांस्ये” इस वचन को ‘मनुस्मृति’ में प्रक्षिप्त बतलाते हैं। जिन वचनों की सङ्गति अपना दिमाग न लगा सके या जो अपने अभिमत सिद्धान्त के प्रतिकूल हों, उन्हें प्रक्षिप्त बतला देना तो आजकल एक साधारणसी बात हो गयी है।

तैत्तिरीय से अधिक देवों के न होने की बात भी ठीक नहीं है। “त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा” इत्यादि वचनों से श्रुति स्वयं देवों की बहुसंख्यता बतला रही है। ‘देवताधिकरण’ में भगवान् शङ्कराचार्य ने आजानसिद्ध प्रभृति असंख्य देवविग्रहों का अस्तित्व बतलाया है। “तज्जपस्तदर्थमावहनम्” को ही ईश्वर-पूजन बतलाना अनुचित है, क्योंकि उसी ‘योगसूत्र’ में “यथाभिमतध्यानाद्वा” (१।२९) द्वारा सूक्ष्मतत्त्व में ध्यान की योग्यता न रखनेवाले के लिए, उस की अभिमत स्थूल वस्तु के ध्यान का अनुमोदन देखा जाता है। इसीतरह ध्यानयोग के अनधिकारी आरुक्षु के लिए भगवान् की सगुण, साकार मूर्ति की बाह्य स्थूल पूजा का भी आदेश शास्त्रों ने दिया है एवं उन में भी अधिकारियों के आनन्त्य से देवताओं की अनन्तरूपता भी शास्त्रों को सम्मत ही है।

“श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्या” का प्रकरण उठाकर “कदाचनस्वरिरसि” इस इन्द्रप्रकाशक मन्त्र के “ऐन्द्रया गार्हपत्य-मुपतिष्ठते” इस प्रत्यक्ष श्रुति द्वारा गार्हपत्य के उपस्थान में विनियोग की तरह “ज्ञानोदेवी” इस मन्त्र का शनिपूजन में विधायक कोई श्रुतिवचन न होते हुए भी शनिपूजन में उस के विनियुक्त करने का जो दूषण दिया गया है, वह भी अनुचित है, क्योंकि कालवशात् आज अनेक वेदशास्त्राओं का लोप हो चुका है, सम्भव है कि कहीं उन्हीं में “ज्ञानोदेवी” आदि मन्त्रों के, शनि आदि की पूजा में विधायक वचन हों और उन्हीं के आधार पर उन का सदाचार-परम्पराया शनि आदि के पूजन में सार्वत्रिक प्रचार दिखलायी पड़ता हो। वस्तुतः ‘श्रुतिलिङ्गवाक्य’ इस वचन में पठित ‘श्रुति’ शब्द का अर्थ ‘वेद’ नहीं, अपितु “निरपेक्षरवः श्रुतिः” के अनुसार लिङ्गादिनिरपेक्ष विधायक वाक्य ही है। वह विधायक वाक्य पुराण आदि का होने से भी पर्याप्त है। ‘मत्स्यपुराण’ में स्पष्ट बतलाया गया है कि “आकृष्णेन सहस्रांशोरिमन्देवा तथेन्द्रवे। अग्निर्मूर्द्धेति भौमाय उद्बुध्यस्व बुधाय च ॥ बृहस्पते इति गुरोः शुक्रस्यान्नात्परिस्तुतः। शनैश्चरस्य मन्त्रोऽयं शन्नोदेवीरुदाहृतः ॥ कथान इति राहोश्च केतुं कृण्वन्तु केतवे ॥” इत्यादि। “याज्ञवल्क्य-स्मृति” के ‘ग्रहशान्ति-प्रकरण’ में भी कहा गया है कि “आकृष्णेन इमं देवा अग्निर्मूर्द्धादिबः ककुत्। उद्बुध्यस्वेति च ऋचो यथासंख्यं (ग्रहाणां) प्रकीर्तिताः ॥ बृहस्पते अतियदर्थस्तथैवान्नात्परिस्तुतः शन्नोदेवीस्तथा काण्डात्केतुं कृण्वन्निमास्तथा ॥” (आचाराध्याय ३००)। अन्यान्य पुराणों में भी ऐसे विधायक वचन मिलते हैं, फिर भी उन की ओर से आंख मूंदकर जनता में भ्रम फैलाना कहां तक उचित है ? चरु, पुरोडाश, घी आदि की तरह इस का मन्त्ररूप से ही देवता-पूजन में विनियोग है।

“स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्” ऐसा कहकर (व्यासदेव ने) जिन बातों का स्त्री, शूद्र, द्विजबन्धुओं के लिए विधान किया है, वे ही आज सारे समाज के धर्म-कर्म हो रहे हैं” यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ‘महाभारत’ में केवल उन्हीं बातों का विधान नहीं है, जो स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धुओं के लिए ही उपयुक्त हों। क्या महाभारतान्तर्गत ‘गीता’ में बतलाये धर्म में ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक पुरुषों का अधिकार ‘दर्शनकेसरीजी’ को अभिमत नहीं है ? वस्तुतः साक्षात् वेदों द्वारा धर्मादिज्ञान का जिन्हें अधिकार नहीं, उन के लिए उसी वेदार्थ का ‘महाभारत’ रूप में प्रादुर्भाव हुआ है। जो बातें वेद में कही गयी हैं, वे ही भिन्न शब्दों से ‘महाभारत’ आदि द्वारा कही गयी हैं। वेदोक्त ही धर्म-कर्मों का ‘महाभारत’ में विस्तार है, अतः यह कहना कि उस में ‘स्त्री, शूद्र, द्विजबन्धुओं के उपयुक्त बातों का ही विधान है’ सर्वथा असङ्गत है।

यह कहना कि “श्री शङ्कराचार्यजी ने अपने प्रस्थानत्रय के भाष्यों में कहीं भी पुराणों का उल्लेख नहीं किया है, वे पुराणों का प्रचार नहीं चाहते थे” सर्वथा असत्य है। भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने

भाष्यों में स्थान स्थान पर पुराण-वचनों को प्रमाणरूप में उपन्यस्त किया है। जैसे ब्रह्मसूत्रभाष्य में—“तत्र यः परमात्मा हि” (२।३।४७), “धां मूर्धानं यस्य विप्राः” (१।२।२५), “आत्मनो वै शरीराणि” (१।३।२७) आदि। अतः शास्त्रों का अच्छी तरह पर्यालोचन करके ही विद्वानों को कुछ कहने-लिखने का साहस करना चाहिए।

(इन विषयों पर विचार करने के लिए ‘सिद्धान्त’ का ‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’ स्तम्भ खुला ही हुआ है। काशी में ‘ज्ञानवापी’ पर प्रति पूर्णिमा, अमावस्या को ‘धर्मसंघ’ की सभाएँ हुआ करती हैं, उन में भी जो चाहे आकर विचार कर सकते हैं।)

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

भारतीय शासनविधान-योजना

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी-)

‘सनातनी योजना’ के रूप में प्रसिद्ध हुई श्रीदूरकालजी की भारतीय शासनविधान-योजना के सम्बन्ध में मैंने ‘सिद्धान्त’ अङ्क... में एक लेख लिखा था। उस के विषय में जो कई विशेष विचारणा एवं शंकाएँ प्रस्तुत की जाती हैं, उन के समाधानार्थ यह लेख लिखा जा रहा है। हमारी ओर से ही यह योजना प्रकट हुई थी, अतः हमारी ओर से ही उस के तत्वों पर प्रकाश डाला जाना विद्वानों की दृष्टि में उचित ही प्रतीत होगा। अब एक के बाद दूसरे आवश्यक विषयों पर विचार किया जायगा। १—यह योजना सनातनियों के पक्ष की है, तथापि है वह समूचे भारत के लिए। इस के अतिरिक्त दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस योजना में सनातनी राज या हिन्दूराज, दूसरों पर बलात् लादने का आशय भी नहीं है। उस के लिए तो क्षात्र तेज द्वारा सैनिक विजय प्राप्त होना चाहिए। यहाँ वह प्रश्न ही नहीं है। यहाँ तो ब्रिटिश सरकार से भारत के पास यदि राजशासन की बागडोर आये, तो वह अधिकार किस के पास जाना इष्ट, कल्याणकर तथा स्वभावानुकूल है, इस प्रश्न का समाधान है। यह समाधान आर्यदृष्टिबिन्दु का है, जिस से आर्यप्रजा चिरञ्जीव एवं यशस्वी हुई, और है।

२—इस योजना के पीछे कई ऐतिहासिक तत्व या मन्तव्य वर्तमान हैं, जैसे कि सनातनधर्म मानवों तथा भारत का प्राचीनतम धर्म है। उस धर्म से अनेक धर्म या पन्थ साक्षात् या परम्परा निकले हैं। प्राचीन समय से राजाओं का राज्य संसार के इतिहास में व्यापक रूप से दिखलायी पड़ता है। यूरोप में भी अभी कुछ दिन पहले तक बहुत से राज्यों में राजा थे। इङ्ग्लैण्ड में भी राजा है।

३—‘हिन्दू’ शब्द का प्रचलित रूप में हमलोग व्यवहार करते हैं सही, परन्तु ‘हिन्दू’ शब्द का अर्थ प्रवाही या अनिश्चित है। उस शब्द का, यूरोप के विद्वानों द्वारा तटस्थता से किया हुआ अर्थ—श्रुति, पुराणादि में दिखलायी पड़नेवाला धर्म—ऐसा है सही, किन्तु उसे हिन्दू सुधारकों ने उड़ा दिया है और हिन्दू में—‘हिन्दूमहा-सभा’ की व्याख्या के अनुसार तो जैन, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिख इत्यादि सब आ जाते हैं। अतः अर्थ यह निकलता है कि हिन्दुओं का सर्वसामान्य प्रमाणभूत कोई शास्त्र ही नहीं है। इसतरह, हिन्दूधर्म किसे कहा जाय, इसे अनिश्चित रखने में ही सुधारक पक्ष लाभ समझता है। अङ्गरेजी में ‘सनातनी’ शब्द ‘हिन्दू’ शब्द के

इतना लोकप्रिय या सर्वसाधारण नहीं हुआ है। कई तो उस से मानो घबराते हुए से भी दिखलायी पड़ते हैं। सनातनधर्म, यह एक उत्कृष्ट संयम का मार्ग है, अतः उसे यथावत् पूर्ण रीति से पालन करना अतिकठिन होने से उस का अभिमान निभाना कठिन भी है। अतएव जरा सी त्रुटि दिखलायी पड़ने पर भी वह अभिमान कटाक्ष का पात्र बन जाता है। दूसरी ओर से, सनातनधर्म के शास्त्रीय सिद्धान्त समझने, हजम करने और अनुसरण करने में कठिन होने के कारण, सब में ऐसी योजना पर निर्णय स्थिर करने की योग्यता का होना भी सम्भव नहीं है। इसलिए यह योजना सनातनी सिद्धान्तों को—देश-कालदर्शनपूर्वक—सात्विक रीति से एवं परिणाम में अनुकूल बनाने का हेतु है। इस अर्थ में यह ‘सनातनी योजना’ है। दूसरों को बलात् सनातनी बनाने की इस की धारणा नहीं है और न तो इस का अधिक संख्यावाले बहुमत पर आधार है। भगवान् मनु को भी हजारों अज्ञानियों के मत पर धर्म की व्यवस्था स्वीकृत नहीं है।

४—इस योजना में, अपने अपने शास्त्रानुसार विचार, वाणी तथा वर्तन रखने का अधिकार, इस प्रकार की स्वतन्त्रता स्वीकृत की गयी है। इसतरह की, सब धर्म या पन्थों को दी गयी, स्वतन्त्रता का आशय यह नहीं है कि ‘तुण्डे तुण्डे’ वाली मति या बुद्धिवाद को प्राधान्य दिया जाय, परन्तु इस श्रद्धा के कारण कि वे सब धर्म या पन्थ अन्ततः सनातनधर्म के सन्तान हैं और वे सब संयम तथा भक्ति के अन्यतम मार्ग हैं और अपने अपने धर्म या पन्थ में रहकर वे सब अपना अपना कल्याण सिद्ध कर सकें, एवञ्च दूसरी ओर से वे सब इस युग में सनातनधर्म के कठिन मार्ग में आ सकें, ऐसा हो नहीं सकता और भारत में इसतरह की सरलता न दी जाय, तो विरोध एवं विग्रहों की वृद्धि होना स्वाभाविक तथा अनुभूत होने के कारण, यह भावना रखी गयी है। मानव की स्वच्छन्दता को उस की धार्मिक कक्षा से नियन्त्रित कर दिया गया है। हिन्दू लोग ऋषभदेव, बुद्ध आदि को अवतार या विभूतिरूप में—शास्त्रीय दृष्टि से—मान सकते हैं।

५—यह योजना ऐसा नहीं मान लेती कि राजतन्त्र सब अच्छा ही होता है और यह भी वह नहीं मान लेती कि सभी राजा अच्छे ही होते हैं। किन्तु सामान्यतः नृपशासनतन्त्र के अनेक स्पष्ट लाभ होने के कारण उसे आगे रखती है। राजा ईश्वरांश है, इस का कारण यह है कि वह ईश्वर का कार्य धर्म एवं प्रजा के रक्षण द्वारा कर रहा है और जन्मरूपी नैसर्गिक विधि से यह राज्य पर निर्णीत हुआ होता है। राजासम्बन्धी यूरोप की विकृत धारणा को यहाँ स्वीकार नहीं किया गया है, इसीलिए उस की सुशिक्षा के सिवा इस योजना में, राजा की चेष्टा का भी नियमन करने के अधिकारवाली ‘सन्त-समिति’ की योजना की गयी है और लोगों के अभिप्राय विदित होते रहें, इसलिए लोकसभाओं का भी निर्माण किया गया है। स्थिर तथा सिद्ध आदर्शों का परिपालन सङ्कलित परम्परा से चलता रहे एतदर्थ ऐसा नृपशासन उत्तमोत्तम है, यह धारणा इस योजना में अन्तर्हित है।

६—किसी किसी को इस योजना में ‘पाकिस्तान’ के स्वीकार सा प्रतीत होता है, परन्तु ‘पाकिस्तान’ की मांग ही निमूल हो जाय, इसलिए इस योजना में वास्तविक साधन हैं। वस्तुतः हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियाँ इस समय अत्यन्त पृथक् हो गयी हैं और वे एक-दूसरे से अलग रहने में अपनी शक्ति तथा शान्ति देखती हैं। बहुधा इन दोनों का सहचार और संमिश्रण वैसे ही लोग चाहते हैं, जिन्हें वर्णसाङ्गर्ष्य या जातिसाङ्गर्ष्य इष्ट है। फिर हमलोग क्या चाहते हैं, इसे हमें समझ लेना चाहिए। यदि उन के साथ गड़बड़ाया करने की अपेक्षा उन से अलग रहना हमें इष्ट हो, दोनों की संस्कृतियाँ दोनों

को मूल रूप में प्रचलित रखना मान्य हो, तो दोनों की स्थानिक भिन्नता स्वीकृत करना आवश्यक हो पड़ेगा। ब्राह्मण-मुसलिम या हिन्दू-मुसलिम विवाह हमें इष्ट न हो, तो क्या उस के लिए अनुकूल वातावरण एवं अवसर प्रस्तुत रखना हमें इष्ट है? इस प्रकार का साङ्ख्यिक न हो और हमारी संस्कृति पवित्र एवं शक्तिशालिनी हो, यह इस योजना के भीतर का स्पष्ट हेतु है। शाला-पाठशालाएं, अदालत और धारासभाएं, म्यूनिसिपल तथा लोकल बोर्ड, संमिलित निर्वाचन, खेल-कूद और प्रमातफेरी, इन सब में होनेवाले संसर्ग तथा घर्षणों को छोड़ने की इच्छा अधिक शास्त्रसंमत एवं संस्कृतिरक्षक है या उन्हें रखने, बढ़ाने की इच्छा वैसी है? कट्टर मुसलमानों ने उसे देखा है, हमें अभी देखना बाकी है। हिन्दुस्तान में सभी हिन्दू ही रहे, यह भावना भूतकाल में सिद्ध थी, किन्तु इस समय नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि उभय जातियों के संरक्षणार्थ यह 'स्थान-मृथक्करण' है और वह यदि हो भी जाय, तो भी लाभकारक ही है। वस्तुतः तो मुसलमान ही आर्थिक आदि कारणों से उस के लिए अनिच्छा करने लगेंगे। संस्कृति के अप्रतिहत संरक्षण का अधिकार हमें मिले, तो उन्हें भी मिलेगा और यदि उन्हें मिले, तो हम भी मांग सकते हैं और वह अधिकार यदि हमें होगा, तभी हमारे मन्दिर अष्ट न किये जा सकेंगे, हमारे हिन्दू कानूनों में उल्ट-फेर नहीं किया जा सकेगा और शिक्षालयों में लड़कों को आचार-भ्रष्ट करने की नीति नहीं चलाई जा सकेगी। इस के दो सुपरिणाम यह होंगे कि जातियों की जाति की हैसियत से पृथक् मानने तथा तदनुसार योजनाएं बनाने की नीति मान्य होगी और दोनों या अनेक जातियों की खिचड़ी अथवा जातीय साङ्ख्यिक द्वारा एक नवीन मिश्रित प्रजा बनाने का, हाल में प्रचलित 'वाद' विच्छिन्न होने लगेगा। कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत एवं विदेशियों से उत्तेजित होनेवाले इस वाद का रामबाण ओषध ही यह है। कई लोगों का कहना है कि राजशासन में दोनों जातियां एक होकर काम क्यों न करें? परन्तु यह कहना—हिन्दुओं और मुसलमानों का धर्म समग्र जीवन में व्यापक है, इसे भूल जाने ऐसा और यूरोप की जड़वादी विचारपद्धति में प्रविष्ट होने ऐसा—है। वास्तविक रीति से देखा जाय, तो आर्यों का समग्र इतिहास स्थानिक ऐकान्तिकता का आग्रह दिखलाता है। संसर्ग तथा सङ्ग के तत्त्व का आर्यशास्त्रकारों ने अधिक से अधिक महत्त्व प्रदान किया है, इतना ही नहीं, पर मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि जातियां प्रत्येक अवसर पर स्वभावतः हिन्दुओं के आचार-विचार का खण्डन करती हैं और हमारे उच्छेदक सुधारक लोग भी वैसा करते हैं, अतएव उस का समूचा प्रभाव नवीन हिन्दूप्रजा पर बहुत ही बुरा होता है और हानिकारक सिद्ध होता है। इस परिस्थिति के साथ यदि बुद्धिस्वातन्त्र्य का नया सिद्धान्त या शौक जोड़ दिया जाय, तो इस का क्या परिणाम हो? इसलिए स्थानिक पार्थक्य का सिद्धान्त जैसे कट्टर मुसलमानों को, वैसे ही संस्कारी हिन्दुओं को स्वीकृत होना चाहिए। इस के पीछे स्वसंस्कृति-प्रेम का तत्त्व होना चाहिए और इस के लिए बड़े बड़े प्रान्त मुसलमानों को सौंप देने की आवश्यकता नहीं है। छोटे जिलों की उसतरह योजना की जा सकती है और विशेष बात तो यह है कि संस्कृतिरक्षा की नीति और सिद्धान्त यदि मान्य होगा, तो ऐसा करने का कारण भी निर्मूल होकर क्षयप्राप्त हो जायगा और यदि स्थानिक पृथक्करण स्वीकृत किया जाय, तो भी हिन्दुस्तान की समस्त ऐक्य-सिद्धि के लिए प्रस्तुत योजना में ठोस सङ्घटना रखी गयी है और यदि वैसा न हो, तो भी एकविचारवाले सङ्घ के सहयोग का बल हिन्दुओं को अपार शक्ति देगा, इस में तो कोई सन्देह है ही नहीं।

हिन्दू कोड भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार) बिल पर मन्तव्य

(श्री ज्येन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल पम्. ए.)

४

धारासभा की योग्यता के बाहर का बिल

४१—प्रजातन्त्रवाद तथा योग्यायोग्य सब के मतों का समान मूल्य माननेवाले, उल्टे रास्ते ले जानेवाले मन्तव्यों को घड़ोभर के लिए यदि मान भी लें, तो भी यह बिल वर्तमान धारासभा के कर्तव्य, मर्यादा, रचना तथा योग्यता के बाहर है, क्योंकि १—यह धारासभा योग्य अवस्थावाले सब मनुष्यों का मत लेकर उन की प्रतिनिधि नहीं बनी है, २—वह जाति की हैसियत से, स्वाभाविक तथा सामाजिक समूहों द्वारा, जातियों द्वारा मान्य प्रतिनिधि-संस्था नहीं है, ३—आधुनिक मतदार-मण्डल जातियों के अस्त-व्यस्त टुकड़े कर डालनेवाली रीति से बने होने के कारण धारासभा के प्रतिनिधि स्वभावतः ही जातियों के प्रतिनिधि नहीं होते, अपितु इस के विपरीत वस्तुतः बिना जाति के या जातिविरोधी भावना के होते हैं और अधिकतर अपनी लात मारने की शक्ति तथा बलवा-खोरो के पक्षपात के कारण निर्वाचित हुए होते हैं, ४—ये धारासभाएं मिश्रित रचनावाली होती हैं और भिन्न भिन्न जाति के मनुष्यों से बनी होती हैं कि जिन का जातीय विषयों में एक दूसरे के विरुद्ध उपयोग किया जा सकता है (मुसलमानों को छोड़कर, जिन्होंने ने अपने जातीय निर्वाचन तथा 'मुसलिम लोग' के कारण अपना दृढ़ समूह बना लिया है) और ५—इस धारासभा के सरकारी निर्वाचन कदापि ऐसे सामाजिक या धार्मिक विषयों के आधार पर नहीं होने और न उस के लिए पर्याप्त माने जाते हैं।

४२—राज, यह प्रजा के धार्मिक एवं सांस्कृतिक निक्षेप (धरोहर) को अन्दर तथा बाहर से सुरक्षित करने के लिए होता है और भौतिक बल का मूर्तिमान् स्वरूप है, अतः ऐसे बिलों द्वारा उसे समाज-क्रान्ति के लिए यन्त्ररूप बना देना अत्याचार की पराकाष्ठा है। इस सत्य का यदि अनुभूत प्रमाण अपेक्षित हो, तो वह, मुसलमान या सिखों के विरुद्ध धर्मदोही अङ्गुली उठाते ही, क्या परिणाम होता है, इसे देखने से मालूम हो जायगा। ४३—हिन्दू और मुसलमान, सभी जातियों को सम्पूर्ण धार्मिक संरक्षण मिलना चाहिए, इस के पक्ष में एकमत है। क्रान्तिकारी की यह इच्छा रहती है कि प्रेरणा का आगमस्थान ईश्वर के बदले मनुष्य में और धर्म के बदले जनता के बहुमत में ला रखना चाहिए। फ्रांस और रूस को क्रान्ति का इतिहास ऐसे परिवर्तन के परिणामों पर हृदयद्रावक प्रकाश डालता है। ४४—विकारों की बलवत्ता के कारण आध्यात्मिक तथा नैतिक प्रेरणा से रहित, केवल भौतिक स्वार्थ, मनुष्यजाति के हितार्थ सिर्फ थोड़ी दूर तक ही जा सकते हैं और इस से मनुष्यजाति के वास्तविक एवं स्थायी हितों के लिए ही संसार के सन्त, महन्त और पैगम्बर लोगों ने धर्म को ही सामाजिक शक्तियों का केन्द्रस्तम्भ बनाया है और राज को उस के संरक्षण का साधन बनाया है।

४५—समूचे संसारपट के उन धार्मिक आधारों को कुशिक्षित, औंधी अकलवाले, स्वयम्भू नेता छिन्नभिन्न कर डालना या शिथिल कर डालना चाहते हैं, जैसा काम कोई 'पांचवीं कक्षावाले' प्रजा के शत्रु ही कर सकते हैं और हमलोग उन के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। राज की आवश्यकता, स्थित समाज के रक्षणार्थ है, न कि बहुमत के घमण्ड में इच्छानुसार समाज को उल्ट-पलट देने के लिए।

४६—हमारा मुख्य विरोध तो बहुमत के बहाने के पीछे समाज पर बलात्कार करने के विरुद्ध है। एक हजार मूर्ख एकत्रित होकर एक बुद्धिमान् मनुष्य नहीं बन सकता। ये सांस्कृतिक विषय, बहुमत से निश्चित करने योग्य ही नहीं हैं। क्या बहुमत हो जाय, तो अङ्गरेज लोग 'हिन्दुस्तान को छोड़कर चले जायेंगे?' या मुसलमान अपने विवाहसम्बन्धी कानूनों को बदल देंगे? यह सारा उपद्रव ही पागलपन का है यदि मूल में षडयन्त्ररूप न हो। अंगरेजी 'प्रेयर बुक' (प्रार्थना-पुस्तक) पर की प्रसिद्ध चर्चा हमारे सुधारकों को धार्मिक विषयों में हस्ताक्षेप न करने के लिए प्रकाश दे सकी होती और हिन्दूधर्म की अन्तरङ्ग तत्त्वविद्या उन्हें श्रद्धा अधिक और धृष्टता कम रखने की शिक्षा दे सकी होती।

सूचना और प्रार्थना

४७—हम जानते हैं कि शायद हमारी सूचनाएं तथा प्रार्थनाएं अनसुनी कर दी जायंगी, क्योंकि जिसे सुनना नहीं है, उसे सुनाने का क्या उपाय है? और जगाने तथा सावधान करने का हिंसात्मक मार्ग धार्मिक हिन्दुओं को स्वीकार्य नहीं है। परन्तु, हम इतना कह सकते हैं कि इस प्रकार के जो कानून जबर्दस्ती उन पर लादे जायेंगे, उन की, उन की दृष्टि में, अनैतिक एवं अधार्मिक बलात्कार के सिवा कोई वास्तविकता स्वीकार्य नहीं है और उसे वे हिन्दूधर्म तथा हिन्दूसमाज के विरुद्ध निम्न संस्कृतिद्रोहरूप ही मानकर, राजकीय सत्ता का बल प्राप्त हो जाने पर, जल्दी फेंक देने योग्य कूड़ा ही मानेंगे। ४८—हम जानते हैं कि इस प्रकार के कानूनों के लिए अङ्गरेज नहीं, पर हम लोगों में के ही अर्द्धनास्तिक तथा समाज-विरोधी विद्रोही लोग उत्तरदायी हैं और हम अङ्गरेज सरकार को चेता देना चाहते हैं कि ऐसी हिन्दूधर्मविरोधी कार्यवाहियों से उत्पन्न असन्तोष एवं व्याकुलता के रूप तब सरकार को ही सहन करने पड़ेंगे, जब राजकीय क्रान्ति के पक्ष उस का खूब उपयोग करेंगे। ब्रिटिश साम्राज्य के लिए भी यह बड़ा गम्भीर अवसर है, जब सन् १९५८ ई० से भी अधिक आवश्यक है कि उसे, मुसलमान आदि अल्पसंख्यकों को जैसे दिया जाता है, वैसे ही हिन्दुओं को धार्मिक संरक्षण का पूर्ण आश्वासन देना चाहिए। ४९—हम संरक्षक विचारवाले हिन्दूलोग संस्कृति की हत्या करके खड़े किये गये प्रजातन्त्र-शासन की अपेक्षा अपनी संस्कृति को अधिक मूल्यवान् समझते हैं और इसीलिए हमारे उन्मत्त देशवासियों की अपेक्षा भी धार्मिक अङ्गरेजों से खास विज्ञप्ति करते हैं, क्योंकि ऐसे देशी लोग पाश्चात्यों के (जस्टिस बूडफ के नामकरण के अनुसार) मानस पुत्र होने के कारण हम पर थोड़ा ही अधिकार रखते हैं और प्रायः धर्म तथा ईश्वर के विरुद्ध पाश्चात्य बलवे के फेंक दिये गये जूठन की पूजा करते होते हैं। ५०—हम जानते हैं कि हमारे कई एक अग्रगण्य सुधारक तथा धर्मविरोधी लोग 'सच्ची-वात को दवाने और झूठी को प्रकाशित करने' की कानूनवाजी की कला और हुनर में एवं प्रचारकार्य की प्रजाकर्षक युक्ति-प्रयुक्तियों में अत्यन्त प्रवीण होते हैं, परन्तु हम उन के मस्तिष्क से नहीं, अपितु उन के हृदय से अनुरोध करते हैं, क्योंकि मस्तिष्क तो उन का बहुत दिन हुए ठिकाने पर नहीं है, किन्तु हमें आशा है कि अभी उन के हृदय हमारे साथ, कुछ नहीं तो हमारी तरफ तो हैं ही।

५१—यद्यपि हिन्दूसंस्कृति में से यूरोप तथा अमरीका के महान् विद्वानों ने अपनी उत्कृष्ट प्रेरणाएं प्राप्त की हैं और उस से संसार की मुक्ति के लिए, वे उत्तमोत्तम सन्देश प्राप्त होने की आकांक्षा कर रहे हैं, फिर भी यह सच है कि हम इन पाश्चात्य विचारवाले हिन्दुओं से हिन्दूसंस्कृति के आदर को या उसके प्रचार की आशा नहीं रख सकते, तथापि कम से कम वे संस्कृति-

द्रोही न हुए होते और उन की विकारी मांग ऐसी छूट-अपने लिए मांगकर रुकी होती, तो भी ठीक था, किन्तु कायदेवाजी की जुलूम-गिरी से सारी हिन्दूजाति को उस के आदर्शों से नीचे घसीटने में उन्होंने ने जाति के शत्रुओं की आवश्यकता पूरी की है और विदेशियों तथा मुसलमानों से भी, जो धार्मिक हस्ताक्षेप की नीति को मानते हैं, आगे बढ़ गये हैं। हम अधिक नहीं, पर इतनी तो आशा रखते थे कि उन की उत्तम सामान्य बुद्धि से वे देखेंगे कि जिन्मन्तव्य तथा कामनाओं ने संसार को विगत डेढ़ सौ वर्षों में ऐसी सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजकीय एवं आदर्शविषयक अन्धाधुन्धी में डाल दिया है, उन मन्तव्य तथा कामनाओं के पीछे दौड़-धूप करने की प्रतियोगिता में संमिलित होने में कोई लाभ नहीं है।

५२—अन्त में हम स्पष्ट रीति से सूचित करते हैं कि लोगों के लिए क्या हितावह है, इस विषय में प्रामाणिक मतभेद हो सकता है, पर हमलोग प्रजानिर्माणसम्बन्धी कामचलाऊ आदेशों की अपेक्षा अधिक उच्च तत्त्वावधान पर आधार रखते हैं। ऐसे आदेशों की योजना देवी आदेश तथा शास्त्रग्रन्थों के निर्देश का स्थान कभी नहीं संभाल सकती, क्योंकि शास्त्रीय आदेश परिणामी, स्थलनशील, बदलजानेवाले और भिन्न भिन्न मानुषी अभिप्रायों की अपेक्षा अति उच्च भूमिका पर विराजमान हैं। नीति का पतन, सामाजिक जीवनसम्बन्धी अव्यवस्था और आध्यात्मिक प्रेरणा के हास के प्रभाव तात्कालिक आर्थिक लाभों या प्रकट आंकड़ों से आँके नहीं जाते। वे तो जीवन तथा जगत् में अपराध एवं रोगों के प्रसार द्वारा अन्त-देशीय तथा अन्ताराष्ट्रीय विग्रहों से एवञ्च जनता के पतन तथा विनाश द्वारा सृष्टि के इतिहासपट पर चित्रित होते हैं।

५३—अतएव हम सभी सम्बन्ध रखनेवालों से साग्रह अनुरोध करते हैं कि प्रस्तुत विल तथा हमारे हिन्दूकानूनों को नवीन हिन्दू-धारा में परिवर्तित कर डालने की समस्त कार्यवाहियां, हिन्दूजनता के प्रति न्याय के लिए और मानवजाति के आध्यात्मिक महान् हितों के लिए वापस ले ली जानी और बन्द कर देनी चाहिए।

(श्री सनातन वैदिक धर्मसभा, अहमदाबाद की ओर से भारत-सरकार को प्रेषित)

मूल-सुधार

गताङ्क में 'मूल-सुधार' करने पर भी दैवात् एक मूल रह जाने का हमें खेद है। वहाँ 'व्यभिचाराकारक' के स्थान पर 'व्यभिचारावारक' समझें।

सम्पादक।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—श्री विष्णुतत्व १ (श्री स्वामी करपात्री जी)	... ७३
२—आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम १ (श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)	... ७५
३—"समय का प्रभाव" (श्री देवकृष्ण त्रिपाठी)	... ७७
४—भारतीय शासनविधान-योजना २ (श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)	... ७८
५—हिन्दू कोड भाग १ (अप्रदत्त उत्तराधिकार) विल पर मन्तव्य ४ (श्री जयेंद्रराय भगवानलाल दूरकाल एम. ए.)	... ७९
६—मूलसुधार	... ८०

सिद्धान्त

“अयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क ११]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—आपाढ़ कृष्ण ७ सं० २००१
मङ्गलवार, तां १३ जून, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति का -)

परस्पर विरोधिनी बातें

‘अखिल भारतीय क्षत्रिय महासभा’ के गत ४४ वें अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से दिया हुआ महाराजकुमार सर विजय का भाषण हमारे सामने है। आप ‘प्रगतिशील तथा उदार’ क्षत्रिय नेता माने जाते हैं। समाचार-पत्रों में आप के वक्तव्यों की भरमार रहती है। उक्त भाषण में एक स्थान पर आप कहते हैं—“भगवान् श्रीकृष्ण ने ‘गीता’ में अर्जुन को उपदेश दिया है कि मैंने चारों वर्णों की सृष्टि उन के गुण और कर्मों के अनुसार की है और तुम्हें बिना फल की आशा किये हुए अपने धर्म का पालन करना चाहिए। यही व्यवस्था रामराज्य में भी थी। आखिर रामराज्य क्या था ? यही न कि प्रजा का पालन इस प्रकार किया जाय जो सदा के लिए आदर्श हो जाय। भगवान् रामचन्द्र के राज्य में सारी प्रजा का सम्पूर्ण कल्याण किया जाता था और सब के हितों को पूर्ण रूप से रक्षा की जाती थी। युद्ध और विद्रोह कहीं सुनायी भी नहीं पड़ते थे। क्यों ? इसीलिए कि भगवान् रामचन्द्र क्षात्र धर्म को खूब समझते थे और उस के निभाने का उन में पूर्ण सामर्थ्य था। यही उन के विजय का रहस्य है।” यहां तक तो ठीक ही है, पर आगे चलकर आप कहते हैं—“किन्तु अब समय बदल गया है। हम अपने को जाति के और अङ्गों से पृथक् नहीं रख सकते। हमारा यह कहना कि ‘हम में ईश्वरीय अंश है’ अब काम न देगा। न हम केवल तलवार के ही सहारे जीवनयापन कर सकते हैं और न औरों से मिलने में अपनी अवहेलना समझ सकते हैं। हम अब अपने को सङ्कुचित क्षेत्रों में बन्द नहीं रख सकते। आधुनिक समय में एकदम पुराने ढरे पर चलना नितान्त निरर्थक होगा। ब्राह्मण को केवल पुरोहिताई करना और क्षत्रिय को केवल युद्ध करना, शायद प्राचीन काल में ठीक समझा गया हो, परन्तु आजकल के युग में तो संसार की अवस्था एकदम बदल गयी है, समय और दूरियों का कोई हिस्सा ही नहीं रह गया है, बड़ी बड़ी रुढ़ियों का विनाश हो गया। सच बात तो यह है कि अब सारे संसार का एक ही ‘यूनिट’ हो गया है और हमारे लिए यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि हम अपनी पुरानी रुढ़ियों, जाति-पांति और धर्मान्यता की सङ्कुचित दीवारों को ढहाकर उठ खड़े हों और संसार के अन्य वर्गों के साथ मिलकर ‘नवयुग’ के स्वागत के लिए तैयार हो जायें। अलहदगी से हमारा कोई लाभ न होगा और यह कहना बिल्कुल व्यर्थ सा दिखायी देता है कि क्षत्रिय खदानों या खेतों पर काम नहीं कर सकते अथवा वक्त जरूरत पर भूमि का काम उन से न होगा। क्षत्रियों का यह कहना बिल्कुल किष्कूल है कि उन का काम तो महज युद्धक्षेत्र में लड़ना मात्र है

और युद्धक्षेत्र के बाहर क्षत्रियों का कोई काम ही नहीं है। यही बात ब्राह्मणों के विषय में लागू होती है।” एक ओर तो वर्णव्यवस्था के कट्टर समर्थक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की दुहाई तथा यह अनुरोध कि “हमें रामचन्द्र का आदर्श सदैव स्मरण रख उन के अनुकूल जीवन-यापन की चेष्टा करनी चाहिए” और दूसरी ओर उसी व्यवस्था की यह अवहेलना ! अब रही भगवान् कृष्ण की बात, वे भी वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म दोनों से मान रहे हैं, न केवल कर्म से। ‘गीता’ में वे बारबार अर्जुन को अपने क्षात्रधर्म की याद दिलाते हैं और उसी में उसे प्रवृत्त करते हैं न किसी दूसरे कर्म में।

यदि महाराजकुमार को केवल ‘कर्मणा वर्ण’ ही मान्य होता, जैसा कि गान्धी जी, डाक्टर भगवान् दास आदि का, जिन के प्रति उन्हें बड़ी श्रद्धा है, मत है, तो भी वह एक पक्ष था। परन्तु महाराजकुमार उस पर भी कायम नहीं रहते और फट कूदकर ‘जन्मना जाति’ पर पहुंच जाते हैं। आगे ही आप कहते हैं—“मनु के काल से लगाकर अद्यावधि हमारे पूर्वजों ने ऐतिहासिक कार्य किये हैं। हमारी जाति ने भी सभी युगों में आदर्श और गौरव स्थापित किया है। हम ने अपना व्यवहार जनता के सच्चे नायकों जैसा रखा है।” इतना ही नहीं, अपनी इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए आप दूसरे स्थल पर कहते हैं “महाभारत में भीष्म ने कहा है कि जो क्षत्रिय वेदाध्यायी, याज्ञिक, प्रदाता और भयत्राता होता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर महान् यशस्वी होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी शूरा, वीरता, दृढ़ता, कौशल, अपलायन, स्वातन्त्र्य और राजस्व ही क्षत्रिय के गुण बतलाये हैं। इतिहास हमारे पूर्वजों की वीरगाथाओं से भरे पड़े हैं। हम अपने जन्म से ही प्रकृत्या जननायक हैं और हमारे ही कन्धों पर समाज को वैदिक मार्ग पर चलाने का सदा से भार है तथा आगे भी रहेगा। यह कर्तव्य हमें हमारे दिव्य पितृगणों का सौंपा हुआ है और हम उस से मुकर नहीं सकते। यदि हम इस में आना-कानी करेंगे, तो हमारे कुल को ही दाग लगेगा, कारण क्षत्रिय ही तो प्रेरक शक्ति और सञ्चालक आधार है।” सरकार से आप को बड़ी शिकायत है कि “साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व” का क्रम एक बार प्रवर्तित कर चुकने के अनन्तर सरकार मुख्यतः एक ही जाति के विरुद्ध भेद का वर्ताव क्यों करती है और वह भी खासकर उस जाति के विरुद्ध, जिस ने मनु के काल से भारतीय राजनीति में गौरवास्पद और इतना सम्मानपूर्ण कार्य किया हो। हम चाहते हैं कि इस युद्ध में लड़ने के लिए भारतीय सेना राजपूतों की हो, जो मानवता की उत्पीड़क दुष्ट शक्तियों को स्तब्धी शिक्षा का पाठ पढ़ा सके। यह लज्जा की बात है कि जन्मना योद्धा होते हुए भी विभेद के कारण हमारा कोई स्थान ही न रहे।”

श्री विष्णुतत्त्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

२

इस का क्या अर्थ ? ये सब कर्म क्षत्रियों के ही जन्मसिद्ध गुण क्यों माने जायें ? यदि क्षत्रिय खदानों या खेतों पर कुशलता से काम कर सकता है, भग्नी का भी काम कर सकता है, तो क्या कभी भग्नी क्षत्रिय का काम नहीं कर सकता ? फिर 'नेत्रत्व' क्षत्रियों की ही बगैती क्यों मान लिया जाय ? जो जिस कर्म के सुयोग्य समझ पड़े, उसे वही काम सौंप देना चाहिए, फिर उस में वर्ण को घुसेड़ने की क्या आवश्यकता ? एक ओर वर्णों के विशिष्ट स्वाभाविक गुण और दूसरी ओर काम्यों में सब का समान अधिकार, यह दोनों बातें कभी एक साथ बन नहीं सकती। यदि जन्मना गुण मान्य है, तो फिर उसी के अनुसार कर्म की व्यवस्था भी जन्मना माननी ही पड़ेगी। आजकल की अव्यवस्था का मुख्य कारण है कर्म-साङ्ख्य और वह तबतक दूर नहीं हो सकता, जबतक कर्म का विभाग जन्म के आधार पर न हो। अपने यहां यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि क्षत्रिय का एकमात्र कर्म युद्धक्षेत्र में लड़ना है। अध्ययन, भजन, दान, प्रजारक्षण आदि भी क्षत्रियों के ही कर्म हैं। आपत्काल में तो कई प्रकार के कर्म करने का शास्त्रों में विधान है। परन्तु प्रश्न तो है कि किसी व्यक्ति का जन्मना कर्म क्या है ? बिना इस को निश्चित किये हुए क्या कोई समाज-व्यवस्था स्थायी हो सकती है ? अपने भाषण के दूसरे स्थल पर आप ने समाज में महिलाओं के पद की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। आप कहते हैं कि "यह हमारे लिए गर्व और गौरव की बात है कि हमारी जाति ने सीता, दमयन्ती, चन्द्रमती तथा द्रौपदी आदि माताओं और पत्नियों को जन्म दिया है। न तो वे कभी परदे के कठोर बन्धन में रहीं और न कभी राष्ट्र की परिषदों से कटृतापूर्वक पृथक् रख छोड़ी गयीं, कारण इतिहास में हम राजपूत रमणियों को साम्राज्यों का शासन करते, युद्धक्षेत्र में अवतीर्ण होते और उसी कुशलता के साथ, वरन् कतिपय प्रसङ्गों में तो मर्दों से भी अच्छे ढङ्ग पर सन्धियां स्थापित करते पड़ते आ रहे हैं। यह हमारी जाति के लिए गर्व का स्थान रहा है"। परन्तु आजकल सीता, सती, सावित्री उत्पन्न करने का आप उपाय बतलाते हैं कि "हमें अपनी कन्याओं के लिए और अधिक स्कूल तथा कालेज खोलना चाहिए।" क्या आधुनिक स्कूल और कालेजों में भारतीय नारीत्व के आदर्श की रक्षा कभी हो सकती है ? फिर भारतीय नारीत्व के आदर्श के साथ स्त्रियों की स्वतन्त्रता और समानता का सिद्धान्त कैसे मेल खायेगा ? सर विजय के भाषण की परस्परविरोधनी बातों के ये दो एक नमूने हैं। आधुनिक नेताओं के विचारों में प्रायः ऐसा ही देखने में आता है। सम्भवतः वे किसी एक बात पर बराबर कायम रहना 'गधे का गुण' समझते हैं, जैसा कि एक विदेशी विद्वान् का कहना है—"कान्सिपेटेन्सी इज् दि क्वालिटी आफ ऐन आस"। यदि वे किसी एक विचारधारा को लेकर चले और उस के पूर्वापर का ध्यान रखें, तो ऐसा अवसर कभी न आये। पर उन की दशा तो तपे हुए भूमि पर न्योले जैसी होती है, जो कभी इधर कूदा, तो कभी उधर—"अवतपते नकुल-स्थितं त एतत्"। महाराजकुमार अपने भाषण के अन्त में चीनी प्रजातन्त्र के संस्थापक डाक्टर सनयात सेन के "सोचना कठिन है, करना सहज" इस वाक्य की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं कि "मार्शल च्याङ्ग काई शेक का भी यही मत है कि सिद्धान्त-योजना और तत्वविचार कार्य के पहले प्राप्त होते हैं और कार्य बाद में उन विचारों के अनुकूल होना ही चाहिए। ठीक यही बात भगवद्गीता में भी कहा गयी है। जन्मना ही जननायक होने के कारण हम क्षत्रियों का कर्तव्य है कि इस दिशा में हम लोगों का नेत्रत्व करें।" हम नम्रतापूर्वक सर विजय का ध्यान स्वयं उन के इन वाक्यों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। यदि 'समाज को वैदिक मार्ग पर चलाने का भार' लेना है, तो उस मार्ग को पढ़ले अच्छीतरह समझना भी होगा।

मायातीत, गुणातीत, आदिमध्यान्तशून्य, अनन्त, अप्रमेय, अखण्ड, परिपूर्ण ब्रह्मतत्त्व ह। श्री महाविष्णु किंवा नारायणतत्त्व है। जीवसमूह में सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन निवास करने के कारण वे नारायण हैं—"नराणां समूहो नारम् जीवसमूहः तत् अयनं यस्य ।" अथवा नरशब्दवाच्य हिरण्यगर्भ से उत्पन्न (नाराः) जल में या तत्त्वों में निवास करने से वे नारायण कहे जाते हैं—"नरात् जाताः नाराः आपः ('आपो वै नरसूनवः' इति मन्त्रोक्तेः), तत्त्वानि वा ('नराज्जातानि तत्त्वानि' इति मन्त्रवर्णात्) अयनं यस्य ।" अथवा सकल चराचर जीवों के साक्षिरूपेण ज्ञाता या प्रवर्तक होने के कारण उन्हें नारायण कहा जाता है—"नारं अयते जानाति वा, आययति प्रवर्तयति वा ।" अथवा भक्तजनों के अमोघपूत्यर्थ वैकुण्ठ लोक से आकर इस मर्त्यलोक में भी अवतरित होने के कारण वे नारायण कहे जाते हैं—"नराणां भक्तानां समूहो नारं, तत् प्रति अयते अनुग्रहार्थं गच्छति इति ।" अथवा अविद्यावच्छिन्न चैतन्य—जीव—नर कहा जाता है, उस से विषयीकृत अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म में कल्पित चराचर प्रपञ्च अप्रशब्दवाच्य नार है। वही है अयन अर्थात् अधिष्ठान जिस का, वह नारायण कहा जाता है, अर्थात् अपने में जीवद्वारा कल्पित प्रपञ्च का सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन कारणीभूत तत्त्व ही नारायणपदवाच्य है। अथवा जीवसमूह की जिस से प्रवृत्ति होती है, वह नारायण है—"नारो जीवसमूहः तस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात् ।" अद्वितीय, परमानन्दस्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वरूप, सच्चिदानन्द, अखिल प्रमाणागोचर, निराकार, अद्वैत नारायणतत्त्व चतुष्टय ब्रह्म है। अविद्यापाद, सुविद्यापाद, आनन्दपाद और तुरीय-पाद यद्वा चार पद हैं। तुरीय पाद तुल्यतुरीय एवं तुरीयातीत भी होता है, परन्तु वह यहाँ विवक्षित नहीं है। स्थूल अविद्या या महाविद्या ही भगवान् का प्रथम पाद है, सूक्ष्म प्रपञ्च ही विद्यापाद है, बीज ही आनन्दपाद है और अधिष्ठानभूत शुद्ध ब्रह्म ही तुरीयपाद है। तीनों पाद सर्वत्र व्यापक होकर विराजमान हैं। कोई लोग इन्हीं तीनों पादों को त्रिपाद ब्रह्म कहते हैं। प्रथम पाद को ही अविद्यासंमृष्ट प्रथम पाद कहते हैं, परन्तु वस्तुतः वैसी बात नहीं है। त्रिपाद ब्रह्म सर्वथा निर्विशेष है। उस में भेदत्रय सम्भव नहीं हो सकते, किन्तु मूलाविद्यासंमृष्ट प्रथम पाद में ही यह पादचतुष्टय है। सूक्ष्म, बीज एवं तुरीय को ही विद्या, आनन्द, तुरीयादि पाद कहा गया है। प्रथम पाद में अविद्या का प्राधान्य होने से प्रथम पाद अविद्याशबल कहलाती है। अधिष्ठानचैतन्य प्रधान होने पर भी यहाँ उपसर्जन सा होकर प्रतीत होता है। उपरितन पादत्रय में चैतन्य ही प्रधान रहता है, अविद्या अप्रधान रहती है। चैतन्यांश की प्रधानता से ही ऊपर के पाद अलौकिक, परमानन्द, जाज्वल्यमान तेजोराशिस्वरूप, अनिर्वाच्य, अनिर्देश्य, अखण्डानन्दैकरस समझे जाते हैं। मध्यम पाद के मध्य प्रदेश में अमिततेजःप्रवाह रूप से नित्य वैकुण्ठ भासमान होता है। वह भी निरतिशय अखण्डानन्द ब्रह्मानन्दमूर्त्याकार से चमकता रहता है। अपरिच्छिन्न मण्डल के समान अखण्डानन्द अमित वैष्णव दिव्य तेजोराशि के अन्तर्गत महाविष्णु का परम पद विराजमान है। जैसे क्षीरसमुद्र के मध्य में अमृत-कलश शोभित होता है, वैसे ही वैष्णव धाम प्रतिभासित होता है। सुदर्शन-दिव्य तेज के अन्तर्गत सुदर्शनपुरुष भासता है। सूर्यमण्डल के भीतर जैसे सूर्यनारायण विराजते हैं, वैसे ही अपरिच्छिन्न, अद्वैत, परमानन्दस्वरूप, तेजोराशि के बीच में आदिनारायण दृष्ट होते हैं। वही तुरीय ब्रह्म है, वही तुरीयातीत, वही विष्णु, वही समस्त ब्रह्म,

नाचक, वाच्य, परंज्योति, मायातीत, गुणातीत, कलातीत, अखिल-कर्मातीत है, वही उपाधिरहित परमेश्वर, वही चिरन्तन आद्यन्त-शून्य, परमपुरुष है। निर्विशेष पद में विश्वक्सेन, वैकुण्ठादि कल्पनाएँ असङ्गत हैं, अतः उपर्युक्त स्वरूप को सर्विशेष के अन्तर्गत हो समझना चाहिए। अखिल कारणजाल अविद्यापाद में ही है, अतः समस्ताविद्योपाधि साकार, सावयव होने से यद्यपि अनित्य है, तथापि ब्रह्माविद्यासाकार, आनन्दसाकार, उभयात्मकसाकार नित्य है। स्थूल अविद्या का अधिष्ठानभूत तुल्य तत्त्व 'विद्यासाकार' है। सूक्ष्मप्रपञ्च का अधिष्ठान 'आनन्दसाकार' एवं बीज का अधिष्ठान 'उभयात्मकसाकार' है। इन में समष्टि नित्य साकार और व्यष्टि मुक्त साकार है। इन में उपाधि की अप्रधानता रहती है, अतः अवन्धकत्वात् सोपाधिक होते हुए भी इन्हें निरुपधिक कहा जाता है। उन में भी विद्यादि की प्रधानता से भेद है। वस्तुतः अधिष्ठानभूत चिन्मात्र की विवक्षा से तो अभेद ही है। अनिर्वचनीय माया के सम्बन्ध से साकारता, तन्निरोपेक्ष स्वरूप की विवक्षा से निराकारता, दोनों ही बातें परब्रह्म में बन सकती हैं।

अद्वैत परमानन्दस्वरूप आदिनारायण के उन्मेष-निमेष से अविद्या, तत्कार्यात्मक प्रपञ्च के उत्पत्ति-स्थित्यादि होते हैं। आत्मा-राम, पूर्णकाम भगवान् की स्वेच्छानुसार उन्मेष होने पर सर्वकारण अधःस्तन पाद में मूलकारण अव्यक्त का प्रादुर्भाव होता है। अव्यक्त से माया और मायाकार्य की उत्पत्ति होती है। अन्तर्मुखीवस्थ शक्ति अव्यक्त और बहिर्मुखीवस्थ मूलाविद्या है। कार्यावस्था स्पष्ट ही उन दोनों से पृथक् है। मूल अविद्या के योग से ही सच्छब्दवाच्य परब्रह्म अविद्याशबल होता है। उस से महत्, महत्से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत, पञ्चमहाभूतों से ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड में विशुद्ध सत्त्वमय मायोपाधिक निरतिशयनन्दस्वरूप भगवान् नारायण विराजते हैं। नित्य, परिपूर्ण वही भगवान् पादविभूति वैकुण्ठनारायण हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति, लयादि के परमकारण, महामायातीत, तुरीय परमेश्वर ही वह नारायण हैं। नारायण का ही स्वरूप ब्रह्माण्डानिमानो स्थूल विराट् सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष पुरुष है। अपने पारमार्थिक स्वरूप से सत्रिंशत्गुण हैं, मायासापेक्ष ज्ञानबलैश्वर्यशक्ति तेजःस्वरूप से सगुण हैं, विविध विचित्र अनन्त जगत् के रूप में प्रकट होनेवाले हैं। निरङ्कुश, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वनियन्त्रत्वादि अनन्त कल्याणगुणगणों के आकर तथा अनन्त महामायाविलास के अधिष्ठान अद्वैतस्वरूप हैं। इन्हीं के एक एक रोमकूपों में सावरण अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजते हैं। सभी प्रत्येक अण्डों में एक एक नारायणावतार रहते हैं। नारायण से ही निखिल देव तथा निखिल प्रपञ्च उत्पन्न होते हैं। भगवान् विष्णु एवं उन के वैकुण्ठादि दिव्य लोक विद्यामय प्रपञ्च हैं। वे सब नित्यानन्द चिद्विलास ही हैं। तद्व्यतिरिक्त प्रपञ्च अविद्यामय प्रपञ्च है। निर्विशेष तत्त्व वस्तुतः सर्वातीत है।

चार हजार युग ब्रह्मा की रात्रि एवं उतना ही दिन होता है। एक दिन में सप्तलोक से नीचे के सब लोकों के उत्पत्ति-प्रलयादि हो जाते हैं। पञ्चदश दिन के पक्ष, दो पक्ष का मास, दो मास का ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष एवं सौ वर्ष ब्रह्मा की आयु होती है। अन्त में विराट् पुरुष हिरण्यगर्भ में लीन हो जाता है। हिरण्यगर्भ स्वकारण परमात्मा में लीन हो जाता है। सौ वर्ष प्रलय रहता है। उस समय सभी जीव प्रकृति में शयान (सोये) रहते हैं। ब्रह्मा का स्थिति-प्रलय महाविष्णु का रात्रि-दिन है और फिर उसी तरह के पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा वत्सर होते हैं। शतकोटि वत्सर तक महाविष्णु की स्थिति रहती है। उस के अनन्तर महाविष्णु आदिविराट् पुरुष में लीन हो जाते हैं। तदनन्तर सावरण ब्रह्माण्ड मिट जाता है। शतकोटि वत्सर तक उस की भी

लयावस्था होती है। उसीतरह महाविष्णु का स्थिति-प्रलय-काल आदिविराट् पुरुष का एक दिन-रात है। इसतरह के पक्षादि मास से शतकोटि वत्सर तक आदिविराट् की स्थिति रहती है। स्थिति के अन्त में आदिविराट् भी आदिनारायण में लीन हो जाता है। विराट् का स्थिति-प्रलय आदिनारायण की दिन-रात्रि है। ऐसे दिन-रात से शतकोटि वत्सर तक आदिनारायण की स्थिति रहती है। आदिनारायण की स्थिति के अन्त में त्रिपाद्विभूति नारायण की इच्छा से निमेष उत्पन्न होता है। वस, उसी से सावरण मूलाविद्या का लय होता है। उस समय सबिलास मूलाविद्या अव्यक्त में लीन हो जाती है। अव्यक्त ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। फिर आदिनारायण भी स्वस्वरूप चिन्मात्र हो जाते हैं। सब जीव भी चिन्मात्र हो जाते हैं। जैसे जपाकुसुम के साक्षिण्य से स्फटिक में रक्तता की प्रतीति होती है, तदभाव में स्वच्छता की प्रतीति होती है, वैसे ही मायोपाधिवश से ब्रह्म सगुण, परिच्छिन्न प्रतीत होता है, माया के न होने पर निर्गुण, निरवयव की प्रतीति होती है। त्रिपाद परम तत्त्व सर्वथा सर्व विशेषणों से रहित, निराकार, निर्विकार है।

आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

२

शिवलिङ्ग के निचले स्थूल वेष्टन का नाम है वेर, योनिपट्ट, त्रिवेदिका आदि। ऊपरी स्तम्भाकार अंश का नाम है 'लिङ्गभाग'। उस का सारा नीचे का अंश उस वेर से वेष्टित रहता है। इस के द्वारा, गृहस्थित पूर्वोक्त रसिमण्ड, प्रकाशहीन शून्य से जिस तरह आवृत है, वह भाव अच्छी तरह समझ में आ जाता है अर्थात् तमोमय आकाश से स्वप्रकाश शिव आवृत है। इस भाव को हृदय में स्थापन करके साधन के अन्तःकरण में आस्तिकता उत्पादन करना शिवलिङ्ग-पूजन का एक उद्देश्य है। दूसरी बात—शिव का शक्तिग्रोम (योनिपट्ट) शिव तथा उपासक, इन दोनों के बीच में व्यवहित या संयोजित होकर अवस्थित है। शिवलिङ्ग-पूजा द्वारा शक्ति के प्रति भी पूजा अर्पित होती है (शक्ति उसे शिव के पास पहुँचा देती है)। इसतरह शक्तिसेवा द्वारा—पादात्म्य की जड़शक्ति की उपासना की अपेक्षा—अधिक फललाभ की सम्भावना है। तमोमय (कृष्णवर्ण) शून्य के भीतर शिवलिङ्ग अवस्थित है, यह हमारी कपोलकल्पित व्याख्या नहीं है। सन्ध्या करने के समय जो रुद्रोपस्थान किया जाता है, उस में 'कृष्णपिङ्गल' और 'ऊर्ध्वलिङ्ग' ये दो शब्द सत्य वस्तु के विशेषणरूप में प्रयुक्त देखे जाते हैं। उन का अभिप्राय यह है कि उस सत्य को हमलोग कृष्णपिङ्गल अर्थात् अन्धकारमय अनुभव करते हैं, किन्तु उस के ऊर्ध्व—ऊपर—सत्य का लिङ्ग स्वयंज्योति प्रकाशित है। शिवलिङ्ग इसी बात का हमें स्मरण कराता है। लिङ्गस्य स्तम्भभाग पुंविन्द और वेर या योनिपट्ट स्त्री-विन्दस्वरूप है। इस से यही ज्ञात होता है कि इन दोनों के संयोग से जगद्व्यापार सञ्चटित होता है। 'पूजातत्त्व' में बतलाया गया है कि "जो लोग दार्शनिक तत्वों की आलोचना करते हैं, उन्हें ज्ञात है कि यह अतिवैचित्र्यमय विश्व जिस से उत्पन्न है, वह सत्त्वरजस्तमोगुणमयी अव्यक्त प्रकृति है। तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप यह प्रकृति ही जगत् का सूक्ष्मतम कारण है। पुरुष या चैतन्य के साक्षिण्यवशात् प्रकृति परिणामशील अर्थात् क्रियाशील होती है। इस के परिणामस्वरूप यह जगत्प्रपञ्च रचित होता है। इस पुरुष-प्रकृति के संयोग के आश्रय को कथञ्चित् उद्बुद्ध करने के लिए ही लिङ्गपीठात्मक शिवमूर्ति का प्राकट्य है।

जगत्कारण का पता पाकर ही जीव इस दुःखमय, परिवर्तनशील जगद्भाव के हाथ से छुटकारा पा सकता है। उस प्रकृति-पुरुष के प्रथम संयोगरूप सृष्टि की उन्मुख अवस्था का यथासम्भव अनुस्मरण करने के लिए ही शिवलिङ्गरूप प्रतीक के अवलम्बन द्वारा जगत्कारण सर्वभूत महेश्वर की पूजा विहित हुई है। उस समय—सृष्टि की प्रथम उन्मुख अवस्था में—कर-चरणादि अन्य कोई भी अरथ नहीं थे, हो नहीं सकते थे। केवल उस त्रिगुणात्मिका अव्यक्त प्रकृति का प्रतिरूप त्रिकोणात्मक गौरीपीठ और उस के ऊपर पुरुष या चैतन्य के सान्निध्यभाव का स्मरण करने के लिए ही लिङ्ग-मूर्ति की प्रतिष्ठा है। प्रकृति-पुरुष के प्रथम संयोग से ही महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। 'गीता' में स्वयं भगवान् ने कहा है—“मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधान्यहम् । सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत” (१४।३) अर्थात् महत् ब्रह्म—महदात्मा, महत्तत्त्व—मेरी योनि—गर्भाधानस्थान है, उस में हो मैं गर्भाधान करता हूँ अर्थात् जगत्प्राकट्य के कारण-स्वरूप चित्प्रतिबिम्ब का निक्षेप करता हूँ। उसी से समस्त भूतों की सृष्टि होती है। इस चित्प्रतिबिम्ब से समन्वित महत्तत्त्व की कथञ्चित् उपलब्धि कराने के लिए ही लिङ्गमूर्ति के अवलम्बन द्वारा शिवपूजा का विधान हुआ है। शिवलिङ्ग चिदाभास-समन्वित महत्तत्त्व का ही स्थूल प्रतीक है। यही विश्व की आद्य अवस्था है, यही विश्व का बीज है। इस विश्वबीजस्वरूप की उपलब्धि होने पर ही समस्त खण्डज्ञान का आधिपत्य अर्थात् संसारभय विरक्तुल दूर हो जाता है। इसीलिए शिव के ध्यान में कहा गया है—“विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरम् ।” लिङ्ग शब्द का अर्थ है चिह्न। जिस चिह्न से जगत्कारण प्रकृति-पुरुषविषयक ज्ञान उद्बुद्ध होता है, वही 'शिवलिङ्ग' है अथवा लिङ्ग शब्द का अर्थ है लय-स्थान। यह जगत्प्रपञ्चरूप कार्य जिस अव्यक्त कारण में लय को प्राप्त होता है, उसी का नाम है 'शिवलिङ्ग'।

मूर्ख लोग माता को सन्तान का, प्रसव एवं लालन-पालन करते देखकर, उसे ही सन्तान के जनक-जननी समझते हैं। उसतरह शून्य (आकाश) से जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा मानकर नास्तिक लोग उस अभाव को ही जगत् का एकमात्र कारण समझ बैठते हैं। ऐसी नास्तिकता को हटाने के लिए, देखते हैं कि शिवलिङ्ग की उपयोगिता है। शिवलिङ्ग में शक्ति और शक्तिमान्—प्रकृति और पुरुष—का एकत्र समावेश होने से वह भगवत्शब्द का वाच्य है। साधक के हितार्थ ब्रह्म की रूपकल्पना द्वारा शिवलिङ्ग रचा गया है अन्यथा भगवान् कहने से स्वाभाविक किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। भगवान् शब्द उपचार से व्यवहृत है। नकल जैसे असल का उपचार है, भगवान् वैसे ही ब्रह्म का उपचारमात्र है। भगवान् यथार्थ में नहीं है यह केवल मैं ही नहीं कहता, इस सम्बन्ध में शास्त्र की उक्ति इस प्रकार है—“यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजसव्यथम् । अनिर्देश्यमरूपञ्च पाणिपादाद्यसंयुतम् ॥ तद्ब्रह्म परमं धाम तत् ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिणा । अशब्दगोचरस्यापि तस्य वै ब्रह्मणो द्विज । पूजार्था भगवच्छब्दः क्रियते द्यौपचारिकः” (विष्णुपुराण ६।५) अर्थात् जो अव्यक्त, अचिन्त्य, अज, अन्यय, अनिर्देश्य, अरूप, अपाणिपाद है, वह ब्रह्म है। वहाँ पहुँचकर मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञानो उस का चिन्तन द्वारा अनुसन्धान करते हैं। उसे शब्द द्वारा नहीं बतलाया जा सकता। (उन ज्ञानियों से सम्बन्ध रखना अज्ञों के लिए आवश्यक है। अन्यथा वे ज्ञानियों की तरह विचारानुसन्धान न कर सकेंगे। अज्ञजन कालक्रम से ज्ञानी होने पर बाद में नास्तिकों की तरह मूलतत्त्व को मूल जाते हैं, इसी आशङ्का से उसे स्मरण रखने के अनुकूल) पूजा के लिए उपचार-क्रम से 'भगवान्' यह नाम बनाया गया है।

हजार रूपों का बोझा लेकर रास्ता चलना कठिन है, इसलिए

हजार रूपों के नोट दिये गये। यह देखकर यदि कोई उन नोटों का ठीक, रूपया, गिन्नी की तरह व्यवहार करने जाय अर्थात् आग में गलाकर बाले, अङ्गुठी, हार आदि गढ़ाना चाहे, तो वह ठगा जायगा। उसी प्रकार विज्ञ की तरह, भगवान् की केवल पूजा न करके अज्ञ की तरह उन के दयामय, प्रेममय प्रभृति स्वभाव का निर्धारण करते हुए यदि अपना कर्तव्य स्थिर करना चाहे, तो क्या ठगे न जायेंगे? यदि ज्ञान-विचार ही करना हो, तो तत्त्व की ओर देखना ही उचित है। वैसे करते हुए पहले उन के 'भग' अर्थात् ऐसी शक्ति को एक ओर रखकर उस शक्ति के आधाररूप में यदि किसी सत्य वस्तु का अस्तित्व या नास्तित्व निश्चित हो, तो उस की विचार-मीमांसा ही करना होगा। मैं कहता हूँ 'भगवान्' प्रभृति चाहे कोई भी नाम हो, आस्तिकता का स्मरण रखना चाहिए। पर भगवान् को दयामय, प्रेममय बनाने जाकर, नोट गलाकर अलङ्कार न गढ़ाने लग जाना। 'भग' है जिस को, इस अर्थ में 'भग' शब्द के आगे 'वत्तुप्' प्रत्यय करके 'भगवत्' शब्द बना है। अर्थवान्, शक्तिमान् आदि की तरह इस से भगशाली का ही बोध होता है। भग छ प्रकार का है, जैसे—“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीहना” (विष्णुपुराण) अर्थात् समग्र ऐश्वर्य (ऐसी शक्ति), वीर्य, यश, श्रो, ज्ञान और वैराग्य। सब प्रकार की ऐसी शक्ति में जैसे सृष्टिकर्तृत्व और रक्षककर्तृत्व है, वैसे ही नाशककर्तृत्व भी समझना चाहिए। वे जैसे न्यायवान् हैं, वैसे ही अन्यायवान् भी हैं, जैसे दयामय पिता हैं, वैसे ही निर्दय शत्रु हैं, जिस प्रकार रसराज कृष्ण हैं, उसी प्रकार सर्वसंहारक काल भी है। भगवान् ने स्वयं 'गीता' में कहा है—“कालोऽस्मि लोकक्षय-कृत्” (१।१३२) में सर्व संहारकारी काल हूँ। “सदसच्चाहमर्जुन” (१।१९) हे अर्जुन! मैं सत् और असत्, दोनों ही हूँ। हमलोगों में जिसतरह रूपों के उपचार में नोट दिये जाते हैं, नोट के कागज मात्र का कोई मूल्य नहीं होता, भगवान् की आराधना को भी उसीतरह समझना चाहिए। नोट के कागज का मूल्य न होने पर भी, नोट रूपों की प्राप्ति का स्मारक लिपिस्वरूप होने के कारण कार्यक्षेत्र में व्यवहृत होता है, वैसे ही भगवान् स्वयं कोई वस्तु न होने पर भी उन के द्वारा भग (शक्ति) के आश्रयस्वरूप सत्य को लक्ष्य करने में, उस की उपासना से फल प्राप्त होता है। नोट के व्यवहार की प्रथा यदि सरकार बन्द कर दे, तो नोट का मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता, वैसे ही भगवान् से जो सत्य वस्तु लक्षित होती है, आजकल उधर लोगों का ध्यान नहीं है, अतः ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो गया है। अतएव भगवदाराधना की ओर लोगों की प्रवृत्ति भी नहीं है, अर्थात् बाजार में भगवान् का मूल्य गिर गया है। जिस समय ऐसा भाव नहीं था, उस समय 'करेन्ती आफिस' में भगवान् को भुनाकर ब्रह्म प्राप्त किया जाता था, उस समय 'भगवान् कृष्ण' कहने से ब्रह्म समझा जाता था, अतः षडैश्वर्य व्यक्ति का भगवान् कहकर आदर किया जाता था, जैसे भगवान् वशिष्ठ, भगवान् व्यास, भगवान् शङ्कराचार्य इत्यादि। आज यदि वह भाव रहता, तो 'महामहोपाध्याय' इस उपाधि की तरह 'भगवान्' यह एक उपाधि होती।

पहले 'भगवान् कृष्ण' कहने से जिसतरह ब्रह्म समझा जाता, यहाँ उस को कुछ आलोचना की जायगी। 'धनवान्' कहने से जैसे पहले धन का भाव और पीछे व्यक्ति का अस्तित्व सूचित होता है, वैसे ही 'भगवान् कृष्ण' कहने पर 'भग' या शक्तिस्वरूप कृष्ण (अन्धकार) अव्यक्त प्रकृति अर्थात् नास्तिक का शून्य पाया जाता है। इस के उपरान्त उसी कृष्ण (तमोमय शून्य) का अर्थात् आकाशनामक शक्ति का स्वामी तत्त्व ब्रह्म लक्षित होता है। किन्तु 'भगवती' कहने में वैसे उपचार नहीं है, क्योंकि शक्ति स्वभावतः पदैश्वर्यमयी अर्थात् भगयुक्त है। जगत् ही जव शक्तिमय है, तब

शक्ति क्या ऐश्वर्यमयी न होगी? मूल्यहीन कागज पर नोट बनता है, अतः नोट को रुपये का उपचार कहा जा सका, पर यदि दस रूपया मूल्य के सोने के पत्र पर दस रुपये का और सौ रूपया मूल्य के सोने के पत्र पर सौ रुपये का नोट बनता, तो उस नोट को उपचार न कहा जा सकता। वैसे ही भगवती (शक्ति) स्वयं ही भग्न अर्थात् षडैश्वर्य से युक्त है, इसलिए शक्ति के प्रति 'भगवत्' शब्द का प्रयोग करने पर 'भगवान्' की तरह उपचार नहीं होता, अपितु स्वयं सोने के पत्र पर बने नोट की तरह वह मूल्यवती है। शास्त्र में इस सम्बन्ध में लिखा है कि—
 "समृद्धिबुद्धिसम्पत्तिशलां वचनो भगः । तेन शक्तिर्भगवती भगरूपा च सा सदा ॥ तथा युक्तः सदात्मा च भगवांस्तेन कथ्यते । स च स्वेच्छामयः कृष्णः साकारश्च निराकृतिः ॥"
 (ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृतिखण्ड, अ० २) अर्थात् समृद्धि, बुद्धि, सम्पत्ति, यश प्रभृति का बोध भग शब्द से होता है। शक्ति में वही 'भग' विद्यमान होने के कारण उस का नाम 'भगवती' है। शक्ति केवल भगवती नहीं है, वह सर्वदा भगरूप ही है। सत् अर्थात् सत्यस्वरूप आत्मा में उसी शक्ति का योग होने से सत्य आत्मा 'भगवान्' कहा जाता है। वह भगवान् कृष्ण (अर्थात् अव्यक्त या तमोमय शून्य) स्वेच्छामय है, अतः उपादानरूप में वे निराकार—शून्य—एवं कार्यरूप में साकार—व्यक्त जगत्—है। इस तरह आस्तिक की दृष्टि में 'भगवान् कृष्ण' कहने से शक्तिशाली सत्य ब्रह्म कहा जाता है।

कृष्णत्व शिवलङ्घ के वैरस्थानीय है। उस के भीतर स्वयं-उद्योति सत्य का सन्निवेश समझना चाहिए। जैसे—“नमामि सत्यं तमसः परस्तात् ।” अर्थात् तम—कृष्ण—के भीतर स्थित सत्य को प्रणाम करता हूँ। अतएव उस तामसी शक्ति का प्राधान्य वर्णित है। ब्राह्मण गायत्रीमन्त्र में उसी की आराधना करके 'चरेण्यं भर्गः' कहकर शक्ति के चरम स्थान स्वप्रकाश ब्रह्म का दर्शन करते हैं। नोट की तरह का कागज बनानेवाला जैसे उस में नम्बर डालकर जाली नोट बनाता है, पर सोने के पत्र पर नोट बनाने पर उस में जाल करने की सम्भावना नहीं है, वैसे ही भगवती का जाल नहीं हो सकता, किन्तु भगवान् जाली बनाये जाते हैं।

(श्री स्वामी जी के लेखों को हम वही आदर की दृष्टि से देखते हैं, पर इधर जो लेख निकल रहे हैं, उन में कई अंश ऐसे हैं, जिन से बहुत भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है। यह लेख समाप्त होने पर उन अंशों पर विचार चलेगा। सं०)

वासनायुक्त और वासनाहीन में अन्तर

(श्री श्रीकृष्ण पन्त, साहित्याचार्य)

१

“वासनातन्तुबद्धा ये आशापाशवशीकृताः । वश्यतां यान्ति ते लोके रज्जुबद्धाः खिगा इव ॥ ये भिन्नवासना धीराः सर्वत्रासक्तबुद्धयः । न हृश्यन्ति न कुप्यन्ति दुर्जयास्ते महाधियः ॥ यस्यात्मवापनारज्जवा ग्रन्थिबन्धः शरीरिणः । महानपि बहुजोऽपि सं बालेनापि जीयते ॥ अयं सोऽहं ममेदं तत् इत्याकल्पितकल्पनः । आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ इयन्मात्रपरिच्छिन्नो येनात्मा भग्नभाविता ॥ स सर्वजोऽपि सर्वत्र परां कृपणतां गतः ॥ अनन्तस्याप्रमेयस्य येन-यत्ता प्रकल्पिता । आत्मनस्तस्य तेनात्मा स्वात्मनैवावशीकृतः ॥ आत्मनो व्यतिरिक्तं यत् किञ्चिदस्ति जगत्त्रये । यत्रोपादेयभावेन बद्धा भवतु वासना ॥ आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः । अना-स्थामात्रमभितः सुखानामाकरं विदुः ॥” [योगवासिष्ठ, स्थितिप्रकरण] अर्थात् जो लोग वासनारूपी रज्जुओं से बँधे हैं, आशापाशों से जकड़े हैं, वे लोग डोरी से बँधे हुए पक्षी के तुल्य दूसरे के वशीभूत रहते

हैं, किन्तु जिन धीर पुरुषों की वासनाएँ नष्ट हो चुकीं, जिन की बुद्धि कहीं पर भी आसक्त नहीं है, वे अजेय महामति पुरुष न तो किसी की श्लाघा आदि से हर्ष को प्राप्त होते हैं और न किसी के कटु व्यवहार आदि से कुपित ही होते हैं। जिस प्राणी के हृदय में वासनारूपी रस्ती की गाँठ हो, वह भले ही महान् से भी महान् क्यों न हो, बहुधा भी क्यों न हो, पर एक नन्हा सा बालक भी उस पर विजय पा लेता है। देह आदि ही मैं हूँ, यह जय-नराजय, पूजा, जीवन आदि मेरा है, इस प्रकार की कल्पनावाला पुरुष, जैसे सागर जलों का भाजन है, वैसे ही आपत्तियों का भाजन बनता है। जिस की, आत्मा केवल देहमात्र परिच्छिन्न है, ऐसी भावना हो गयी, वह सर्वज्ञ ही क्यों न हो, सर्वत्र दीनता को प्राप्त होता है। जिस ने असीम, अप्रमेय आत्मा की इयत्ता (परिच्छिन्नता) की कल्पना की, उस ने अपने से ही अपने को विवश कर लिया—संसागन्तर्ध से विह्वल कर लिया। यदि त्रैलोक्य में आत्मा से अतिरिक्त कोई वस्तु होती, तो उस में उपादेयरूप से वासना होती, पर वैसा तो कुछ है ही नहीं। अभिज्ञ पुरुष एकमात्र आसक्ति को अनन्त दुःखों की जननी कहति है और सब ओर से अनासक्ति को सुखों की खान बतलाते हैं।

ये वचन श्रीब्रह्माजी ने देववृन्दयुत देवराज इन्द्र से कहे थे। जिस प्रसङ्ग में इन का कथन हुआ, वह इस प्रकार है—महामायावी शम्बरसुर पाताल में राज्य करता था। वह अपनी माया से असम्भव को सम्भव बना डालने में सिद्धहस्त था। उस की विभूति असीम थी। उस ने आकाश में अपनी कल्पना से रचित सुन्दर नगरों के उद्यानों में असुरों के महल बना रखे थे। कृत्रिम सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल से उस का लोक सदा प्रदीप्त रहता था। ऋद्धि-सिद्धियों हाथ जोड़कर उस के आदेश की प्रतीक्षा करती थीं। असुर होने के कारण देवताओं के साथ उस का स्वाभाविक वैर था। उस ने अपनी विशाल वाहिनी से अनेक बार देवताओं को पराजित किया। एक बार सैर-सपाटे के लिए उस के देशान्तर चले जाने पर देवताओं ने मौका पाकर उस की सेना को छिन्न-भिन्न कर डाला। शम्बर ने जब यह समाचार सुना, तब उसे देवताओं पर बड़ा क्रोध आया। देवता फिर कभी ऐसे अवसरों से लाभ न उठा सकें, यह सोचकर उस ने अपनी सेना की रक्षा के लिए मुण्डी, क्रोध, द्रम आदि बलिष्ठ दैत्यों को नियुक्त किया। देवताओं ने अवसर पाकर उन्हें भी मौत के घाट उतार दिया। शम्बर बराबर नये नये सेनापतियों को नियुक्त करता था और देवता उन्हें मार डालते थे। इस से शम्बर के क्रोध की सीमा न रही। वह देवताओं का सर्वनाश करने की इच्छा से स्वर्ग में पहुँचा। उस की माया से भयभीत हुए देवता सुमेरु की गुहाओं और निकुञ्जों में जा छिपे। उस ने स्वर्ग को इन्द्र आदि देवताओं से शून्य पाया। पहले स्वर्ग को उस ने खूब लूटा। उत्तमोत्तम वस्तुओं को लूटकर एवं लोकपालों की रम्य नगरियों को जलाकर वह अपने लोक को लौट आया।

इस प्रकार देवता एवं दैत्यों का वैर और बद्धमूल हो गया। दैत्यों की एक न एक आपत्ति देवताओं के सिर पर सवार रहती थी। निदान देवताओं को मारे भय के स्वर्ग को त्यागकर अन्य दिशाओं की शरण लेनी पड़ी। किन्तु अवसर पाकर वे दैत्यों की वाहिनी पर प्रहार करने में भी चूकते न थे। देवताओं के उपद्रवों से शम्बर भी सुख की नीन्द नहीं सो सकता था। उस ने देवताओं के उपद्रव की शांति के लिए अपनी माया से दाम, ब्याल और कट नाम के महाकाय घोर दैत्यों की सृष्टि की। वे बड़े मायावी और महाबली थे। वे जो कुछ प्रभु की आज्ञा होती थी, उसे करते थे। एकमात्र चेतनाधर्म-वाले थे। उन के प्राक्तन कोई कर्म न थे, इसलिए वे न तो पूर्वसिद्ध जीव ही थे और न उन में वासना ही थी। वासना और अभिमान से हीन होने के कारण वे न तो युद्ध के समय शत्रुओं के अभिमुख आगमन को ही जानते थे, न शत्रुओं के अकस्मात् आक्रमण को

कुछ गिनने थे, न भागना जानते थे, न जीवन जानते थे, न मरण जानते थे, न युद्ध जानते थे और न जय-पराजय ही जानते थे, केवल सामने प्रहार करने के लिए खड़े शत्रुओं को ही जानते थे और रणभूमि में शत्रुओं पर प्रहार करना जानते थे। अपने नये सेनापतियों के वृत्त से शम्बर को बड़ी प्रसन्नता हुई। उस ने सोचा कि मायानिर्मित इन दैत्यों से सुरक्षित मेरी सेना अवश्य विजयी होगी। दाम, ब्याल और कट के सेनापतित्व में उस ने अपनी सेना देवताओं के साथ लड़ने के लिए भेजी। तुमुल देव-दानव-सङ्ग्राम हुआ। रक्त की नदियाँ बह गयीं। शवों से लोक भर गया। दैत्यों के पराक्रम के आगे मुर टिक न सके। क्षत-विक्षत अङ्गवाले देवता अपने प्राण लेकर बाँधरहित जल के समान भाग निकले। दाम, ब्याल और कट ने चिरकाल तक उन का पीछा किया, पर उन को न पाकर वे पाताल को लौट गये।

देवता भी विपत्ति से विषण्ण होकर ब्रह्मा जी के समीप गये। उन को उन्होंने न शम्बर से आयी हुई सब विपत्तियाँ सुनायीं। ब्रह्मा जी ने सारा वृत्तान्त सुनकर क्षणभर विचार किया और देवताओं से आश्वासनपूर्ण ये वचन कहे—“अमरश्रेष्ठो! एक हजार वर्ष के उपरान्त भगवान् श्रीहरि के हाथों शम्बर का नाश होगा। तबतक आपलोग दानवों को कपट युद्ध से लड़ाते हुए भागें। युद्ध के अभ्यास से, दर्पणों के भीतर प्रतिबिम्ब की तरह, उन में अहङ्कार की उत्पत्ति हो जायगी। उस से वासनावान् होकर ये दैत्य सुजेय हो जायेंगे। इस समय तो ये लोग वासनाशून्य और सुख-दुःख से रहित हैं। धैर्य के साथ शत्रुओं का विनाश कर रहे हैं। इस समय इन पर विजय पाना बड़ा कठिन काम है। जबतक दाम, ब्याल और कट इस संसार में आसक्तिरहित हैं, तबतक जैसे मच्छरों के लिए अग्नि अजेय है, वैसे ही वे आपलोगों के लिए अजेय हैं। देह आदि में ‘अहम्’ भाव को ग्रहण करानेवाली वासना से ही जीव जीता जा सकता है, अन्यथा तो मच्छर भी अमर और अचल है। इसलिए हे देववृन्द! जिस उपाय से दाम, ब्याल और कट का अन्तःकरण वासनायुक्त हो, वैसा उपाय कीजिये। इस संसार में लोगों को जो विविध विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं, जो जीवन, मरण आदि अवस्थाएँ भोगनी पड़ती हैं, वे सब तृष्णारूपी करञ्जलता की कड़वी चौर हैं। वासना ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यों दुःख भी बढ़ता जाता है, ज्यों ज्यों वासना का उच्छेद होता जाता है, त्यों त्यों सुख की प्राप्ति होती है। पुरुष कितना ही धीर क्यों न हो, कितना ही बहुभुत क्यों न हो, कितना ही कुलीन क्यों न हो, महान् से महान् क्यों न हो, वासना से वह ऐसा बाँधा जाता है, जैसे शृङ्खलाओं से सिंह बाँधा जाता है। यह वासना देहरूपी वृक्ष में स्थित जीवरूपी पक्षी के लिए वायुरा (जाल) है। जैसे बच्चे रस्ती से बाँधे हुए पक्षी को जहाँ चाहते हैं, ले जाते हैं, वैसे ही लोगों को काल वासना द्वारा जहाँ चाहता है, खींच ले जाता है। यदि हृदय में अक्षुभित धैर्य हो, तो शस्त्र-अस्त्र, नीतिशास्त्र कोई भी नहीं जीत सकते।”

देववृन्द को उपदेश देकर ब्रह्मा जी अन्तर्हित हो गये। देवताओं ने दाम, ब्याल और कट में वासना की उत्पत्ति होनेतक चिरकालपर्यन्त उन के साथ कपट युद्ध किया। तीस वर्षों के लम्बे युद्ध में देवता असुरों से कभी सन्धि कर लेते, कभी चढ़ाई कर देते, कभी भाग निकलते, कभी दैत्यों के आगे घुटने टेक देते और कभी अन्तर्हित हो जाते थे। इतने लम्बे असें से अहङ्कार का दृढ़ अभ्यास होने के कारण वासनाग्रस्तचित्त हुए दाम आदि ने अहङ्कार का ग्रहण किया। जैसे निकटस्थित वस्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही वे भी अभ्यासवश अहङ्कारयुक्त हो गये। जब दाम आदि, अहङ्कार ही आत्मा है, ऐसी वासनावाले हो गये, तब मेरा जीवन, मेरा धन, इस दीनता ने उन्हें आ घेरा। पहले वे विहित-निषिद्ध प्रवृत्ति की वासना से ग्रस्त हुए, फिर उन्हें, हमारा शरीर कैसे नीरोग,

दृढ़, भागयोग्य हो, इस मोहवासना ने, आ घेरा। वासना ने उन के धैर्य को विलीन कर दिया। वासनायुक्त होने के कारण उन के शरीर में पहले का सा बल न रहा, उन में पहले जो प्रहारपरता थी, वह परिमार्जित होकर शीघ्र ही कहीं चली गयी। इस जगत् में हम कैसे अमर हों, इस चिन्ता के वशीभूत होकर वे दीन-होन हो गये। अब उन्हें रण की चिन्ता न थी। जैसे परस्पर लड़ रहे खूँखार हाथियों से भरे हुए वन में हरिण अपना जी बचाने का प्रयत्न करता है, वैसे ही वे रण में अपने प्राण बचाने के लिए प्रयत्नशील हुए। हम मर जायेंगे, इस चिन्ता से वे रण में धीरे धीरे घूमने लगे। निर्वासनावस्था में देवता जिन के संमुख खड़े नहीं हो सकते थे, सवासनावस्था में उन को देवताओं ने रौंद डाला। देवताओं की ललकार से वे रणाङ्गण से भाग निकले। उन के भागने पर सारी असुरसेना तितर-बितर हो गयी। वासनावश उन की और जो जो दुर्दशाएँ हुई, उन का दिग्दर्शन कभी दूसरे लेख में किया जायगा।

श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण

(श्री सदाशिव कृष्ण फड़के)

१

आधुनिक साधकों की अड़चनें या शङ्का और उस का उपाय-चिन्तन अथवा समाधान, इस मूलभूत विषय पर की अपनी लेखमाला के ‘दत्त-दृष्टिमेद’ इस लड़ी को विस्तार-भय से जल्दी जल्दी गूँथकर और उस का अन्तिम भाषण प्रायः घटाकर मैं ने अपनी माला को कुछ ही दिन हुए पूरी किया। इस के उपरान्त, मुझे ऐसी कल्पना भी नहीं थी कि इतनी जल्दी मुझे फिर उसे हाथ में लेना पड़ेगा, किन्तु ‘सिद्धान्त’ के विश्व एवं रसिक पाठकों की ओर से विद्वान् सम्पादक महोदय की सूचना प्राप्त होने से माला के उपर्युक्त सूत्र को फिर से हाथ में ले रहा हूँ। सम्पादक जी का कहना है कि आप के लेख निबन्धरूप में अर्थ, तो अच्छा है, क्योंकि ‘सिद्धान्त’ में कहानी निकालने का नियम नहीं है। मेरे पहले के बहुत से लेख निबन्धरूप में ही हुआ करने थे, पर आगे चलकर किन्हीं कारणों से नमूने की तौर पर आख्यानक-पद्धति का आरम्भ किया। वही मुझे, पूर्वोत्तरपक्ष एवं विविध मूर्तों की छटाओं को उपन्यस्त करने में, सुविधाजनक तथा मनोरञ्जक प्रतीत होने लगी, इसलिए वह अब जल्दी ही छूट जाय, ऐसा नहीं दिखलायी पड़ता। फिर भी मेरे कल्पित आख्यान में विचार का ही प्राधान्य रहता है, इसे ध्यान में रखते हुए, मुझ से ‘सिद्धान्त’ के नियम का थोड़ा भङ्ग होता हो, तो इसके लिए मेरे प्रिय सम्पादक, पाठकस्वर्ण मुझे क्षमा कर अग्रिम लेखमाला की ओर ध्यान देने की कृपा करें।

श्रीभगवत्पूज्यपाद श्रीमत् शङ्कराचार्य जी के (साहित्य) मन्दिर के चारों ओर चक्कर लगानेवाले (बुद्धिवादसम्बन्धी) अनेक-विध वाहनों की बढ़ती जानेवाली आवाजाही से उड़कर आनेवाली (तर्क-कुतर्कों) की धूल-गर्द, हो सके तो समय समय पर झाड़ डाली जाय, ऐसा सेवाधर्म मैं ने अपने आप स्वीकार किया था। आज आचार्य-जयन्ती होने के कारण मैं घड़ीभर (मोहरूप) रात बाकी रहते ही, (शङ्कारूप) झाड़ू लेकर मन्दिर के पास आया। वहाँ मुझे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि उतनी रात में भी कोई एक आधुनिक साधक पूज्यपाद की पादुका के आगे, बाहर के सर्भामण्डप में, घुटने टेककर और हाथ जोड़कर आचार्य-पादुका से ज्ञान-

मिक्षा की याचना कर रहा है। उस आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर मैं चकित हो गया, अपने हाथवाली (शङ्खा की) संसाजनी को स्वस्तिकाकृति अपने हाथों से हृदय के पास लटकती हुई पकड़े हुए मैं उस आचार्यचरणों के (साहित्य) मन्दिर के महाद्वार के पास ठिठककर खड़ा रहा और एकाग्रतापूर्वक उस (प्रबोध) प्रातःकाल के एकान्त के साथ तन्मय हो गया। द्रष्टा अपना स्वरूप भूलकर जैसे दृश्य से, ही तादात्म्यभावपन्न हो जाय, वैसे ही मानो वह जयन्ती-दिवस का उषःकालरूप साधक अथवा साधकरूप एकान्त उषःकाल का आचार्य की पादुका से जो सम्भाषण हुआ, उस से मैं बड़ीभर तन्मय हो गया। उस साधक ने कहा—

“हे दीनवत्सल जगद्गुरु! अज्ञानतिमिर का नाश करनेवाले हे ज्ञानसूर्य! बारह घण्टे की (मोह) रात्रि के उपरान्त जैसे (ज्ञान) सूर्योदय हो, वैसे ही त्रिविध ताप से प्रस्त प्रपञ्चान्तर्गत बारह मास के उपरान्त आप का जयन्ती-समय आज प्राप्त हुआ है। परन्तु, अदितिरूप आकाश के उदर से जन्म लेनेवाला वह प्रकाशदित्य सन्धि-प्रकाश से ऊपर आते हुए समस्त अज्ञान-सुज्ञानों को जैसे सहज हो दिखलायी पड़ता है, वैसे आप के जयन्ती-काल में आप के जयजयकार में उड़नेवाले कुसुमगुणों और गुलाल में आप की मूर्ति मुझ जैसे को नहीं दिखलायी पड़ती। हे सद्गुरु! ‘आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम्’ ऐसी भावना-रूप आकाश में होनेवाला आप का साक्षात्कार किसी के लिए सम्भवनीय मान लिया जाय, तो भी उस दृष्टि से रहित मुझ उलूक को, हे ज्ञानगर्वे! आप भला किसतरह दिखलायी पड़ेंगे? परन्तु आप यद्यपि मुझे साक्षात् दिखलायी न पड़ रहे हों, तथापि अपने भाग्यवान् तथा भावुक सद्भक्तों के हृत्कासार में, प्रेम का ज्वर लाने के लिए अमावास्या के अदृश्य चन्द्रमा की तरह आप आज जयन्ती-काल में अपने ही इस स्मारक मन्दिर में आकर कदाचित् उपस्थित हों, ऐसी साक्षाद्धारणा से मैं सम्भाषण करना चाहता हूँ। इसे सुनकर मुझे निःशङ्क कीजिये।

“हे आचार्य! स्वात्मभूत आत्मा का अनुशासन सद्गुरु को ही करना पड़ता है—‘आचार्यवान् पुरुषो वेद’ ऐसा आप ‘कठ’, ‘छान्दोग्य’ आदि उपनिषदों के भाष्य में बतलाते हैं, किन्तु आजकल गुरुङ्ग (बोवावाजी) पर आधुनिक टीकाकारों को उठयी हुई आँधी में—सच्चा श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु कौन—इस का पता नहीं चलता। उस में भी ‘यस्यामतं यस्य विदिदिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्य, अमृतमविज्ञातमविदितं ब्रह्मेत्यात्मतत्त्वनिश्चयफलावसानावबोधतया विविदिषा निवृत्तत्यभिप्रायः, तस्य मतं ज्ञातं तेन विदितं ब्रह्म येनाविषयत्वेन आत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः’ इत्यादि अपने ‘केन-भाष्य’ से—कोई एक विद्वान् पण्डित सच्चा श्रोत्रिय हो, तो भी वह सच्चा ब्रह्मनिष्ठ भी होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एवञ्च सर्वथा अविषयरूप ब्रह्म उपदेश का विषय भी किसतरह होगा? ऐसी स्थिति में आप्त-वचन का महत्त्व और प्रामाण्य क्या रह गया? ब्रह्म अनुभव का विषय नहीं, तर्क का विषय नहीं, बुद्धि का विषय नहीं और आप्त-वचन का भी वास्तविक विषय नहीं है, फिर वह ब्रह्म अज्ञेय ही सिद्ध होता है और वह अज्ञेय न होगा, इस सम्बन्ध का सारा युक्तिवाद परोक्ष ही सिद्ध होता है, उस का क्या महत्त्व? तात्पर्य यह कि वह ज्येष्ठ वस्तुतः यदि अज्ञेय हो, तो छोटे बच्चे के मुँह में दी हुई चुसनी की तरह, उस के लिए होनेवाला समूचा साधनमार्ग ही जीव के लिए धोखा प्रमाणित होगा।

“हे आचार्य! आधुनिककालीन ही यदि एक सुप्रसिद्ध दृष्टान्त देना हो, तो स्वामी विवेकानन्द ने अपने सद्गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस से पहली मुलाकात में ही पूछा कि “आप ने ईश्वर को देखा है

क्या?” इस पर उन्होंने न कहा—“हाँ, उसे मैं ने देखा है। इतना ही क्यों? उसे मैं तुझे भी दिखलाऊँगा।” परन्तु “विज्ञातमविज्ञान-ताम्” इस केनश्रुति के अनुसार क्या इसे श्रीरामकृष्ण का व्यर्थ घमण्ड ही समझा जाय? या केनश्रुति के लक्ष्यार्थ निगुण ब्रह्म तथा श्रीरामकृष्ण के इष्ट सगुण ईश्वर को भिन्न समझा जाय? परन्तु श्रीरामकृष्ण परमहंस सगुण-साक्षात्कारी हों, तो भी स्वामी विवेकानन्द की प्रखर विवेचक बुद्धि ईश्वर के उद्योतिर्मूर्तिरूप सगुण साक्षात्कार से सन्तुष्ट हो जानेवालों कदापि नहीं थी, यह बात उन के जीवन-चरित्र से स्पष्ट दिखलायी पड़ती है, फिर जैसे स्वप्न की बातें झूठी होती हैं, वैसे ही इन सब सत्पुरुषों के चरित्रों की अथवादात्मक या झूठ ही समझा जाय क्या? इस जगत् में मैं जब अनेक विद्वान्, संन्यासी, साधु, पौराणिक, कथावाचकों को माया-ब्रह्म का विवरण करते हुए देखता हूँ, एवञ्च ‘अद्वैतसिद्धि’ ऐसे अनेक वेदान्तग्रन्थों का भी जब अवलोकन करता हूँ, तब यह केनश्रुति मेरे कान में ऐसा विकल्प उत्पन्न करती है कि विषयरूप ब्रह्म को विषयभूत करनेवाली यह सब आत्मपर-वञ्चना तो न होगी?

“अब ‘गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्’ ऐसा यों ही समाधान के लिए सोच लें, तो भी मौन की मानसिक क्रिया करनेवाले गुरु अपने व्यक्तित्व से विद्यमान होने ही चाहिएँ। परन्तु इस पर हे प्रभो! इस से भी बलवत्तर दूसरी यह शङ्का उठती है कि जो स्वयं ही बद्ध हैं, वे दूसरे को मुक्त कर नहीं सकते और जो मुक्त हैं, वे व्यक्तित्व से अवशिष्ट ही न रहेंगे। सर्वज्ञात मुनि और प्रकाशानन्द ऐसे प्रसिद्ध वेदान्ती बतलाते हैं कि जीवन्मुक्ति अथवा मुक्त का व्यक्तित्व सम्भव हो नहीं है। आप अपने ‘तदुक्तं श्रुत्या अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत इति शरीरं पतितं अशरीरत्वं स्थान्न जीवत इति चेन्न’ (१११४) इस सूत्रभाष्य में जीवन्मुक्त को अशरीरी ही बतलाते हैं। सर्प से परित्यक्त केंचुल हवा से इधर-उधर उड़ती है, उसे सर्प का इतस्ततः चलन-चलन नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः अविद्यात्मक शरीरभाव अविद्यानाश के बाद किस तरह रहेगा? ‘ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति’ यह ब्रह्मसिद्धान्त क्या जीवन्मुक्त के व्यक्तित्व को असम्भवनीय ही सिद्ध नहीं करता? कदाचित् ऐसा मान लें कि जीवन्मुक्त के आत्मज्ञान से उस के अज्ञान का नाश होता है, अज्ञानकार्य शरीर का साक्षात् नाश नहीं होता। जली हुई रस्सी की तरह उस की आकृति रह ही जाती है या छूटे हुए बाण की गति की तरह प्रारब्धगति की समाप्ति तक जीवन्मुक्त का शरीर और उस की क्रिया सम्भव है तथा ऐसा जीवन्मुक्त जगत् की ओर मृगजल की तरह मिथ्यात्व-निश्चय से ही देखता है, इस अचिन्त्य युक्तिवाद को मान लें, तो भी ऐसे मुक्त पुरुष के शरीर से—सर्प से त्यक्त केंचुल की तरह—अबुद्धिपूर्वक या यहच्छा से होनेवाली उपदेश आदि चेष्टाओं को प्रमाणभूत कैसे माना जाय? मुक्त में अविद्यालेश माने बिना कर्म किस तरह होंगे? और अविद्यालेश मानने पर उस शरीर से होनेवाले उपदेश या ग्रन्थलेखन को—अविद्यजन्य होने से—प्रमाण कैसे माना जाय? सारांश यह कि जीवन्मुक्त या विदेह-मुक्त ब्रह्मरूप हो जाने के कारण वह उपदेश देने के लिए अवशिष्ट रह ही नहीं जाता। नमक को मछला समुद्र से मिल जाने पर पृथक् रूप से कैसे रहेगा? इसीतरह ब्रह्मनिष्ठ गुरु की विद्यमानता तीनों काल में असम्भव स्थिर हो जाने पर आप ऐसे भूतार्थरूप हुए ऐतिहासिक पुरुष से साक्षात्कार की, उपदेश की या मार्गदर्शन की अपेक्षा करना क्या व्यर्थ ही सिद्ध नहीं होता? महाराष्ट्रीय सन्त श्रीसमर्थ रामदास तो स्पष्ट कहते हैं कि “गत ज्ञात्या चे चमत्कार, या नांव भ्रम।” अर्थात् विगत ज्ञानी के चमत्कार को भ्रम समझना चाहिए।

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

(यह स्तम्भ विचार-विनिमय के लिए है)

भारतीय शासनविधान-योजना

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)

२

कई लोगों को यह धारणा है कि हमारी संस्कृति को सब के आगे सर्वोत्तम प्रमाणित करने के बाद हमलोगों के साम्राज्य की योजना होनी चाहिए। परन्तु यह तो वैसी बात है, जिस में आदर्श-प्रेम है, पर वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं है। उस के लिए महाभागण या ईश्वर का अंशवतार भी शायद ही पर्याप्त हो सके। हमारी शास्त्रीय सूचनाएँ भी इस का समर्थन नहीं करतीं। हमें यह विदित है कि इस युग में धर्म का ह्रास है और हमलोगों का जितना भी कुछ है, उतने भी धर्म के छिन्नभिन्न करने का डङ्का न बजे, तो यही बहुत है। यह ‘शासनविधान-योजना’ वस्तुस्थिति की दृष्टि से अधिक स अधिक व्यवहारयोग्य तथा सब को न्यायप्राप्त होने के आधार पर रची गयी है। यह योजना इस आधार को स्वीकृत करके अग्रसर होती है कि इस समय अनेक विभिन्न संस्कृतियाँ भारतवर्ष में विद्यमान हैं और उन का नाश या समूल परिवर्तन अभी वा निकट भविष्य में सम्भव नहीं है, उन सब में कुछ न कुछ उत्तम तत्त्व हैं, अतः उन उन के अनुयायियों के लिए उन्हें, उन की उचित रीति से स्वीकृत एवं सुरक्षित करना उचित है। भारत में पूर्ण हिन्दूराज या सनातनी राज बना देना इस योजना का उद्देश्य नहीं है, क्योंकि शक्यताओं के भीतर विधान बनाने का इस योजना का हेतु है। फिर भी शक्यता का अभिप्राय सरलता या लोगों के बनावटी बहुमत की स्वच्छन्दता नहीं, अपितु यह योजना उस शक्यता का स्वीकार करती है, जो न्यायी, धार्मिक विचारकों के सबल तथा सहकारी प्रयत्नों से सिद्ध की जा सके। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि हिन्दू संस्कृति के मौलिक तत्त्वों—वर्णव्यवस्था, अवतार, स्पर्शास्पर्श, खाद्यखाद्य-विवेक आदि—को तो एक आर स उल्टा देना और दूसरी ओर हिन्दूसाम्राज्य की बाँग देना, इन में मौलिक असङ्गतता है। हमलोगों के अच्छे से अच्छे काल में भी धर्मविरोधी पक्षों तथा दलों का हिन्दुस्तान में अस्तित्व था ही। हिन्दुस्तान में जिसतरह हिन्दू, मुसलमानी और सिख राज हो सकते हैं, उसीतरह वैसे जिले हो सकें, इस में न होने योग्य कोई बात नहीं है। वस्तुतः धर्म ही—धरा की अपेक्षा भी—अधिक संरक्षणीय है, इस सिद्धान्त में हमारे शास्त्र भी उपकारक हैं। इस में बाधक सत्तालोभ, राज्यलोभ है। तत्त्व की ओर दृष्टि रखनेवाले हिन्दुओं के लिए ऐसे प्रलोभन आधार-रूप में मान्य न होने चाहियें, क्योंकि वे यह जानते हैं कि “यः शास्त्रविधिमुस्त्युज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥” और वे यह देख भी सकते हैं कि मुसलमान लोग धर्म के झण्डे से कितना अधिक ऐक्य, शक्ति और सङ्गठन कर सके हैं। राणा प्रताप, शूरवीर बिजाजी और विक्रमादित्य में प्रेरक तत्त्व धर्म था और राजसत्ता तथा कीर्ति केवल उस के फलितार्थ रूप थे। हमारा राजनीति का यही रहस्य है और इसी विषय की ओर ध्यान आकृष्ट कर यहाँ विचार किया गया है।

उपयुक्त लेख लिखे जाने के उपरान्त ‘सिद्धान्त’ अङ्क ७ में श्रीनारायण सदाशिव पराण्डे जी का, इस योजना के सम्बन्ध में, आलोचनात्मक लेख आया, उसे पढ़कर प्रसन्नता हुई, क्योंकि उस का हार्द हमारे अभिप्राय से ही मिलता है। विद्वान् लेखक का कथन

है कि “पाकिस्तान की माँग अलग रहने के लिए नहीं है”। भावार्थ यह है कि यदि अलग रहने जायें, तब तो ठीक है। वस, यह योजना भी यही कहती है। लेखक की व्याख्या के अनुसार ही ‘पाकिस्तान’ इस योजना में नहीं है, क्योंकि इस योजना में स्पष्ट शब्दों में “पृथक् निवासस्थान के लिए विरोधरहित नीति” का समर्थन है। ‘पाकिस्तान’ का नाम भी योजना में नहीं है, अतएव वस्तुतः देखा जाय तो ‘पाकिस्तान’ की माँग का इस में उत्तर है। ‘पाकिस्तान’ का समर्थन न तो हम ने किया है, न यह शासन-योजना ही करती है। मुसलमानों के मन में क्या है, इस का विद्वान् लेखक ने पृथक्करण किया है। उन के मन में क्या है, यह तो ईश्वर जाने, हमें तो इतना जानते हैं कि धर्म के आग्रह से वह सारी जाति एक हो गयी है और हमारी जाति अन्यान्य आग्रहों से इतनी शीर्ण हो गयी है कि धार्मिक हिन्दू—सनातनियों—की राजनीति में कोई गणना ही नहीं रह गयी है। ‘यवनस्थान’ के सम्बन्ध में तो इतना ही कहना है कि जब सारा भारत प्रायः यवनस्थान सा बनता जा रहा है, तब उस का एक बड़ा भाग प्रायः हिन्दुओं के निवासरूप पवित्र धर्मभूमि बन जाय, तो किस को दुःख होगा? समूहों के स्थानान्तरसम्बन्धी विचार तथा योजनाएँ (रीपेट्रीएशन, ट्रांसपेट्रीएशन आदि) अब तो प्रसिद्ध हैं और उन में कुछ असम्भव सा नहीं है। विद्वान् लेखक का कहना है कि “हम को भूमण्डल पर कहीं स्थान ही न रहेगा।” किन्तु धर्म का यदि हमें आश्रय हो, तो ऐसा भय रखने की आवश्यकता नहीं है। इस के सिवा ‘एक तरफा’ ‘सिर फुडौवल’ हमें अनिष्ट है, सामने डटक युद्ध करने से हम नहीं डरते। लेखक महोदय मुझे कहने देंगे कि अमत्सम्पर्क का तो हमारे शास्त्र ही निषेध करते हैं। शासनाधिकारसम्बन्धी जटिल प्रश्न में अभी उतरने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लोकशासनवाद के नीचे इस समय भी शासनाधिकार में सभी जातियाँ भाग ले रही हैं। इस योजना की आलोचना में सिन्ध आदि के अत्याचारों के दृष्टान्त देना उचित नहीं है, क्योंकि इस में सम्पूर्ण शासन-पद्धति ही रूपान्तरित हो गयी है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि हमलोगों के शासनविधान में पृथक् निवास-स्थान विध्यात्मक रूप में नहीं है। जैसे हिन्दूराज्यों में होता है, वैसे हिन्दूप्रान्तों में गोवध बन्द क्यों न हो सके? हमें राजनीतिक क्षेत्र में असली लड़ाई तो पाश्चात्य जड़वाद के खिला ऐसे विचार तथा सिद्धान्तवाली कार्यवाहियों से लड़ना है, जातियों से नहीं। आलोचना करनेवाले विद्वान् योजना की शब्दावली पर ध्यान रखकर सिद्धान्त-विषयक समीक्षा करेंगे, तो मैं आशा करता हूँ कि चर्चा अधिक आनन्दप्रद होगी।

विषय - सूची

विषय	पृष्ठः
१—परस्पर विरोधिनी बातें (सम्पादकीय)	... ८१
२—श्री विष्णुतत्व २ (श्री स्वामी करफत्री जी)	... ८२
३—आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम २ (श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)	... ८३
४—वासनायुक्त और वासनाहीन में अन्तर १ (श्री श्रीकृष्ण पन्त, साहित्याचार्य)	... ८५
५—श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण १ (श्री सदाशिव कृष्ण फड़के)	... ८६
६—भारतीय शासनविधान-योजना २ (श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)	... ८८

प्रकाशक—श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

मुद्रक—कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

सिद्धान्त

“जयति रघुवंशतिलकः कोशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क १२

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी]

काशी—आषाढ़ कृष्ण ३० सं० २००१
मङ्गलवार, ता० २० जून, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
{ विशेष ५), एक प्रति का -)

“समय” चूकें पुनः का पछिताने”

‘उत्तराधिकार बिल’ पर मत देने की अन्तिम तारीख भारत-सरकार ने जून १ रखी थी। प्रान्तों में तो कहीं १५ और कहीं ३० अप्रैल ही रखी गयी थी। इन तारीखों के निकल जाने पर बहुतों को ऐसा खयाल हो गया कि इन के बाद भेजे हुए मतों को सुनवाई न होगी। फलतः जो ‘बिलविरोधी आन्दोलन’ जोर पकड़ रहा था, बहुत कुछ शिथिल पड़ गया। तब भी कुछ न कुछ कार्य चलता ही रहा और सरकार से सनातनी संस्थाओं की ‘संयुक्त-समिति’ द्वारा मत देने की अवधि बढ़ाने के लिए बराबर लिखा-पढ़ी होती रही। अब सरकार ने यह अवधि आगामि १२ जुलाई तक बढ़ा दी है। यह हमारे यहाँ तक के आन्दोलन का ही फल है। यदि बराबर आन्दोलन जारी रहे, तो अन्ततः सरकार को अवश्य दबना पड़ेगा। अभी तक जो कुछ कार्य हुआ है, वह नहीं के बराबर है। सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार भारत में हिन्दुओं की संख्या २० करोड़ से कुछ अधिक ही है। इन में मुद्दीभर नवशिक्षित सुधारवादियों को छोड़कर बाकी सब सनातनी हिन्दू ही हैं। यदि वे सब एक स्वर से विरोध करें, तो उस के प्रतिकूल जाने का किस को साहस पड़ सकता है? परन्तु अधिकांश हिन्दुओं को इन धर्मविरोधी बिलों का पता तक नहीं है। यदि सरकार सचमुच इन बिलों पर लोकमत जानना चाहती है, तो उसे इन का पूरी तरह प्रचार करना चाहिए था। परन्तु उस ने उन को प्रान्तीय गजटों में छापकर ही संतोष कर लिया। जो संस्थाएँ प्रचार करना चाहती हैं, उन्हें भी वह समुचित सुविधाएँ नहीं दे रही है। हमारे मार्ग में कितनी अड़चनें हैं, इसे हम कई बार दिखला चुके हैं। पर हमें हताश न होना चाहिए और अपना प्रयत्न बराबर जारी रखना चाहिए।

यद्यपि ‘आर्यसमाज’ और ‘हिन्दू महासभा’ की ओर से इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत प्रकाशित नहीं हुआ है, तथापि हमें हर्ष है कि दोनों संस्थाओं की कई शाखाएँ तथा बहुतेरे सदस्य इस सम्बन्ध में सनातनियों के साथ पूरा सहयोग कर रहे हैं। ‘आर्य-समाज’ के प्रमुख पत्र ‘आर्यमित्र’ ने अग्रलेखों द्वारा आर्यसमाजियों का ध्यान इन बिलों के घातक परिणामों की ओर आकृष्ट किया है। इधर देशी राज्यों के हिन्दू भी अपना मत प्रकट करने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। उन को इस के लिए अवसर न देना केवल उन्हीं के साथ नहीं, समस्त हिन्दुओं के साथ अन्याय है। हमें ज्ञात हुआ है कि ‘राजस्थान क्षत्रिय महासभा’ इस ओर ध्यान दे रही है और आगामी जुलाई में अलवर में होनेवाले अपने वार्षिक अधिवेशन में इस पर पूर्ण रूप से विचार करने जा रही है। महाराणा उदयपुर, अलवर-नरेश भी इन बिलों के भयावह परिणामों से चिन्तित हो

रहे हैं। यदि हिन्दू-नरेश इस में हमारा साथ दें, तो हमारा पक्ष बड़ा प्रबल हो सकता है।

‘अखिल भारतीय धर्मसङ्घ’ की कार्यसमिति ने अपनी गत बैठक में सङ्घ के चतुर्थ वार्षिक महाधिवेशन के अवसर पर कार्तिक के अन्त में एक ‘अखिल भारतीय हिन्दू कोडविरोधी सम्मेलन’ काशी में आमन्त्रित करने का निश्चय किया है। इस के लिए अभी से तैयारियाँ शुरू हो गयी हैं। उस की सफलता जनता के सहयोग पर निर्भर है। यह भी निश्चित हुआ है कि आगामी श्रावण कृष्ण (९ जुलाई) को सारे देश में ‘हिन्दू कोडविरोधी दिवस’ मनाया जाय, जिस में गांव गांव, नगर नगर, मुहल्ले मुहल्ले में जुलूस निकाले जाय, सभाएं करके ‘राव कमेटी’ तथा बिलों के विरुद्ध प्रस्ताव पास किये जाय, विरोधपत्रों पर अधिकाधिक संख्या में हस्ताक्षर कराये जाय और उस की सूचना प्रान्तीय सरकारों को भेजी जाय। उक्त तिथि पर दिवस तो मनाना ही चाहिए, पर केवल उसी तक अपना काम सीमित नहीं रखना चाहिए। यह कार्य तो प्रतिदिन चलते रहना चाहिए। सुविधासुसार कहीं न कहीं सभाएं होती रहना चाहिए और विरोधपत्र पर हस्ताक्षरों का काम बराबर जारी रहना चाहिए। प्रतिदिन प्रस्तावों और विरोधपत्रों की सरकार पर ऐसी भरमार होनी चाहिए कि जिस की मार से उस की मोह-निद्रा कुछ भङ्ग हो सके। यह ध्यान रहे कि सुधारवादियों के बल पर सनातनी हिन्दुओं को सरकार की यह खुली चुनौती है। यदि हम इस का उचित उत्तर न दे सके, तो फिर हमें यह कहने का भी अधिकार न होगा कि हमारी अवहेलना की जा रही है। यह हमारी राजनीतिक उदासीनता का फल है कि बहुसंख्यक होते हुए भी हमारी कोई सुनवाई नहीं होती। जिन्हें अपने को हिन्दू कहने में भी सन्देह होता है, हमारी असावधानी से वे ही हमारे प्रतिनिधि बनकर धारासभाओं में पहुँच गये हैं। बिलविरोधी आन्दोलन द्वारा हम राजनीतिक दृष्टि से जनता को जागृत कर सकते हैं कि जिस में वह चुनाव के अगले अवसरों पर ऐसे प्रतिनिधियों को भेजने की भूल न करे। ‘यूनिस्पल चुनाव’ हमारे सिर पर ही खड़ा हुआ है। इस सम्बन्ध में भी हमें अपनी नीति निश्चित करनी है। आधुनिक चुनाव लोकमत प्रकट करने की गन्दी पद्धति है, परन्तु परिस्थितियों से विवश होकर हमें भी कीचड़ उछालना पड़ेगा। यदि हम ऐसा नहीं करते, तो हमारी बात कोई सुनेगा भी नहीं और जीवित रहते हुए भी हम मरे ही माने जायेंगे। भगवान् से यह प्रार्थना करते हुए कि वह शुभ दिन शीघ्र ही आवे, जब हमें शुद्ध सनातनी शासन में रहने का सौभाग्य प्राप्त हो, उस दिन की प्रतीक्षा में हम निष्क्रिय, निश्चेष्ट होकर नहीं बैठ सकते। यदि हम ऐसा करते हैं, तो हमारा विनाश अवश्यम्भावी है। इस-

श्री विष्णुतत्त्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

३

लिए हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिए और इन बिलों के विरोध द्वारा ही अपनी राजनीतिक जाग्रति का परिचय देना चाहिए।

ऐसी दशा में उदासीन रहने से काम न चलेगा। यह सङ्कल्प कर लेना होगा कि इन बिलों को हम कदापि पास न होने देंगे। सफलता से सफलता प्राप्त होती है। यदि इस आन्दोलन में सफल हुए, तो फिर आगे भी हमारी सफलता बनी बनायी है। कागज की महँगों के दिनों में भी 'धर्मसङ्घ' ने विरोधपत्रों को पर्याप्त संख्या में छपाकर रखा है। उस के 'प्रधान कार्यालय, गङ्गातरङ्ग, नगवा काशी' को लिखने से ऐसे पत्र निःशुल्क प्राप्त हो सकते हैं। यदि अपने धर्म, अपनी संस्कृति और जाति की रक्षा करना है, तो इस कार्य को तुरत हाथ में लेना चाहिए। १५ जुलाई तक तो प्रान्तीय सरकारों द्वारा विरोध भेजने का अवसर दिया ही गया है, उस के बाद भी 'सेक्रेटरी लेजिस्लेटिव विभाग, भारतसरकार, नयी दिल्ली' को विरोध भेजते रहना चाहिए। नवम्बर से केन्द्रीय असेम्बली का अधिवेशन आरम्भ हो रहा है। उस मास के अन्त में ही इन बिलों पर विचार आरम्भ होगा। इतने समय में तो हमें ऐसा ऊधम मचाना चाहिए कि सरकार की आँखें खुल जाँय। इस प्रयत्न में हमें आज ही से लग जाना चाहिए।

'भगवद्-इच्छा और ब्रिटिश साम्राज्य'

गत ६ तारीख को बादशाह जार्ज का एक 'ब्राडकास्ट भाषण' हुआ था। आप ने उस में कहा—“हम अपना भूत तथा वर्तमान ऋणियों से उदासीन नहीं हैं, हम ईश्वर से यह नहीं कहेंगे कि वह हमारी इच्छानुसार कार्य करे, परन्तु हम उस की इच्छानुसार कार्य करने का प्रयत्न करेंगे। हम ऐसा विश्वास करने का साहस कर रहे हैं कि ईश्वर ने अपने उच्च कार्य की पूर्ति के लिए हमारे राष्ट्र और साम्राज्य को निमित्त बनाया है।” यों तो संसार में जो कुछ भी हो रहा है, वह सब जगज्जियन्ता ईश्वर की इच्छा से ही हो रहा है और इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति उस के कार्य की ही पूर्ति कर रहा है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या इस प्रकार के कार्य को ईश्वर के लक्ष्य की पूर्ति कहा जा सकता है? भारत के साथ ब्रिटेन का जैसा व्यवहार है, क्या वह भगवदिच्छा की पूर्ति है? घुरी राष्ट्र भी कह सकते हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं, ईश्वर की प्रेरणा से ही। वास्तव में जो कर रहा है, वही भगवदिच्छा की पूर्ति करता है, यों तो जो चाहे इस का दावा कर सकता है। उसी दिन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी कहा कि “मित्रराष्ट्र कष्ट से पीड़ित मानवता को स्वतन्त्र करना और धर्म तथा संस्कृति की रक्षा करना चाहते हैं। वे केवल विजय के लिए नहीं लड़ रहे हैं। वे सभी मनुष्यों में सौहार्द स्थापित करने के लिए युद्ध कर रहे हैं। भगवान् हमें शक्ति-प्रदान करे कि हम शत्रु की अपरिमित सेना पर विजय प्राप्त करें और लालच तथा जातीय उद्वेगता के मसीहों को नीचा दिखलायें।” लालच और जातीय उद्वेगता घुरी राष्ट्रों की ही बांट नहीं पड़ी है। हबशियों के प्रति अमरीकनो ने अपनी जातीय उद्वेगता का क्या कुछ कम परिचय दिया है? उन को जीवित जलाने में भी सङ्कोच नहीं किया गया। उद्वेगता क्या, यह तो पूरी बर्बरता है। हाँ, अब युद्ध के दिनों में, जब उन से काम लेना है, उन से सहायुभूति दिखलायी जा रही है। धर्म की आज दुहाई दी जाती है, पर धर्म क्या है, क्या इस ओर भी ध्यान दिया गया है? वास्तव में आज भगवान् से हमारी यही प्रार्थना होनी चाहिए कि वह हमें सद्बुद्धि प्रदान करे कि जिस से धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय क्या है, यह समझ सकें, तभी हम अपने को उस की इच्छापूर्ति करने योग्य बना सकेंगे।

आदिनारायण का अन्तर्मुख होकर स्वरूपानुसन्धान करना ही 'निमेष' है, पराङ्मुख होकर स्वरूपानुसन्धान ही 'उन्मेष' है। उन्मेष में अविद्या का उदय होता है, निमेष में प्रलय होता है। अन्तःकरण, बुद्धि आदि कार्योंपाधि से जीवों का और मायारूप कारणोपाधि से ईश्वर का आविर्भाव होता है। जैसे ग्रीष्मादि में नष्ट मण्डूकों का भी प्रावृट्-काल के प्रारम्भ में संस्कारवशात् पुनः उदय होता है, वैसे ही परमेश्वर के उन्मेष-काल में नष्ट अविद्या का भी पुनः उदय होता है। कुत्सित अनन्त जन्माभ्यस्त दुष्कर्म-वासना के कारण 'मैं जीव हूँ, दुःखाकर हूँ' इत्यादि भ्रम से स्वप्नतुल्य मिथ्याभूत त्रिषय-भोगों का अनुभव करके असंख्य अभिलषित पदार्थों की आशा में अतृप्त होकर प्राणी भटकता रहता है। इसी से अनिष्ट में इष्टबुद्धि और इष्ट में अनिष्टबुद्धि उत्पन्न होती है। अज्ञान के प्राबल्य से बन्ध मोक्ष आदि का विचार नहीं होता, इसीलिए अवाधित ब्रह्मसुखानुभव की ओर प्राणियों की प्रवृत्ति नहीं होती। जन्मजन्मान्तर के अभ्यस्त सत्कर्म की महिमा से सत्सङ्ग होता है, विधि-निषेध का विवेक होता है, तब सदाचार में प्रवृत्ति होती है, पापक्षय होने से अन्तःकरण पवित्र होता है। अन्ततः सद्गुरुकृपाकटाक्ष से सर्व विघ्नों की निवृत्ति एवं तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। भगवत्कथा-श्रवण, ध्यानादि में प्रवृत्ति होती है, हृदयस्थित दुर्वासना-प्रणियों का विनाश होता है। फिर हृदय-पुण्डरीक-कर्णिका पर परमेश्वर का प्राकट्य होता है। दृढ़तर वैष्णवी भक्ति से वैराग्य एवं उस से ज्ञानादिक्रमेण अभ्यास से ज्ञान का परिपाक होता है। फिर सवासन सर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं। शुद्ध भक्ति से सर्वत्र नारायण का ही स्फुरण होता है, नारायण से अतिरिक्त कुछ भी नहीं प्रतीत होता। दृढ़तर तत्त्वज्ञान होने पर तो निर्विशेष ब्रह्मभावापन्न विद्वान् केवल अवशिष्ट रहता है, परन्तु दृढ़तर ज्ञान न होने और लोकान्तर देखने की इच्छा रहने पर उस के देहत्याग-काल में भगवान् के पार्षद आते हैं। उस समय प्राणी भगवद्भ्यानपूर्वक हृदयकमल में व्यवस्थित अन्तरात्मा का चिन्तन करके मनोनिरोधपूर्वक प्राकृत देह को त्यागकर मन्त्रमय, ब्रह्मतेजो-मय विष्णुसारूप्य पाकर अनन्तचरणारविन्दानुष्ठानिःसृत अमर-नदी में अवगाहन करके गणवगरुड पर आरुढ़ होता है। महा-विष्णु के असाधारण चिन्तों से चिन्हित होकर सुदर्शन, विष्वक्सेन से पालित, वैकुण्ठ-पार्षदों से परिवेष्टित होकर, आकाशमार्ग में प्रवेश करके, पार्श्वद्वयस्थित पुण्यलोकों का अतिक्रमण करता हुआ उपासक सत्यलोक में जाता है। वहाँ ब्रह्मा का अर्चन करके ब्रह्मा एवं 'सत्यलोकवासियों से सम्मानित होकर शैवलोक में जाता है। फिर महर्षिमण्डल को लांघकर सोम-सूर्यमण्डल को भेदनकर ध्रुव का दर्शन करता है। फिर शिशुमार-चक्र का भेदनकर, प्रजा-पति का अर्चन करके, चक्रमध्यगत, सर्वाधार, सनातन महाविष्णु का आराधन करता है। फिर ऊपर जाकर परमानन्द को प्राप्त करता है। फिर वहाँ सभी वैकुण्ठवासी आते हैं, उन का पूजनकर, उन से पूजित होकर ऊपर जाकर विरजा नदी में स्नान तथा भगवान् का ध्यानकर फिर डुबकी लगाकर अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत-साधन सूक्ष्म शरीर को छोड़कर केवल मन्त्रमय विष्णुसारूप्य-विग्रह धारण करके, विष्णु-पूजन कर, ब्रह्ममय वैकुण्ठ में प्रवेश करता है। वहाँ के निवासियों का पूजन करके ब्रह्मानन्दमय अनन्त प्राकार, प्राणद, तोरण, विमान, उपवनों से दीप्त शिखरों से उपलक्षित जो

निरुपम, निरवध, ब्रह्मानन्दचल विराजमान है, उस के ऊपर निरति-
शयानन्द दिव्य तेजोराशि चमकती है, उस के भीतर शुद्ध बोधानन्द
भासमान होता है, उस के भीतर चिन्मयी वेदिका, उस के भीतर
आनन्दवन से भूषित आनन्दमयी वेदिका, उस के भीतर अमित
तेजोराशि है। उस के भीतर परम मङ्गलासन, उस की पद्मकणिका
पर शुद्ध शेष भगवान् हैं। उन के ऊपर आनन्दपरिपालक आदि-
नारायण का दर्शन होता है। उन की आगधना करके, उन की आज्ञा
से पञ्च वैकुण्ठों का लङ्घन करके, विराट्केवल्य को पाकर अन्त में
परमानन्द को प्राप्त होता है। सावरण ब्रह्माण्ड का भेदनकर ब्रह्माण्ड-
स्वरूप का अवलोकन करके ब्रह्मज्ञान से तत्त्वतः विराट्स्वरूप हो
जाता है। दूसरे लोग तो केवल अण्डाभ्यन्तर प्रपञ्च के ही एक देश
को जानते हैं, अण्डस्वरूप या ब्रह्माण्ड से बाह्य प्रपञ्च का ज्ञान, मोक्ष-
प्रपञ्च का ज्ञान तो बड़ा ही दुर्लभ है।

कुक्कुट-अण्ड के आकार का वृहदादि समष्ट्याकार अण्ड तप्त
जाम्बून (सुवर्ण) के समान किंवा समुद्यत्कोटिसूर्यसमप्रभ भासता
है। वह पञ्च महाभूतों एवं अहं, महान् तथा मूल प्रकृति से परि-
वेष्टित है। चारों तरफ बीस कोटि योजन का ब्रह्माण्ड महामण्डूकादि
अनन्त शक्तियों से अधिष्ठित भगवान् नारायण का क्रीडाकन्दुक है।
वही अदृष्ट, अद्भुत, विविध विचित्र अनन्त विशेषों से उपलक्षित
होकर परमाणु के सदृश भगवान् के लोमछिद्रों में रङ्गन होकर
परिभ्रमण करता रहता है। इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर अनन्त अनन्त
ब्रह्माण्ड विराजमान होते हैं—“अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्ये-
तादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति।” उन
ब्रह्माण्डों में चतुर्मुख, षण्मुख, सप्तमुख, अष्टमुख से लेकर सहस्र-
मुख तक के नारायणांशभूत विष्णु, महेश्वरादि रहते हैं। जैसे
महाजलौघ में मत्स्यों एवं बुद्बुदों के अनन्त सङ्घ भ्रमण करते
दिखायी देते हैं, वैसे ही महाविष्णु में ये अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। जल-
यन्त्रस्थ घटमालिका के समान विष्णु के एकैक रोमकूप में अनन्तों
ब्रह्माण्ड भासमान होते हैं। समस्त ब्रह्माण्डों के भीतर-बाह्य के
रहस्यों को जानकर विविध, विचित्र, अनन्त, परम विभूति, समष्टि
विशेषों को समझकर आश्चर्यसागर में डूबता-उतगता निरतिशयानन्द-
समुद्रस्वरूप होकर, समस्त ब्रह्माण्डजालों का लङ्घन करके, अपरि-
मित, अपरिच्छिन्न, अनन्त तमःस्तोमसागर को पार करके मूल
अविद्या के पुर का अवलोकन करता है। वहाँ पर विविध महामाया-
विलासों से वेष्टित अनन्त महामाया शक्तिसमष्ट्याकारों, अनन्त दिव्य
तेजोज्वालाजालों से समलङ्कृत अविद्यालक्ष्मी का दर्शन करता है।
वही समस्त ब्रह्माण्डसमष्टिजननी वैष्णवी महामाया है। उन की
पूजा करके उन की अनुज्ञा से ही साधक ऊपर जाकर महाविराट्पद
को प्राप्त करता है। “विश्वतश्चक्षुस्तु विश्वतोमुखो विश्वतोबाहु-
स्तु विश्वतस्त्रात्। सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्धावाभूमौ जनयन्
देव एकः” इत्यादि से उसी महाविराट् का वर्णन है। उस की
पूजा करके, मूलविद्या के अनन्त विलासों का अवलोकन करके,
उपासक बड़े ही आश्चर्य को प्राप्त होता है—“उपासकः परमं कौतु-
कमाप।” इस क्रयन से यही मालूम पड़ता है कि उपासक की ही
यह गति है। परिपूर्ण परब्रह्म के स्वरूप को ढंकेवाली नानामाया-
जालों से परिवेष्टित महायोगमाया के आश्चर्यसागरोपम दिव्य पुर
को देखकर वहाँ उस की पूजा करके पुनः आगे बढ़ता है। उस के
ऊपर पादविभूति वैकुण्ठपुर भासमान होता है। वह अनन्त
विभूतिसमष्ट्याकार है और आनन्दरसप्रवाहों से समलङ्कृत है।
अमिततरङ्गिणी के प्रवाहों से अतिमङ्गल ब्रह्मरूप तेजोविशेषाकार
अनन्त ब्रह्मभवनों एवं चिन्मय प्रासादजाल से परिपूर्ण नित्यमुक्तों
से व्याप्त है। उस पादविभूति वैकुण्ठ के मध्य में एक चिदानन्दमय
अचल है। उस के ऊपर एक निरतिशयानन्द दिव्य तेजोराशि
वेदीयमान है। उस के अग्रभ्यन्तर में एक परमानन्दमय विमान है।

उस के भीतर चिन्मय दिव्य आसन है। उस की पद्मकणिका पर
निरतिशय दिव्य तेजोराशि है। उस के बीच में भगवान् आदि-
नारायण हैं। उन का ध्यान एवं पूजा करके साधक सावरण अविद्याण्ड
का भेदन करके अविद्यापाद का लङ्घन करके विद्या एवं अविद्या
की सन्धि में जाकर विष्वक्सेन वैकुण्ठपुर को देखता है।
वह वैकुण्ठ अनन्त दिव्य तेजोज्वालाजालों से परिवृत, अनन्त
बोधानन्दमयों से व्याप्त है। शुद्ध बोधलक्षण विमानावलिओं से
विराजित एवं अनन्त आनन्दपर्वतों से समलङ्कृत है। उस के
बीच में कल्याणचल के ऊपर शुद्धानन्दविमान है। उस के भीतर
दिव्य मङ्गलासन है। उस के भीतर पद्मकणिका पर अखिल अपवर्ग-
पाल, अमितविक्रम महाविष्णुस्वरूप विष्वक्सेन हैं। उन की पूजा
के बाद विद्यामय अनन्त वैकुण्ठों का अवलोकन होता है। पहले
विद्यामय अनन्त समुद्रों को पार करके ब्रह्मविद्या-तरङ्गिणी को पाकर
उस में स्नान करके भगवद्भ्यानपूर्वक पुनः स्नान करके मन्त्रमय
शरीर को भी छोड़कर विद्यानन्दमय अद्भुत दिव्य देहों को प्राप्तकर
नारायणसाल्प्य को प्राप्त करता है। नित्यमुक्त वैकुण्ठासियों से
सम्भावित होकर आनन्दरसभिर्भर ब्रह्मविद्याप्रवाहों, क्रीडानन्त-
पर्वतों से व्याप्त चिन्मय गन्धस्वभाव अनन्त ब्रह्मवनों से शोभित
ब्रह्मविद्यावैकुण्ठ का दर्शन होता है। उस पुर के भीतर उन्नत
बोधानन्द महाप्रासाद के अग्रभाग पर स्थित प्रणवविमान है। उस
पर अपार ब्रह्मविद्या-साम्राज्य की अधिदेवता अद्वितीय, अनन्त कोश-
साम्राज्यलक्ष्मी विराजमान है, जो कि अपने अमोघ कटाक्ष से
ही अनादि मूलविद्या का प्रलय कर देती है। उपासक विविध
उपचारों से उन की पूजा करके ऊपर ऊपर ब्रह्मविद्या-तरङ्गिणी के
तीर तीर जाकर बोधानन्दमय अनन्त वैकुण्ठों को देखता
हुआ, बोधानन्दमय अनन्त समुद्रों को पारकर ब्रह्मवनों में
परममङ्गलाचल-श्रेणियों में बोधानन्दविमान को प्राप्त करता है।
इस के पश्चात् तुलसी वैकुण्ठपुर का दर्शन होता है। वह पुर
अमित बोधाचल पर स्थित है। निरतिशयानन्दस्वरूप बोधानन्द-
तरङ्गिणी के प्रवाहों से अतिमङ्गल है। उस के भीतर श्रीविष्णु के
सर्वाङ्गों में [विहार करनेवाली निरतिशय सौन्दर्य, लावण्य की अधि-
देवता तुलसी का दर्शन होता है। उस के बाद परमानन्दतरङ्गिणी
के तीर तीर जाकर शुद्ध बोधानन्दमय अनन्त वैकुण्ठों को देखता
हुआ उपासक दिव्य गन्धानन्द पुष्पवृष्टियों से समन्वित, दिव्य
मङ्गलालय ब्रह्मवनों को देखता है।

आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

३

यदि कहा जाय कि भगवान् हुए जब शक्तियुक्त ब्रह्म के उपचार,
अर्थात् जाली की तरह, तब फिर भगवान् का और जाल कैसे होगा ?
इस का उत्तर यह है कि आचार-विहीन उपासकों की वास्तिकता का
विधान करने के लिए ‘भगवान्’ प्रस्तुत किये गये हैं, यह बात
पहले बतलायी जा चुकी है। जिस भगवान् से उस वास्तिकता की
रक्षा न हो, उस भगवान् को ही ‘जाली भगवान्’ कहना चाहिए।
नास्तिक शून्य या अभाव को ही चरम मूल स्वीकार करते हैं,
वास्तिक उसी शून्य की आकाश, तम, अन्धकार, कृष्ण एवं शक्ति-
रूप में व्याख्या करके उस के भीतर स्वयंज्योति सत्य के अस्तित्व
का वर्णन करते हैं। विश्व-समाज को नास्तिक के मत की अपेक्षा
वास्तिक के मत की श्रेष्ठता का स्वीकार करना ही पड़ता है। जल्द

उपासक-समाज में विचारयुक्त आस्तिक एवं नास्तिक-मत की हँसी नहीं होती, वे स्वेच्छापरतन्त्र होकर अपनी अपनी बुद्धि के अनुकूल भाषना के अनुसार उपासना करते हैं। यहाँ पर आस्तिक लोगों ने नास्तिकों में आस्तिकता की रक्षा के लिए भगवद्गाराधना को प्रवर्तित किया है। तादृश 'कृष्ण भगवान्' से तमोमध्यगत स्वप्रकाश ब्रह्म का ग्रहण करना चाहिए। नास्तिक लोग इसी को विपरीत करके अज्ञ-समाज में नवीन 'कृष्ण भगवान्' का प्रचार करते हैं। एतादृश नास्तिकों के कथनानुसार सत्य ब्रह्म को छोड़कर उस के स्वामी द्विभुज, मुरलीधर, किशोर कृष्ण का ग्रहण करना आवश्यक हो पड़ता है। परन्तु ऐसी बात विचारशील विद्वत्समाज में ठहर नहीं सकती। विज्ञ लोग विचारपूर्वक कहते हैं कि अभाव या शून्य में स्वप्रकाश सत्य का अस्तित्व स्वीकृत किया जा सकता है, पर उस सत्य के अतीत कुछ है, ऐसा कहना चाहें, तो वह सत्यबहिर्भूत, सुतरां मिथ्या हो जाता है। उस स्थान पर द्विभुज, मुरलीधर कृष्ण को स्थापित करने का यत्न करें, तो उसे मिथ्या कल्पनामात्र मानना पड़ेगा, अतएव वही 'जाली भगवान्' हो जाते हैं।

अज्ञ उपासकों में ऐसे विचार की प्रथा नहीं है। नास्तिक लोग उन्हें समझा देते हैं कि "आस्तिक जिसे ब्रह्म कहते हैं, वह ज्योति या तेजोरूप पदार्थमात्र है। यह बात 'स्वयंज्योतिः', 'मर्गः' प्रभृति शब्दों से प्रतिपन्न होती है। वेदोक्त वह ब्रह्म हमारे 'कृष्ण भगवान्' की ओर अङ्गज्योति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। योगी, संन्यासियों को विद्या, बुद्धि का दीड़ प्रभु की अङ्गज्योति (ब्रह्म) तक ही हो सकती है, उस के आगे नहीं जा सकती। हम-लोगों ने उन की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि से उस ब्रह्म का अतिक्रमण करके द्विभुज, मुरलीधर कृष्ण को प्राप्त किया है। यह 'कृष्ण भगवान्' ब्रह्म के भी ऊपर की वस्तु है।" अज्ञ उपासक आस्तिक के 'कृष्ण भगवान्' से सत्य ब्रह्म के निष्कासन करने का भाव समझ नहीं सकते, बल्कि नास्तिकों को यह सब बातें जैसे उन के मनःपूत, बुद्धि-विचार के अनुकूलभावापन्न सुतरां सहज बोधगम्य होती हैं, वैसे ही वे उन्हें, सत्य ब्रह्म के ऊपर की वस्तु मानकर सर्वश्रेष्ठ भी समझते हैं। किन्तु सत्य के ऊपर जाने पर अर्थात् सत्य की सीमा का उल्लङ्घन करके आगे जाने पर मिथ्या के इलाके में जा पड़ना होगा, यह बात उन के स्थूल विचार में भी नहीं आती।

अबतक जो बातें ऊपर कही गयीं, उन की बुनियाद—आधार—भी कुछ है या नहीं, इस पर यहाँ प्रकाश डालना उचित होगा। भक्तप्रवर श्रीधर स्वामी नास्तिकों के इस फन्दे में पड़ गये हैं। वे 'भगवद्गीता' के १४ वें अध्याय के अन्तिम श्लोक की टीका में कहते हैं—“हि यस्मात् ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा प्रतिमा घनीभूतं ब्रह्मैवाहं, यथा घनीभूतः प्रकाश एव सूर्यमण्डलं, तद्वदित्यर्थः” इत्यादि, अर्थात् कृष्ण ब्रह्म की घनीभूत अवस्था है। कृष्ण ब्रह्म की भी उपरितन वस्तु है, यह बात उन्होंने इस दृष्टान्त द्वारा समझाया है कि हम जिन सूर्य-किरणों को प्राप्त करते हैं, उन की घनीभूत अवस्था जैसे सूर्यमण्डल समझा जाता है, वैसे ही चैतन्य, ज्योतिः-स्वरूप ब्रह्म को अघन अवस्था और कृष्ण को घन अवस्था समझना चाहिए अर्थात् कृष्ण से ही ब्रह्मज्योति उद्भूत हुई है। श्रीधर स्वामी ने वेद के ब्रह्म को, भौतिक ज्योति की तरह, एक तेजोविशेष समझा है। वे यदि ब्रह्म को एकमात्र 'अस्ति' शब्द का वाच्य, सत्य वस्तु समझ सकते (‘‘अस्तित्वेवोपलब्धव्यस्तत्त्व-भावेन चोभयोः’’ कठउप० २।३।१३), तो फिर 'सत्य' को घन करके 'कृष्ण' समझाने न बैठते। श्रीधर स्वामी की यह भूल नहीं, उन के अन्मार्जित स्वाभाविक संस्कारमात्र है, उन की अतीति प्रतिभामात्र है।

इस के सिवा 'चैतन्य-चरितामृत' में, जहाँ चैतन्य का स्वमत

प्रकाशित हुआ है, देखने से यह विदित होता है कि चैतन्यदेव की भी ब्रह्म और कृष्ण के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा बज्रमूल थी। 'चैतन्य-चरितामृत' के आरम्भ में जो वन्दनार्थ श्लोक उद्धृत है, उस में भी लिखा है कि ‘‘सद्ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभाः’’ इस का आशय यह है कि उपनिषद् में ब्रह्म का जो श्रेष्ठत्व वर्णित है, वह ब्रह्म भी श्रीकृष्ण की अङ्गज्योतिमात्र है। इसलिए कहना पड़ता है कि केवल श्रीधर स्वामी प्रभृति ने अम से वैया नहीं लिखा है। मालूम पड़ता है कि एतादृश धारणाविशिष्ट सम्प्रदाय-विशेष का अस्तित्व ही इस प्रकार का है। एक-दो व्यक्ति नहीं, अनेक लोग इस दल में हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वेदोक्त ‘‘तमसः परस्तात्’’ इस तम अर्थात् अव्यक्त अन्धकार से पर स्वयंज्योति सत्य ब्रह्म का लोप करके, इस के विपरीत 'स्वयंज्योतिःस्वरूप ब्रह्म का प्रकाशक द्विभुज मुरलीधर श्रीकृष्ण है' ऐसे मत का श्रीधर स्वामी या चैतन्य ने प्रवर्तन किया है। बुद्ध के पहले भी जैसे नास्तिकमत प्रचलित था। बुद्ध, उस नास्तिक संस्कार के साथ जन्मग्रहण करने के कारण, बौद्ध मत के प्रवर्तक थे, वैसे ही 'वेदोक्त ब्रह्म के ऊपर द्विभुज, मुरलीधर श्रीकृष्ण का स्थान है' यह मत अन्यान्य कल्पों में भी प्रचलित था, श्रीधर और चैतन्य अपने अपने संस्कारानुरूप उस मत का पोषणमात्र कर गये हैं। ऊपर आस्तिक और नास्तिक-मत की बात कही गयी है। नास्तिक अभाव या शून्य को ही चरम मूल बतलाते हैं, आस्तिक उस के ऊपर सत्य वस्तु का प्रदर्शन करके उस शून्य को सत्य ब्रह्म की शक्ति बतलाते हैं। उपासकों के लिए ज्ञान आस्तिकों की दूसरी बात यह है कि 'कृष्ण भगवान्' के भीतर ब्रह्म नहीं, अपितु ब्रह्म में कृष्ण भगवान् हैं।' अज्ञ भक्तों के लिए यह बात साङ्गतिक है। आजकल इस बात को कितने लोग मान सकते हैं कि शास्त्रोक्त भगवान् की पूजा करने से नास्तिक हुआ जाता है? अतएव इस विषय पर जरा विस्तृत आलोचना करना उचित प्रतीत होता है।

यहाँ यह देखना आवश्यक है कि एक भगवान् कृष्ण को लेकर जो आस्तिकता और नास्तिकता का अभिनय चलता है, उसे मैं अपनी ही कल्पना से कह रहा हूँ या पहले भी ऐसी स्थिति थी। इस सम्बन्ध में मुझे जो पुरातन इतिहास विदित है, वह निरो गप्प नहीं है। 'इतिहास' कहने से ही, पाठकगण उस समय का परिचय चाहेंगे, जिस समय का वह इतिहास होगा। वह समय, कई हजार, कई लाख या कई करोड़ वर्ष पूर्व विद्यमान था, ऐसा कहने से भी काम न चलेगा। अतः जरा स्पष्ट करके बतलाया जा रहा है। पाठकों में अनेकों ने 'पञ्चाङ्ग' में वाराहकल्प के अतीताब्द की संख्या के स्थान में १९७२९४९०४ यह अङ्क देखा होगा। इन अङ्कों का तात्पर्य क्या है, सम्भवतः बहुतेरे इस से अवगत न होंगे। इन अङ्कों से यह पता लगता है कि कुछ कम दो सौ करोड़ साल हुए, इस हमारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है। ये दो सौ करोड़ वर्ष वर्तमान सृष्टि का विद्यमान काल है। किन्तु इस सृष्टि (वाराहकल्प) के पहले भी जो सृष्टि थी, हमें उन सब का इतिहास ज्ञात है। इतना सुदीर्घ-कालीन इतिहास जानने का हमलोगों के पास सहज उपाय है, पर उस का आधुनिक नव्य समाज में प्रचार नहीं है। वह उपधि यह है कि जैसे प्रतिवर्ष ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त, इन ऋतुओं का पर्यायक्रम से आविर्भाव-तिरोभाव होता है, वैसे ही प्रति तैत्तलीस लाख, बीस हजार वर्षों में अर्थात् एक दैवयुग में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलिनारामक चार युगों का पर्यायक्रम से आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। ऐसे ७१ दैवयुगों से अर्थात् ७१ सत्य, ७१ त्रेता, ७१ द्वापर और ७१ कलियुगों से मन्वन्तर नामक एक अन्य बृहत्तर चक्र बनता है। ऐसे मन्वन्तर १४ बार सङ्घटित होने पर एक हजार दैवयुग-चक्र की आवृत्ति होती है। इस चतुर्दश

मन्वन्तरव्यापी काल का नाम एक 'कल्प' है। इस समय जो कल्प चल रहा है, उस का नाम है 'वाराहकल्प'। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि, इन चार युगों में किस का कितना परिमाण है, इसे जानने के लिए ४३२०००० वर्षों को १० से भाग देना चाहिए। भागफल का चौगुना सत्ययुग का, तिगुना त्रेतायुग का, दुगुना द्वापरयुग का और एकगुना कलियुग का परिमाण समझना चाहिए।

उपर्युक्त १४ मन्वन्तर इस प्रकार हैं—१ स्वायम्भुव, २ स्वरोचिष, ३ उत्तम, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ७ वैवस्वत, ८ सावर्णि, ९ दक्षसावर्णि १० ब्रह्मसावर्णि, ११ धर्मसावर्णि, १२ रुद्रसावर्णि, १३ देवसावर्णि और १४ इन्द्रसावर्णि। सहस्रयुगात्मक वैसा एक कल्प ब्रह्मा का एक दिन है—“सहस्रयुगपर्यन्तमहयंद् ब्रह्मणो विदुः” (गो. ८।१७)। वैसे तीस कल्पों से ब्रह्मा का एक मास होता है। हमारे मास के दिनों की जैसे प्रतिपदा, द्वितीया आदि नामों से गणना प्रचलित है, वैसे ही ब्रह्मा के भी माससम्बन्धी तीस दिनों के तीस नाम हैं, जैसे—१ श्वेतकल्प, २ नीललोहितकल्प, ३ वामदेवकल्प, ४ रथन्तरकल्प, ५ कौरवकल्प, ६ देवकल्प, ७ बृहत्कल्प, ८ कन्दर्पकल्प, ९ सद्यःकल्प, १० ऐशानकल्प, ११ तमःकल्प, १२ सारस्वतकल्प, १३ उदानकल्प, १४ गरुडकल्प, १५ कूर्मकल्प (कूर्मकल्प ब्रह्मा की पूर्णिमा है, अतः इस में शुक्लपक्ष की समाप्ति होती है), १६ नरसिंहकल्प, १७ समानकल्प, १८ अग्निकल्प, १९ सोमकल्प, २० मानवकल्प, २१ पुमान्कल्प, २२ वैकुण्ठकल्प, २३ लक्ष्मीकल्प, २४ सावित्रीकल्प, २५ घोरकल्प, २६ वराहकल्प, २७ वैराजकल्प, २८ गौरीकल्प, २९ माहेश्वरकल्प, (इस कल्प में त्रिपुरवध होता है) और ३० पितृकल्प (यह कल्प ब्रह्मा की अमावास्या है, अतः इस कल्प में मास की समाप्ति समझना चाहिए)। ब्रह्मा की चौथी तिथि अर्थात् रथन्तरकल्प का इतिहास 'ब्रह्मवैवर्तपुराण', १२ वीं तिथि अर्थात् सारस्वतकल्प का इतिहास 'भागवतपुराण' और वर्तमान १६ वीं तिथि का अर्थात् वाराहकल्प का इतिहास 'विष्णुपुराण' है। ब्रह्मा की १२ वीं तिथि अर्थात् सारस्वतकल्प के इतिहासस्वरूप 'देवीभागवत' में उल्लिखित घटना का सन्धान मिलता है। इस के अतिरिक्त चौथी तिथि के अर्थात् रथन्तरकल्प के इतिहासस्वरूप 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में भी उस बात का उल्लेख मिलता है। किन्तु इस समय बाजार में मिलनेवाले वर्तमान 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में बहुतसी प्रक्षिप्त कथाओं ने ससम्मान स्थान प्राप्त किया है, अतः दो पुराणों की कथा का प्रदर्शन किये बिना सन्देह दूर न होगा। अगले अङ्क में इस के सम्बन्ध में लिखा जायगा।

श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण

(श्री सदाशिव कृष्ण फड़के)

२

“हे प्रभो! कोई एक अनीश्वरवादी जैसे ईश्वर को पुकारता फिरे, वैसे आप के व्यक्तित्व के विषय में साशङ्क होते हुए भी आप से सम्भाषण करने का प्रयत्न करनेवाले मुझ अविश्वासी के लिए कोई कह सकता है कि यह आत्म-विरोध हो रहा है, परन्तु प्रमाण से ही यदि यह न कहा जाय कि तुम अपना प्रामाण्य सिद्ध करो, तो क्या अप्रमाण से कहा जाय? निबिड़ अन्वकार में कुछ भी न दिखलायी देते हुए भी, भयग्रस्त मनुष्य 'कोई दौड़ो' इसतरह चिल्लाता ही है। तात्पर्य यह कि उस की धारणा यह होती है कि

इस अन्धेरे के महाशून्य में भी कोई अज्ञात व्यक्तिविशेष होगा ही, वह कृपाकर आगे आये और मुझे अमय दे। परन्तु हे दीनानाथ! भयभीत मनुष्य अन्धेरे में मूर्तों की कल्पना करता है और तदनुसार भूत को देखता है, किन्तु वस्तुतः उस की कल्पना के सिवा वहाँ कुछ भी नहीं रहता, उसीतरह मैं अपने भावनावल से यद्यपि आप के स्वरूप का इस समय भी साक्षात्कार कर सका और उस भावना-जन्य आप के रूप से उपदेश-ग्रहण भी किया, तथापि वह मेरी ही भावना की प्रतिच्छाया होगी, उस में स्वारस्य क्या है? और क्या तो उस का प्रामाण्य है? “अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिक-मिथ्यते” इस अपने माण्डूक्य-भाष्य में आप ने ही बतलाया है कि वासनाकल्पित ज्ञेय त्याज्य है।

“हे आचार्य! मेरे मनोगज्य में कभी कभी साक्षात्कृतसा होने-वाला आप का रूप यद्यपि मेरा ही भ्रम हो, तथापि आप के भाष्य-ग्रन्थादि साहित्य तो मेरा भ्रम नहीं है। समर्थ रामदास स्वामी ने अन्त समय अपने सच्छिष्यों से कहा था कि “मेरा शरीर चला जाय, तो भी मैं 'दासबोध' एवं 'आत्माराम' इन ग्रन्थों के रूप में, बाद में, रूँगा, अतएव मेरे शिष्य साधकों को चाहिए कि 'दासबोध' ही मैं हूँ, ऐसा समझकर उस ग्रन्थराज से अपनी शङ्काओं का समाधान कर लें।” इस समर्थोक्ति की तरह हे आचार्य! आप के भाष्यादि ग्रन्थों की ही आप का बोधस्वरूप अथवा ज्ञानस्वरूप मानकर, उस के शरण जाकर मैं अपनी अनेक शङ्काओं का समाधान कर लूँ, पर आप के कहकर प्रसिद्ध भाष्यादि ग्रन्थों में इतनी त्रिसङ्गति और इतना आत्मविरोध दिखलायी पड़ता है कि आप के सूत्रभाष्य, माण्डूक्यादि उपनिषदों के भाष्य और आनन्द-सौन्दर्य-लहरी आदि स्तोत्र, इन सब को एक ही व्यक्ति का बनाया हुआ कैसे मान लें, ऐसी आधुनिक विवेचकों को जबर्दस्त शङ्का होती है अर्थात् आप के नाम से प्रसिद्ध साहित्य से आप को बोधरूप मूर्ति का भी निश्चय नहीं होता। हे आचार्य! सूत्रभाष्य में विज्ञानवादी बौद्धों का खण्डन करते हुए आप जगत्सम्बन्धी व्यावहारिक सत्तावादी प्रतीत होते हैं, इस के विपरीत—‘माण्डूक्य-कारिका’ के भाष्य में—आप प्रच्छन्न बौद्ध ही दिखलायी पड़ते हैं और ‘सौन्दर्यलहरी’ ऐमे स्तोत्रों से आप शाक्ताद्वैती दिखलायी पड़ते हैं तथाच पञ्चोपासना के प्रवर्तक द्वैती भी प्रतीत होते हैं। इन सब का समन्वय आप के एक ही बोधरूप व्यक्तित्व में किस तरह किया जाय? “न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते, कस्मात्, उपलब्धेः” (सू० भा० २।२।२८), “सर्वज्ञ नामरूपादि सदात्मनैव सत्यम्” (छां० भा० ६।३।२), (देखिये बृ० भा० ४।३।७), “न स्वप्नादिप्रत्ययवत् जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति, कस्मात्, वैचर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः” (सू० भा० २।२।२९), (सू० भा० ३।२।३ देखिये); “यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं, तथा जागरितेपि दृश्यस्वमाविशिष्टमिति हेतूपनयः।” प्रसिद्धेनैव भेदानां ग्राह्यग्राहकत्वेन हेतुना समवेन स्वप्नजागरितस्थानयोरैकस्वमाहुर्विवेकिन इति पूर्वप्रमाण-सिद्धस्यैव फलम्” (माण्डूक्यभाष्य २।४-५), “न हि स्वप्ने हस्यादि ग्राह्यं तद्ग्राहकं वा चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति, जाग्रदपि तथैवेत्यर्थः”, “मनोदृश्यमिदं द्वैतं, सर्वं मन इति प्रतिज्ञा, तन्नावेभावात्तदभावेऽभावात्” (मां० भा० २।३।०।३१), “मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमिति सिद्धम्” (मां० भा० २।३।२), “द्रष्टा च दृश्यं च तथा च दर्शनं भ्रमस्तु सर्वस्तव कल्पितो हि सः। इदंश्च भिन्नं न हि दृश्यमीक्षते स्वप्नप्रबोधेन तथा न भिद्यते” (उपदेशसाहस्री), “शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्” (सौन्दर्यलहरी १)। हे आचार्य! आप के नाम से विदित उक्त वचनों की एकैवाक्यता होना अशक्य ही प्रतीत होता है, अतएव ‘आप्यकार’ कहकर आप का व्यक्ति-निश्चय भी नहीं हो सकता। महर्षि व्यास तो यह प्रश्न-प्रकरण में स्पष्ट ही कहते हैं कि “ज्ञेयो ऋषिर्यस्य मतं प्रमा-

णम् ।" उस में भी देवगुरु बृहस्पति और उन्हीं का अवतार चार्वाक, आदिनारायण का ही अवतार गौतम बुद्ध, इन्द्र के जो सद्गुरु प्रजापति, वही विरोचन के भी सद्गुरु, इत्यादि प्रकारों से श्रीगुरु के बोधरूप-दर्शन के विषय में व्यामोह अधिक ही वृद्धिगत होता है ।

"हे आचार्य ! विवरणकार आदि प्रत्येक जीवन्मुक्त में प्रारब्ध-कर्मनुसार अज्ञानलेश, द्वैतदर्शनाभास और आकृति अर्थात् व्यक्तित्व मानते हैं । उन के कथनानुसार सम्भावित जीवन्मुक्त के खण्डित स्वरूप के द्वैताद्वैतानुभवों के कारण विभिन्न धर्मसंस्थापक, भाष्यकार, दर्शनकार तथा एक ही ग्रन्थकार के कालादि-भेदानुरूप बने हुए विसङ्गत ग्रन्थ, इन में विरोध सम्भव होता होगा, ऐसा समाधान किया जाय, तो भी इन में से सत्य कौन सा ? जगत् सत्य है या भ्रम और जगत् यदि भ्रम हो, तो वेद, गुरु, ईश्वर, शास्त्र, उपासना, ये सभी भ्रम सिद्ध होकर अनवस्था-प्रसङ्ग आ जाता है । हे जगद्गुरु ! विचार के जलाशय में इस से अधिक गहरा गोता लगाया जाय, तो जिज्ञासा का दम घुट जाने का अवसर आता है ! आप तो 'माण्डूक्यभाष्य' में कहते हैं कि जीव कभी जनमे ही नहीं है । अधिक क्या, परमार्थतः उन्हें 'अज' कहना भी व्यर्थ ही है, क्योंकि इस केवलाद्वैत में नानात्व का लवलेह भी तीनों काल में सम्भव नहीं है अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं के समस्त ज्ञेय विषय अविद्यात्मक—शशशृङ्ग की तरह मिथ्या—अतः त्याज्य है । इतना ही क्यों, परमार्थतः न कोई ब्रह्म है न साधक, न कोई मुमुक्षु है न मुक्त ही है—“उत्तमं तु परमार्थसत्यं, न कश्चि-ज्जायते जीव इति” (माण्डूक्य० भा० ४।७१), “परमार्थेन नाप्यजः” (मा० भा० ४।७४), “क्वचन किञ्चन किञ्चिदणु-मात्रमपि तेषां न विद्यते नानात्वमिति” (मा० भा० ४।८१), “सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति तदा न विरोधः.....द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम्” (मा० भा० २।३२), “न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता” (मा० २।३२) । यदि यही बात सच हो, तो कहना पड़ेगा कि शास्त्र, साधनादि सभी गम्भीर एवं उत्तमोत्तम व्यवहार भ्रम ही सिद्ध हुए । अरे ! इस से अधिक उद्देगजनक और दारुण अनवस्था की बात दूसरी कौनसी होगी ? माया के इस अनुलङ्घनीय जलाशय में मेरा जीव कैसा घबरा रहा है ? इस भयानक जलाशय का आरपार कहीं भी दिखलायी नहीं पड़ता । हे अज्ञात गुरु ! मुझ अजन्मा का यह जगतरूप स्वप्नभ्रम यहच्छा से कब भला निरस्त होगा ? हे भगवन् ! विकल्परूप विच्छुओं की शय्या पर छटपटाते हुए लाचार होकर समय बिताना, भूम में ँही कुछ बड़बड़ाना, भूम में ही कुछ न कुछ साधन-शोधन करना, यही क्या शास्त्रद्वारा दुर्लभ माने हुए इस मानवजीवन का सत्य स्वरूप है ? हाय हाय ! शास्त्र बतलाता है कि मेरा प्रत्यगात्मस्वरूप आकाश की तरह व्यापक एवं शान्त है, वह सत्त्वदानन्दरूप है । उस मुझे यह जड़ोपाधिग्रस्त क्षुद्र व्यक्तित्व भला किस ने और क्यों दिया ? किसी गौ के बछड़े की आंख में मिर्च की तुकनी आजकर, उसे घने जङ्गल में अन्धेरी रात के समय छोड़ दिया जाय, वैसी मुझ अभागे जिज्ञासु की शोचनीय दशा हुई है । दृढ़ता प्राणी-जैसे तिनके का भी सहारा ढूँढता है, वैसे ही मैं आप को अपना हितकर्ता आत्म मानकर आप के वचनों का आधार ढूँढ रहा हूँ । परन्तु वह भी निश्चित रूप से मुझे नहीं मिल रहा है । हाय रे ईश्वर ! मुझे इस दुःखार्णव से कौन पार करेगा ? हाय, व्यर्थ, व्यर्थ ही डूब गया” ऐसा कहते हुए ज्ञानयाचना के लिए फैलायी हुई हाथ की अञ्जलि से अपने आन्त मस्तक को पकड़कर वह आधुनिक साधक त्रिप्रशा के दुःखावेग से रोने लगा ।

‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’

(यह स्तम्भं विचार-विनिमय के लिए है)

राज्यशासन का डर

(श्री इन्द्र एम्. ए.)

हमारे देश के विचारकों में राज्यशासन का डर बुरी तरह असर जमाये हुए है । वे समाज या धर्म में फैली हुई भयङ्कर बुराइयों को सह सकते हैं, किन्तु यह नहीं चाहते कि उन पर राज्य की ओर से नियन्त्रण हो । इस भावना की उत्पत्ति का कारण विदेशी और विधर्मी राज्य है । धार्मिक भावना भारतवर्ष में सदा से ही प्रबल रही है । धार्मिक विश्वासों में किसी प्रकार का धक्का पहुँचना प्राचीन भारतीयों के लिए असह्य हो उठता था । धर्म का नाम लेकर उन में बुरी बातों का भी प्रचार किया जा सकता था और धर्मविरुद्ध कहकर अच्छी बातों का भी बहिष्कार किया जा सकता था । धर्म रहस्यमय और मानवबुद्धि से परे की चीज मानी जाती थी । इसलिए युक्ति को भी वहाँ जाकर कुण्ठित होना पड़ता था । हिन्दू और बौद्ध राजाओं के समय में बलपूर्वक मतपरिवर्तन कराने के अनेक उदाहरण मिलते हैं । मुसलमानी जमाने में भी जबदस्ती मुसलमान बनाने की प्रथा प्रचलित थी । अङ्गरेजों के आने पर भारतीयों को ईसाई बनाये जाने का डर लगा । इसीलिए जब विक्टोरिया ने यह घोषणा की कि धार्मिक मामलों में सरकार हस्तक्षेप न करेगी, तब उन्हें कुछ शान्ति प्राप्त हुई । यह बात ठीक है कि वह घोषणा जैसे उस समय उपयोगी थी, वैसे ही इस समय भी है । किन्तु धार्मिक हस्तक्षेप का अर्थ स्पष्ट समझ लेने की आवश्यकता है ।

एक व्यक्ति साधु का वेश धारण करके समाज में दुराचार फैलाता है और कहता है हमारा यही धर्म है । अशिक्षित स्त्रियाँ उस को बातों में आ जाती हैं । समाज में ऐसा एक भी सङ्गठन नहीं है कि उस ढोंगी को बुरी बातों से रोक सके । ऐसे समय में यदि पुलिस द्वारा सहायता ली जाती है, तो क्या यह धार्मिक हस्तक्षेप है ? एक दूसरा उदाहरण लीजिये । साठ वर्ष का बुढ़ा १२ वर्ष की लड़की से रुपए के बल पर विवाह करने जाता है । समाज उसे नहीं रोक सकता । जबतक वृद्ध-विवाहनिषेधक कानून न हो, तब तक पुलिस भी कुछ नहीं कर सकती । क्या वृद्धविवाह को सामाजिक प्रथा मानकर और निषेधक कानून को हस्तक्षेप मानकर कानून न बनाना चाहिए ? हिन्दू समाज में ऐसी अनेक कुप्रथाएँ हैं, जिन का रोकना अत्यन्त आवश्यक है । यदि लोकमत जाग्रत हो जाय और जनता उन कुप्रथाओं को स्वयं छोड़ दे, तो कानून बनाने की आवश्यकता नहीं है । किन्तु लोकमत का जाग्रत होना मामूली बात नहीं है । अशिक्षा और अन्व श्रद्धा के कारण सुधार के विचार साधारण जनता को पसन्द नहीं आते । उस पर भी उल्टी ठट्ठाने-वाले ढोंगी लोग श्रद्धापात्र बने हुए हैं । ऐसे समय में राज्य का कानून ही एक ऐसा उपाय है, जो उस कुप्रथा को रोक सके ।

यदि कोई व्यक्ति राम को मानता है और उस से कहीं जाय कि तुम मुहम्मद को मानो, तो यह धार्मिक हस्तक्षेप है । धर्म के नाम पर यदि कोई बुरा रिवाज चल पड़ा है, तो उसे रोकना धार्मिक हस्तक्षेप नहीं है । इस का निर्णय शास्त्रों के आधार पर भी दिया जा सकता है । जिस बात के लिए शास्त्रों में विधान हो या जो शास्त्रों के अनुकूल हो, उसे रोकना किसी हदतक धार्मिक हस्तक्षेप कहा जा सकता है । किन्तु जो बात शास्त्रों के विरुद्ध हो और समाज के लिए हानिकर भी हो, उसे धार्मिक बात कहना और उस में रुकावट डालने को हस्तक्षेप कहना ठीक नहीं है । असेम्बलियों में

समाजसुधार के बिल प्रायः उन्हीं सदस्यों द्वारा उपस्थित किये जाते हैं, जो उस समाज के माने हुए व्यक्ति हैं, जिन्हें अपने समाज के और तथा प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान है। इस विषय में बहस तथा विचार-विनिमय भी जनता के प्रतिनिधि हो करते हैं। वे ही कानून के असली निर्माता होते हैं। राज्य तो उन के बनाये हुए कानून को कार्यरूप में परिणत करता है और उस के अनुसार न चलनेवालों को दण्डित करता है। ऐसी दशा में हस्तक्षेप का प्रारम्भ राज्य से नहीं होता, किन्तु समाज-सुधारक ही उस व्यवस्था का निर्माण करते हैं।

मीनासरनिवासी संठ चम्पालाल जो बाँधिया ने बीकानेर असेम्बली में 'बालदीक्षा-प्रतिबन्धक बिल' रखने का निश्चय किया है। देश, धर्म तथा समाज के प्रायः सभी नेताओं ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि छोटे बच्चों का साधु न बनने देना चाहिए। कुछ श्रद्धालु सज्जन यह चाहते हैं कि बालदीक्षा को कानून द्वारा न रोककर लोकमत द्वारा रोकना चाहिए। उन सज्जनों की भावना प्रशंसनीय है। किन्तु भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए यह बात अव्यवहार्य मालूम पड़ती है। बड़े बड़े गद्दीधारी साधु समाज की तनिक भी परवाह नहीं करते। समाज में उन की सम्पत्ति छीनने की शक्ति नहीं है। वे यदि छोटे छोटे बच्चों को मूँडते हैं, तो कोई नहीं रोक सकता। इसी प्रकार ऐसे भी धार्मिक सम्प्रदाय हैं, जहाँ ग्रन्थश्रद्धा कूट कूट कर भरी हुई है। धर्माचार्य के मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द वहाँ वेदवाक्य है। वे उसे बिना विचार स्वीकार करना अपना धर्म मानते हैं। ऐसे भक्त अपने धर्मगुरु की किसी बात में हस्तक्षेप करेंगे, यह आशा नहीं की जा सकती।

इन सब परिस्थितियों में राज्य-व्यवस्था या कानून ही एक ऐसा उपाय है, जिस के द्वारा यह कुप्रथा बन्द की जा सकती है। बिल के प्रस्तावक तो यही चाहते हैं कि यह कुप्रथा बन्द हो जाय। उन्हें उपायविशेष से मोह नहीं है। किन्तु दूसरा कोई सफल तथा व्यवहार्य उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता।

(यदि कुछ 'विचारकों' में राज-शासन का डर बुरी तरह समाया हुआ है तो स्वतन्त्रता की डींग हाँकनेवालों पर राज्य के हाथ में सब कुछ सौंपकर पूर्ण रूप से परतन्त्र बन जाने की धुन भी कुछ कम मात्रा में सवार नहीं है। हिन्दू राजतन्त्र में तो राजा की व्यवस्थापन का अधिकार ही नहीं है। सारी व्यवस्थाएँ तो धर्मशास्त्र में मिलती हैं। राजा का कर्तव्य इतना ही है कि वह प्रजा की रक्षा करते हुए उस के द्वारा उन का पालन कराता रहे। धर्म में हस्ताक्षेप करने का तो राजा को कभी भी अधिकार नहीं रहा। मनु, शुक्र, कौटिल्य आदि ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि राजा को प्रजा के जातिधर्म, कुलधर्म आदि में कभी भी हस्ताक्षेप न करना चाहिए। केवल धर्म ही नहीं, शिक्षा, सामाजिक जीवन, शासन तक में प्राचीन भारतीय प्रजा को पूरी स्वतन्त्रता रही। प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था गाँवों से आरम्भ होती है। गाँवों का ऐसा सङ्घटन था कि वे अपना शासन स्वयं करते रहते थे और उस में राज्य कम से कम हस्ताक्षेप करता था। शिक्षा को तो भारत ने कभी भी राज्य की चेरी नहीं होने दिया। यही कारण है कि राजाओं और राज्य के बदलते रहते हुए भी प्राचीन संस्कृति बहुत कुछ बनी रही। अधिनायकवाद से नस्त होकर आज भी कई विचारशील विद्वान् ऐसी शासन-व्यवस्था की खोज में हैं, जिस में प्रजा अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखे। परन्तु हम अपनी सब स्वतन्त्रता खो चुके, अब बचीखुची धार्मिक स्वतन्त्रता को भी दूसरों के हाथ सौंपने के लिए उतावले हो रहे हैं। यह हम मानते हैं कि धर्म के नाम पर तरह तरह के अत्याचार किये गये हैं। परन्तु वास्तव में धर्म क्या है, यह सहज ही में जाना जा सकता है। हमारे यहाँ की कुल-परम्परा ही ऐसी है कि जो प्रत्येक व्यक्ति को बचपन से ही उस के धर्म का बोध करा देती है। प्राचीन ऋषियों का रहस्य समझना सहज बात नहीं। जिन को आज हम

'असभ्य' और 'जङ्गली' कहते हैं, उन के रीति-रिवाजों के मूल्य का आधुनिक समाजशास्त्री अनुभव कर रहे हैं। मुसलमान शासकों ने भले ही दूसरों को जबरदस्ती मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया हो, परन्तु हिन्दूशासकों में तो शायद ही ऐसा कोई हुआ है, क्योंकि हिन्दूधर्म ही दूसरों को हिन्दू बनाने में विश्वास नहीं करता। यदि 'कोई व्यक्ति साधु का वेश धारण करके समाज में दुराचार फैलाता है और कहता है कि हमारा यही धर्म है', तो समाज को उस की पूरी तरह खबर लेनी चाहिए। यदि समाज में ऐसा सङ्घटन नहीं है, तो यह हमारा ही दोष है। 'वृद्धविवाह' के हम समर्थक नहीं हैं, पर क्या विद्वान् लेखक किसी ऐसे देश को भी बतायेंगे, जहाँ वृद्धविवाह-निषेधक कानून पास हो गया है? लेखक महोदय तो ६० वर्ष के बुढ़े के विवाह से ही परेशान हैं, परन्तु पाश्चात्य देशों में तो, जो आजकल सम्य समझे जाते हैं, 'कम में पैर लटके' होने पर भी विवाह हो जाना है। ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान सचिव ८० वर्ष के बूढ़े लयड जाज का विवाह इस का एक ताजा उदाहरण है। 'बाल-विवाह' को कुप्रथा बतलाया जाता है, परन्तु अब उस का अनुकरण विदेशों में भी होना आरम्भ हो गया है। किसी प्रथा के तात्कालिक तथा सुदूरवर्ती सभी परिणामों पर पूर्ण रूप से विचार करके तभी यह कहना चाहिए कि वह कुप्रथा है या सुप्रथा? 'जो व्यक्ति राम को मानता है, उस से कहना कि तुम मुहम्मद को मानो, तो यह धार्मिक हस्तक्षेप है' ऐसा कहना 'धर्म' शब्द के अर्थ की अनभिज्ञता प्रकट करना है। कम से कम हिन्दूधर्म इतना सङ्कुचित नहीं है। उस का तो कहना है कि जिन का राम पर विश्वास है, वे राम को और जिन का मुहम्मद पर विश्वास है, वे मुहम्मद को मानें। स्वधर्म-पालन करने से दोनों ही का अन्ततः कल्याण होगा और यदि कोई राम पर विश्वास करते हुए मुहम्मद का निरादर भी नहीं करता, तो वह समाज को सच्चा ही मार्ग दिखला रहा है। जो बात शास्त्रों के विरुद्ध हो, उसे अवश्य रोकना चाहिए, पर उस के रोकने का उपाय पुलिस नहीं है। डर से जो रूकावट पैदा होती है, वह स्थायी नहीं होती। यदि किसी बात को हटाना है, तो उस का बुराई जनता के हृदय तक पहुँचा देना चाहिए, तभी वह दूर हो सकती है। आजकल के मनोवैज्ञानिक भी मान रहे हैं कि डण्डे के बल से बालकों को शिक्षा देना उन की स्वाभाविक स्वतन्त्रता नष्ट कर देना है। आजकल की असेम्बलियों में, चाहे वे ब्रिटिश भारत की हों या देशी राज्यों की, 'समाज के माने हुए व्यक्ति है' यह कहना वास्तविकता से अनाऑख मूँदना है। भारत की 'केन्द्रीय असेम्बली' के कितने तो सदस्य अपने को 'हिन्दू' कहने तक में सज्जुवाते हैं, बाकी केवल 'नामवारी हिन्दू' है। यदि वे सचमुच हिन्दू होते, तो क्या वे हिन्दू-समाज के मूल धर्मशास्त्रों पर 'राव कमेटी' का कुल्हाड़ा चलाते और 'हिन्दू-उत्तराधिकार' तथा 'हिन्दू-विवाह' जैसे बिलों द्वारा सुसङ्घटित समाज को छिन्न-भिन्न करते? आधुनिक चुनाव के जो हतडण्डे जानता है, वह आजकल सहज ही में इन असेम्बलियों में घुस सकता है। उन में निर्वाचित होना उस की योग्यता या अधिकार का प्रदर्शक नहीं है। कौन नहीं जानता कि आजकल की लोकतन्त्र-संस्थाएँ जनता की आँख में धूल झाँकने के लिए हैं। आंधकाश हिन्दुओं को राज-नौतिक उदासीनता का लाभ उठाकर वे असेम्बलियों में पहुँच गये हैं और अब वे हिन्दुओं के नेता होने का दावा करने लगे हैं। इस तरह सङ्घटित असेम्बली क्या हमारे सामाजिक जीवन में, जो धार्मिक जीवन से भिन्न नहीं है, हस्ताक्षेप कर सकती है? जिस रूप में आजकल के राज्य सङ्घटित हैं, उन के हाथ में अधिकाधिक अधिकार सौंपते जाने में हम अपने ही को निबल बना रहे हैं। 'बालदीक्षा-प्रतिबन्धक बिल' के उद्देश्य से हम सर्वथा संशयित हैं, यह पहले ही लिख चुके हैं, परन्तु उस की प्राप्ति के उपाय पर यदि पूरा विचार

न किया गया, तो फल उल्टा हो सकता है। किसी रोग की चिकित्सा में चाहे-समय और धन भले ही अधिक लगे, पर रोग समूल नष्ट होना चाहिए। समाज के प्रति ऐसे अपराधियों के लिए उन का बहिष्कार प्रभावशाली उपाय है। ऐसा करने से लोगों का तुरत उस ओर ध्यान आकृष्ट हो जाता है। धूर्त साधुओं की चोटी तो हमारे हाथ में है, हमी ने उन को बढ़ावा दे रखा है, हम जब चाहें, उन के होश ठिकाने ला सकते हैं। पर हम स्वयं कुछ नहीं करना चाहते, अपना अधिकार पुलिस को सौंपकर निश्चिन्त होना चाहते हैं। अब स्वयं हम को अपने में विश्वास नहीं रहा है। हम अपने घर की स्त्रियों और बच्चों तक पर नियन्त्रण नहीं रख सकते यह कितनी दयनीय दशा है? यदि हम सरकार का सहारा छोड़कर स्वयं घर घर घूमें, जनता को समझाएँ, दूसरों की सुनें और उन्हें अपनी सुनाएँ, तो इस से परस्पर सौहार्द बढ़ेगा और एक दोष के साथ अन्य दोष भी दूर होंगे। पर यदि हर बात में हम पुलिस को परचाते रहे, तो इस के लिए हमें किसी दिन स्वयं पछताना पड़ेगा। सं०)

भारतीय नौनिर्माणकला

(एक किताबी कीड़ा)

१

इतिहास, पुराण तथा अपने यहाँ के प्राचीन साहित्य में बड़े-बड़े जहाजों की बहुत चर्चा आयी है। रामायण 'अयोध्याकाण्ड' में ऐसी बड़ी बड़ी नावों का उल्लेख है, जिन में सैकड़ों कैवर्त योद्धा तैयार रहते थे—“नावानां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्। सञ्चरन्तानां तथा यूनान्तिष्ठन्तिवत्यभ्यचोदयत् ॥” 'महाभारत' में तो यन्त्रसञ्चालित नावों का भी वर्णन आया है—“सर्ववातसर्हा नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्”। समुद्रमार्ग से विभिन्न देशों से बराबर व्यापार होता था। 'वाराहपुराण' में गोकर्ण वैश्य की कथा आती है, जो विदेशों में रत्नों का व्यापार किया करता था—“पुनस्तत्रैव गमने वशिष्ठभावे मतिगता। समुद्रयाने रत्नानि महास्यौरयानि साधुभिः।” दण्डी के 'दशकुमारचरित' में रत्नोद्भव वणिक् की कथा है, जिस का जहाज पटना जाते हुए डूब गया था—“ततः सोदरविलोकनकुतूहलेन रत्नोद्भवः कथञ्चिच्छ्वामनुनीय चपललोचनयानया सह प्रवहणमारुह्य पुरुषपुरमभिप्रतस्थे। कल्लोलमालिकाभिहतः पोतः समुद्राम्भस्य-मज्जत।” दूसरा वणिक् मित्रगुप्त किसी द्वीप में पहुँचा, वहाँ स्वान जैसे वाराह को घेर लेते हैं, वैसे ही यवनों की नावों ने जहाज को घेर लिया—“तावदतिजवा नौकाः श्वान इव वराहमस्मत्पोतं पर्य-रुसत।” भर्तृहरि ने लिखा है कि दुस्तर समुद्र के पार करने में जहाज काम देता है—“पोतो दुस्तरवारिरागितरणे”। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के 'नावध्यक्ष' प्रकरण में नौसेना और राज्य की ओर ने नावों के प्रबन्ध का पूरा विवरण मिलता है।

इन नावों और जहाजों की निर्माण-कला पर ज्योतिषाचार्य वराह-मिहिरकृत 'बृहत्संहिता' तथा भोजकृत 'युक्तिकल्पतरु' में कुछ प्रकाश डाला गया है। 'वृक्ष-आयुर्वेद' के अनुसार वृक्षों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियाँ हैं। लघु तथा कोमल लकड़ी, जो सहज में जोड़ी जा सके, ब्राह्मणजाति की मानी जाती है। क्षत्रिय जाति की लकड़ी हलकी और दृढ़ होती है। वह अन्य प्रकार की लकड़ियों से जोड़ी नहीं जा सकती। वैश्य जाति की लकड़ी-कोमल तथा भारी होती है और शूद्र जाति की लकड़ी दृढ़ तथा भारी होती

है। जिन में दो जाति के गुण पाये जाते हैं वे 'द्विजाति' है—“लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्। दृढाङ्गं लघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत् ॥ कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते। दृढाङ्गं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते ॥ लक्षणद्वययोगेन द्विजातिः काष्ठसङ्ग्रहः ॥” भोज का कहना है कि क्षत्रिय काष्ठ की बनी हुई नौका सुखसम्पदप्रद होती है—“क्षत्रियकाष्ठैर्घटिता भोजमते सुखसम्पदं नौका।” इस के बने हुए जहाज विकट जलमार्गों में काम दे सकते हैं—“अन्ये लघुभिः सुहृदैर्विदधति जल दुष्पदे नौकाम्।” दूसरी प्रकार की लकड़ियों से जो नौकाएँ बनायी जाती हैं, उन के गुण अच्छे नहीं होते। उन में आराम नहीं मिलता, वे टिकाऊ भी नहीं होतीं, पानी में उन की लकड़ी सड़ने लगती है और साधारण भी धक्का लगने पर वे फटकर डूब जाती है—“विभिन्नजातिद्वयकाष्ठजाता न श्रेयसे नापि सुखाय नौका। नैषा चिरं तिष्ठति पच्यते च विभिद्यते सरिति मज्जते च।” भोज ने यह भी लिखा है कि जहाजों के पेंदों के तख्तों को जोड़ने के लिए लोहे से काम न लेना चाहिए, क्योंकि सम्भव है कि समुद्र की चट्टानों में कहीं चुम्बक हो, तो वही स्वभावतः लोह को अपनी ओर खींचेगा, जिस से जहाजों के लिए खतरा है—“न सिन्धु-गाद्याहति लौहबन्धं तल्लौहकान्तेर्हि यते च लौहम्। विपद्यते तेन जलेषु नौका गुणेन बन्धं निजगाद भोजः।”

आवश्यक निवेदन

जिन ग्राहकों ने पाँचवें वर्ष का चन्दा अबतक नहीं भेजा है, उन से प्रार्थना है कि वे अपना चन्दा शीघ्र ही मनिआर्डर द्वारा भेज दें। अगले मास से वी० पी० भेजे जायेंगे। वी० पी० में ३) तीन आना अधिक खर्च हो जाता है। जिन के पास नमूने की प्रतियाँ जा रही हैं, वे यदि ग्राहक नहीं बनना चाहते हों, तो वे हमें लिखकर सूचित कर दें या अगला अङ्क वापिस कर दें, जिस में और अङ्क उन के पास न भेजे जायं।

—सञ्चालक

विषय - सूची

विषय	पृष्ठ
१—“समय चूक पुनि का पछिताने” (सम्पादकीय)	... ८९
२—“भगवद्-इच्छा और ब्रिटिश साम्राज्य” (टिप्पणी)	... ९०
३—श्री विष्णुतत्व ३ (श्री स्वामी करपात्री जी)	... ९०
४—आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम ३ (श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)	... ९१
५—श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण २ (श्री सदाशिव कृष्ण फड़के)	... ९३
६—राज्यशासन का ढर (श्री इन्द्र एम्. ए.)	... ९४
७—भारतीय नौनिर्माणकला १ (एक किताबी कीड़ा)	... ९६
८—आवश्यक निवेदन	... ९६

सिद्धान्त

“जयति रघुवंशतिलकः कोशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क १३]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
स० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—आषाढ़ शुक्ल ६ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० २७ जून, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति का -)

“साक्षरता का हौआ”

गतवर्ष शिक्षा पर लिखते हुए हम ने अङ्क २३ में ‘शिक्षा और साक्षरता’ में क्या सम्बन्ध है, यह बतलाने का प्रयत्न किया था। इसी विषय पर अमरीका से निकलनेवाली पत्रिका ‘एशिया’ के गताङ्क में प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर श्री आनन्दकुमार स्वामी जी का एक बड़ा अच्छा लेख निकला है। उस में आप लिखते हैं कि “साक्षरता और शिक्षा में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। वे-पढ़े-लिखे शिक्षित लोगों पर साक्षरता लादना उन की शिक्षा को नष्ट करना है।” इस को अब कई विचारशील पाश्चात्य विद्वान् भी मानने लगे हैं। प्रोफेसर किट्रिज लिखते हैं कि “ऐसे कवि की कल्पना करना, जो स्वयं लिख नहीं सकता और कविता ऐसे लोगों को सुनाता है, जो पढ़ नहीं सकते, सहज नहीं है। सैकड़ों वर्ष तक बिना लिखे हुए बृहत् साहित्य की मौखिक परम्परा सुगमता से चल सकती है। ऐसे मौखिक साहित्य की साक्षरता मित्र नहीं है, वह तो ऐसे साहित्य को बहुत शीघ्र ही नष्ट कर देती है। जब कोई राष्ट्र पढ़ने लगता है, तब जो चीज कभी सच की थी, थोड़े निरक्षरों में ही सीमित रह जाती है और यदि वह पुरावत्त्वखोजियों द्वारा सङ्ग्रहीत नहीं की जा सकती, तो थोड़े ही दिन में सर्वथा नष्ट हो जाती है।” फिर इस प्रकार का साहित्य पहले सर्वसाधारण के लिए था। समाज के ऊँचे से लेकर नीचे तक के लोगों में एक ही प्रकार की विचार-धारा बहती थी। परन्तु साक्षर-समाज में वह ज्ञान उच्च शिक्षित कहे जानेवाले लोगों की ही धरोहर रह जाता है और उस का सम्बन्ध प्रतिदिन के जीवन से नहीं रहता। सङ्गीत के सम्बन्ध में भी यही बात है। ग्राम्यगीत आजकल खोज के विषय हो गये हैं। जर्मन विद्वान् कार्ल ओटेल का कहना है कि “जिस प्रकार की अनिवार्य शिक्षा गत शताब्दी के अन्त में प्रचलित की गयी, उस ने नागरिकों को अधिक सुखी तथा क्रियाशील नहीं बनाया। उल्टे उस ने ‘घास-लेटी’ साहित्य पढ़नेवालों तथा सिनेमा में जानेवालों को ही उत्पन्न किया।” ग्रीक और लेटिन का विद्वान् वास्टर शोरिङ्ग लिखता है कि “शिक्षा और बुद्धि में प्रायः भेद होता है। आधुनिक साक्षरता ने तो उसे और भी बढ़ा दिया है।” आयरलैण्ड की दशा बहुत कुछ भारत से मिलती है। वहाँ के सम्बन्ध में डग्लस हाइड लिखता है कि “ऐसे अध्यापकों को देखकर आश्चर्य होता है, जो आइरिश भाषा नहीं जानते और ऐसे लड़कों को पढ़ाने के लिए नियुक्त किये जाते हैं, जिन्हें अङ्ग्रेजी भाषा का ज्ञान नहीं। बुद्धिमान् लड़के, जिन्हें अपनी मातृभाषा के हजारों शब्द याद होते हैं, स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके जब निकलते हैं, तब उन की स्वाभाविक चञ्चलता हवा हो जाती है, बुद्धि शुष्क पड़ जाती है, मातृभाषा के शब्द भूल

जाते हैं और विदेशी भाषा के चार-पांच सौ शब्द, जिन का उच्चारण भी ठीक नहीं हो पाता, याद रह जाते हैं। मातृभाषा के गीत, कविता, कहानियाँ और कहावतों तथा अन्य कितनी ही सुन्दर चीजों के स्थान पर कुछ भी नहीं रहता। इतना ही नहीं, बच्चों को अपने माता, पिता, अपने राष्ट्र यहाँ तक कि अपने नामों के लिए लज्जित होना सिखाया जाता है। यह शिक्षा दूसरों को सभ्य बनाने के लिए उन पर लादी जाती है।” आइरिश भाषा के स्थान पर देशी भाषा रखकर यह वाक्य भारत के सम्बन्ध में भी ऐसा ही लिखा जा सकता है।

‘न्यू हेब्रेडीज’ नामक एक द्वीप में, जहाँ के निवासी असभ्य समझे जाते हैं, टाम हेरिसन को जो अनुभव हुआ, उस के सम्बन्ध में वह लिखता है कि “लड़कों को केवल शब्द और दर्शनों से शिक्षा दी जाती है, लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। स्मृति सदा तीव्र बनी रहती है और ज्ञान परम्परया प्राप्त होता है। गीतों और कहानियों द्वारा कितनी ही बातों का ज्ञान हो जाता है। अधिक संख्या में इन का याद रखना ही उन का पुस्तकालय है। जब वहाँ गोरे पहुँचे, तब उन्हें लिखना सिखलाने लगे, परन्तु वे इस को व्यर्थ का परिश्रम समझते और कहते हैं कि ‘क्या आदमी याद रखकर बोल नहीं सकते?’ वे हमलोगों को पागल समझते हैं और सम्भवतः यह ठीक भी है।” यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि “लिखने की कला ने मूलने को बढ़ावा दिया है, क्योंकि जो लोग इस कला को जानते हैं, वे अपनी स्मरण-शक्ति का अधिक प्रयोग नहीं करते। अक्षरों पर, जो बाहरी हैं—अपने अङ्ग नहीं हैं—निर्भरता स्वाभाविक स्मरणशक्ति को निर्बल बना देती है। यदि उस के द्वारा तुम ज्ञान प्रदान करते हो, तो वह केवल दिखाऊ है, क्योंकि तुम्हारे शिष्य बहुत-सी बातें पढ़ेंगे और बिना समझे-बूझे उन को ज्ञान मान बैठेंगे। लिखित से भी बढ़कर मौखिक शब्द शक्तिशाली है। कोई बुद्धिमान् व्यक्ति, जब वह सचमुच विचार करना चाहता है, लिखने नहीं बैठता। लिखित शब्द मृत है, जो सत्य को समझा नहीं सकते।” हिन्दीभाषा के प्रेमी स्वर्गीय सर जार्ज ग्रियर्सन का भी ऐसा ही मत था। वे लिखते हैं कि “भाव अङ्कित करने के लिए हृदय की मांसपाटी भोजपत्र या कागज से कहीं अधिक विश्वसनीय है।” भारतीय दृष्टि से वही जानना है, जो याद है और जिस को जानने के लिए पुस्तक के पास दौड़ना पड़ता है, उस का ज्ञान तो दूसरों पर निर्भर करता है। भारत में कितने ही लोग पढ़े हैं, जिन्हें लाखों श्लोक कण्ठ हैं। वास्तव में विद्वान् वह है, जिस ने गुरु से खूब सीखा है, न कि वेह, जिस ने बहुत-सी पुस्तकें पढ़ी हैं। लिखित तथा मौखिक साहित्य में बहुत अन्तर है। मौखिक साहित्य अधिकतर पद्यात्मक और लिखित

गद्यात्मक होता है। जो बात पद्य में है, वह गद्य में कभी नहीं आ सकती। साक्षरता के नाम पर पाश्चात्य अपनी संस्कृति, अपनी विचार-धारा दूसरों में भरना चाहते हैं, इसीलिए वे साक्षरता पर जोर देते हैं। अन्त में डा० कुमार स्वामी लिखते हैं कि "साक्षरता को हम बहुत अधिक मूल्य देते जा रहे हैं और उस के द्वारा हम निरक्षरों की शिक्षा की माप काना चाहते हैं। साक्षरता में हमारा अन्धविश्वास हमें अन्य प्रकार की योग्यताओं के प्रति उदासीन बना रहा है। हम समझते हैं कि जो चार अक्षर लिख-पढ़ लेता है, वही कमा सकता है। साक्षरता को शिक्षा की माप बनाने से तथाकथित शिक्षित और अशिक्षित में भेद बढ़ता जाता है और जिन 'पिछड़े हुए' लोगों को हम 'सभ्य' बनाना चाहते हैं, उन का आध्यात्मिक ह्रास होता जाता है।"

यहां राष्ट्रीय शिक्षा की सरकारी योजना पर, जो 'सार्जेंट योजना' के नाम से प्रसिद्ध है, विचार करनेवालों का भी क्या इस ओर ध्यान गया है ?

ब्राह्मणों की निःस्पृहता

आज संसार में सभ्य समझी जानेवाली जनता ब्राह्मणों को परले सिरे के लोभी कहकर पुकारने में अपनी बुद्धिमत्ता समझती है। लोभ की पराकाष्ठा का उदाहरण मानो ब्राह्मण ही दिखायी दे रहा है। है भी यह किसी अंश में सत्य। जिन के पूर्वज अश्वस्तनिक अर्थात् कल के गुजारे की भी पर्वाह न करनेवाले होते थे, जिन्होंने अपनी जीविकाएं प्राणियों को कष्ट देकर कभी न चलायीं, केवल निर्वाहमात्र के लिए जो कभी कुछ द्रव्य ले लिया करते थे, सो भी अपने अनिन्दित याजनाध्यापनादि कर्मों द्वारा ही—“अद्रोहेणैव भूताना-महपद्रोहेण वा पुनः। या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैःकर्मभिरगर्हितैः। अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ उपहेहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥” (मनु० ४। २-३-७)। उन के वंशज टके टके और मुट्ठी भर अन्न के वास्ते दर दर मटकते फिरे, यह अवनति की चरम सीमा नहीं तो क्या है ? किन्तु विचार करके देखा जाय, तो इस अपराध का अपराधी केवल वेचारा ब्राह्मण ही नहीं, आज का सारा समाज भी है। समाज ने ब्राह्मणों की जीविका के लिए कौन से अवकाश रखे हैं ? क्या कभी स्वप्न में भी आधुनिक समाज के कर्णधारों ने यह सोचने की कोशिस की है कि सर्वसाधारण नहीं तो कम से कम पढ़े-लिखे योग्य ब्राह्मणों की तो कुछ निश्चित जीविका हो, उन का निर्वाह अनायासेन हो सके, वे अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए तो कम से कम किसी दूसरे का मुँह न देखें ? आधुनिक सभ्य शिक्षित सुधारक उन की टीका-टिप्पणी करना एवं दोष देखना ही अपना परम कर्तव्य समझते हैं, उन के जीवनयापन की तरफ दृष्टि दौड़ाना भी मानो पाप है। किन्तु आज इस भयङ्कर विकट परिस्थिति में भी अपने प्राचीन आदर्शों का यथावत् पालन करनेवाले निःस्वार्थ, लोकोपकारक कार्यों में सत्साह भाग लेनेवाले एवं विश्वकल्याण-कामना से होनेवाले कार्यों में तनुमनोधन से सहयोग देनेवाले विप्रकुलमूषण भी पढ़े हैं। हाँ, यदि कोई उन्हें पूछे और उन की योग्यता की कदर करे, तो। इधर कुछ दिनों से काशी के सर्वशास्त्रीय वैदिक विद्वन्मण्डल ने अपने वास्तविक ब्राह्मणत्व का स्वरूप संसार के सामने उपस्थित किया है। महीनों से परमग्लान्यधर्माभ्युत्थाननिवृत्ति एवं विश्वकल्याणार्थ श्रीमत्परमहंस-परिब्रजकाचार्यवर्य श्री १००८ स्वामी करपात्री जी महाराज की अध्यक्षता में होनेवाले नानाविध अनुष्ठानों में वे निःस्वार्थ भाव से भाग लेते चले आ रहे हैं। अखण्ड अनुष्ठानों में, जहाँ सारी रात जगना भी पड़े और कुछ प्राप्ति की भी आशा नहीं, वहाँ भी

रात्रि के १२, २ तथा ४ बजे तक के पर्यायों में सैकड़ों की संख्या में भाग लेकर उन्होंने अपने निःस्वार्थ सेवाभाव का उदाहरण उपस्थित कर ब्राह्मणों की अहर्निश आलोचना करनेवालों को क्रियात्मक उत्तर दिया है। वास्तव में ऐसे ही ब्राह्मणों की ओर यह भारतभूमि अपने उद्धार की आशा लगाये बैठी है। जब सभी भारतीय ब्राह्मणों को अपने इस वास्तविक स्वरूप का स्मरण हो उठेगा, तब केवल भारत का ही नहीं, अपितु समस्त विश्व का कल्याण होने में विलम्ब न लगेगा।

श्री विष्णुतत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

४

वे ब्रह्मवन निरतिशयानन्दामृतसागर, अमिततेजोराश्याकर, अनन्त, शुद्ध बोधानन्दविमानजालों से सङ्कुलित हैं। क्रमेण विद्या एवं आनन्द की सन्धि में पहुँचकर आनन्दतरङ्गिणी के प्रवाह में नहाकर उपासक बोधानन्दवन को प्राप्त होता है। वह वन सन्तत अमृतपुष्पवृष्टियों से परिवेष्टित मूर्तिमान् परमानन्दप्रवाहों से व्याप्त है। वह अपरिच्छिन्नानन्दसागराकार क्रीडानन्दपर्वतों से अतिशोभित है। उस के मध्य में शुद्ध बोधानन्द-वैकुण्ठ है। वही ब्रह्मविद्यापादवैकुण्ठ है, वह सहस्त्रानन्द-प्राकारों से समुज्ज्वलित है। अनन्तानन्दविमानजाल से सङ्कुल, अनन्त बोधसौधविशेषों से प्रज्वलित, क्रीडानन्तमण्डपों से विशेषित बोधानन्दमय छत्र, चमर, ध्वज, वितान, तोरणादि से समलङ्कृत, नित्यमुक्त परमानन्द-व्यूहों से व्याप्त है। एवंविध बोधानन्दवैकुण्ठ में प्रवेशकर परमानन्दाचल के ऊपर अखण्ड बोधविमान दीप्त होता है। उस के भीतर चिन्मयासन है। उस पर अरुण्डानन्दतेजोमण्डल है। उस के भीतर आदिनारायण का पूजन करके, पुष्पाञ्जलि समर्पण करके उपासक स्वरूपावस्थित होता है। भगवान् उसे अपने सिंहासन पर बिठलाकर वैकुण्ठवासियों के साथ समस्त मोक्षसाम्राज्य-पट्टाभिषेक के लिए दिव्य मङ्गल महावाद्य-पुरस्सर आनन्दकलशों से उसे अभिषिक्त करके विविध उपचारों से पूजनकर, अपने चिन्नों से अलङ्कृत करके कहते हैं—“तुम ब्रह्म हो और हम भी ब्रह्म हैं, दोनों में भेद नहीं है, तुम हम हैं, हम तुम हो।” ऐसा कहकर आदिनारायण तिरोहित हो जाते हैं। पश्चात् उपासक नित्यगुरु पर अरुण्ड होकर वैकुण्ठवासियों से परिवेष्टित होकर महामुदर्शन, विष्वक्सेन से परिपालित ब्रह्मानन्दविभूति को प्राप्त करके सर्वत्रावस्थित ब्रह्मानन्दमय अनन्त वैकुण्ठों को देखकर, आत्माराम अनन्त पुरुषों का दर्शन करता है। अनन्त, दिव्य तेजःपर्वतों से अलङ्कृत परमानन्दलहरीवन से शोभित असंख्य आनन्दसमुद्रों का आतिक्रमण करके विविध, विचित्र, अनन्त, परम-तत्त्वविभूतिसमष्टिविशेषों का अनुभव करता है।

इस के बाद सुदर्शनपुर का दर्शन होता है। वह नित्यमङ्गल, अनन्तविभव, सहस्त्रानन्दप्राकारों से परिवेष्टित, हजारों कुक्षियों से युक्त, अनन्त, उत्कट जाज्वल्यमान अरमण्डल अनन्तानन्दसौदामिनी-परमाविलास, निरतिशयपरमानन्द-पारावारस्वरूप है। उस के मध्य में सुदर्शन महाचक्र है। अनन्त दिव्यायुध, दिव्यशक्तिसमष्टिरूप महाविष्णु का अनर्गल प्रवाहविग्रह, अयुतायुतकोटियोजनविशाल, अनन्त ज्वालाजालों से अलङ्कृत, समस्त दिव्यमङ्गलनिदान सुदर्शन-चक्र प्रकाशमान है। उस के नाभिमण्डल में निरतिशयानन्द दिव्य-तेजोराशि जगमगाती है। उस नाभि के मध्य में सहस्रारचक्र है। वह अखण्ड दिव्य तेजोमण्डलाकार, परमानन्दसौदामिनी-समूह के

सहस्र उज्ज्वल है। उस के भी अभ्यन्तर संस्थान में षट्शत अर का चक्र है। वह अमित परम तेज के विहार का संस्थानविशेष, विज्ञान-घनस्वरूप ही है। उस के भीतर परमकल्याण-विलासविशेष अनन्त चिदादित्यसमष्ट्याकार त्रिशतार चक्र है। इसीतरह उस के भीतर शतार चक्र, उस के भीतर षष्ठ्यर चक्र है। उस के भीतर षट्कोण चक्र है। वह अपरिच्छिन्न, अनन्त, दिव्य तेजोराश्याकार है। उस के भीतर महानन्दपद है। उस की कर्णिका पर सूर्य, चन्द्र एवं बन्धि का चिन्मय मण्डल है। वहाँ निरतिशय दिव्य तेजोराशि लक्षित होती है। उस के भीतर युगपत्समुदित, अनन्तकोटिसूर्य-प्रकाशसम सुदर्शनपुरुष विराजमान है। वह साक्षात् महाविष्णु ही है। इन्हीं के सम्बन्ध में यह मन्त्र है—“चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पृतस्तरति दुष्कृतानि। तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानम-रतिं तरेम ॥ लोकस्य द्वारमर्चिमतं पवित्रं ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्। अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितां दधातु ॥” इस का अर्थ है कि जो तत्त्वमस्यादि महावाक्यों द्वारा स्वात्मरूप से सम्यक् दर्शनीय है, वही सुदर्शन है। वह अविद्या, तत्कार्यरूप असुरसमूह का शिर काटने में समर्थ है, अतः तुरीय ब्रह्म ही सुदर्शन महाचक्र है अथवा तुरीयप्राप्ति का साधन महानारायण-मन्त्र ही सुदर्शन चक्र है। वह अपवित्र एवं परिच्छिन्न अविद्या, विद्या और आनन्द, इन तीनों के अपवाद का अधिष्ठान है, अतः पवित्र एवं वितत है, चिरन्तन होने से पुराण है। उसी से पूत होकर प्राणी सर्व प्रकार के दुष्कृतों को तर जाता है। उस पवित्र शुद्ध ज्ञान-विज्ञान से पूत होकर हमलोग अतिपापरूप अराति को अर्थात् अविद्या, तत्कार्य के अस्तित्व-भूम को तर जाय। वह तुर्य-ज्ञान ही स्वात्मलोक का द्वार है। वह सुदर्शन प्रत्यग्रूप से अर्चिमत पवित्र है, पर रूप से ज्योतिष्मद् भ्राजमान है। प्रत्यगभिन्न ब्रह्म-रूप से महस्वत् है। ब्रह्मानन्दरस की धारा को पूरित करता हुआ वह तुरीय हम सब को जीवन्मुक्त बनाये।

सुदर्शनमहापुरुष की पूजा करके उपासक विविध विचित्र, अनन्त चिद्विलासविभूतिविशेषों का अतिक्रमण करता हुआ अनन्त परमानन्दविभूति-समष्टिविशेष, अनन्त निरतिशयानन्द-समुद्रों को लांघकर क्रमेण अद्वैतसंस्थान को प्राप्त होता है। वह अद्वैत-संस्थान अखण्ड आनन्दस्वरूप है, अमित बोधसागर है, अमिता-नन्दसमुद्र है, विजातीय-विशेषवर्जित है, सजातीय-विशेषों से ही विशेषित है। निरवयव, निराधार, निर्विकार है। निरञ्जन, अनन्त ब्रह्मानन्दसमष्टिकन्द है। परम चिद्विलास-समष्ट्याकार है। अतिनिर्मल, अनन्तकोटि रविप्रकाश के समान उस के एक एक विस्फुल्लिङ्ग हैं। वही अनन्त उपनिषदों का मुख्यार्थ है। अखिल प्रमाणातीत मनो-वचनों का अगोचर है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, महान् से भी महत्तर है। अनिर्देश्य, कूटस्थ, अचल है, भीतर-बाहर व्याप्त होकर सर्वत्र स्थित है, निरतिशयानन्दतडित्वर्तों के आकार का है, अपरिच्छिन्न, अनन्त परज्योति है। उस के भी कुछ भीतरी संस्थान में अमितानन्दचिद्रूप अचल है। वही अखण्ड परमानन्दविशेष, बोधानन्दमहोज्ज्वल नित्यमङ्गलमन्दिर है। वह मानो चित्तत्व को मन्थन करके निकाला हुआ चित्तसार है, अनन्त आश्चर्य का सागर है, अनन्त आनन्दप्रवाहों से अलङ्कृत, निरतिशयानन्द-पारावारा-कार है, निरुपम, नित्य, निरवयव, निरतिशय, निरवधिक तेजोराशि-विशेष है। निरतिशयानन्दस्वरूप हजारों आकारों से अलङ्कृत है। शुद्ध बोधरूप सौधों से शोभित चिदानन्दमय अनन्त दिव्य आरामों एवं अमित पुष्पवृष्टियों से शोभमान है। यही त्रिपाद्विभूति वैकुण्ठ-संस्थान है। यही परम कैवल्य है, यही अबाधित, परम तत्त्व, यही सद्बोधन, चिद्बोधन, आनन्दघन है, वही अखण्डानन्द ब्रह्मचैतन्य का अधिदैवत स्वरूप है, अद्वय परब्रह्मविहार-मण्डल है। वही परम-मूर्ति, परमतत्त्वविलास-विशेषमण्डल है, वही बोधानन्दमय अनन्त

परम विलासविभूतिविशेष-समष्टि-मण्डल है, वह मनोवचनातीत, अनन्त, शुद्ध बोधविशेषविग्रह है। अनन्त बोधाचल, अनन्त आन-न्दाचलों से अधिष्ठित है, केशवादिग्रन्थों से अधिष्ठित है।

वही आनन्दव्यूहों के मध्य में सहस्रकोटियोजनविस्तीर्ण एवं उन्नत चिन्मय प्रासाद है। ब्रह्मानन्दमय करोड़ों विमानों से अतिमङ्गल है, अनन्त उपनिषदों के अर्थरूप आरामजालों से सङ्कुल, सामहंसों से कूजित, आनन्दमय अनन्त शिखरों से अलङ्कृत, चिदानन्दरसनिर्झरों से अभिव्याप्त, अखण्डानन्दतेजोराशि के भीतर अनन्तानन्द आश्चर्यसागर है। उस के भीतर अनन्तकोटिसूर्य-प्रकाश से भी अधिक प्रकाशवाला निरतिशयानन्दलक्षण प्रणव-विमान है। वह आनन्दमय शतकोटि शिखरों से शोभित है। उस के भीतर बोधानन्द अचल पर अष्टाक्षरी मण्डप है। उस के मध्य में चिदानन्दमयी वेदिका आनन्दवन से भूषित हो रही है। उस के ऊपर निरतिशयानन्द तेजोराशि है। उस के भीतर अष्टाक्षरी पद्म-विभूषित चिन्मयासन है। प्रणवकर्णिका पर सूर्येन्दुबन्धि का चिन्मय मण्डल है। उस के मध्य में अनन्त, अखण्ड तेजोराशि है। उस में परममङ्गलाकार अनन्त नागस्वरूप आसन है। उन के ऊपर महायन्त्र है। उसी में निरञ्जन परब्रह्म परम कैवल्यमय नारायणमन्त्र एवं तदन्तर्गत परमतत्त्व सर्वाधिष्ठान भगवान् हैं। चिदानन्दसार-भूत ही भगवान् का विग्रह है। निरतिशयानन्द-सौन्दर्यपारावार लावण्यवाहिनी-कल्लोल एवं अनन्तकोटि तडित्तास्वर दिव्य मङ्गलमय विग्रह की शोभा बड़ी ही अद्भुत है। परममङ्गलसमूह मूर्तिमान् होकर भगवान् की सेवा में निरत हैं। अनन्तकोटि रविप्रकाशों से युक्त दिव्य भूषणों से भगवान् का विग्रह भूषित हो रहा है। सुदर्शन, पाञ्चजन्य, पद्म, गदा, असि, शार्ङ्ग, मुगल, परिघ आदि चिन्मय आयुधों से सेवित भगवान् का वक्षःस्थल श्रीवत्स, कौस्तुभ, वन-माला आदि से अलङ्कृत होता रहता है। ब्रह्मकल्पवनामृतपुष्प-वृष्टियों एवं ब्रह्मानन्दनिर्भर असंख्य मङ्गलों से परमानन्द उमड़ता रहता है। शेषजी के अयुत फणाजालमय विपुल छत्र से श्रीभगवान् का स्वरूप और ही शोभा को प्राप्त हो रहा है। फणाओं की दीप्तिमय मणियों से भी विग्रह और दीप्तिमान् होता रहता है। निजांशकान्तिनिर्झरों से स्वरूप की चमत्कृति अवर्णनीय हो रहती है। निरतिशयानन्द-ब्रह्मगन्धसमष्टिविशेषाकार तथा अनन्तानन्द-मय तुलसीमाख्यों एवं चिदानन्दमय अनन्त पुष्पमय माख्यों से विराजमान तेजःप्रवाह-परम्परा से तथा अनन्त कान्तिविशेषावर्तों से भगवान् का स्वरूप सदा ही चमत्कृत रहता है। बोधानन्दमय धूप-दीपावलिओं तथा अनतिशयानन्द चामरविशेषों से शोभित, चिन्मयानन्द दिव्य विमान, छत्र, ध्वज आदि से विराजित भगवान् की शोभा अद्भुत है।

आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

पाठकगणों को निम्नोद्धृत कथा के पढ़ने से विदित होगा कि आस्तिक का मूल विज्ञान पहले प्रकट किया गया है, इस के उपरान्त, नास्तिकों के रचित जाली भगवान् द्वारा मनुष्य किसतरह वञ्चित होता है, इस का उल्लेख है। वर्तमान वाराहकल्प के वैवस्वतमन्वन्तरीय अष्टाईसवें दैवयुग के कलि में भक्तप्रवर श्रीधर स्वामी और भक्त-श्रेष्ठ चैतन्यप्रभृति ने जिसतरह नास्तिककथित जाली भगवान् का ग्रहण किया था, इन दो कल्पों के वैष्णवगणों ने भी नास्तिकों की आपातरमणीय बातों में भूलकर उसीतरह जाली कृष्ण (भगवान्)

का आश्रय करके आस्तिक-पथ का परित्याग किया था। विस्तारभय से यहाँ मूल श्लोक उद्धृत न कर केवल उन का आशय दिया जा रहा है। पाठक 'देवीभागवत' के ९ स्कन्ध के २ य अध्याय और 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' प्रकृतिखण्ड के दूसरे अध्याय में इस प्रकरण को देख लें। "अग्नि में दाहिका शक्ति, कमल में शोभा, सूर्य में प्रभा, इन का जैसे पृथक् अस्तित्व नहीं है, वैसे ही शून्याकारा नित्य प्रकृति सदा ब्रह्म में लीन है। आत्मा में उस प्रकृति (शक्ति) का चिरकालीन सम्बन्ध होने से उसे आत्मा—ब्रह्म—से पृथक् नहीं कहा जा सकता। स्वर्णकार जिसतरह स्वर्ण से पृथक् सुवर्ण का वलय नहीं बना सकता, कुम्भकार जिसतरह मृत्तिका से भिन्न घट प्रस्तुत नहीं कर सकता, उसीतरह ब्रह्म भी उस शक्ति के बिना जगत् की सृष्टि करने में असमर्थ है। इसलिए प्रकृति सर्वशक्तिस्वरूपा है और उस शक्ति के योग से ब्रह्म या आत्मा सर्वदा शक्तिमान् है। शक्ति के 'श' इस अक्षर से ऐश्वर्य और 'क्त' इस अक्षर से पराक्रम का बोध होता है, अतएव शक्ति ऐश्वर्य-पराक्रमस्वरूपा और ऐश्वर्य-पराक्रम-दात्री कही जाती है। 'भग' शब्द से समृद्धि, बुद्धि, सम्पत्ति, यश प्रभृति का बोध होता है। शक्ति में उन सब का सर्वदा अस्तित्व रहने से शक्ति का नाम 'भगवती' है और शक्ति भगस्वरूपा कही जाती है। आकाश के अन्त्यन्तरवर्ती सत् या सत्यस्वरूप आत्मा की जो बात पहले बतलायी जा चुकी है, उस सदात्मा से इस भगरूपा शक्ति का योग होने से सत्य ब्रह्म (सदात्मा) 'भगवान्' कहा जाता है। सत्य ब्रह्म को इसतरह शक्तियुक्त मान लेने से वह स्वेच्छामय, अव्यक्त अन्धकार या शून्य द्वारा आवृत होने के कारण कृष्ण, जगत् का उपादान वही शून्य होने से निराकार और वह शून्य ही विचित्र जगदाकार से होने के कारण साकार हुआ है।", "योगीलोग ध्यान द्वारा साकार जगद्भाव का अतिक्रमण करके अस्तित्वस्वरूप सत्य का, स्वप्रकाश एवं तेजोरूप निराकाररूप से, चिन्तन करते हैं और उसे आकाशरूप शक्ति से अतीत समझकर उस अवस्था में उसे भगवान् न कहकर परब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर आदि नामों से पुकारते हैं।"

वैष्णवलोग इन सब बातों को नहीं मान सकते। वे इस में से और सूक्ष्म को बाहर [कारते हैं। उन का कहना है कि "योगी जिसे तेज कहते हैं, वह किस का तेज है? तेज का कोई स्वामी न हो, तो उस तेज के अस्तित्व की सम्भावना नहीं है, अतएव इस तेजोमण्डल के बीच में दूसरा कोई ब्रह्मरूप तेजोधारी वर्तमान है। वह स्वेच्छामय, सर्वरूप में सर्व कारण का कारण है, मयूरपिच्छ का सुकुट धारण करनेवाला, मालतीपुष्प की माला से मण्डित, दो हाथों से मुरली धारण किये हुए है, रत्न के अलङ्कार उस के भूषण है" इत्यादि। आधुनिक वैष्णव ऐसे सनातन रूप का चिन्तन करते हैं। अगले श्लोक में "कृष्ण इत्यभिधीयते"—इस का नाम कृष्ण है—इत्यादि विस्तृत कथा लिखी हुई है, पर विस्तारभय से उसे यहाँ उद्धृत नहीं किया जाता। वैष्णवलोग यदि आस्तिक के ब्रह्म को जानते और 'वह है' इस बात के सिवा उसे जानने का अन्य उपाय नहीं है, यह जानते और वह अभाव का प्रतिपक्ष होने के कारण सत्य है, उस सत्य को किसी शब्द द्वारा प्रकाश करने का उपाय न होने से उसे स्वयंज्योति, तेज अदि कथन से व्यक्त किया जाता है, इस मर्म को ग्रहण करने में समर्थ होते, तो फिर 'है', 'सत्य' इस का प्रकाशक कोई है या नहीं, ऐसा विचार उन के मन में न उठता। इस श्रेणी के वैष्णवों ने 'ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म है', 'तेजःस्वरूप ब्रह्म है' इत्यादि बातें सुनकर स्थूल बुद्धि में वैदिक ब्रह्म को भौतिक ज्योति-विशेष मानकर, उस ज्योति के आधारस्वरूप द्विमुज, मुरलीधर मूर्ति की धारणा कर ली है। विचार न करके, केवल दूसरे की बात सुनकर, धर्ममत गठन करते हुए ऐसी ही दशा होती है। श्रीधर स्वामी आदि इन सब पुराणों का पाठ करते हुए सारस्वतकल्प के वैष्णवों की बातों को स्वीय मनःपूत करके अन्यान्य लोगों को अपने

मत में ले आये हैं। वैसे ही सम्भवतः रथन्तरकल्प के वैष्णवों की भी इस प्रकार की नास्तिकता को सुनकर सारस्वतकल्प के वैष्णवों ने उसे ही आस्तिकता समझकर उस का अनुसरण किया होगा।

भगवदुपासना शास्त्रसङ्गत कार्य है, उसे आस्तिकता की सीमा से हटाकर ऊपर ले जाने से नास्तिकता का आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा, यह बात सहज बुद्धि की समझ में नहीं आती। इसलिए महादेव ने शिष्य नारद को, ब्रह्मोपदेश करके इन सब विषयों की व्याख्या करते हुए, सतर्क कर दिया है। साधुता को समझाने के लिए जैसे चोर के व्यवहार का वर्णन करना पड़ता है, प्रकाश का बोध कराने के लिए जैसे उस के विपरीत अवस्था—अन्धकार के स्वरूप—का समझाना आवश्यक हो जाता है, सुख का ज्ञान कराते हुए जैसे दुःख का भी ज्ञान कराये बिना काम नहीं चलता, वैसे ही आस्तिकता को समझाते हुए नास्तिकता का स्वरूप-कथन भी अपरिहार्य हो जाता है। इसी दृष्टि से महादेव ने नारद से आस्तिक-मत कहकर, अन्त में अज्ञ भक्त उस का क्या अभिप्राय निकालते हैं, यह बात बतलायी है। महादेव का अभिप्राय यही था कि नारद वैसे वैष्णव न बन जाँय। वैष्णवों के वेदस्वरूप 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के आधार पर ही यह सब बातें बतलायी जा रही हैं। विस्तारभय से श्लोक उद्धृत न किये जायेंगे, जिन्हें कौतूहल हो, वे उक्त पुराण में देख लें। महादेव ने नारद से कहा—“ब्रह्म सब का आत्मा, निर्लिप्त, साक्षि-स्वरूप (यहाँ पर वैसा ही साक्षिस्वरूप समझना चाहिए, जैसा तालाब खोदते हुए बीच बीच में मृत्तिका के स्तूप साक्षिरूप में रखे जाते हैं), सर्वव्यापि और सर्वादि है, यह सब श्रुतियों में भी सुना जाता है। सर्व जगत् की बीजस्वरूपा अव्यक्त प्रकृति उस ब्रह्म की शक्ति कही जाती है। इसीलिए ब्रह्म को उस शक्ति से विशिष्ट समझना चाहिए। परन्तु योगी शक्तिसंयुक्त उस ब्रह्म का (शक्ति से अतीत) तेजःस्वरूप में ध्यान करते हैं। वैष्णव उस भाव का ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे भक्त हैं, सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्न हैं। (अर्थात् वे वेद का अतिक्रम करते हैं)। उन का कहना है कि “वह तेज किस का है? आश्चर्य की बात यह है कि क्या बिना किसी व्यक्ति के तेजःस्वरूप ब्रह्म का ध्यान किया जा सकता है?” इसी अभिप्राय से—कारण के बिना कार्य नहीं होता, अतः—वैष्णवलोग उस तेज के स्वामीरूप साकार, स्वेच्छामय पुरुष के मनोहर, त्रिभङ्गि रूप का चिन्तन करते हैं। वही परिपूर्ण तम राधिकावल्लभ श्रीकृष्ण हैं।

ऐसे कृष्ण का भजनकर आस्तिकता-प्राप्ति की सम्भावना नहीं है, बल्कि योगी, ऋषियों के प्रवर्तित ब्रह्म के उपचार 'भगवान्' का पूजन करते करते क्रमशः 'सत्य है' ऐसी आस्तिकी बुद्धि का उन्मेष हो सकता है, किन्तु पहले ही सत्य का अतिक्रम करके (वह सत्य ब्रह्म नहीं है, इसतरह) कृष्ण का भजन करने से फिर आस्तिकता-प्राप्ति की सम्भावना ही नहीं रहती। इसतरह सत्य का सम्पर्क छोड़ देने पर ज्ञान प्राप्त होने की आशा ही व्यर्थ है। अतएव देखा जाता है कि अनेक भक्त ज्ञान एवं मुक्ति के विरुद्धवादी होते हैं। रामप्रसाद ने गाया है कि “हम मिसरी होना नहीं चाहते, मिसरी खाना पसन्द करते हैं।” नास्तिकता एवं आस्तिकता का फल कहाँ तक जा सकता है और उस का परिणाम क्या है, इसे यदि नास्तिक समझ सकते, अथवा 'हम घोर नास्तिकता के पथ पर चले जा रहे हैं,' इस अवस्था का उन्हें पता लगता, तो अपने दल के कोलाहल में पड़कर वे 'जाली भगवान्' को भजने न बैठते। सारस्वतकल्प के उन वैष्णवों की निन्दा के लिए इतनी बातें नहीं कही जा रही हैं, 'नौकरानी की ताड़ना करके बहू को सिखावन देने' की तरह विचारविहीनता का दोष दिखलाकर अन्य साधारण जनो को केवल सतर्क किया जा रहा है।

आधुनिक जनता में, देखा जाता है कि 'नास्तिक' के खाता में नाम लिखवाने में सभी अनिच्छुक हैं, अतः समाज में 'आस्तिक'

कहकर विख्यात होने के लिए किसी एक ईश्वरादि को मानने की चाल हो गयी है। यह देखकर हँसी आती है और दुःख भी होता है, क्योंकि यह व्यवहार नास्तिकता के उपादान से रचित है। ईश्वर को नास्तिक के शून्यवादपर्यन्त हटा ले जाने पर वहाँ ईश्वरादि कुछ भी ठहर नहीं सकता, इसलिए आधुनिक ईश्वरादि की अपेक्षा नास्तिक के शून्यवाद को श्रेष्ठ कहना पड़ता है। हाँ, सारस्वतकल्प के वैष्णवों के कृष्ण भिन्न हैं। आधुनिक ईश्वर का अतिक्रम करने पर नास्तिक-सम्मत शून्यवाद उपस्थित होता है। उस नास्तिकता के शून्यवाद का अतिक्रम करने पर स्वप्रकाश सत्य का अस्तित्व हस्तगत किया जा सकता है। यही यथार्थ आस्तिकता है। इसीतरह जाली भगवान् को उस सत्य ब्रह्म के ऊपर ले जाकर पुनः नास्तिकता लायी जा सकती है। आस्तिकता "तमसः परस्तात्" है, अज्ञेय अन्धकार-स्वरूप शून्यवाद से परे आस्तिकता का स्थान है। यह तम शुद्ध स्फटिकस्तम्भ की तरह स्वच्छ है। स्फटिकस्तम्भ देखने में जैसे अभाव (शून्य) सा है, पर हाथ लगाने पर वस्तु का अस्तित्व उपपन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म भी अभाववत् प्रतीयमान होता है—
"सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्वाधैकसाक्षिणः। बाधः किंसाक्षिको ब्रह्मि न त्वसाक्षिक इष्यते ॥"

श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण

(श्री सदाशिव कृष्ण फंडके)

३

कई छोटे-बड़े लोगों की जिज्ञासाएँ मैं ने देखी हैं, पर निराशा से रो देनेवाली ऐसी उत्कट जिज्ञासा इस के पहले मैं ने नहीं देखी थी। सन्तों को, साधनावस्था में निराशा के दिव्य में से गुजरना पड़ता है। न्यून पद के अधिक होते हुए बीच में यह शून्यावस्था आती हो है। उस आधुनिक साधक की उस उत्कट जिज्ञासा को देखकर मेरा अन्तःकरण विचलित हो उठा और मेरे ओठ तक सहानुभूति-पूर्ण यह उद्गार आये कि "अरे! शङ्काओं के जाल में रेशम के कीड़े की तरह फँस गये इस साधक को भला कौन छुड़ायेगा?" उस समय, नदी में किसी को डूबता देखकर किनारे पर खड़ा मनुष्य जैसे सोच-विचार न कर उसे निकालने के लिए एकदम क्रोध पड़ता है, वैसे ही मुझ में विलक्षण संस्कार उत्पन्न होकर मैं एक भारी साहस करने में प्रवृत्त हो गया। दुःखाश्रुओं से आच्छन्न उस साधक की दृष्टि बचाकर मैं भट से मन्दिर के भीतर घुस गया और श्री आचार्यचरण-पादुकावाले सिंहासन के पीछे छिपकर बैठ गया। इस जलदवाजी में मेरे हाथवाली झाड़ू की एक खाली डिब्बे पर ठोकर लग जाने से उस गम्भीर निस्तब्धता में एकाएक भारी आवाज हो उठी। उस आवाज को सुनकर वह साधक ज्यों ही इधर-उधर देखता है, त्यों ही मेरे मुँह से अनपेक्षित आदेश बाहर निकल पड़ा। निराशा के गाढ़ अन्धकार में काले फलक पर लिखे हुए खड़िया के अक्षर की तरह, मेरा भाषण उसे आकाशवाणी सा प्रतीत हुआ होगा। मानो आचार्य ही बोल रहे हैं यह भासित करने के लिए गम्भीर आवाज से मैं ने—केवल उस साधक को ही सुनायी पड़े, ऐसा—निम्नलिखित प्रवचन किया—
"हे साधक! सावधान हो जाओ, सावधान हो जाओ! तुम्हारी उत्कट जिज्ञासा देखकर मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ। अब उठो, संक्षेप में शङ्काओं का समाधान बतलाता हूँ, उसे सावधानचित्त होकर सुनो।

"मैया! (तार्किको ह्यनात्मज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति, अतएव च येयमागमप्रभृता मतिः अन्येनैव आगमाभिज्ञेन

आचार्येणैव तार्किकाद्योक्ता सतो सुज्ञानाय भवति) आगमाभिज्ञ आचार्यों की शुद्ध परम्परा से किसी भी एक शास्त्रग्रन्थ का श्रद्धा-पूर्वक अध्ययन न कर, शास्त्रों के सन्दर्भरहित कुछ वचनों को लेकर, उन का तुम ने अपने ही त्वैर तर्क द्वारा विचार किया है, इसलिए जङ्गल में रास्ता भूले हुए पथिक की तरह तुम्हारी यह सब गड़बड़ी हुई मालुम पड़ती है। तुम आधुनिकों की यह पठन-पद्धति अशास्त्रीय है—'इति शुश्रुम पूर्वेषामित्यागमोपदेशः, व्याचक्ष्व ईश्वर इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम्। तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवतीति' " (केनभाष्य १।३)। सत्य ज्ञान के लिए (१) साधनचतुष्टयसम्पन्नता, (२) सद्गुरुपास्ति, (३) शास्त्रीय दृष्टि, (४) अन्तर्मुखवृत्ति और (५) शास्त्रश्रद्धा, गुरुश्रद्धा एवं आत्मश्रद्धा, इन तीनों का संवाद अर्थात् मेल (केनभाष्य २।९) इतनी बातों की आवश्यकता पड़ती है। शास्त्र के समन्वय तथा समग्रता से ही विचार करना चाहिए। अयोग्य विषय में मेदबुद्धि न करनी चाहिए। तात्पर्य-निर्णय के लिए मीमांसकों की षड्लिङ्ग-पद्धति का अनुसरण करना चाहिए। परन्तु तुम आधुनिकों में इन सब बातों का प्रायः अभाव ही रहता है, इसलिए आधुनिक बुद्धिवाद कभी कभी पाखण्ड हो जाता है। किसी घाव से फूल पर और कीचड़ पर से मिठाई पर, इसतरह शुद्धाशुद्ध का सेवन करते हुए उड़नेवाली मक्खी की तरह अनुभव-शून्य एवं अनभिज्ञ पाश्चात्यों की आलोचना से पौर्वोक्त तत्त्वज्ञान की ओर फिरनेवाली तुम आधुनिकों की मधुकर-दृष्टि अशुद्ध एवं अभ्यासी साधक के लिए अयोग्य होती है। फिर भी तुम्हारी शास्त्रनिष्ठ उत्कट जिज्ञासा देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ। हे आधुनिक साधक! तुम्हारे ऊपरी अवगुण की सभी चट्टानें तुम्हारी उत्कट जिज्ञासा के प्रवाह में छिपी हुई हैं, इसलिए तुम्हारी विचारानौका को मैं उस पार पहुँचा सकूँगा। परन्तु शङ्काओं के वड़वानल से आकुल विचार-सागर की अव्यवस्थित लहरों की ओर देखकर तुम धरा म त उठना। बहिर्दृष्टि को बन्द करके तुम अन्तर्मुख हो जाओ और सावधानता के स्तम्भ को मजबूती से पकड़ कर बैठो—
"परिनिष्ठित-निश्चितविज्ञानप्रतिज्ञाहेतुक्तेः" (केनभाष्य १।९)।

"मैया! साधक में अत्युत्कट जिज्ञासा के प्राप्त होने पर निरुद्ध ज्वालाग्राही वायु में आग की चिनगारी के गिरने के समान सद्गुरु-पद के द्वारा किसी रूप में आदेश प्राप्त होकर उस की जिज्ञासा शान्त और निरस्त होती है। इसतरह सद्गुरुसमाश्रय का उचित समय प्राप्त होने पर अधिकारी साधक को सद्गुरु की भेंट और परिचय भी अपने आप हो जाता है, इस में सन्देह का अवसर नहीं है। परन्तु "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" और "संशयात्मा चिनइयति" ये भगवान् के अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र हैं, उन्हें मन में सदा जागृत रखना चाहिए। भूमितिशास्त्र के आरम्भ में कुछ बातों को स्वतः-सिद्ध और कुछ को सिद्धवत् मानना पड़ता है। श्रद्धा के बिना शास्त्राभ्यास का आरम्भ ही सम्भव नहीं है। मेरे पैर के नीचे की जमीन फट तो न जायगी, मेरे आगे परोसे हुए अन्न में विष तो न मिला होगा, ऐसी शङ्काओं से किसी भी काम का आरम्भ हो नहीं सकता। जीवन्मुक्त सद्गुरु की प्रीति, उन की खोज और उन की परीक्षा, इन तीन आशङ्करूप प्रश्नों से तुम गुरु से ही कुण्ठित हो गये हो। 'सद्गुरु के बिना गति नहीं है' और 'अच्छीतरह परीक्षा करके सद्गुरु करना चाहिए' ऐसा कहा जाता है, परन्तु सन्तों से मुलाकात और उन की परीक्षा, यह बात सुलभ नहीं है। सन्तों की ग्रथार्थ परीक्षा सन्त ही कर सकते हैं। संशयग्रस्त साधक उन्हें पहचान सकेगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस के लिए जैसे बिल्ली का छोटा सा बच्चा 'म्याऊँ, म्याऊँ' करता हुआ माँ के नाम से अत्युत्कृष्टापूर्वक शीर मचाता है, बिल्ली जहाँ हो, वहाँ से दौड़ती हुई लपकी है, वैसे ही साधक को शुद्ध अन्तःकरण से सद्गुरु की प्राप्ति के लिए आक्रन्दन करना चाहिए, तब उत्कण्ठित सच्छिष्य की ओर सद्गुरु दौड़ते

हुए आते हैं। फिर जैसे सूर्य को पहचानने के लिए दूमेरे दीपक की अपेक्षा नहीं पड़ती, सूर्य ही स्वयम्प्रकाश होता है, वैसे सद्गुरु ही अपना परिचय देकर साधक को निःसन्देह करते हैं।

“भैया रे ! सद्गुरुरूप व्यक्ति यद्यपि परिच्छिन्न देहाकार दिखलायी पड़ती है, तथापि वस्तुतः सद्गुरुरूप अपरिच्छिन्न एवं नित्य है। नास्तिक पाखण्डियों के गुरुडम पर की हुई टीका की औंधी से, आकाश की तरह व्यापक तथा अखण्ड रहनेवाले सद्गुरुरूप का लोप नहीं हो सकता। वायु और जल जैसे महाकाश के ही व्यक्त रूप हैं, वैसे ही “सत्यं ज्ञानमनन्तम्” ऐसे अव्यक्त सद्गुरुरूप का ही देहाकार सद्गुरु व्यक्त रूप है, ऐसा समझना चाहिए। जैसे निर्वात स्थान में वायु वेग से जाता है, ठानुओं भूमि पर जल दौड़ता हुआ जाता है, वैसे ही शुद्ध चित्त की उत्कट जिज्ञासा में तत्त्वदर्शी सद्गुरु की कृपा का ओष द्रुतगति से आता है। बिजली सर्वत्र अव्यक्त रूप में रहती ही है, वह कभी कभी वर्षाकाल में क्षणभर चमककर अदृश्य हो जाती है, तो कभी कभी योग्य वाहक उपाधि में से सञ्चार करती हुई जगत् को प्रकाश एवं शक्ति प्रदान करती है। उसीतरह सद्गुरु का कभी कभी प्रयोजनानुसार व्यक्त रूप में साक्षात्कार होकर फिर अदर्शन हो जाता है, तो कभी कभी योग्य जीवोपाधि में से वे निरन्तर बहुत समयपर्यन्त लोकसङ्ग्रह का कार्य करते रहते हैं। अब, ब्रह्मी-भूत हो चुके मुक्त पुरुष फिर किसतरह दर्शन देगे, ऐसी तुम्हारी शङ्का है, उस का समाधान सावधान होकर सुनो। “गत ज्ञास्यां चे चमत्कार, या नांव भ्रम” इस समयोंक्ति का आशय इतना ही है कि उन चमत्कारों को गत ज्ञाताजन नहीं करते, अपितु वह भगवत्कलीला होती है। भावुक की उत्कट भावनानुसार होनेवाली उपासना भी भ्रम ही है। परन्तु वह भ्रम संवादी अर्थात् सुफलदायी होता है। गन ज्ञाताओं में सगुणोपासक और निर्गुणोपासक ऐसी दो श्रेणियाँ हैं। सगुणोपासकों को क्रममुक्ति प्राप्त होती है, अतः उन का व्यक्तित्व कुछ समय तक टिक रहता है एवञ्च तत्त्वज्ञ पुरुषों में जो आधिकारिक जीव होते हैं, वे भी ईश्वरकार्य के लिए देहधारण करते हैं—“यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्” (ब्र० सू० ३।३।३२) केवल सृष्टिनिर्माण करने के सिवा ईश्वर के अन्य सब अधिकार ऐसे आधिकारिक जीवों को प्राप्त हो सकते हैं (ब्र० सू० ४।४।१७)। जीवन्मुक्त के अपने ब्रह्मस्वरूप में समरस होने पर भी दूसरों को वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् व्यक्तित्व से भी प्रतीत होते हैं। परन्तु वैसा अहङ्कार उन में अवशिष्ट नहीं रहता (ब्र० सू० भा० ४।४।५-७)। व्यासादि महर्षि, अन्य सन्त और अवतारी पुरुषों के लोकोद्धारार्थ अनेक जन्म सम्भव हैं। इसी प्रकार भावुक की उत्कट भावना के अनुसार ईश्वर उन्हें उन की इष्टमूर्ति के रूप में दर्शन भी देता है, यह बात प्रसिद्ध ही है। मुक्तों का स्वतन्त्र अवतार या अन्य पुरुष में आवेश भी सम्भव है। जीवन्मुक्तों का यह ऐश्वर्य समष्टिरूप एक भगवान् की माया है—“स एव लक्षणां विद्वान् जीवन्नेव स्वराज्ये अभिषिक्तं पतिते अपि देहे स्वराडेव भवति, यत एवं भवति, तत एव तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” (छां० ७।२।५।२, ८।१।१६)। वस्तुतः जीवन्मुक्त के शरीर रहते हुए भी, उन्हें अशरीरी ही समझना चाहिए। उदाहरणार्थ रज्जुदृष्टि को सर्पशरीर कभी भी नहीं रहता, अतः उसे अज भी कहना व्यर्थ है—“तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तः स्वरासशरीरस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्” अथवा व्यावहारिक दृष्टि से कहना हो, तो सर्पद्वारा त्यक्त केंचुल से उस का सम्बन्ध छूट जाता है या जैसे घर बेंच देने पर उस के मालिक को—उस घर का चाहे जो कुछ भी हो जाय—सुख-दुःख नहीं लगता, वैसे ही जीवन्मुक्त का देहात्मसम्बन्ध समूल टूट जाने से वह वस्तुतः अशरीरी ही रहता है। जीव का व्यष्टि अभिमान समूल टूट जाने पर उस जीव की कुछ भी, पृथक् स्थिति अवशिष्ट रह नहीं जाती—“अविद् ब्रह्मैव भवति।” उस ब्रह्मानन्दानुभव की कल्पना का अनु-

मान बुद्धि या तर्क को हो ही नहीं सकता। अतएव जीवन्मुक्त को अवस्था का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह सब परोक्ष है। साधक को उत्तेजन प्राप्त होने के लिए और मार्गदर्शक होने के लिए वह स्थूल दृष्टान्तरूप से या गूढ़ उपपत्ति के शब्दों द्वारा बतलाया जाता है। उदाहरणार्थ, जैसे नट नाटककार की इच्छानुसार अनेक नाटकों का अभिनय निःसङ्ग वृत्ति से करता रहता है, वैसे ही जगत्सृजधार अनेक जीवन्मुक्तों के देहों द्वारा कार्य करवाता है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र आदि ब्रह्माश्रयिक एवं नियतकर्माश्रयिक जीव ही माने गये हैं—“अभिमानव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्” (सू० २।१।५)। इसी प्रकार आत्माभिमान की देवताओं का अशरीर व्यक्तित्व मानना ही पड़ता है और ऐसे व्यक्तियों द्वारा देवकार्य होता रहता है। भले ही प्रत्येक जीवन्मुक्त लोकसङ्ग्रहादि कार्य न करे, पर शरीर का धारण-पोषणादि कार्य उस से होता ही रहता है। परन्तु वह सब होते हुए भी उस का विषयों से ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध नहीं रहता—“सोऽयमेवं चलाचलनिकेतो विद्वान् न पुनर्बाह्यविषयाश्रयः” (मां० कारिकाभाष्य)। केवल तत्त्वतः देखें, तो सभी जीवात्मा परमार्थतः निःसङ्ग ही होते हैं, देह-नेहादि व्यवहार से उन का सम्बन्ध रहता ही नहीं। तत्त्व का अग्रहण और अन्यथाग्रहण, यह साधारण जीवगत भ्रम जीवन्मुक्तों में नहीं रहता। जीवन्मुक्त ज्ञानी की स्थिति एकजीववाद की तरह रहती है, वहाँ समष्टि-व्यष्टिभेद नहीं रह जाते। सम्पूर्ण संसार-व्यापार उसी का आत्मस्वरूप अर्थात् आत्मभिन्न कुछ नहीं है, ऐसी उस की सद्बुद्धि या अनुभव होता है (गीता २।१६)। ईश्वर की समष्टिरूप मायोपाधि के ही जीवोपाधि अंश हैं। सामान्य जीवों से जीवन्मुक्त की विशेषता यही है कि जीवन्मुक्त मन का बुद्धि में, बुद्धि का समष्टि अहङ्कार में और समष्टि अहङ्कार का अव्यक्त में लय न करके प्रत्यगात्मा में—शान्तात्मा में—लय करता है। इसतरह वह ईश्वरसाक्षी से समरस होता है। मुक्ति को सान्निध्य, सालोक्य, साहचर्य, सायुज्य, कैवल्य, इसतरह अनेक भूमिकाएँ मानी गयी हैं। जीव-ब्रह्मैक्य में निरतिशयानन्द होने पर भी उस का भोक्ता कोई भी व्यक्ति अवशिष्ट नहीं रहता, अतएव वह किसी को मानो अनिष्ट आत्मनाश ही प्रतीत होता है। वह वैसा प्रतीत न हो, इस के लिए जीवन्मुक्ति का ऐश्वर्य क्रमशः दिखलाया गया है। माया ईश्वर की नित्य विभूति होने के कारण मुक्त में भी इस माया का सूक्ष्म अहन्ता के रूप में रहना अपरिहार्य है और मोक्षसुख का अनुभव करने के लिए तथा लोकसङ्ग्रहार्थ वैसी वह इष्ट भी है, ऐसा किसी साधक को प्रतीत होना स्वाभाविक है। परन्तु जहाँ अनुभव की त्रिपुटी भी नहीं रहती, उस ब्रह्मपद का विचार अवाङ्मनसगोचर है, ऐसी श्रद्धा रखना चाहिए, क्योंकि परमार्थतः जीवन्मुक्ति, विदेह-मुक्ति ये सब भ्रम ही हैं। न कोई बन्ध है, न कोई मुक्त है—“न सुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येवा परमार्थता” (मां० का० २।३२), “आत्मेवेदं सर्वम्। इदं सर्वं यदयमात्मा। एकमेवाद्वितीयम्” इत्यादि शास्त्रों के अनेक आदेश कहे या सुने अथवा इस के विपरीत शास्त्रों द्वारा बतलायी हुई समस्त अध्यस्तविशेषों की निवृत्ति सुनी, फिर भी श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की कृपा के बिना साधक को सर्वथा निःसन्देह करनेवाली अपरोक्षानुभूति अशक्य है—“विगत-दोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थतत्परैः संन्यासिभिः परमात्मा द्रष्टुं शक्यो नान्यैः” (मां० भा० २।२५)।

“अब, जीवन्मुक्त के स्थूल-सूक्ष्म शरीर की क्रिया को उस मुक्तात्मा के द्वारा अन्तःप्रेरणा होना बन्द ही होने पर उस के शरीर से होनेवाली क्रियाओं को, चाहे वे स्वरूपतः लोकसङ्ग्रहकारी क्यों न हों, प्रमाणभूत कैसे माना जाय ? यह जो तुम्हारी शङ्का है, वह भी व्यर्थ है, क्योंकि एक तो जीवन्मुक्तों को क्रियाएँ आदर्शवत् होती हैं, ऐसा शास्त्रों का आग्रह न होकर “स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते”, “यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि स्वयो-

पास्यानि, नो इतराणि" ऐसा ही शास्त्र बतलाते हैं। इस के सिवा दुर्वासा आदि को अपवादरूप में छोड़ दिया जाय, तो साधारणतः बिना चित्त शुद्ध हुए जीवन्मुक्ति का होना सम्भव ही नहीं है, अतः जीवन्मुक्तों का आचरण आदरणीय ही होता है। दूसरी बात यह है कि उन के द्वारा होनेवाली शास्त्ररचना, उपदेशप्रणाली और इतर लोकसङ्ग्रहकर कार्य ईश्वरप्रेरित होने के कारण प्रमाणभूत तथा परिणामकारक सिद्ध होते हैं।

"आत्मज्ञानप्राप्ति के लिए मानवदेहधारी सद्गुरु का समाश्रय ही होना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। प्रज्ञावानों को अपनी बुद्धि से केवल शास्त्रावलोकन से वह प्राप्त हो सकता है" ऐसा जो आधुनिक मत है, वह योग्य नहीं है। सद्गुरुपद तत्त्वतः केवल बोधस्वरूप हो और शास्त्र भी उद्बोधक हो, परन्तु केवल शास्त्रावलोकन से वह बोधस्वरूप दिखलायी देगा, ऐसा अभिमान रखना व्यर्थ है। इस का परिचय तो तुम्हारी ही आशङ्का में है। श्रुति, स्मृति एवं अनेक ऋषियों के मत तुम्हें भिन्न प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, अपितु एक ही आचार्य के मत में तुम्हें आत्मविरोध दिखलायी पड़ता है। ऐसी स्थिति में साधक के अधिकारानुसार उसे शास्त्ररहस्य का बोध कराने के लिए श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की आवश्यकता अपरिहार्य है। शास्त्र जड़ हैं। चेतनयुक्त सद्गुरु की दिव्य वाणी में शक्तिपात करने का जो सामर्थ्य है, वह शास्त्रों में कहां होगा? फिर ब्रह्मविद्या कैसे प्राप्त होगी? ग्रन्थान्तरों में कहीं कहीं यद्यपि ऐसा वर्णन है कि अधिकारी साधक साधनों द्वारा योग्य समय उपस्थित होने पर आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, तथापि उस का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि सद्गुरु की आवश्यकता नहीं है, अपितु 'दासबोध' आदि प्रासादिक ग्रन्थों के नित्य अध्ययन से अधिकार प्राप्त होने पर ईश्वर समर्थ आदि सद्गुरुरूप से साक्षात् प्रकट होकर सच्छिष्य का उद्धार करता है, ऐसा समझना चाहिए।

भारतीय नौनिर्माणकला

(एक किताबी कीड़ा)

२

'युक्तिकल्पतरु' में आकार-प्रकार, लम्बाई-चौड़ाई की दृष्टि से नौकाओं के कई प्रकार बतलाये गये हैं। नौकाओं के पहले तो दो विभाग किये गये हैं—एक तो 'सामान्य' जो साधारण नदियों में चल सके और दूसरे 'विशेष' जो समुद्रयात्रा का काम दे सके— "सामान्यश्च विशेषश्च नौकाया लक्षणद्वयम् ।" लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का ध्यान रखते हुए क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा, मन्थरा, ये दश प्रकार की सामान्य नावें बतलायी गयी हैं। क्षुद्रा की लम्बाई १६, चौड़ाई ४ और गहराई ४ ऊँचाई ४ हाथ होनी चाहिए। इसीतरह इन सब की नाप दी हुई है और मन्थरा की लम्बाई १२०, चौड़ाई ६० और ऊँचाई भी ६० हाथ की बतलायी गयी है। सब में चौड़ाई और ऊँचाई की एक ही नाप है— "राजहस्तमितायामा तत्पाद-परिणाहिनी। तावदेवोन्नता नौका क्षुद्रेति गदिता बुधैः ॥ अतः साङ्ख्य-मितायामा तद्वर्द्धपरिणाहिनी। त्रिभागोनोत्थिता नौका मध्यमेति प्रचक्षते ॥ क्षुद्राथ मध्यमा भीमा चपला पटला भया। दीर्घा पत्रपुटा चैव गर्भरा मन्थरा तथा ॥ नौकादशकमित्युक्तं राजहस्तैरनुक्रमम् । एकैकवृद्धैः साङ्ख्यैश्च विजानीयाद् द्वयं द्वयम् । उन्नतिश्च प्रवीणा च हस्तादर्शजलक्षिता ॥" 'विशेष' के भी दो विभाग किये गये हैं— दीर्घा और उन्नता। फिर दीर्घा के दीर्घिका, तरणी, लोला, गत्वरा,

गामिनी, तरी, जङ्गला, प्लाविनी, धारिणी और वेगिनी, ये दश विभाग किये गये हैं। इन में लम्बाई अधिक है, पर चौड़ाई थोड़ी और गहराई उस से भी कम है। वेगिनी की लम्बाई १७६, चौड़ाई २२ और ऊँचाई १७ है हाथ बतलायी गयी है— "राजहस्तद्वयायामा अष्टाश-परिणाहिनी। नौकेयं दीर्घिका नाम दशाङ्गेनोन्नतापि च ॥ दीर्घिका तरणिलोला गत्वरा गामिनी तरिः। जङ्गला प्लाविनी चैव धारिणी वेगिनी तथा ॥ राजहस्तैकैकवृद्धया नौकानामानि वै दश । उन्नतिः परिणाहश्च दशाष्टांशमितौ क्रमात् ॥" उन्नता के ऊर्चा, अनुर्चा, स्वर्ण-मुखी, गर्मिणी और मन्थरा, ये पांच विभाग किये गये हैं। इन में मन्थरा की ऊँचाई ४८ हाथ तक रखी गयी है— "राजहस्तद्वयमिता तावत्प्रसरणोन्नता। इयमूर्ध्वाभिषा नौका क्षेमाय पृथिवीभुजाम् ॥ ऊर्धानुर्ध्वा स्वर्णमुखी गर्मिणी मन्थरा तथा। राजहस्तैकैकवृद्धया नामपञ्चत्रयं भवेत् ॥"

नौका की सजावटों का भी बहुत सुन्दर वर्णन आया है। सजावट में सोना, चांदी, तौबा और तीनों को मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। चार शृङ्ग (मस्तूल)-वाली नौका को सफेद, तीनवाली को लाल, दोवाली को पीला और एकवाली को नीला रँगना चाहिए। नौकाओं का मुख सिंह, महिष, सर्प, हाथी, व्याघ्र, पक्षी, मेढक या मनुष्य की आकृति का बनाया जा सकता है— "चात्वादीनामतो बह्व्ये निर्णयं तरिस्त्रयम् । कनकं रजतं ताम्रं त्रितयं वा यथाक्रमम् ॥ ब्रह्मादिभिः परिन्यस्य नौकाचित्रणक्रमणिं । चतुःशृङ्गा त्रिशृङ्गाभा द्विशृङ्गा चैकशृङ्गिणी ॥ सितरत्नापीतनीलवर्णान् दशाद् यथाक्रमम् ॥ केशरी महिषो नागो द्विरदो व्याघ्र एव च । पक्षी भेको मनुष्यश्च पृथेषां चदनाष्टकम् ॥ नावां मुखे परिन्यस्य आदित्यादिदशभुजाम् ॥" नावों के ऊपर कोठरी, कमरा आदि बनाने की दृष्टि से नावों के तीन भेद हैं—सर्व, मध्य और अग्रमन्दिरा— "सगृहा त्रिविधा प्रोक्ता सर्व-मध्याग्रमन्दिरा ।" जिस में एक सिरे से दूसरे सिर तक मन्दिर बना हो, वे नावें सर्वमन्दिरा कहलाती हैं। ये राजा के कोष, अस्त्र, नारी आदि ले जाने के लिए होती हैं— "सर्वतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया सर्व-मन्दिरा। राज्ञां कोषाश्चनारीणां यानमत्र प्रशस्यते ।" जिन के मध्य में मन्दिर है, वे मध्यमन्दिरा कहलाती हैं। यह राजा के सैर-सपाटे के काम में आती हैं और वर्षाकाल के लिए बहुत उपयुक्त हैं— "मध्यतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया मध्यमन्दिरा। राज्ञां विलासयात्रादिवर्षासु च प्रशस्यते ॥" जिन के आगे की ओर मन्दिर बना हुआ है, वे अग्र-मन्दिरा कहलाती हैं। ये बड़ी बड़ी नावें जहाज की तरह होती हैं, जो लम्बी यात्रा और युद्ध के लिए उपयुक्त हैं— "अग्रतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया त्वग्रमन्दिरा। चिरप्रवासयात्रायां रणे काले घनात्यये ॥"

मुसलमानों के शासनकाल में भी भारत में बड़े बड़े जहाज बनते रहे। मार्कोपोलो, जो तेरहवीं शताब्दी में भारत आया था, लिखता है कि "जहाजों में दोहरे तख्तों की जुड़ाई होती थी, लोहे की कीलों से उन को मजबूत बनाया जाता था और उन के मुराखों को एक प्रकार की गोद से भरा जाता था। इतने बड़े जहाज होते थे कि उन में तीन तीन सौ मल्लाह लगते थे। एक एक जहाज पर ५ से ६ हजार तक बोर लोदे जा सकते थे। इन में रहने के लिए ऊपर कई कोठरियाँ बनी रहती थीं, जिन में सब तरह के आराम का प्रबन्ध रहता था। जब पेंदा खराब होने लगता था, तब उस पर लकड़ी का एक नया तह जड़ दिया जाता था। इसतरह कभी कभी एक के ऊपर एक ६ तह तक लगायी जाती थी।" पन्द्रहवीं शताब्दी में निकोलो काण्टी नामक यात्री भारत आया था। वह लिखता है कि "भारतीय जहाज हमारे जहाजों से बहुत बड़े होते हैं। उन का पेंदा तेहरे तख्तों का ऐसा बना होता है कि वह भयानक तूफानों का सामना कर सकता है। कुछ जहाज ऐसे बने होते हैं कि समूह का एक भाग बेकार हो जाने पर बाकी से काम चल जाता है।" वर्षमा

नामक एक दूसरे यात्री ने कालीकट में जहाजों के बनने का वर्णन किया है। वह लिखता है कि "लकड़ी के तल्लों की ऐसी जुड़ाई होती है कि उन में से जरा भी पानी नहीं आता है। जहाजों में कभी दो दो बादवान (पाल) सूती कपड़े के लगाये जाते हैं कि जिन में हवा खूब भर सके। लैंगर कभी कभी पत्थर के भी होते थे। ईरान से कन्याकुमारी तक आने में आठ दिन का समय लग जाता था।" समुद्रतटवर्ती राजाओं के पास जहाजों के बड़े बड़े वेड़े रहते थे। देश नदियों में चलनेवाले हजारों नावों के वेड़े होते थे। अकबर के नौ-विभाग का अध्यक्ष 'मीर बहर' कहलाता था। छत्रपति शिवाजी का भी अपना जहाजी वेड़ा था, जिस का अध्यक्ष 'दरियासारङ्ग' कहलाता था। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी 'इण्डियन शिपिङ्ग' नामक पुस्तक में भारतीय जहाजों का बड़ा रोचक, सप्रमाण इतिहास दिया है। अब देखना है कि इस भारतीय प्राचीन नौ-निर्माण-कला को नष्ट कैसे किया गया।

पाश्चात्यों का जब भारत से सम्पर्क हुआ, तब वे यहाँ के जहाजों को देखकर चकित रह गये। सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोपीय जहाज अधिक से अधिक ६ सौ टन के थे, परन्तु भारत में उन्होंने 'गोघा' नामक ऐसे बड़े बड़े जहाज देखे, जो १५ सौ टन से भी अधिक के होते थे। यूरोपीय कम्पनियों इन जहाजों को काम में लाने लगीं और हिन्दुस्तानी कारीगरों द्वारा जहाज बनवाने के लिए उन्होंने कई कारखाने खोल दिये। सन् १८११ में लेफ्टिनेन्ट वाकर लिखता है कि "ब्रिटिश जहाजी वेड़े के जहाजों की हर बारहवें वर्ष मरम्मत करानी पड़ती थी, परन्तु सागौन के बने हुए भारतीय जहाज पचास वर्ष से अधिक तक बिना किसी मरम्मत के काम देते थे।" 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के पास 'दरिया दीलत' नामक एक जहाज था, जो ८७ वर्ष तक काम देता रहा। जहाजों को बनाने में शीशम, साल और सागौन, तीनों लकड़ियों काम में लयी जाती थीं। सन् १८११ में एक फ्रांसीसी यात्री वाल्टजर सालविन्स अपनी 'ले हिन्दू' नामक पुस्तक में लिखता है कि "प्राचीन समय में नौनिर्माण-कला में हिन्दू सब से आगे थे और आज भी वे इस में यूरोप को पाठ पढ़ा सकते हैं। अङ्गरेजों ने, जो कलाओं के सीखने में बड़े चतुर होते हैं, हिन्दुओं से जहाज बनाने की कई बातें सीखीं। भारतीय जहाजों में सुन्दरता तथा उपयोगिता का बड़ा अच्छा योग है और वे हिन्दुस्तानियों की कारीगरी और उन के धैर्य के नमूने हैं।" बम्बई के कारखाने में १७३६ से १८६३ तक ३०० जहाज तैयार हुए, जिन में बहुत से इङ्गलैण्ड के 'शाही वेड़े' में शामिल कर लिये गये। इन में 'एशिया' नामक जहाज २२८९ टन का था और उस में ८४ तोपें लगी थीं। बङ्गाल में हुगली, सिलहट, चटगांव, ढाका आदि स्थानों में जहाज बनाने के कारखाने थे। सन् १७८१ से १८२१ तक १२२६९३ टन के २७२ जहाज केवल हुगली में तैयार हुए थे।

ब्रिटेन के जहाजी व्यापारी भारतीय नौनिर्माणकला का यह उत्कर्ष सहन न कर सके और वे 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' को भारतीय जहाजों का उपयोग न करने के लिए दवाने लगे। इस सम्बन्ध में कई बार जाँच की गयी। सन् १८११ में कर्नल वाकर ने आँकड़े देकर यह सिद्ध किया कि "भारतीय जहाज में बहुत कम खर्च पड़ता है और वे बड़े मजबूत होते हैं यदि ब्रिटिश वेड़े में केवल भारतीय जहाज ही रखे जायें, तो बहुत बड़ी बचत हो सकती है।" जहाज बनाने वाले अङ्गरेज कारीगर तथा व्यापारियों को यह बात बहुत खटकी। डाक्टर टेलर लिखता है कि "जब हिन्दुस्तानी माल से लदा हुआ हिन्दुस्तानी जहाज लन्दन के बन्दरगाह पर पहुँचा, तब जहाजों के अङ्गरेज व्यापारियों में ऐसी घबराहट मची, जैसी कि आक्रमण करने के

लिए टेम्स नदी में शत्रुपक्ष के जहाजी वेड़े को देखकर भी न मचती।" लन्दन-बन्दरगाह के कारीगरों ने सब से पहले हो-हल्ला मचाया और कहा कि "हमारा सब काम चौपट हो आयागा और हमारे कुटुम्ब भूखों मर जायेंगे।" 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के 'कोर्ट आफ डिरेक्टर्स' (निरीक्षक मण्डल) ने लिखा कि "हिन्दुस्तानी खलासियों ने यहाँ आने पर जो हमारा सामाजिक जीवन देखा, उस से भारत में यूरोपीय आचरण के प्रति जो आदर और भय था, नष्ट हो गया। अपने देश लौटने पर हमारे सम्बन्ध में वे जो बुरी बातें फैलायेंगे, उन से एशियानवासियों में हमारे आचरण के प्रति जो आदर जिस के बल पर ही हम अपना प्रभुत्व जमाये बैठे हैं, नष्ट हो जायगा और उस का प्रभाव बड़ा हानिकर होगा।" इस पर पार्लिमेन्ट ने सर राबर्ट पील की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। सदस्यों में परस्पर मतभेद होने पर भी इस की रिपोर्ट के आधार पर सन् १८१४ में एक कानून पास किया गया, जिस के अनुसार "भारतीय खलासियों को ब्रिटिश नाविक बनने का अधिकार न रहा। ब्रिटिश जहाजों पर भी कम से कम तीन चौथाई अङ्गरेज खलासी रखना अनिवार्य कर दिया गया। लन्दन के बन्दरगाह में किसी ऐसे जहाज की घुसने का अधिकार न रहा, जिस का स्वामी कोई ब्रिटिश न हो और यह नियम बना दिया गया कि इङ्गलैण्ड में अङ्गरेजों द्वारा बनाये हुए जहाजों में ही बाहर से माल इङ्गलैण्ड आ सकेगा।" कई कारणों से इस कानून को कार्यान्वित करने में ढिलाई हुई, पर सन् १८६३ से इस की पूरी पाबन्दी होने लगी। भारत में भी ऐसे कायदे-कानून बनाये गये कि जिस से वहाँ की प्राचीन नौ-निर्माण-कला का अन्त हो जाय। भारतीय जहाजों पर लदे हुए माल की चुक्री बढ़ा दी गयी और इसतरह उन को व्यापार में अलग करने का प्रयत्न किया गया। सर विलियम डिंगवी ने ठीक ही लिखा है कि "पाश्चात्य संसार की रानी ने इसतरह प्राच्य सागर की रानी का वध कर डाला।"

संक्षेप में भारतीय नौनिर्माण-कला को नष्ट करने की यह कहानी है। इतने पर भी अङ्गरेज लोग यह कहने से नहीं अघाते कि "हम ने भारत का कितना उपकार किया है?" और बादशाह सलामत भी फरमाते हैं कि "ब्रिटिश राष्ट्र और साम्राज्य ईश्वरेच्छा-पूर्ति का ही निमित्त है।"

विषय - सूची

विषय	पृष्ठ
१—"साक्षरता का दौआ" (सम्पादकीय)	... ९७
२—ब्राह्मणों की निःस्पृहता (टिप्पणी)	... ९८
३—श्री विष्णुतत्व. ४ (श्री स्वामी करपात्री जी)	... ९८
४—आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम ४ (श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)	... ९९
५—धीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण ३ (श्री सदाशिव वृष्ण फड़के)	... १०१
६—भारतीय नौनिर्माणकला २ (एक किताबी कीड़ा)	... १०३

सिद्धान्त

“अयति रघुवंशतिलकः कौशल्याद्वयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क १४]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—आषाढ़ शुक्ल १३ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० ४ जुलाई, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति का -)

“पूर्व में उन्नति के चिन्ह ?”

अगले वर्ष अमरीका के राष्ट्रपति का चुनाव होनेवाला है। इसीलिए विभिन्न राजनैतिक दलों के नेता अपने अपने वक्तव्य निकाल रहे हैं। उन में बड़ी उदारता का परिचय दिया जा रहा है। गत वर्ष श्री विल्की की ‘वन वर्ल्ड’ (एक संसार) नामक पुस्तक निकली थी, जिस की बड़ी चर्चा रही। इधर चुनाव में सफलता की आशा न देखकर अब विल्की साहब चुप हैं। हाल ही में वहाँ के उपराष्ट्रपति श्री वालेस ने भी एक पुस्तक निकाल दी है, जिस का नाम है ‘प्रशान्त में हमारा कर्तव्य’, इस में प्राच्य देशों के साथ बड़ी सहायुभूति दिखलायी गयी है। पर जब पुस्तक को ध्यान से पढ़ा जाता है, तब इस सहायुभूति की सारी पोल खुल जाती है। आप कहते हैं कि “प्रशान्त-निवासियों पर युद्ध का एक खतरनाक परिणाम यह हो सकता है कि वे औद्योगिकरण की बात पर सम्भवतः गम्भीरता से विचार करने लगे और यह न सोचें कि औद्योगिकरण सुधरी हुई कृषि पर किस प्रकार निर्भर है। आवश्यकता है इस बात की कि एशिया में जो भूमि बंजर पड़ी है अथवा जिस का दुरुपयोग या अत्यधिक प्रयोग होता है, उस पर इस ढङ्ग से खेती की जाय कि उस की उत्पत्ति बढ़ जाय और उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल खूब उत्पन्न किया जा सके। एशिया के अनेक देशों में रोग और पौष्टिक भोजन के अभाव में असंख्य व्यक्ति काल-कवलित होते हैं। बहुत देशों में ८० प्रतिशत से अधिक व्यक्ति निर्धन हैं। यदि एक बार भी उन के भोजन और शिक्षा की समुचित व्यवस्था हो जाय, तो वे इस समय से कहीं अधिक उपयोगी कार्य कर सकते हैं और उन के रहन-सहन के दर्जे में अपार परिवर्तन हो सकता है।” देखने में तो बड़ी अच्छी बात है, पर स्पष्ट अर्थ यह है कि एशिया के देश कृषि-प्रधान ही बने रहें और कच्चा माल पश्चिम को देते रहें। वहाँ से बना-बनाया माल दुगुने-चौगुने दाम पर एशिया के देशों में आता रहे। पश्चिम के साम्राज्यवादियों की यही नीति है।

औद्योगिकरण के हम समर्थक नहीं हैं। उस से हानि ही अधिक हुई है, परन्तु पश्चिम का एशियाई देशों को यह उपदेश कि “कृषि की उन्नति ही तुम्हारा कल्याण है,” स्वार्थ से खाली नहीं है। भाव सदा यही रहता है कि पश्चिम की मशीनों का पेट पूर्व के देश अपनी उपज से भरते रहें। पूर्व-निवासियों के केवल भोजन की ही चिन्ता इन विदेशी नेताओं को नहीं है, वे उन की शिक्षा के लिए भी बड़े चिन्तित हैं, क्योंकि शिक्षा द्वारा ही उन के “रहन-सहन के दर्जे में” अपार परिवर्तन हो सकता है। इस रहन-सहन के परिवर्तन में ही पश्चिम का काम बनता है, इसीलिए वालेस साहब को यह

परिवर्तन “पूर्व के लोगों को उन्नति की ओर अग्रसर करता हुआ” दिखलायी जान पड़ता है। पर वास्तव में यह रहन-सहन का परिवर्तन ही पूर्व को दासता और दरिद्रता के गर्त में गिरा रहा है। पाश्चात्य शिक्षा के साथ जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, जिन की पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है, जिस को कमाने के लिए दासता का तौक गले में डालकर भी अन्त में दरिद्रता ही हाथ लगती है। पूर्व के देशों का जीवन सदा सादा रहा है, उन की आवश्यकताएँ सीमित और खर्च थोड़ा रहा है। यह बात पश्चिम को बड़ी खटकती है। इस के कारण उन की दाल नहीं गल पाती, इसीलिए उन का सदा प्रयत्न इस को नष्ट करने का रहता है। रहन-सहन के परिवर्तन का परिणाम हम अपने देश में प्रत्यक्ष देख रहे हैं, आधुनिक-शिक्षा-प्राप्त लोगों की आवश्यकताएँ दिनदूनी रातचौगुनी बढ़ती जाती हैं। तरह तरह के फैशन सङ्क्रामक रोग की तरह फैल रहे हैं। कितने ही घराने इन फैशनों के कारण आज तबाह हो रहे हैं। यह परिवर्तन ही उन्नति के लक्षण बताये जा रहे हैं।

वालेस साहब को प्रसन्नता है कि “पूर्व के निवासियों का यह बढ़ाव विशुद्धता और वर्तमान युद्ध की संहारलीला के बीच भी लगातार जारी है।” आप लिखते हैं कि “आज सभी में अच्छे और बुरे को पहचानने की तमीज आ गयी है। उन्हें अच्छी चीजों से वञ्चित नहीं रखा जा सकता। अमरीका रहन-सहन का दर्जा ऊँचा कर शान्ति बनाये रखने में सहयोग कर सकता है।” यह अमरीका की बड़ी कृपा है। वालेस साहब के स्फुटों का कोई बड़ी अर्थ न लगाने लगे, जैसा कि हम ने लगाया है, इस का ध्यान रखते हुए आगे चलकर आप फर्माते हैं कि “स्वतन्त्र एशिया को औद्योगिक शक्तियों से धन और सामग्री आदि की आवश्यकता पड़ सकती है। परन्तु ऐसी सहायता कहीं नये साम्राज्यवाद का रूप न धारण कर ले। औद्योगिक शक्तियों को एशिया की मण्डियों की आवश्यकता होगी, पर यह न हो कि वे व्यापारिक मण्डियों को राजनीतिक साम्राज्य में परिवर्तन कर लें।” आप भारत की स्वतन्त्रता के भी समर्थक बन जाते हैं और लिखते हैं कि “अमरीका का हित इसी में है कि वह भारत तथा प्रशान्त के अन्य उपनिवेशों को आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाने में सहयोग करे।” परन्तु इन चिकनी-चुपड़ी बातों के भ्रम में न आना चाहिए। शब्दाढम्बर चाहे जितना हो, सच्ची बात निकल ही पड़ती है। अन्त में आप लिखते हैं कि “अमरीका प्रशान्त से हट नहीं सकता। वहाँ से हटना हमारी सुरक्षा के लिए घातक होगा। अतः हमें प्रशान्त के निवासियों की रहन-सहन का दर्जा ऊपर उठाने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। इस प्रकार हम केवल एशियावासियों का ही हित न करेंगे, प्रत्युत स्वयं अपना भी हित करेंगे। युद्ध के उपरान्त एशिया को पूँजी और औद्योगिक

सहायता की आवश्यकता होगी और हमें अपनी पूर्ण विकसित व्यवसायिक शक्ति का भरपूर उपयोग करने की। अतः दोनों की आवश्यकताओं का सन्तुलन ही दोनों के लिए हितकर है।" यह कितना सुन्दर सन्तुलन है ! चाहिए तो यह था कि वर्तमान महा-युद्ध से कुछ शिक्षा लेकर पश्चिम अपने रहन-सहन के प्रकार को बदलता और पूर्व से सादगी का पाठ सीखता, पर उस की दृष्टि सदा पूर्व को मूँडने पर रहती है, बातें चाहे जितनी ही बनायी जायँ। हमें इन हितैषियों से सदा सावधान रहना चाहिए।

सरकार की दीर्घसूत्रता—

अपना मतलब निकालने के लिए सरकारी शासन-यन्त्र के पुजे बड़ी तेजी से चलते हैं, पर जहाँ जनता के हित की कोई बात आती है, उन में मुर्चा लग जाता है। इस का ताजा उदाहरण इधर हमें धर्म-विरोधी कानूनों के सम्बन्ध में मिल रहा है। उन को पास कराने पर सरकार तुली हुई है, केन्द्रीय असेम्बली के अगले अधिवेशन में ही उन पर विचार होने जा रहा है। सुधारवादियों की ओट में भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का उसे अच्छा अवसर मिल गया है, वह इसे हाथ से जाने नहीं देना चाहती। विलों पर लोकमत जानने की घोषणा की जाती है, परन्तु पग-पग पर झड़वनें डाली जाती हैं और अपनी दीर्घसूत्रता का परिचय दिया जाता है। सनातनी संस्थाओं की ओर से लोकमत प्रकट करने के लिए काशी में जो संयुक्त-समिति नियुक्त हुई थी, उस की ओर से गत ११ मार्च को उत्तराधिकार-विल पर मत देने की अवधि बढ़ाने के लिए भारत-सरकार से प्रार्थना की गयी थी। इसके उत्तर में २४ मार्च के पत्र में सरकार की ओर से कहा गया कि "अवधि बढ़ाने पर अभी विचार करना आवश्यक नहीं है।" पहली अप्रैल के पत्र में समिति ने कई कारणों को दिखलाते हुए इस के लिए फिर प्रार्थना की। उत्तर आया कि "सरकार को अपने पहले उत्तर के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहना है।" भारत-सरकार का दरवाजा इसतरह बन्द देखकर समिति ने प्रान्तीय सरकारों का दरवाजा खटखटाना आरम्भ किया। गत १८ मार्च से प्रान्तीय सरकारों से लिखा-पढ़ी चल रही थी। किस प्रान्त में, किस अफसर को, मत देने की कितनी प्रतियाँ कब तक भेजनी चाहिए, यह पूछा गया। इन सरकारों में पञ्जाब, मध्यप्रान्त और सिन्ध ने तो उत्तर देने तक की शिष्टता नहीं दिखलायी और बङ्गाल-सरकार ने लिखा कि "ऐसी सूचना की माँग बङ्गाल की ही किसी संस्था से आनी चाहिए।" यह है प्रान्तीय स्वराज्य। जान पड़ना है कि बङ्गाल भारत से विल-कुल ही अलग है। सारे ब्रिटिश-भारत के हिन्दुओं के लिए तो कानून बनाया जा रहा है और अखिल भारतीय संस्थाओं की संयुक्त समिति को ही यह उत्तर मिल रहा है। सीमाप्रान्त के होम-सेक्रेटरी खान बहादुर दिलावर खॉं ने गत दूसरी मई को लिख भेजा "कि इस मामले में समिति को अपने प्रान्तीय सरकार से लिखा-पढ़ी करनी चाहिए।" यह है सरकारी होम-सेक्रेटरी की समझ का नमूना ! अवधि बढ़ाने के सम्बन्ध में भी सभी प्रान्तीय सरकारों को २१ अप्रैल को लिखा गया। युक्तप्रान्तीय सरकार को छोड़कर किसी प्रान्तीय सरकार ने इस का उत्तर देने तक की कृपा न की। गत १० मई के उत्तर में युक्तप्रान्तीय सरकार ने यह लिखा कि "संयुक्त-समिति का पत्र भारत-सरकार के पास भेज दिया गया है।" गत ९ जून को फिर एक पत्र आया कि "मत देने की अवधि १५ जून तक बढ़ा दी गयी है।" भारत-सरकार से परामर्श करके ही ऐसा किया गया, इस से यह अनुमान हुआ कि प्रायः सभी प्रान्तों में

ऐसा किया गया होगा। इस का स्पष्टीकरण करने के लिए भारत-सरकार को गत १२ जून को जवाबी तार दिया गया। ३० ता० हो चुकी, पर उस का जवाब अबतक गायब ! भला इस दीर्घसूत्रता का भी कोई ठिकाना है ? पर यह दीर्घसूत्रता नहीं, जान-बूझकर लोकमत की, जिस की हर समय दुहाई दी जाती है, अवहेलना है।

हिन्दू-मुसलिम मेल

बङ्गाल का मुस्लिम पत्र 'नवयुग' लिखता है कि "पुराने काग-जात देखने से पता लगता है कि मुगलसम्राट् अकबर से लेकर बहादुरशाह तक 'ख्वाजा साहब की दरगाह' और उस में लगी हुई सम्पत्ति के एक एक करके पांच हिन्दू 'मुत्तल्ली' (मैनेजर या प्रबन्धक) बनाये गये। हिन्दू-धर्म में हस्ताक्षेप करना तो दूर रहा, स्वतन्त्र मुसलमान शासक मस्जिदों तक का प्रबन्ध हिन्दुओं को सौंपते थे। ब्रह्मपुत्र नदी के एक द्वीप में उमानन्द महादेव की सेवा के लिए जो भूमि लगी थी, उस की मालगुजारी और क़जेब ने माफ कर दी थी। इस का प्राचीन मूल लेख अब मिल गया है।" ऐसे एक नहीं, इतिहास में अनेक उदाहरण मिलते हैं। मुसलमानी शासनकाल में हिन्दू-मुसलमान कभी कभी आपस में लड़ते भी खूब थे, पर आज की अपेक्षा उन में कहीं अधिक एकता थी। अभी थोड़े दिन की बात है कि हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के त्योहारों में बड़े प्रेम से भाग लिया करते थे। उस समय की परस्पर एकता का क्या रहस्य था इस ओर तो ध्यान दिया जाता नहीं, उल्टे 'रोटी-बेटी' का सम्बन्ध करके एकता स्थापित की जा रही है। इस एकता के लिए जितना ही अधिक प्रयत्न किया जाता है, उतना ही अधिक भेद बढ़ता जाता है। केवल साथ खाने-पीने, आपस में शादी-विवाह करने तथा एक-सी ही पोशाक पहनने से एकता स्थापित नहीं हो सकती। ऐसा होता, तो रोमन कैथोलिक प्रोटेस्टेण्टों को जिन्दा न जलाते और न शीया-मुन्नी ही एक दूसरे के सिर फोड़ने के लिए तैयार रहते। मुख्य एकता तो है तात्त्विक, व्यावहारिक भिन्नता तो सदा बनी ही रहेगी। हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्ध में अपने यहां के कुछ मध्यकालीन सन्तों ने इस ओर ध्यान दिया था। परन्तु उन के अनुयायियों ने भी अलग-अलग 'पन्थ' चला दिये, जिन से सम्प्रदायों की संख्या घटने के बजाय बढ़ गयी और आपस में ही चिमटे चलने लगे। आवश्यकता है अपने ही धर्म में रहते हुए थोड़ा सा उदार बनने की। अपने यहां के 'सन्त-साहित्य' में, उस पर 'पन्थाई' छाप होते हुए भी, बहुत ऐसा मसाला है, जिस से आजकल के वातावरण में भी लाभ उठाया जा सकता है। इन सन्तों के पदों की भाषा बड़ी सरल और हृदयग्राही है। उदाहरण के लिए यहां दो पद दिये जाते हैं। पलटू साहब लिखते हैं— "पूरब में राम हैं, पच्छिम में खुदाय है, उत्तर दक्खिन कहो कौन रहता। साहिब वह कहाँ है, कहाँ फिर नहीं है, हिन्दू और तुर्क तोफान करत ॥ हिन्दू और तुर्क मिलि परे हैं खैचिमें, आपनी बरग दोऊ दीन बहता। दास पलटू कहे, साहिब सब में रहें, जुदा न तनिक मैं सांच कहता ॥" दीन दरवेश का भी एक पद बड़ा सुन्दर है— "हिन्दू कहैं सो हम बड़े, मुसलमान कहे हम। एक मूंग की दो फाड़ है, कौन उयादा कौन कम ॥ कौन ज्यादा कौन कम, करना नहीं कजिया। एक भगत हो राम, दूजो रहमान से रजिया ॥ कहे दीन दरवेश, हुई सरिता मिलि सिन्धू। सैयद साहब एक, एक मुसलमान हिन्दू ॥"

श्री विष्णुतत्व

(श्री स्वामी करपात्री जो)

५

भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह की तापहारिणी अपारसौन्दर्य-शालिनी कान्ति को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। पर भगवान् का रूप-सौन्दर्य अप्राकृत होने से प्राकृत चन्द्र उपमान वहाँ ठीक नहीं घटता। तथापि लोक में सब से अधिक पूर्णचन्द्र ही प्राणियों के मन को हरण करनेवाला है और प्राकृत जनों की दृष्टि में अन्य कोई अप्राकृत वस्तु नहीं आ सकती, इसलिए चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। पर एक चन्द्रमा से काम नहीं चलेगा। अनन्तकोटि चन्द्रों की कल्पना कीजिये और ऐसे अपार चन्द्रसागर का मन्यन करके जो सारातिसार तत्व निकले, उस तत्व को पुनः मथकर उस से जो सारातिसार तत्व निकले, इस प्रकार शतधा मन्यन करके जो सारातिसार चन्द्रतत्त्व निकले, उस चन्द्र का उपमान भगवान् में है। यह चन्द्र का उपमान भगवान् की उस तापहारिणी शीतल ज्योत्स्ना में है। उन के दुर्निरीक्ष्य तेज का वर्णन 'गीता' में हुआ ही है कि—“दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥” अस्तु, भगवान् की शान्तिदायिनी शीतल ज्योत्स्ना सारातिसार तत्वरूप चन्द्र के समान है। पर चन्द्र में कलङ्क है और चन्द्र क्षय-वृद्धिशील है। भगवान् की दिव्य ज्योत्स्ना अमृतमय सारातिसार चन्द्र-तत्व के समान है, वह निष्कलङ्क है, निर्विकार है, उस से भावुकों को प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम प्राप्त होता है। वह ऐसा अदम्य सौन्दर्य है कि उस सौन्दर्य-सुधा का एक कण भी जो पान कर लेता है, उस की पिपासा बढती ही जाती है। जिस के नेत्र और मन भगवान् के एक रोम पर भी पड़े हों, वे उस एक ही रोम के सौन्दर्य पर इतने मुग्ध हो जाते हैं कि वहाँ से वे आगे बढ़ ही नहीं सकते। चञ्चला लक्ष्मी भी वहाँ आकर अचला हो जाती है, फिर ओगों की बात ही क्या है? भगवान् के दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य में प्राकृत उपमान केवल इतना ही प्रयोजन सिद्ध करते हैं कि इन के द्वारा भगवत्सौन्दर्य का ध्यान करते करते मन विशुद्ध हो जाता है और मन में जैसे जसे विशुद्धि आती है, वैसे वैसे भगवान् का जैसा वास्तविक रूप है, वह अचिन्त्य अप्राकृत, मङ्गलमय, दिव्य रूप भक्त के सामने प्रकट होने लगता है। भगवान् में केवल चन्द्रमा का ही उपमान नहीं, क्योंकि भगवान् घनश्याम भी हैं। पर यह प्राकृत श्यामता नहीं है। उन की श्यामता में महेन्द्रनीलमणि की उपमा दी जाती है, जिस में दीप्ति-मत्ता-विशिष्ट विलक्षण नीलिमा है। उस नीलिमा में ऐसी दीप्ति है कि वह अनन्तकोटि चन्द्रों की सम्मिलित दीप्तिमत्ता को तिरस्कृत करती है। इस दिव्य दीप्ति-सम्पन्न भगवन्मूर्तिरूप नील कमल में ऐसी सुकोमलता है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सुकोमलता की मूर्ति श्रीलक्ष्मी भी उन के पाँव को स्पर्श करती हुई सकुचाती है कि हमारे हाथों की कठोरता इन के सुकोमल पाँवों को कहीं कष्टदायक न हो। अनन्तकोटि कमलों की सारातिसार कोमलता इस कोमलता के पास भी नहीं अङ्गे पाती। ऐसे शीतल, ऐसे सुन्दर, ऐसे सुकोमल भगवान् इतने गम्भीर हैं कि नवीन नीलधर की गम्भीरता अनन्तकोटिगुणित होकर भी उन का वास्तविक स्वरूप नहीं प्रकट कर सकती।

भगवान् का केवल मुख ही चन्द्रोपम है ऐसा नहीं, सर्वाङ्ग ही चन्द्रोपम है। वर्ण स्वभावतः कृष्ण है, दीप्ति से वे अकृष्ण हैं—नीलिमागर्भित दीप्तिमत्ता है। भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह श्याम होते हुए भी अनन्तकोटि चन्द्र की दीप्ति को तिरस्कृत करनेवाला है। महेन्द्रनीलमणि, नूतन नील नीलधर और नील सरोरुह

की जो उपमाएँ दी जाती हैं, उन से बहुत से विवक्षित अर्थ सूचित होते हैं। महेन्द्रनीलमणि से दीप्तिमत्ता, चिक्कणता और दृढ़ता तथा नीलिमा सूचित होती है, नूतन नीलधर से नीलिमा, रस्यता, तापापनोदकता और गम्भीरता सूचित होती है और नील सरोरुह से नीलिमा, सुकोमलता, शीतलता और सौगन्ध्य सूचित होता है। पर ये महेन्द्रनीलमणि आदि सब प्राकृत हैं। इन से यथार्थ बोध नहीं होता। पर बोध के समीप पहुँचने के लिए अन्य कोई उपाय नहीं है। प्राकृत तत्त्वों से ही अप्राकृत की कल्पना कर लेनी है। इन सब से अनन्तकोटिगुणित ये गुण भगवान् में हैं। भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सौन्दर्यादि गुणों की महिमा कैसे समझी जाय? दिव्यातिदिव्य प्राकृत पदार्थों को असंख्यगुणोपेत करके अपना काम करते करते चित्त शुद्ध होकर भगवदीय अनुकम्पा से वास्तविक स्वरूप का हृदय में प्राकट्य होता है।

बालसूर्य के सुकोमल किरणों से संस्पृष्ट अतसी-पुष्प की श्यामता दूर से दमदमाती हुई बड़ी ही मनोहर लगती है। उस मनोहर श्यामता की शतकोटिगुणित कल्पना की जाय, तो कुछ वैसे श्यामता भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह की है। सायङ्काल में भी अतसी-पुष्प की दीप्तियुक्त नीलिमा बड़ी मनोहर होती है। यह मनोहारिता शतकोटिगुणित होकर भगवान् की श्याम मनोहारिता की कुछ कल्पना करा सकती है अथवा भ्रमर की श्यामता लीजिये। भ्रमर दूर से काला दीखता है, पर वह काला नहीं, उस में बड़ी ही सुन्दर नीलिमा है। ऐसी मनोहर नीलिमा अन्य किसी प्राकृत पदार्थ में नहीं। भगवान् की श्यामता शतकोटिगुणित मधुप की श्यामता से तथा भगवान् की दीप्तिमत्ता चन्द्रसिन्धु के सारातिसार तत्त्व का मन्यन करके प्राप्त चन्द्रतत्त्व की दीप्ति से कथञ्चित् उपमित की जा सकती है। कल्पना से इस प्रकार भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह को पदाम्बुज से मुखाम्बुज तक अथवा मुखाम्बुज से पदाम्बुज तक देख जाना चाहिए। मनःकल्पित अनन्त तेजः पुञ्ज के भीतर अनुत्तन्धान करना अथवा बालसूर्य में मन और दृष्टि को स्थिर करके देखना चाहिए।

भगवान् का श्रीमुखचन्द्र वर्तुलाकार दिव्य विकसित अति विलक्षण-भरविन्द है, चन्द्रमा के समान दीप्तिमान् वर्तुलाकार मुखारविन्द समुचित तारतम्य के साथ नतोनत भावसहित है। इस को मनोहारिता अत्यद्भुत है। चन्द्रवत् वर्तुलाकार विकसित सुकोमल मुखाम्बुज सारातिसार चन्द्रतत्त्व की दीप्ति और शतकोटिगुणोपेत भ्रमरनीलिमा से युक्त अति विलक्षण है। यह सम्मिलित समस्त मुखाम्बुज है। यह मन्दहासोपेत दिव्य मुखाम्बुज ऐसा शोभित होता है, मानो दिव्यातिदिव्य चन्द्रतत्त्व नील कमल में छिपना चाहता है, दुरता है और फिर फिर प्रकट होता है। यह हास भगवान् के 'अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिक' अर्थात् अनुग्रहनामक हृदयस्थ चन्द्र की चन्द्रिका है। अनुग्रहरूप चन्द्र की ये तापहारिणी किरणें खिन्नाति-खिन्न भावुकों को समाश्वासन दिलाती हैं कि चवराओ मत, अनुग्रहाख्य चन्द्र का यहाँ निवास है। यह समाश्वासन, यह दिव्य आशा ही भावुकों को उन की थकावट और खिन्नता को दूर करके आगे बढ़ाती है। आशाबन्ध ही भक्तिमार्ग का मूल है। यह आशा—भगवत्सान्निध्य की यह दृष्टा—अद्भुत है, यह केवल्य से खरीदी जाती है। भगवान् का उदार हास 'शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्' शोकाश्रुसागरो को सोख लेनेवाला है। बहुत हास जब मुखारविन्द में प्रादुर्भूत होता है, तब वह हास हार के समान होत्य है, कुन्दकुड्मल के समान दशनपङ्क्ति दिव्यातिदिव्य महेन्द्रनीलमणि के सदृश वक्षःस्थल पर हारवत् प्रतिबिम्बित होती है। यह हारहास अरुणिमा-विशिष्ट है—स्वच्छातिस्वच्छ होता हुआ भी किञ्चित् अरुण है। यह अधर को अरुणिमा दन्तपङ्क्ति में प्रतिबिम्बित है—जैसे जवा-कुसुम के सङ्काश से स्फटिक लोहित हुआ हो। यह अरुणिमा-विशिष्ट कुन्दकुड्मल के समान दशनपङ्क्तियुक्त हास्य दिव्य हार के समान

श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण

(श्री सदाशिव कृष्ण फडके)

४

शोभित होता है। कपोल और चिबुक अपने दिव्य सौन्दर्य से मानो यही कह रहे हैं कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के सारातिसार सौन्दर्य का परमोद्गमस्थान यही है, यही अचिन्त्य सौन्दर्यसुधानिधि है, जिस का केवल एक कण अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में विस्तीर्ण है। वालसूर्य की सुकोमल किरणों से संसृष्ट विकसित कमल का अग्रोर्ध्वभाग जैसे स्वच्छतामय होता है, वैसे कपोल और चिबुक पर इस नील विकसित मुखाम्बुज की दीप्तिमत्ता अन्य अङ्गों की अपेक्षा कुछ विशेष है। नील कमल के केशर का सान्निध्य छोड़कर जो नीलिमायुक्त अंश है, वे वालसूर्य की सुकोमल किरणों से संसृष्ट होकर जैसे अधिक दीप्त होते हैं, वैसे ही भगवान् के कपोल और चिबुक विशिष्ट दीप्तिमत्ता-सम्पन्न हैं। विशाल मस्तक पर शोभायमान दिव्य किरोट की जगमगाती हुई दिव्य कान्ति इन उन्नत अङ्गों पर—उच्च स्थल पाकर—अधिक मात्रा में अवतीर्ण और विस्तीर्ण हो रही है और वह सौन्दर्य-सुधा उभय कपोलप्रान्त से भी अधिक चिबुक पर आकर परम विकसित और मनोरम हुई है।

अरुण कमल के समान प्रभु के दिव्य नेत्रों के सम्बन्ध में ऐसा ध्यान है कि कपोलप्रान्त जैसे जैसे नेत्रों के सन्निहित हैं, वैसे वैसे उन में अधिकाधिक विशिष्ट दीप्तिमत्ता-युक्त अरुणिमा है और कपोलमिमुख नीचे की ओर क्रमशः दीप्तिविशिष्ट नीलिमा है और अरुणिमा की न्यूनता है। खास नेत्र अरुण हैं, यहाँ स्वच्छता और अरुणिमा का योग है। मानो अरुणिमाह्वर रज से भगवान् अपने भावुकों के अभीष्ट का सृजन और स्वच्छता-रूप सत्त्व से पालन करते हैं। नेत्रों में स्वच्छता और अरुणिमा का ऐसा तारतम्य है कि अतृकम्पा, राग आदि मानस विकृतियों की जहाँ अभिव्यक्ति है, वहाँ अरुणिमा अधिक होती है और जहाँ रागादि-रहित प्रसन्नता है, वहाँ स्वच्छता अधिक होती है। कोपादि तापक भावों से अरुणिमा की अधिक वृद्धि होती है। कोई अरुणिमा अग्निसदृश है। भगवान् के नेत्रों में कमलकोष की सी अरुणिमा है और उन के विशाल नेत्र कर्णप्रान्तपर्यन्त दीर्घ है। इन की कल्पना भावुक ही कर सकते हैं। भगवान् के 'पद्मगर्भाक्ष' नेत्रों में स्वच्छता और अरुणिमा का अद्भुत-पारस्परिक सम्मेलन है। नेत्रान्तःपाती जो तारक है, वे श्याम हैं। इस प्रकार नेत्रारविन्द में निवेणी-सङ्गम हुआ है। यही सङ्गम कुछ विलक्षण रूप से नेत्रों की पलकों में भी हुआ है। पलकों अत्यद्भुत दीप्तियुक्त नीलिमा लिये हुए हैं और किञ्चित् अरुणिमा का भी इन में योग हुआ है। ऐसे दिव्य विशाल नेत्र कर्णप्रान्त तक विस्तीर्ण हैं। दोनों नेत्रों के मध्य से नीचे की ओर ऊर्ध्वमुख उन्नत दिव्य नासिका कीर-तुण्ड सी शोभा पा रही है, जिस की दीप्ति दिव्य गण्डस्थल की सी ही जगमगा रही है। नासिका में एक वर-मौक्तिक भी सुशोभित है। नासिका की दीप्तियुक्त नीलिमा होठों की विलक्षण अरुणिमा से मिलकर अति विलक्षण मनोहारित्व व्यक्त कर रही है। कुन्दकुण्डल की सी दिव्य दशन-पङ्क्ति की स्वच्छता अरुण अधरों पर और अधरों की अरुणिमा दिव्य दशनपङ्क्ति पर प्रतिबिम्बित होकर एक बड़े ही दिव्य आदान-प्रदान का भाव दिखा रही है। अधरों से बढ़कर शोभा और किसी की नहीं। सकल-सुधानिधि भगवान् की यह दिव्य अधरसुधा है। यह पीतिमा दिव्य मकराकृत कुण्डलद्वय से आकर यहाँ झलक रही है। ये कुण्डल अद्भुत दीप्ति-सम्पन्न हैं और यह दीप्ति पीतिमा लिये हुए हैं। भगवान् के दिव्य कुण्डल अत्यधिक देदीप्यमान हैं और इन के सुवर्ण-शरीर में दिव्यातिदिव्य नानाविध रत्न जड़े हुए हैं। ये मकरा-कृति हैं—मानो मकरध्वज (काम) को लड़कर जीतने के लिए ही कुण्डलों ने यह आकार धारण किया है। भगवान् का मधुर मन्दहासो-पेत कटस्थित दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द नेत्रों का परम सौख्य-मय विग्राम-स्थान है।

“हे साधक ! अब ‘ब्रह्मात्मवस्तु ज्ञेय कैसे हो सकती है ?’ यह तुम्हारी दूसरी मूलप्राही शङ्का है उस का समाधान सुनो। ब्रह्मवस्तु वस्तुतः ज्ञेय नहीं है और उपास्य भी नहीं है। इसीलिए ब्रह्म न तो ज्ञेय है और न तो अज्ञेय ही है। “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” ऐसी परमा-र्थता होने के कारण वहाँ ध्याता-ध्येय, उपासक-उपास्य, ज्ञाता-ज्ञेय आदि द्वैत नहीं हो सकता। फिर भी आचार्य के, आगमानुसार होनेवाले, उपदेश के अनन्तर ‘मन्ये विदितम्’ अर्थात् वह मेरी समझ में आगया सा मालूम पड़ता है, इसतरह साधक विचारपूर्वक कह सकता है। वस्तुतः वह ज्ञेय-अज्ञेय, विदित-अविदित से पृथक् है अथवा वह विदित है और अविदित भी है। ज्ञेय विषय चिद्रूप ज्ञाता से सदा पृथक् ही होता है अर्थात् वह अचिद्रूप—जड़—और घट, पटादि की तरह परिच्छिन्न होता है। ब्रह्म जड़ और परिच्छिन्न नहीं है, अतएव उस की ज्ञेयस्वरूपता भी सम्भव नहीं है। इस के अतिरिक्त वह ज्ञान का भी प्रेरक होने के कारण ज्ञान के पहले ही सिद्ध होता है, इसलिए उसे विषयज्ञानसमकालीन ज्ञेय विषय नहीं कहा जा सकता। इस के सिवा विषयज्ञान आत्मभानपूर्वक ही होना सम्भव है। विषय भले ही ज्ञेय हो, किन्तु विषयज्ञान जिस की सत्ता से सम्भव होता है, उस आत्मरूप का ज्ञेय होना सम्भव नहीं है। ज्ञेय से स्वरूपतः भिन्न ज्ञाता ज्ञेय कैसे होगा ? आँखें अपने आप को कैसे देखेंगी ? तात्पर्य यह कि ब्रह्म आत्मरूप ही होने के कारण उस में आत्मनिष्ठ विषया-कारता अर्थात् अनात्मता हो नहीं सकती। परन्तु इस के विपरीत वह ब्रह्मात्मरूप स्वयम्प्रकाश सूर्य की तरह प्रकाशस्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप ही होने से उस की उपलब्धि या अपरोक्षता के लिए दूसरे ज्ञान या प्रकाश की अपेक्षा नहीं है अर्थात् अन्य किसी से वह ज्ञेय न होकर स्वरूपतः ही ज्ञात या विदित है। सारांश यह कि “अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष” है अर्थात् ब्रह्मात्मा अज्ञेय होकर अपरोक्ष है। अमावास्या की अन्धेरी रात में हम दूसरे को या अपने आप को न दिखलायी पड़ें, तो भी जैसे अपनी विद्यमानता या व्यक्तित्व के विषय में हम निश्चिन्त रहते हैं, वैसे ही स्वयम्प्रकाश आत्मा प्रकाश्य न होता हुआ भी प्रकाशरूप से व्यक्त ही रहता है—“नहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च” (केन २।१०)। तात्पर्य यह कि जो साधक आत्मा को नहीं जानता, ऐसा नहीं, अपितु जानता है और जानता भी नहीं, ऐसा जो जानता है, वही जानता है। इसतरह यह द्वैत का आश्रय लेकर चोलना पड़ता है। भानाभान का महाभान आत्मस्वरूप है। वस्तुतः सूर्य में जैसे दिन-रात्रि नहीं है, वैसे ही आत्मा में ज्ञेय-अज्ञेय, व्यक्त-अव्यक्त, ये भाव विवकुल नहीं हैं। वह स्वयं ज्ञप्तिरूप है।

“अब तुम्हारी जो यह शङ्का थी कि स्वरूपतः अविषय ब्रह्म गुण के उपदेश का विषय कैसे होगा ? उस का उत्तर यह है कि आत्मा को विषयरूप मानकर उसे ग्रहण करने की जो सोपाधिक मिथ्या ‘मैं’ रूप साधक की जिज्ञासा, वह—आत्मा वस्तुतः ग्राहक होने के कारण ग्राह्य विषयरूप हो ही नहीं सकता, ऐसे ज्ञान से—निवृत्त हो है। वह समस्त इन्द्रियों का प्रेरक है, अतः इन्द्रियों से वह जा जा नहीं सकता—“यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव तत्त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते” (केन०), “क्रियाशक्ति-रण्यात्मा ज्ञाननिमित्तेत्येतत्” (केनभाष्य०)। व्यष्टि-समष्टि शरीर-

सम्बन्धी बुद्धिप्रत्यय जिस की वृत्ति से संवेदन की तरह भासित होते हैं, वह जीव-शिव-साक्षी 'त्वं' और 'तत्' इन पदों का वाच्यार्थ है। उन की उपाधियों का बाध कर देने पर जो चिन्मात्र अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्मात्मा है, ऐसे सद्गुरु के शक्तिपातसम्पन्न परोक्ष उपदेश से बुद्धिवृत्ति में 'मैं ब्रह्म हूँ' इसतरह अविवक्षितता से ब्रह्म प्रकाशित होता है (केन २।१२)। शाखाचन्द्रन्याय या 'नेति नेति' ऐसे निषेधमुख से ब्रह्म का उपदेश सम्भव है। अज्ञान का निरास करना, वस उपदेश का इतना ही काम है। ब्रह्मवस्तु अङ्गुली से दिखलायी नहीं जाती। परन्तु 'वह तू ही है' ऐसे बोध द्वारा बाह्य ज्ञेयसम्बन्धी जिज्ञासा शान्त की जाती है। हे आधुनिक साधक! तुम आधुनिकों ने अपनी स्वैर बुद्धि से शास्त्रों का ऊपर ऊपर अवलोकन करके उन में के विरोधाभासों पर बहुत से तर्क-कुतर्क किये हुए दिखलायी पड़ते हैं सही, उन का अनुसरण करती हुई शास्त्र-विरोधसम्बन्धी तुम्हारी शङ्का का संक्षेप में समाञ्जन यह है कि देश, काल, परिस्थिति, लोगों का अधिकार और प्रचलित प्रकरण का सन्दर्भ, इन दृष्टियों से धर्मानुशासन एवं तत्त्वज्ञान के दर्शन में भी ऊपर ऊपर से भेद दिखलायी पड़ता है, किन्तु वह दृष्टिभेद वास्तविक नहीं होता। विचार-प्रणाली की वे विभिन्न मजिजलें होती हैं। उदाहरणार्थ—“अज्ञं ब्रह्मेति व्यजानात्” (तै० ३।२) यह ऐसी ही एक मजिजल है। एक ही पर्वत का दिशाभेद से विभिन्न प्रकार का वर्णन सम्भव है। सत्ताभेद से विचार-सम्बन्धी प्रकटन-शैली में वैसा ही अन्तर पड़ता है। कई जगह 'पैरों में जुता डाले' (मराठी में—'पायांत जोड़ा घाले') 'सिर में पगड़ी डालो' (मराठी में—'ढोकींत पागोटे घाले') इसतरह के विपरीत वाक्प्रचार रूढ़ दिखलायी पड़ते हैं। परोक्ष एवं लाक्षणिक भाषा कभी त्रम का कारण होती है। इसीतरह व्यतिरेकपद्धति और अन्वय-पद्धति, दृष्टिदृष्टिवाद और सृष्टिदृष्टिवाद, मायावाद और अजातिवाद, एकजीववाद और अनेकजीववाद, जगन्मिथ्यात्ववाद और ब्रह्मप्रकृतिवाद, आत्मछायाति और अनिर्वचनीय ख्याति, ऐसे एक ही अद्वैत तत्त्वज्ञानसम्बन्धी केवल प्रक्रियाओं के भेद हैं, रहस्य में भेद नहीं है। इसतरह संक्षेप में शास्त्र-विरोध का यह समाधान है।

“जैसा यक्ष वैसा बलि” इस न्याय से स्वप्नसम्बन्धी रोग के लिए स्वापिक प्रातिभासिक ही औषध अपेक्षित होता है; जागृतिप्रसन्नो व्यावहारिक औषध वहां काम में नहीं आता, जागृतिसम्बन्धी व्यावहारिक रोग के लिए व्यावहारिक ही औषध की अपेक्षा होती है। इसीतरह पारमार्थिक भव-रोग के लिए अज्ञान की समूल निवृत्ति करनेवाला औषध ही उपयोगी होता है। इसतरह सत्ताभेद से साधनभेद और विचार-प्रक्रिया में भेद करना पड़ता है। ये भेद सापेक्ष हैं, उन से रहस्यहानि नहीं होती। साधारण जनता की दृष्टि से ईश-सृष्टि की व्यावहारिक सत्ता मानकर ही शास्त्र बहुधा प्रवृत्त होते हैं। देव, गुरु, शास्त्र, कर्म, उपासना, ज्ञान (परोक्ष), वैयक्तिक एवं सामाजिक व्यवहार और नीति आदि-सम्बन्धी विचार व्यावहारिक सत्ता पर ही अवलम्बित होते हैं अर्थात् वहाँ नाम-रूपों को अपेक्षित सत्यता प्रदान करके ही बोलना पड़ता है। बाह्यार्थसम्बन्धी जड़वाद और ब्रह्मप्रकृतिवाद, व्यावहारिक सत्ता के आश्रित विचार-प्रक्रियाओं की ये दो सीमाकोटि हैं। ब्राह्मण, उपनिषद् आदि साहित्य में नाम-रूपों को कहीं कहीं सत्य कहा गया है। परन्तु वहाँ नाम-रूप ये विकार परमार्थतः सत्य हैं ऐसा आशय नहीं है, अपितु नाम-रूपों की ब्रह्म के सत्य अधिष्ठान से पृथक् सत्ता ही न होने के कारण अधिष्ठान-दृष्टि से उन्हें सत्य कहा गया है, वस इतना ही समझना चाहिए अर्थात् घटात्मक नाम-रूप विकार मिथ्या हैं और मृत्तिका को घट का सत्य स्वरूप (व्यवहारतः) समझना चाहिए। यह एक दृष्टान्त है। इसीतरह मृत्तिका का उस के कारण में लय करते करते अन्त में 'ब्रह्म सत्य है' यही सिद्धान्त

स्थिर होता है। यह सब ब्रह्म ही है—“सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इस सिद्धान्त का अर्थ यह नहीं है कि ये नाम-रूप विकार ब्रह्म हैं, अपितु रज्जु-सर्प इस विवर्त की तरह उन की अधिष्ठान में पृथक् सत्ता ही नहीं है। सर्प रज्जु में वस्तुतः होता ही नहीं। सर्परूप यह रज्जु का गुण-धर्म भी नहीं है। स्वप्न-द्रष्टा अपनी ही सत्ता से—स्वप्नसृष्टि वस्तुतः न होते हुए भी सत्तावान् सी—भासित करता है। यहाँ पर स्वप्न-सृष्टि की प्रातिभासिक सत्ता का दृष्टा रूप स्वप्न-द्रष्टा पर और स्वप्न-द्रष्टा की सत्ता का आशेष स्वप्न-सृष्टि पर, इसतरह परस्परआध्यास होता है। वेदान्त के सृष्टि-दृष्टिवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, कल्पनावाद और शून्यवाद—ये चारों के बाह्यार्थ-वाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद और अन्य कल्पनावादों से भिन्न हैं। वेदान्त की दृष्टि अत्यन्त अन्तर्मुख होती है। केवलद्वैत-सम्बन्धी वेदान्त के अनुसार दृश्य, विज्ञान, कल्पना, मन, बुद्धि, जीव और ईश, इन में से कुछ भी परमार्थतः सत्य नहीं, एक ब्रह्मात्म-वस्तु ही केवल सत्य है अर्थात् उस एकमात्र वस्तु में अन्य दृश्य का अत्यन्त अभाव होने के कारण उस वस्तु में वस्तुतः दृश्यत्व की भी सम्भावना नहीं होती। अजातिवाद कुछ विचार की प्रक्रिया नहीं है, वह कुछ प्रमाणों से सिद्ध करने का सिद्धान्त नहीं, किन्तु वस्तुस्थिति है। विवर्तवाद में विवर्त की सत्ता मानकर फिर उस के मिथ्यात्व का बोधन करना पड़ता है। परन्तु परमार्थतः ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर इस जगत् का विवर्त कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। रज्जु-सर्प इस विवर्त में सर्प की अनिर्वचनीय उत्पत्ति अपनी भ्रामक दृष्टि को माननी पड़ती है, किन्तु अधिष्ठानात्मक रज्जु की दृष्टि से उस का अत्यन्त अभाव है। ऐसा होने पर भी पत्थर को फेंकने के जैसे उसे पहले हाथ में लेना पड़ता है, वैसे ही वेदान्त-तत्त्वज्ञान में समस्त नाम-रूपों का त्याग करने के लिए पहले उन का मानो स्वीकार करना पड़ता है। अचारीप का ही अपवाद हो सकता है। इसीतरह त्याग के लिए मानो स्वीकार की हुई सी दिखलायी पड़नेवाली ब्रह्माभिन्न प्रकृति या माया से समस्त बाह्यार्थ पर्यन्त सकल द्वैत का पुनः अत्यन्ताभाव बतलाने में आत्मविरोध सा प्रतीत होता है, परन्तु यह यथार्थ विरोध नहीं है। सारासार-विवेक, आत्मानात्मविचार यह अभ्यास की व्यतिरेक-पद्धति है। इस पद्धति से शुद्ध आत्मरूप को अनुभव से जान लेने पर जहाँ तहाँ वही एक आत्मरूप दिखलायी पड़ता है। यह सिद्ध की अन्वयदृष्टि नाम-रूपादि विकारों को सत्य मानती ही ऐसा नहीं है। अन्वय-दृष्टि अव्यवहार्य है। मायावाद व्यवहार को लेकर विचार करने की प्रक्रिया है। अजाति यह अव्यवहार्य परमार्थता है, वह सामान्य साधक की बुद्धि में नहीं आ सकती। इतना ही क्यों, माया-वाद की उपपत्ति भी तुम आधुनिकों को सहसा नहीं पड़ती। जगत् का अनुभव मानो प्रत्यक्ष अर्थात् अपरोक्ष सा प्रतीत होता है। उस जगदपरोक्ष का समूल निरास परोक्ष ब्रह्मज्ञान से नहीं हो सकता, उस के लिए ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति ही होनी चाहिए। वह जब-तक हो, तबतक शङ्काओं को न बढ़ाते हुए दृढ़ एकाग्रता से अन्तर्मुख होकर अविषयरूप जो आत्मस्वरूप है, उसे मानो जानने का अर्थात् अपरोक्ष करने का प्रयत्न करना चाहिए।

“जिसतरह विभिन्न कक्षाओं के एक या अनेक शिक्षक अपनी कक्षा के विद्यार्थियों को—वे जितना ग्रहण कर सकें उतना ही—पढ़ाते हैं, विद्यार्थी जब उन की कक्षा से उत्तीर्ण होकर ऊपर की कक्षा में जाता है, तब वहाँ उसे भिन्न प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है, उसीतरह प्रजापति, चार्वाक, गौतम बुद्ध, कपिल, कणाद, जैमिनि और व्यास आदि के भिन्न दर्शनों का विचार समझना चाहिए। समग्रदृष्टि को उन में विरोध दिखलायी नहीं पड़ता, अपितु वह ज्ञान की सीढ़ियाँ दिखलायी पड़ती हैं। ब्रजगणित में अङ्कों की जगह अक्षर आने हैं, भूमिति में और ही तरह की रेखाकृतियाँ आती

है, फिर भी वह है सारा गणित ही। ये प्रक्रियाओं के और दृष्टियों के भेद हैं। सांख्य और वेदान्त में अन्तर दिखलायी पड़ता है, 'सूत्र-भाष्य' और 'माण्डूक्य-भाष्य' में फर्क दिखलायी पड़ता है। इस का कारण यह नहीं है कि तत्त्वमसि-प्रवर्तकों में द्वैताभास या अज्ञानलेश रहता है (देखिये 'केन-भाष्य' २।४)। जीवन्मुक्त में प्रारब्धानुसार यद्यपि अज्ञानलेश मानें, तथापि उस से उस की ब्रह्मविद्या पराभूत नहीं होती (केन० १२)। 'देहावसानपर्यन्त परमार्थता अव्यवहार्य है' (मां० अ० १२) अर्थात् परमार्थता या केवल पारमार्थिक दृष्टि से किये हुए अज्ञातिवाद ऐसे वादों के विवरण का, लोकव्यवहार से, व्यावहारिक उपयुक्तता की दृष्टि से, सम्बन्ध या विरोध स्थापित करने का प्रयास अनुचित है।

"मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् यह सारा वैदिक साहित्य ही यथार्थ है। परन्तु उन में महत्त्वपूर्ण दृष्टिभेद होता है। उसीतरह आचार्य के स्तोत्र, उपनिषद्भाष्य और सूत्रभाष्यसम्बन्धी विभिन्न प्रकरण, इन की विचारप्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण दृष्टिभेद होते हैं। स्तोत्र प्रायः उपास्य-उपासक इस भक्ति-भावना के द्वैतात्मक व्यवहार पर ही रचे हुए होते हैं। इस के विपरीत 'माण्डूक्यकारिका' के भाष्य में केवल-द्वैत की शुद्ध परमार्थ दृष्टि ही प्रधान रहती है। सूत्रभाष्य में प्रकरणानुसार विचार-प्रक्रिया में अपेक्षित भेद एवं सङ्कोच किया रहता है। जहाँ एक ही लेखक के—रहस्य को न छोड़ते हुए भी—ऐसे प्रक्रियाभेद सम्भव होते हैं, वहाँ देश-कालभेदानुसार अनेक शास्त्रकारों द्वारा लिखे हुए शास्त्रों में यह भेदाभास यदि अधिक स्पष्ट दिखलायी पड़े, तो उस में कौन आश्चर्य ? जिसतरह देश-काल-भेद, अधिकारीभेद, व्यक्तिभेद आदि भेद अपरिहार्य होते हैं, उसी-तरह शास्त्रों में पुरुष और प्रकृति, माया और अविद्या, कूटस्थ और बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ, ऐसे अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। उन का साकल्य से जो विचार, वही यथार्थ तत्त्वज्ञान है।

"तात्पर्य यह है कि विभिन्न धर्मसंस्थापकों में एवं विभिन्न दर्शनकार, सूत्रकार, भाष्यकार, टीकाकार इत्यादि शास्त्रकारों में जो मतविरोध दिखलायी पड़ते हैं, वे तावन्मात्र ही होते हैं। अनेक शास्त्रकार जगत्कल्याणार्थ सत्य की खोज के मार्गसम्बन्धी अनेक पक्षों को सिद्ध करते रहते हैं। इन पक्षभेदों के परिस्थिति-भेद, अधिकारी-भेद और प्रकरण-भेद आदि अनेक कारण हो सकते हैं, यह बात ऊपर बतलायी ही जा चुकी है। सभी शास्त्र और सभी वाद सापेक्ष दर्शन हैं। इतना ही नहीं, एक ही शास्त्रग्रन्थ में व्यतिरेकदृष्टि से बतलाये हुए सिद्धान्त से अन्यदृष्टि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त भिन्न दिखलायी पड़ता है—*"विवेकिनान्तु रज्ज्वा-मिव कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्यभिप्रायः, इदं सर्वं यदयमात्मा इति श्रुतेः।"* सृष्टि का अत्यन्ताभाव है, आत्मा अज है, व्यवहारतः प्रपञ्च है, परमार्थतः प्रपञ्च नहीं है, सब कुछ केवल अद्वैतमात्र है, अद्वैत वाच्यार्थ है, अद्वैत ब्रह्म लक्ष्यार्थ है, जगत् प्रमरूप है, उस की दृक्प्रतीतिमात्र सत्ता है, ब्रह्म निषेधावधि है, इत्यादि केवलद्वैतवाद के वचन भी सापेक्ष मत हैं, विचार की वह भिन्न प्रक्रियाएँ हैं, वह एक ब्रह्माभ्यास है, ब्रह्म-स्वरूप नहीं, अन्तिम सिद्धान्त नहीं है। व्यतिरेक यह प्रक्रिया है। सूर्य को तिमिरारि कहना जनस्वभाव है, वस्तुस्थिति नहीं। द्वैत-अद्वैत सब कुछ आत्मसत्ता ही है। हाँ, द्वैतनिरपेक्ष अन्वयबोध सिद्धान्तरूप है। निर्विकल्प-समाधि प्रक्रिया है। अन्वयबोध निर्विकल्पस्वरूप है। समाधिअवस्था की तरह उस का आदि, मध्य, अन्त नहीं है। ब्रह्माभ्यास और वस्तु है एवं ब्रह्मरूप पृथक् वस्तु है। अन्तर्मुखी वृत्ति से ब्रह्म सर्वातीत है, बहिर्वृत्ति से वह सर्वस्वरूप है। सृष्टि से दृष्टि को हटाना योगप्रक्रिया है। प्रतीतिमात्र सृष्टि मानना दृष्टि-सृष्टिवाद है। इस दृष्टि की भी नित्य निवृत्ति मोक्ष है।

"यह सब विचार एकवार अच्छीतरह चित्तारूढ़ होते ही 'माण्डूक्यकारिका-भाष्य' और 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' के विज्ञानवाद, शून्यवाद, जागृत्स्वप्न-विवेक, जगन्मिथ्यात्ववाद, मायावाद इत्यादि विषयों पर के विवेचन का विरोधाभास मिट जायगा। विचार के प्रक्रियाभेद से रहस्यभेद नहीं होता। 'प्रस्थानत्रयी' के भाष्य और 'उपदेशसाहस्री' ऐसे स्फुट प्रकरणों में अद्वैतवादसम्बन्धी उपर्युक्त सब प्रक्रियाओं का यथोचित उपयोग किया गया है। उस में व्यतिरेक-पद्धति और व्यावहारिक सत्ता, इन पर कहीं विशेष जोर दिखलायी पड़ता हो, तो वह व्यावहारिक साधक की दृष्टि से योग्य ही है। ईश्वर, गुरु, शास्त्र, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद, जागृत्स्वप्नसुषुप्ति-विचार, व्यवहार, सदाचार, परमार्थ-साधन इत्यादि सब व्यावहारिक सत्ता के तत्त्व और प्रक्रियाएँ हैं अर्थात् जहाँ पारमार्थिक एवं तदितर अर्थात् प्रातिभासिक, ऐसे सत्ता के दो ही प्रकार माने जाते हैं, वहाँ की विचारप्रक्रिया स्वभावतः ही भिन्न दिखलायी पड़ती है। किन्तु तत्त्वतः वह विरोध नहीं है। अविद्या जीवाश्रित है या ईश्वराश्रित ? सृष्टि भले ही कल्पनामात्र हो, पर वह कल्पना जीव की है या ईश्वर की ? इस सम्बन्ध के विचार की प्रक्रिया में भेद करने से दृष्टि-सृष्टिवाद, विज्ञानवाद, सृष्टि-दृष्टिवाद और वस्तुवाद-ऐसे विभिन्न वाद उत्पन्न होते हैं। परन्तु परमार्थतः जीव और ईश्वर आत्मस्वरूप होने के कारण और ऐसे आत्मस्वरूप में अविद्या, कल्पना, अज्ञान त्रैकालिक असम्भव होने के कारण उपर्युक्त विचारसम्बन्धी प्रक्रियाओं के भेद से आत्म-रहस्य में अन्तर नहीं पड़ता। व्यावहारिकों की विचार-सरणी बदल जाती है, वस इतना ही। मायावाद, अज्ञानवाद, अजातवाद और शून्यवाद, इन वादों में 'दृश्य का अस्तित्व नहीं है' ऐसा बतलाकर अद्वैत-सिद्धि करते हैं। इस के विपरीत विज्ञानवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद और स्फूर्तिवाद, इन में, सब कुछ द्रष्टा ही अर्थात् आत्मा ही है, ऐसा बतलाकर अद्वैतसिद्धि करते हैं। परन्तु वस्तुतः परब्रह्म में द्रष्टा और दृश्य इन का सदा अभाव ही है अर्थात् व्यतिरेक और अन्वय, ये सब सापेक्ष कल्पनाएँ हैं।"

"जाली भगवान् ?"

(श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी)

१

श्रीत्वामो शङ्करतीर्थ जी महाराज के गम्भीर मननीय लेख 'सिद्धान्त' में कई वर्षों से निकल रहे हैं और वे वही आदर की दृष्टि से पढ़े जाते हैं। हाल में आप के 'आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम' शीर्षक लम्बे लेख में कई बातें ऐसी देखने में आयीं, जिन्हें पढ़कर सखेदाश्चर्य हुआ। 'भगवान् को दयामय, प्रेममय' मानने में आप को बड़ी आपत्ति प्रतीत होती है, पर यह शास्त्र-विरुद्ध है। भगवान् के अचिन्त्य, अनन्त, कल्याण-गुणगणों में से उपासक या भावुक भक्त का अपनी भावना के अनुसार तत्तद्गुण-विशिष्ट भगवान् की उपासना या भक्ति करके कृतार्थ होना शास्त्र-सम्मत ही है। फिर भगवान् को 'दयामय, प्रेममय' मानकर उन की उपासना करने में अनौचित्य क्या है ? 'श्रीमद्भागवत' का तो यहाँतक कहना है कि भक्तानुग्रहार्थ भक्त की भावना के अनुसार अहस्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, निर्गुण,

निराकार परब्रह्म को भी सगुण, साकार स्वरूप धारण करना पड़ता है—“यद्यद्विधात उरगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सवनुग्रहाय ।” आप लिखते हैं कि “भगवान् को दयामय, प्रेममय बनाने जाकर, नोट गलाकर अलङ्कार न गढ़ाने लग जाना ।” यहाँ भगवान् को नोट की तरह बतलाया गया है और ब्रह्म को रूपों की तरह, किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। पाषाणादि से बनी देव-मूर्तियों को भले ही ‘नोट’ की तरह कहा जा सकता है, किन्तु ब्रह्म ही जहाँ अपनी अनन्त, अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति के योग से सगुण, साकार रूप में प्रकट हुआ है, वहाँ वैसा नहीं कहा जा सकता। वहाँ तो हजार रुपये मूल्य के सुवर्णपत्र पर छपे नोट की तरह, भगवान् कृष्ण, कागजी नोट की तरह उपचार नहीं, साक्षात् मूल्यवान् पदार्थ है। इसीलिए कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण निखिल चराचर जगत् के आत्मा हैं, जगद्विधायक वही अपनी दिव्य मायाशक्ति के योग से देह-वान् से होकर प्रकट होते हैं—“कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिला-त्मनाम् । जगद्विधाय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥” एवञ्च “कृषि-भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभि-धीयते”, “सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः । तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्” इत्यादि वचनों से भी यह सिद्ध है कि शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त, सच्चिदानन्दधन, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, परात्पर मूलतत्त्व ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वही अपनी दिव्य लीला-शक्ति के योग से भक्त के शुद्ध, निर्मल अन्तःकरण पर प्रेमतत्त्वरूप में अभिव्यक्त होते हैं। श्री मधुसूदन सरस्वती जी ‘भक्तिरसायन’ में लिखते हैं कि—“भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि । मनोगत-स्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्” अर्थात् परमानन्दस्वरूप भगवान् ही स्वयं भक्त के ह्रुत चित्त पर प्रेमस्वरूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस से सिद्ध है कि ‘भगवान् दयामय, प्रेममय हैं।’

आप लिखते हैं कि “यदि ज्ञान-विचार ही करना हो, तो तत्त्व की ओर देखना चाहिए। वैसा करते हुए पहले उन के ‘भग’ अर्थात् ऐसी शक्ति को एक ओर रखकर उस शक्ति के आधाररूप में यदि किसी सत्य वस्तु का अस्तित्व या नास्तित्व निश्चित हो, तो उस की विचारमीमांसा ही करना होगा”, यहाँ पर ‘भग’ को ‘एक ओर रख कर’ नहीं, अपितु ‘भग’ को लेकर ही ‘सत्य वस्तु’ का विचार हो सकता है। सर्वाधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व का उपलब्ध ‘भग’ के द्वारा ही हो सकता है। चराचर प्रपञ्च के उत्पादन, पालन, संहाररूप ऐश्वर्य को ‘भग’ कहा जा सकता है। इसीलिए भगवान् व्यास “जन्माद्यस्य यतः” इस सूत्र और “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति” इत्यादि श्रुति द्वारा जगत्कारणत्व-पुरस्कारेण ही अधिष्ठानतत्त्व का बोध कराते हैं, जो जगत्कारणत्व ऐश्वर्य, ज्ञानादि भगमूलक ही है। आगे चलकर आप लिखते हैं कि “भगवान् प्रभृति चाहे कोई भी नाम हो, आस्तिकता का स्मरण रखना चाहिए”, पर यह उक्ति व्यर्थ है, क्योंकि आस्तिकता की प्राप्ति ब्रह्म, भगवान् आदि नामों से ही होती है। नामोच्चारण एवं तदर्थभावून से निर्मल सात्त्विक अन्तःकरण में आस्तिकता दृढ़ होती है।

भगवान् को ‘नोट’ बतलायेवाली आप की उक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान् स्वयं नोट की तरह नहीं हैं। पूर्वोक्त विवेचनानुसार परब्रह्म ही, जिसे आप सुवर्णस्थानीय बतलाते हैं, भगवत्तत्त्व है। इसतरह भगवान् नोट नहीं, अपितु सुवर्णादिस्थानीय ही सिद्ध होते हैं। यदि उन्हें नोट मान भी लें, तो भी कोई हानि नहीं। नोट को गलाकर अलङ्कार भले ही न बनाया जा सके, पर गढ़ा-गढ़ाया अलङ्कार या अन्य अपेक्षित वस्तु उस से उपलब्ध हो ही सकती है। भगवान् से भी सर्वविध ऐहिक-आधुनिक कल्याण की प्राप्ति होती ही है। फिर जिसे आप साक्षात् सुवर्ण मानते हैं,

उस ब्रह्म से क्या अलङ्कार की तरह कुछ गढ़ाया जा सकता है? अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म का भी क्या परिणाम हो सकेगा? यदि हाँ, तो उस की कूटस्थता, निर्विकारता, असङ्गता, निष्क्रियता कहाँ रही? वस्तुतः देखा जाय, तो निर्गुण, निराकार ब्रह्म की अपेक्षा सगुण, साकार भगवान् श्रीकृष्ण आदि ही जीवों के लिए विशेष हितकर है। वह सगुण भगवान् ही अभीष्ट मोक्ष आदि देने में समर्थ हैं निर्गुण ब्रह्म नहीं। वह तो सब प्राणियों का अन्तरात्मा है ही, फिर भी क्या कारण है कि सारा संसार शोक-मोहादि से सन्तप्त है? वही ब्रह्म जब सगुण, साकार श्रीकृष्ण आदि रूप में अभिव्यक्त होता है, तभी उस के मङ्गलमय नाम के उच्चारण, परम पवित्र चरित्र के श्रवण आदि से प्राणी का सर्वविध कल्याण होता है।

अज्ञानी के लिए भगवान् “महद्भयं वज्रमुद्यतम्” के अनुसार भले ही भयङ्कर हों, परन्तु ज्ञानी के लिए वही भगवान् परप्रेमास्पद हैं। इसीलिए कहा गया है कि “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन” इत्यादि। “सदसच्चाहमर्जुन” अर्थात् हे अर्जुन ! मैं सत् और असत् दोनों ही हूँ” इत्यादि गीतावचन को उद्धृत करते हुए भगवान् की सर्वस्वरूपता का जो निर्देश किया गया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमेश्वर अधिष्ठानरूप से अज्ञ-सर्वज्ञ आदि सर्वस्व-रूप हैं, किन्तु ‘भगवान् रूप’ से तो सर्वज्ञ ही हैं। आगे चलकर जो लिखा गया है कि “नोट के कागज का मूल्य न होने पर भी, नोट रूपों की प्राप्ति का स्मारक लिपिस्वरूप होने के कारण कार्यक्षेत्र में व्यवहृत होता है” वहाँ ‘नोट को रूपों की प्राप्ति का स्मारक’ बतलाना ठीक नहीं है। रूपों का स्मरण करने के लिए नोट की ही क्या आवश्यकता है? वह तो सादे कागज पर लिखकर भी हो सकता है। वस्तुतः नोट ‘रूपों की प्राप्ति का साधन’ है। आगे चलकर आप लिखते हैं कि “नोट के व्यवहार की प्रथा यदि सरकार बन्द कर दे, तो नोट का मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता, वैसे ही भगवान् से लक्षित होनेवाली सत्य वस्तु की ओर लोगों का ध्यान न होने के कारण ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो गया है” किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। लौकिक राजा के ‘फेल’ होने से नोट का कुछ भी मूल्य न रह जाना सम्भव है, परन्तु अनादि, अपो-रुषेय श्रुति-नियमों के फेल होने की सम्भावना नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण की ब्रह्मरूपता वेदशास्त्र से सिद्ध है, अतएव तथाकथित नोट-स्थानीय भगवान् का मूल्य गिरने की कल्पना ठीक नहीं है।

यह कहना कि “भगवान् कृष्ण कहने पर ‘भग’ अर्थात् शक्ति-स्वरूप कृष्ण (अन्धकार, तमोमय शून्य) अव्यक्त, प्रकृति अर्थात् नास्तिक का शून्य पाया जाता है” उचित नहीं है। ‘भग’ शब्द का ‘शक्ति’ यह अर्थ तो सङ्गत है, किन्तु ‘कृष्ण’ शब्द का अर्थ ‘तम’ है, इस में कोई प्रमाण नहीं है। बल्कि “कृषिभूवाचकः शब्दः” इत्यादि ऊपर उद्धृत वचनों के आधार पर सच्चिदानन्दधन ब्रह्म ही ‘कृष्ण’ पदार्थविदित होता है। ऐसी स्थिति में उस का अर्थ ‘तम’ या ‘अन्धकार’ करना अनुचित है। इस के सिवा ‘तम’ को ‘नास्तिक का शून्य’ कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ‘तम’ और नास्तिक के शून्य में अन्तर है, दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। शून्य सत्, असत्, सदसत् और सदसद्विलक्षण इन चारों कोटियों से विनिर्मुक्त है, किन्तु ‘तम’ तो सदसद्विलक्षण—अनिर्वचनीय—है। इसीलिए ‘कृष्ण’ को भी ‘तम’ नहीं कहा जा सकता, अपितु ‘तम’ से कृष्ण उपलक्षित है। आगे चलकर आप लिखते हैं कि धृष्ण में ‘भगवान्’ शब्द औप-चारिक है अर्थात् गौणरूप से व्यवहृत होता है, “किन्तु भगवती कहने में उपचार नहीं है, क्योंकि शक्ति स्वभावतः षडैश्वर्यमयी अर्थात् भगयुक्त है” किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। आप के ही कथनानुसार ‘कृष्ण’ जब ‘तम’ है और ‘तम’ ही जब ‘भग’ या ‘शक्ति-स्वरूप’ है, तब शक्तिस्वरूप होने के कारण कृष्ण के षडैश्वर्यमय

होने में क्या आपत्ति है ? इसतरह 'कृष्ण' यदि षडैश्वर्यमय हुए, तो उन में 'भगवान्' शब्द को औपचारिक कैसे कहा जा सकता है ? 'विष्णुपुराण' के वचनावुसार तो 'भगवान्' शब्द शुद्ध परब्रह्म का ही मुख्य रूप से वाचक है, अन्यत्र औपचारिक है—“शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्दिते । मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥ संभर्तेति तथा भर्ता भकारोर्ध्वयान्वितः । नेता गमयिता स्वष्टा गकारार्थस्तथा मुने ॥ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरया ॥ वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि । स च भूतेश्वरशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥ ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥ एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति । परमब्रह्मभूतस्य वायुदेवस्य नान्यगः ॥ तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः । शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥ समस्ताः शक्त्यश्चैतानुप यत्र प्रतिष्ठिताः । तद्विभूतिरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्वरेर्महत् ॥” लिङ्गभेद से ही 'भगवान्' और 'भगवती' शब्द का भेद है, परन्तु आर्थिक दृष्टि से दोनों का अभिप्राय एक ही है । पुंस्त्व की विवक्षा से जिस तत्त्व को 'भगवान्' कहा जाता है, स्त्रीत्व की विवक्षा से वही तत्त्व 'भगवती' शब्द से सम्बोधित होता है । “समृद्धिबुद्धिसम्पत्तिशसां वचनो भगः । तेन शक्तिर्भगवती भगरूपा च सा सदा ॥ तथा युक्तः सदात्मा च भगवांस्तेन कथ्यते” इस वचन से तो यही स्पष्ट विदित होता है कि समृद्धि, बुद्धि, सम्पत्ति और यशरूप भग शक्ति का कार्य है । उस कार्यरूप भग से युक्त होने से कारणरूपा शक्ति भगवती है । उस शक्ति को ही भगरूपा भी कहा गया है, किन्तु एक ही शक्ति में भगरूपता और भगवतीत्व दोनों बातें कैसे बन सकती हैं ? इसलिए मानना पड़ता है कि कार्यरूपेण शक्ति भगरूपा है और कारणात्मना भगवतिष्ठ होने से भगवती है । उस कार्यकारणरूपा शक्ति से युक्त होने से सदात्मा भगवान् कहा जाता है । “तथा युक्तः सदात्मा च भगवांस्तेन कथ्यते । स च स्वेच्छामयः कृष्णः साकारश्च निराकृतिः” इस का अर्थ व्यक्त करते हुए आप लिखते हैं कि “वह भगवान् कृष्ण (अर्थात् व्यक्त या तमोमय शून्य) स्वेच्छामय है, अतः उपादानरूप में वे निराकार—शून्य—एवं कार्यरूप में साकार—व्यक्त जगत्—है” किन्तु यह ठीक नहीं है । वस्तुतः भगवान् 'उपादानरूप' में निराकार नहीं, अपितु अधिष्ठानरूप में निराकार है । अचिन्त्य, अनन्त, दिव्य शक्ति के योग से सच्चिदानन्दधन, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म परमात्मा ही 'भगवान्' कहा जाता है और वही 'श्रीकृष्ण' स्वरूप में प्रादुर्भूत होने के कारण साकार होता है । जब वही ब्रह्म उस शक्ति के सम्बन्ध से पृथक् रहता है, तब शुद्ध अधिष्ठानस्वरूप होने से निराकार होता है । ऐसी स्थिति में जब 'भग' रूप शक्ति से युक्त सदात्मा ही कृष्णपदवाच्य है, तब उस कृष्ण को 'तम, शून्य' आदि कहना कहां तक उचित समझा जा सकता है ? इसी दृष्टि से देखें, तो आगे चलकर आप ने “नमामि सत्यं तमसः परस्तात्” इस वचन को उद्धृतकर तदन्तःपाती 'तम' का जो 'कृष्ण' यह अर्थ किया है, वह भी ठीक नहीं कहा जा सकता । आप का यह कहना कि “भगवती का जाल नहीं हो सकता, किन्तु भगवान् जाली बनाये जाते हैं” ठीक

नहीं है । यदि इस का अभिप्राय यह हो कि जाली भगवान् का महत्व कम है, तो यह ठीक नहीं, बल्कि जाली होने से ही भगवान् का महत्व अधिक है । जाल अर्थात् प्रपञ्च जिस के अधीन हो, वही 'जाली' कहा जाता है । इस दृष्टि से देखने पर प्रकृति एवं समस्त प्राकृत, प्रपञ्चरूप जाल को स्वाधीन रखकर उस के द्वारा सृष्ट्यादि व्यापार करनेवाले भगवान् का महत्व अधिक ही मानना पड़ता है । इसीलिए श्रुति ने भी 'जाली भगवान्' का महत्वातिशय वर्णन करते हुए कहा है कि “य एको जलवानीशत ईशनीभिः सर्वां लोकांशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति” (श्वेताश्व० ३।१) ।

एक स्थान पर आप लिखते हैं कि “कृष्णत्व शिवलिङ्ग के वेरस्थानीय है । उस के भीतर स्वयंज्योति सत्य का सन्निवेश समझना चाहिए”, “शिवलिङ्ग के निचले स्थूल देष्टन का नाम है 'वेर', परन्तु यह कथन भी भ्रममूलक है । वस्तुतः 'वेर' शब्द का अर्थ वैसा नहीं, अपितु 'साकार विग्रह' है । भगवान् शिव की लिङ्ग और वेर रूप में अर्चना का शास्त्र में विधान है । 'शिवपुराण' में कहा गया है कि शिव की लिङ्ग या वेर (हस्त-पादादिमान् साकार मूर्ति) रूप में स्थापना करनी चाहिए—“स्थापयेत्परमेशस्य लिङ्गं वेरमथापि वा” (शि० पु०, वा० सं०, उत्त० खं० ३४।५) इसीतरह जीर्ण या खण्डित शिवप्रतिमा की प्रतिपत्ति के प्रसङ्ग में भी बतलाया गया है कि “वेराद्वा विकलालिङ्गाद्वैवपूजापुरःसरम् । उद्वास्य हृदि सन्धानं त्प्रागं वा युक्तमाचरेत्” (शि० पु०, वा० सं०, उत्तरखं० ३६।६३) । इस से स्पष्ट विदित होता है कि शिवलिङ्ग का अधो-वेष्टनरूप जलहरी 'वेर' नहीं, अपितु शङ्कर की साकार प्रतिमा का नाम 'वेर' है ।

विषय - सूची

विषय	पृष्ठ
१—“पूर्व में उन्नति के चिन्ह ?” (सम्पादकीय)	... १०५
२—सरकार की दीर्घसूत्रता (टिप्पणी)	... १०६
३—हिन्दू-मुसलिम मेल (टिप्पणी)	... १०६
४—श्री विष्णुतत्व ५ (श्री स्वामी करपात्री जी)	... १०७
५—श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण ७४ (श्री सदाशिव कृष्ण फड़के)	... १०८
६—“जाली भगवान् ?” १ (श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी)	... ११०

सिद्धान्त

“अपति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।

दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥”

वर्ष ५]

साप्ताहिक

[अङ्क १५]

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

काशी—श्रावण कृष्ण ६ सं० २००१
मङ्गलवार, ता० ११ जुलाई, १९४४

{ वार्षिक मूल्य—साधारण ३)
{ विशेष ५), एक प्रति का -)

स्त्रियों का उत्तराधिकार क्यों नहीं ?

‘केन्द्रीय असेम्बली’ में भारतसरकार ने जिन्हें ‘हिन्दू उत्तराधिकार’ तथा ‘हिन्दू विवाह’ विलों पर विचार करने के लिए समस्त हिन्दू नारियों का प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य प्रदान किया है, उन्हीं श्रीमती रेणुका राय का इस सम्बन्ध में ‘स्त्रियों का उत्तराधिकार क्यों ?’ शीर्षक लेख गत २६ जून के ‘साप्ताहिक आज’ में प्रकाशित हुआ है। लेख पर ‘कापी राइट’ का ताला लगा है, इसलिए उसे हम अपने पाठकों को भेंट करने में असमर्थ हैं, पर उस का जो उत्तर हम ने ‘साप्ताहिक आज’ में दिया है, उसे यहाँ हम प्रकाशित कर रहे हैं। उस लेख को हम ने बड़े ध्यान से पढ़ा है। उस में ‘समाज’, ‘विकास’, ‘प्रगति’, ‘समानाधिकार’, ‘स्वतन्त्रता’, ‘संस्कृति’ शब्दों की भरमार है। प्रायः इन्हीं शब्दों की दुहाई देकर तरह तरह के सुधार पेश किये जाते हैं और उन के विरोधियों को ‘दकियानूस’, ‘स्वार्थी’, ‘अबौद्धिक’, ‘पक्षपातपूर्ण’ आदि शब्दों से विभूषित किया जाता है। वास्तव में जबतक इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट न हो जाय, तबतक ऐसे प्रश्नों पर कोई उचित विचार ही नहीं चल सकता। किसी उद्देश्य-प्राप्ति के लिए व्यक्तियों का सुसङ्गठित समूह ही समाज है। उस उद्देश्य-प्राप्ति की ओर बढ़ना ही व्यक्ति और उस के समाज की प्रगति या उन्नति है। हिन्दूशास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। धर्म से वे सब कर्तव्य लक्षित होते हैं, जो प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने कल्याण और समाज को सुस्थिर बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। यहाँ धर्म का वह सङ्कुचित अर्थ नहीं लिया जा सकता, जो उपासना और तदनुकूल आचार दरसाने के लिए अन्य भाषाओं में किया जाता है। अर्थ तथा काम सुखोपभोग-सामग्री की प्राप्ति के साधन हैं। प्राणिमात्र की प्रवृत्ति सुखप्राप्ति की ओर रहती है। अतः इन दोनों को कर्तव्यकोटि में लाना आवश्यक ही है। परन्तु साथ ही यह बात भी लगी हुई है कि सुखोपभोग धर्म का विरोधी और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष का प्रतिबन्धक न होना चाहिए। सकल अनर्थ-निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष या मुक्ति है। यह मोक्ष ही प्राणिमात्र का अन्तिम लक्ष्य है। समाज में प्रत्येक स्त्री-पुरुष तीन प्रकार से ऋणी माना गया है। देवताओं का ऋण यज्ञ-याग और उन का पूजन-अर्चन करने से चुकता है। पितरों का ऋण सन्तान उत्पन्न करने और उन के योग्य पोषण तथा शिक्षण से पूरा किया जाता है। हमारे पूर्वज ऋषि अपनी कठिन तपस्या से उपार्जित जो ज्ञानभाण्डार छोड़ गये हैं, उस का अध्ययन-अध्यापन द्वारा रक्षण हमें उन के ऋण से मुक्त करता है। स्मृतिकार महर्षियों ने इन वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर समाज-रचना इस प्रकार की है कि उस में रहकर हर एक स्त्री-पुरुष

प्रथम तीन पुरुषार्थों द्वारा अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सके। वेदों का प्रामाण्य, कर्मतत्त्व, पुनर्जन्म, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का अस्तित्व आदि मानते हुए सब प्रकार से अपना, अपने समाज का किंवदुता सारे जगत् का कल्याण हो, इस प्रकार का आचार रखना सब का कर्तव्य है। समाज में वर्णाश्रम-व्यवस्था की योजना करके संस्कृति की रक्षा का प्रबन्ध ऐसा किया गया है कि अराजकता की स्थिति होने पर भी समाज का नियमन होता रहे। तत्त्वज्ञान के सिद्धान्त, धर्म के सिद्धान्त और तदनुकूल समाज का आचार, इन में विरोध न हो, ऐसी धर्मशास्त्र की रचना बहुत सोच-विचारकर की गयी है और इसी धर्मशास्त्र के आधार पर चलने से हिन्दू-समाज इस संसार में सहस्रो आपत्तियों से बचता हुआ अनन्त काल से जीवित है। इस व्यवस्था में सारे कौटुम्बिक कार्यों में स्त्री का और सामाजिक कार्यों में पुरुष का प्राधान्य है। ध्येयप्राप्ति में सहायक होने योग्य कुटुम्ब को बनाने के लिए पति-पत्नी का पूर्ण ऐक्य रहना नितान्त आवश्यक है और यह ऐक्य पत्नी के व्यक्तित्व का धर्मबुद्धि तथा प्रेमभाव से पति के व्यक्तित्व में लय होने से ही हो सकता है।

संक्षेप में यह है हमारे यहाँ की समाज-व्यवस्था। इसी को ध्यान में रखकर हम सामाजिक प्रश्नों पर विचार कर सकते हैं। किस में समाज की उन्नति है और किस में अवनति, इस का भी पता इसी कसौटी से लग सकता है। समानता, स्वतन्त्रता आदि शब्दों का जिस भाव में आजकल प्रयोग किया जा रहा है, वैसे भावों का इस व्यवस्था में कहीं स्थान ही नहीं है, उल्टे वैसे भाव तो व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए हानिकर समझे गये हैं। संसार भर में न कहीं समानता है और न किसी को पूर्ण स्वतन्त्रता, फिर इन दोनों की हर समय डींग हाँकते रहना क्या बुद्धिमत्ता का परिचायक है? स्त्री-पुरुष की समानता में तो विचारशील पाश्चात्य विद्वानों का ही, जिन के वाक्य हमारे यहाँ के सुधारवादियों के लिए वेदवाक्य से भी बढ़कर हो रहे हैं, अब विश्वास उठता जा रहा है। सभ्य-शिरोमणि कहे जानेवाले अमरोका के किसी पुरुष ने नहीं, प्रसिद्ध लेखिका श्रीमती पल बक ने गत वर्ष ही वहाँ के ‘विश्वविद्यालय महिला सङ्घ’ के सामने भाषण करते हुए कहा था कि ‘स्त्री-पुरुषों की समानता पर लड़ना बेकार है। यह तो अब सर्वत्र एक हँसी की बात हो गयी है। भला कभी कोई दो व्यक्ति समान हो सकते हैं, फिर स्त्री-पुरुष की समानता कैसी? यदि स्त्री पुरुष के और पुरुष स्त्री के ही समान है, तो फिर दोनों का विशेष मूल्य ही क्या रहा?’ एक दूसरी अङ्गरेज-महिला लिखती है कि “आज स्त्री को वोट, शान, शक्ति, स्वतन्त्रता, प्राप्त सम्पत्ति से जो चाहे करने का अधिकार, सब कुछ प्राप्त है, परन्तु उस के पास

प्रेम तथा स्नेह नहीं है। न उस की कोई चिन्ता करनेवाला है और न वह किसी की, वह सर्वथा अकेली तथा उदास है" (प्रबुद्ध भारत मई, १९४४)। ऐसे अनेकों वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं, पर हमारे यहाँ श्रीमती रेणुका का दिमाग त्यक्त पाश्चात्य आदर्शों का ही स्वप्न देख रहा है। इसी का नाम है दासमनोवृत्ति।

यहाँ तक तो हुई 'तात्विक आदर्शों की बात', आगे चलकर श्रीमती राय 'उत्तराधिकार बिल' के सम्बन्ध में लिखती हैं कि इस की "मुख्य विशेषता यह है कि (क) यह सारे ब्रिटिश भारत के हिन्दुओं के लिए है, (ख) इस से महिलाओं की अनधिकारिता दूर होती है और (ग) उन की सीमित अधिकार-व्यवस्था का अन्त होता है।" आप को "सभी हिन्दुओं के लिए एक कानून की व्यवस्था वेशक एकता का पहला कदम" प्रतीत होता है, परन्तु क्या इस बिल द्वारा ऐसा हो रहा है? देशी रियासतों तथा ब्रिटिश भारत के हिन्दुओं में बराबर शादी-विवाह होता रहता है। अभी-तक दोनों धार्मिक दृष्टि से बहुत कुछ एक ही प्रकार के नियमों का पालन करते थे, अब उत्तराधिकार, जो आर्थिक दृष्टि से समाज की जड़ है, दोनों में विभिन्न प्रकार से चलेगा। देशी रियासत की हिन्दू लड़की अपने माता-पिता की सम्पत्ति में बिना किसी हिस्से के ब्रिटिश भारत में आयेगी और ब्रिटिशभारत की हिन्दू लड़की हिस्सा बँटाकर रियासत में पहुँचेगी। ऐसी दशा में ब्रिटिशभारत-निवासी हिन्दू देशी रियासतों के हिन्दुओं के यहाँ विवाह करना क्यों पसन्द करेंगे? क्या यह ब्रिटिश भारत को देशी रियासतों से अलग करना नहीं है? फिर 'जीफ कमिश्नरी प्रान्तों' में भूमिका भी बटवारा रखा गया है, पर अन्य प्रान्तों में नहीं, क्योंकि वहाँ भूमि के सम्बन्ध में भारतसरकार को नियम बनाने का अधिकार नहीं है। इन सब का परिणाम क्या होगा? मगड़े और मुकदमेबाजी। इस के द्वारा भाई-बहनों तक में कलह के बीज बोये जा रहे हैं, फिर यह हिन्दुओं का विभाजन हुआ या हुई उन की एकता? जहाँतक स्त्रियों की अनधिकारिता का प्रश्न है, श्रीमती राय का कहना है कि बिल में पुत्र के बराबर कन्या को हिस्सा न देकर उसे पूरा समानाधिकार न दिया गया, पर तब भी 'दकियानूस तथा स्वार्थी पुरुषसमाज' यह भय प्रकट कर रहा है कि यदि "कन्या उत्तराधिकारिणी हो जायगी, तो हिन्दू-सम्पत्ति तितर-बितर हो जायगी और हिन्दूसमाज का सर्वनाश हो जायगा।" पुत्र से आधा हिस्सा मिलने से श्रीमती राय सन्तुष्ट नहीं हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही है, समानाधिकार की दृष्टि से भूमि में भी कन्या का हिस्सा होना ही चाहिए। केवल उपज के बटवारे से अनावश्यक मुकदमेबाजी बढ़ेगी, इसी को आप भी स्वीकार करती हैं। फिर ऐसी दशा में पैतृक अचल सम्पत्ति क्या दूसरे कुटुम्ब में नहीं चली जायगी? इस के परिणामस्वरूप क्या भाई-बहनों में कलह न मचेगा और बटवारे की मुकदमेबाजी से अदालत का पेट न भरेगा? भूसम्पत्ति दूसरे कुटुम्ब में न जाने पाये, इसी को ध्यान में रखकर मुसलमान तथा कई अहिन्दू जातियों में परस्पर विवाह में केवल दूध का बराब रखा जाता है। क्या यही दशा हिन्दूसमाज में न होगी? श्रीमती राय को प्रसन्नता है कि इस बिल से स्त्रियों की "सीमित अधिकार-व्यवस्था का अन्त होता है।" अभीतक हिन्दूस्त्रियों को अपने हिस्से को रहन-बय करने का अधिकार न था, इस बिल से वह रुकावट उठ रही है। अब स्त्रियों अपनी सम्पत्ति को जो चाहें कर सकती हैं। इस का परिणाम भी पैतृक सम्पत्ति के लिए घातक ही होगा। कहा जा सकता है कि जब पुरुषों को ऐसा अधिकार प्राप्त है, तब फिर स्त्रियों को क्यों न होना चाहिए? परन्तु पुरुषों ने ही पूर्णाधिकार प्राप्त करके उस का कहीं तक सदुपयोग किया? वास्तव में पैतृक सम्पत्ति की रक्षा के लिए उस में सभी का सीमित अधिकार ही ठीक है। कुटुम्ब की सम्पत्ति कुटुम्ब में ही रहनी चाहिए। सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा में पैदावार

का ही पहले बटवारा होता था, सभी लोग मेहनत करते थे और अपना अपना हिस्सा पाते थे। इसतरह अपने यहाँ बने-बनाये 'साझेदारी चक्र' थे, जिन की प्रथा चलाने के लिए वर्गवादो रूस को गर्व है। परन्तु सम्पत्ति में व्यक्तिगत अधिकार को बढ़ावा देकर उस के नाश का बीज बो दिया गया। उन को कम करना तो दूर रहा, स्त्रियों को भी वह अधिकार देकर उस के विनाश की गति को तीव्र किया जा रहा है।

श्रीमती राय को आश्चर्य है कि "जो लोग प्रगतिशाल हिन्दुओं के लिये हुए सुधारों का जबर्दस्त विरोध करते हैं, वे मनु के वाक्यों से लेकर हिन्दुओं के समस्त कानून की विदेशियों तथा 'प्रिवी कौंसिल' द्वारा की गयी व्याख्याओं तथा सम्मतियों को स्वीकार करने में जरा भी हिचकिचाते नहीं।" पहले तो यह वाक्य ही अस्पष्ट है। पर यदि जो कुछ हम ने समझा है वह ठीक है, तो हमें आश्चर्य है कि श्रीमती राय 'स्त्रियों के परमविरोधी समझे जानेवाले' मनु को अपने समर्थन में पेश कर रही हैं। पर उन्हें मनु का कोई वचन भी तो देना चाहिए था। मनु की जो विदेशी विद्वान और 'प्रिवी कौंसिल' व्याख्या कर दे वह ठीक है, पर जिन का वह धर्मग्रन्थ है, जिन के जीवन के रंग रंग में उस के भाव भरे हैं, उन्हीं की व्याख्या और सम्पत्ति गलत है। यह है श्रीमती राय की उलटी समझ। 'उत्तराधिकार बिल' पर अपना विचार समाप्त करते हुए अन्त में आप लिखती हैं कि "ऐसी बात नहीं है कि स्त्रियाँ धन-वैभव की भूखी हों, परन्तु असमान आर्थिक स्थिति के कारण उन की सामाजिक परिस्थिति पर बहुत ही बुरा असर पड़ा है और अनेक कष्टों से तङ्ग आकर उन्हें उन के निवारण के लिए अदालत की शरण लेनी पड़ती है।" यदि प्राचीन शैली की स्त्रियों के लिए यह कहा जाता कि वे 'धन-वैभव की भूखी' नहीं हैं, तो बात हमारी समझ में न आती, पर जिस वर्ग का श्रीमती राय नेटव' कर रही हैं, क्या वह भी धनवैभव का भूखा नहीं है? तरह तरह के फैशनों में लिप्त, भोग-विलास के लिए आतुर, घरेलू जीवन से असन्तुष्ट, सार्वजनिक जीवन में ख्याति प्राप्त करने के लिए उत्सुक आधुनिक नारी को 'धनवैभव की भूख' न हो, यह आश्चर्य ही है। क्या श्रीमती रेणुका राय स्वयं अपने लिए भी ऐसा कह सकती हैं? हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ पुरुषों ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया है, जिस से स्त्रियों को कष्ट भी है। पर उस का प्रतीकार क्या अदालत की शरण में जाना है? सत्य का गला घोटनेवाली, धन चूसनेवाली भारत में ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था का क्या कभी श्रीमती राय ने निष्पक्ष भाव से अध्ययन किया है? इस व्यवस्था के अङ्ग अदालतों की शरण में जाकर क्या स्त्रियों को न्याय मिलेगा?

आर्थिक स्वतन्त्रता तो स्त्रियों के लिए क्या, पुरुषों तक को नहीं होनी चाहिए। अपने प्राचीन सिद्धान्तानुसार तो सारी सम्पत्ति समाज की धरोहर है, जिस से प्रत्येक को अपने निर्वाहमात्र के लिए ही लेना चाहिए। स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता का क्या परिणाम हो रहा है, इस का दिग्दर्शन श्रीमती आइरिन सोल्ट ने अपनी 'दि प्री वीमन' (स्वतन्त्र स्त्री) नामक पुस्तक में कराया है। वे लिखती हैं कि "शिक्षा के साथ लड़कियों को नौकरी की चिन्ता होने लगती है। जिन को काम मिल जाता है, उन का मन फिर गृहस्थी की झंझटों में नहीं लगता। चार पैसा कमा सकने योग्य हो जाने पर फिर उन्हें हर बात में—वैवाहिक बन्धनों में, बच्चे पैदा करने में, उन के पालने-पोसने में, अपने शरीर का मनमाना उपयोग करने में—स्वतन्त्रता सूझने लगती है। इसतरह उन में एक विद्रोह का भाव जागृत हो उठता है, जो किसी प्रकार की रुकावट को सहन नहीं कर सकता। गृहस्थी की प्रवृत्तियाँ उन में नष्ट हो जाती हैं। एक 'वेबी' (बच्चे) की अपेक्षा उन्हें 'वेबी आस्टिन' (छोटी मोटर) की आवश्यकता अधिक प्रतीत होने लगती है।" अपने यहाँ का प्राचीन आदर्श है कि स्त्री, अपना शरीर

और सन्तान, ये तीनों मिलकर पुरुष होता है। जो भर्ता है, वही भार्या है, इन दोनों में कुछ भी भेद नहीं—“एतावानेह पुरुषो यज्ञा-यात्मा प्रजेति ह। विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥” (मनु ९-४५)। इसलिए जीवनपर्यन्त स्त्री-पुरुष धर्म, अर्थ, काम आदि में पृथक् न हों, आपस में यही उन का धर्म बतलाया गया है—“अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥” (मनु ९-१०८) इन्हीं भावों को पाश्चात्य संस्कृति के गुरु यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है—“वह बड़ा सोभाग्यशाली सुखी राष्ट्र है, जहाँ ‘मेरा’ और ‘तेरा’ ये शब्द बहुत कम सुनाये देते हैं, क्योंकि वहाँ नागरिकों का सभी प्रधान बातों में सम्मिलित स्वार्थ होता है। इसीतरह विवाहित स्त्री-पुरुष की पूंजी एक ही होनी चाहिए, जिस में कि उन में भी ‘मेरे’ और ‘तेरे’ का भाव न हो” (रिपब्लिक)।

हिन्दू दायभाग पर केवल लौकिक दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता। मृत व्यक्ति को सम्पत्ति पर उसी का अधिकार पहुँचता है, जो उस का श्राद्ध कर सकता है। इसतरह गतात्मा और उस के उत्तराधिकारी में बराबर सम्बन्ध बना रहता है। यह हिन्दू उत्तराधिकार की विशेषता है जो और कहीं नहीं पायी जाती। इस विल के परिणामस्वरूप संक्षेप में (१) सम्पत्ति का हास तथा दुरुपयोग होगा और बहुत सी पैटक सम्पत्ति एक कुटुम्ब से दूसरे कुटुम्ब में चली जायगी। (२) दायविभाग में वैदिक सिद्धान्त के स्थान पर कन्या को हिस्सा देनेवाला मुसलमानी सिद्धान्त प्रविष्ट हो जायगा। (३) भाई-बहनों में भी कलह उत्पन्न होगा, जिस से सम्मिलित कुटुम्ब की संस्था एक ही दो पुस्त में नष्ट हो जायगी। (४) क्रमशः कुटुम्ब निर्धन होता जायगा। (५) आर्थिक स्वतन्त्रता अन्ततः स्त्रियों के लिए अहितकर होगी। (६) असतीत्व के कारण पति की सम्पत्ति पर विधवा को अधिकार न मिलने की जो रुकावट है, उस के हट जाने से, जैसा कि इस विल में रखा गया है, स्त्रियों में दुःशीलता बढ़ेगी। (७) वसीयतनामा के द्वारा सम्पत्ति देने का प्रचार बढ़ाने से बेकार खर्च बढ़ेगा और अदालतों की झंझटें उठानी पड़ेंगी।

क्या करना चाहिए ?

हाल में ही हिन्दू विवाह-सम्बन्धी एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न ‘कलकत्ता हाइकोर्ट’ ने तय किया है। मामला इस प्रकार है। श्रीमती रत्नमणिदेवी नाम्नी एक स्त्री ने अदालत में अपने पति नागेन्द्रनारायणसिंह के विरुद्ध एक दावा किया था और अदालत से इस प्रकार का ऐलान चाहा था कि प्रतिवादी के साथ उस का विवाह अवैध और अनियमित घोषित कर दिया जाय। रत्नमणिदेवी ने यह भी प्रार्थना की थी कि यह भी घोषणा कर दी जाय कि वह प्रतिवादी की स्त्री नहीं है। इन दोनों का विवाह कलकत्ता में २० अप्रैल, सन् १९२८ की हिन्दू कानून के अनुसार हुआ था। उस समय रत्नमणिदेवी की आयु पौंच वर्ष की थी। वादो का यह दावा था कि विवाह के समय और उस के बाद भी प्रतिवादी अर्थात् नागेन्द्रनारायणसिंह शारीरिक दृष्टि से दाम्पत्य-कृत्य का सम्पादन करने में अयोग्य था। इस मुकदमे में प्रतिवादी-पक्ष की ओर से कोई उपस्थित नहीं हुआ। लेकिन यह मामला महत्वपूर्ण था, इसलिए अदालत को आज्ञा से स्वर्गीय एस० एन० बनर्जी ने और उन की मृत्यु के बाद श्री एस० सी० चटर्जी ने प्रतिवादी-पक्ष की ओर से बहस की। इस के सम्बन्ध में बहुत विचार-विनिमय के बाद विचारपति ने जो निर्णय दिया है, उस का सारांश यह है कि इस मामले में किसी भी पक्ष को ओर से ऐसा कोई उदाहरण पेश नहीं किया गया है, जिस से यह

साबित हो कि पत्नी की वन्ध्यता या पति की नपुंसकता के आधार पर कोई विवाह अवैध घोषित कर दिया गया हो। इसलिए इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए समस्त हिन्दू स्मृतियों की छानबीन करनी पड़ेगी। ‘मनुस्मृति’ उस विवाह को अवैध नहीं मानती, जिस में पत्नी स्वस्थ हो और पति नपुंसक। लेकिन मनु के बाद ‘याज्ञवल्क्य-स्मृति’, कुल्लूकभट्ट आदि ने यह स्वीकार किया है कि नपुंसकता को विवाह के लिए अयोग्य माना जाय। आधुनिक समय में स्मृति-कालीन नियोग की पद्धति तो प्रचलित नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में उस पत्नी के लिए कानून क्या सहायता देता है, जिस का पति विवाह के समय नपुंसक था ? न्यायतः ऐसा विवाह अवैध है। विचारपति ने रत्नमणिदेवी के विवाह को पति की नपुंसकता के आधार पर अवैध घोषित कर दिया। अप्रैल १९२८ में जब वह ५ वर्ष की अवोध बालिका थी, उस का विवाह कर दिया गया, जब जुलाई १९४१ में वह १८ साल की हो गयी, तब उस ने अपने पति की अयोग्यता प्रकट हो जाने पर तुरत ही अदालत की शरण ली। अतः विचारपति ने यह भी घोषणा कर दी कि प्रतिवादी वादी का पति नहीं है।

ऐसी दशा में क्या करना चाहिए ?

नया सङ्कट

हमारा यह पौंचवाँ वर्ष चल रहा है। अभी तक ग्राहकसंख्या इतनी नहीं हो पायी है कि हम अपने पैरों खड़े हो सकें। सब चीजों का दाम बढ़ जाने पर भी न हम ने मूल्य बढ़ाया और न पत्र ही में किसी प्रकार की कमी आने दी। पाठकों की रुचि देखकर घाटा सहकर भी हम उसे जैसे-तैसे चला रहे थे। इधर ग्राहकों की संख्या कुछ बढ़ रही थी। पर हमारे सामने अब एक नवीन सङ्कट उपस्थित है। यह है भारतसरकार की गत १२ जून की ‘कागज-नियन्त्रण आज्ञा’। इस में कहा गया है कि कोयला तथा अन्य सामग्री न मिलने के कारण कागज के उत्पादन में ७० प्रतिशत कमी हो गयी है, इसलिए नागरिक खर्च के लिए निर्धारित कागज में भी उतनी ही कमी होनी चाहिए। इस का अर्थ यह है कि जितनी पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं, उन सब के कागज के खर्च में ७० प्रतिशत कमी करना होगा। सालभर में हम ४८ अङ्क अर्थात् ३८४ पृष्ठ पाठकों की भेंट करते थे। इस आज्ञानुसार अब हम केवल ११५ पृष्ठ दे सकते हैं। इसतरह प्रतिमास ९ और प्रतिअङ्क केवल २ पृष्ठ पड़ते हैं। हमारा पत्र कोई समाचारपत्र नहीं है, जिस में समाचारों का सङ्ग्रह कर दिया जाय, वह तो विचारपत्र है। किसी गम्भीर विवेचन के विषय में उस का एक लेख भी एक अङ्क में पूरा नहीं हो सकता। यह तो राष्ट्र के बौद्धिक विकास पर प्रत्यक्ष प्रहार है। हम बड़े अच्छे थे, जब हमें आधुनिक साधन प्राप्त न थे। हमारा सब काम भी ठीक-ठीक चल रहा था। पर मशीनों के चक्कर में डालकर हम को सर्वथा परतन्त्र बना दिया गया है। एक ओर तो पत्र-पत्रिकाओं को ही लोकमत के प्रदर्शन का साधन बतलाया जाता है और दूसरी ओर उन्हीं का गला घोट जा रहा है। हम मानते हैं कि आजकल सभी वस्तुओं का अभाव है और खर्च में यथासम्भव कमी करना चाहिए। परन्तु सरकार क्या ऐसा स्वयं कर रही है ? कांग्रेसविरोधी साहित्य और युद्धसम्बन्धी प्रचार में सरकार बेहिसाब कागज खर्च कर रही है। सरकारी नियन्त्रण का जो फल होता है, उस का अनुभव हमें प्रतिदिन ही हुआ करता है। मूल्य में कुछ कमी होती नहीं और न चीज मिलने की ही सुविधा होती है, उल्टे माल ‘चोर बाजार’ में चला जाता है। पर सरकार को इस से क्या मतलब ? उस की तो बिना समझे-बूझे

आज्ञाएँ निकलती रहती हैं। न मानिए, तो फिर जेल की हवा खाइये। शत्रुओं पर यह दोषारोपण किया जाता है कि वे विजित देशों के ज्ञानभण्डारों को नष्ट कर रहे हैं, पर हमारी सरकार अपनी ऐसी आज्ञाओं द्वारा देश के ज्ञानस्रोतों को सुखा रही है। यदि कागज का बैसा ही कहत है, जैसा कि सरकार बतलाती है, पर जिस में हमें विश्वास नहीं है, तो थोड़ी-बहुत कमी की जा सकती है, पर यह तो 'नादिरशाही हुकुम' है। इस से कितने ही पत्र, पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का प्रकाशन बन्द हो जायगा और कितने ही लोग बेकार हो जायेंगे। जिन लोगों ने पूरा दाम दिया है, उन्हें कम माल देना होगा, इसतरह सरकार की कृपा से पत्रप्रकाशकों को विश्वास-घाती भी बनना पड़ेगा। प्रकाशनव्यवसायियों की ओर से इस का पूरा विरोध हो रहा है, इस में जनता को भी हाथ बटाना चाहिए। यदि कुछ सुनवाई होगी, तब कोई बात नहीं, पर यदि न हुई, तो क्या अक्षभक्त करके पत्र निकाला जाय अथवा ४ पृष्ठ का पाक्षिक बना दिया जाय या प्रकाशन ही बन्द कर दिया जाय ? इस सम्बन्ध में हम अपने प्राहकों का मत जानना चाहते हैं।

श्री विष्णुतत्व

(श्री स्वामी करपात्री जो)

६

भगवान् का वक्षःस्थल साक्षात् श्री का निवास है, मुखारविन्द नेत्रवालों के नेत्रों का रससुधापानपात्र है, भुजाएँ लोकपालों के बल का आश्रयस्थान और पदाम्बुज सारतत्त्व के गानेवालों का परम राग है—
“श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दशाम्। बाहवो लोकपालानां सारंगानां पदाम्बुजम्॥” अकुटी बद्ध है, नेत्रों में भी कुछ बद्धपन है, वे तो मानो काम के धनुष ही हैं। दोनों भौहों में नीलिमा की कुछ विशेष चमचमाहट है। भगवान् के सुविस्तीर्ण ललाट में कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित चन्दनतिलक की दो रेखाएँ ऐसी शोभा पा रही हैं, जैसे विद्युत् की दो लकीरें अपनी चञ्चलता को त्यागकर ललाटमेघ में विराम कर रही हों। भगवान् के दिव्य किरीट में नील, रक्त, शुभ्र, हरित आदि विविध वर्णों के नानाविध दिव्यातिदिव्य मणि जड़े हुए हैं, जिन की सुसम्मिलित वर्णों की दिव्य अतिरञ्जित आभा, उस किरीट पर अर्द्धचन्द्रवत् विस्तीर्ण दिव्य मौक्तिक मालाओं की अद्भुत दीप्ति और दिव्य ललाट की सुषमामयी नीलिमा, ये सब दिव्यातिदिव्य आभाएँ मिलकर एक अतिविलक्षण शोभा को प्रस्फुटित कर रही हैं। भगवान् के मस्तक और कपोलों पर स्निग्ध, कुञ्चित, नील अलकावली विलसित हो रही है। ये कृष्ण केश मानों दिव्यातिदिव्य चन्द्र के अमृत के लोभ से काले नाग के बच्चे हैं। यदि यह मुखचन्द्र मुखारविन्द है, तो ये नील केश नील भ्रमर हैं, जो यहाँ दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यमय मकरन्दपान की आशा लगाये मँडरा रहे हैं। ये दिव्य अलकें नित्यमुक्त सनकादि मुनिगण हैं, जो भगवान् के दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य का यहाँ नित्य समास्वादन कर रहे हैं। किरीट के मुक्तामाल भी ऐसे ही मुक्त परमहंसों की परमपावन पङ्क्तियाँ हैं।

भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सारे ही तत्त्व दिव्य हैं, कोई भी प्राकृत नहीं। कुण्डल जैसे सांख्य और योग हैं, वनमाल जैसे पायातत्त्व है, पीतपट छन्द है, किरीट पारमेष्ठ्यपद है, मुक्तामाला में भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह के दिव्य अङ्ग बने हैं। ये अलकें, जो मुख पर आ आकर लौटतीं और फिर आती हैं, ऐसी

प्रतीत होती हैं, जैसे भ्रमर इस दिव्य मुखारविन्द के सौरभ से खिंचे चले आते हैं, पर पास आकर उस के दिव्यातिदिव्य तेज को न सहकर लौट जाते हैं, पर मुखारविन्द का ऐसा विलक्षण आकर्षण है कि फिर फिरकर फिर खिंचे ही चले आते हैं। ये काले भ्रमर जब मकरन्दपान के लोभ से अरुण अधरों के समीप आते हैं, तब उन की श्यामता पीछे ही छूट जाती है और अधरों की अरुणिमा का रङ्ग इन पर चढ़ जाता है। ये लाल से हो जाने हैं और ये ही जब गण्डस्थल के समीप आते हैं, तब नील हो जाते हैं। मन्दस्मित चन्द्रिका से इन में स्वच्छता भी आ जाती है। अधरों की अरुणिमा, दिव्य नासिका और गण्डस्थल की दिव्यातिदिव्य दीप्तिविशिष्ट नीलिमा और नानाविध भूषणों और कुण्डलों की पीतारुण जगमग ज्योति से ये कुन्तल अतिविलक्षण सुरञ्जित दीप्ति का प्रकाश करते हैं। ऐसे दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द के भालदेश में विद्युत् की लकीरों सा जो दिव्य तिलक है, वह नीचे की दोनों भौहों की कमानों से छूटनेवाले जैसे दिव्य बाण हों। महालक्ष्मी जिस पद्म में निवास करती हैं, उस मीनद्वययुक्त अलिकुल-संग्राहित दिव्य पद्म को तिरस्कृत करनेवाला यह दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द है। भगवान् के कर्ण अति देदीप्यमान नीलवर्ण के हैं, जिन में नीचे दिव्य कुण्डल लटक रहे हैं। भगवान् के स्कन्ध सिंह के समान विशाल हैं। सुन्दर दिव्य कण्ठ कम्बुरेखा से युक्त है और उस में आत्मज्योति-स्वरूप कौस्तुभमणि ऐसी शोभा पा रहा है, जैसे सारी शोभाओं का यहीं से उद्गम होता हो। कण्ठ में फिर दिव्य मौक्तिक-माल और नील-पीत रत्नहार पड़ा हुआ है। नानाविध रत्नजटित मुक्ताहार तथा वन्य पुष्पमालाएँ हैं। कोई कण्ठ में कण्ठकूप तक है, कोई वक्षःस्थल तक है, कोई उदर और कटिप्रान्त तक है और कोई पादाम्बुज तक है। बड़ी ही विलक्षण शोभा का यह बड़ा ही सुन्दर कौशलपूर्ण क्रम है। ये मौक्तिकमाल कण्ठ से पादाम्बुज तक उस दिव्य मङ्गलमय विग्रह पर ऐसे सोह रहे हैं, जैसे महेन्द्रनीलमणिपर्वत पर गङ्गा की दिव्य निर्मल धारा हो अथवा नील आकाश में हंसों की पङ्क्तियाँ उड़ी जाती हों। नील आकाश में उड्डगणों के समान भगवान् के वक्षःस्थल पर यह रत्न अत्यन्त शोभित होते हैं, मध्य मध्य में महामणियाँ अनेक चन्द्रमा तथा सूर्य के समान दीप्यमान होती हैं। दिव्य दीप्ति नीलवर्ण पर नानाविध मौक्तिक, स्तवक, रत्न और वन्य पुष्प आदि के द्वारा विविध प्रकार के वर्ण परस्पर से सुरञ्जित हो रहे हैं। इन सब की सम्मिलित शोभा अतिविलक्षण है। इस दिव्यातिदिव्य शोभा और सौन्दर्य पर, इस के अतिसुरम्य सौरभ और मधुरतम मकरन्द पर मँडराते हुए गुब्जारव करनेवाले भ्रमर भगवान् के गुणगान करनेवाले नित्यमुक्त भक्त हैं।

इस दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सर्वाङ्ग में कुङ्कुममिश्रित हरिचन्दन का ऐसा सुन्दर शुभ्र विलेपन है, जैसे महेन्द्रनीलमणिपर्वत पर चन्द्रमा की चन्द्रिका फैली हो और उस चन्द्रिका में उज्ज्वल नीलिमा जगमगा रही हो। ऐसी इस उज्ज्वल नीलिमायुक्त चान्द्रमसी ज्योत्स्ना से सुशोभित स्वरूप से दिव्यातिदिव्य अष्टविध सौगन्ध्य का प्रादुर्भाव हो रहा है। भगवान् के देवदुर्लभ दिव्यातिदिव्य वदनारविन्द का दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य परम भावुकों को ही-अनुभूत होता है। भगवान् की कामकलमशुण्ड के समान मुडोल, गोल, सुन्दर चढ़ाव-उतारवाली दिव्य उज्ज्वलनील भुजाओं पर भी अन्य अङ्गों के समान ही कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित शरच्चन्द्रमरीचिवत् दिव्य हरिचन्दन का लेप है। उस पर उज्ज्वल सुवर्ण-कङ्कणों और बाजूबन्दों की उज्ज्वल पीत्तिमा भी कुछ कुछ प्रतिबिम्बित हो रही है। हाथ के पञ्जों के साथ ये हाथ ऐसे मालूम हो रहे हैं, जैसे दिव्य लोके के पञ्चशीर्ष नाग हों। ये पाँचों उँगलियाँ उन्हीं के पञ्चशीर्ष जैसे हैं और इन उँगलियों में जो नख हैं, वे पञ्चशीर्ष नागों के शीर्षस्थ मणियों के समान ही त्रमक रहे हैं। करतल की सुकोमल

अरुणिमा अरुण कमल की सी ही विकसित हो रही है और कर पृष्ठ सर्वाङ्ग के समान ही उज्ज्वल-नील हैं और उन पर कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित दिव्य हरिचन्दन की चाँदनी छिटक रही है। उँगलियों की सन्धि में अरुणिमा और नीलिमा का तारतम्य है। पृष्ठभाग से संलग्न सन्धि का सूक्ष्म भाग अधिकतर उज्ज्वल-नील और तल से संलग्न सन्धिभाग अरुणिमाविशिष्ट है। भगवान् अपने इन अरुण करतलों में अपना शङ्ख लेकर जब वजाते हैं, तब यह धवलोदर शङ्ख अरुणायमान होकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इन दो अवजखण्डों के बीच कोई कलहंस कलनाद कर रहा हो। श्रीभगवान् के दिव्य श्रीमुखाम्बुज पर कुङ्कुम-मिश्रित हरिचन्दन से नानाभावपूर्ण नानाविध चित्र ललाट, कपोल, त्रिबुज और करों पर भावुक लोग चित्रित किया करते हैं। उज्ज्वल नील मुखाम्बुज, उस पर मकरन्द-पान के लोभी मधुपों की नीलिमा, मकराकृत कुण्डलों की चञ्चल दीप्तिमत्ता और किरीट की दिव्यातिदिव्य शोभा और इन्हीं विविध आभाओं के भीतर कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित दिव्य हरिचन्दन के शरम मनोरम चित्र मिलकर ऐसी शोभा उत्पन्न करते हैं, जिस का शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। उस का समास्वा-दन तो भावुकों को ही होता है। दिव्य सौन्दर्यसम्पन्न मुखाम्बुज तो मुखाम्बुज ही है, भगवान् के दिव्य करों को छटा को भी कोई लेशमात्र ही देख ले, तो उस के दुःखगर्भ सारे सांसारिक सुख ही छँट जायें। श्रीभगवान् के कण्ठ में अनेकविध दिव्य वन्य पुष्पों के स्तव-कादि से युक्त दिव्य सौगन्ध्यमय मालाएँ हैं। उन पर फिर कोटि-कोटि विद्युतों की चञ्चल दीप्ति को तिरस्कृत करनेवाला सुवर्णोज्ज्वल चञ्चल पीत पट ऐसा उल्लसित हो रहा है, जैसे महेन्द्रनीलमणि-पर्वत पर दिव्य विद्युत्पुञ्ज चमचमा रहा हो और उस में से दिव्य मङ्गलमय विग्रह की नीलिमा-दीप्ति भेदकर बाहर निकल रही हो। उज्ज्वल-नीलिमा-सम्पन्न वक्षःस्थल पर सुवर्णोज्ज्वल मङ्गलमय वामावर्त और दक्षिणावर्त रोमराजि दीख रही हैं। यहाँ तो चपला चञ्चला श्रीमहालक्ष्मी का निवास है। वक्षःस्थल के मध्य में भगवान् भृगु-चरण धारण किये हैं और लक्ष्मीजी से मानो यह कह रहे हैं कि 'महालक्ष्मी ! यहाँ जो तेरी स्थिति है, वह ब्राह्मण के चरण से ही है।' ब्राह्मण के चरण से यह हृदय 'हृताहस' (निष्पाप) होने कारण ही चञ्चला लक्ष्मी यहाँ अचला है।

“जाली भगवान् ?”

(श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी)

२

एक स्थान पर श्री स्वामी जी लिखते हैं कि “जिस भगवान् से आस्तिकता की रक्षा न हो, उसे ही ‘जाली भगवान्’ कहना चाहिए” पर आप ने ‘आस्तिक-नास्तिक’ का स्पष्ट लक्षण बतलाने की कहीं कृपा नहीं की है। आप के कथनानुसार ‘शून्य या तम को ही चरम मूल स्वीकार करनेवाला नास्तिक’ और ‘उसी शून्य की आकाश, तम, अन्धकार, कृष्ण एवं शक्तिरूप में व्याख्या करके उस के भीतर स्वयं-ज्योति सत्य का अस्तित्व माननेवाला आस्तिक’ प्रतीत होता है, परन्तु पीछे बतलाया जा चुका है कि नास्तिकों का शून्य कोटिचतु-ष्टयविनिर्मुक्त होने एवं आस्तिक का शून्य (माया) कोटिचतुष्टया-न्तःपाती होने के कारण दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं और न तो ‘कृष्ण’ ही ‘तम’ या ‘अन्धकार’ है, क्योंकि भक्तगण ‘कृष्ण’ को निर्गुण, निराकार ब्रह्म का अचिन्त्य, दिव्य महाशक्ति के योग से सगुण, साकार रूप में अभिव्यक्त स्वरूप मानते हैं, इसलिए ‘आस्तिक-नास्तिक’

की उक्त व्याख्या सङ्गत नहीं है। तम, अन्धकार, शक्ति, जिसे माया कहा जा सकता है, जड़ पदार्थ है, किन्तु ‘भगवान्’ में चेतनता की ही प्रधानता रहती है अर्थात् शुद्ध, निरतिशय, निरुपाधिक परब्रह्म की प्रधानता है। शैत्य के योग से जैसे जल बर्फ बन जाता है, वर्षणादि के योग से व्यापक अग्नि जैसे अग्निशिखा के रूप में प्रकट हो जाता है, वैसे ही व्यापक, निर्गुण, निराकार ब्रह्म ही अपनी दिव्य लीलाशक्ति के योग से सगुण, साकार, द्विभुज मुरलीधर रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः ब्रह्म एवं श्रीकृष्ण में कोई भेद नहीं है, जो ब्रह्म है, वही श्रीकृष्ण है। जल के बर्फ बनने में शैत्य सहकारी कारण है और अग्नि के दीपशिखारूप में व्यक्त होने में वर्षण, कण्ठ, वर्तिका आदि सहकारी कारण हैं, पर वे जैसे तदस्यविधया ही कारण होते हैं, शैत्य या काष्ठादि बर्फ एवं दीपशिखा के स्वरूपभूत नहीं होते, वैसे ही निर्गुण, निराकार, व्यापक ब्रह्मतत्त्व के सगुण, साकार भगवद्रूप में प्रकट होने में माया उपादान है, पर वह तदस्यविधया ही, अर्थात् तदस्य होकर सहकारी होती है, स्वरूप से उस का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए परब्रह्मस्वरूप कृष्ण को न तो ‘तम, शून्य’ आदि कहा जा सकता है, न उन्हें ‘जाली भगवान्’ कहकर उन्हें माननेवालों को ‘नास्तिक’ ही कहा जा सकता है। ‘जाली’ का अर्थ यदि ‘नकली’ समझें, तो भी उपर्युक्त विवेचनानुसार शुद्ध परब्रह्मस्वरूप होने के कारण भगवान् ‘श्रीकृष्ण’ को ‘नकली’ भी नहीं कहा जा सकता, अपितु सुवर्ण-पत्र पर अङ्कित ‘नोट’ की तरह वे निरुपद्रव मूल्यवान् पदार्थ सिद्ध होते हैं। वस्तुतः शास्त्रोक्त ईश्वर, परलोक, पुण्यापुण्य आदि तथा पुण्या-पुण्योत्पादन द्वारा परलोकादि-प्राप्ति में शास्त्रोक्त कर्मों की साधनता को माननेवाले ही ‘आस्तिक’ हैं। प्रमाजनक ही-को प्रमाण कहा जा सकता है। शास्त्रस्वरूप प्रमाण से जिन्हें दिष्ट—अदृष्ट—को प्रमा होती है, वे ही ‘आस्तिक’ हैं और जिन्हें वैसी प्रमा नहीं होती, वे ही ‘नास्तिक’ हैं। इसी दृष्टि से “नास्तिको वेदनिन्दकः” आदि उक्ति के अनुसार “अस्ति दिष्ट, एवं मतिर्यस्य, स आस्तिकः”, “नास्ति दिष्ट, एवं मतिर्यस्य, स नास्तिकः” ऐसी ‘आस्तिक-नास्तिक’ शब्दों की व्याख्या की गयी है। अतएव स्पष्ट है कि शास्त्रप्रामाण्य को स्वोक्तकर, शास्त्रोक्त परब्रह्मस्वरूप ‘भगवान् श्रीकृष्ण’ को उपासना करनेवाले महानुभावों को किसी तरह नास्तिक नहीं कहा जा सकता। हाँ, शास्त्रतात्पर्यानभिज्ञ अभिनिविष्ट कोई साम्प्रदायिक यदि कृष्ण को परब्रह्म की अङ्गज्योति बतलाकर अनर्थ करता है, तो इधर शास्त्र के पौर्वापर्य से अनभिज्ञ कोई निर्गुण, निराकार ब्रह्मवादाभिनिविष्ट व्यक्ति भी सगुण, साकार, सच्चिदानन्दधन ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को ‘तम’, ‘अन्धकार’, ‘जाली’ आदि बतलाकर महान् अनर्थ करता है। वस्तुतः दोनों के शास्त्रतात्पर्यानभिज्ञ होने से उन दोनों का कथन ठीक नहीं है। जब “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, तद्ब्रह्म”, “आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते”, “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्”, “जन्माद्यस्य यतः” आदि श्रुतिस्मृतिवचनों के अनुसार अदृश्य, अप्राप्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्गुण, निराकार, कूटस्थ ब्रह्म ही अपनी अनिर्वचनीय दिव्य शक्ति के योग से जगत् बन गया, तब उस के सगुण, साकार, सच्चिदानन्दधन, द्विभुज, मुरलीधर श्रीकृष्ण बनने में क्या आपत्ति है ? ‘भागवतादि’ से यह स्पष्ट विदित होता है कि जो ब्रह्म है, वही कृष्ण है। औरों की बात जाने दोजिये, अद्वैत-सिद्धान्त-साम्राज्य के सम्राट् भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्य जी का जब श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में यह कहना है कि जिस ने श्रीवृन्दावन धाम में ब्रह्मा को अनन्त ब्रह्माण्ड और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में पृथक् पृथक् अनन्त ब्रह्मा दिखलाये और जो स्वयं समस्त ब्रजनिवासी ग्वाल-वाल, बछड़े, बन गया और अन्त में विष्णुरूप में ब्रह्मा के दृष्टिगोचर हुआ, जिस के चरणोदकस्वरूप भगवती गङ्गा को भूतभावन भगवान् शङ्कर ने अपने मस्तक पर धारण किया है, वह कृष्ण कार्यभूत ब्रह्म-विष्णु-रुद्र से पृथक्, अविकृत, सच्चिदानन्दमय कोई विलक्षण नीलिमा है—

“ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यङ्गुतान् गोपान् वत्सयु-
तानदर्शयदजं विष्णुनशेषांश्च यः। शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च
मूर्तित्रयात् कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा ॥”
तब अन्य साधारण अद्वैतियों का—‘भगवान् श्रीकृष्ण’ को ‘जाली’
आदि बतलाना—कहाँ तक सङ्गत कहा जा सकता है ?

“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यादि स्थल में ‘ब्रह्म’ शब्द से
ही—जो कि वृद्ध्यर्थक ‘बृही’ धातु से बना है—महत्परिमाणपरिमित
वस्तु का बोध होता है। “सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः”—सब ब्राह्मणों
को भोजन कराओ—इस वाक्य से बोधित समस्त ब्राह्मण-भोजन
अनुपपन्न होने से वहाँ ‘निमन्त्रित’ सब ब्राह्मणों को भोजन कराओ,
ऐसा ‘सर्व’ पद का सङ्कोच करके, अर्थ करना पड़ता है। “सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म” यहाँ कोई ऐसी अनुपपत्ति न होने और किसी सङ्कोचक के
न होने से ‘ब्रह्म’ पद से अनतिशय बृहत्ता का बोध होता है। यदि
किसीतरह कुछ सङ्कोच की कल्पना करने बैठें, तो ‘अनन्त’ इस पद
के साथ पठित ‘ब्रह्म’ शब्द निरतिशय बृहत्ता का सूचन करता
है अर्थात् देश, काल, वस्तु—सजातीय, विजातीय, स्वगत—किसी
भी परिच्छेद—भेद—से रहित होने के कारण ब्रह्म निरतिशय,
अनन्त बृहत् बोधित होता है। भूत, भविष्य, वर्तमान, इन तीनों
कालों में कथमपि बाधित न होने से ही वह ‘सत्य’ कहा जाता है।
किसी भी प्रमाणान्तर का अविषय—अवेद्य—होकर भी अत्यन्त
अपरोक्ष होने से ही वह स्वप्रकाश, स्वसंवेद्य है और इसीलिए वह
सर्वान्तरात्मा है, अतएव प्राणिमात्र के निरतिशय, निरुपाधिक पर
प्रेम का आस्पद होने से आनन्दस्वरूप भी है। वही ‘भगवान्
श्रीकृष्ण’ हैं। इसीलिए “कृष्णमेनमवेदि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया”, “न खलु गोपिकानन्दो
भवान् अखिलदेहिनां अन्तरात्मदृक्। विखनसास्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले”, “सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभृमिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृश्याम्” आदि वचन श्रीकृष्ण की
परब्रह्मता का सुस्पष्ट उद्घोष करते हैं। भगवान् का माहात्म्य अनन्त
है, उस में बड़ो बड़ो को मोह हो जाता है। अनन्त, अचिन्त्य, दिव्य
शक्तिसम्पन्न भगवान् भी अपने अनन्त माहात्म्य का अन्त नहीं पा
सकते। यदि अनन्त का ही अन्त मिल जाय, तो वह फिर अनन्त ही
कैसा ? औरों की तो बात ही क्या, उपनिषद्दर्शी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म
परब्रह्म-साक्षात्कारसमर्थ, महायोगीन्द्र, मुनीन्द्र परमहंस भी भगवान् के
अचिन्त्य माहात्म्य की भूरिता—अनन्तता—के कारण, उन का अन्त
पाना तो दूर रहा, उस को छू तक नहीं सकते, जान नहीं सकते।

श्री श्रीधरस्वामी के “ब्रह्माण्डं प्रतिष्ठा—प्रतिमा—घनीभूतं
ब्रह्मैवाहम्, यथा घनीभूतः प्रकाश एव सूर्यमण्डलं, तद्वत् इत्यर्थः”
आदि उक्तियों का जो यह अभिप्राय निकाला गया है कि “सूर्यकिरणों
की घनीभूत अवस्था जैसे सूर्यमण्डल समझा जाता है, वैसे ही चैतन्य,
ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म अघन स्थिति और कृष्ण घन अवस्था है अर्थात्
कृष्ण से ही ब्रह्मज्योति उद्भूत हुई है” यह ठीक नहीं है। दृष्टान्त
एकदेशी हुआ करते हैं, दृष्टान्त की दार्ष्टान्तिक से सर्वांश में तुलना
करना या विवक्षित अंश से इतर अंश के साथ समता खोजना अन-
पेक्षित है। आकाश में प्रसृत सौर किरणें जबतक किसी स्थूल
पदार्थ से संस्पृष्ट नहीं होतीं, तबतक स्थूल चक्षु के लिए अदृश्य ही
होती हैं। किन्तु उन्हीं की घनीभूत अवस्था सूर्यमण्डल सहज ही
दृष्टिगोचर होता है। इसीतरह निर्गुण, निराकार, व्यापक ब्रह्मतत्त्व भी
स्थूलदर्शियों के लिए अत्यन्त अगोचर है, पर वही जब अपनी
अचिन्त्य, दिव्य लीलाशक्ति के योग से मानो घनीभूतसा होकर प्रकट
होता है, तब वही श्रीकृष्णचन्द्र या श्रीमद्वाधवेन्द्र रामचन्द्र-रूप में
आपामर सर्वजनों को अनुभूयमान होता है। वफा को जैसे जलघन
कहा जा सकता है, दीपशिखा को जैसे अग्निघन कहा जा सकता है,

वैसे ही ‘श्रीकृष्ण’ को ब्रह्मघन या ‘घनीभूत ब्रह्म’ कहने में कोई
अनौचित्य नहीं है। इसीलिए श्रीधरस्वामी आदि के सम्बन्ध में
‘नास्तिकों के फन्दे में पड़ जाने’ वाली बात सर्वथा निराधार कल्पना-
मात्र है। जहाँ कहीं ब्रह्म को ‘श्रीकृष्ण’ की ‘अङ्गज्योति’ आदि कहा
जाता है, वहाँ ब्रह्मपद से अव्यक्त, कारण, अन्तर्यामी ब्रह्म समझा
जाता है और ‘श्रीकृष्ण’ आदि से परब्रह्म विवक्षित होता है।
कारणब्रह्म की अपेक्षा कार्यकारणातीत ब्रह्म की निष्कृष्टता स्वाभाविक ही
है। ऐसे सभी वर्णन सापेक्ष ही हुआ करते हैं, अतः उन्हें उसी दृष्टि से
विचारकर उन की सङ्गति लगाना आवश्यक होता है, अन्यथा बड़े
अनर्थ की सम्भावना रहती है। इसी दृष्टि से वेद-वेदान्तों में उन के
महातात्पर्य की विषयीभूत जो वस्तु ब्रह्म पद से कही गयी है, वही
‘विष्णुपुराण’, ‘श्रीमद्भागवत’ आदि में विष्णु, श्रीकृष्ण आदि शब्दों
से, ‘शिवपुराण’, ‘लिङ्गपुराण’ आदि में शिव प्रभृति शब्दों से,
‘देवीभागवत’ में शक्ति, दुर्गा आदि नामों से और ‘गणेशपुराण’ में
गणपति आदि नामों से कही गयी है। शिवप्रतिपादक पुराणादि में
विष्णु आदि की, विष्णुप्रतिपादक पुराणादिकों में शिव आदि की और
‘देवीभागवत’ आदि में ब्रह्म-विष्णु-रुद्र प्रभृति की जो निन्दा सी
की गयी दिखलायी पड़ती है या उन की निष्कृष्टता का वर्णन पाया
जाता है, उस का तात्पर्य निन्दा आदि में नहीं, अपितु तत्तत्-उपासकों
की अपने उपास्य के प्रति दृढ़, अविचल अनुरक्ति स्थापित करने में
है। ‘शिवपुराण’ में जिस विष्णु का, ‘विष्णुपुराण’ में जिस शिव
का और ‘देवीभागवत’ में जिस ‘कृष्ण’ आदि का निष्कृष्टत्वेन
वर्णन है, वे कार्यरूप हैं, परमकारणस्वरूप नहीं हैं अर्थात्
‘शिवपुराणोक्त’ विष्णु ‘विष्णुपुराणोक्त’ महाविष्णु नहीं हैं,
‘विष्णुपुराण’ में कथित शिव ‘शिवपुराण-प्रतिपादित महाशिव नहीं
हैं और ‘देवीभागवतोक्त’ कृष्ण ‘श्रीमद्भागवतोक्त’ श्रीकृष्ण नहीं हैं।
इस रहस्य को ध्यान में रखकर विचार करने से फिर कहीं विरोध
नहीं रह जाता। यदि इस दृष्टि से विचार किया गया होता, तो
रथन्तरकल्प तथा सारस्वतकल्प के परमास्तिक वैष्णव महादुभावों को
तथा श्रीधरस्वामी प्रभृति परम भागवतों को ‘नास्तिक’ कहने का
साहस न करना पड़ता और न तो ‘ब्रह्मवैवर्त’ पुराण को ‘नास्तिक’-
ग्रन्थ प्रमाणित करने का ही व्यर्थ प्रयास करना पड़ता। जब अव्यय,
अप्रमेय, निर्गुण ब्रह्म की सगुण, साकार, परममनोहर भगवान् कृष्ण-
रूप में अभिव्यक्ति एवं विचित्र, मङ्गलमय लीलाएँ हैं ही इसीलिए कि उन
का चिन्तन करके पामर से पामर प्राणी भी निःश्रेयस प्राप्त कर सकें—
“नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतः प्रभोः। अव्ययस्याप्रमेयस्य
निर्गुणस्य गुणात्मनः”, तब इस उक्ति के विषय में कि “ऐसे कृष्ण
का भजन करने से आस्तिकता-प्राप्ति की सम्भावना नहीं है” क्या
कहा जाय ? “आधुनिक ईश्वरादि की अपेक्षा नास्तिक के शून्यवाद
को श्रेष्ठ” बतलाने में भी हेतु वही भ्रान्त धारणा है।

किसी पुराणादि ग्रन्थों में किसी कथा या वचनों को प्रक्षिप्त तभी
कहा जा सकता है, जब उन की वेदशास्त्रविरुद्धता अच्छी तरह सिद्ध
हो जाय। यों अपनी अनभिमत कथा या वचनों को प्रक्षिप्त
बतला देने का तो कोई अर्थ ही नहीं होता। एक व्यक्ति किसी
वचन को प्रक्षिप्त बतलायेगा, तो दूसरा व्यक्ति, जिसे वह वचन
स्वसिद्धान्तानुकूल प्रतीत होगा, उसी वचन को मूलभूत मानकर
अन्याभिमत वचन को प्रक्षिप्त कहेगा। इसतरह सुन्दोपसुन्दन्याय से
उस ग्रन्थ की ही अप्रमाणता हो जायगी। अतः सहसा किसी कथा
या वचन को प्रक्षिप्त बतला देना आधुनिक उच्छृङ्खल लोगों को शास्त्र
के विरुद्ध और भी प्रोत्साहित कर देना है। अतः श्री स्वामीजी
महाराज से करबद्ध यही विनम्र प्रार्थना है कि आप ऐसे आदरणीय
महादुभावों को आज के विकृत वातावरण में बहुत सोच-समझकर
कलम चलाना चाहिए।

“वादे वादे जायते तत्त्वबोधः”

(यह स्तम्भ विचार-विनिमय के लिए है)

“भारतीय शासन-योजना” पर मन्तव्य

(श्री नारायण सदाशिव पराण्डे, बी. ए., एल्. एल्. बी.)

श्री दूरकाळ जी की “भारतीय शासन-विधान-योजना” के चतुर्थ लेखाङ्क में कुछ हेतु देकर यह कहा गया है कि हम मुसलमान आदि के पृथक् निवास के विरुद्ध नहीं हैं। उक्त योजना पर प्रकाश डालते हुए अपने प्रथम लेख में श्री अनूपराम शास्त्रीजी ने इस तरह समझाया कि ‘मुसलमानों की ‘पाकिस्तान’ की मांग योग्य और न्याय्य है, उस में हिन्दुओं का भी कल्याण है, अतः हिन्दुओं की ओर से उस का विरोध न होना चाहिए और कांग्रेस भी उस का समर्थन करती है।’ इस कारण इस मांग का अयुक्तत्व दिखलाने के लिए हम को ‘सिद्धान्त’ में एक लेख प्रसिद्ध करना पड़ा। इसी विषय पर श्री शास्त्रीजी ने फिर लिखा है (‘सिद्धान्त’ अङ्क १० और ११) कि “किसी किसी को इस योजना में ‘पाकिस्तान’ का स्वीकार सा प्रतीत होता है, परन्तु ‘पाकिस्तान’ की मांग ही निर्मूल हो जाय, इसलिए इस योजना में वास्तविक साधन है”। इस वाक्य से आरम्भ करके श्री शास्त्रीजी ने फिर प्रतिपादन किया है कि ‘यवनों का सहवास हमारी संस्कृति को हानिकारक होने से उन का निवासस्थान पृथक् होना ही इष्ट है।’ यवनों का सहवास हमारी संस्कृति को अत्यन्त हानिकारक है, इस बात में श्री शास्त्रीजी से हमारा किञ्चित् भी मतभेद नहीं है। हमारा इतना ही कहना है कि यह विपत्ति टालने के लिए श्री शास्त्रीजी जो उपाय अत्यन्त परिणामकारक समझते हैं, वह अत्यन्त अव्यवहार्य हैं।

मुसलमानों की मांग का स्वीकार करना उचित है, ऐसा कहते हुए प्रथम श्री शास्त्रीजी ऐसा कहते हैं कि इस योजना में उस मांग की स्वीकृति है ही नहीं। “स्वीकार सा प्रतीत होता है” पर “मांग ही निर्मूल हो जाय” ऐसा इस योजना में साधन है और पृथक् निवास की व्यवस्था में यह सुझाते हैं कि मुसलमानों को बड़े बड़े प्रान्त न दिये जाय, किन्तु हर एक प्रान्त में जहाँ जहाँ आवश्यक हो, उन के अलग अलग जिले बना दिये जाय।

पहले यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसी मुसलमानों की मांग नहीं है, जिस को स्वीकार करने की श्री शास्त्रीजी शिफारिस करते हैं। दूसरी बात यह है कि इस योजना में भी उन जिलों में भी उन उन जिलों से हिन्दुओं को निकालना होगा और अन्यान्य जिलों से उन जिलों में मुसलमानों को लाकर बसाना होगा। श्री शास्त्रीजी का कहना है कि ऐसा अन्य देशों में हुआ है जो ‘रिपेट्रिएशन’, ‘ट्रान्सपेट्रिएशन’ आदि नामों से प्रसिद्ध है, अतः भारत में भी होना असम्भव नहीं है। असम्भव और अशक्य इस संसार में कुछ भी न हो, पर इस परिस्थिति के लिए जो व्यवहार्य शासन-योजना बनायी जा रही है, वह इस अव्यवहार्य बात का होना सम्भवनीय समझकर नहीं बनानी चाहिए। इस वाद को अधिक बढ़ाना मैं इष्ट नहीं समझता।

श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण

(श्री सदाशिव कृष्ण फडके)

५

“अब ‘सूत्रभाष्य’ और ‘भाष्यकारिका-भाष्य’ के विरोधाभास का निराकरण सावधानता से सुनो। ‘सूत्रभाष्य’ के दूसरे अध्याय का दूसरा पाद परपक्ष का—उस में के ही सदोषत्व-दर्शन द्वारा—निराकरण करने के लिए प्रकृत हुआ है। सूत्रभाष्यसम्बन्धी बौद्धों के बाह्यार्थवाद,

विज्ञानवाद और शून्यवाद के खण्डन का अध्ययन करते हुए इष्ट विशेषता को दृष्टि के सामने रखना चाहिए, अन्यथा वैनाशिक बौद्धों के ‘बाह्यार्थ’ है’ इस मत का खण्डन कर चुकने पर अगले ही अधिकरण में विज्ञानवादी बौद्धों के ‘विज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है’ इस मत का भी खण्डन विरुद्ध दिखलायी पड़ता है। फिर दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के इन दोनों अधिकरणों में, परमार्थतः बाह्यार्थ है या नहीं, यह विषय अप्रस्तुत होकर तत्सम्बन्धी बौद्धों की प्रक्रिया प्रमाणमूलक नहीं, अपितु श्रान्तिमूलक है, इतना ही दिखलाया गया है अर्थात् बौद्धों के अनात्मवाद में परमाणु-सङ्घटनारूप बाह्यार्थों का कर्ता, विज्ञानवाद-सम्बन्धी विज्ञान का विज्ञाता और शून्यवादसम्बन्धी शून्य का द्रष्टा अथवा आधारभूत नित्य-एक आत्मा नहीं माना गया है, यह मुख्य दोष दिखलाया गया है।

इस अधिकरणसम्बन्धी विचारसूत्र को अच्छीतरह से ध्यान में न रखने के कारण आधुनिक विद्वानों में भी बड़ा भ्रम वृद्धित दिखलायी पड़ता है, इसलिए उस के समाधान को अच्छीतरह ध्यान देकर सुनो। विज्ञानवादियों का युक्तिवाद संक्षेप में यह है कि बाह्यार्थ-विज्ञान के लिए बाह्य वस्तु के अस्तित्व की अपेक्षा नहीं है। स्वप्न में बाह्य वस्तु न रहने पर भी जैसे ‘बाह्य वस्तु है’ ऐसी कल्पना होती है, वैसे ही जाग्रति में भी अनादि वासना-संस्कारों के कारण बाह्य जगत् की कल्पना निरालम्ब अर्थात् बाहर जगत् के न रहने पर भी उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में बाह्य जगत् का अत्यन्ताभाव है, प्रवाहरूप से सतत भासमान होनेवाला क्षणिक विज्ञान ही बाह्य जगद्रूप से प्रतीत होता है। वस्तुतः बाहर सब शून्य है। इस मत का खण्डन करने के लिए भाष्य में निम्नलिखित युक्तियाँ दी गयी हैं, १—बाह्य वस्तुओं के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे साक्षात् उपलब्ध होती रहती हैं, उन का अनुभव होता है। २—मन की कल्पना ही बाह्य वस्तुओं की तरह प्रतीत होती है, इस युक्तिवाद में ही बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को, उदाहरण के लिए ही क्यों न हो, सत्य मानना ही पड़ता है। ३—ज्ञान का विषयभूत बाह्य पदार्थ ही न हो, तो ज्ञान में विषय-साहचर्य ही न हो सकेगा। ४—ज्ञान और विषय, इन में विषय-विषयी-भाव होता है, अतः ज्ञान से ज्ञान का विषय भिन्न होना चाहिए। ५—ज्ञान को क्षणिक मानें, तो पूर्व क्षण में रहनेवाले वासक ज्ञान का उत्तर क्षणवाले वासक ज्ञान से सम्बन्ध न रहेगा। ६—विज्ञान के प्रतिक्षण में होनेवाले नवीन जन्म को देखनेवाला कोई न होने के कारण वह असिद्ध है। ७—अनित्य ज्ञान जड़ है, उस को अपना आकलन होना शक्य नहीं है। ८—विज्ञान को प्रदीप की तरह मानें तो भी उसे सिद्ध होने के लिए उस के किसी नित्य चेतन साक्षी की अपेक्षा है ही, किन्तु बौद्ध वैसा साक्षी नहीं मानते। इसतरह “नाभाव उपलब्धेः” इस पाँचवें अधिकरण के पहले सूत्र में यह दिखलाया गया कि बौद्धमत किस तरह प्रमाणमूलक नहीं है। इस के अनन्तर इस की अपेक्षा वादप्रस्त. “वेधम्याच्च न स्वप्नादि-वत्” इस दूसरे सूत्र में स्वप्नादिकों में होनेवाला ज्ञान बाह्य वस्तु के बिना ही होता है, इसीतरह जाग्रत अवस्थासम्बन्धी जाग्रतप्रतीति को निरालम्ब समझना चाहिए, ऐसा विज्ञानवादी बौद्धों का मत मानकर उस की अयुक्तता दिखलाते हुए यह युक्तियाँ दी गयी हैं १—स्वप्न में अनुभूत पदार्थ का बाध जाग्रत अवस्था में होता है, किन्तु जाग्रद-वस्था में उपलब्ध होनेवाली वस्तुओं का बाध किसी भी अवस्था में नहीं होता। २—स्वप्न का अनुभव स्मृतिरूप है, उस में वस्तु-वियोग है। जाग्रदवस्था के अनुभव में वस्तु का संयोग अर्थात् उपलब्धि है। ३—कल्पना-कल्पक यदि कल्पना करे, तो मनोराज्य-सम्बन्धी बाह्यवस्तु हो सकती है, वह उस के स्वाधीन होती है। जाग्रदवस्थासम्बन्धी बाह्य वस्तु की उपलब्धि होने पर उस का ज्ञान प्राहक के अधीन नहीं होता, किन्तु वस्तुन्त्र होता है। ४—इस के

अतिरिक्त बाह्यार्थ का ज्ञान पहले हुए बिना तत्सम्बन्धी वासना, स्मृति या कल्पना हो नहीं सकती। ५—इसीतरह बौद्धों के आलम्बन-विज्ञान क्षणिक होने के कारण उन में वासना एवं प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकती। बौद्धों का अहं प्रत्यय प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न होता है, उस में पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं रहता। इसतरह यह बौद्धों के विज्ञानवाद का खण्डन है। बौद्ध लोग अपने विज्ञान को निर्विषय मानते हैं, परन्तु जाग्रदवस्था में विज्ञानरूप विषय बाह्य उपलब्ध होते हैं और स्वप्न में भी स्वात्मिक पदार्थ विषय-रूप से बाहर ही भासित होते हैं। परमार्थतः बाह्य पदार्थ नहीं हैं और विज्ञान भी नहीं है। इसतरह उन का युक्तिवाद खण्डित होता है। बौद्धों के इस विज्ञानवाद से वेदान्तसम्बन्धी कल्पनाविवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद का बहुत कुछ साम्य है। परन्तु कल्पनाविवादसम्बन्धी कल्पना और दृष्टि-सृष्टिवादसम्बन्धी दृक्प्रत्यय का नित्य आधार आत्मवस्तु मानी गयी है, किन्तु बौद्ध उसे नहीं मानते। उसे बिना माने केवल क्षणिक जड़ विज्ञान से बाह्य जगत् का अत्यन्तभाव सिद्ध न होगा, यही विज्ञानवादसम्बन्धी अयुक्तता सूत्र-भाष्य में दिखलायी गयी है। स्वप्न-सृष्टि ईशसृष्टि नहीं है, वह व्यष्टि मन की कल्पनामात्र है (वृ.उ० ४।३।९)। उस सृष्टि की उपलब्धि स्वप्नस्थ मन के अतिरिक्त अन्य को नहीं होती। परन्तु दीर्घ काल तक अनेकों को समान रूप से उपलब्ध होनेवाली व्यावहारिक सृष्टि व्यष्टि की कल्पना न होकर समष्टिरूप ईश्वर की कल्पना होने के कारण उसे स्वप्न की तरह क्षणिक व्यष्टिविज्ञानरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यष्टि जीव जाग्रत् हो या स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, मूर्छा किसी भी अवस्था में हो, ईशसृष्टि अपने स्वातन्त्र्य से विद्यमान रहती है। जीव सो जाग, मूर्छित हो जाय या समाधि अवस्था में स्थित हो जाय, तो भी इस से ईशसृष्टि में कोई बाधा नहीं आती, ईश-कल्पनासम्बन्धी सृष्टि की 'व्यावहारिकसत्ता' बनती है और व्यष्टिकल्पना की 'प्रातिभासिक सत्ता' बनती है। देवता, गुरु, शास्त्र, साधन, सदाचार, राजनीति, उद्योग, विषयभोग, ये सब व्यावहारिक सत्ता के प्रकार हैं। ऐसे जगत् की व्यावहारिक सत्ता का असाधारण महत्त्व होने के कारण उस सत्ता को स्वप्न की तरह भ्रम मानने से काम नहीं चलता। इस से जाग्रत्सम्बन्धी शास्त्र को वैयर्थ्य प्राप्त होता है, अतएव वेदान्तसम्बन्धी अजातिवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, कल्पनाविवाद का निर्गुणोपासक अधिकारी साधक के सिवा दूसरों को पटना शक्य नहीं है। वे वाद अत्यन्त अव्यवहार्य हैं, इसीलिए 'सूत्रभाष्य' में ऐसे अव्यवहार्यवादों को कहीं भी पुरस्कृत किया ही नहीं है, ऐसा जबरदस्ती सिद्ध करने की ओर लोकसङ्ग्रहकारी विद्वान् नेताओं का रुख होता है। परन्तु इस व्यावहारिक उपयुक्तता के मोह से 'सूत्रभाष्य' प्रेरित न होकर उस में, जिस पारमार्थिक दृष्टि से बौद्धों के बाह्यार्थवाद तथा विज्ञानवाद का खण्डन 'माण्डूक्यकारिका-भाष्य' में किया है, वैसा 'सूत्रभाष्य' में करना अप्रस्तुत था, इसलिए नहीं किया गया है। बौद्ध यदि आत्मा की परमार्थ सत्ता मानते ही नहीं, तो जगत् का, पारमार्थिक सत्तास्वरूप से विवेचन, उन की प्रक्रिया के ही दोषदर्शन में बतलाने में स्वारस्य नहीं था। इस के अतिरिक्त सूत्रकार तथा माण्डूक्यकारिकाकार इन की पृथक् निवार-प्रक्रिया के भाष्यमूल के अनुरूप ही होना उचित था, इसलिए उन में भेद होना अपरिहार्य है। 'माण्डूक्यकारिका' में बाह्यार्थवाद का खण्डन व्यवहारदृष्टि से न करते हुए परमार्थदृष्टि से किया गया है, क्योंकि वहाँ स्वीकृत बाह्यार्थवाद के पूर्वपक्ष में सूत्र-सम्बन्धी 'समुदायासिद्धाधिकरण' की तरह बाह्यार्थ का केवल स्वरूप न बतलाकर उन की सत्ता सिद्ध की है। प्रत्यय-वैचित्र्य और दुःख की उपलब्धि का कारण बाह्यार्थ होना चाहिए, क्योंकि विज्ञान प्रकाश की तरह वैचित्र्यहीन होता है, इसलिए प्रत्ययवैचित्र्य तथा दुःखावुभव में केवल विज्ञान या मनोभावना, इतना ही

कारण पर्याप्त नहीं होता, उस विज्ञान में तत्प्रेरक बाह्यार्थ का आलम्बन मानना अनिवार्य है, अतः बाह्यार्थ सत्य है ऐसा वस्तुवाद आगे आता है। परन्तु वह तत्त्वतः टिकता नहीं, क्योंकि घटरूप विज्ञान का निमित्त बाहर घटरूप पदार्थ होना चाहिए, ऐसा कहते हुए वह घटपदार्थ क्या वस्तु है, इस का परमार्थतः विचार करते हुए छान्दोग्य-सम्बन्धी "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" यह आरुणि का सिद्धान्त आगे आता है अर्थात् घट यह नाम-रूप मिथ्या है। मृत्तिका से अतिरिक्त उस की लेशमात्र भी सत्ता नहीं है, घट का कारण जो मृत्तिका, उस मृत्तिका से घटरूप कार्य की पृथक् सत्ता ही नहीं है। इसी उपपत्ति से मूल कारण का अन्वेषण करते जाने पर मृत्तिका के जलादिरूप कारण से पृथक् मृत्तिका की सत्ता नहीं है, ऐसा होते होते शब्द एवं प्रत्यय का अन्त होने तक कारण-परम्परा का अन्त नहीं लगता, अतः बाह्यार्थ का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता, अपितु अजाति ही सिद्ध होती है। इस के अतिरिक्त रज्जु-सर्प, मृग-जल इत्यदि भ्रामक प्रत्ययों में विज्ञान का आलम्बन सत्य सर्प या सत्य जल विल्लिङ्गुल ही नहीं रहता। इसीतरह स्वप्न-विज्ञान को भी बाह्यार्थ का आलम्बन विल-कुल ही नहीं रहता। बाह्य कारण के न होने पर भी स्वप्न में दुःख का भी अनुभव होता है। हाँ जब अपने अज्ञान से उस प्रतीति के बाह्य निमित्त का अन्वेषण करता है और बाह्यार्थ की कल्पना करता है, इतना ही। इसतरह बाह्यार्थ की सत्यता सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः आत्मा से पृथक् अन्य कुछ भी नहीं है। यह बाह्यार्थ-खण्डन केवल बौद्धमत के लिए ही नहीं, अपितु मूलग्राही और पारमार्थिक दृष्टि से किया हुआ है। अब वस्तुतः बाहर घट, पट, रज्जु, सर्प, इन परमार्थतः सद्रूप पदार्थों के न होते हुए भी वे चित्तदृश्यरूप में व्यर्थ ही भासित होते हैं, तो फिर उन की कल्पना करनेवाला जो चित्त भासित होता है, वह भी वैसा ही मिथ्या दृश्य होना चाहिए, क्योंकि तीनों काल में बाह्यार्थ के ही असिद्ध होने पर चित्त का बाह्य विषय से स्पर्श ही सम्भव नहीं है। अतः परमार्थतः यह सिद्ध होता है कि दृश्यरूप चित्त के ही उत्पन्न होने में कारण न रह जाने से चित्त ही उत्पन्न नहीं होता—"तस्मात्तस्यापि चित्तस्य जायमाना अवभासता असत्येव जन्मनि युक्ता भवितुमिच्छता न जायते चित्तम्। यथा चित्तदृश्यं न जायते" (मां० का० भा० २।४।२८)।

विषय - सूची

विषय	पृष्ठ
१—स्त्रियों को उत्तराधिकार क्यों नहीं ? (सम्पादकीय)	... ११३
२—क्या करना चाहिए ? (टिप्पणी)	... ११५
३—नया सङ्कट (टिप्पणी)	... ११५
४—श्री विष्णुतत्व ६ (श्री स्वामी करपात्री जी)	... ११६
५—"जाली भगवान् ?" २ (श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी)	... ११७
६—"भारतीय शासन-योजना" पर मन्तव्य (श्री नारायण सदाशिव पराण्डे बी. ए., एल्. एल्. बी.)	... ११९
७—श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण ५ (श्री सदाशिव कृष्ण फडके)	... ११९

सिद्धान्त

साप्ताहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण ३)

विशेष ५), एक प्रति —)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं० — दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

‘विवाह में स्वच्छन्दता’

श्रीमती रेणुका राय ‘विवाह बिल’ से सर्वथा असन्तुष्ट हैं। आप की राय से “यह अपूर्ण और सुधार का अत्यन्त सङ्कीर्ण रूप है।” जहाँ तक ‘प्रथासुमोदित विवाह’ का सम्बन्ध है “जातिपौति के बन्धन ज्यों के त्यों बने रहते हैं, ‘अन्तर्जातीय विवाह-प्रथा’ को प्रोत्साहन नहीं मिलता” और न ‘विवाह’ को भङ्ग करने का अधिकार प्राप्त होता है। केवल एक महत्व-पूर्ण सुधार अवश्य हुआ है और वह है बहुविवाहनिषेध।” इस सम्बन्ध में आप को एक माँके की बात माननी पड़ी है। आप लिखती हैं कि “हिन्दू समाज में बहुविवाह बहुत कम होते हैं, यह सच है। लेकिन हाल में इस तरफ लोगों की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। प्रत्येक प्रान्त में बहुविवाह की संख्या की वृद्धि हो रही है और शिक्षित व्यक्ति, जिन से अपेक्षा-कृत अधिक समुन्नत दृष्टिकोण की आशा की जाती है, जान-बूझ कर दुबारा विवाह करने के अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं, क्योंकि तलाक में उन्हें रुकावटें दी जाती हैं।” इस तरह बढ़ते हुए बहुविवाहों की जिम्मेदारी हिन्दू शास्त्रों पर नहीं है, जिन्होंने कुछ विशेष परिस्थितियों में ही दूसरा विवाह करने की अनुमति दी है। इस के लिए दोषी है आधुनिक शिक्षा, जिस के प्रभाव में पढ़कर हिन्दू नवयुवक को सीधी-सादी लड़की पसन्द नहीं आती और वह ‘तितलियों’ के पीछे दौड़ता है। परन्तु श्रीमती राय उस शिक्षा की निन्दा कैसे कर सकती हैं, जिस को प्राप्त करके उन्हें आज हिन्दू-नारी समाज के एकमात्र प्रतिनिधित्व का सौभाग्य मिला है? उन की राय में तो इस का कारण है ‘तलाक में रुकावटें’। बस, इसे हटा दिया जाय, फिर क्या है, चाहे जितने विवाह होते चले, वे सदा रहेंगे ‘एकविवाह’ ही। आप लिखती हैं कि “जिम्मेदार पुरुष और महिलाएँ विवाह भङ्ग करने के सम्बन्ध में हठके और कम-जोर बहाने पेश कर रही हैं” यह बात नहीं है। परन्तु पाश्चात्य देशों में प्रतिवर्ष तलाकों की बढ़ती हुई संख्या के (जिसे थाकड़ों से सिद्ध किया जा सकता है, पर लेख-विस्तार के भय से नहीं किया जा रहा है) कारणों को भी बतलाना चाहिए। जिन शिक्षित कह-लानेवाले कामलोलुप पुरुषों को ‘बहुविवाह’

से रोकने के लिए बिल में उस का निषेध किया जा रहा है, उन्हें तलाक देने का अधिकार प्राप्त हो जाने पर क्या वे गरीब गृहिणी के साथ न्याय करेंगे? अन्य समाजों में तो परित्यक्ता स्त्री का कहीं न कहीं विवाह भी हो जाता है, पर वर्तमान हिन्दू-समाज में उस बेचारी को कौन पूछेगा? मूक हिन्दू नारी के साथ उस के ये ‘सच्चे प्रतिनिधि’ कितना सुन्दर उपकार करेंगे? किन्हीं पाश्चात्य देशों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। पुरुषों के मारे जाने के कारण वर्तमान महायुद्ध के पश्चात् यह संख्या और भी बढ़ जायगी। तब वहाँ की स्त्रियों की क्या गति होगी, श्रीमती रेणुका राय ने क्या कभी इस पर भी विचार किया है? वहाँ दो ही बातें हो सकती हैं—बहु-स्त्रीविवाह की प्रथा चलायी जाय या विवाहप्रथा को ही तोड़ दिया जाय। यह प्रश्न वहाँ के विचारशील विद्वानों को चक्कर में डाले हुए है। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं, जहाँ बहु-स्त्रीविवाह निन्ध नहीं कहा जा सकता। अपने यहाँ निःसन्तान होने पर कभी-कभी पत्नी अपने पति को दूसरी स्त्री से विवाह करने को बाध्य करती है। कुछ लोग इस प्रथा का दुरुपयोग भी करते हैं परन्तु केवल इतनी ही बात के लिए उस को ‘कानूनी अपराध’ बना देना क्या उचित है? इस बिल में ‘सिविल मैरेज’ को प्रोत्साहन दिया गया है। इस के अनुसार किसी जाति, किसी गोत्र, किसी सम्प्रदाय के स्त्री-पुरुष सरकार के यहाँ रजिस्ट्री कराकर आपस में विवाह कर सकते हैं और एक दूसरे को तलाक दे सकते हैं। ऐसे विवाह धर्मशास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल हैं, जिन का प्रचार हिन्दू समाज अनिष्टकर समझता है। विवाह एक पवित्र संस्था है, जिस का खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। अन्तिम परिणामों की ओर बिना ध्यान दिये हुए उतावली में मनमाने तथाकथित ‘सुधार’ कर डालना क्या बुद्धिमानी है?

अन्त में श्रीमती रेणुका राय लिखती हैं कि “हिन्दू महिलाएँ अपनी प्राचीन संस्कृति पर गर्व करती हैं और उस का विखण्डन नहीं चाहती।” यहाँ यदि हिन्दू महिलाओं का अभिप्राय उन महिलाओं से है, जिन की श्रीमती रेणुका राय एक रत्न हैं, तो हम जानना चाहते हैं कि वह

प्राचीन संस्कृति कौन है, जिस पर उन्हें इतना गर्व है? हिन्दू समाज के आधार वर्णव्यवस्था को तोड़कर और अदालतों में अपने परमधन ‘पातिव्रतधर्म’ को ठुकराकर भी क्या कोई हिन्दू नारी अपनी प्राचीन संस्कृति का गर्व कर सकती है?

हमारे यहाँ उत्तराधिकार और विवाह दोनों धार्मिक-कृत्य हैं। इन में केवल लौकिक दृष्टि से हेरफेर करके उन को विकृत बनाया जा रहा है और शास्त्रदृष्टि से जो उन की विशेषता है, उस को नष्ट किया जा रहा है। ‘राव कमेटी’ का यह दावा कि प्रस्तावित परिवर्तन शास्त्रसुमोदित हैं, सर्वथा मिथ्या है। अपने समर्थन में शास्त्रवचनों को उद्धृत करके हम लेख बढ़ाना नहीं चाहते। यदि श्रीमती रेणुका राय पढ़ने का कष्ट उठाये, तो हम उन्हें ‘काशी हिन्दू विश्वविद्यालय’ में कानून के अध्यापक श्री विनायक विष्णु देशपांडे एल्. एल्. एम्. की पुस्तक ‘धर्मशास्त्र और प्रभावित हिन्दू कोड’ सहर्ष भेंट कर सकते हैं। उस में शास्त्रीय दृष्टि से इस विषय का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। हमारे धार्मिक-जीवन में हस्ताक्षेप करने का सरकार को न कभी अधिकार था और न है, यह ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है। प्रचलित रीति-रिवाजों में यदि कोई परिवर्तन हो सकता है, तो वह धर्मशास्त्र के आधार पर ही और वह भी उन्हीं लोगों के द्वारा, जो उस के पण्डित हैं, न कि ऐसे लोगों द्वारा, जिन को संस्कृतभाषा का ज्ञान तक नहीं है। इन परिवर्तनों के लिए हिन्दुओं की ओर से कोई माँग नहीं हुई, ९९ प्रतिशत को तो इन का पता तक नहीं है। चुनाव के हथकण्डों से लाभ उठाकर ‘तमाशाई असेम्बलियों’ में ऐसे लोग घुस गये हैं, जिन में कुछ तो अपने को हिन्दू कहने में भी लज्जाते हैं और कुछ केवल ‘नामधारी हिन्दू’ हैं। क्या ये कभी हिन्दुओं के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं? केवल सनातनी ही नहीं ‘प्रगतिशील’ कहे जानेवाले आर्यसमाजियों ने भी इस के विरोध में आवाज उठायी है। श्रीमती राय ने ‘असेम्बली’ में आर्यसमाज के नेता भाई परमानन्द जी के भाषण सुने ही होंगे। लखनऊ से निकलनेवाले आर्यसमाज के मुख-पत्र ‘आर्यमित्र’ ने कटुशब्दों में ‘उत्तराधिकार बिल’ की आलोचना की है।

‘हिन्दूमहासभा’ ने यद्यपि स्वयं अपना कोई मत प्रकट नहीं किया है, पर उस ने युद्ध-काल में इन बिलों पर विचार स्थगित रखने के लिए बराबर प्रस्ताव पास किये हैं। उस की कितनी ही शाखाएँ और कितने ही सदस्य इन का जोरों से विरोध कर रहे हैं। स्वयं महिलाओं ने, जिन के हित के लिए ये कानून बनाये जा रहे हैं, इन का विरोध किया है। हिन्दूराज्यों में ये बिल लागू न होंगे, इस को जानते हुए भी कई हिन्दूनेशों ने इन के कुपरिणामों को ध्यान में रखते हुए चिन्ता प्रकट की है। ऐसी दशा में इन बिलों को पास करने के लिए क्यों उतावली की जा रही है ?

अन्त में श्रीमती रेणुका राय से हमारा अनुरोध है कि असेम्बली की सदस्या के नाते वे सरकार से निम्नलिखित प्रश्न पूछें (१) लोकमत जानने के लिए सरकार ने इन बिलों का कितना प्रचार किया ? (२) क्या इस के प्रचार से अधिकांश हिन्दूजनता को बिल की जानकारी हुई ? (३) लोकमत व्यक्त करने के लिए हिन्दुओं को क्या सुविधाएँ दी गयीं ? (४) मत देने के लिए विभिन्न प्रान्तों में कितना-कितना समय दिया गया ? (५) बिलों के विरोध में विभिन्न प्रान्तों में कितनी सभाएँ हुईं ? (६) उन में कितनी गाँवों और कितनी नगरों में हुईं ? (७) विरोधपत्रों पर कितने हस्ताक्षर हुए ? (८) उन में किस किस श्रेणी के कितने-कितने लोग हैं ? (९) स्त्रियों के हस्ताक्षरों की संख्या कितनी है ? (१०) विभिन्न आचार्यों, मठाधीशों तथा अन्य धार्मिक नेताओं ने क्या मत दिया ? (११) विभिन्न ‘बार असोसियेशनों’ की क्या सम्मति है ? (१२) प्रान्तीय सरकारों ने अपना क्या मत प्रकट किया ? (१३) बिलों के पक्ष में कितनी सभाएँ हुईं और कितने तथा कैसे लोगों के मत आये ? इन प्रश्नों के उत्तर से श्रीमती रेणुका राय को वास्तविक परिस्थिति का पता लगेगा। भारत एक विशाल देश है, जिस में २० करोड़ हिन्दू बसते हैं। इन में अधिकांश गाँवों में रहते हैं। आजकल यात्रा की कठिनाइयों के कारण कितने ही गाँवों में पहुँचना तक मुश्किल हो रहा है। प्रान्तीय गजटों में बिल छाप देने के अतिरिक्त सरकार ने इन के प्रचार का कोई प्रयत्न नहीं किया। जैसा युद्धसम्बन्धी प्रचार होता है, उसके सामने यह क्या है ? कागज का ऐसा ‘कहपू’ है कि इस सम्बन्ध में पूरा साहित्य भी नहीं छपाया जा सकता। सभाओं की नोटिस तक छापने के लिए कागज नहीं मिल रहा है, तिस पर भी प्रान्तीय सरकार मत

की तीन तीन प्रतियाँ माँग रही है। मत भेजने के लिए मुश्किल से दो मास का समय दिया गया। अधि बढ़ाने के लिए बार बार लिखने पर भी कोई सुनवाई नहीं हो रही है। इस युद्धकाल में सभी परेशान हैं, इन पर विचार करने का किस को समय है ? ये सब अड़चनें होते हुए जो भी मत व्यक्त हुआ है, उसी से यह स्पष्ट हो जायगा कि अधिकांश हिन्दू न इन बिलों को चाहते हैं और न सरकार द्वारा अपने धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप। लोकतन्त्रात्मक पाश्चात्य देशों में जब कोई ऐसा जटिल सामाजिक प्रश्न उपस्थित होता है, तब ‘रिफ्रेण्डम’ द्वारा, जिस में प्रत्येक वालिग व्यक्ति को अपना लिखित मत देना पड़ता है, लोकमत-सङ्ग्रह किया जाता है। यदि श्रीमती राय, उन के साथियों तथा सरकार का यह दावा है कि इन बिलों को लोकमत का समर्थन प्राप्त है, तो उन्हें ‘रिफ्रेण्डम’ द्वारा इसे सिद्ध करना चाहिए। फिर कौन सी बात ऐसी बिगड़ी जा रही है कि इन बिलों को पास करने के लिए इतनी उतावली दिखायी जा रही है ? हमारे धर्म तथा प्राचीन संस्कृति को समूल नष्ट करना क्या इस का रहस्य नहीं है ? श्रीमती रेणुका राय ने तो इस को अपने लेख में पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है। इतने पर भी यदि हमारी आँखें न खुलें, तो फिर क्या ठिकाना ?

निस्तार नहीं

गताङ्क में हमने ‘नये सङ्कट’ की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया था। पूरा विरोध होते हुए भी सरकार अभी अपनी ही बात पर डटी है, ऐसी दशा में सरकारी आज्ञा पालन करने या पत्र बन्द करने के अतिरिक्त हमारे सामने और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। बहुतांश की राय में पत्र बन्द करना ठीक नहीं है, ‘कागज नियन्त्रण’ की यह कड़ी आज्ञा अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती, इसलिए जिसतरह हो थोड़े दिन तक काम चलाना चाहिए। हम ने भी यही सोचकर पत्र चलते रहना ही निश्चित किया है। स्थान अधिक निकालने के लिए हम शीर्षक छोटे कर रहे हैं, प्रति अङ्क के साथ विषय-सूची छापना भी बन्द कर रहे हैं। जितने पृष्ठ हमें मिल रहे हैं, उन में अधिक से अधिक सामग्री किस तरह भरी जाय, इस पर हम विचार कर रहे हैं और साथ ही सरकार से भी लिखा-पढ़ी चला रहे हैं। हमें आशा है कि हमारे

सभी ग्राहक इस सङ्कट में हमारा साथ देंगे और अपना सहयोग पूर्ववत् प्रदान करते रहेंगे। तभी इस विपत्ति से हम पार लग सकेंगे।

विलविरोध-कार्य

‘अखिल भारतीय धर्मसंघ’ की योजना के अनुसार कई स्थानों में ‘विलविरोध-दिवस’ मनाया गया। परन्तु इतने ही से हमारा कार्य की इतिश्री नहीं हो जाती। प्रान्तीय सरकारों के पास विरोध भेजने की अवधि अब सभी प्रान्तों में समाप्त हो गयी है, पर भारतसरकार के पास नवम्बर तक प्रार्थनापत्र और प्रस्ताव भेजे जासकते हैं। इसलिए विरोध में सभाएँ करना तथा प्रार्थनापत्रों पर हस्ताक्षर कराकर भारत-सरकार के पास भेजना बराबर जारी रहना चाहिए। छपे विरोधपत्रों से भी यह काम लिया जा सकता है। ‘कागज-नियन्त्रण आज्ञा’ के कारण अब प्रार्थनापत्र भी छपवाये नहीं जा सकते। जहाँ जो कुछ कागज मिल जाय, उसी से काम चलाना चाहिए। विरोधपत्रों के ऊपर जो शीर्षक छपा हुआ है, उसे लिख लेना चाहिए और उस के नीचे हस्ताक्षर करते रहना चाहिए। अब हस्ताक्षर की कई प्रतियाँ आवश्यक नहीं हैं, एक ही से काम चल जायगा। ये सब प्रार्थनापत्र ‘संक्रैटो’ लेजिसलेटिव डिपार्टमेण्ट, भारतसरकार, नयी दिल्ली’ के पास जाने चाहिए।

श्री विष्णुतत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

६

भगवान् के गले में वक्षःस्थल पर गुब्बाहार पड़ा हुआ है। वामावत् और दक्षिणावत् उभय रोमराजियों के मध्य में भृगुचरण हैं। इन पर वक्षःस्थल में जो दिव्य मालाएँ पड़ी हैं, उन से भगवदीय अष्टगन्धसौगन्ध से अतिमर्त्त हुए भ्रमरों की मधुर झङ्कार निकल रही है। नाभि-प्रदेश में अतिमुन्दर, ‘मनोहर तीन रेखाएँ (त्रिवलि) हैं और मध्य में दिव्य मनोहर सरोवर श्यामसलिला कालिन्दी का अतिविलक्षण आकर्षणवाला भँवर सां सोह रहा है। इसी से तो सारे ब्रह्माण्ड का प्रादुर्भाव हुआ है। भगवान् की भुजाएँ, भाँवुकों की कर्पणा के अनुसार, दो भी हैं और चार भी ! इन का गठन कैसा सुन्दर और कैसा गोल है। और घुमाव, चढ़ाव तथा उतार भी

अत्यन्त मनोहर है, और सर्वाङ्ग के समान इन पर भी कुङ्कुम-कस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन का शुभ्र लेप है। मुजाओं की दीप्तिविशिष्ट नीलिमा, हरिचन्दन की शुभ्रता और करार-विन्द के अन्तर्भागों की अरुणिमा, ये तीनों मिलकर नखमणिज्योति के घाट पर कैसा दिव्य मनोहर गङ्गा-यमुना-सरस्वती का सङ्गम साध रहे हैं। इन दिव्य मनोहर मुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म सुशोभित हैं। शङ्ख जलतरङ्ग है, कौमोदिकी गदा ओजतत्त्व है, सुदर्शन चक्र तेजस्तत्त्व और खड्ग नभस्तरङ्ग है। भगवान् के दिव्य कटितट में काञ्ची (मेखला) है, जिस की कई लड़े हैं। कटितट से गुल्फ-पर्यन्त पीताम्बर परिधान किये हैं, जो अति सूक्ष्म और दिव्य है। उस में से भगवान् की नीलकान्तिदीप्ति स्पष्ट ही उद्भासित हो रही है। पीतपट से समाच्छन्न भगवदीय दीप्तिमत्ता और नीलिमा से युक्त वह नानाविध रत्नों से जटित मुक्तामय मेखला नितम्ब-विम्ब पर आकर अत्यधिक सुशोभित हो रही है। काञ्ची की बड़ी मधुर झनझनाहट है। भगवान् के ऊरु कदलीस्तम्भ से कहे जाते हैं। कदलीस्तम्भों में जो स्थूलता-सूक्ष्मता का तारतम्य तथा जो चिह्नगता होती है, वही यहाँ विवक्षित है। यहाँ भी वही दीप्तिविशिष्ट नीलिमा है, जो पीताम्बर की मनोहर पीतिमा को भेदकर बाहर निकल रही है। श्री भगवान् के अतसिका-कुसुम से उज्ज्वल नील ऊरुद्वय श्री गरुड़जी के स्कन्धों पर अतिशोभायमान हो रहे हैं। यह गरुड़जी साक्षात् ऋक्, साम, यजुःस्वरूप शब्दब्रह्म है, जिन पर शब्दातीत अशेष विशेषातीत सच्चिदानन्दधन अक्षर परब्रह्म परमात्मा अधिष्ठित है—
“त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम्।” भगवान् के वाम स्कन्ध के ऊपर से दक्षिण स्कन्ध के नीचे कटितट तक वर्तुलाकार त्रिवृत सुवर्णोज्ज्वल पीत यज्ञोपवीत सुशोभित है। यह ब्रह्मसूत्र एकाक्षर प्रणव है, जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का मूल-सूत्र है। भगवान् जो केवल सविशेष नहीं, केवल निर्विशेष भी नहीं, प्रत्युत सविशेष-निर्विशेष दोनों मिले हुए पूर्ण परब्रह्म हैं, वही इस मङ्गलमय विग्रहरूप में प्रकट हुए हैं। गरुड़, शेष तथा शङ्ख-चक्रादि अङ्ग जो इस लीलाविग्रह में प्रकट हैं, वे भी उन के पूर्ण परब्रह्मस्वरूप में अभिन्नरूप से अन्तर्गत हैं। साङ्गोपाङ्ग परम भगवत्तत्त्व ही इस लीलामय विग्रह में प्रादुर्भूत है। इस लीलामय विग्रह की स्थिति अव्याकृत में है। कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि यहाँ भी उन का निवास अक्षरब्रह्म में है। परब्रह्म के अक्षर रूप तीन हैं—माया, मायाविशिष्ट

चैतन्य और परात्पर पूर्ण ब्रह्म। अव्याकृत मायाविशिष्ट चैतन्य ही शेष भगवान् है, उन्हीं में श्री भगवान् का निवास है—
“अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः”। तमोरजोलेख से असंस्पृष्ट, महावाक्यजन्य ब्रह्माकारा वृत्तिरूप में परिणत विशुद्ध सत्त्व ही कमल है—
“वर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते।”

भगवान् के जातुद्वय श्री महालक्ष्मी के अतिमुकोमल अरुण कर-कमलों से ललित हैं। गुल्फों में अनेकविध आभूषण और रत्नजटित नूपुर हैं, जिन की झङ्कार से त्रिमुवन आह्लादित होता है। आत्माज्योतिर्विग्रह कौस्तुभमणि सुशोभित उज्ज्वल नील कण्ठ-देश से गुल्फप्रदेश पर्यन्त नील पदारविन्द-पारदर्शी उज्ज्वल पीतपट उभय पार्श्व में विशुल्लताओं सा चमक-दमक रहा है और उस का नानाविध रत्नों से जटित किनारा अपनी रङ्ग-विरङ्गी छटा उस में मिलाकर एक अतिविलक्षण शोभा उत्पन्न कर रहा है। उसे भावुक देख-देखकर अपने नयनों को आस पूरी किया चाहते हैं। पर भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह की यह सारी शोभा अनन्त और नित्य नवीन होने से सदा ही उस सौन्दर्य-सुधारस-पान की प्यास अधिकाधिक बढ़ानेवाली है। श्री भगवान् के चरणारविन्द में कुङ्कुम-मिश्रित हरिचन्दन के नानाविध अतिमुन्दर मनोहर चित्र अङ्कित हैं। पादाङ्गुलियों पर जो नख हैं, वे मानो दिव्यातिदिव्य मोती हैं या इन्हें दिव्यातिदिव्य नखमणि कह सकते हैं। इन की चन्द्रमा से ज्योत्स्ना के किञ्चित् दर्शन मात्र से सारे ताप शान्त हो जाते हैं। नखों के पार्श्व और अग्रभाग में जो अरुणिमा है, उस से यह स्वच्छता किञ्चित् अरुण हो रही है। ऊपर चरणों के पृष्ठ और नखों की सन्धि की अरुणिमा और पद-नखों की स्वच्छता, इन तीनों का यह त्रिवेणी-सङ्गम परम भावुकों के ही अवगाहन करने का दुर्लभ स्थल है। यहाँ की यह शोभा और इस के साथ वनमाल और तुलसिका तथा कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित हरिचन्दनादि से युक्त दिव्य अष्टसौगन्ध परम भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है। परम भावुकों के परमाराध्य ये ही पादारविन्द हैं। मुनीन्द्रों के मनमधुप इन्हीं चरणाम्बुजों का आश्रयण करते हैं। ये ही परमहंसास्वादित चरण हैं। इन्हीं चरणारविन्दगत तुलसी-सौगन्ध के वायु से संस्पृष्ट होकर सनकादि मुनीन्द्रों के हृदय में प्रविष्ट होने से, उन के भी तन, मन, प्राण क्षुब्ध हुए और भगवान् के चरणों की ओर उन को राग हुआ। इसी दिव्य क्षोभ से सात्त्विक अष्ट भाव प्रादुर्भूत होते हैं। भगवान् के अन्य अङ्गों ने मुनीन्द्रों को इतना

नहीं मोहा, जितना कि इन चरणाम्बुजों ने। इन चरणों की दिव्य सौगन्धमय शोभा पर वे मानों विरक्त गये और उन्हीं ने यही प्रार्थना की कि हमारा यह मन मत्त भृङ्ग के समान आप के चरणारविन्द में लालायित रहकर सदा यह दिव्य मकरन्द-पान करता रहे। भगवान् के चरणतल दिव्य कमल पर न्यस्त सुशोभित हैं। विशुद्ध सत्त्व ही यह कमल है। विशुद्ध अन्तःकरण पर ही तो भगवान् का प्रादुर्भाव होता है। मुकोमल कमलों की अतिमुकोमल पँखुड़ियों की अनन्तकोटि गुणित मुकोमलता भी महालक्ष्मी के चरणाम्बुजों की मुकोमलता की बराबरी नहीं कर सकती। महालक्ष्मी के करकमलों को मुकोमलता उस से भी सूक्ष्म है और उस से भी कहीं अधिक सूक्ष्म भगवान् के चरणों की मुकोमलता है, जिस की किसी प्राकृत उपमान से कल्पना नहीं हो सकती। हाँ, इन उपमानों से कल्पना करने में सहायता मिलती है, यथार्थ बोध तो भगवत्कृपा से ही सम्भव है।

श्रीभगवान् के चरणचिह्न अलौकिक शोभा और सौन्दर्यस्वरूप हैं। जिस किसी ने इन चरणचिह्नों का सौन्दर्य देखा, उसी की दृष्टि सदा के लिए उन में स्थिर हो गयी। भगवान् के भक्त इन्हीं चरणचिह्नों को देख-देखकर अपने कामादि दुर्भावों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं। ये चिह्न किसी आचार्य के मत से १५, किसी के मत से १६ और किसी के मत से १९ हैं।

श्रीभगवान् के दक्षिण पादाङ्गुष्ठ में एक दिव्य चक्र है। इस चक्र के ध्यान से चिद्ग्रन्थि का छेदन होता है। अङ्गुष्ठ के पर्व में यव का ध्यान है, जो सुख-सम्पदा का देनेवाला है। अङ्गुष्ठ और तर्जनी के बीच में से चरण के मध्य तक एक ऊर्ध्व रेखा है। अङ्गुष्ठ के चक्र के अधोभाग में तीन चिह्न हैं—पर्व में यव, मूल में चक्र और नीचे की ओर तापनिवारक छत्र है। मध्यमाङ्गुलि के मूल में कमल है। यह अति शोभन है। यहाँ ध्याता का मनमधुप मुग्ध हो जाता है। इस कमल के नीचे ध्वज है, जिस के अनुसन्धान से सब अनर्थों का नाश होता है। कनिष्ठिका के मूल में वज्र है, जिस के ध्यान से भक्तों के पाप-पर्वत नष्ट हो जाते हैं। एड़ी के मध्य में अङ्कुश है, जो भक्तचित्त के मत्तगयन्द को वश करनेवाला है।

श्रीभगवान् के दक्षिण पाद का परिमाण लम्बाई में ९४ अङ्गुल है और चौड़ाई में ६ अङ्गुल है। पद के मध्य भाग में ४ अङ्गुल स्थान में कलश-चतुष्टय है और उनके अगल-बगल ४ जम्बूफल हैं। अधोभाग में द्वितीया का चन्द्र अङ्कित है, जो भक्तों के शुभ का सूचक है। उस से भक्त के आह्लाद

की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। चन्द्रमा के नीचे गोपदी है, जो भवसागर को गोपद के समान कर देता है। अर्थात् भगवत्समाश्रयण करनेवाले भवसागर को गोपद के समान बिना प्रयास ही पार कर जाते हैं। श्रीभगवान् के वामपादाङ्गुष्ठ के मूल में दिव्य शङ्ख है। उस का ध्यान करने से प्राणिव जड़त्व दूर होता है और सब मल धुल जाते हैं तथा श्रृङ्ग, साम, यजुरादि शुद्धातिशुद्ध मानसीवृत्तिरूप समस्त विद्याएँ ऐसे स्वच्छ अन्तःकरण में प्रस्फुरित होती हैं, जैसे कि ध्रुव के कपोल में शङ्खस्पर्श के होते ही उसे समस्त विद्याएँ एक क्षण में प्राप्त हो गयीं।

श्रीमत् शङ्कराचार्य से सम्भाषण

(श्री सदाशिव कृष्ण फड़के)

६

बौद्धलोग चित्त का जन्म, क्षणिकत्व, दुःखित्व, शून्यत्व और अनात्मत्व मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि चित्त के जन्म को चित्त किस तरह देखेगा? अतः उक्त प्रकार के चित्त को देखनेवाले नित्य आत्मा को बिना माने छुटकारा नहीं है और उस आत्मा से पृथक् दूसरा कुछ भी नहीं है। सारी कल्पनाएँ अथवा चित्तस्पन्द आत्मा पर माया के विवर्त हैं। इसतरह यह कारि-कोक्त खण्डन की संक्षेप में उपपत्ति है। बाह्यार्थ उत्पन्न नहीं होता और चित्त भी उत्पन्न नहीं होता। उन की उत्पत्ति का कारण ही दिखलायी नहीं पड़ता। इसतरह चित्तद्वय और चित्त, इन की अजाति बतलाकर 'कारिका' एक आत्मा की परमार्थ सत्ता-मात्र को सिद्ध करती है। सूत्रकार ने जैसे जाग्रत की व्यावहारिक सत्ता मानी है, वैसे ही 'माण्डूक्यकारिका' में भी उसे लौकिक ज्ञेय मानकर उस की व्यावहारिक सत्यता मानी ही है—“सर्वस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमित्येते” (४।४।८०)। परन्तु बाह्यार्थ के तत्त्वविवेक की तरह जाग्रदवस्था का तत्त्वविवेक किया जाय, तो उस में तत्त्व के अग्रहणरूप या अज्ञानावरणरूप निद्रा और रज्जु-सर्प की तरह या मृगजल की तरह अन्यथाग्रहणरूप स्वप्न या विक्षेप, ये द्वय-जात के दो दोष समान ही हैं (मां० का० १।६।१४)। आदि और अन्त में जो नहीं होता, वह वर्तमान समय में भी वस्तुतः नहीं ही होता (मां० का० २।६)। इस नियमानुसार भी जाग्रत और स्वप्न में सार्धम्य है, इसलिए व्यवहारतः सूत्रकार जैसा कि बतलाते हैं (२।८।८९), उस में वैधर्म्य होने पर भी परमार्थतः जाग्रत यह स्वप्न की तरह ही मिथ्या है। ऊपर ऊपर

से देखते हुए जाग्रदवस्था-सम्बन्धी पदार्थ के दीर्घकालीन, ईशसृष्ट इत्यादि जो व्यावर्तक-विशेष हमें प्रतीत होते हैं, वे सब थोड़ा सूक्ष्म विचार करने पर स्वप्नकाल में स्वप्न-पदार्थों के सम्बन्ध में भी हमें वैसे ही प्रतीत होते हैं, उन में वैलक्षण्य नहीं है। स्वप्नरूप का अग्रहण, यही जाग्रदवस्था की निद्रा है। इस निद्रा में चित्त का जो विक्षेप, वही अन्यथाग्रहणरूप जाग्रतस्वप्न है। अन्ततः ये अवस्थाएँ एक दूसरे को समान रूप से ही मिथ्या सिद्ध करती हैं। इसतरह यह 'कारिका' की स्वप्नजाग्रदवस्थासम्बन्धी अन्तिम पर-मार्थदृष्टि है (मां० का० २।४—१०, ४।४।३२—४१), तथापि ईश्वर और उस की मायावी सृष्टि, इन्हें व्यवहारतः मानना, यह एक परमार्थ-मार्ग का आवश्यक सोपान है। उसे छोड़कर सारे जगत् की सत्ता को प्रातिभासिक मानना या अजाति मानना, यह निरुणोपासकों की ज्ञान-प्रक्रिया प्रापञ्चिकों के लिए अत्यन्त ही दुर्घट है, उस पर तुम आरुढ़ न हो सकोगे—“तच्च तेषां वर्त्म तेषां विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिरन्यो लोको न गाहते नावतरति न विषयीकरोती-त्यर्थः” (मां० का० भा० ४।१५)। उपर्युक्त दो भिन्न प्रक्रियाओं का साङ्गर्थ्य, यही तेरे विचार का सब से बड़ा दोष है। बौद्धविज्ञान में यद्यपि बाह्यार्थ का निराकरण और केवल ज्ञान की ही कल्पना, इसतरह का अद्वैत वस्तु-सामीप्य बतलाया गया है, तथापि अद्वय परमार्थ तत्त्व नहीं बतलाया गया है, वह वेदान्त में ही बतलाया गया है—“ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेद-रहितं परमार्थतत्त्वं अद्वयं पञ्च बुद्धेन भाषितम्। यद्यपि बाह्यार्थनि-राकरणं ज्ञानमात्रकल्पना च अद्वयवस्तुसामी-प्यसुक्तं, इदन्तु परमार्थतत्त्वं अद्वैतं वेदान्ते-ष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः” (मां० का० भा० ४।१९)। इसतरह बौद्धों का विज्ञानवाद व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टि से अस-मर्थनीय सिद्ध होता है, ऐसा 'सूत्रभाष्य' और 'माण्डूक्यभाष्य' में बतलाया गया है, उस में तत्त्वतः विसङ्गति या विरोध का लेशमात्र भी नहीं है।

“भैया आधुनिक साधक! शास्त्र में व्यावहारिक एवं पारमार्थिक, इन भिन्न सत्ताओं की दृष्टि से जो भिन्न भिन्न लिखा गया है, उस का उचित विवेक न किये जाने से तुम्हारे विचार में व्यर्थ की गड़बड़ी हो गयी है। वेदान्त के कारण व्यवहार और परमार्थ में कहीं अनवस्था प्रसङ्ग नहीं आता। शास्त्र के दृष्टिभेदों को अच्छीतरह ध्यान में रखा जाय, तो तुम्हारी सब आशङ्काएँ दूर हो जायेंगी। पगले आधुनिक साधक! नदी पर फैले हुए वृक्ष की डाल पर चढ़ा मनुष्य

नदी में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर जैसे 'मैं डूब गया रे, मैं डूब गया रे' इसतरह चित्तलये, वैसे ही तुम्हारे भाषण का अन्तिम शोक अज्ञानजन्य है। सामनेवाले या पैरों के नीचेवाले मायाजल या आन्तरिक प्राक्संस्कारा-वच्छिन्न बुद्धिरूप दर्पण की ओर भी तुम मत देखना, उस बुद्धि के भी आगे दृष्टि ले जाओ! भैया साधक! अन्तर्मुख हो। अन्तर्मुख हो जाओ। पूर्णतया अन्तर्मुख बनो। भैया रे! बुद्धि के अवभासक तुम्ही हो, तुम से अन्य कुछ भी नहीं है, अन्य कुछ नहीं, अन्य कुछ भी नहीं है। रज्जु की दृष्टि में सर्प त्रिकाल में नहीं है, इस सत्य को समझ लो। इस अधिष्ठानदृष्टि से ब्रह्मात्मानुभव करो, इस से तुम्हारी सब छटपटाहट, तुम्हारी सभी जिज्ञासाएँ शान्त हो जायेंगी, निश्चित रूप से मिट जायेंगी। डरो मत! तुम अपने में ही शान्त हो जाओ।”

मेरा इतना भाषण होते ही आकाश में उंजाला होने लगा, अतः अब अधिक देर तक मेरे लिए अन्धेरे में छिपे रहना कठिन हो गया। दर्शनार्थियों का-मन्दिर में आने का-समय भी आने लगा, इसलिए अपने झाड़ू-बुहारू का काम जल्दी से पूरा करने के लिए मैं ने अपना भाषण एकदम रोक लिया। मेरा भाषण रुकते ही उस जिज्ञासु श्रोता के एकाग्र चित्त का अवधान सहसा छिन्न होते ही वह उत्कट जिज्ञासु एक क्षण भर के लिए घबरा सा गया। मैं इतनी देरतक स्वप्न में तो नहीं था? ऐसा ही उसे प्रतीत हुआ होगा। उस ने आतुरता से चारों ओर दृष्टि घुमायी, उसे मालूम हुआ कि मानो सर्वत्र प्रबोध-प्रातःकाल का प्रादुर्भाव हो रहा है। उस का मुख प्रसन्न दिखलायी पड़ने लगा। विनम्र भाव से मस्तक जमीन पर लगाकर उस ने श्रीमदाचार्य की चरणपादुका को पुनः प्रणाम किया और दुपट्टे के छोर से प्रेमार्द्र अपनी आँखें पोंछता हुआ, मुझे कोई देख न ले, यह सोचकर वह वहाँ से शीघ्र ही चला गया। मैं ने भी अपने छिपने के स्थान में से बाहर निकलकर श्रीआचार्य की पादुका के सामने जाकर अत्यन्त विनम्र भाव से अनेक बार प्रणाम किया और प्रार्थना की कि “इस अश्रद्धालु; किन्तु तीव्र जिज्ञासु सीधक के मन का समाधान हो, इस सुपरिणाम के लिए मैं ने, मानो श्री आचार्यचरण ही बोल रहे हों, ऐसा अभिनय करके श्रीमदाचार्य के अभिप्राय को अपने टूटे-फूटे शब्दों और टेढ़ी-मेढ़ी प्रक्रिया द्वारा उपदेश करने का साहस किया, इसलिए श्री आचार्य दयालुता से मुझे क्षमा करें।”

प्रकाशक— श्री गदाधर प्रहचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

मुद्रक— कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

सिद्धान्त

साप्ताहिक

वार्षिक मूल्य—साधारण ३)

विशेष ५), एक प्रति—)

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

‘धर्म मरते क्यों हैं ?’

श्री जेम्स बिसेटप्रेट अमरीका के प्रसिद्ध विद्वान् हैं । दर्शन तथा धर्मशास्त्र से आप को विशेष प्रेम है और इन पर आप ने कई पुस्तकें भी लिखी हैं । लगभग पचास वर्ष हुए हिन्दूधर्म के अध्ययन के लिए आप काशी भी पधारे थे । सन् १९४० में ‘केलीकोर्निया विश्वविद्यालय’ में ‘धर्म मरते क्यों हैं ?’ (क्लाइ रेलीजन्स डाई) इस विषय पर आप का एक भाषण हुआ था, जो अब पुस्तकरूप में प्रकाशित हुआ है । आप लिखते हैं कि इतिहास केवल मृत राजाओं तथा मृत राष्ट्रों की ही नहीं, मृत देवताओं तथा मृत धर्मों की भी समाधिभूमि है । मनुष्य की तरह धर्म भी जन्मते, बढ़ते, वृद्ध होते और मरते हैं । पर वास्तव में मरते हैं सम्प्रदाय, धर्म तो अमर है । इस धर्म का आधार है सब के किसी एक भाग्य-विधाता में विश्वास । यह विश्वास मनुष्य में सदा से रहा है, यहाँ तक कि यह उस का स्वभाव सा बन गया है । वह भाग्यविधाता कौन है और क्या है, इस पर भले ही मतभेद हो, परन्तु मनुष्य को स्वभाव से ही यह अनुभव होता है कि कोई एक ऐसी अदृष्ट शक्ति अवश्य है, जो सारे विश्व का नियन्त्रण कर रही है । उस को अनु-कम्पा और उस के भय से प्रेरित होकर मनुष्य काम करता है । इस विश्वास के साथ कितनी ही प्रकार की उपासनाएँ, भक्ति, रीति-रिवाजों की परम्परा चली आयी है । इस में मनुष्य की बुद्धि, इच्छा और क्रिया तीनों का समावेश रहता है । वही धर्म सफल तथा स्थायी हो सकता है, जिस में इन तीनों की आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रखा गया है । प्राचीन मिस्र, यूनान, रोम के धर्मों का आज पता तक नहीं है । पारसीधर्म को अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ी । भारत में बौद्धधर्म की भी यही दशा हुई । अब चन में भी उस की मृत्यु ही हो रही है । किसी समय इन धर्मों का बड़ा प्रभाव था । इन का पतन क्यों हुआ, इस पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि इस से हमें अपनी त्रुटियों का अनुभव हो सकता है । प्राचीन मिस्र के धर्म में देवताओं का ही सब से अधिक प्रभाव था । उन के पाछे उच्च कोटि के कई दार्शनिक सिद्धान्त न थे । बाहर से जब ऐसे विचारों का प्रादुर्भाव हुआ, तब यह धर्म उन को अपने में न मिला सका । बौद्धिक अंश की कमी के कारण यह धर्म अधिक दिनों तक न टिक सका । यूनान के प्राचीन धर्म पर वहाँ के प्रकृतिवाद के ऐ-प्रहार प्रारम्भ हुए कि वहाँ के देवी-देवताओं को अपना डेरा-झण्डा उठाना पड़ा । पारसीधर्म में कितने ही सम्प्रदाय चल पड़े थे, जो आपस ही में लड़ा-झगड़ा करते थे । इस के कारण वह निर्बल हो ही रहा था कि इतने ही में मुसलमानों का आक्रमण हुआ । इसलाम ने पहले ही से पारसी-धर्म की कुछ बातों को अपना लिया था, इसलिए ईरान-निवासियों को विजेताओं के धर्म को स्वीकार करने में विशेष आपत्ति नहीं हुई । पर साथ ही यह भी मानना होगा कि मुसलमान शासकों ने उन पर अत्याचार भी किया, जिस से पण्डित होकर उन्हें उदार भारत की शरण लेनी पड़ी ।

“भारत में बौद्धधर्म के पतन का भी कारण प्रायः मुसलमानों का अत्याचार बतलाया जाता है । परन्तु यह ठीक नहीं है । हिन्दूधर्म पर अत्याचार बराबर होता रहा, पर वह डटा रहा और उन्नति भी करता रहा ।” श्री प्रेट की राय में इसका मुख्य कारण है

हिन्दुओं की समाजव्यवस्था और हिन्दूधर्म की उदारता । बौद्धधर्म में किसी प्रकार का वर्णभेद न माना जाता था । पर साधारण ब्राह्मण अपने विचारों में नास्तिक होते हुए भी हिन्दू-समाज ही का अङ्ग बना रहता था और एक हिन्दू की तरह ही आचरण करता था । हिन्दूधर्म अन्य सम्प्रदायों की तरह केवल कुछ विश्वासों या मतों पर ही निर्भर नहीं है । वह तो जीवन का एक प्रकार है, जिस में छोटी-बड़ी सभी बातें आजाती हैं । इसीलिए केवल हिन्दूधर्म में ही यह सम्भव है कि एक ही कुटुम्ब में विभिन्न सम्प्रदायों के लोग एक साथ रहते हैं । हिन्दूधर्म में बुद्ध को भी अवतार माना गया है । एक कारण यह भी है कि बौद्धधर्म का प्रचार बहुत-कुछ सङ्घों के मिश्रुओं द्वारा होता था । इन सङ्घों का काम गृहस्थों के दान से चलता था । भारत में बौद्धसम्प्रदाय धीरे धीरे हिन्दूधर्म के पेट में समा गया और सहायुभूति प्राप्त न होने के कारण सङ्घ निर्बल पड़ गये, मुसलमानों ने आकर उन का सफाया ही बोल दिया । भारत से भागकर उस ने चीन में शरण ली, पर अब धीरे धीरे वहाँ से भी वह हट रहा है ।

“प्राचीन धर्मों में अवतक केवल वैदिक धर्म जीवित है । इस में विभिन्न देव-देवियों की उपासना में कमी-वैशी होती रही, कमी किसी की तो कमी किसी की उपासना का प्राधान्य रहा, पर प्राचीन परम्परा कभी भी विच्छिन्न नहीं हुई । यही एक धर्म है, जो कभी मरा नहीं, बराबर बढ़ता ही रहा । अनेक देव-देवियों को मानते हुए भी उस ने सब पर ‘एक ब्रह्म’ की छाप लगा रखी है । यही उस की सब से बड़ी विशेषता है । दूसरी बात यह है कि अन्य सम्प्रदायों को और विशेषकर, जो इसी के बच्चे हैं, उन को पचा जाने की इस में विलक्षण शक्ति है । एक ही बात को यह विभिन्न अवसरों पर ऐसे ढङ्ग से रखता आया है कि कोई बात प्राचीन होते हुए भी उस में नवीनता दीख पड़ती है । इसतरह न इस का कभी क्रम ही टूटा और न प्रमाणों की पवित्रता में ही कोई कमी आयी ।” अन्त में आप ईसाईधर्म की त्रुटियों पर विचार करते हुए लिखते हैं कि “उस के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो वह प्राचीन मिस्र के धर्म का अनुकरण करे या वैदिक धर्म का । मिस्र के धर्म में कठरता और कठोरता थी । उस में विकास के लिए स्थान न था । इस मार्ग पर कई धर्म चले, पर उन का अन्त ही हुआ । “वैदिक मार्ग सीधा और सङ्कीर्ण है, उस में आध्यात्मिक पुनर्विचार बराबर चलता रहता है । वह उस जीवन की ओर ले जाता है, जो स्वतः दीर्घजीवी तथा नवीन होता रहता है और जो व्यक्ति तथा संसार के लिए सनातन है ।”

यह प्रसन्नता की बात है वैदिक धर्म के प्रति श्री प्रेट के ऐसे भाव हैं । पर साथ ही हमें यह भी कहना पड़ता है कि ऐसे पाश्चात्य विद्वान वैदिक धर्म के रहस्यों से प्रायः अनभिज्ञ ही रहते हैं । पढ़ले तो वे बिना किसी क्रम के कुछ ग्रन्थों के विदेशी अनुवादों से थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त करते हैं । फिर उन्हें भारत आने की इच्छा होती है । पर जब वे आते हैं, तब जो वास्तव में धर्मशास्त्रों के मर्मज्ञ हैं, उन से इन विद्वानों का कभी सम्पर्क तक नहीं होता । वे केवल पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त नवीन धर्माचार्यों से ही इधर-उधर की कुछ बातें जानकर विदेश लौट जाते हैं और वहाँ से बड़े बड़े ग्रन्थ प्रकाशित करते रहते हैं । इन ग्रन्थों को यढ़कर हमारे नवयुवकों की धार्मिक धारणाएँ बनती हैं । इस का फल यह होता है कि वैदिकधर्म

का एक विकृत स्वरूप संसार के सामने रहता है। इन लोगों की यह धारणा है कि वैदिक धर्म का भी विकास हुआ। वह बड़ा लचीला है, समय समय पर आवश्यकतानुसार उस के नवीन संस्करण होते रहे हैं। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। अन्य सम्प्रदायों की तरह वैदिक धर्म किसी एक व्यक्ति का चलाया हुआ नहीं है। उस में विकास का कोई प्रश्न ही नहीं है, वह तो अनादि है। उस के आधार अपौरुषेय वेद है, तदनुसारी स्मृति, पुराणादि द्वारा उस का उपबृंहण होता है। उस की सीमाएँ बँधी हुई हैं, उन में मनमाना परिवर्तन नहीं किया जा सकता। बुद्धिवैभव दिखलाने के लिए उस में पूरी गुञ्जाइश है, पर साथ ही पहले बुद्धि को संस्कृत बनाने का प्रकार भी बतलाया गया है। कर्मकाण्ड, उपासना, ज्ञान तीनों की यथा-स्थान आवश्यकता बतलायी गयी है। केवल ज्ञानकाण्ड के इधर-उधर के कुछ अंशों को लेकर उड़ने का परिणाम उलटा ही होगा। इन सब बातों को किसी धर्मनिष्ठ योग्य व्यक्ति से जिज्ञासु की दृष्टि से समझकर तब फिर वैदिकधर्म पर कुछ लिखने के लिए कलम उठानी चाहिए। साथ ही यदि हम चाहते हैं कि हमारे धर्म का वास्तविक स्वरूप संसार के सामने आये, तो सब से पहले हमें अपना आचरण उस के अनुरूप बनाना चाहिए और विदेशी भाषाओं में उस पर प्रभावशाली साहित्य भी तैयार कराना चाहिए। हमारे नवशिक्षितों की धारणाएँ बनती हैं विदेशी साहित्य पढ़कर, जबतक उस साहित्य में हमारे धर्म का सच्चा चित्र न खींचा जायगा, उन की समझ में बात न आयेगी। आज संसार की दृष्टि भारत पर है, केवल अपने ही में बन्द रहने से काम न चलेगा।

‘स्त्रीशिक्षा और धर्म’

बम्बई के ‘ठाकरसी भारतीय महिला विश्वविद्यालय’ के उपाधिवितरण-उत्सव पर ‘इलाहाबाद विश्वविद्यालय’ के वाइस-चांसलर डाक्टर अमरनाथ झा जी का हाल ही में दीक्षान्त भाषण हुआ था। इस में आपने कहा कि “जिन जिन कार्यों में विदेशी स्त्रियाँ आज प्रवृत्त हो रही हैं, उन्हें देखकर समाज में स्त्री के स्थान का जो भाव अब तक रहा है, उसे बदलना पड़ेगा। यह बात ठीक है कि स्त्रियों का प्रधान क्षेत्र सदा घर ही रहा है और आगे भी रहेगा। पर इस के साथ ही अब उन की शिक्षा को अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता है। भारत के कई विद्यालयों में गृहप्रबन्ध, सङ्गीत, सीना-पिरोना, चित्रकला, शिशु-मनोविज्ञान आदि पढ़ाने की व्यवस्था ठीक ही है। पर अब डाक्टरी, अध्यापकी, दूकानदारी, संकेतरी, टाइपराइटर, विक्रय, थियेटरमैनेजर, पत्रकारी, पुस्तकालय-प्रबन्ध, वास्तुकला आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिए।” अन्त में आप कहते हैं कि “शिक्षा-व्यवस्था में धर्म को न मूल जाना चाहिए।” अधर्म से सभी देश में हानियाँ हो रही हैं, फिर अपने देश में तो कहना ही क्या है? अब तो बड़े बड़े नास्तिकों को भी धर्म की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।” ठीक है, पर जैसी शिक्षा-व्यवस्था आप रखना चाहते हैं, उस से उत्पन्न वातावरण में धर्म को कौन पड़ेगा? इन व्यवसायों को सीखकर पाश्चात्य देशों में चिखों जिस ओर जा रही हैं, क्या वह डाक्टर साहब से छिपा है? फिर धर्म क्या है, यह भी तो उन्हें बतलाना चाहिए। आजकल धार्मिक शिक्षा पर बड़ा जोर दिया जा रहा है। ब्रिटेन में नवीन शिक्षा-बिल में धार्मिक शिक्षा का भी समावेश किया गया है। अपने यहाँ ‘केन्द्रीय शिक्षा-सलाह बोर्ड’ ने भी ‘पुनोत्तर शिक्षा-व्यवस्था’ पर जो अपनी रिपोर्ट पेश की है, उस में लिखा है कि “सम्भवतः यह सभी मानेंगे कि सारी शिक्षा-व्यवस्था व्यापक अर्थ में धर्म से प्रेरित होनी चाहिए और कोई भी पाठ्यक्रम, जिस में नैतिक आधार का अभाव है, अन्ततः निष्फल होगा।” इस वाक्य से ही धर्म का ‘व्यापक अर्थ’ स्पष्ट हो जाता है। वह केवल ‘नैतिक सिद्धान्त’

(एथिकल प्रिंसिपल्स) इन की दृष्टि में धर्म है। परन्तु बिना आध्यात्मिक आधार के क्या नैतिक सिद्धान्त टिक सकते हैं? फ्रांस में नैतिक शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया, परन्तु फल कुछ भी न हुआ। यदि धार्मिक शिक्षा देना है, तो पहले उस के स्वरूप को समझना चाहिए, नहीं तो लाभ कुछ भी न होगा, उल्टे धार्मिक शिक्षा में अभ्रष्टा और भी बढ़ जायगी।

श्रीविष्णुतत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी) ।

७

वाम चरण की मध्यमाङ्गुलि के मध्य में अम्बर (आकाश) का अनुसन्धान है। अम्बर जैसे असङ्ग है, वैसे ही इस के ध्यान से ध्याता का चित्त भी विषयगग से विमुक्त और असङ्ग होकर व्यापक परब्रह्माकाराकारित हो जाता है। वामपादाख्यन्द में चार स्वस्तिक हैं, ये सकल शुभ के सूचक हैं। स्वस्तिकों के बीच में अष्टकोण है। किसी के मत से ये अष्टमहासिद्धियों को देनेवाले हैं और किसी के मत से ये अष्ट लोकपाल हैं, जो यहाँ भक्तों की प्रतीक्षा किया करते हैं। वामपाद की कनिष्ठिका में सूर्य-तत्त्व अङ्कित है, जिस के अनुसन्धान से अनेक प्रकार के ध्वान्त (अन्धकार) तिरोहित होते हैं। वाम-पदारविन्द में ज्यारहित इन्द्रधनुष का अनुसन्धान है। धनुष के पीछे चार कलश हैं। इन के बीच में त्रिकोण है, जो त्रिलोकेश्वर्याधिकार सूचित करता है। त्रिलोकेश्वर्य की प्राप्ति के लिए इस त्रिकोण का अनुसन्धान है। पर भगवद्भक्ति जिन में पूर्ण होती है, वे भगवान् को छोड़ त्रैलोक्य के पीछे नहीं भटका करते। त्रिकोण से दूसरा अभिप्राय त्रैगुण्य-विषय भी ले सकते हैं—“मां च योऽन्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥” अथवा ऋक्, साम, यजुः, इन तीनों वेदों से प्रतिपाद्य जो तत्त्व, उस की प्राप्ति का यह सूचक है—“वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।” मनो-वाक्काय तीनों से भगवान् ही बन्ध हैं और तीनों अवस्थाओं में वे ही एक आराध्य हैं। श्रीभगवान् के रूप और वर्ण आदि की, भावना के अनुसार ही, कल्पना करनी चाहिए। सगुणरूप में भगवान् स्वतन्त्र नहीं होते, भक्तभावना के अधीन होते हैं, क्योंकि भक्त की भावना-सिद्धि के लिए ही उन का प्रादुर्भाव होता है। स्वयं ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि—“यद् यद् धियात उरुगाय विभावयन्ति, तत्तद्गुणं प्रणयसे सद्गुणमहाय ॥” अर्थात् भक्त अपनी भावना से आप के जैसे स्वरूप की कल्पना करते हैं, आप भक्तानुग्रहार्थ वैसे ही रूप धारण करते हैं। भगवान् भक्तों के पराधीन हैं, स्वेच्छामय हैं अर्थात् स्वकीयों की इच्छा के अधीन हैं। “तं यथा यथोपासते तथैव भवति” ऐसी श्रुति है और ‘गीता’ का भी यह वचन प्रसिद्ध है कि “ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।” अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के निदान भगवान् हैं और भगवान् के निदान भक्त हैं। इसलिए सर्वजगन्नियामक भक्त ही हुए। वे यदि श्रीभगवान् के पदचिह्नों को जरा इधर-उधर कर दें, तो ऐसा करने में वे स्वतन्त्र हैं। वे जो भी कल्पना करेंगे, वह सत्य है। वह कल्पना सत्य होती है, इसी से तो भक्तों की कल्पना के अनुसार भगवान् नित्य नये रूप में प्रकट होते हैं। मनुष्य के मन का यह स्वभाव है कि वह नित नयी बात चाहता है, इसलिए भावुकों को नित्य नूतन कल्पना करनी आवश्यक ही है। भगवान् के रूप ही नहीं, भगवान् के चरित्र भी भावुकों को नित्य नवीन प्रतीत होते हैं—“तस्यां ब्रियुगं नवं नवम्।” श्रीभगवत्तत्त्व तो अनन्त है। जैसे जिस का मन विशुद्ध होता जाता है, वैसे वैसे उसे नव-नव रूप-वैभवं देखने को मिलती हैं। भगवान् के दिव्य महलमय विग्रह में नित्य नवीन कल्पना करने में सच्चे भावुक स्वतन्त्र हैं।

उन्हें भगवान् के भूषण-वसनादि में नित्य नयी-नयी कल्पना करनी ही चाहिए। सगुण उपासकों के लिए यह आवश्यक है। जैसे भगवान् के पीतपट को कहीं विद्युत् का उपमान दिया गया है, तो कहीं कदम्ब-किञ्जल्क की सी आभा बतलायी गयी है और कहीं रविकिरण की उपमा दी गयी है। इसी प्रकार नखमणि कहीं मुक्तापर्णक है, तो कहीं नीलिमा, अरुणिमा और स्वच्छता के दिव्य सम्मेलन का ध्यान है और कहीं उस में अँगूठियों की दीप्तिमत्ता भी मिली हुई है और नखमणि-मण्डल की ज्योत्स्ना ऊर्ध्व में उच्छ्वसित हो रही है। भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्य-सम्पन्न दिव्य रूप-गुणों का वर्णन सनकादि मुनीन्द्र भी नहीं कर सके। वह वर्णनातीत है।

सद्-सद्-विचार

(श्री स्वामी शङ्कर तीर्थ जी)

१

तत्त्वदर्शी सदा सत् का ही अस्तित्व देखते हैं—वे असत् का अस्तित्व नहीं देख पाते। जिस का अस्तित्व दूसरे पर निर्भर करता है, वह असत् है। कार्य का अस्तित्व सर्वदा कारण पर निर्भर है, इसलिए कार्य सदा असत् है, परन्तु कारण असत् नहीं हो सकता। घट का कारण मृत्तिका है। जब घट नहीं रहता, तब मिट्टी का भी अभाव रहेगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता। घट मृत्तिका का विकार है। विकार सर्वथा मिथ्या होता है। तत्त्वदर्शी सुख-दुःखादि को कार्य-रूप देखता है। सुख-दुःखादि का कारण शीतोष्णादिबोध है। सुख-दुःखादि असत् हैं, परन्तु उन का कारण—शीतोष्णादि का बोध—सत् है। आगे जब शीतोष्णादि के कारण का अनुसन्धान किया जाता है, तब शीतोष्णादि कार्यरूप में भासते हैं और तब वे कार्य होने से असत् हो जाते हैं और उन का कारण—विषयों के साथ इन्द्रियों का योग—सत् हो जाता है। मायिक जगत् की सम्पूर्ण घटनाएँ कार्य-कारण-प्रणाली-बद्ध हैं। एक बार जो कारण होता है, वही फिर कार्य हो जाता है। उस कार्य का भी कारण रहता है। पुनः वह कार्य कारण हो जाता है। घट का उपादानकारण मृत्तिका है और घट उस का कार्य है, परन्तु घट, बनने के पहले, नहीं था और नाश होने के अनन्तर भी नहीं रहता, परन्तु मृत्तिका बराबर रहती है। जो पदार्थ कभी रहता है और कभी नहीं रहता, उस को असत् कहते हैं। घट कदाचित् नहीं रहता, इसलिए वह असत् है। मृत्तिका के कारण का अनुसन्धान करने से देखा जाता है कि वह अपने कारण—जल—में लीन हो जाती है, इसलिए मृत्तिकारूप कार्य असत् है और जलरूप कारण सत्य है। इस रीति से जल का कारण अग्नि, अग्नि का कारण वायु, वायु का कारण आकाश, आकाश का कारण तन्मात्र, तन्मात्र का कारण अहं-विशिष्ट सर्वसंस्कार-युक्त चेत्यता और उस का कारण ब्रह्म है। ब्रह्म सर्व कारणों का कारण होने से वही एकमात्र सत् है, बाकी समस्त कार्य असत् हैं। ब्रह्म कारण है और प्रकृति कार्य है, इसलिए ब्रह्म सत्य है, प्रकृति मिथ्या है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कार्य-कारण-भाव मायिक व्यापार में ही प्रयोज्य होता है। किसी एक ने, जो सृष्टि के पहले अकारणरूप से विराजमान था, सृष्टि-प्रारम्भ में मायिक लीलावश अपने में कारण-भाव को प्रकट-सा किया। वह कारण-भाव ही अनिवार्य अज्ञान है। माया-प्रभाव से ही वह समुत्थित होता है और परम प्रकृति में अभिव्यक्त होता है। वह अभिव्यक्ति ही जगत् है। अज्ञान का नाम प्रकृति है—जगत् अज्ञान का शरीर है।

व्यभिचारविहीन बुद्धि में अनुभूत पदार्थ सत् कहा जाता है और जिस पदार्थ का व्यभिचारविशिष्ट बुद्धि ग्रहण करती है, वह

असत् कहलाता है। बुद्धि का भी सत् और असत्, दो रूपों से विभाग किया जाता है। यह घट है, यह पट है—इसतरह घट-पटादि को विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, परन्तु सत् बुद्धि का व्यभिचार (नाश) नहीं होता। सत् और असत्-भेद से जो दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं, उन में सत्-बुद्धि का नाश नहीं होता, असत्-बुद्धि नष्ट हो जाती है। असत्-बुद्धि के द्वारा शीतोष्णादि का अनुभव होता है। सद्-बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा ब्रह्मज्ञान लब्ध होता है। इसलिए कहा जाता है कि विकारभूत, सकारण शीतोष्णादि द्वन्द्वों की वास्तविक सत्ता नहीं है, क्योंकि वे असत् और व्यभिचारदोषदुष्ट हैं। परन्तु सत्-स्वरूप आत्मा का अभाव या अविद्यमानता कहीं भी नहीं है। जो वस्तु देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्न है, वह असत् कही जाती है। एकमात्र आत्मा ही सत् है, क्योंकि वह देश, काल और वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न नहीं है, आत्मातिरिक्त सब कुछ इन त्रिविध परिच्छेदों से युक्त होने के कारण असत् है। घट आकारविशिष्ट है। कोई भी आकारवान् पदार्थ सर्व देशों में समभाव से नहीं रह सकता। सम्मुखवर्ती घट उसी स्थान में रहता है—अन्यत्र नहीं। हाँ, ऐसे असंख्य घट सर्व देश में रह सकते हैं, परन्तु सामन के घट का सर्व देश में रहना असम्भव है। इसलिए घट देश-परिच्छिन्न है। एकमात्र आत्मा ही सर्व देशों में विराजमान है। कोई कोई आकाश को देश से अपरिच्छिन्न कहते हैं, परन्तु केवल देश से अपरिच्छिन्न होने से ही कोई 'सत्' नहीं हो सकता, साथ ही साथ वह काल से अपरिच्छिन्न भी होना चाहिए। आकाश सर्व काल में नहीं रहता, महाप्रलय में उस का भी लय सुना जाता है—“नम आत्मनि लीयते।” जो पदार्थ उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद नहीं रहता अर्थात् भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान में नहीं रहता, वह काल-परिच्छिन्न कहा जाता है। एकमात्र आत्मा ही सर्वकाल में रहता है। कोई कोई परमाणु को काल से अपरिच्छिन्न मानते हैं, परन्तु काल-परिच्छिन्न न मानने पर भी उसे देश-परिच्छिन्न तो मानना ही पड़ेगा। परमाणु बहुत है। एक ही परमाणु सर्व देशों में कदापि नहीं रहता। केवल आत्मा ही सर्व देश में, सर्व काल में विराजता है। जिस में स्वगत, स्वजातीय और विजातीय भेद रहते हैं, उस को वस्तु-परिच्छिन्न कहा जाता है। एकमात्र आत्मा का ही वस्तु-परिच्छेद नहीं है, अर्थात् स्वगत, स्वजातीय और विजातीय भेद नहीं है। वृक्ष में पत्र, पुष्प, फल, अङ्गुली आदि का जो भेद है, उस को 'स्वगत भेद' कहते हैं। एक वृक्ष से भिन्नजातीय वृक्ष का जो भेद है, वह 'स्वजातीय भेद' कहा जाता है और वृक्ष के साथ मनुष्य, गौ, अश्व आदि का जो भेद है, वह 'विजातीय भेद' है—“वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलाङ्गुरैः। वृक्षान्तरात् स्वजातीयो विजातीयः शिला-दिभिः॥” असत् वस्तु में इन त्रिविध भेदों में से कोई न कोई भेद अवश्य ही रहता है। केवल आत्मा में ही इन त्रिविध भेदों का अत्यन्त अभाव है।

‘भारतीय शासन-योजना’ पर मन्तव्य

(श्री अनुपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)

३

श्री दूरकाळजी की शासन-विधान-योजना के सम्बन्ध में हमारे पहले लेख में इस की सामान्य रूपरेखा बतलायी गयी थी। दूसरे लेख में तत्सम्बन्धी कई शङ्काओं का समाधान किया गया था। इस लेख में उस की स्वाभाविकता एवं सम्भावना और अन्य योजनाओं से उस की भिन्नता पर विवेचना की जायगी। यह विवेचना करते समय उस योजना के प्रधान तत्त्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है,

अतः उस का मिताक्षरवाला पुनःकथन यहाँ किया जायगा। उक्त योजना के प्रधान तत्त्व ये हैं—१—इस के द्वारा धर्मतन्त्र-प्रधान स्वराज्य और स्वतन्त्रता का नियन्त्रण। २—धर्मद्वारा संस्थापित संस्कारिता के संरक्षणार्थ राज्य का आयोजन। ३—राजकुलों में राजसत्ता का सनियमन पुनर्गठन। ४—प्रजा के स्वाभाविक समूहों द्वारा लोकसभाओं का, मत प्रकट करने के लिए पुनर्विधान। ५—धार्मिक समुदायों की हितरक्षक समितियाँ। ६—भाषाप्रधान प्रान्तों की पुनः रचना। ७—भारतीय राज्यों का एक महासमूह-तन्त्र। यहाँ पर प्रधानतः इन सब तत्त्वों का विचार किया जायगा। इस योजना को, दलबन्धियों द्वारा शासन चलानेवाली न होने से तथा भारत की सम्पूर्ण जातियों की हितकारिणी होने से, 'सनातनी योजना' के बदले 'धर्मानुसारी स्वराज्य-योजना' कह सकते हैं। इस योजना के उपर्युक्त तत्त्वों की, अङ्ग्रेज सरकार की, काङ्ग्रेस की या कम्युनिस्टों की, जिन्हें सहभोगवादी कहा जा सकता है, योजनाओं से विद्वान् लोग तुलना कर सकते हैं और भारतीय आदर्शों के प्रति उस के प्रत्याघातों का भी अंशतः अनुमान कर सकते हैं। वस्तुतः किसी योजना की शक्ति शक्यता तथा सुपरिणामिता का आधार इस पर निर्भर है कि उस में सत्य के सनातन सिद्धान्त कितने अंशों में हैं। तथापि यह बात भी प्रसिद्ध है कि किसी भी योजना की शक्यता उस के पृष्ठपोषकों की शक्ति पर भी अधिकांश में आधार रखती है, अतएव वे विषय सर्वथा नवीन हैं या हमारी प्रचलित शक्तियों से उस का मेल हो सकना कठिन है, इत्यादि दलीलों से हमें घबराना न चाहिए। हाँ, हमलोगों में सञ्चलन-शक्तियों की तो अपेक्षा है ही, क्योंकि उन के बिना संरक्षण सहज नहीं है। तथापि हमें इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि सबल पक्ष प्रतिपक्षियों के विरुद्ध प्रायः चार-पाँच परिचित शस्त्रों का उपयोग करते हैं। पहले तो वे ऐसा दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि मानो प्रतिपक्षी है ही नहीं या निर्जीव है। इस के उपरान्त यदि वे अपना जोर दिखलायें, तो वे प्रतिपक्ष को स्पष्टासास्पद, पुराना, दकियानुशी या बुद्धि-विवेक-शून्य बतलाकर उसे उड़ा देने का यत्न करते हैं। फिर भी यदि वे जोर पकड़ें, तो उन्हें अपने बल से दबा देने का यत्न करते हैं। फिर भी यदि न दबें, तो उन्हें समझौते से हाथ में रखने योग्य एक अव्यसंख्यक दल के रूप में स्वीकृत करते हैं। फिर भी यदि वे अधिक जोर दिखलायें, तो उन्हें प्रकाशरूप से गिरा देने का प्रयत्न करते हैं अर्थात् हँसी, पक्षबल, धनबल या युक्तिबल के जोर से प्रतिपक्षी को उड़ा देने की चालें प्रजातन्त्रवाद में सुप्रसिद्ध हैं। प्रजातन्त्रवाद भी, जिस में कि सब निर्णयों का आधार बहुमत पर रहता है, एक प्रकार के जबरदस्ती का ही शासनवाद है, क्योंकि उस में संस्थाबल ही काम करता है, केवल उस के सङ्ग्राम धीर गति और गुप्त रीति से चलते हैं। यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है कि हम धर्म का संरक्षण हर किसी योजना में धुमेड़ देंगे। इस की गवाही भारत का १९३५ वाला शासन-विधान देता है। ऐसा हो इस में कोई आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि "घर फूटे घर जाय" यह जानी-बूझी बात है। हिन्दूओं की संस्कृति एवं आदर्शों के संरक्षणार्थ समग्र योजना एवं समग्र नेतृत्व हमें अपेक्षित है। अब योजनासम्बन्धी एक के बाद दूसरे तत्त्वों का आगे विचार किया जायगा।

१—भारत धर्मप्रधान देश है, अतः उस के लिए धर्मप्रधान राजतन्त्र स्वाभाविक एवं आवश्यक है। 'राष्ट्रीय काङ्ग्रेस' की 'नेहरू-योजना' में सब के लिए धर्मसंरक्षण-तत्त्व बिल्कुल नहीं था, बल्कि इस पर उस का आप्रह या कि धर्म को किसी विषय में—बीच में—न आने दिशो जाय। यह विदित है कि वह योजना सिखों, 'हिन्दू महासभा' और काङ्ग्रेस के आन्तरिक पक्षों के विरोध से हवा हो चुकी है। धर्म के आधार बिना प्रजा की समय समय की

स्वच्छन्दता के आधार पर शासनतन्त्र चलाने की जो धुन यूरोप में चल पड़ी है, उस का अनुकरण करके ऐसा राजतन्त्र मांगा जाता है। लोग समझते हैं कि हमारा इच्छानुसार होगा, पर होता है प्रपञ्ची दलों का चाहा, और प्रजा हरतरह से पीसी जाती है, प्रजा के प्राण का कर्षण होता है। इस बात को उड़ाकर कि धर्म जीवन का 'प्रेरक-नियामक' है, राजसभा में नित्य बदलते जानेवाले धारण से प्रजा को यन्त्रित करना, यह उस का अन्तर्हित तत्त्व है। हमारी योजना उस से नितान्त भिन्न है। वह पुरातन शासन-परम्परा के अनुसार धर्म को ही जीवन का प्रेरक-नियामक मार्ग स्वीकार कर उस के संरक्षकरूप में राज्य को स्वीकृत करती है। कहा जा सकता है कि कई एक राष्ट्र धन को, कई धरा (भूमि) को, कई बल को और कई कामभोग को राज्य का प्रधान प्राप्तव्य मानते हैं। इस के उदाहरण में इङ्ग्लैण्ड, इटली, जर्मनी और रूस आदि रखे जा सकते हैं और उन सब के दृष्टान्त उन उन वासनाकेन्द्रों की विफलता एवं उस से होनेवाली दुर्दशा को बतलाते हैं। केवल धर्म ही एक ऐसा केन्द्रीय प्राप्तव्य है, जिस के आधार पर देशों की स्थायी उन्नति की—इतिहास—साक्षी देता है। यह योजना उसी धर्म को प्राधान्य दे रही है। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सिख, जैन, पारसी, ईसाई और मुसलमान भी धर्मरक्षण के सिद्धान्त का आप्रह रखते हैं और पाश्चात्य नास्तिक विचारों में सने हुए क्रान्तिप्रेमी हिन्दू उस का सक्रिय विरोध, विशेषतया करते हैं। क्रान्तिकारी पक्ष ने जब यह देखा कि पाश्चात्य घोषणावाली 'नेहरू-योजना' न चल सकी, तब उन्होंने ने शासनविधान की रचना करने के लिए 'शासननिर्माणाधोश मभा' (कान्स्टिट्यूण्ट असेम्बली) की मांग की है। ऐसी सभा जनता में से आधुनिक पद्धति द्वारा निर्वाचित होकर सारी नवीन योजना को वह स्वेच्छानुसार बनाती है। ऐसी सभाओं का निर्माण—बलवा या क्रान्ति के उपरान्त नूतन राज्य-सङ्गठना—निर्माण के लिए किया जाता है। उस में अनेक पक्ष, अनेक मस्तिष्क, आदर्श, स्वार्थ तथा ईर्ष्याओं का समुच्चय होने के कारण धर्म या सिद्धान्त की बात तो ऊपर ही ऊपर उड़ जाती है। उस में जो शक्ति लोगों को अधिक उत्तेजित कर सके, उसे अधिक बल प्राप्त होता है और वह स्वपक्ष के बल से मनमाने धारा-पद्धतिवाले विधान को पास करा लेती है। फ्रान्स, जर्मनी और रूस के—ऐसी सभाओं के—इतिहास से यह बात स्पष्टरूप से समझ में आ सकती है। ऐसी पचमेल खीचड़ी-सी सभाओं की खिचड़िया योजनाएं अधिक समय तक टिकती नहीं। फ्रान्स की क्रान्ति के बाद-वाले ८० वर्षों में फ्रान्स में ११ शासनविधान—एक के बाद एक—रचे गये हैं। जर्मनी की १९१९ वाली ऐसी खिचड़ी सभा की योजना तो कभी की छिन्नभिन्न हो चुकी है और रूस की १९१८ वाली नास्तिकतापूर्ण योजना जितने दिनों तक टिकी रहे, उतना ही पतन करनेवाली है। ऐसी योजनाएं अधिक दिनों तक नहीं चलतीं, पर प्रजा को तो वह विच्छिन्न कर डालती है। ऐसी सभाएं यदि नियन्त्रण में रहें, तो छोटे देशों में कुछ थोड़ी हानि करती हैं, परन्तु बड़े देशों में तो उन का प्रभाव गुण्डाशाही और बलात्कार बढ़ाने की ओर होता है, अतः ऐसी शासन-विधान बनानेवाली सभा का यह योजना अस्वीकार करती है। तात्त्विक दृष्टि से देखें, तो जब कई लोग राज के आदर्श तथा आदेशों को मनुष्याधीन (प्रधानतः) रखना चाहते हैं, तब भारत में उसे प्राचीन काल से ईश्वराधीन अर्थात् धर्माधीन रखने की योग्यता स्वीकार की गयी है अर्थात् इसतरह कहा जा सकता है कि यह योजना वस्तुतः भारतीय है।

प्रकाशक—श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातर, नगवा, बनारस।

मुद्रक—कृष्ण बलवन्त पावगी, द्विजवन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

अमरीका में राष्ट्रपति का निर्वाचन

अगले नवम्बर में संयुक्तराष्ट्र अमरीका के राष्ट्रपति का नया चुनाव होगा। वह चुनाव बड़ा जटिल है और अन्य किसी देश में वैसी प्रथा नहीं है। संयुक्तराष्ट्र में छोटे-मोटे कई राष्ट्र हैं, जो वास्तव में रियासतें हैं, पर अपने लिए कानून बनाने में स्वतन्त्र होने के कारण राष्ट्र माने जाते हैं। राष्ट्रपति का चुनाव इन राष्ट्रों के द्वारा होता है। इस के लिए भी निश्चित प्रकार है। यह चुनाव प्रति चौथे वर्ष नवम्बर मास के प्रथम मङ्गलवार को होता है। पर इस दिन राष्ट्रपति के पद के लिए वोट नहीं लिया जाता। प्रत्येक राष्ट्र की राजधानी में केवल उस के निर्वाचकों को चुना जाता है। ये निर्वाचक विभिन्न राजनीतिक दलों के होते हैं और वे उसी व्यक्ति को वोट देते हैं, जिसे उन का दल राष्ट्रपति-पद के लिए मनोनीत करता है। इसतरह जिस दल के सब से अधिक निर्वाचक चुने जाते हैं, उसी के उम्मेदवार व्यक्ति की अन्त में जीत होती है। वास्तविक चुनाव तो दिसम्बर में होता है, जो जनवरी में घोषित किया जाता है, पर अन्ततः कौन चुना जायगा इस का पता नवम्बर में ही लग जाता है। इस चुनाव में राजनीतिक दलों के दौड़-पेच देखने में आते हैं। ‘निर्वाचक-मण्डल’ (एलेक्टोरल कॉलेज) चुनने के लिए पहले ये दल अपना एक सम्मेलन (कन्वेंशन) करते हैं। इस सम्मेलन में राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के पद के लिए नाम निर्धारित किये जाते हैं और चुनाव का प्रबन्ध करने के लिए एक ‘राष्ट्रीय समिति’ (नेशनल कमेटी) बना दी जाती है। चुनाव समाप्त हो जाने तक यह समिति उधम मचाया करती है। प्रत्येक नगर, गाँव, मुहल्लों में इस की शाखाएँ स्थापित हो जाती हैं और सब की देखरेख राष्ट्रसमिति का अध्यक्ष करता है। मुहल्ला-समिति के अध्यक्ष का यह कर्तव्य होता है कि रुपये का लालच, नौकरी का लालच और चाहे जिस उपाय से अपने वोटों की संख्या बढ़ाता रहे।

सन् १९४० में जो चुनाव हुआ था, उस में अमरीका के ‘डिमोक्रेट’ तथा ‘रिपब्लिकन’ नामक दो प्रधान राजनीतिक दलों का कुल मिलाकर ३,२२,७६,५६० रुपिया खर्च हुआ था। खर्च की यह रकम बड़ है, जो सरकार के यहाँ दर्ज करा दी गयी थी। इस के अतिरिक्त कितना खर्च हुआ इस का कोई हिसाब ही नहीं है। इस कोष को जमा करने के लिए भी बड़ी बड़ी चालें चली जाती हैं। प्रत्येक दल अधिकारालु होने पर अपने समर्थकों को उच्च-नौकरियाँ देने का प्रलोभन देता है। जिन को ऐसी नौकरियाँ मिल जाती हैं, उन के चेतन से एक निश्चित रकम कटती रहती है, जो दल के कोष में जमा होती है। इस के अतिरिक्त बड़े बड़े व्यापारी और व्यवसायी अपने हित सुरक्षित रखने के लिए इन दलों को भारी भारी रकमें देते हैं। धनी लोग मन्त्रिमण्डल में घुसने या बाहर के किसी देश में राजदूत होकर जाने के लिए भी बहुत रुपिया दिया करते हैं। दल के प्रत्येक सदस्य से कभी कभी इस के लिए कुछ चन्दा भी लिया जाता है। ‘मजदूर-सङ्घ’ तथा अन्य ऐसे सङ्घ भी, जो सरकारी सहायभूति प्राप्त करना चाहते हैं, राजनीतिक दलों से अपना सौदा पटायते हैं। कभी कभी एक बड़ा भोज दिया जाता है, जिस में प्रति तस्ती तीन तीन सौ रुपये तक चार्ज किया जाता है, इस में प्रति तस्ती तीन तीन सौ रुपये तक चार्ज किया जाता है, इस से भी बहुत रुपिया इकट्ठा हो जाता है। इन उपायों से

दलों के कोष बढ़ते हैं, जिन को निर्वाचन के अवसर पर खाली किया जाता है। यह सब है आजकल का लोकतन्त्र, जिस की हर समय दुहाई दी जाती है।

भारत में क्या देखा ?

गत वर्ष ईरानी ‘सांस्कृतिक मण्डल’ भारत आया था। उस का परिचय वर्ष ४ में हम दे चुके हैं। उस के नेता श्री अली असगर हिकमत ने अपने भारतयात्रासम्बन्धी अनुभवों का वर्णन गत ६ जून को तेहरान के एक साषण में दिया है। आप कहते हैं कि “प्राचीन समय में यह भावना फैली हुई थी कि भारत में विद्या और संस्कृति केवल पण्डितों तथा मौलवियों तक ही सीमित है और देखने योग्य वस्तु लम्बे बालों और नग्न शरीरवाले वे योगी और फकीर ही हैं, जो अपने चमत्कारपूर्ण कार्यों से जनता का मनोरञ्जन करते हैं। परन्तु शीघ्र ही हमारी आँखें खुल गयीं। हमने देखा कि संसार के विभिन्न विश्वविद्यालयों से एम. ए. और पी. एच्. डी. की डिग्रियाँ प्राप्त बहुत से विद्वान् तथा शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों का वर्ग देशभर में फैला है और बी. ए. की डिग्रियाँ प्राप्त करनेवाले व्यक्ति समाज के साधारण सदस्य माने जाते हैं।” यदि हम से पूछा जाय कि भारत में क्या है, तो हम यही कहेंगे कि भारत एक विशाल देश है और उस में विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त और कुछ हम ने देखा ही नहीं।” जब हम भारत पहुँचे, तब हम ने देखा कि वस्तुस्थिति उस के विरुद्ध भिन्न है, जिस की हम ने आशा की थी। हम ने एक अत्यन्त आधुनिक देश देखा, जो रेलों, जहाजों, कारखानों, हवाई अड्डों तथा वेतार के तार से पूर्ण रूप से सुसज्जित था।” हमारी समझ में इस यात्रा से भारत के सम्बन्ध में श्री अली असगर की ‘आँखें खुली’ नहीं बल्कि और ढँक गयीं। एक सांस्कृतिक मण्डल के नेता बनकर वे भारतीय संस्कृति देखने आये थे, पर उन्होंने ने देखा क्या—‘विदेशी प्रभावभञ्जित भारत।’ भारतीय संस्कृति की तो उन्हें कहीं झलक भी नहीं मिली। मिलती भी कैसे, वे आये थे विदेशी सरकार के अतिथि होकर और उन्होंने ने वही देखा, जो वह उन्हें दिखलाना चाहती थी। वास्तविक भारत क्या आधुनिक विश्वविद्यालयों, पी. एच्. डी. विद्वानों, दरदर भटकनेवाले बी. ए. उपाधिप्राप्तों, बड़े बड़े कारखानों, रेल, तारों और हवाई अड्डों में है ? जिन में है, उन के वे पास तक नहीं गये। पण्डित, मौलवी, फकीरों के प्रति घृणा का भाव लेकर वे पहले ही से आये, विदेशी सरकार ने केवल अपनी कर्तूतें दिखला दीं और ‘ईरानी सांस्कृतिक मण्डल’ यह सन्तोष करके चला गया कि हम ने भारत देख लिया। यह अच्छा सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ, जिस की डींग अली असगर ने भारत में होंकी थी।

सन्तान-वृद्धि !

रूस की सोवियट सरकार ने एक नयी आशा निकाली है, जिस के अनुसार स्त्रियों को अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिए कई प्रकार से प्रोत्साहन दिया गया है। गर्भिणी स्त्रियों के लिए अतिरिक्त रेशन दूना कर दिया गया है। पहले कानून के अनुसार सातवाँ बच्चा पैदा करने के बाद से प्रति बच्चा आर्थिक सहायता मिलती

थी। अब तीसरे बच्चे से ही यह सहायता मिलेगी और वह भी पहले से दूनों। कारखानों में काम करनेवालों को ६३ के बजाय ७७ दिन की छुट्टी मिलेगी। बच्चों के लिए अधिक शिशुशालाएँ खोली जायेंगी। उन की शिक्षा और मनोविनोद का भी पूरा प्रबन्ध किया जायगा। स्त्रियों से काम लेनेवाली संस्थाओं को काफी दाइयाँ रखनी पड़ेगी। 'अविवाहिता माता' अपने बच्चों को सरकारी शिशुशालाओं में रख सकेगी। पाँच या उस से अधिक बच्चों की माता को 'मातृत्व पदक' मिलेगा और १० या उस से अधिक बच्चों की माता 'वीरमाता' कहलायेगी। भारतस्थित रूसी प्रचारविभाग के गत १९ जुलाई के पत्रक में बतलाया गया है कि इस से रूसी माताएँ बड़ी प्रसन्न हैं। कई स्त्रियाँ 'वीरमाता' बनने की धुन में हैं। १२ बच्चों की एक माता ने लिखा है कि "अब मुझे सन्तान के साथ सम्पत्ति और सम्मान भी मिल रहा है। बड़े कुटुम्ब का पालन सहज नहीं है, पर मुझे सन्तोष है कि मैं सोवियट सङ्घ के भावी नागरिकों को बढ़ा रही हूँ।" एक कारखाने में काम करनेवाली स्त्रियों ने लिखा है कि "अब हम आर्थिक चिन्ता से मुक्त हो गयीं, इसलिए खूब काम करेंगी और सोवियट भूमि को सच्चे स्वदेशभक्त नागरिक प्रदान करेंगी।" रूस ही नहीं अन्य देशों में भी अधिक बच्चे जनने के लिए तरह तरह के प्रलोभन दिये जा रहे हैं। 'सन्तति-निरोध' की मूर्खता का अब अनुभव हो रहा है और बहुत दिनों तक पाश्चात्य देशों में अब उस का नाम भी न लिया जायगा। पर हमारे यहाँ के सुधारक अपने सुषों से भी आगे बढ़ना चाहते हैं और अब भी सन्तति-नियमन पर जोर दे रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारत की दूसरी बात है, वह गरीब देश है और उस की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ रही है। ठीक है, यदि वह गरीब देश है, तो उसे समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो कई प्रकार से किया जा सकता है। पर यदि जनबल क्षीण हो गया, तो आवश्यकता पड़ने पर वह तुरत तैयार नहीं किया जा सकता। फिर सब से बड़ी बात तो यह है कि इन पाश्चात्य भावों ने सन्तानोत्पत्ति को भी एक व्यवसाय बना, दिया जो आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। स्त्रियाँ अब सचमुच बच्चा जनने की मशीनें बन गयी हैं।

देश के साथ विश्वासघात

राजाजी तथा जिन्ना साहब से चुपके चुपके जो पत्र-व्यवहार चल रहा था, उस के प्रकाशन से पता लगता है कि देश के साथ कितना बड़ा विश्वासघात किया गया है। भारत के विभाजन की जो योजना बनायी गयी है, उसे गान्धी जी की भी स्वीकृति प्राप्त है। सावरकरजी ने ठीक ही कहा है कि 'भारत छोड़ो' के स्थान पर अब 'भारत का विभाजन करो' की पुकार उठेगी। गान्धीजी के दिमाग की प्रशंसा की जा रही है। कहा जाता है कि एक ही चाल से उन्होंने जिन्ना और सरकार को शह दे दी। विदेशी पत्र बड़े खुश हो रहे हैं कि अब भारत की राजनीतिक जिच दूर करने का मार्ग साफ हो जायगा। हम तो यही समझते हैं कि यह एक भारी षडयन्त्र है, जिस से हिन्दुओं को सावधान हो जाना चाहिए। कायदे-आजम द्वारा किये गये अपमान से किञ्चित् भी लज्जित न होकर राजाजी ने 'हिन्दू महासभा' को कड़ी फटकार सुनायी है। यद्यपि हम 'हिन्दू महासभा' की नीति के समर्थक नहीं हैं, तथापि इस अवसर पर सभी हिन्दू संस्थाओं को एक स्वर से इस कूटनीतिपूर्ण योजना का घोर विरोध करना चाहिए। हिन्दुओं की उदासीनता और सिधार्थ का लाभ उठाया जा रहा है। वे सब में विश्वास कर लेते हैं और अन्ततः धोखा खाते हैं। हम किसी

की नीयत पर सन्देह नहीं करते, पर विवश होकर हमें यह कहना पड़ता है कि हमारे नेता कहे जानेवाले लोग जो मार्ग हमें बतला रहे हैं, उस से किसी का भी हित न होगा।

श्रीविष्णुतत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

८

श्रीभगवान् तुर्य्य एवं तुर्य्यतीत रूप से निर्गुण, निष्क्रिय, निर्मल, निरवय, निरञ्जन, निराकार, निराश्रय, निरतिशयाद्वैत परमानन्दस्वरूप है। सन्देह हो सकता है कि शुद्धाद्वैत परमानन्द परब्रह्म में वैकुण्ठ, प्रासाद, प्राकार, विमानादि अनन्त वस्तुभेद कैसे हुए? यदि यह सब है, तो निर्विशेषाद्वैत कैसे? इस का समाधान यह है कि जैसे शुद्ध सुवर्ण में कटक, मुकुट, अङ्गदादि अनेक भेद होते हैं, जैसे समुद्र-जल में स्थूल-सूक्ष्म तरङ्ग, फेन, बुद्बुदादि भेद होते हैं, जैसे भूमि में पर्वत, वृक्ष, टण, गुहम, लतादि अनन्त वस्तु-भेद होते हैं, वैसे ही अद्वैत परमानन्द ब्रह्म में वैकुण्ठादि भेद उपपन्न हो जाते हैं। सब कुछ भगवान् का स्वरूप ही है, भगवद्भ्यतिरिक्त अणुभर भी कुछ नहीं है—“मत्स्वरूपमेव सर्वं मद्भ्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते।” परममोक्ष सर्वत्र एक ही है, फिर अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त आनन्द-समुद्रादि कैसे सङ्गत होंगे? इस शङ्का का समाधान यह है कि अविद्यापाद में ही जब अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड है, तब एक एक ब्रह्माण्ड में वैकुण्ठ तथा विविध विभूतियों में क्या आपत्ति है? फिर तीनों पादों के वैकुण्ठों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? निरतिशयानन्दाविर्भाव मोक्ष है, यह त्रिपाद ब्रह्म में सर्वदा प्रकट रहता है। वह पादत्रय ही परम वैकुण्ठ एवं परम कैवल्य है, इसलिए अविद्या, विद्या, आनन्द और तुर्य्य, इन चारों पादों में अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त आनन्द-समुद्रादि ठीक ही हैं। इसतरह उपासक परमवैकुण्ठ में पहुँचकर, भगवान् का ध्यान करके निरतिशयाद्वैत परमानन्दस्वरूप होकर, सावधानी से अद्वैतयोग में स्थित होकर, अद्वैत परमानन्द का अनुसन्धान करके स्वयं शुद्ध बोधानन्दस्वरूप होकर, महावाक्य का स्मरण करता हुआ अपने आत्मा को ब्रह्म और ब्रह्म को आत्मा समझ लेता है, अपने को ब्रह्म में होम देता है। फिर 'अहं ब्रह्म' की भावना से निस्तारङ्ग, अद्वैत, अपार निरतिशय सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जो इस मार्ग से सम्यक् अभ्यास करता है, वह अवश्य ही नारायण हो जाता है। 'त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्' में इस विषय पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन है, यहाँ तो उस का सारांश मात्र ही दिया गया है। लोक-लोकान्तरो एवं भगवद्विग्रह-विलासादि यहाँ साम्प्रदायिक वैष्णवों एवं शैवों से भी सुन्दर है। विशेषतः यह है कि यहाँ अद्वैत-सिद्धान्त के पोषण में पूर्ण ध्यान रखा गया है।

शुद्ध सत्त्वमयी शक्तिसंस्पृष्ट, चिदानन्दप्रधान तत्त्व में अनन्तानन्त वैकुण्ठादि का सभी तारतम्य मान्य है। शक्त्यतीत तत्त्व सर्वथा निराकार, निर्विकार, निर्विशेष ही है। शक्ति की अनिर्वचनीयता के कारण वस्तुतः शक्तिसंस्पृष्ट भी सर्वदा, सर्वथा सर्वातीत ही है, अतः वह सर्वदा, सर्वथा, सर्वदेश, काल एवं वस्तुओं से अतीत है। इसीलिए उस से व्यतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है, सब कुछ वही है। इसी दृष्टि को लेकर पुराणों में भगवत्त्वों एवं स्वरूपों का वर्णन है। श्रीभागवत में श्रीकृष्ण-प्रदर्शित विभूतियों में ब्रह्मा को अपरिगणित विष्णु परिलक्षित हुए थे और उन सभी को मूर्तिमान् चतुर्विंशति तत्त्वों से उपासित बतलाया है और सभी को सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरस बतलाया है—“सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसमूर्त्यः। अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि धूपनिषद्दशाम् ॥” अर्थात् वे सभी स्वरूप सत्यज्ञान-

नन्तानन्दैकरसमूर्ति ही है। जैसे शैत्य के कारण निर्मल जल ही बर्फ बनता है, वैसे ही विशुद्ध सत्व के कारण निर्मल, निर्विकार, एकरस ब्रह्म ही उन मूर्तियों के रूप में व्यक्त है। पुनश्च, वे ऐसे महामहिम-बैभवशाली स्वरूप थे, जिन के बहुत से माहात्म्यों को, और तो क्या, उपनिषद्दर्शी भी नहीं स्पर्श कर सकते। ठीक ही है, भगवान् के अनन्त माहात्म्य को सामस्येन कोई भी नहीं जान सकता। अनन्त होने से भगवान् भी उन का अन्त नहीं पा सकते। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार श्रीप्रबोधानन्दसरस्वती ने वृन्दावन-शक्तों में श्री-वृन्दावनधाम को चिदानन्दमय कहा है। वहाँ के प्रत्येक वृक्षों, लताओं, दूर्वाओं एवं तृणों को भी अपार महिमा कही गयी है, सब वस्तुओं को केवल परमानन्दसुधासमुद्र का विलास कहा है। इतने से ही कुछ साम्प्रदायिक कहने लगते हैं कि उन्होंने अद्वैत-सिद्धान्त को छोड़कर मतान्तर का ग्रहण कर लिया है। परन्तु जो अद्वैत-सिद्धान्त से परिचित हैं, वे जानते हैं कि इसतरह का वर्णन अद्वैतवाद को छोड़कर अन्यत्र कहीं बन ही नहीं सकता। "ते ब्रह्मलोकेषु परान्त-काले" इस श्रुति में "ब्रह्मलोकेषु" इस बहुवचन से यही मालूम पड़ता है कि सविशेष ब्रह्मलोक एक ही नहीं, किन्तु बहुत हैं। दूसरे यह भी मालूम पड़ता है कि सर्वमूर्धन्य, सर्वोत्कृष्ट लोक ही शैवों को परम शिवलोक के रूप में, वैष्णवों को परम वैकुण्ठ के रूप में, कृष्णभक्तों को गोलोकधाम के रूप में, रामभक्तों को साकेतधाम के रूप में, परम शक्तों को मणिद्वीप के रूप में, भासमान होता है। सगुण, सविशेष ब्रह्म के उपासकों को उन के इष्टदेव के रूप में भासमान होता है। वही निर्गुण विष्णुतत्त्व ज्ञानवालों को निर्विशेष ब्रह्म के रूप में प्रत्यक्ष होता है।

कुण्ठित नहीं होते—स्थूलबुद्धि उन को असत् मानते हैं—वह कैसे बीजभाव को प्राप्त होगा ? बीजभाव प्राप्त न होने के कारण बीजभाव से अङ्कुर की भी सम्भावना कैसे होगी ? उस अतिसूक्ष्म निजबोधरूप परमात्मा में कुछ भी नहीं रह सकता। आतप में छाया के समान चैतन्यरूप परमात्मा में जड़ वस्तु का अवस्थान नितान्त ही असम्भव है। अतः सूर्य में अन्धकार, अग्नि में हिम, परमाणु में सुमेरु की स्थिति के समान उस निराकार ब्रह्म में किसी स्थूल वस्तु का रहना विलकुल ही असम्भव होता है। इसीलिए भगवान् श्री वशिष्ठजी ने कहा है—“इदं बीजेऽङ्कुर इव दृश्यमास्ते महाशये । ब्रूते य एवमज्ञत्वेतत् तस्यास्ति शैशवम् ।” (यो० वा० स्थिति० प्र० स० २१) अर्थात् महाप्रलय में यह दृश्य जगत्, बीज के अन्दर अङ्कुर-स्थिति के समान, ब्रह्म में रहता है, ऐसा कहनेवाला नितान्त अज्ञ है। ऐसे सिद्धान्त नितान्त असङ्गत और अलीक हैं। अतः ब्रह्म को ही जगत्कार्य का कारण माननेवाला अपनी मूढ़ बुद्धि का ही परिचय देता है—“कार्यस्य तत्कारणतां प्रयातं वक्षति यस्तस्य, विमूढोऽथः ।” जो कहते हैं कि ब्रह्म अवश्य ही सत् है, परन्तु जगत् असत् होने पर भी, सत् के अन्दर ही था, नहीं तो कैसे आता ? ब्रह्म निर्मल है, परन्तु निर्मल ब्रह्म में समल जगत् रहता है, चैतन्य में जड़ रहता है, अन्यथा कहां से आता, वे तत्त्वदर्शी नहीं हैं। कार्य-कारण-भाव ब्रह्म में नहीं है। जगत् निष्कारण है। रज्जु में सर्पप्रभ भ्रममात्र ही है, वहां सर्प तीन काल में भी नहीं है, केवल रज्जु ही सदा विद्यमान है।

‘भारतीय शासन-योजना’ पर मन्तव्य

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेजरी)

४

सदसद्-विचार

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

२

अच्छा, यदि कहा जाय कि सृष्ट होने के पूर्व जेसे अपने कारण मिट्टी के अन्दर घट का अस्तित्व था, वैसे ही कल्पकाल में जगत्, बीज के अन्दर अङ्कुर-स्थिति के समान, ब्रह्म में स्थित रहता है, क्योंकि जिस पदार्थ का सर्वथा ही अभाव है, वह कहीं से, किसीतरह भी नहीं आ सकता। क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कल्पान्त में ब्रह्म में बीजरूप से स्थित जगत् ही पुनः, बीज से अङ्कुरोद्गम के समान, उत्पन्न होता है ? इस का उत्तर है कि नहीं, यहाँ ‘बीजाङ्कुरन्याय’ का दृष्टान्त ही भ्रमात्मक होने से विचारसह नहीं है। बीज इन्द्रियगोचर वस्तु है, अतः उस से दृश्य पत्राङ्कुरोद्भव युक्ति-युक्त हो सकता है। परन्तु अदृश्य ब्रह्म से दृश्य जगत् कैसे उत्पन्न होगा ? आकाश अति सूक्ष्म है, इसलिए वह सम्पूर्ण वस्तुओं में अन्तर्बाध व्याप्त रहता है। परन्तु, आकाश में सुमेरु पर्वत खड़ा है अथवा आकाश में समुद्र-तरङ्ग उठ रहा है, ऐसा मानना कैसे सम्भव हो सकता है ? जब यही असम्भव है, तब सूक्ष्म से भी सूक्ष्म-तर, आकाश से भी अतिसूक्ष्म परमात्मा में यह बृहत् जगत् कैसे रह सकता है ? साकार वटबीजादि में अङ्कुर का रहना युक्तिसिद्ध है, परन्तु निराकार ब्रह्म में महदाकार जगत् का रहना नितान्त अयौक्तिक है। इस पर यदि कहा जाय कि ब्रह्म ही बीजभाव को प्राप्त होता है, तो ऐसा कहना भी युक्ति के विरुद्ध ही है, क्योंकि जो स्वयम्भू आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होने के कारण मन का भी अगोचर है, वह बीजता को प्राप्त कैसे होगा ? वह अद्वितीय सूक्ष्मतम परमात्मा इतना सूक्ष्म है कि असद्-बुद्धि उस को ‘नास्ति’ कहने में

(२) अब हम दूसरे विषय की चर्चा करते हैं। इस समय कहा जाता है कि प्रजातन्त्रवाद का जमाना है और कई लोग तो उसे महायुद्ध के एक प्राप्तव्य लक्ष्य के रूप में भी बतलाते हैं। नवीन शिक्षादीक्षितों को उस प्रकार के तन्त्र की ही महिमा विशेष रूप से पढ़ायी गयी है, इसलिए उन के दिल में वही स्थान किये होती है। इस लोकशासनवाद में कई एक मौलिक अपसिद्धान्त और महा हानियाँ हैं, उन में के कुछ मुख्य का उल्लेख यहां किया जाता है—
(क) इस प्रकार के शासन में प्रतिनिधियों के द्वारा शासन कराया जाता है। एक व्यक्ति दूसरे का प्रतिनिधित्व शायद ही कर सके, फिर हजारों व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व केवल मान लेने की ही बात है। वस्तुस्थिति इस से भिन्न ही होती है और इसीलिए किसी जुलमी राजा को भी स्वप्नसृष्टि में न आये, उतने कर, उतने ऋण और उतने व्यय लोकतन्त्र राज्यों में हुए चले जाते हैं। मुंह बाँधकर प्रतिनिधियों द्वारा लोगों को लूटने की यह एक पद्धति है। (ख) ऐसे लोकशासन में संख्या से ही निर्णय होता है, सिद्धान्त से नहीं। सत्य भी बहुधा पृथक् रह जाता है। कहा जा सकता है कि ऐसे शासनविधान को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति सब सिद्धान्तों की पहले से ही तिलाञ्जलि दे देते हैं। (ग) ऐसे शासन में बहुमतपक्ष यदि अपनी भ्रान्तियों के विषय में आप्रही हो, तो वह अल्पसंख्यक मत पर अनेक प्रकार के बलात्कार का उपयोग करता है और कर सकता है, उन के धर्म तथा संस्कृति तक का विनाश कर सकता है। (घ) ऐसे लोकशासन में किसी सिद्धान्त की स्थिरता कायम नहीं रहती और इस से समाज, सदाचार और नीति के आदर्श अस्तव्यस्त हो जाते हैं। (ङ)

ऐसा लोकशासन अधिक से अधिक अनुत्तरदायी शासन है और उस के दुष्कृत्यों के आगे कोई उत्तम इलाज ही नहीं है। उस में उत्तरदायित्व का प्रदर्शन होते हुए भी वह बहुत से व्यक्ति और बहुत सी विचारधाराओं में विभक्त हो जाता है। बहुत हुआ, तो पुनः निर्वाचन होता है, जिस में भी वह पक्ष यदि सबल हो, तो फिर से वही की वही स्थिति खड़ी हो जाती है। (च) इस लोकशाही राजतन्त्र में अधिक से अधिक चालाक, जबर्दस्तीवाले और अपकृष्ट नीतिवाले मनुष्य सफलता प्राप्त करते हैं और कई बार तो गुण्डे लोग अधिनायक (डिक्टेटर) बन बैठते हैं। इन्हींतरह यूरोप के अनेक देशों में लोकशाही के सन्तान के रूप में अधिनायकता आयी थी। लोकतन्त्रता और अधिनायकता की लड़ाई को वाप-वेटे की लड़ाई कहा जा सकता है। (छ) भारतवर्ष ऐसे अनेक संस्कृतियाँ और अनेक धर्मवाली जातियों के अस्तित्ववाले देश में ऐसी लोकशाही परस्पर वैमनस्यो को उत्पन्न करती है और प्रजा पर परायी सत्ता एवं हस्ताक्षेप को आवश्यक या स्थानापन्न करती है। इन सब दुष्परिणाम तथा अपसिद्धान्तों से बचने के लिए राजसत्ता का तन्त्र ऐसी सत्ता के हाथ में रहना चाहिए। पक्षपात से परे रहे या रह सके, ऐसी लोकशाही के हाथ में वह नहीं ही रहना चाहिए, जिस का सारा दारोमदार पक्षपात की दैनन्दिन लड़ाइयों पर ही हो, क्योंकि उस से दूसरा एक महान् अनिष्ट यह होता है कि समूची प्रजा अधिक उच्चतर आदर्शों से गिरकर राजतन्त्र की ही प्रधानतया उपासना करने लगती है और उस का धीरे धीरे, जैसा कि यूरोप में हुआ है, पतन होता है। राजसत्ता ऐसी होनी चाहिए कि वह पक्षपात से दूर रहे, उस का उत्तरदायित्व निर्दिष्ट किया जा सके और उस को संयमित किया जा सके। इसलिए बड़े राज्यों में प्राचीन समय से वृषसत्तातन्त्र लगभग सर्वत्र स्वीकृत किया गया है। हमलोगों के प्राथमिक मौलिक सिद्धान्त के अङ्ग में राजा का कर्तव्य ही यह है कि उसे धर्मों का रक्षण करना, प्रजा को अपने अपने धर्म में रखना और समस्त प्रजा के प्रति धर्मानुसार वर्तन करना चाहिए। इस तरह राजा प्रजा का 'डिक्टेटर' नहीं, किन्तु धर्म के आदेशों की रक्षा करनेवाला ईश्वर का प्रतिनिधि बनकर रहता है। अपने कर्तव्य से यदि वह च्युत हो, तो प्रजा इसे समझ सकती है और ऐसी स्थिति में उसे उचित मार्ग पर लाने अथवा जो योग्य हो, उसे करने के साधनों की अपेक्षा है, जिन्हें इस योजना में रखा गया है। इस योजना के अनुसार प्रान्तों के ऐसे सत्ताधीश राजकुटुम्बों से निर्वाचित होने के कारण भारतीय क्षात्र तेज सुसज्ज, सुशिक्षित और शक्तिशाली होता जायगा और प्रत्येक राजा के लिए एक प्रान्त का राजा होना सम्भव होने से उन में लोकहित की इच्छा और अच्छे बनने की स्पर्धा बढ़ेगी। इन अधिकारियों का नाम 'गवर्नर' के बजाय राजा या महाराजा रहेगा, अतः सम्पूर्ण भारत का अनेक राज्यों वाला समूहतन्त्र स्वाभाविक तथा सरस होगा। इस में मुसलमान भी यदि राजा या नवाबरूप में किसी राज्य में नरेन्द्रमण्डल की नियुक्ति करें, तो हो सकेगी, अतः पाकिस्तान की माँग अपने आप खान्त हो जाने की सम्भावना खड़ी होगी। इस समय भी भारत में मुसलिम राज्य और प्रधानमण्डल है, अतएव यह कोई नयी बात नहीं है। स्थापित संस्कारिता तथा वर्तमान संस्कृतियों के संरक्षणार्थ—यह जानी हुई बात है कि—देशी राज्य वर्तमान स्थिति में अधिक से अधिक उपयोगी हो सकते हैं। लोकतन्त्र के नित्य बदलते रहनेवाले प्रधानमण्डलों से यह सिद्धि नहीं हो सकती, इतना ही नहीं, परन्तु परस्पर के सङ्घर्ष में, एक दूसरे का खण्डन करने में—अनुभव से ज्ञात होता है कि—उन का बल निरर्थक प्रयुक्त होता है।

(३) इस से अब हमारी योजना का तीसरा विषय सहज ही विचारार्थ उपस्थित होता है। 'अखिल भारतीय वर्णाश्रम स्वराज्य सङ्घ' के अध्यक्ष रायबहादुर श्री सदाशिव माधव पराण्डे ने भी भारत-सरकार के केन्द्रीय अधिकार को नरेन्द्र-मण्डल में अर्पित करने की सरलता, योग्यता तथा स्वाभाविकता को अयोध्यावाले अपने अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण में बतलाया था। हम जानते हैं कि श्री दूरकाळजी की योजना में इस प्रकार की सूचना की गयी, उस के पहले नरेन्द्रमण्डल को ऐसा अधिकार सौंपने की माँग किसी ने नहीं की है, बल्कि श्री जवाहिरलाल नेहरू ऐसे कई लोगों ने राजाओं को तो इस जमाने में अनुपयुक्त सा बतलाया है। लोग इस आन्ति में, कि हमारे हाथ में अधिकार आ जायेंगे, राजाओं के विरुद्ध आक्षेपों में हों हों मिला देते हैं और राज्य के प्रति द्वेष रखनेवाले व्यक्ति उस में नेतृत्व करते हैं। लोकतन्त्र की हानियों के सम्बन्ध में हम पीछे बतला चुके हैं, इसलिए फिर पिछपेपण की आवश्यकता नहीं है। राजतन्त्र या वृषतन्त्र ही हमारे इतिहास में दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही शास्त्रप्रस्तावित, लोकहितावह एवं प्राचीनकालानुमोदित है। राजाओं से उन्हें योग्य बनाकर काम लिया जा सकता है और लोक-प्रतिनिधि तो जैसे हों, वैसे अपना बल आजमाना चाहते हैं। जब राजा को वास्तवस्था से सुशिक्षित किया जाता है, तब प्रतिनिधि तो संस्कार या कुसंस्कार, जिस का वह वाहक हो, वैसा वह समाज पर झमता रहता है। प्रजातन्त्र में युद्ध—प्रजा का ही उत्तरदायित्व होने से—प्रजा को अधिक कष्टदायक, तीव्र और विस्तृत द्वेषवाले हो पड़ते हैं। सेना और नागरिक का अन्तर प्रायः टूटने लगता है। प्राचीन राजाओं में होनेवाले और आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक कहे जाने-वाले राज्यों में होनेवाले युद्धों की तुलना से यह बात सहज ही समझ में आ जायगी। इसतरह जनता में वैमनस्य की वृद्धि न हो, इसलिए उत्तरदायित्व सुनिश्चित होने के लिए और लोगों के मरने की आशङ्का कम हो, इसलिए वृषतन्त्र ही पसन्द करने योग्य है। इस समय सत्ताधीशों का नरेन्द्रमण्डल पर विश्वास है, राजालोग स्वयं राज्य चलाते हैं, इसलिए वे राज्य-सञ्चालन से परिचित हैं, वे भारतीय हैं और राजाओं से ही ब्रिटिश सरकार ने राज्य हस्तगत किये हैं, इसलिए भारत का राजभार उन्हें सौंपा जाना न्यायसङ्गत भी है। हमारी योजना में यह केन्द्रीय, अमली, (व्यवहारार्ह) और सहज बोधगम्य विषय है। मुसलमानों का जोर जैसे 'पाकिस्तान' पर है, वैसे ही हिन्दुओं का जोर इस विषय पर पड़ना उचित है। अंशतः सम्भव है कि राजालोग स्वयं ही ऐसा उत्तरदायित्व लेना अस्वीकार करें, किन्तु यदि ब्रिटिश भारत की जनता वैसा चाहे, तो यह भी सम्भव है कि वे वैसा उत्तरदायित्व स्वीकृत कर लें। प्रजा तो उन पर वैसा उत्तरदायित्व कर्तव्यरूप से स्नेह के साथ और अधिकारपूर्वक रख सकती है। वर्तमान धर्महीन, शिथिल नीतिमय, उद्दाम वातावरण में जब अधिकार का मुकुट 'कौटेदार ताज' ही होता है, तब उसे वहन करने के लिए उन से कहना उन पर अनुग्रह नहीं, अपितु कर्तव्यादेश है। हमारे राजाओं के ओर की हमारे नवशिक्षितों की अरुचि पाश्चात्य विचारों की गुलामीका बड़े से बड़ा दाग है। तटस्थ पाश्चात्य प्रेक्षक भी देख सके हैं कि हमारे राजा हमारी संस्कृति के विशिष्ट स्तम्भ या केन्द्रस्थान हैं। हो सकता है कि इस के कुछ अपवाद भी हों, पर उस से सिद्धान्त बाधित नहीं होता। यह हम से तिरोहित नहीं है कि हमारे देशवासियों पर एवं देशी राजाओं पर अनेक बुरे प्रभावाँ के लिए उन की पाश्चात्य शिक्षा उत्तरदायी है।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

ब्रिटिश चुनाव के हतकण्डे

ब्रिटेन में पहले बड़े मजेदार चुनाव हुआ करते थे। उम्मीदवार को प्रत्येक निर्वाचक के घर जाकर अपने लिए वोट देने की प्रार्थना करनी पड़ती थी। एक नगर में २००० निर्वाचक थे, वेचारे ग्लैडस्टन को हर एक के यहाँ पाँच पाँच बार जाना पड़ा था। उन दिनों यह कहावत थी कि "प्रेमिका के बाद दूसरा नम्बर निर्वाचन-क्षेत्र का ही है, जिसे तरह तरह के उपायों से वश में रखना पड़ता है।" स्त्रियों को तब वोट देने का अधिकार न था, पर उन का प्रभाव अपने पतियों पर तो पड़ता ही था, इसलिए उन को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना पड़ता था, इस में कभी कभी चुम्बन की भी आवश्यकता पड़ जाती थी। जब यह अनुचित जान पड़ने लगा, तब वृत्तों के खेलने और प्यार करने की चाल चल पड़ी, जिस में उन के माता-पिता पर कुछ प्रभाव पड़े। उन दिनों निर्वाचकों को बिना कुछ नजर किये काम न चलता था। सन् १८०६ में ५ गिनियाँ भेंट करनी पड़ती थीं। एक बार किसी के मुकाबले में लाई काकरेन हार गये, जिस शहर से वे खड़े हुए थे, वहाँ उन्होंने ने डुग्गी पिटवा दी कि "जिस ने उन्हें वोट दिया हो, वह उन के यहाँ से १० गिनियाँ ले ले।" हार में रुपया बौटना नयी बात थी, अगले चुनाव में वे जीत गये। निर्वाचकों ने सोचा कि जब हार में १० गिनियाँ मिली थीं, तब जीत में २० तो अवश्य ही मिलेंगी। पर वे अपना सा मुँह लेकर रह गये। लाई काकरेन ने जवाब दिया कि "मैं वोट के लिए घूस नहीं दिया करता।" अगले चुनाव में उन को एक भी वोट न देकर निर्वाचकों ने अपना पूरा बदला चुका लिया।

कभी कभी निर्वाचक चतुर उम्मीदवारों को खूब छकाया करते थे। एक छोटे से गाँव में १० निर्वाचक रहते थे, उन के वोट का मूल्य २० पौण्ड (उस समय का ३०० रुपया) वैधा हुआ था। एक उम्मीदवार ने वहाँ के पादरी से कहा कि "जरा इन भले आदमियों को समझाओ कि यह कैसी बुरी प्रथा है।" दूसरे दिन उन्होंने एक निर्वाचक से पूछा कि "पादरी साहब के उपदेश का क्या प्रभाव पड़ा?" उस ने उत्तर दिया कि "वोट का मूल्य दूना हो गया। पहले तो हमलोग २० पौण्ड लिया करते थे, अब मालूम हुआ कि वोट बेचना पाप है, फिर भला ४० पौण्ड से कम में हमलोग ऐसा काम कैसे कर सकते हैं?" कभी सीधे सीधे घूस न देकर दूसरे उपायों से निर्वाचक प्रसन्न किये जाते थे। सन् १८२६ में एक निर्वाचक कुञ्जड़े से किसी उम्मीदवार ने १० पौण्ड में २ गोभी खरीदे थे। निर्वाचन के दिनों में उम्मेदवारों को नये नये शौक लग जाते थे और वे तरह तरह की चीजें मनमाने दाम पर निर्वाचकों से खरीदा करते थे। शराब की तो नदियाँ बहा दी जाती थीं। सन् १८३१ के निर्वाचन में लाई एशले का २,३४,९०० रुपया खर्च हुआ था, जिस में १,८७,७५ रुपये की केवल शराब आयी थी। और कुछ नहीं तो शराब, कबाब और डबल रोटी से निर्वाचकों का सत्कार अवश्य करना पड़ता था। इसलिए निर्वाचनों में बड़ी रकमें खर्च हुआ करती थीं। सन् १८८० के निर्वाचन में ४०, ५०, १००, ००० रुपये खर्च हुए थे। इस तरह वोट पीछे १२ रुपये का औसत पड़ता था। अब यह मजा जाता रहा। पार्लमेण्ट ने बड़े बड़े कानून बना दिये हैं, जिन के अनुसार किसी निर्वाचक को एक सिगरेट भी देना अपराध है। सन् १९१८ के एक कानून से खर्च की रकम निश्चित है। देहात में वोट पीछे ७ और शहर में ५ आने से अधिक खर्च न होना चाहिए। परन्तु ये सब कानून सूखते ही रहते हैं और आजकल भी किसी न किसी रूप में यह व्यापार चलता ही रहता है। अब उम्मीदवार सार्वजनिक कार्यों में बड़ी बड़ी रकमें देकर निर्वाचकों की सहायभूति प्राप्त करते हैं। पहले 'क्लिग' और 'टोरी' नाम के दो मुख्य दल थे, जो आजकल 'लिबरल' (उदार) और 'कंजर्वेटिव' (अनुदार) दल के नाम से प्रसिद्ध हैं। पार्लमेण्ट में इन दो दलों में जिस

की अधिकता होती थी, उसी के हाथ में शासन रहता था। अब 'लिबर' (मजदूर) दल ने अपनी टाँग अड़ा दी है। फिर इन दलों में भी कितने भेद हो गये हैं और स्त्रियों का भी प्रवेश हो गया है। फिर भी पार्लमेण्टरी शासन-यन्त्र यथापूर्व चल रहा है। इस का मुख्य कारण है वहाँ के राजनीतिक दलों का सङ्गठन। उन की केन्द्रीय समितियाँ बनी हुई हैं, जिन का सदस्यों पर पूरा शासन रहता है। स्थान स्थान पर इन की शाखाएँ खुली हैं, जो प्रचारकार्य किया करती हैं। निर्वाचकों की सूचियाँ बड़ी सावधानी से देखी जाती हैं, जिस में किसी का नाम छूट न गया हो। हाथ में शासन आने से क्या क्या करना होगा, मन्त्रो-परिषद में किस को रखना होगा, यह सब बातें पहले से ही निश्चित रहती हैं। प्रतिनिधि अपने निर्वाचन-क्षेत्र का दौरा किया करते हैं, जिस में निर्वाचकों से उन का सम्बन्ध होता रहे।

अब भी निर्वाचन में उन को सफलता प्राप्त करने के लिए काफी धन खर्च करना पड़ता है। परन्तु अब अपने अपने दलों से इस में बड़ी सहायता मिलती है। हर एक दल अपना कोष रखता है। जो इस में बड़ी रकमें देते हैं, उन का हाथ इस की सञ्चालन-नीति में रहता है और दल के शासनाह्व होने पर वे उपाधियों से सम्मानित किये जाते हैं। भूतपूर्व प्रधान सचिव लायड जार्ज ने उपाधियाँ वेंच वेंचकर अपने दल के लिए बड़ा रुपया इकट्ठा किया था। लाई नार्दम्बरलेण्ड का कहना है कि उस समय 'बैरन' की उपाधि के लिए ३,७५,००० से ६,००,००० और 'नाइट' की उपाधि के लिए १,५०,००० से १,८०,००० रुपये तक देने पड़ते थे। कितने ही 'बैरन' और 'नाइटों' के अतिरिक्त उन दिनों ८७ नये नये लाई बनाये गये। उपाधि-वितरण में आजकल 'कंजर्वेटिव' दल का हाथ ऐसा खुला नहीं है, पर मजदूर-दल का, जो सब से गरीब है, कहना है कि 'कंजर्वेटिव' दल ने अब भी धनिकों को आगे कर रखा है। आजकल भी पार्लमेण्ट के १७७ 'कंजर्वेटिव' सदस्यों का देश की बड़ी बड़ी कम्पनियों से सम्बन्ध है, इस के अतिरिक्त इस दल ने अपनी नीति में संरक्षण पर जोर देकर बड़े बड़े व्यापारियों को अपने जाल में फँसा रखा है। पार्लमेण्ट के सदस्यों को ६००० रुपया वार्षिक वेतन मिलता है, जो निजी खर्च के लिए ही काफी नहीं होता। राजनीतिक कार्य के लिए उन्हें अपने दलों से सहायता मिलती है।

इन दलों का प्रचारकार्य खूब होता है, सन् १९२९ के निर्वाचन में 'लिबरल दल' ने, जो अब गिरी हालत में है, १००० वक्ताओं और १०,००० सभाओं का आयोजन किया था। उन दिनों यह दल ५००,००० पर्वे रोज छापता था। 'कंजर्वेटिव' दल ने ३,००,००,००० निबन्धों तथा पत्रों से देश को भर दिया था। सन् १९३५ के निर्वाचन में ३,००,००,००० रुपया खर्च हुआ था, जिस में से ५०,००,००० रुपया सिर्फ छपाई में लगा था। इस निर्वाचन-साहित्य का बाकायदा सूचीपत्र बना रहता था, जिस में उम्मीदवारों को आवश्यक विषय पर पूरा मसाला मिल सके। 'कंजर्वेटिव' दल ने 'वक्ताओं और कार्यकर्ताओं के लिए 'नोट' नामक ४३७ पृष्ठों की एक पुस्तक छाप रखी है, जिस में उम्मीदवार के जानने योग्य सभी विषय विस्तार से समझाये गये हैं। अन्य दलों ने भी ऐसी पुस्तकें निकाल रखी हैं। इन से सभाओं में प्रश्नों का चटपट उत्तर देने में उम्मीदवार को बड़ी सहायता मिलती है। निर्वाचन-सभाओं में वक्ता की हाजिरजवाबी का श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

सर्वत्र लोकतन्त्र के नाम पर ऐसे हतकण्डे चला करते हैं। इन में कितना धन उड़ता है और अन्त में शासन एक दल के हाथ में ही रहता है। क्या यह लोक को धोखा देना नहीं है?

बड़ोदे में 'एक स्त्री-विवाह-कानून' रह

सुधार के जोम में आकर बड़ोदा में एक कानून बना दिया गया था कि कोई व्यक्ति एक पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह नहीं कर सकता। परन्तु महाराज बड़ोदा ने प्रथम महाराजों के जीवित रहते हुए भी दूसरा विवाह करके इस कानून की स्वयं उपेक्षा की, जिस की चर्चा हम गतवर्ष अङ्क ४६ में कर चुके हैं। अब वहाँ की असेम्बली में 'एकपत्नी-विवाह-कानून' का संशोधन किया जा रहा है। हाल ही में इस पर वहाँ जो बहस हुई, उस में कहा गया कि कई अवस्थाओं में एक पत्नी के जीवित रहते हुए भी दूसरा विवाह करना आवश्यक हो जाता है। इस के लिए कानूनी सुविधा होनी चाहिए। सरकार की ओर से वचन दिया गया है कि कुछ संशोधनों के साथ दूसरा बिल अगले अधिवेशन में पेश किया जाय। 'राव कमेटी' ने अपनी रिपोर्ट में बड़ोदा राज्य के सुधारों का उल्लेख किया था। अब इस नये सुधार पर उस का क्या कहना है? सब से पहले ऐसेविषयों को कानून की परिधि में लाना ही मूल है। इन में तो जैसी व्यवस्था चल रही है, वैसी ही चलने देना चाहिए, केवल देखना यह है कि किसी प्रथा का दुरुपयोग न होने देना चाहिए। परन्तु आजकल तो बिना समझे-बूझे कानूनों द्वारा नये सुधार होते रहते हैं और फिर उन में तुरन्त ही संशोधन करने पड़ते हैं। बड़ोदे का तो मामला ही दूसरा है, वहाँ के महाराजा साहब ने प्रजा के सामने जो आदर्श रखा है, उस का परिणाम तो आगे देखने में आयेगा।

गांधीजी और 'हिन्दू उत्तराधिकार बिल'

मेरठ के 'आदेश' पत्र के सम्पादक ने गान्धी जी को एक पत्र लिखा था, जिस में उन्होंने ने यह जानना चाहा था कि क्या गान्धी जी की सम्मति में कांग्रेस द्वारा इन धर्मविरोधी बिलों का समर्थन उचित है? इस पर गान्धी जी के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री प्यारेलाल जी का एक पत्र उन्हें प्राप्त हुआ है, जिस में लिखा था कि "फिलहाल गान्धी जी इस प्रकार के प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट नहीं करते। उन का स्वास्थ्य अभी उतना अच्छा नहीं है।" आजकल प्रायः प्रतिदिन ही पत्रों में गान्धी जी का एक न एक वक्तव्य निकलता रहता है। देश-विभाजन की योजनाएँ तैयार हो रही हैं, जटिल प्रश्नों पर विचार चल रहे हैं, तब केवल इसी विषय पर विचार करने के लिए गान्धी जी के पास अवकाश नहीं है। इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं, या तो गान्धी जी की राय में यह प्रश्न गौण है या वे इस पर अपना मत प्रकट करना नहीं चाहते। इन बिलों का हिन्दू सामाजिक जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। गान्धी जी के मत का हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं, पर जो लोग उन का मत जानना चाहते हैं, उन के सन्तोषार्थ गान्धी जी को अपना मत अवश्य प्रकट करना चाहिए? अब उन के स्वास्थ्य में भी काफी सुधार हो गया है, इसलिए स्वास्थ्य ठीक न होने के बहाने इस प्रश्न को नहीं टाला जा सकता।

भगवान् कृष्ण और उन के परिकर

(श्री स्वामी करपात्री जी)

१

एकवार जब महाविष्णु सच्चिदानन्द रामचन्द्र द्विज-देव-समुद्धारण की कामना से वन में गये, तब वहाँ मुनियों का दर्शन किया। मुनिलोग उन के रूप को देखकर मोहित हो उठे। वह ऐसा लोकोत्तर स्वरूप था कि खग, मृग, पशु, पक्षी, तरु, लता तक दर्शन एवं स्पर्श से विभोर हो जाते थे। कहा जाता है कि अतिशूर प्रकृति के खर, दुष्ण प्रभृति भी भगवान् के रूप को देखकर मोहित हो गये थे, क्रोधावेश एवं वीर रस के उत्तेजक अवसर पर, भगिनी के नाक-कान काटे जाने पर भी रामचन्द्र की मूर्ति को देखकर वे मोहित हो उठे थे। महात्मा तुलसीदासजी के शब्दों में उन का यह कथन था—“यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूप, वधलायक नहिं पुरुष अनूपा।” यद्यपि इन्होंने हमारी बहन के नाक, कान काटकर कार्य बड़ा अनुचित किया है, तथापि इतने अनुपम, सुन्दर पुरुष है कि मारने लायक नहीं है। ठीक है—“कहहु सब्बी अस को तनुबारी, जो न मोह यह रूप निहारी।” पुरुष-सौन्दर्याविधारणपरायण नारीवर्ग का मोह होना उचित ही था, परन्तु पुरुष भी, वह भी साधारण नहीं, महानिःस्पृह वनवासी, तपस्वी-मुनि भी

वृन्द भगवान् के रूप पर मोहित हो उठा, अपने मोह का संवरण न कर सका और भगवान् के स्पर्श की प्रार्थना करने लगा। ठीक है, पुरुषोत्तम परब्रह्म भगवान् का स्पर्श सभी सहृदयों को अभीष्ट है। परन्तु, वह ब्रह्म-संस्पर्श सहज में नहीं प्राप्त होता। परम तपस्या एवं भक्ति से ही प्राप्त होता है। भगवान् ने कहा—“इस रूप से नहीं, जन्मान्तर में आप सब ब्रजाङ्गना बनकर कृष्णरूप में हमारा स्पर्श कर सकेंगे, सब देवता गोप-रूप में प्रकट होंगे।” भगवान् के वचन को सुनकर सब प्रसन्न हुए। फिर बहुत काल के अनन्तर साङ्ग, सपरिवार भगवान् का कृष्णरूप में प्राकट्य हुआ। भगवान् का स्वरूपभूत परमानन्द ही नन्द हुआ। भगवान् को पुत्ररूप से प्राप्त करके वे सदा आनन्दित रहते थे, इसीलिए वे 'नन्द' कहलाये। मुक्ति देनेवाली ब्रह्मविद्या ही 'यशोदा' कहलायी। यश देनेवाली ब्रह्मविद्या को ही 'यशोदा' भी कहा गया है—“यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मौक्तिकोहिनी।” भगवान् की माया सात्विकी, राजसी, तामसी-भेद से त्रिविधा है। सात्विकी माया रुद्र में रहती है, क्योंकि वे रजस्तमोमयादि समस्त कार्य के संहारक हैं। सृष्ट्यादि कार्य में निरत ब्रह्मा में राजसी माया है। प्राणिपीडाकर होने से दैत्यों में तामसी माया रहती है—“प्रोक्तः सात्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी।” यह वैष्णवी माया अपने अज्ञान च ही प्रसूत होने के कारण पुत्री के समान है। यह ब्रह्मज्ञान के बिना किसी भी साधन से निवृत्त नहीं हो सकती। कर्मयोग, जपादि से तत्त्व-ज्ञानोत्पत्ति-योग्यता होती है। अविद्या-निवृत्ति तो तत्त्वबोध से ही होती है—“अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा”, “दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।” भगवत्प्रपत्ति अर्थात् भगवत्साक्षात्कृति से ही इस माया का तरण होता है।

ब्रह्मसुता प्रणवविद्या देवकी हुई। निगम अर्थात् समष्टि वेद वसुदेव के रूप में प्रकट हुए और 'तत्त्वं' पद-लक्ष्यार्थ का एकीभावस्वरूप वेदाध्यक्ष श्रीकृष्ण एवं बलराम के एकीभावरूप में प्रकट हुआ। सम्पूर्ण वेद सर्वदा जिस का स्तवन करते हैं, वे ही परमात्मा महोत्तल में अवतीर्ण होकर वृन्दावन में देवतास्वरूप गोपियों के साथ क्रीड़ा करते हैं। नानाप्रकार की श्रुतियों एवं वनवासी मुनि आदि ही गायों एवं गोपियों के रूप में प्रकट हुए हैं। भगवत्स्पर्श के लिए प्राणिमात्र लालायित होते हैं, इसीलिए ब्रह्मा भी मनोहर यष्टि होकर, भगवान् रुद्र सतस्वरानुवादी वेणु होकर, इन्द्र गवयशृङ्ग होकर भगवान् के श्रीहस्त में सुशोभित हुए, अथ (पाप) ही अघासुरादि असुरों के रूप में प्रकट हुए—“गोप्यो गावो ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः। बंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः स्वघोऽसुरः॥” अजगररूपी अथ वत्स-वत्सपादि सब को निगल गया, उस के उदर में व्याकुल होते ही भगवत्स्मृति से अघासुर का नाश हुआ और फिर उन का रक्षण हुआ, अमृतवर्षिणी भगवत्कृपादृष्टि से मृतप्राय वत्सादिकों का पुनर्जीवन हुआ।

वैकुण्ठ गोकुल एवं वृन्दावनरूप में अवतीर्ण हुआ, तपस्वी लोग विविध द्रुमों (वृक्षों) के रूप में प्रकट हुए, लोभ-क्रोधादि अनेक दैत्यों के रूप में प्रकट हुए। उन्हीं लोभादि के कारण प्रभूत कलिकाल से जीव तिरस्कृत होकर दुःख पाता है। श्री भगवान् अपनी माया से विग्रहधारण करके गोपरूपधारी होते हैं। भगवान् का अध्यवसाय दुर्ज्ञेय है, उन की माया से जगत् मोहित रहता है—“गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते ब्रमाः। लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालतिरस्कृतः॥ गोपरूपो हरिः साक्षान्माया-विग्रहधारणः। दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत्॥”

सदसद्-विचार

(श्री स्वामी शङ्करतीर्थ जी)

३

यदि कहा जाय कि ब्रह्म में जगत् का बीज रहता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि किस सहकारी कारण के द्वारा उस बीज से अङ्कुरोद्गम होता है? बीज से अङ्कुरोद्गम के लिए मिट्टी, जल इत्यादि सहकारी कारण की अपेक्षा है, परन्तु यहाँ सहकारी कारण क्या है? भला द्वितीयाभाव होने से अद्वय ब्रह्म में दूसरे कारण की सम्भावना कहाँ? श्री वसिष्ठ जी ने कहा है—“प्रलयकाल में यह जगत् प्रकृतिपुरुष में लीन रहकर पुनः चित्त से प्रसूत होता है, इत्यादि वाक्य कहना बालकों के लिए ही सम्भव है, पण्डित के लिए नहीं। इसलिए सरित्, शैलादिमय दृश्य जगत् किसी काल में नहीं था, वर्तमान समय में नहीं है और भविष्य में भी नहीं रहेगा।” जो असत्

है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। जगत् भी असत् है, इसलिए उसका भी अस्तित्व नहीं है। जगत्-प्रपञ्च इन्द्रजालमात्र है अर्थात् दर्शनकाल में भी दृष्टों से प्रत्यक्षताहीन है। स्वप्नकाल में वस्तुतः दृष्ट व्याघ्र, सर्पादि दृष्टों से प्रत्यक्षताहीन है। आत्मातिरिक्त कल्पनासृष्ट पदार्थ अनात्मा कहा जाता है—कहा रहते हैं?—उस का यथार्थ अस्तित्व नहीं है। आकाश नील न होने पर भी आकाश में नीलिमा देखी जाती है, मरीचिका में जल-तरङ्ग न रहने पर भी वहाँ तरङ्ग दृष्ट होता है। वस्तुतः उस का अभाव रहने के कारण ही उस का तिरोभाव सम्भव होता है। भगवान् श्री वसिष्ठजी कहते हैं—“लौकिक दृष्टि से जगत् ‘सत्य’ है, युक्ति-दृष्टि से जगत् ‘अनिर्वचनीय’ है—‘लौकिक दृष्टि से जगत् ‘मिथ्या’ है।” अतः असत् का अस्तित्व है ही नहीं। और ज्ञानदृष्टि से जगत् ‘मिथ्या’ है।” अतः असत् का अस्तित्व है ही नहीं। मन की एक ऐसी अघटन-घटना-पटीयसी शक्ति है कि वह कुछ न देख कर भी कल्पना कर सकता है। जगत्-भ्रम की तो ब्रह्म स्वयं ही कल्पना कर रहे हैं। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् होने के कारण, उनकी शक्ति, बाहर में कुछ न रहने पर भी, जगत्-मायाजाल की कल्पना कर सकती है, क्योंकि ब्रह्म-शक्ति (माया) अघटन-घटना-पटीयसी है। मनुष्य जगत्-भ्रम को सहसा भ्रम नहीं मानना चाहता, इस का कारण है श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक नियमित रूप से सुविचार का अभाव। भ्रम दो प्रकार का है—संवादी और विसंवादी। रज्जु को देख के चारे देखते ही सर्व भ्रम दूर होकर रज्जु-ज्ञान स्थिर हो जाता है। परन्तु अच्छी तरह देखने पर भी आकाश की नीलिमा का भ्रम दूर नहीं होता। इन दोनों में प्रथम भ्रम संवादी है और दूसरा विसंवादी। इन्द्रिय-विकलता दूर होते ही संवादिभ्रम का तो नाश होता है, परन्तु विसंवादि भ्रम बिना विचारबुद्धि के अन्य किसी भी उपाय से नष्ट नहीं होता।

पञ्चदशीकार कहते हैं—“निरंशोऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नोऽंशे वेति पृच्छतः। तन्नाशोत्तरं श्रुते श्रुतिः श्रोतुर्हितैषिणी ॥” (भूतविवेक ५२) अर्थात् निरंश, निर्विकार परमेश्वर में अंशारोप करके परमहितैषिणी श्रुति ने जैसे प्रश्नकर्ता शिष्यों के प्रति अंशच्छल से उपदेश किया है, वैसे ही सच्छास्त्र अनुकम्पा-वश शिष्य को शनैः शनैः केवलद्वैत-स्थिति में पहुँचाने के लिए उन के बुद्धयनुसारी होकर जगत् और जगत् के निमित्त एवं उपादानकारणरूप से भ्रम का वर्णन करते हैं। सर्व प्रकार के जगत्-व्यवहार के कारणभूत अज्ञान-नाश हो जाने पर जीवन्मुक्त का देहनिर्वाहार्थ जगत्-व्यवहार कैसे चल सकता है? ऐसे प्रश्नकर्ता प्रतिवादी को निरस्त करने के लिए जैसे श्रुति ने प्रारब्ध मान लिया है—“अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः” ठीक वैसे ही अर्द्ध प्रबुद्ध के कल्याणार्थ जगत् और जगत्-कारण माना गया है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—“तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते। देहादीनामसत्त्वास्तु यथा स्वप्नविबोधतः ॥” (अपरोक्षानुभूति २१) अर्थात् तत्त्वज्ञान के उदित होने पर देहत्रय, मन, बुद्धि, अहङ्कार प्रभृति मिथ्यारूप से प्रतीत होते हैं, अतः उन का हेतु प्रारब्ध भी मिथ्या ही प्रतीत होता है, इसलिए प्रारब्ध नहीं है। जैसे स्वप्नदर्शन के बाद जागरण होने पर स्वप्नदृष्ट प्रपञ्च मिथ्या प्रतीत होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानोदय उपरान्त प्रारब्ध भी मिथ्या हो जाता है। “कर्म जन्मान्तर-रीत्यं यत् प्रारब्धमिति कीर्तितम्। तत्तु जन्मान्तराभावात् पुंसो नैवास्ति कर्माचक्ष” अर्थात् जन्मान्तरीय कर्म ही प्रारब्ध नाम से अभिहित होता है। जब ज्ञानी का जन्मान्तर ही नहीं है, तब देहादि का प्रारम्भिक प्रारब्ध कर्म कैसे हो सकता है? निःसङ्ग आत्मा स्वरूपतः कर्म का कर्ता हो ही नहीं सकता, सुतरां भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालों में आत्मा का जन्म नहीं है। अतः वस्तुतः प्रारब्ध है ही नहीं। “स्वप्नदेहो यथाप्यस्तस्तथैवायं हि देहकः। अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे हि तत् कुतः” अर्थात् स्वप्न में देहसृष्टि जैसे कल्पनामात्र है, ठीक वैसे ही यह देह आत्मा में कल्पित है। आरोपित (कल्पित) वस्तु का जन्म-कारण कहाँ? इसलिए कल्पित देह का जन्म ही नहीं हो सकता और तब उस देह के आश्रित प्रारब्ध कहाँ, कैसे और कब पैदा होगा?—“उपादानं प्रपञ्चस्य सृष्ट्माण्डस्येव कथ्यते। अज्ञानं चैव वेदान्तैस्तस्मिन्नेव विद्यता ॥” अर्थात् जैसे मृत्तिका भाण्डादि का उपादान है, वैसे अज्ञान और ब्रह्म जगत्-प्रपञ्च का उपादान है ऐसा उपनिषद् में कहा गया है। परन्तु उस अज्ञान का ही विनाश हो जाने पर जीवेश्वरादि जगद्भाव कहाँ रह सकता है? “यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात्। तद्वत् सत्यमविज्ञाय

जगत् पश्यति मूढधीः ॥” अर्थात् जैसे कोई मनुष्य भ्रमवश एक खण्ड ही अविवेक-व्यवहार से उपलब्ध न करके सर्परूप से उपलब्ध करता है, वैसे “रज्जुरूपे परिज्ञाते रज्जुर्देहो न विद्यते। अविद्यमाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चः शून्यतां नही रह जाता, वैसे ही जगत्-प्रपञ्च के अविद्यमान ब्रह्म को जान देने पर जगत्-प्रपञ्च शून्य में पर्यवसित हो जाता है। “देहस्यापि प्रपञ्चवान् प्रा-व्यावस्थितिः कुतः। अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः ॥” (१३) देह भी प्रपञ्च ही है, अतः देहाश्रित प्रारब्ध कहाँ रहेगा? विचारविहीन लोगों को समझाने के लिए ही श्रुति ने प्रारब्ध को स्वीकार किया है। ज्ञानी के लिए तो श्रुति प्रारब्ध का अभाव सूचित करती है। इस बात को श्री आचार्यपाद भी कहते हैं—“क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। बहुत्वं तन्निषेधार्थं श्रुत्या गीतं च यत् स्फुटम् ॥” (१८) अर्थात् जीवात्मा से अभिन्न परमात्मा दृष्ट होने से द्रष्टा के सम्पूर्ण कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ श्रुति ने ‘कर्माणि’ शब्द द्वारा बहुवचन का स्पष्टरूप से प्रयोग किया है, इस का कारण है ज्ञानी के लिए प्रारब्धकर्म का भी निषेध सिद्ध करना। यदि केवल सञ्चित और क्रियमाण कर्म ही समझाना होता, तो ‘कर्मणी’ इसतरह द्विवचन का प्रयोग किया जाता। बहुवचन ‘कर्माणि’ का प्रयोग करके श्रुति यही उपदेश करती है कि ब्रह्मात्मसाक्षात्कार द्वारा विजड-अस्थि का भेदन करके अर्थात् अहङ्कार विनष्ट करके सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध नामक तीनों कर्मों के क्षयसाधनपूर्वक परम पुरुषार्थ का लाभ होता है।

‘भारतीय शासन-योजना’ पर मन्तव्य

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)

(३) फिर भी देश-काल को समझकर कार्य करने की हमारे ऋषि-मुनियों की दूरदर्शी आज्ञा के अनुसार यह भी आवश्यक है कि राजाओं को प्रजाओं के हित, आवश्यकताएँ तथा हानियाँ ठीक ठीक विदित हुआ करें, इस के लिए इस समय लोकसभाओं की भी आवश्यकता है। वस्तुतः तो वर्तमान लोकसभा या धारासभाओं में बहुमतवाले पक्ष के अतिरिक्त दूसरों को तो अपने विचारों को प्रकट करने का ही अवसर नहीं मिलता। ऐसा अवसर लोगों को मिले और बहुत लोगों को मिले, इस के लिए इस योजना में राजसभाएँ रखी गयी हैं। किन्तु इस समय जब वैसी सभाओं को काबू में रखा जा सके ऐसी छोटी रखने के लिए सत्ताधीश लोग यत्न-शील रहते हैं, तब इस योजना में सभी पक्षों को स्थान प्राप्त होने के लिए उसे खूब विस्तृत संख्यावाली रखा गया है और ऐसी सभाओं के लिए निर्वाचन की पद्धति में बड़ा परिवर्तन यह सूचित किया गया है कि निर्वाचन की पद्धति में ऐच्छिक तत्त्व अधिकांश में दाखिल किया गया है। इस समय करसम्बन्धी, स्थानसम्बन्धी या ऐसी-वैसी अयोग्य विभाग करनेवाली पद्धतियों से मतदार-मण्डल निर्णीत होते हैं। उन में लोग अपने अपने सामाजिक समुदाय से वियुक्त हो जाते हैं और निर्वाचन में अपने समुदाय का बल दिखला नहीं सकते। इसके सिवा एक ही समय में निर्वाचन की आँधी आती है, इसलिए धनवान् व्यक्ति ही निर्वाचन का खर्च उठा सकते हैं। निर्वाचनों में बड़ी गड़बड़ी, अनुभवजन्य चालाकी और घूसखोरी चलती है। ये सब हानियाँ जिस से कम हों, ऐसी निर्वाचन-पद्धति का इस योजना में विकास किया गया है। इस योजना में प्रत्येक मतदाता अपनी प्राथमिक कार्यसिद्धि अवश्य करता है। यह पद्धति नयी अवश्य है, पर हमारे देश में अनेक तरह से उपयुक्त हो सके ऐसी है। उस पद्धति के अनुसार प्रत्येक सौ मनुष्यों का समूह निर्णीत मास में चाहे किसी भी दिन अनुकूल समय में मजिस्ट्रेट के पास जाकर एक प्रतिनिधि के लिए अपना मत लिखा सकता है। इस से वह प्रतिनिधि हुआ। ऐसे दस प्रतिनिधि लगभग एक मास के बाद एक एक विशिष्ट प्रतिनिधि को निर्वाचित करें। जैसे दस विशिष्ट प्रतिनिधि तीन मास के उपरान्त एक महाप्रतिनिधि को निर्वाचित करें। यह महाप्रतिनिधि राज्य की लोकसभा का सदस्य हो। प्रतिनिधि को सभा में लिखित निवेदन पेश करने का और विशिष्ट प्रतिनिधि को आवश्यकता पड़ने पर अधिवेशन में एक बार अनुमति लेकर बोलने का अधिकार मिले। हाँ, महाप्रतिनिधि तो सभा की सभी चर्चाओं में भाग ले सके। अपने अपने समुदाय द्वारा

अपना प्राथमिक मत इस तरह सफल रीति से प्रदान करने के अधिकार को कौन अस्वीकृत कर सकता है ? इस में तीन-चार चलनियों में से मत छन जाने से इसलिए वे अधिक विचारयुक्त और अयुक्त सम्बन्ध द्वारा थोड़े दूषित होंगे। थोड़े दिन तक प्रचार का उपद्रव करके, लोगों को उभाड़कर इकट्ठे लाखों लोगों के मतों को ले लेने की चाल-बाजियों हो सकने की सम्भावना इस में कम हो जाती है। यह भी लोगों के ही हित की बात है। इस में कौमी मतदार-मण्डलों का प्रश्न अनायास ही निर्णित हो जाता है। मतदार-मण्डल बनाने की आधुनिक विपरीत पद्धतियों का परिणाम यह हुआ कि जमींदारी या व्यापाररूप द्वार के बिना सनातनी लोग शायद ही धारासभाओं में आ सकते हैं। कहा जा सकता है कि वस्तुतः इस तरह आनेवाले सनातनी शायद ही सनातनी होते हैं। फिर यह भी स्पष्ट है कि मिलावटी मतदार-मण्डल में मिलावटी व्यक्ति को ही अधिक पसन्द किया जाय, यह स्वाभाविक है। इसलिए आधुनिक मिलावटी मतदार-मण्डल का निर्वाचन विच्छेदक पक्ष को जितना लाभ-दायक है, उतना ही धार्मिक समाज के प्रतिकूल है। इस पद्धति की श्री दूरकाल जी ने रचना करके सन् १९३५ में 'इण्डियन रेव्यू' और 'धर्मराज्य' में प्रकाशित किया था और इस के उपरान्त उन के 'कञ्जरवेटिव इण्डिया' नामक ग्रन्थ में वह पुनः प्रकाशित हुई है, इसलिए उस का अधिक विवेचन यहाँ न करेंगे। हमारी 'धर्मासुराणि स्वराज्य-योजना' में यह पद्धति सुयोग्य रीति से ही जिलासभाएँ, प्रान्तीय सभाएँ आदि के लिए सूचित की गयी है और उस से जनता के अधिकाधिक हित की रक्षा हो, यह स्पष्ट है। इतना ही नहीं, पर किसी भी दुष्पथगामी प्रतिनिधि को उस के प्राथमिक सौ अथवा बाद के दस मतदाता उस के दोषों को प्रकाशित करके उस के स्थान से हटा सकें ऐसी सरलता है। यह तो लोगों की समस्त सभाओं की बात हुई, धार्मिक समुदायों की हितरक्षक समितियों की चर्चा आगे की जायगी।

विक्रम की बीसवीं शताब्दी में संस्कृति का शाखा-विस्तार

(श्री जयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम्. ए.)

१

(श्री सनातनधर्म सभा के दशाब्दी उत्सव के उपलक्ष्य में उस के अध्यक्षपद से दिया हुआ भाषण)—संस्कृति की प्रतीका के एक प्रतीक ऐसे सम्राट् विक्रमादित्यसम्बन्धी संवत्सर के दो हजार वर्ष लगभग बीत चुके हैं। भारतवर्ष के कई भागों में तो २००१ वीं वर्ष प्रारम्भ हो गया है। दो हजार वर्ष पूर्व इस देश में जो आदर्श प्रधान थे, जिन आचार-विचारों की निष्ठा मानी जाती थी और जिन धर्मकर्मों में जीवन को पावन करने की शक्ति मानी जाती थी, वही आदर्श, वही आचार-विचार और वही धर्मकर्म आज भी जीवित एवं ज्वलन्त हैं। आज भी वे ही तीर्थस्थान, वे ही सन्त-महात्मा, वे ही सत्य, अहिंसा, पवित्रता और तपस्या को हमलोगों को मान्य हैं और हमारे नेतागण धर्म तथा संस्कृति को पहले की ही तरह अग्रस्थान पर स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी अपनी धारणा के अनुसार कहा जाता है प्रचलित दारुण महासङ्ग्राम भी संस्कृति की रक्षा के लिए ही हो रहा है। जिस की आवश्यकता को तो सब मानते हैं, पर कोई प्रजा जिसे पूर्ण रीति से प्राप्त कर नहीं सकती, ऐसी संस्कृति के पवित्र दर्शन से हम उस की अमृतमयी दृष्टि को आकर्षित करने का प्रयत्न करेंगे। संस्कृति शब्द का प्रयोग 'कल्चर' के अर्थ में अर्वाचीन है। हमलोग पौर्वात्य संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति, जर्मन संस्कृति, जापानी संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, हिन्दू संस्कृति आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस के अतिरिक्त ईश्वरप्रधान, मनुष्यप्रधान, नरप्रधान और नारीप्रधान, ऐसे भी संस्कृति के विभाग किये गये हैं। एवञ्च कलाप्रधान, शौर्यप्रधान, विद्याप्रधान आदि संस्कृति के प्रकार भी अज्ञात नहीं हैं। व्यापक दृष्टि से देखें, तो संस्कृति की मर्यादा का प्रारम्भ मानव की उत्पत्ति के साथ ही होता है अथवा उस के भी पहले—वस्तुतः वह बीजरूप से सनातन—सब काल में विराजमान है। इस संस्कृति को हम 'परा' संस्कृति कहेंगे। सनातन जिजीविषा (जीवित रहने की कामना) उस का बीज है। उस पौधे के बढ़ने पर धर्म के आधार पर सत्पुरुष उसे सरल एवं सुदृढ़ करते हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान, ये उस की नाड़ियों में प्रवाहित होनेवाले धातु हैं। उस के सुसंवाद से वह बढ़ता है और विसंवाद से या वैषम्य से वह दूषित होता

है। वह यदि शुद्ध हो, तो वह शुद्ध रहता है, दूषित हो तो दूषित होता है। जीवन किसी न किसी प्रकार के कर्म, उपासना या ज्ञान के बिना तो रह नहीं सकता। उस में विकार होने से दोष उत्पन्न होता है। इस दोष में भी जब साम्य हो, तब हम उसे स्वभाव कहें और वैषम्य हो, तब रोग कहें। पदार्थ, पशु या पुरुष के स्वभाव का दर्शन करते हुए उस के अनुसार उस की संशुद्धि की प्रक्रिया का नाम संस्कार है। ऐसे संस्कारवाली अवस्था संस्कारिता कही जाती है और उस संस्कारिता के व्यक्ति, समूह या संप्रति के जीवन में व्यक्त होनेवाले समुच्चय को हमलोग 'संस्कृति' कहते हैं। इस तरह संस्कृति संस्कारों की पुत्री है और विकृति की विरोधिनी है। जैसे जैसे विकृति की वृद्धि होती है, वैसे वैसे संस्कृति का हास होता है। इस दृष्टि से हम तीन दशाओं की कल्पना कर सकते हैं। जिस के मध्य में स्वभाव और एक तरफ संस्कृति और दूसरी तरफ विकृति हो। जल है, उसे हम पी जायें तो वह संस्कारित हुआ और उस में कीड़े पड़ जायें, तो वह विकृत हुआ, यह सहज दृष्टान्त है।

इस तरह 'संस्कृति' शब्द की संशुद्धि कर लेने पर उस का मानव-वृत्ति-हास में जो दर्शन होता है, उस पर एक विहङ्गम दृष्टि डालें। वन्दर से जङ्गली मनुष्य और उस से आधुनिक मनुष्य हुए, इस विचार को एक भ्रान्ति मानकर निकाल देना ही ठीक है। क्योंकि पुरातन संस्कृत भाषा से श्रेष्ठ है, पुरातन रामायणादि के आदर्श भी सर्वश्रेष्ठ हैं और पुराना इतिहास भी आज के ऐसे घोर अनीतिमय सङ्ग्रामों से मुक्त दिखलायी पड़ता है, अतएव यह साधारण धारणा ही उचित प्रतीत होती है कि प्राचीन काल में स्वाभाविकता के कारण सदाचार विशेष था और संस्कृत भाषा में प्राज्ञानराशि—वेद—के प्रभाव से संस्कारिता थी और इसी से उस समय की संस्कृति में सत्य, दया, शुद्धि, तपस्या, ईश्वर-भक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरुभक्ति और स्वार्थत्याग के उत्तम दृष्टान्त तथा पति, पत्नी, पुत्र, गुरु, शिष्य इत्यादि के उच्च आदर्श हमें दिखलायी पड़ते हैं। समय जो ज्यों व्यतीत होता जाता है, त्यों त्यों सर्व चेतनावयव पदार्थों की तरह मानव-समाज में भी विकृति होती जाती है। इस सिद्धान्त को यदि हम समझ लें, तो संसार के, विशेषकर यूरोप के इतिहास को समझना हमारे लिए सरल हो जायगा। हमें सहज ही यह समझ में आ जायगा कि जो संसार का अन्तिम सङ्ग्राम माना जाता था, उस के बाद पचीस वर्षों के भीतर ही उस की अपेक्षा भी अधिक क्रूरतामय सङ्ग्राम आज हो रहा है, जिस का मानव-इतिहास में दृष्टान्त मिलना कठिन है। यहाँ पर हमें इतना और भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि संस्कृति मानव स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली परिस्थिति है, इसलिए भवन, कारखाने, वायुयान, जहाज आदि भौतिक सामग्रियों की संख्या या विशालता पर उस का आधार नहीं है। संस्कृति वह वस्तु है, जो उन सब के उपयोग की, विनियोग की सुयोग्य दिशा निश्चित करती है। संस्कृति वह वस्तु है, जो विद्या, कला और शक्ति को सन्मार्ग में प्रेरित करती है। जहाँ ये तीनों सन्मार्ग में प्रेरित न होते हों, बल्कि अपथगामी होते हों, वहाँ संस्कृति का प्रभाव नहीं, अपितु विकृति का प्रताप है, ऐसा मानने में कुछ अनुचित नहीं है।

इस तरह संस्कृति का इतिहास मानव-इतिहास जितना ही प्राचीन एवं स्वभावतः हासमय है और उस काल की खण्ड-परम्परा का प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं ने सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग यह उचित ही नामकरण किया है। पुराणों के अनुशीलन से हम देख सकते हैं कि कर्म, उपासना और ज्ञान की संशुद्धिरूप संस्कृति मन्द हास को प्राप्त होती हुई कलियुग के प्रारम्भ में भारतवर्ष में भी अवदशा को प्राप्त हुई थी, तथापि उस समय भी भारतवर्ष ही संस्कृति का मूल स्थान एवं प्रेरणास्थान गिना जाता था, अन्य धर्म या जीवन-पन्थ उस में से ही प्रेरणा प्राप्त करते थे अथवा उन का जन्म ही नहीं हुआ था। संस्कृत भाषा की तरह मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) अद्भुत एवं पारदर्शी आर्षदृष्टि की साक्षी देता है। दिन-प्रतिदिन प्रतीत होता जाता है कि उस का ही समाज-निर्माण और समाज-नियमन मानव को शान्त, सुखी एवं सन्तुष्ट कर सकेगा।

आवश्यक सूचना

पृष्ठसंख्या बढ़ाने के लिए सरकार से लिखा-पढ़ी हो रही है। वार्षिक मूल्य मनिआर्डर द्वारा शीघ्र ही भेज दीजिये। अगले मास से वी० पी० भेजी जायगी। —सञ्चालक।

प्रकाशक — श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

बहिष्कार या प्रतीकार ?

गत दो अङ्कों में हम प्रस्तावित ‘हिन्दू कोड’ पर विचार कर चुके हैं। जब से ‘हिन्दू ला कमेटी’ की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और ‘हिन्दू उत्तराधिकार’ तथा ‘विवाह बिल’ पेश हुए, हम इन के सम्बन्ध में बराबर कुछ न कुछ लिखते रहे हैं। हमने बार बार यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि हमारे धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में हस्ताक्षेप करने का न किसी सरकार को अधिकार प्राप्त था और न वर्तमान सरकार को प्राप्त है। कुछ लोगों का कहना है कि यदि यही बात है तो फिर सरकार द्वारा नियुक्त ‘हिन्दू-ला-कमेटी’ का सर्वथा बहिष्कार ही क्यों न किया जाय ? सरकार के पास विरोधपत्र भेजना और उस के द्वारा नियुक्त कमेटी के सामने अपना मत प्रकट करना तो सरकार के अधिकार को मान लेना है। इस युक्ति में कुछ अंश अवश्य सत्य है, इसे हम भी मानते हैं। पर साथ ही वर्तमान परिस्थिति में हम सर्वथा बहिष्कार में कोई लाभ भी नहीं देखते। कांग्रेस का उदाहरण हमारे सामने है। उस ने कई बार कौंसिलों का बहिष्कार किया, फिर अन्ततः झख मारकर उसे उन में जाना पड़ा। बहिष्कार करनेवालों को कोई पूछता तक नहीं। आजकल का समय ऐसा है कि जो सब से अधिक ढोल पीटता है, उसी की सुनवाई होती है। पाश्चात्य राजनीति के दांव-पेंच हमें कभी भी पसन्द नहीं। उन्होंने ने आजकल के सार्वजनिक जीवन को ऐसा कलुषित बना दिया है कि उस से धार्मिक प्रवृत्तिवाले किसी भी व्यक्ति को सदा ही शृणा होगी। पर साथ ही हम ऐसी परिस्थिति में फँस गये हैं कि जिस में बिना उन का सहारा लिये हमारा काम भी नहीं चलता। यह जानते हुए कि यह ‘काजल की कोठरी’ है, जिस में पैर रखते ही बिना कालिख लगे हम नहीं बच सकते, विवश होकर हमें ‘कण्टकेनैव कण्टक’ की नीति का अनुसरण करना पड़ेगा। ऐसी दशा में हम बहिष्कार-नीति के पक्ष में नहीं हैं।

यह बात अवश्य है कि आजकल किसी भी आन्दोलन को चलाने के लिए धन की और उस से भी बढ़कर योग्य कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। परन्तु हमारी समझ में यदि ढङ्ग से कार्य किया जाय, तो ये दोनों कठिनाइयाँ हल हो सकती हैं। बिलों के विरोध में जो आन्दोलन चलाया गया, उस का अनुभव हमें इस के लिए विश्वास दिला रहा है। ‘कल्याण’ में एक लेख निकल जाने का फल यह हुआ कि देश के कोने कोने से बिलों के विरोधपत्रों की माँग आने लगी। ‘धर्मसङ्घ’, ‘वर्णाश्रम-स्वराज्यसङ्घ’ तथा अन्य सनातनी संस्थाओं के अल्प प्रयत्न तथा थोड़े ही खर्च में काफी आशाजनक काम हो गया। जहाँ तक हमारा अनुमान है ५ लाख से कम बिलों के विरोध में हस्ताक्षर नहीं गये होंगे। कितने ही लोगों ने लिखा कि हम यथाशक्ति इस कार्य में सहयोग देने के लिए तैयार हैं। इस से हमें आशा होती है कि यदि हमलोग कुछ और सङ्गठित रूप से कार्य कर सकें, तो केवल इस सम्बन्ध में ही सफलता प्राप्त न होगी, बल्कि एक राजनीतिक क्षेत्र तैयार हो जायगा, जिस में आगे चलकर हम बहुत कुछ कर सकेंगे। गताङ्क में सरकार के सामने हम ने जो सुझाव रखा है, उस ओर उस का ध्यान भी आकर्षित होगा, हमें इस की भी आशा नहीं है। आजकल तो उसे किसी का भय ही नहीं है। प्रजा का धन उड़ाने में वह बड़ी उदार है। पता लगा है कि ‘विवाह बिल’ पर विचार करने के लिए ‘संयुक्त कमेटी’ की बैठक केवल ५ मिनट के लिए हुई थी। ‘हिन्दू कोड’ की बात आने पर वह स्तब्ध कर दी गयी। इतने ही में हजारों रुपये उड़ गये होंगे। क्या सरकार को पता नहीं था कि अब ‘हिन्दू कोड’ पर विचार चलेगा ? यदि था, तो क्या वह कमेटी के सदस्यों को इस की सूचना नहीं दे सकती थी ? फिर क्यों नहीं ऐसा किया गया और केवल ५ मिनट के लिए कमेटी की बैठक का तमाशा किया गया ? अबतक कुछ भी पता नहीं है कि दोनों बिलों का क्या होगा ? ‘हिन्दू कोड’ गजट तक में नहीं प्रकाशित हुआ है, वह कहाँ से मिलता है इस का भी पता नहीं, किसी देशी भाषा में उस का अनुवाद नहीं हुआ है और उस पर सम्मतियों

माँगे जा रही हैं ? कमेटी के दौरे का कोई क्रम नहीं बतलाया गया है और लोगों से पूछा जा रहा है कि उन्हें कहाँ मिलने में सुविधा होगी ? क्या कमेटी गाँव गाँव जाने का कष्ट उठायेगी ? यदि नहीं, तो जिन स्थानों में उसे जाना है, उन्हें बतलाना चाहिए। एक ओर तो यह ढिलाई तथा असावधानी और दूसरी ओर अक्तूबर की पहली तारीख तक कमेटी को सब कुछ ज्ञात हो जाना चाहिए। भला इस घौघली का भी कोई ठिकाना है ? सरकार के यहाँ से एक पत्र का उत्तर मिलने में महीनों लग जाते हैं। कोड तथा बिलों के सम्बन्ध में कितनी ही बातें अस्पष्ट हैं। उन की पूछताछ करने ही में कितना समय लग जायगा ? इसलिए सरकार का सहारा छोड़कर जो कुछ करना है, उसे तुरत आरम्भ कर देना चाहिए।

हमारी समझ में जो विरोधपत्र भेजे जा रहे हैं, उन का भेजना जारी रहना चाहिए। उन में सरकार के हस्ताक्षेप, हिन्दू ला कमेटी, कोड तथा बिल सब का विरोध है। दूसरे, देश भर के विद्वानों को हजारों की संख्या में कमेटी से मिलना चाहिए और अपना मत स्पष्ट शब्दों में उस के सामने रखना चाहिए। सदस्यों से शास्त्रार्थ करने के लिए पूर्ण रूप से तैयार रहना चाहिए। उन्हें ‘कोड’ का पूर्ण अध्ययन करके अपना वक्तव्य पहले ही से बना लेना चाहिए। प्रत्येक जिज्ञे के मुख्य स्थान पर सौ दो सौ लोग कमेटी से मिलने की इच्छा प्रकट करें, तो कमेटी को वहाँ जाना पड़ेगा या लोगों से मिलकर उन का मत जानने का दावा छोड़ना पड़ेगा। लिखित मत भी अपनी अपनी भाषाओं में भेजना चाहिए। यदि कमेटी सचमुच लोकमत जानना चाहती है, तो उसे उन का अङ्गरेजी में अनुवाद कराना चाहिए। इसी तरह उस के सामने जो अपनी भाषा में वयान देना चाहे, उसे समझाने के लिए दुभाषियों का प्रबन्ध होना चाहिए। यदि कमेटी ऐसी सब सुविधाएँ नहीं देती, तो उसे वास्तविक लोकमत का भी ज्ञान नहीं हो सकता। अपना मत व्यक्त करने के लिए देशों राज्यों के शासकों और हिन्दू प्रजा की ओर से भी आन्दोलन होना चाहिए। यह विपत्ति बहिष्कार करने से न टलेगी, उस का तो उचित प्रतीकार करना पड़ेगा। सरकार से बराबर पत्रव्यवहार हो रहा है। समय समय पर आवश्यक सूचना हम अपने पाठकों को देते रहेंगे। हमें आशा है कि हमारे धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर कुठाराघात करनेवाले इस ‘कोड’ के विरोध में वे कोई बात उठा न रखेंगे।

सामूहिक उपासना

भारत के भूतपूर्व वाइसराय लार्ड लिनलियगो का हाल ही में लन्दन में एक भाषण हुआ था, जो वहाँ के पत्र ‘पब्लिक ओपिनियन’ के गत २ जून के अङ्क में प्रकाशित हुआ है। उस में आप कहते हैं कि “मुझे अपने सार्वजनिक जीवन में बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। मैं उन के अनुभव के साथ कह सकता हूँ कि मेरी समझ में यह नहीं आता कि धार्मिक जीवन की प्रगति कैसे तीव्रतर की जा सकती है, जो वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल हो, जबतक कि उस की जड़ चर्च के, (ईसाई धर्मसङ्घ) जो ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध को जोड़नेवाली स्वाभाविक शृङ्खला है, सामूहिक जीवन में स्थित न हो ? मेरा विश्वास है कि जो बृहत् कार्य हमारे सामने है, उस की तैयारी के लिए और हमारे आध्यात्मिक जीवन के लिए यह सब से प्रथम और नितान्त आवश्यक कार्य है। यह समय साधारण नहीं है। क्या हम चर्च के प्रति वही भ्रष्टा, स्नेह और भक्ति दिखला रहे हैं, जिस के बिना यह कभी आशा नहीं की जा सकती कि वह अशान्त संसार को आवश्यक शान्ति प्रदान कर सकता है ? मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि कई सच्चे तथा पवित्र जीवन व्यतीत करनेवाले ऐसे लोग हैं, जो समझते हैं कि सामूहिक उपासना में भाग लेने की अपेक्षा एकान्त में ध्यान तथा प्रार्थना करने से अधिक आध्यात्मिक लाभ उठाया जा सकता है। पर उन्होंने ने क्या कभी इस पर विचार किया है कि यदि सब लोग उन्हीं का अनुसरण करने लगे और अपने पड़ोसियों के साथ बैठकर ईश्वर की किसी भी सार्वजनिक उपा-

सना में भाग न लें, तो ईसाईधर्म की क्या दशा होगी ?" हमारे यहाँ तो व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार की उपासनाओं का मूल्य रखा गया है। ऐसी दोनों ही उपासनाएँ प्रायः लोग किया करते हैं और उन में कोई विरोध नहीं पड़ता। पर जो लोग आजकल सामूहिक उपासना पर नाक-मुँह सिकोड़ते हैं और जिन्हें विदेशियों के वाक्यों पर ही विश्वास होता है, उन्हीं को समझने के लिए हम ने लिनलिथगो साहब के वाक्य उद्धृत कर दिये हैं।

लक्ष्य और मार्ग

(श्री स्वामी करपात्री जी)

अनेकविध देव-देवियों, यहाँ तक कि भगवद्दश संसार के समस्त प्राणियों का आदर-पूजन करते हुए आत्मोन्नति एवं भगवत्तत्त्व की प्राप्ति होती है। भगवान् ऐसे भक्त से असन्तुष्ट रहते हैं, जो जीवों का अपमान करते हुए परमोन्नति की टुक लगाते हैं। प्रह्लाद जी पूर्ण भगवद्भक्त थे, परन्तु माता, पिता और गुरु की आज्ञा का कभी भी अनादर, उल्लङ्घन नहीं करते थे। ईश्वर के विरुद्ध किसी के कहने पर वे उस से असन्तुष्ट होते थे, पर उन का प्रत्येक स्थल पर आदर ही करते थे। उन्हीं ने माता-पिता और गुरु का आदर या नमस्कार न किया हो, ऐसी कोई बात नहीं है। यही बात उत्कृष्ट कोटि के महादुभावों के सम्बन्ध में भी होती है। जहाँ देखो वे देवताओं का अभ्यर्चन कभी नहीं छोड़ते। विविदिषु भगवत्प्राप्त्यर्थं वेदान्त का श्रवण करने बैठता है। पहले जब वह अलग अलग देवताओं को नमस्कार करता है, तब पूर्णब्रह्म को जानने का प्रयत्न करता है। श्रवण के पहले वह वायु, यम आदि को प्रणाम करता है। शुद्ध चैतन्य-प्रेम्णु की यह दशा है। उत्तरमीमांसा में कहा गया है कि जितने भी वैदिक-स्मार्त कर्म हैं, सब का उपयोग उसी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए है। पिता-माता पुत्र को उत्पन्न करने के लिए कितना प्रयत्न करते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। पिता कहता है—“एक पुत्र के लिए ९ मन कांकी चाला” अर्थात् कितने देवी-देवताओं का यजन, पूजन किया, कष्ट उठाया। जब क्षुद्रातिक्षुद्र पदार्थ के लिए इतना बड़ा प्रयत्न किया जाता है, तब उस परब्रह्म की प्राप्ति के लिए, जिस की प्राप्ति में प्राणी कृतार्थ होनेवाला है, विभिन्न देवों की पूजा क्यों न हो ? भगवत्प्राप्ति के लिए लौकिक-वैदिक सब प्रकार के उपाय किये जाते हैं। “कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्। करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायैति समर्पयेत्तत्।” इस तरह शरीर, मन और वचन से जो कुछ करें, भगवान् को अर्पण कर देना चाहिए और भिन्न भिन्न देवताओं को यादकर कार्यसिद्धि में सचेष्ट होना चाहिए। श्रोत्र, चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों को एकाग्रकर जब साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर उस परब्रह्म को देखने का यत्न किया जायगा, तब वह दिखायी पड़ेंगे। धीरे धीरे देवताओं की पूजते-पूजते प्राणी उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य बनता है। एक सोपान के बाद दूसरे सोपान, दूसरे के बाद तीसरे, इस तरह चढ़ते चढ़ते उच्च प्रासाद में पहुँचता है। सोपान की उपेक्षा करने पर, चाहें कि प्रासाद में पहुँच जायें, तो यह असम्भव है। इस के लिए शास्त्रों के साधन पर चलना चाहिए, जिस ढङ्ग से वे बतायें, उस को ग्रहण कर ऊँचे उठने का प्रयास करना चाहिए। भगवद्भक्त कृतार्थ होने पर भी अपना मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करते। पहले सत्पुरुष ढूँढना चाहिए। सत्पुरुषों को पहचानना भी बड़ा कठिन होता है। गोस्वामीजी ने कहा है—“पुण्यपुञ्ज विन मिलहि न सन्ता। सतसङ्गति संसृतिकर अन्ता ॥”

सन्तों की प्राप्ति सरल नहीं होती। उन पर न तो कोई ‘साइनबोर्ड’ ही लगा रहता है और न उन की अलग कोई दूकान ही होती है कि जिस से वे पहचाने जा सकें। पहले तो सन्तों का मिलना ही कठिन है। यदि मिलें, तो फिर संसार ही समाप्त हो जाता है। सद्गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से अन्तःकरण के समस्त मल दूर हो जाते हैं और परब्रह्म-साक्षात्कार में बड़ी आसानी होती है। यदि कहा जाय कि सत्सङ्ग तो-रोज होता है, विचार, श्रवण, मनन होता रहता है, सत्सङ्ग से भगवद्भक्त रोज सुनते हैं, पर उन सन्तों के सङ्ग से यहाँ मतलब है, जिन की गोस्वामी तुलसीदासजी दुर्लभ बतलाते हैं। ऐसे सन्त का सङ्ग तो तभी होगा, जब मनुष्य पुण्यपुञ्जसंयुक्त हो। अनभिज्ञों को सत्पुरुषों का ज्ञान नहीं हो सकता। “सङ्ग करइ मल पाइ सुसङ्ग ॥” सत्सङ्ग पाकर मलिन स्वभाव के लोग भी

अच्छा काम करने लगते हैं, पर सत्पुरुषों का ज्ञान होना चाहिए। यही कठिन है। सत्-असत् का विवेचन करना बड़े धीर-वीर का काम है। अधिकारानुसार सत्सङ्ग प्राप्तकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहिए। पहले अपने लक्ष्य का निर्धारणकर फिर गुरु को ढूँढना चाहिए। गुरु द्वारा शास्त्राज्ञा का पालन करते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। वह मनुष्य मनुष्य ही नहीं, जिस ने इस संसार में जन्म लेकर अपना लक्ष्य निश्चित नहीं किया। मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, किसलिए आया हूँ, आदि बातों को सोचकर अपना लक्ष्य निर्दिष्ट करना चाहिए। जिस ने लक्ष्य निर्दिष्ट नहीं किया, वह पशु ही नहीं, पशु से भी नष्टभ्रष्ट है। इस जन्म में यदि एक बार भी सुन्दर लक्ष्य निर्णीत हो गया, तो इस जन्म में यदि उस की प्राप्ति नहीं भी हुई, तो आगे चलकर किसी न किसी जन्म में उस की प्राप्ति अवश्य हो होगी।

शास्त्रों और सत्पुरुषों की राय से सर्वप्रथम लक्ष्य निश्चित करना चाहिए। फिर वह इस जन्म में मिला तो मिला, नहीं तो जन्म तो लाखों होंगे, किसी न किसी जन्म में वह प्राप्त हो ही जायगा। यदि अभिनिवेश, आपत्त दृढ़ हो गया, साथ ही उस का मार्ग भी हम ने सोच-समझ लिया, कहाँ जाना है और किस पथ से होकर जाना है, यह निश्चित हो गया, तो अन्त तक, जहाँ पहुँचने का हम ने निश्चय कर लिया है, अर्थात् पहुँच जायेंगे। पर लक्ष्य शास्त्रों के आधार पर बनाकर सत्पुरुषों, शिष्टों से उप अनुमोदित करा लेना चाहिए। हाँ एक बात का यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो लक्ष्य बनाया जाय, वह अभिवृत्तिकारक हो। शास्त्र-रहस्य अनुभवो तत्त्वज्ञ से निश्चय कर लेना चाहिए कि कर्म, उपासना, ज्ञान में से किस मार्ग से चलने में इष्ट-सिद्धि हो सकेगी। इन में से यदि किसी भी मार्ग द्वारा एक क्षण के लिए भी ब्रह्म में स्थिति प्राप्त हो सके, तो निश्चय समझना चाहिए कि इस भवजाल से शीघ्र उद्धार पा जायेंगे। उपर्युक्त तीनों मार्गों में से किसी भी एक के द्वारा धीरे-धीरे परमोन्नति प्राप्तकर उत्कृष्ट फल प्राप्त किया जा सकता है। लक्ष्य-निर्णय और मार्ग का निश्चय, इन दोनों बातों को करना चाहिए। यदि स्वधर्मनिष्ठा में अपने को लगाना है और उस में पूर्णता प्राप्त करना है, तो सत्पुरुष को ढूँढकर लक्ष्य और उस का मार्ग निर्धारित करना आवश्यक है।

श्रीभगवान् की पूजा

(६० श्रीकृष्णदत्त भारद्वाज एम. ए., आचार्य, शास्त्री)

२

सब उपचारों में षोडशोपचार अधिक प्रचलित है। सोलह ऋचावाले ‘पुरुषसूक्त’ की एक एक ऋचा से क्रमशः एक एक उपचार करने से षोडशोपचार सम्पन्न होता है। ‘पुरुषसूक्त’ के द्वारा जो श्रीभगवान् को पुष्प अथवा केवल जल भी समर्पण कर देता है, वह चराचर जगत् की पूजा कर लेता है—“दद्यात् पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा। अर्चितं स्याज्जगदिदं तेन सर्वं चराचरम् ॥” (योगियाज्ञवल्क्य)। केवल वैदिक मन्त्रों से, वैदिक मन्त्रों के साथ साथ पुराणागमोक्त मन्त्रों से अथवा केवल पुराणागमोक्त मन्त्रों से भी उपचार सम्पन्न होते हैं। केवल नाममन्त्र तृतीय विकल्प के ही अन्तर्गत हैं। वेदपाठ में अनधिकृतों को तृतीय विकल्प ही स्वीकार्य है। अर्घ्य समस्त उपचारों का प्रतीक है। यदि अन्यान्य उपचार न बन पड़ें, तो अर्घ्य-दान से ही सब पूजा निष्पन्न होती है, जैसा कि वचन है—“सर्वेषामुपचाराणामर्घ्यं परममुच्यते। कृतेनैकेन तेनैव सर्वमेव कृतं भवेत्” (भारद्वाज-संहिता परिशिष्ट)। पूजन में कुछ-पुष्प वर्जित हैं, कुछ विहित हैं। अविहित पुष्पों से पूजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अन्यान्य उपचारों में प्रयोज्य द्रव्यों का ज्ञान साधक को सम्पादनीय है। पाद्य में दूर्वा आदि का विधान है—“पाद्ये दूर्वा विष्णुपर्णी इयामकं पद्ममेव च”। अर्घ्य में श्वेत सर्प आदि का विधान है—“सिद्धार्थममृतं चैव कुशाग्रं तिलमेव च। यवं गन्धं फलं पुष्पमर्घ्यपात्रे विनिश्चिपेत् ॥” स्नानान्तर श्रीभगवान् को पीताम्बर पहनाना चाहिए। सब गन्धों में मलयज श्रेष्ठ है—“सर्वेषु गन्धजातेषु प्रशस्तो मलयोद्भवः। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दद्यान्मलयजं सदा ॥” (कालिकापुराण)। कपूर, केसर और कस्तूरी के साथ घिसे हुए चन्दन में और भी आमोदवृद्धि हो जाती है। वैखानस भक्त कस्तूरी का प्रयोग नहीं करते। इस उपचार में अनामिका प्रशस्त है। चन्दन लगाने के अनन्तर श्रीविष्णुपूजन में अक्षतों का विधान नहीं है—“नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुम् ॥”

कीड़ों के खाये हुए, पृथ्वी पर स्वयं गिरे हुए, मलिन, बिना खिले हुए, छिन्न-भिन्न, पर्युषित, अपृथक् शूद्र के द्वारा लाये हुए, एरण्डपत्र में लाये हुए, बाएँ हाथ में रखे हुए, धोती में रखे हुए, पानी से धोये हुए और दुर्गन्धयुक्त पुष्प उपादेय नहीं हैं। अभिनव पुष्पों के अभाव में कुछ पुष्प कुछ दिनों तक पर्युषित भी ग्राह्य हैं, जैसे कमल पाँच दिन तक का और तुलसी ग्यारह दिन तक की। यथासम्भव दिन के फूलों से दिन में और रात के फूलों से रात में पूजा करनी चाहिए—“निवपुष्पैर्दिवा पूजा रात्रिपुष्पैस्तथा निशि” (परमसंहिता १४०) । आक, धतूरा, काञ्ची, पहाड़ी चमेली, कुड़ा, शालमली और कटेरी के फूल श्रीविष्णु की पूजा में निषिद्ध हैं—“नार्क नोन्मत्तकं काञ्ची पूजने गिरि-मल्लिका । कौटजं शालमलीपुष्पं कण्ठऋषिभवं न हि ॥” (अग्निपुराण) । उग्रगन्ध पुष्पों का सङ्ग्रह नहीं करना चाहिए—“अन्यानि चोग्रगन्धानि अनुकानि सर्वाणि वर्जयेत्” (वैखानसागम) । जाती, चम्पक, मल्लिका, मालती, तुलसी, पद्म आदि की वैखानसागम में प्रशंसा की है और कहा है—“अन्यानि तरुलताजातानि सौम्यानि सुगन्धानि । तुष्टिमनोहारणि यथाहं गृह्णीयात् ॥” “महाभारत” में छपा, अशोक, बहेड़ा, आक, नीम आदि के फूलों को निषिद्ध बतलाकर चम्पा, मालती, जाती, पलाशपुष्प की प्रशंसा की गयी है । उत्पल, पद्म, शतदल, सदृष्टदल और पुण्डरीक उत्तरोत्तर प्रशस्त हैं । इन से भी अधिक तुलसी है । उस से भी अच्छा है अगस्ति-पुष्प और सौवर्ण पुष्प तो भगवान् को प्रियतम है । परिस्थितिवश यदि पुष्प न मिल सकें, तो उन उन क्षुपादि के पत्तों से और तृण-गुल्मौषधियों से भी पुष्पोपचार सम्पन्न हो सकता है—“अन्नाभे तु सुपुष्पाणां पत्राण्यपि निवेदयेत् । पत्राणामप्यन्नाभे तु तृणगुल्मौषधीरपि” (भविष्यपुराण) । फूल को टेढ़ा करके नहीं चढ़ाना चाहिए, प्राकृतिक दशा में पेड़ पर जैसा लगता है, वैसा ही अर्पित करना चाहिए—“यथोत्पन्नं तथापयेत् ॥” मध्यमा और अनामिका के बीच में फूल लेकर अर्पण करना चाहिए—“मध्यमानामिकामध्ये पुष्पं संगृह्य पूजयेत् ॥” पूर्व दिवस में समर्पित पुष्पों के अपनोदन में अङ्गुष्ठ और तर्जनी का विधान है—“अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु निर्मास्यमपनोदयेत् ॥” तुलसी का दल बिना स्नान किये नहीं तोड़ना चाहिए—“अस्नात्वा तुलसीं छित्वा यः पूजां कुरुते नरः । सोऽपराधी भवेत् सत्यं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥” (वायुपुराण) । ‘पद्मपुराण’ के अनुसार पूर्णिमा, अमावास्या, द्वादशी, सङ्क्रान्ति, तैलाभ्यङ्ग, मध्याह्न, रात्रि, सन्ध्यासमय और अपवित्रता में तथा रात्रि के वस्त्र पहने हुए तुलसीदल लेना वर्जित है । वाचस्पति के मत से सङ्क्रान्त्यादि निषिद्ध समय में भी शालग्राम-पूजनार्थ तुलसीदल ले सकते हैं—“सङ्क्रान्त्यादौ निषिद्धेऽपि तुलस्यवचयः स्मृतः ॥” चन्दन, अमर और देवदार का चूर्ण धूप के लिए उत्तम है—“देवदारु-कृतं धूपं चन्दनागुरुमिश्रितम् । आदद्याद्देवपूजायां विधूमाङ्गारसम्भवम्” (परमसंहिता ५१५१) । अष्टगन्ध का धूप बहुत प्रसिद्ध है । धूप के चूर्ण को मध्यमा और अनामिका पर रखकर अङ्गुष्ठप्र से अभिन में डालना चाहिए । धूप देते समय घण्टी बजानी चाहिए । दीपक घी का ही बनाया जाय अथवा तेल का ही, घी और तेल दोनों को मिलाना नहीं चाहिए । बत्ती कपास की ग्राह्य है, घी गाय का ग्राह्य है—“गव्येच सर्पिषा दीपं तैलेनापि कृतं नवम् । सूत्रवर्त्ति-युतं दद्यादमुञ्जेनलदीपितम्” (परमसंहिता ५१५३), “न मिश्रीकृत्य दद्यात्तु दीपं स्नेहे घृतादिकम् । घृतेन दीपकं नित्यं तिलतैलेन वा पुनः ॥ त्वालयेत् सुनिशार्दूल सन्निधौ जगदीशितुः । कर्पासवर्त्तिका ग्राह्या न दीर्घा न च सूक्ष्मका” (कालिकापुराण) । नैवेद्य निवेदन करने के लिए सोने का, चाँदी का, कांसे का, ताँवे का या मिट्टी का पात्र हो अथवा ढाक का पत्ता या पद्म का पत्ता हो—“हैरण्यं राजतं कांस्यं ताम्रं मृण्मयमेव च । पालाशं पद्मपात्रं वा पात्रं विष्णोरतिप्रियम् ॥” (पद्मपुराण) । वैश्वदेव करके, घेतुमुद्रा दिखाकर, विविध, उत्तमोत्तम सात्त्विक, षड्ससम्पन्न सामग्री एवं पानीय निवेदन करना चाहिए । भोजनान्न के अभाव में फल और उन के भी अभाव में जल निवेदन करने से भी यह उपचार सम्पन्न होता है—“नैवेद्यवस्त्वन्नाभे तु फलानि च निवेदयेत् । फलानामप्यन्नाभे तु तोषान्यपि निवेदयेत् ॥” (पद्मपुराण) । पूर्वापोकान, उत्तगापोशन, हस्तप्रक्षालन, मुखप्रक्षालन, आचमनीय और करो-हस्तन समर्पण करना भी नैवेद्य के अङ्ग है । एला, लवङ्ग, कर्पूर से सुवासित ताम्बूल समर्पण करना चाहिए । चरणारविन्दों की चार बार, नाभि की एक

बार, वदनारविन्द की तीन बार और समग्र श्रीविग्रह की सात बार आरती उत्तारने से यह उपचार सम्पन्न होता है । शङ्खपूर्ण जल को श्रीमूर्ति के चतुर्दिक् घुमाना भी इस उपचार का अङ्ग है, किन्तु वैखानस भक्तगण शङ्ख को पूजा-कृत्य में नहीं लाते । शङ्खवारि से, आर्त्तिस्थानन्तर मार्जन पापघ्न है—“शङ्खमध्ये स्थितं तोषं अमृतं केशवोपरि । अङ्गुष्ठं मनुष्याणां ब्रह्मदत्तं व्यपोहति ॥” श्रीविष्णु भगवान् की चार परिक्रमा होती है—“चतस्रः केशवे कुर्यात्”, “हरेश्चतस्रः कर्त्तव्याः ।” जिस प्रणाम में छाती, सिर, नेत्र, मन, वचन, दोनों पैर, दोनों हाथ और दोनों घुटनों का उपयोग हो, उसे अष्टाङ्ग कहते हैं—“उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा । पदभ्यां कर्माभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते ॥” उपचारों में किसी प्रकार की न्यूनता रह जाय, तो वह श्रीभगवत्स्मरण से पूर्ण हो जाती है—“यद्यपि स्थूला च वायो-क्षया यज्ञदानतपःक्रियाः । न्यूनाः सम्पूर्णतां याप्ति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥”

बुद्धिवादी या बुद्धिशत्रु ?

(होम-इवन-यज्ञ पाप है या पुण्य ?)

(श्रोतुर्गार्तक त्रिपाठी)

१

मारवाड़ियों के यहाँ भोजन-नियन्त्रण के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए घनी सेठ श्री घनश्यामदास बिड़लाजी ने गत २४ अप्रैल के कलकत्ता से निकलनेवाले दैनिक ‘विश्वमित्र’ में एक वक्तव्य दिया, जिस के अन्त में बिना किसी प्रसङ्ग के आप ने यह ‘फतवा’ दे डाला कि “ऐसे समय में, जब लाखों प्राणी अन्न के अभाव से मर रहे हैं, तब धर्म के नाम पर यज्ञ करके अन्न और घी जलाना पाप है ।” इस पर काशी के विद्वान् सेठ श्रीगौरीशङ्कर गोयनकाजी ने आपत्ति की और दोनों में कुछ समय तक पत्र-व्यवहार चलता रहा । सम्भवतः गोयनकाजी के तर्कों का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाकर बिड़लाजी ने बीच ही में उस को समाप्त कर दिया और जनता की जानकारी के लिए सारे पत्र-व्यवहार को समाचार-पत्रों में छपाना भी स्वीकार नहीं किया । पर आप चुप नहीं बैठे, उल्टे अपने मत की वकालत का भार काशी के वयोवृद्ध डाक्टर श्री भगवान्दासजी को सौंप दिया, क्योंकि आप के मत में “भारत में आजकल केवल दो ही विद्वान् हैं और डाक्टर भगवान्दासजी उन में से एक हैं ।” बड़े-बड़े धनिकों, समाजवादियों, सुधारकों के प्रबल विरोध करने पर भी यज्ञरूपी नये ‘पाप’ की भारत की राजधानी दिल्ली और प्रमुख व्यापारिक केन्द्र कानपुर में जोत होते तथा स्वयं अपनी जन्मभूमि काशी की ओर तीव्रगति से बढ़ते हुए देखकर ‘मानवधर्मसार’ के प्रणेता ‘आधुनिक ऋषि’ डाक्टर साहब से न रहा गया और उन्होंने रुग्णवस्था में अपने स्वास्थ्य का बिना कुछ ध्यान रखे हुए अपने ‘मानवधर्म’ की रक्षा के लिए दिल्ली से निकलनेवाले दैनिक ‘हिन्दुस्तान’ के (ता० २५ जून से लेकर ता० १ जुलाई तक) ६ अङ्कों में “शान्तिवाद बनाम बुद्धिवाद” (होम-इवन-यज्ञ आदि कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य ?) शीर्षक लेख से १६ लम्बे लम्बे कालम रङ्ग डाले और उस लेख को पुस्तकरूप में ‘हिन्दी सस्ता साहित्य-मण्डल, दिल्ली’ से छपवा भी डाला ।

‘शास्त्रवादी बनाम बुद्धिवादी’

बिड़लाजी के केवल ‘वकील’ बनने से ही आप को सन्तोष न हुआ, क्योंकि ‘वकालत करनेवाले का वर्ण क्या है’ यह सम्भवतः अभीतक आप निर्णीत नहीं कर सके हैं । इसलिए आप ने गोयनकाजी को ‘शास्त्रवादी’ और बिड़लाजी को ‘बुद्धिवादी’ करार देकर ‘शास्त्रवादी बनाम बुद्धिवादी’ का मुकदमा खड़ा कर दिया और स्वयं न्यायाधीश के पद पर, जो अपने यहाँ के शास्त्रों ने प्रायः ब्राह्मण के लिए सुरक्षित (रिजर्व) रखा है, आरुढ़-होकर निम्नलिखित ‘तर्कहीन’ (मुख्य प्रश्न) कायम कर दीं—(१) “जब लाखों प्राणी, इस देश में, अन्न बिना मर रहे हैं, तब अन्न और घी को किसी तथाकथित शास्त्र के अनुसार आग में जलाना पाप है, अवर्ग है, अपराध है या नहीं ? अवान्तर प्रश्न, जो मुख्य प्रश्न से निकट सम्बन्ध रखते हैं, ये हैं—(२) इस मुख्य प्रश्न का निर्णय लौकिक मानव बुद्धि या किसी तथाकथित शास्त्र से किया जाय ? (३) शास्त्र क्या वस्तु है ? (४) शास्त्र और बुद्धि में जब विरोध हो, तब कौन प्रबल माना जाय ? (५) यदि शास्त्र प्रबल माना जाय, तो उस के अनुसार मुख्य प्रश्न का उत्तर क्या होगा ? (६) यदि बुद्धि, तो क्या ?” वादी-प्रतिवादी दोनों ओर से स्वयं

बहस करके आप ने अन्तिम निर्णय भी सुना दिया। ऐसा करने में आप ने कहीं प्रसङ्ग से और अप्रसङ्ग से भी कितनी ही बातों की चर्चा उठायी है। स्थानाभाव के कारण उन सब पर यहाँ विस्तृत रूप से विवेचन नहीं चल सकता, पर संक्षेप में हम आप की सभी बातों पर विचार करेंगे।

शास्त्र क्या हैं ?

सब से पहले आप इस अवान्तर प्रश्न पर ही टूट पड़ते हैं और कहते हैं कि 'शास्त्र' मानव की बुद्धि से ही उत्पन्न हुए हैं। शास्त्र को पुरुष उत्पन्न करते हैं, पुरुष को शास्त्र नहीं। विचार का खण्डन भी विचार ही करता है। यदि 'वेद' नामक शास्त्र को अपौरुषेय माना जाय, तो इस का प्रमाण क्या? यदि प्रमाण भी हो, तो उन को जाँचनेवाली 'बुद्धि' ही है। कहा जाता है कि ऋषियों ने वेदमन्त्रों को बनाया नहीं, केवल देखा। इस का अर्थ तो यही है कि ज्ञान के जो भी विषय हैं, उन को मनुष्य देखते ही हैं, बनाते नहीं। आग में लकड़ी डाल देने से जलकर राख हो जाती है, इस वास्तविक तथ्य को किसी ऋषि ने बनाया नहीं, देखा ही। फिर तथा-कथित शास्त्रों में ही आपस में मतभेद हैं, मीमांसा ईश्वर पदार्थ को नहीं मानता और वेदों को अपौरुषेय बतलाता है, पर न्यायशास्त्र ईश्वर को मानता और वेदों को पौरुषेय बतलाता है। फिर सभी ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध अपने अपने धर्मग्रन्थों को शास्त्र मानते हैं। ऐसी दशा में बुद्धि ही निर्णय कर सकती है कि किस को माना जाय और किस को नहीं। जिन वेदों पर बड़ा जोर दिया जाता है, वे केवल शब्दमात्र रह गये हैं। तीस करोड़ हिन्दुओं में तीन सौ भी ऐसे नहीं हैं, जिन्हें उन का साक्षोपाङ्ग ज्ञान हो। वेद भी परस्पर विरोधिनी बातों से भरे पड़े हैं। 'श्रुति' (सुनी हुई) बात की यह दशा है, फिर 'स्मृति' (याद की हुई बातों) का कहना ही क्या? इसीलिए व्यास ने युधिष्ठिर के मुख से कहलाया है कि "महाजनो येन गतः स पन्थाः।" यहाँ महाजन का अर्थ 'महापुरुष' नहीं बल्कि जनता का जनसमूह है। निष्कर्ष यह कि बुद्धि ही निर्णायक है।"

शास्त्र क्या है, यह प्रत्येक सनातनी जानता है। श्रुति, तन्मूलक स्मृति और पुराण, ये ही हिन्दुओं के शास्त्र माने जाते हैं। सब का मूल श्रुति है, 'गीता' में भी, जिस के बुद्धिवाद की दुहाई दी गयी है, भगवान् कृष्ण ने कहा है कि—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः', 'वेदानां सामवेदोऽस्मि।" अतः स्पष्ट कहा जा सकता है कि 'गीता' एवं उस के मूलग्रन्थ (भारत) तथा उस के वक्ता-श्रोता की दृष्टि में 'शास्त्र' शब्द का अर्थ वेद एवं तद्विरुद्ध, तन्मूलक आर्षग्रन्थ ही है।

'मिश्रजी' का मूल स्थान

(श्री चन्द्रबली पाण्डेय एम. ए.)

'मिश्रजी' से कहीं आप यह न समझ लें कि हम किसी मिश्रजी पर लिखना चाहते हैं। नहीं, हमारा उद्देश्य तो यह दिखाना है कि हमारे देश के मुसलमान भी मिश्र से हमारा क्या सम्बन्ध बताते हैं। दिल्ली के प्रसिद्ध तबलीगी नेता और कलमधनी लेखक ख्वाजा निजामी को कौन नहीं जानता? उन्हीं का कहना है—'मिश्र के कदीम बाशिन्दे हिन्दुओं से मुशाबा थे। उन के पुराने महात्मा बुद्ध और जैनमत की मूर्तियों की हमशकल हैं और वैसी ही मुराकियों की सुरतें हैं। बाज के सरो पर हिन्दु जोगियों के से चोटे, तालू के रुख ऊपर को बंधे हुए हैं। तसवीरों के लिबास व असबाब माशरत से भी हिन्दूपना जाहिर होता है। एक मुहम्मदिक जब इस हालत को देखता है, तो बेएल्त्यार उस की जबान से निकलता है "कि बरहमन मिश्र के बाशिन्दे थे। यहाँ से जाकर हिन्दुस्तान में आबाद हुए और उन के जाने का जमाना वही है जब कि फिरकन गक दुरिया होकर मर गया। और बनी इसराएल के हाथ से बरहमनों को अजीयत पहुँचने का अन्देशा हुआ। आप देख लीजिये कि हिन्दुस्तान में बरहमनों को आज तक, मिश्रजी कहते हैं, जो अलामत है इस क्षात्र की कि वह अहलेमिश्र है" (सफरनामा ख्वाजा हसन निजामी, सन् १९२२ ई० पृ० ५१)। ख्वाजा साहब की पकड़ कितनी प्रकी और उन्हें हिन्दुस्तान का कितना पता है, इस का स्पष्ट आभास तो इसी से मिल जाता है कि आप 'मिश्रजी' को 'बरहमनों' का पर्याय समझते हैं और जानते इतना भी नहीं कि सभी ब्राह्मण 'मिश्रजी' नहीं कहलाते। अच्छा यह तो उन की समझ रही, पर, खोज की बात तो यह है कि उन में इतनी समझ क्यों है। ख्वाजा हसन निजामी का ध्यान

ध्वंस अथवा 'तबलीग' पर ही सदा लगा रहता है, अतः उन को नतीजाम उतना नहीं दिखायी देता, जितना प्राचीन। परन्तु सौभाग्य से देश में एक दूसरे ख्वाजा भी हैं, जो आँख खोलकर चारों ओर देख सकते और सच्ची बात लिख भी सकते हैं। इस प्रसङ्ग में उन का मत है "भारत का रङ्ग अमूमन सांवला, कद मुतबस्सित बल्कि कमतर और शकल व बजा बङ्गला, खासकर बिहार के आदिमियों से इस कदर मिलती हुई है कि हैरत होती है। बहुत से आदमी जो खास मिस्त्री हैं, उन को मैं ने शकल से हिन्दुस्तानी समझा। बहुत से लोगों की पगड़ी भी बङ्गाली या बिहारी कायस्थों की सी है और बाज एक चादर बतौर एक रुमाल उड़ीसियों मोठों पर डालते हैं, जैसे हमारे यहाँ बाज महाजन।" (रोजनामचा सियाह शम्सुल अनवार प्रेस, मेरठ, सन् १९१२ ई०, पृ० २६०) ख्वाजा गुलामुस्सकलैन को मिश्र में केवल 'मिश्रजी' दिखायी नहीं देते, तो यह उन का सौभाग्य है। उन के सामने उन का सारा देश और उस के निवासी हैं। मिश्र में कहीं उन्हें बङ्गाली मिस्त्री दिखाई देता है, तो कहीं बिहारो मिस्त्री, कहीं अपना देशी कायस्थ दिखाई देता है, तो कहीं ठेठ महाजन। सारा यह कि पग पग पर उन्हें हिन्दुस्तानी मिस्त्री दिखाई दे जाते हैं और उन का जी उन्हें, उन मिस्त्रियों को हिन्दुस्तानी ही समझ लेता है। आप पर विचार करना आप का काम है किसी ख्वाजा का नहीं। तो भी उक्त ख्वाजा साहब कृपाकर इतना और भी कह जाते हैं कि "इन के मुक्क और जमीन की हालत और पानी की इफरात और पोलिटिकल तरीक का शौक भी बङ्गालियों की मानिन्द है।" (वही पृ० ४६०)।

यदि यही बात पक्की है, तो इस साम्य का कारण देश-काल को कहा जा सकता है। किन्तु इतने ही से सन्तोष कर लेना किसी प्रकार का तोषप्रद नहीं कहा जा सकता। परिणाम कुछ भी हो, पर इस विषय की खोज में प्रत्येक हिन्दू को लग जाना चाहिए और यह देखना चाहिए कि वास्तव में इस का रहस्य क्या है। हम भलीभाँति जानते हैं कि हमारे देश के कतिपय विद्वानों ने इस ओर ध्यान दिया है और किसी ने ख्वाजा हसन निजामी की भाँति ब्राह्मणों और वेदों को मिस्त्री बतलाया है, तो किसी ने ख्वाजा गुलामुस्सकलैन की भाँति फिनीशी लोगों को 'मिश्र' सिद्ध किया है और उन का मूल देश कूचबिहार अथवा बङ्गाल ही माना है। जो हो मिस्त्रियों का बङ्गाल, बिहार के कायस्थों और यहाँ के बाज महाजनों से किसी न किसी बात में पक्का मिल जाना और खासा हिन्दुस्तानी के रूप में सामने आना हम हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ मूल्य रखता है, इसे यों ही छोड़ देना ठीक नहीं। हमें उन का लेखा लेना ही होगा, उन की छवि उतारनी ही होगी और होगा उन का रूप भरना भी।

अमरीका के मूलनिवासी अपने आप को क्या कहते हैं, इसे हम नहीं जानते, पर वहाँ के गोरे उन्हें कहते 'लाल भारतीय' या 'रेड इण्डियन्स' ही हैं। उन के विषय में कुछ न कुछ जानकारी तो प्राप्त हो गयी है और किसी धनी-मानी की कृपा तथा किसी खोनी-शोधी के प्रयत्न से उस का प्रकाशन भी सचित्र हो चुका है। यह पुस्तक है श्री चमनलाल जी की 'हिन्दु अमरीका'। आवश्यकता है इसी प्रकार की खोज और प्रकाशन की, इस हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों के सम्बन्ध को। और कुछ नहीं, तो इतना तो शोष हो जाना चाहिए कि उन की वेशभूषा, रहन-सहन और बात-व्यवहार का पूरा पूरा रूप सामने आ जाय, जिस से समय समय पर लोग इस पर विचार कर सकें और सूट-बूट के आक्रमण से सुरक्षित भी रह जायें। अन्यथा कुछ ही दिनों में यूरोप उसे ले डूबेगा और इस मिश्र की कोई झाँकी भी न मिलेगी। संभयता का दानव मुँह बाये खड़ी है, कोई कबतक उस से अपनी रक्षा कर सकेगा? सो भी उस समय, जब वह कामरूप भी कम नहीं है।

भूलसुधार

गत अङ्क १०-११-१२ के 'आधुनिक उपासक-सम्प्रदाय का परिणाम' शीर्षक लेख में कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं। विद्वान लेखक की सूचना-उसार सुन्न पाठक उसे इस प्रकार सुधार लेने की कृपा करें। पृष्ठ ७६, कालम १, पं० २४ में से 'यह है कि' इतना निकाल दीजिये और 'आवश्यक है' के आगे '—' होना चाहिए। पृष्ठ ८३, कालम २, पंक्ति २९ में 'भी' के स्थान में 'ही' होना चाहिए। पृष्ठ ९२, कालम १, पंक्ति १ में 'हँसी' के स्थान में 'चर्ची' होना चाहिए और कालम २, पंक्ति २३ में 'उपासकों के लिए ज्ञान आस्तिकों' के स्थान पर 'अन्य उपासकों के लिए नास्तिकों' होना चाहिए।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

भारत का भावी शासनविधान

१

वर्तमान महायुद्ध का अन्त जैसे जैसे निकट आता जाता है, हमारे सामने यह प्रश्न उत्पन्न होता जाता है कि भारत का भावी शासनविधान क्या होगा ? जिस समय 'साइमन कमीशन' की नियुक्ति पर वादविवाद चल रहा था, ब्रिटेन ने भारत को यह चुनौती दी थी कि "अपना एक सर्व-सम्मत विधान हमारे सामने रखो ।" उस के फलस्वरूप कांग्रेस ने 'नेहरू-कमेटी' नियुक्त की, जिस की सिफारिशों मुसलमान तथा सिखों को पसन्द न आयीं । तब से कांग्रेस ने विधान बनाने का कोई प्रयत्न न किया और उस को भावी 'विधान-सम्मेलन' के माथे टाल दिया । यदि वह अपनी उसी बात पर डटी रहती, तो वहाँ तक गनीमत थी । पर 'राजा-गान्धी-योजना' विधान की एक प्रधान जटिल समस्या को अभी हल कर डालना चाहती है । 'गान्धी-जिना-मिलन' के फलस्वरूप यदि कोई योजना निश्चित हो गयी, तो फिर उस के प्रतिकूल जाना किसी भी विधानसम्मेलन के लिए टेढ़ी खीर होगी । उधर 'हिन्दू-महासभा' ने भी 'विधान' बनाने के लिए एक कमेटी नियुक्त की, पर उस की कोई रिपोर्ट आज तक प्रकाश में न आयी । इन संस्थाओं तथा आजकल के नेताओं के दिमाग में शासनविधान का जो चित्र धूम रहा है, वह है पाश्चात्य लोकतन्त्र का । उस में कुछ हेरफेर करके वे उसे भारत के लिए अपना लेना चाहते हैं । पर हमारी समझ में किसी देश या राष्ट्र का शासनविधान तब तक उस का वास्तविक कल्याण नहीं कर सकता, जब तक कि वह उस की संस्कृति के अनुरूप न हो और उस की प्राचीन परम्परा में स्थित न हो । शासक आते-जाते रहते हैं, राज्य बनते-बगड़ते रहते हैं, पर इतिहास में जीवित रहती है संस्कृति, यदि उस का आधार दृढ़ है । किसी भी ऐसी शासनपद्धति से, जो उस की प्राचीन संस्कृति के अनुरूप नहीं है, उस का वास्तविक तथा स्थायी हित कभी नहीं हो सकता, थोड़े दिन भले ही वह ऊपरी शान्ति और दिखावा उन्नति का अनुभव कर ले । अपना तथा संसार का वास्तव में भारत तभी उपकार कर सकता है, जब वह मनसा, वाचा, कर्मणा सच्चा भारत बना रहे ।

इस दृष्टि से भारत के भावी शासनविधान पर विचार करने की ओर हमारे तथाकथित नेताओं का कभी ध्यान भी नहीं गया । जाता भी कैसे ? न उन के संस्कार और न उन की शिक्षा ही ऐसी है कि वे संसार के भावी कल्याण के पर्यप्रदर्शक, प्राचीन, पवित्र भारत के दर्शन का प्रयत्न करते । वे तो उसे कोई आधुनिक पाश्चात्य देश बनाना चाहते हैं । इसीलिए वे उस के लिए किसी वैसी ही शिक्षापद्धति और शासनव्यवस्था रखना चाहते हैं । हर्ष है कि इस ओर 'धर्मसङ्घ' ने कुछ ध्यान दिया और उस ने अपने गत दिल्ली महाधिवेशन में 'सनातनी शासन-योजना' बनाने के लिए एक कमेटी नियुक्त की, जिस के अध्यक्ष श्री जयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम. ए. बनावे गये । 'वर्णाश्रम स्वराज्यसङ्घ' ने भी इस ओर असिरुचि दिखलायी और उस ने भी इस में सहयोग प्रदान किया । श्री दूरकालजी-इस पर बहुत पहले ही से विचार कर रहे थे । उन की बनायी हुई एक योजना, 'वैदिक सनातन धर्मप्रभा, अहमदाबाद' की ओर से 'सिद्धान्त' वर्ष ४ अङ्क १ में प्रकाशित की गयी । जानकर हम ने उसे 'वादे वादे' के स्तम्भ में रखा था कि जिस में उस पर बिना सङ्कोच के विचार चल सके । पर किसी विद्वान् ने उस पर लेखनी नहीं उठायी । 'धर्मसङ्घ' के गत दिल्ली अधिवेशन में श्री दूरकालजी भी उपस्थित थे । वहाँ उन्होंने ने जगद्गुरु श्री भारतीकृष्ण तीर्थ से परामर्श करके मूल योजना में यत्रतत्र कुछ संशोधन भी किये । मूल योजना अति संचिप्त थी, उस का कुछ विशद विवेचन श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी ने इधर के कई अङ्कों में किया । उस के एक अंश पर श्री नारायण सदाशिव पराण्डे जी ने कुछ विचार भी चलाया, पर वह वहीं समाप्त हो गया । हम ने जान-

बूझकर अभी तक स्वयं उस पर कुछ नहीं लिखा, पर अब विधान का प्रश्न अधिक दिनों तक टाला नहीं जा सकता, दूसरे 'धर्मसङ्घ' का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन भी आगामी मार्गशीर्ष के प्रारम्भ में होने जा रहा है । इसलिए उस पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

दुराचरण और अनावृष्टि

गत जून के 'वर्ल्ड रेव्यू' में एक समाचार छपा है कि मिलन (इटली) में वर्षा नहीं हो रही है । इस पर वहाँ के प्रधान पादरी (कार्डिनल आर्क-विशप) ने एक आज्ञा निकाली है, जिस में कहा गया है कि "रविवार को काम करने, खेल-तमाशाओं के लिए सदा उत्सुक रहने, विशेष कर युवतियों के दुराचरण के कारण फसल नष्ट हो रही है । इसलिए सब को वृष्टि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए ।" गत २६ अगस्त का हाथरस का एक समाचार है, जो पत्रों में प्रकाशित हुआ है कि उस प्रदेश की दो लड़कियाँ पञ्चाभि में बैठकर वर्षा के लिए भगवान् से कई दिन से प्रार्थना कर रही हैं । उन को ध्यान में मग्न देखकर दर्शनार्थियों की भीड़ जुटी है । इधर मित्रराष्ट्रों की जीत होते देखकर वाइसराय लार्ड वेवेल ने आज्ञा निकाली है कि तीन सितम्बर को सब ईश्वर-प्रार्थना करें । ब्रिटेन में बादशाह के प्रायः ऐसे ही आदेश निकलते रहते हैं । अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट मित्रपक्ष की विजय को ईश्वर की ही देन समझते हैं । हिटलर तो ईश्वर के ही भरोसे पर लड़ रहे हैं । गत बमविस्फोट के अवसर पर उन के बालबाल बच जाने में उनके अनुयायियों को ईश्वर का ही हाथ देख पड़ रहा है । लन्दन के पत्रों में समाचार छपा है कि नार्वे (फ्रान्स) में ब्रिटिश सैनिकों ने ईश्वर-प्रार्थना करके आक्रमण आरम्भ किया । कोई भी देश क्यों न हो, दृष्ट-अदृष्ट जगत् के अस्तित्व और उन के परस्पर-सम्बन्ध में किसी न किसी रूप में अधिकांश लोगों को विश्वास करना ही पड़ता है । यदि एक अदृष्ट शक्ति की प्रार्थना, उपासना से इस लोक में सफलता प्राप्त हो सकती है, तो दुराचरण से अनावृष्टि भी हो सकती है । अच्छे-बुरे दोनों कर्मों का फल मानना पड़ेगा । किस कर्म का फल क्या होगा, इस में भले हो मतभेद हो, पर यदि कर्मसिद्धान्त मान्य है, तो फिर दृष्ट-अदृष्ट फलों से इनकार कैसे किया जा सकता है ? प्रत्यक्षवादी यदि संसार के घटनाक्रम पर विचार करें, तो उन्हें अपनी भूल भी प्रत्यक्ष हो सकती है ।

साधक और साधन

(श्री स्वामी करपात्री जी)

शास्त्रों की पद्धति को देखने से मालूम होता है कि देरी साधन में होती है, ज्ञानप्राप्ति में नहीं । रजस्तमोगुण-विरहित शुद्ध मन से आत्मज्ञान शीघ्र हो जाता है । कहते हैं कि फूल तोड़ने में देरी होती है, पर साधन के इकट्ठे हो जाने पर ज्ञान की प्राप्ति में देर नहीं होती । तेल, बत्ती और आधार ठीक हो, तो दूसरे दीपक के साथ केवल सम्बन्ध ही जोड़ने की देर है, फिर तो प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगेगा । जीव के पास साधन जुटा नहीं कि तद्रूप हुआ नहीं । सांसारिक स्नेहलेश भी भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक है । जगत् की तनिक भी परवाह न करते हुए प्रमुच्यन्तु सर्वथा उपयुक्त होता है । प्राचीन काल के लोग धर्माभ्युद्योग कर विशुद्ध अन्तःकरण से सर्वगुणसम्पन्न हो गुरु ढूँढते थे । सद्गुरु की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञानप्राप्ति तुरत होती थी । उपनिषद् और पुराणों में ऐसे कितने ही प्रमाण भरे पड़े हैं । सद्गुरु ने एक बार उपदेश किया और शिष्य को ज्ञान की प्राप्ति हुई । नारद को सनत्कुमार ने, श्वेतकेतु को उद्दालक ने ऐसे ही उपदेश तो दिये थे और उन्हें सद्गुरु से तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ था ।

तब के लोग साधनसम्पन्न हो गुरु-अन्वेषण के लिए तीर्थों में भ्रमण करते थे। गुरु तीर्थों एवं जङ्गलों में ही रहते थे। तत्त्वज्ञानी ब्राह्मणों के ये ही निवासस्थान थे। एक स्थान पर आया भी है कि अमुक राजा ने एक सच्छिष्य को सद्ब्राह्मण ढूँढने का आदेश किया। जब इसे कहीं कोई न मिला, तब उस ने आकर राजा से अपनी विवशता प्रकट की। राजा ने उसे डपटकर कहा कि “ब्राह्मण तीर्थों और जङ्गलों में रहते हैं, तू इधर-उधर क्यों भटकता है ? जाकर पुनः तलाश कर।” इस पर वह तुरत जङ्गलों में गया और आचार्य मिल भी गये। उन्होंने तत्त्वज्ञान का उपदेश किया और वह उन के उपदेश से कृतकृत्य हो गया। कहने का तात्पर्य यह कि अपने पास भगवत्प्राप्ति के साधन जुटाकर फिर सद्गुरु के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस में देर न लगेगी। यदि तेल, बर्तिका और आधार सब एकत्रित नहीं हैं, किसी एक की भी कमी है, तो दीपक दूसरे दीपक से मिलाया करो, होगा क्या ? प्रकाश कदापि नहीं हो सकता। वैसे ही साधन के बिना इष्टसिद्धि असम्भव ही है। यदि आचार्य मिल भी गया और अपना अन्तःकरण मलिन है तथा उस में साधक के गुण वर्तमान नहीं हैं, तो भी क्या हो सकता है ? नियमपूर्वक साधनचतुष्टय-सम्पन्न, निष्ठाप हो सद्गुरु ढूँढना चाहिए। जब पापक्षय होगा, तब ज्ञान प्राप्त हो जायगा। बड़े बड़े यज्ञ, तप, दान करके तब कहीं तनु ब्रह्मप्राप्तियोग्य बनता है। यह कोई आसान काम नहीं है। “ममतारत सन ज्ञानकहानी। अतिलोभी सन बिरति बखानी॥” ज्ञान की कथा और उपदेश ममतारत और लोभी के लिए व्यर्थ है। जैसे ऊसर में बीज बोने से वह उगता नहीं, प्रत्युत बोया बीज भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही सांसारिक प्रपञ्चों में फँसे हुए प्राणियों को उपदेश व्यर्थ है। उस का उस के आगे कोई भी मूल्य नहीं।

बुद्धिवादी या बुद्धिशत्रु ?

(होम-हवन-यज्ञ पाप है या पुण्य ?)

(श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी)

२

वेदों की अपौरुषेयता

आप लिखते हैं कि “शास्त्र मानवबुद्धि से ही उत्पन्न हुए हैं।” अन्य सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों के सम्बन्ध में यह ठीक है, पर हिन्दू-धर्मशास्त्र के आधार वेद तो अपौरुषेय हैं। मानवबुद्धि भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि का शिकार हो सकती है, फिर कोरी कोरी उसी की उपज पर विद्वास कैसे किया जाय ? मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद किसी भी मानवबुद्धि के बनाये नहीं हैं, किन्तु उन के आधार पर मानव एवं उस की बुद्धि बनायी गयी है। वेद नित्य हैं, अपौरुषेय हैं। ‘अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयं-भुवा’ अर्थात् वेदलक्षणा वाक् अनादि-निधना है, यह वाक्य मनु का ही है, जिन की आप सदा हामी भरा करते हैं। विभिन्न सर्गों में ब्रह्मा से उस का सम्प्रदाय-प्रवर्तनमात्र हुआ करता है। “अतएव च नित्यत्वम्”, “शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्” इत्यादि ‘ब्रह्मसूत्र’ के वाक्यों और ‘वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः” (मनु) आदि स्मृतिवचनों से वेदशब्दों द्वारा विश्व की सृष्टि का स्पष्ट सङ्केत मिलता है। सर्वज्ञ ईश्वर के नित्य ज्ञान से विश्व की सृष्टि होने के पहले ही ईश्वरीय ज्ञान में अनुविद्ध-रूप से वैदिक शब्दों का अस्तित्व विदित होता है, क्योंकि ऐसा कोई भी प्रत्यय नहीं, जिस में शब्द का अनुवेध न हो—“न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादवे। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।” अर्थात् सभी ज्ञान शब्द में अनुविद्ध ही भासित होता है। किसी भी वस्तु के बाह्यकार वनने के पूर्व उस का ज्ञानीय आकार होता है, जिस के साथ शब्द अनुविद्ध रहता है। इस न्यायसिद्ध विश्वनिर्माता, सर्वज्ञ परमेश्वर के ज्ञान में रहने-वाले शब्द अपौरुषेय एवं नित्य ही हैं, अतः वे पुरुषाधीन नहीं, पुरुषोत्पत्ति ही उन के अधीन है। सर्वशासक परमेश्वर के वचन ही वेदादि शास्त्र हैं। फिर वेदों की अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परा आजतक प्रचलित है। अतः ‘सम्प्रदायविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकृतृ कृत्व’ हेतु से भी वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध है। आधुनिक अटकलपट्टू इतिहास की बात जाने दीजिये, वैसे वेदों के निर्माण का देश, काल तथा कर्ता आजतक प्रमाण के आधार पर कोई भी सिद्ध नहीं कर सका। सभी देशों के प्राचीन धर्मग्रन्थों में एक ही

अनादि परम्परा किसी न किसी रूप में—प्रायः विकृत रूप में—मिलती है। क्या आधुनिक इतिहास ने कभी इस की भी खोज की है कि यह परम्परा क्या है और इस का मूल कहाँ है ? यदि वह ऐसा करता, तो उसे इस का मूल वेदों में देख पड़ता, किन्तु लाख घिर पटकने पर भी उन के निर्माण के देश, काल तथा कर्ता का पता न लगता। बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान तथा अन्य जितने भी आधुनिक मतमतान्तर तथा तत्पक्षक ग्रन्थ हैं, उन के देश, काल एवं रचयिता निर्णोत हैं। इसलिए उन की अपौरुषेयता का दावा कैसे किया जा सकता है ? यह एक सीधी सी बात डाक्टर साहब की समझ में न आये, यह आश्चर्य है। समझ में आये भी कैसे, आप तो ‘ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः’ का अर्थ समझ रहे हैं कि ‘ज्ञान के जो भी विषय हैं, उन्हें मनुष्य देखते हैं, बनाते नहीं’। पर यदि यही अर्थ है, तो फिर ऋषियों और साधारण मनुष्यों में भेद ही क्या रहा ? वस्तुतः परोक्ष मन्त्रों के साक्षात्कर्ता ही ऋषि कहे जाते हैं। वे मन्त्रों का निर्माण नहीं करते, नित्यसिद्ध अनादि वेद-मन्त्रों का तपोविशेष से उन्हें साक्षात्कार होता है।

परस्पर मतभेद

फिर आप को हिन्दू-धर्मशास्त्रों में सर्वत्र मतभेद ही दिखाई भी पड़ता है। पहले तो आप को चारों वेदों के अनुयायियों ही से खटपट खटकती है। मनु ने सामवेद की ध्वनि को ही ‘अशुचि’ बतला दिया है—“सामवेदः स्मृतः पित्रः तस्मात् तस्य अशुचिर्ध्वनिः।” यह वाक्य क्षेपक है या मूल ग्रन्थ में भी था यह कहना आप के लिए कठिन है। दूसरी ओर ‘गीता’ में कृष्ण ने ‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ कह डाला है। जिस वेद के सम्बन्ध में ऐसे मतभेद हों, उस का आप की दृष्टि में प्रामाण्य ही क्या ? यदि इसी वर्ष के ‘सिद्धान्त’ के, जिस के आप ग्राहक भी हैं, अङ्क ३-४ में इसी विषय पर प्रकाशित लेखों पर आप ने एक दृष्टि डाली होती और उन पर कुछ विचार भी किया होता, तो इस भेद की भ्रान्ति अवश्य मिट गयी होती। परन्तु, ऐसा करना आप के स्वभाव में ही नहीं है। फिर तथाकथित शास्त्रों में भी आप को मतभेद ही भासित होता है। आप के लिए मीमांसा-दर्शन कुछ कहता है तो न्यायदर्शन कुछ ! इस से भी आप की बुद्धि का परिचय मिलता है। इस प्रकार का भेद एक तो दृष्टिभेद से सम्भव हो सकता है, दूसरे क्रमिक विकास की दृष्टि से। भारतीय दर्शन सोपान-परम्परा के अनुरूप क्रमशः विकसित हुए हैं। अतः न्याय, वैशेषिक से अधिक विकास सांख्ययोग में और उस से भी अद्वैत वेदान्त में है। केवल षड् दर्शन में ही नहीं, नास्तिक जैन, बौद्ध मत में भी ऐसा समन्वय स्थापित किया जा सकता है। एक दार्शनिक ने इन सब विभिन्न चिन्तनों का मञ्जुल सामञ्जस्य इन शब्दों में किया है—“श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनराहृतः। वैदिको व्यवहर्तव्यो, ध्यातव्यः परमः शिवः॥” फिर देश, काल तथा अधिकार-भेद की दृष्टि से भी शास्त्रों में बहुत सी ऐसी बातें मिलेंगी, जिन में परस्पर विरोध जान पड़ता है। कहीं किसी यज्ञ की निन्दा, तो कहीं किसी यज्ञ की प्रशंसा के पुल बाँधे गये हैं। पर वास्तव में यह सब विरोध नहीं, केवल विरोधाभास है। अर्थवाद का ध्यान रखते हुए मीमांसा-पद्धति से यह सब समझ में आ सकता है। वेद गुरुपरम्परा से सुने ही जाते हैं, किसी से कभी बनाये नहीं गये, अतएव वे ‘श्रुति’ कहे जाते हैं। “श्रूयते एव परं न केनापि क्रियते” इस व्युत्पत्ति से दार्शनिकों ने श्रुति की अकृत्रिमता एवं निरपेक्षप्रमाणता दिखलायी है। इसीतरह ऋषियों द्वारा श्रुतिमूलक अर्थों के स्मरण को ‘स्मृति’ कहा जाता है। इस से भी श्रुति-मूलक होने से स्मृतियों की सापेक्षप्रमाणता दिखलायी गयी है। डाक्टर साहब के मीमांसाज्ञान का कहना ही क्या, “उन के लिए तो ‘वेद पदार्थ’ श्रुति अर्थात् केवल ‘सुनी हुई बातें’ हैं और ‘याद की हुई बातें’ स्मृति हैं। उन का ‘मानवधर्मसार’ चाहे जितना सुनाया जाय या रटा जाय, वह न कभी ‘श्रुति’ होगा और न ‘स्मृति’। डाक्टर साहब को हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम तथा अन्य कितने ही वास्तविक परस्परविरोधी सम्प्रदायों के केवल सिद्धान्तों में ही नहीं, उन की उपासना तक में ‘तात्त्विक एकता’ का भान होता है। इस पर उन्होंने एक पुस्तक ही लिख डाली है, जिस को धार्मिक एकता स्थापित करने की दृष्टि से स्कूल, कालेजों में पढ़ाये जाने के लिए उन्होंने बहुत जोर दिया है। आधुनिक विद्वानों में “समन्वयदृष्टि” आप की विशेषता मानी जाती है। ऐसे विद्वान् को ‘हिन्दूधर्मशास्त्रों’ में सर्वत्र मतभेद ही

आ देख पड़े, तो यही कहना होगा कि यह उस बुद्धि का फेर है, जिस का गीत आप ने अपने लेख में आदि से अन्त तक गाये है।

‘महाजनो येन गतः स पन्थाः’

आप के तर्कों का यह किला, जिस में हिन्दूधर्मशास्त्र का भण्डाफोड़ किया गया है, आप ही की एक बात से, जो इस प्रसङ्ग के अन्त में कही गयी है, एकदम हवा हो जाता है। यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद का प्रसिद्ध वाक्य है, “तर्कप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिः यस्य वचः प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुह्यं महाजनो येन गतः स पन्थाः” को उद्धृत करते हुए आप लिखते हैं कि “तर्क की कहीं समाप्ति नहीं, श्रुतियाँ विविध, परस्पर-विषम, एक ही स्मृतिकार ऋषि नहीं, जिस की बात मान ली जाय, धर्म का तत्व तो (मनुष्य की हृदय-) गुहा में (उस की बुद्धि के प्रेरक आत्मा के रूप में) छिपा हुआ है। जिस ‘महाजन’-समूह, में, जनता में, समाज में रहना हो, वह ‘जनसाधारण’, ‘लोकमत’, ‘कसरत राय’ से ठीक जिस रास्ते पर चले, वही रास्ता ठीक है, धर्म है। ‘महाजन’ शब्द का अर्थ ‘महापुरुष’, ‘बड़ा आदमी’ नहीं, जैसा भ्रान्ति से बहुधा समझा जाता है, बल्कि ‘जनता’, ‘जनसमूह’, ‘पब्लिक’ जो ही अर्थ आजतक गुजराती भाषा में इस शब्द का चला आता है।” यह खूब रही, एक ‘बड़ा आदमी’ कितना ही बलवान् बीलडौलवाला हो, सम्भवतः ‘हृदय-गुहा’ में छिपा हुआ ‘धर्म-तत्व’ खींचकर न निकाल सके, पर जनसमूह तो उसे अवश्य ही निकाल देगा। आप के इस विचित्र भाष्य ही ने आप की बात पर पानी फेर दिया। हृदयगुहा में निहित धर्मतत्व को कोई गुह्य (महाजन), महापुरुष ही प्रत्यक्ष करा सकता है, ‘जनसमूह’, ‘पब्लिक’ नहीं। पर आगे चलकर ही आप लिखते हैं कि “क्या बहुत ज्यादा संख्या में लोग शराब पीने लगें, तो वह धर्म हो जायगा ?” महाजन का अर्थ यदि ‘जनसमूह’ है, जैसा कि आप ने सिद्ध किया है, तो धर्म हो ही जाना चाहिए। पर यह भी नहीं, आगे ही आप प्रयाते हैं कि एक वेदवित् जिस को धर्म कहे, वही धर्म है, दस हजार अज्ञानियों का कहा हुआ धर्म नहीं है—“एकोऽपि वेदविद्धर्मं व्यवस्येद्वि कर्हिचित्। स धर्म इति विज्ञेयो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥” कहां ‘जो जनसमूह कहे, वही धर्म है’ और कहां ‘जो एक वेदवित् कहे, वही धर्म है’ ! आप को आगे-पीछे रहे हुए अपने इन वाक्यों में कोई विरोध नहीं देख पड़ता, ‘पर शास्त्रों में अन्त परस्परविरोध ही है’, इस नतीजे पर ‘आधुनिक ऋषि’ का ही दिमाग पहुँच सकता है। वस्तुतः यह वचन श्रुति, स्मृति, मुनिवचनों का अप्रामाण्य अवस्थापन करने को नहीं उठा है, अपितु समन्वय करने के लिए ही इस का स्थान है। ‘उदिते जुहोति’, ‘अनुदिते जुहोति’ आदि दो विरोधिनी श्रुतियाँ मिलती हैं। स्मृतियों में भी ऐसी बातें आती हैं। इस वचन से यह व्यवस्था बतलायी जा रही है कि जिस कुल, जिस सम्प्रदाय के ‘महाजन’ अर्थात् श्रुतिस्मृत्यनुसारी महापुरुष जिस रास्ते से चलें, उस कुल एवं सम्प्रदाय के लोगों को उसी रास्ते से चलना चाहिए। इसतरह इन विभिन्न वचनों की सम्प्रदायभेद से व्यवस्था समझनी चाहिए। गुजराती मेरी मातृभाषा है, उस में मुझे ‘महाजन’ शब्द का अर्थ ‘जन-समूह’ प्रचलित नहीं देख पड़ा। किसी गुजराती विद्वान् का कोई वचन उद्धृत करके डाक्टर साहब को हम अल्पज्ञों का अज्ञान दूर करना चाहिए था। पर जिस को शास्त्रों में धर्म भेद ही भेद देख पड़ता है, उस के लिए क्या कहा जाय ?

बुद्धि ही निर्णायक

‘लोकमत’, ‘कसरतराय’ को पथप्रदर्शक बनाकर आगे ही आप लिखते हैं—“निष्कर्ष यह कि ‘बुद्धि ही निर्णायक है’” यह ‘शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद’ के स्वयम्भूत निर्णायक का कितना तर्कपूर्ण निर्णय है ? भला लोकमत और बुद्धि दोनों कभी साथ रह सकते हैं ? पर आप ‘महाभारत’ का प्रमाण देते हुए लिखते हैं कि “वही सच्चा शास्त्र है, जो मनुष्य को चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पुरुषार्थों के साधन का उपाय और उन के बाधकों का उपाय (दूर करने का प्रकार) सिखावे,” आदि। जैसे मधुमक्खी शहद इकट्ठा करती है, वैसे ही कवियों की बुद्धि ने शास्त्र के तत्व एकत्र कर दिये हैं। शास्त्र यत् साधनोपायं, चतुर्वर्गस्य निर्मलं। तथा तद्बाधनापायं, एषा शास्त्रस्य शास्त्रता ॥ बुद्धेः समवहारार्थं कविभिः संभृतं मधु ॥” आप के निर्णय-उपाय तो यहाँ ‘कविभिः’ का अर्थ ‘महाजन’ अर्थात् जनसमूह होना

चाहिए। यदि ऐसा ही है, तो क्या फिर व्यास जी ने करोड़ों जनों को सभा करके या प्लीवीसा द्वारा मतसङ्ग्रह करके यह वचन लिखा था ? कौन नहीं जानता कि संसार में अधिक संख्या मूर्खों की है, फिर उन का सम्मिलित मत और भी मूर्खतापूर्ण होगा। ऐसी दशा में क्या वह मान्य हो सकता है ? अपने तर्कपूर्ण निर्णय के सामने यह खन्दक देखकर आप स्फुट पैतरा बदलकर ‘सात्विक’ बुद्धि पर आ जाते हैं। परन्तु कौन बुद्धि ‘सात्विक’, कौन ‘राजस’ और कौन ‘तामस’, यह कैसे जाना जाय ? यदि कहा जाय कि बुद्धि से, तो फिर प्रश्न होगा कि किस की बुद्धि से ? यदि कहा जाय अपनी बुद्धि से, तो फिर अपने को सर्वज्ञ भी मानना पड़ेगा। यदि किसी दूसरे की बुद्धि से, तो फिर शास्त्रकारों की बुद्धि को क्यों न माना जाय ? आप ने अपने लेख का शीर्षक दिया है, ‘शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद’ उस से तो यह जान पड़ता है कि आप को राय में शास्त्रकारों में बुद्धि किञ्चिन्मात्र भी नहीं, वास्तव में ‘बुद्धिवादी’ वही है, जो उन का विरोधी हो और अपने को सर्वज्ञ समझता हो। वस्तुस्थिति तो यह है कि ‘शास्त्रवादी’ बुद्धि का पूर्ण आदर करता है, वेदों की सारभूता गायत्री द्वारा वह सर्वेश्वर से सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना करता है। गीता, उपनिषद्, वेद सर्वत्र ही बुद्धि की महिमा गायी गयी है। फिर शास्त्र ही को बुद्धि का अनादर करनेवाला कहना क्या डाक्टर साहब सरीखे विद्वान् को शोभा देता है ? प्रमाण, प्रामाण्य आदि शब्दों का जो साधारण भी अर्थ जानते हैं, वे समझ सकते हैं कि शास्त्रप्रामाण्यवादी भी शास्त्रजन्य बुद्धि को ही शास्त्रप्रमाण कहता है। शास्त्र एवं गुरुजनों का अनादर करके केवल ‘बुद्धिशत्रु’ ही अपने को ‘बुद्धिवादी’ कहने का दावा कर सकता है। वस्तुतः ‘बुद्धिवादी’ और ‘शास्त्रवादी’ दोनों एक ही हैं। उन का असाम-जस्य कभी हो ही नहीं सकता। इस विषय में हमारी बुद्धि काम नहीं देती, अमुक महापुरुष, अमुक शास्त्र बड़े अच्छे हैं, यह निर्णय भले ही बुद्धि से हो, परन्तु क्या इतने ही से कोई अपने को ‘बुद्धिसागर’ समझ बैठेगा और शास्त्रों तथा गुरुजनों की अवहेलना करेगा ? यदि कहा जाय ‘हां’, तो क्या उस से बढ़कर कोई ‘बुद्धिशत्रु’ हो सकता है ? अपनी बुद्धि के घमण्ड में चूर क्या वह कभी शास्त्र या गुरुजनों का शासन सहन करेगा ? यों तो सभी कार्य बुद्धिजन्य हैं, पर इतने ही से बुद्धि का प्रामाण्य नहीं हो सकता। इसीलिए भ्रान्त बुद्धि, प्रमाबुद्धि, सद्बुद्धि, असद्बुद्धि के भेद माने गये हैं। जो बुद्धि को स्वतन्त्र मान बैठता है, उस को किसी के पराधीन नहीं होने देना चाहता, वह वैसे ही बुद्धिशत्रु है, जैसे बालक को गुरुपराधीन एवं पुत्री को पतिपराधीन न होने देनेवाला पिता पुत्र एवं पुत्री का शत्रु होता है। इसीलिए बुद्धिमान् सदा प्रमाण या प्रमाणाधीन सद्बुद्धि का ही आदर करते हैं और स्वतन्त्र बुद्धि को भ्रमरूपा व्यभिचारी समझकर उस की उपेक्षा करते हैं। जहां कहीं उन्हें अपनी बुद्धि तथा शास्त्र में विरोध जान पड़ता है, वहां वे शास्त्र को नहीं छोड़ बैठते, उल्टे अपनी बुद्धि को शास्त्रानुसारी बनाने का प्रयत्न करते हैं। स्वतन्त्र बुद्धि का अनुगामी तो वानर है, जिस की बुद्धि शास्त्रानुगामिनी है, वास्तव में वही नर है—“मतस्य यत्र गच्छति तत्र गच्छन्ति वानराः। शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥” स्वतन्त्रबुद्धि आपातरमणीय भोगों में ही झुकेगी, कष्टसाध्य में कभी भी प्रवृत्त न होगी। स्वतन्त्रबुद्धि से तो पतन की ही सम्भावना है। इसीलिए ‘भारत’ में कहा गया है कि प्राणी की अपनी बुद्धि कल्याण के साधनों को ढूँढती है, परन्तु कुछ बोध नहीं होता, इसीलिए मोहाक्रान्त प्राणी को चाहिए कि वह सुहृदों से अपना मार्ग पूछे—“बुद्धिश्चिन्तयते पूर्व स्वश्रेयो नावबुध्यते। सुखता तु मनुष्येण प्रष्टव्याः सुहृदो जनाः ॥” डाक्टर साहब कहेंगे कि “मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं, मैं सुबुद्धि, सुबुद्धि बराबर चिल्ला रहा हूँ।” आप के हृदय में क्या है, यह आप ही जानें। हमारे सामने तो आप का लेख है और तर्क की कसौटी पर उसे कसने से आप का वैसा ही अभिप्राय प्रकट होता है, जैसा कि हम ने दिखलाया है। आप सरीखे ‘उद्भट विद्वान्’ समझे जानेवाले व्यक्ति की स्वतन्त्र बुद्धि भी अर्थ का अनर्थ किस सीमा तक कर सकती है, इस का ज्वलन्त उदाहरण क्या आप का यह लेख और आप के सारे ग्रन्थ नहीं हैं ?

आधुनिक पत्रों की नीति

(श्री चन्द्रशेखर शास्त्री)

‘ज्ञानकोर विश्वविद्यालय’ में पत्रकार-कला पर भाषण करते हुए सर सी० पी० रामस्वामी ऐय्यर ने कहा है कि “समाचार-पत्रों को भद्दा और व्यापारिक नहीं बनाना चाहिए तथा उन्हें दलविशेष या व्यक्तिविशेष के स्वार्थों की पूर्ति का साधन नहीं बनाना चाहिए।” किन्तु दुःख तथा लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि आज विदेशी ही नहीं, अधिकांश भारतीय पत्र भी इसी दोषपूर्ण नीति का अवलम्बन करते हुए दिखाई दे रहे हैं। जनमत का प्रकाशन उन का प्रधान कर्तव्य है, पर वे वास्तविक जनमत की सदा अवहेलना ही करते हैं। आज पत्रों तथा उन के स्वामियों ने व्यापार को ही अपना मुख्य लक्ष्य बना लिया है। प्रत्येक पत्र-पत्रिका में कालम के कालम विज्ञापनों से भरे रहते हैं, दैनिक पत्रों में तो अधिकांश विज्ञापन ही विज्ञापन नजर आते हैं। इन की व्यावसायिक नीति यहाँ तक बढ़ गयी है कि विज्ञापन छापते समय उसके औचित्य-अनौचित्य पर भी ध्यान नहीं दिया जाता। अश्लीलता तो मानो दूषण नहीं भूषण हो गयी है। डाक्टरों, वैद्यों एवं औषध-विक्रेताओं के गर्मों, सुजाऊ, नामर्दी आदि लज्जाजनक शब्दों से भरे विज्ञापनों को भी प्रकाशित करते उन्हें सझोच नहीं होता। विलासिता की वृद्धि में सहायक स्नो, क्रीम, पाउडर, साबुन इत्यादि वस्तुओं के विज्ञापनों को अश्लील मनोविकारोत्पादक चित्र एवं ‘मेरी त्वचा का सौन्दर्य’ ‘मेरे चेहरे का सौन्दर्य’ आदि समर्थक वाक्यों के साथ प्रत्येक समाचार-पत्र प्रतिदिन छापते हैं। कहीं कहीं तो रङ्गमहलों के साम्प्रयोगिक दाम्पत्य चित्र तक ‘सुई फन सी’ के विज्ञापन के साथ इन पत्रों में देखने को मिलते हैं। ‘टेम्परेस’ (मध्यनिषेध) की ये दुहाई देते हैं, पर विलायती शराब के विज्ञापन छापने में इन्हें कुछ भी सझोच नहीं होता। वेश्यानृत्य कुछ दिनों पहले सभ्य समाज द्वारा घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। किन्तु आज समाचार-पत्र ही कला का रङ्ग चढ़ाकर अपने कालमों में उन का पोषण एवं प्रचार करते हुए दिखाई दे रहे हैं। ऐसा कौनसा पत्र होगा, जिस में ५-७ वेश्याओं के, ‘सिनेमा सितारों’ के, नाम से भद्दे चित्र न हों। चित्रपटों के आकर्षक विज्ञापनों से रहित चायद ही एकाध पत्र दिखायी दे। केवल चित्रपटों तक ही बात सीमित होती तो भी कुछ सन्तोष था, किन्तु खुल्ल-मखुल्ला वेश्यानृत्य तथा गायनों के विज्ञापनों की भी आज पत्रों में कमी नहीं है। उदाहरणार्थ कलकत्ते के ‘श्रीरङ्गम्’ में कुछ चुनिन्दा वेश्याओं के नृत्य-गायन होनेवाले थे। स्थानीय समाचार-पत्रों में कई दिनों से उन के भुरि भुरि प्रशंसायुक्त, उच्छृङ्खल, विसासितापूर्ण चित्रों से सुसज्जित विज्ञापनों की भरमार थी और प्रशंसापूर्ण टिप्पणियाँ भी प्रकाशित हो रही थीं। कहना न होगा कि इन में से एक भी वेश्या को यदि कोई सज्जन व्यक्तिगत रूप से अपने यहाँ नचाता या गवांता, तो हमारे ‘सुधारक’ बन्धु आकाश-पाताल एक कर बालते, इन्हीं समाचार-पत्रों में उस की निन्दा से ओतप्रोत कालम देखने मिलते। किन्तु यहाँ तो उन्हीं समाज-सुधारकों में से कतिपय सज्जन १००) रु० टिकट देकर पधारें, साथ अपनी बहू-बेटियों, धर्मपत्नियों तक को ले जाकर ‘श्रीरङ्गम्’ की शोभा बढ़ायी और यह सब हुआ कला के नाम पर। फिर किसी की क्या मजाल जो चूँ तक करने का साहस करे? क्या यह स्पष्ट रूप से खुलेआम वेश्यानृत्य को प्रोत्साहन देना नहीं है? अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे पत्रकार बन्धु, जिन के ऊपर समाज की सभ्यता-संस्कृति के निर्माण का उत्तरदायित्व है, अपने व्यापार की वृद्धि एवं पत्रों की रोचकता के पीछे यह सब भूल जाते हैं और देखते हुए भी नहीं देखते।

मेरा नम्र निवेदन अपने समाज के निर्माता इन पत्रकार बन्धुओं से है कि वे इस संक्रामक रोग पर, सर सी० पी० रामस्वामी ऐय्यर के भाषण की तरफ ध्यान देते हुए, दृष्टि ढालने की कृपा करें। अन्यथा वह दिन दूर नहीं, जब कि ऐय्यर महोदय का बतलाया हुआ खतरा पत्रों एवं तदीय स्वामियों के सम्मुख उपस्थित होनेवाला है। मैं ने दुःखी होकर ही अपने कई दिनों से दवे हुए इन भावों को लोकहित तथा पत्रकारों को अपने कर्तव्य-पथ का स्मरण कराने की भावना से प्रकट किया है, उन्हें समाज की दृष्टि में गिराने अथवा निन्दित करने की इच्छा से कदापि नहीं।

यही दशा सर सी० पी० रामस्वामी से निर्दिष्ट दूसरे दोष की भी है। हमारे अधिकांश भारतीय पत्र आज व्यक्तिविशेष अथवा दलविशेष

के स्वार्थों की पूर्ति के साधन हो हैं और बनते चले जा रहे हैं। वे उन स्वार्थों के सामने व्यापक लोकमत की उपेक्षा ही नहीं, अवहेलना भी करते हैं। स्वयं ऐय्यर महोदय ने यह स्वीकार किया है कि कुछ वर्षों कम्पनियों के मालिक देश भर में एक के बाद दूसरे समाचार-पत्रों की स्वामिता खरीद रहे हैं, इस से समाचार-पत्रों की ईमानदारी, प्रभाव और शक्ति के लिए खतरा पैदा हो गया है। अपने विरुद्ध विचार रखनेवालों के विचार, प्रचार एवं समाचारों को छापने की शक्ति हमारे आज के समाचार-पत्रों में नहीं रह गयी है। विरोधियों पर मनमाने आरोप प्रकाशित किये जाते हैं, किन्तु उन के द्वारा किये स्पष्टीकरणों एवं समझानों को दवाने तथा जनता में न प्रकाशित होने देने में ही अपनी सम्पूर्ण बुद्धिमत्ता तथा नीतिमत्ता का उपयोग किया जाता है। हमारे पास इस के पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर दिखाये जा सकते हैं। कहीं कहीं और कभी कभी तो विरोधियों के समाधानों को एक बार प्रकाशित कर फिर उन पर अपनी ओर से लीपापोती की जाती है और अन्त में लिख दिया जाता है कि अब इस विषय में अनावश्यक विवाद बढ़ाना उचित नहीं, अतः कोई सज्जन लेख भेजने का कष्ट न करें। इस प्रकार की कूटनीति का अवलम्बन कर विरोधियों को प्रत्युत्तर का अवसर ही नहीं दिया जाता। वे वेचारे मन्त्रीपधिरुद्धवीर्य भोगी की तरह अपने मन में ही दुःखी होकर रह जाते हैं और जनता को भी उस ओर की बात जानें बिना अन्धकार में ही रहना पड़ता है। विरोधियों की ओर से होनेवाले बड़े से बड़े उत्सव, समारोह, प्रदर्शन, सभा, जुलूस, आदि की ओर आँख मूँद लेना ही अपना परम कर्तव्य समझा जाता है। हमारी समझ में नहीं आता कि जो समाचार-पत्र जनमत प्रकट करने के उद्देश्य से ही प्रकट होते हैं, वे इस प्रकार जनमत को ओर उदासीन होकर अपने अपने मत को ही जनमत बनाने की चेष्टा क्यों करते हैं! वास्तव में आजकल के पत्र ‘न्यूज पेपर’ (समाचार-पत्र) नहीं ‘व्यूज पेपर’ (विचार-पत्र) बनते चले जा रहे हैं। सच पूछा जाय तो पत्र-पत्रिकाएँ अपना उन के सम्पादकों का कर्तव्य किसी व्यक्तिविशेष किंवा दलविशेष की वक्तव्य या वैरिस्टरी करना नहीं हैं और न वे किसी तरह किसी के पञ्च वनघ फैसला देने के ही अधिकारी हो सकते हैं। उन्हें तो दोनों ओर के सच्चे गवाहों की तरह ही अपना कर्तव्य सम्पन्न करना चाहिए और भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा से रहित होकर उभय पक्ष के समस्त तर्कों, विचारों एवं प्रचारों को शुद्ध हृदय से जनता के सामने रखना चाहिए। फिर न्यायाध्यक्ष बनकर निर्णय करना जनता पर छोड़ देना चाहिए। वह स्वयं निर्णय कर लेगी कि कोन पक्ष न्यायसङ्गत है और हमारे लिए किस मार्ग का अवलम्बन करना श्रेयस्कर है। किन्तु यहाँ तो गवाह, वक्ता, वैरिस्टर, न्यायाध्यक्ष आदि सभी का कार्य हमारे समाचार-पत्र ही कर लेते हैं। क्या ऐसी दशा में उन से वास्तविक लोकमत प्रकट होने की आशा क जा सकती है?

अतः इस विषय में भी हम अपने पत्रकार-बन्धुओं से ऐय्यर महोदय से निर्दिष्ट दोषों का ध्यान दिलाते हुए बारबार अनुरोध करते हैं कि वे इस घातक नीति का शीघ्र ही परित्याग कर दें और अपने वास्तविक कर्तव्य की ओर अग्रसर हों। साथ ही हम यह भी अवश्य कहे न बिना रहेंगे कि इन दोषों के अपवादस्वरूप कुछ पत्र-पत्रिकाओं का अस्तित्व भी हमारे यहाँ है। किन्तु उन की संख्या नगण्य है, उन की आवाज ‘नकाब खाने में तूती की आवाज’ के बराबर भी नहीं। पर वे अवश्य ही वास्तविक एवं स्तुत्य कार्य कर रहे हैं, वे ही सच्चे लोकमत के प्रचारक होने का दावा भी कर सकते हैं। प्रत्येक पत्र-पत्रिका को उन्हें ही अपना आदर्श मानकर अपनी नीति-नीति में आवश्यक सुधार करना चाहिए और जनता के सामने अपने सच्चे स्वरूप में आने की चेष्टा करनी चाहिए।

भूल-सुधार

गत अङ्क २२ के ‘बुद्धिवादी या बुद्धिशत्रु’ शीर्षक लेख के प्रथम पैराग्राफ की २२ वीं पंक्ति में ‘शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद’ के स्थान में ‘शान्तिवाद बनाम बुद्धिवाद’ छप गया है, कृपया पाठक इसे सुधार लें।

— सम्पादक।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

भारत का भावी शासन-विधान

२

किसी भी योजना पर विचार करने के लिए उस के सिद्धान्त तथा उस की व्यावहारिकता, दोनों को ध्यान में रखना पड़ता है। 'दूरकाल-योजना' का 'मौलिक तत्व' यह है कि "समस्त प्रजा के लिए हितकर तथा उस के धर्मों के अनुकूल राजतन्त्र" होना चाहिए। 'राजतन्त्र' और 'लोक-तन्त्र' दोनों के गुण-दोषों का यहाँ विस्तृत विवेचन अभीष्ट नहीं है। इतिहास पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि केवल एकाधिपत्य या अनेकाधिपत्य कहीं भी सफल नहीं हुआ। वास्तव में राजा और प्रजा, शासक और शासित, व्यक्ति और लोक, दोनों के परस्पर पूर्ण सहयोग में ही राष्ट्र का कल्याण है। परन्तु यह सहयोग प्राप्त कैसे हो, राजनीति शास्त्र की यह एक जटिल समस्या है। संसार के विभिन्न शासन-विधानों में इस के लिए तरह तरह के यत्न किये जा रहे हैं; परन्तु पूर्ण सफलता कहीं भी प्राप्त नहीं हुई है। पाश्चात्य देशों में 'फ्रांस की राजक्रान्ति' के समय से 'राजा' शब्द से कुछ लोगों को चिढ़ सी हो गयी और उस के स्थान पर 'राष्ट्रपति' शब्द व्यवहृत होने लगा, पर तथाकथित लोकतन्त्रों में शासनयन्त्र बहुत कुछ राजतन्त्र के ढङ्ग का ही बना रहा। आधुनिक अधिनायकवाद का भी उस ने रूप धारण किया, जिस के दिन शीघ्र पूरे होते दिखलायी पड़ रहे हैं। गत महायुद्ध में ४ राजछत्र भङ्ग हो गये, वर्तमान महायुद्ध में १० राजछत्रों का वारा-न्यारा हो रहा है। अन्त में इन में से कितने बच रहेंगे, यह अभी कहना कठिन है। वहाँ सब से पुराना केवल ब्रिटिश राजछत्र ही बचा है, इस का मुख्य कारण यह बतलाया जाता है कि वहाँ का राजछत्र लोक-नियन्त्रित है। परन्तु ऐसा करने में राजछत्र को एक खिलौनामात्र बना दिया गया है, जिस के फलस्वरूप आधुनिक लोकतन्त्र के दोषों ने वहाँ भी उग्ररूप धारण कर लिया है। ऐसी दशा में युद्धोत्तर-निर्माण में यदि ब्रिटिश शासन-विधान में भी कुछ क्रान्ति-कारी परिवर्तन हों, तो आश्चर्य नहीं। एकाधिपत्य और अनेकाधिपत्य, दोनों के खतरों का अनुभव करके प्राचीन भारत ने धर्माधिपत्य स्थापित किया, जिस में राजा और प्रजा, एक और अनेक, व्यक्ति और लोक दोनों का नियामक धर्मशास्त्र हो गया और उन में से किसी को भी मनमानी करने का अधिकार न रहा।

धर्माधिपत्य हो जाने पर राजा और प्रजा के परस्पर विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता, उस में तो दोनों को एक दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य पालन करना है। इसतरह प्राचीन 'राजतन्त्र' होते हुए भारतीय शासन-पद्धति में 'लोकतन्त्र' का पूरा समावेश है, पर साथ ही उस के आधुनिक रूप में जो दोष हैं, उन के घुसने की गुंजाइश नहीं है। 'राजा कभी गलती कर ही नहीं सकता' प्राचीन पाश्चात्य 'राजतन्त्र' का यह सिद्धान्त भारतीय राजनीतिशास्त्र को कभी भी मान्य नहीं है। ऐसी दशा में 'राजतन्त्र' के नाम से चैकना ठीक नहीं, हाँ, यह अवश्य है कि जब आजकल सर्वत्र तथाकथित 'लोकतन्त्र' का बोलबाला हो रहा है, तब 'राजतन्त्र' का नाम देना भी अपनी हँसी कराना है। पर केवल हँसी के भय से एक ऐसे आदर्श का त्याग बैठना भी, जो सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों दृष्टियों से सफल सिद्ध हो चुका है, बुद्धिमानी नहीं है। इसलिए सब से पहले तो इस सिद्धान्त को ही जनता के सामने ज़ोरों के साथ लाना चाहिए, जिन में उस पर लोगों का ध्यान आकृष्ट हो सके। यहाँ तक तो ठीक ही है, पर 'दूर-काल-योजना' की सब से बड़ी विशेषता यह बतलायी जाती है कि वह व्यावहारिक है, परन्तु हम को इसी में सब से अधिक सन्देह है। व्यावहारिकता को ही ध्यान में रखकर इस योजना के विद्वान् रचयिता ने प्राचीन और नवीन, प्राच्य और पाश्चात्य सिद्धान्तों तथा भावों की खिचड़ी पकाने का यत्न किया है। गताङ्क ११ में योजना की व्याख्या करते हुए श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री जी लिखते हैं कि "यह योजना वस्तुस्थिति की दृष्टि से अधिक से अधिक व्यवहारयोग्य तथा सब को न्यायप्राप्त होने

के आधार पर रची गयी है। भारत में पूर्ण हिन्दुराज या सनातनी राज बना देना इस योजना का उद्देश्य नहीं है, क्योंकि शक्यताओं के भीतर ही विधान बनाना इस योजना का हेतु है।" ऐसा शक्य है या नहीं, इस पर अभी विचार न करके पहले हमें यही देखना है कि इस योजना में जो कुछ बतलाया गया है, वह शक्य है या नहीं?

इसी दृष्टि से हमें पाँचों भागों पर क्रम से विचार करना है। प्रथम भाग 'युद्धकालीन सहयोग' है, जिस में जो पहली बात कही गयी है, वह यह है कि "सरकारी शासन-यन्त्र अपरिवर्तित रहे, किन्तु उस का विशेष-रूप से भारतीयकरण हो।" आजकल वायसराय की शासन-परिषद में अधिकांश भारतीय ही हैं, धारासभाओं का भी वही हाल है, पर इन से क्या धर्म की रक्षा हो रही है? 'हिन्दू कोड' क्या इन धारासभाओं को ही करतूत नहीं है? यदि इन को भङ्ग किया जाय, तो फिर राजनीतिक क्षेत्र में उतरकर निर्वाचन-युद्ध लड़ना पड़ेगा, जिस में सफलता मिलने पर ही कुछ सुधार की आशा हो सकती है? यदि इन को भङ्ग नहीं किया जाता, तो फिर इन्हें व्यवस्थापन-अधिकार से वञ्चित करना होगा, जो भारत-सरकार के बूते की बात नहीं है। इसी भाग में दूसरी बात कही गयी है। 'धार्मिक स्वतन्त्रता का स्थापना' यह भी स्पष्ट नहीं है। प्रजा की धार्मिक स्वतन्त्रता और अपनी तटस्थता की घोषणा करते हुए भी सरकार मुट्ठी भर सुधारवादी भारतीयों की ही सहायता से देश के सब से बड़े समुदाय के धर्म को पैरों तले रौंदने जा रही है। रक्षा का भार इस योजना में 'भारतीय ब्रिटिश सरकार' तथा 'नरेन्द्र-मण्डल' को सौंपा गया है। इन दोनों का क्या सम्बन्ध रहेगा, यह जटिल प्रश्न है। इस में एक सब से नयी बात यह है कि "प्रान्तीय शासक योग्य भारतीय नरेन्द्र हों।" परन्तु यह नहीं बतलाया गया है कि उन की नियुक्ति कौन करेगा, वे अवैतनिक होंगे या सवैतनिक, उन का पद पैतृक (मौलसी) होगा या कुछ काल के लिए ही? इन प्रश्नों का उत्तर मिलना आवश्यक है। यदि ब्रिटिश सरकार ही इन की नियुक्ति करेगी, तो वह प्रगतिशील कहे जानेवाले नरेशों को ही इस पद के लिए चुनेगी। इन्दौर, बड़ौदा आदि प्रगतिशील नरेशों की करतूतें छिपी नहीं हैं। इन को किसी प्रान्त के शासक बनाने से सनातन धर्म की क्या रक्षा होगी? जिन को धर्म में कुछ विश्वास है, उन्हें पूछता ही कौन है? वर्तमान परिस्थिति में देशी नरेशों को प्रान्तीय शासक बनाने से क्या लाभ होगा, यह हमारी समझ में नहीं आया। "पहले नियुक्ति द्वारा, फिर स्वपरिचालित प्रतिनिधि-योजना के अनुसार स्थानीय तथा सर्वदेशी या प्रतिनिधि-सभाओं के निर्माण" की भी इस में व्यवस्था है। परन्तु यह सब आप की सब से प्रथम कही हुई बात 'शासनयन्त्र अपरिवर्तित रहे' के साथ कैसे मेल खाती है, यह हमारी समझ में न आया। इतने परिवर्तन होते हुए भी युद्धकालीन शासनयन्त्र अपरिवर्तित कैसे रह सकता है? जब परिवर्तन ही करना है, तब फिर सब बातों का ध्यान रखकर क्यों न किया जाय?

आवश्यक सूचनाएँ

कुछ अनिवार्य कारणों से हमारे सहयोगी साप्ताहिक 'सन्मार्ग' को थोड़े दिनों के लिए अपना प्रकाशन स्थगित करना पड़ा है। आशा है वह शीघ्र ही अपने पूर्व रूप में ही और सम्भवतः दैनिक रूप में प्रकाशित होगा। सम्बालक 'सन्मार्ग' के परामर्श से तब तक के लिए निश्चित किया गया है कि 'साप्ताहिक सन्मार्ग' के ग्राहकों को 'सिद्धान्त' भेजा जाय, जो दोनों के ग्राहक हैं, उन्हें मासिक 'सन्मार्ग' भेजा जाय और जो तीनों के ग्राहक हैं, उन से कुछ दिनों तक दो ही से सन्तोष करने का अनुरोध किया जाय। इसतरह सब को एक न एक पत्र मिलता रहेगा। 'साप्ताहिक सन्मार्ग' धर्मसङ्घ का मुखपत्र है। उस के समाचार इसी पत्र में प्रकाशित होते रहते हैं। देश के अधिकांश पत्र दुनियाँ भर का कूड़ाकरकट छापते रहते हैं, पर धर्मसम्बन्धी और विशेषकर 'सङ्घ' के समाचार न छापने की उन्हीं

ने कसम सी खाली है। ऐसी दशा में, जब सङ्ग का महाधिवेशन शीघ्र ही होने जा रहा है, 'सन्मार्ग' के प्रकाशन का स्थगित होना बड़ा खटकता है। जबतक ऐसा है, तबतक के लिए यह निश्चित किया गया है कि 'सिद्धान्त' में ही एक स्तम्भ (कालम्) ऐसे समाचारों के लिए रख दिया जाय। प्रष्ठसंख्या कम होने से वैसे ही लेखों में कमी करनी पड़ रही है, अब और भी करनी पड़ेगी, परन्तु इस के अतिरिक्त इस समय दूसरा कोई उपाय नहीं है। बड़े हर्ष के साथ सूचित किया जाता है कि भूतभावन श्रीविश्वनाथ एवं जगदम्बा श्रीअन्नपूर्णा की निःसीम अनुकम्पा से इस परम पुनोत्त काशीपुरी में कार्तिक शुक्ल चतुर्थी शनिवार और पञ्चमी रविवार (ता० ४-५) तक सङ्ग का चतुर्थ महाधिवेशन होना निश्चित हुआ है। इस के उपलक्ष्य में पूर्वप्रचलित परिपाटी के अनुसार एक महायज्ञ का आयोजन भी स्वीकृत हुआ है। इस का नाम "सार्द्धद्वयोकोटिहोमात्मक एकविंशत्युत्तर शतमुख सर्ववैदिकशास्त्रीय रुद्रमहायज्ञ" होगा। यह यज्ञ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी (ता० २९ अक्टूबर) से ही आरम्भ हो जायगा और मार्गशीर्ष कृष्ण ७ मङ्गलवार (ता० ७ नवम्बर) को पूर्णाहुति होगी। प्रस्तावित महायज्ञ दिल्ली तथा कानपुर के विगत महायज्ञों से भी अधिक महत्त्वशाली होगा। इसी अवसर पर 'हिन्दू कोड'-विरोध के लिए एक अखिल भारतीय सम्मेलन करना भी निश्चित हुआ है। यह सब समारोह श्रीगङ्गातट पर सङ्ग के प्रधान कार्यालय 'गङ्गातरङ्ग' के सामने से लेकर रामनगर-घाट तक विस्तृत मैदान में होगा। अगले सप्ताह से 'सिद्धान्त' के अन्तिम पृष्ठ पर इस सम्बन्ध की आवश्यक सूचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहेंगी।

'मनोरञ्जक' समाचार !

गत २९ अगस्त के दिन 'आज' में समाचार छपा है कि 'कोल्हापुर महाराज की ७५ वर्षीया बुढ़िया हथिनी 'राजप्यारी' को कभी किसी ने पत्थर फेंक कर चोट पहुँचायी थी। तब से वह किसी को पत्थर उठाने के लिए झुकते देखकर क्रोधित हो उठती थी। एक दिन अपने महावत को भैंस के मारने के लिए पत्थर उठाते देखकर वह बिगड़ पड़ी और राजमहल के निकट जनसमुदाय के सामने सँड़ से पटककर उसे पैरों तले कुचल डाला। उक्त हथिनी अबतक ३ महावतों को मौत के घाट उतार चुकी है।" इस समाचार को उक्त पत्र में 'मनोरञ्जक' बतलाया गया है। इसी शब्द से आजकल की मनोवृत्ति पर कितना प्रकाश पड़ता है? किसी व्यक्ति का किस कष्ट में प्राण जाता है और यह एक पत्रसंवाद-दाता के लिए 'मनोरञ्जन' है। अमरीका में काले हवशियों को जीवित जलाने से वहाँ के गोरे निवासियों का मनोरञ्जन होता है! गत अवीसीनियायुद्ध में जब एक गाँव के निरपराध निवासियों को मुसोलिनी के लड़के ने बम गिराकर भस्म किया था, तब उस ने लिखा था कि "कैसा मजा आया।" वर्तमान युद्ध में इन 'मनोरञ्जक' समाचारों की पत्रों में भरमार रहती है। जो सब से अधिक लोगों का वध करे, वह बोर समझा जा रहा है। हम मानते हैं कि कभी दूसरों को दण्ड में कष्ट भी पहुँचाना होता है, प्राणदण्ड भी देना होता है। पर जब ऐसे कार्यों में मनुष्य को आनन्द का अनुभव होने लगा, तब यही समझना चाहिए कि उस का पतन चरम सीमा पर पहुँच गया है। वर्तमान बर्बर युद्ध मनुष्य की इस वृणित मनोवृत्ति का ही फल है।

अधर्म-नाश क्यों ?

(श्री स्वामी करपात्री जी)

जो दुःख मिटाना चाहता है, उसे दुःखमूल अधर्म को भी मिटाना ही होगा। जो व्यष्टि दुःख मिटाना चाहेगा, वह व्यष्टि अधर्म को ही मिटाने चाहेगा, परन्तु जो व्यापक दुःख मिटाना चाहेगा, वह व्यापक रूप से ही अधर्म को भी मिटाना चाहेगा। समष्टि अधर्म से समष्टि दुःख होता है, अतः समष्टिरूप से अधर्मनिवृत्ति या अधर्मनाश के बिना समष्टि दुःख दूर नहीं हो सकता। आयुर्वेद-शास्त्रों में समष्टि महामारी, विश्वविषम आदि का कारण समष्टिअधर्म को ही बतलाया गया है। अद्वैतवादी के सिद्धान्तानुसार द्वैत-मूल अज्ञान के ही नाश का प्रयत्न किया जाता है, फिर अधर्मनाश की तो बात ही क्या?—“ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यव-ज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥” उक्त की उच्च स्थिति में एक स्वप्रकाश, परम तत्व को छोड़कर समष्टि विश्व ही लुप्त हो जाता है—“जेहि जाने जग जाय हिराई, जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई॥” जैसे दुःखनाश, सब को इष्ट है, वैसे ही दुःखमूल अधर्म के नाश में किसी भी समझदार को आपत्ति

नहीं होती। अनिष्टकारक सर्प, वृश्चिकादि की हत्या का भी साधुकर्तव्य अनु-मोदन प्रह्लाद को संमत है—“मोदते साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या॥” जब भगवान् दुष्कृती के नाश के लिए अवतार लेते हैं, तब क्या दुष्कृती के विशेषणीभूत दुष्कृतपदवाच्य पाप या अधर्म का नाश न होगा? वस्तु-तस्तु 'शिक्षा ध्वस्तः' यहाँ पर जैसे पुरुषविशेषणीभूत शिक्षा का ही ध्वंस इष्ट है, वैसे ही दुष्कृती के नाश में भी पुरुषविशेषणीभूत दुष्कृत का ही नाश अभीष्ट है। दुष्कृत-सम्बन्ध छुड़ाने के लिए ही दुष्कृती को लोक में भी दण्ड दिया जाता है, क्योंकि जीव तो वस्तुतः चेतन अमल, सहज सुखराशि भगवत्स्वरूप ही है, उस का नाश कभी किसी को इष्ट नहीं होता, इसीलिए 'धर्मसङ्घ' के जयकारों में भी अधर्मों की निवृत्ति या नाश नहीं मनाया जाता, किन्तु सर्वशत्रु, सर्वानर्थमूल अधर्म की ही निवृत्ति या नाश कहा जाता है। उसी अधर्म से युक्त होने के कारण ही भगवान् अधर्मों या दुष्कृती का भी विनाश करते हैं—“विनाशाय च दुष्कृतान्॥” जिस दुष्कृत के संसर्ग से दुष्कृती का विनाश भगवान् करते हैं, उस दुष्कृत के नाश से भक्तों को डर लगे, यह बड़े आश्चर्य की बात है। वास्तव में ऐसे लोग या तो अत्यन्त अनभिज्ञ हैं या फिर अधर्मपापक कलि के साथी हैं, जो एक क्षण भी पाप से मन हटाना नहीं चाहते और जिन का मन पाप-पयोनिधि-जल का मोन हो रहा है—“पापपयोनिधिजल मन मीन” प्रत्येक आस्तिक प्रतिदिन सन्ध्या के पूर्व सङ्कल्प में 'उपात्तदुश्चिन्तयद्वा' पढ़ता है। उस में भी दुश्चिन्त या पाप का क्षय कहा जाता है। पापक्षय के लिए ही भगवन्नाम का कीर्तन किया जाता है, क्योंकि नाम में जितना पाप-नष्ट करने की शक्ति है, प्राणी में उतने पाप करने की भी शक्ति नहीं है—“नाम्नोऽस्ति यावत्ती शक्तिः पापनिर्हारेण हरेः। तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥” भगवान् के नाम का अवश होकर भी उच्चारण करने से वह अधों का नाश करनेवाला होता है—“अवशाभिहितोऽप्यधौघनाशः॥” हरिदुष्ट चित्त से भी स्मरण करने पर पापों का हरण कर लेते हैं, जैसे अनिच्छा से भी स्पर्श करने पर वह्नि जलता ही है—“हरिहरति पापानि दुष्टचित्ते रपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥” “पुण्यं पापहरम्” “पातकपातक-डाकिनि नाशे हृदि पापप्रपञ्च एव अखिल अमङ्गलता” इत्यादि वचनों से पापनाश का प्रसङ्ग आया है। शास्त्रों को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि शास्त्रनिषिद्ध आचरण ही पाप है। 'धर्मसङ्घ' के 'धर्म की जय, अधर्म की निवृत्ति, प्राणियों में सद्भावना और विश्व का कल्याण' इन चार जयकारों पर किसी निष्पक्षपात सहृदय को कुछ भी आपत्ति हो नहीं सकती। 'धर्मसङ्घ' का सङ्कल्प ही इन जयकारों का मूल है। “धर्मग्लान्यधर्माभ्युत्थान-निवृत्तिपूर्वक धर्मसंस्थापनार्थम्” इस सङ्घीय सङ्कल्प का आधार भगवान् के ये वचन हैं—“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतान्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥” भगवान् ने इन श्लोकों में अपने अवतार का प्रयोजन धर्मग्लानि-अधर्माभ्युत्थान मिटाना और धर्म-संस्थापन बतलाया है।

कुछ लोग इस सङ्कल्प और इन जयकारों पर यह आपत्ति प्रकट करते हैं कि धर्मग्लानि, अधर्मवृद्धि भगवान् के अवतार का कारण है, जब यह न होगा, तब तो उन का अवतार ही न होगा, अतः अधर्म का नाश मनाना भगवान् के अवतार के कारण को दूर करना है, अवतार में प्रतिबन्धक होना है। जब भगवान् का अवतार न होगा, तब भक्ति, मुक्ति आदि में भी बाधा पड़ सकती है। परन्तु यद्यपि समझदारों के लिए इस शङ्का का कोई भी मूल्य नहीं है, तथापि अनभिज्ञ लोगों को भ्रम हो सकता है, इसलिए ऐसी बातों का समाधान आवश्यक हो जाता है। यद्यपि विश्व का दुःख मिटाने के लिए परमात्मा का अवतार कहा जा सकता है, तथापि एतावता विश्व को दुःखी बनाने की कोशिश नहीं की जाती। धर्महानि, अधर्मवृद्धि के होने पर परमेश्वर अवतीर्ण होते हैं, परन्तु इसी से धर्मग्लानि-सम्पादन में लगना, अधर्म बढ़ाने में लगना बुद्धिमानी नहीं है। राम, कृष्ण के अवतार के लिए रावण, कंस बनने की चेष्टा मूर्खता है। बहुत से लोग कंस का अधर्म बढ़ाने में श्री नारद का सहयोग मानते हैं, क्योंकि उन्होंने न देवकी आदिकों का रहस्य बतलाकर कंस को अत्याचार में प्रोत्साहित किया। परन्तु यह भी अविचारितरमणीय पक्ष है। कंस के प्रद्वन करने पर नारदजी ने सचची घटना बतलाने में देव-पक्ष की कोई हानि न समझकर ही वैसा किया, परन्तु वे स्वयं अधर्म के पक्षपाती या प्रेरक थे, ऐसा कहना अनभिज्ञता है।

कुछ लोग कहते हैं कि अधर्म भगवान् का पृष्ठ है, धर्म भगवान् का वक्षस्थल है, दोनों ही का रहना आवश्यक है, अधर्म का नाश चाहना भगवान् के एक अङ्ग का ही नाश चाहना है। परन्तु यही क्यों भगवान् के अनुसार धर्म भी भगवान् है, फिर धर्म की उपासना करनी भी तो भगवान् की उपासना ही है। जो ऐसा कहते हैं, वे अपने स्वार्थ को या राष्ट्र को धर्म की उपासना से क्यों रोकते हैं? अधर्म भगवान् का पृष्ठ है, तो अधर्म की सेवा करनी भी भगवान् के पृष्ठ की सेवा है, फिर अपने बच्चों को शिष्ट लोग अधर्म-सेवा से क्यों रोकते हैं? वस्तुतः भगवान् ही विश्व के उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही हैं, अतः भगवान् सर्वस्वरूप हैं, यही दिखलाने के लिए उन की विभूतियों एवं विराट् आदि स्वरूपों का वर्णन होता है। हर एक श्रेणी में जो उत्कृष्ट पदार्थ है, उसी को विभूति कहा जाता है, इतना ही उक्त प्रसङ्गों का अर्थ है, यह नहीं कि धर्म एवं अधर्म को भगवान् का रूप समझकर उन का नाश न होने देना, उन का सेवन और पालन करना चाहिए। सुख, दुःख, दरिद्रता, दीनता सब कुछ भगवान् से ही उत्पन्न है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के अनुसार सब कुछ ब्रह्म ही है, फिर क्या दुःखनाश चाहना अपराध है? वस्तुतः सुख-दुःखादि, दिन-रात, धर्म-अधर्म सब कुछ परमेश्वररूप ही है, तब भी प्राणी अभीष्ट को पाना चाहता है, अनभीष्ट को मिटाना चाहता है। वेदविहित कर्म 'धर्म' है, वेदविरुद्ध कर्म ही 'अधर्म' है—'वेदप्रणिहितोऽधर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।' वेदविरुद्ध कर्मजन्य अदृष्ट को भी अधर्म, वेदविहित कर्मजन्य अदृष्ट को अधर्म कहा जाता है। किसी के मत से अन्तःकरण की वृत्तिविशेष ही धर्माधर्म है। हर दृष्टि से धर्म की वृद्धि, अधर्म का नाश कहने में कोई भी आपत्ति नहीं है। बुरे कर्म एवं उन के संस्कार या तादृशी वृत्ति का नाश मङ्गलकारक ही है। तत्त्वसाक्षात्कार तथा मुक्ति में समूल सर्व दृश्य का बाध इष्ट है। उस के पहले तक "जज्ञा अदर्शने" इस धातुपाठ के अनुसार अदर्शन मात्र रहता है, परन्तु "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि", "पूर्वोत्तराद्ययोरश्लेषविनाशौ", "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" इत्यादि वचनों से समूल ही सर्व कर्मों का आत्यन्तिक बाध कहा गया है। इस तत्व को समझ लेने पर अधर्मनाश से घबराहट का कोई अवसर नहीं है, यदि हो, तो केवल अज्ञानमूलक है।

बुद्धिवादी या बुद्धिशत्रु ?

(होम-हवन-यज्ञ पाप है या पुण्य ?)

(श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी)

यज्ञों से विश्वशान्ति

'शास्त्र क्या है और बुद्धि से उस का क्या सम्बन्ध है', यह बतलाने के पश्चात् "यज्ञ पाप है या पुण्य" इस प्रश्न का सहज ही में उत्तर दिया जा सकता है। परन्तु डाक्टर साहब ने अपने लेख में कितनी ही बातें उठायी हैं, जिन सब का उत्तर देना आवश्यक जान पड़ता है, इसलिए हमें भी आप के लेख की वक्र गति का ही अनुसरण करना पड़ेगा। 'महाजन' (जन-समूह) और 'सात्विक बुद्धि' का अपने विचित्र तर्क से समन्वय करके आप लिखते हैं कि "यदि 'शास्त्र' प्रबल माना जाय, तो मुख्य प्रश्न का उत्तर यही होता है कि कोई भी सर्वमान्य निर्विवाद शास्त्र ऐसा नहीं कहता कि इस प्रकार के होम-हवन-यज्ञों से 'विश्वशान्ति' सिद्ध होगी, जो ही 'विश्वशान्ति' इन का लक्ष्य घोषित किया गया।" इस का प्रमाण भी सुनिये, आप लिखते हैं कि "महाभारत-युद्ध-निवारण के लिए तत्कालीन महर्षियों ने अन्य प्रकार के बहुत यत्न किये, पर अन्न, धी के यज्ञ नहीं किये।" ठीक है, पर साथ ही जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया, तब महर्षियों ने उन का हाथ पकड़कर यह भी नहीं कहा कि "महाराज ! आप यह क्या पाप कर रहे हो ?" सम्भवतः दक्षिणा की लालच से ऐसा नहीं किया होगा। भगवान् रामचन्द्र ने कितने ही यज्ञ किये, उन में इतना दान दिया कि महारानी सीता के हाथ में केवल मङ्गलसूत्र बच गया। उन से भी गुरु वशिष्ठ ने वेदान्त का सारा उपदेश करके भी यह न कहा कि "हे मर्यादापुरुषोत्तम ! आप यह क्या कर रहे हो ? इस से तो कलियुग के अन्तिम आप को पापी कहेंगे ?" पर दान के प्रलोभन से गुरु महाराज का जवान में भी उस समय ताला लग गया होगा। यदि यज्ञ से किसी व्यक्तिगत हित का साधन हो सकता है, तो सामूहिक हित का क्यों नहीं ? वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण सभी में उन की उपयोगिता बतलायी गयी है,

पर इस को आगे के लिए छोड़कर यहाँ हम आप ही के 'पन्थ' का अनुसरण करेंगे। आप का प्रश्न है कि 'विश्वशान्ति' के लिए अन्न, धी का यज्ञ कहाँ लिखा है ? सुनिये, अथर्ववेद के परिशिष्ट में बतलाया गया है कि देवगण तथा ऋषिगण जब बड़े बड़े असुरों, मृत्यु और व्याधि से अत्यन्त पीड़ित हुए, तब ब्रह्मा के पास जाकर उन्होंने पूछा—"किम् कर्म से मृत्यु और व्याधि के भय से मुक्त होकर हम जीवित रहें और विजय प्राप्त करें ?" इस पर ब्रह्मा ने कहा—"जिज्ञ कर्म से आप को आयु, ऐश्वर्य, पुत्र और विजय प्राप्त होगा, उसे बतलाता हूँ। व्याहृति तथा शिरःसहित गायत्री का हवन निरन्तर सिद्धि की इच्छा करनेवाले को करना चाहिए। जौ, तिल, समिधा, धान और सरसों का शाकल बनाकर उक्त हवन करना चाहिए। गायत्री ही त्रिपाद ब्रह्म है और सब जगत् में व्याप्त है। सब प्राणियों को नित्य प्राण देनेवाली वही है। ऐसा निश्चय करके कोटि-होम का प्रयोग करना चाहिए—"समाहृतिं सप्रगवां गायत्रीं शिरसा सह। तथा होमश्च कर्तव्यः सततं सिद्धिमिच्छता ॥ यवैस्तिष्ठैः समिद्धिश्च ब्रीहिभिः सर्वपैस्तथा ॥ अथ चेन्महर्षी सिद्धिं प्रार्थयन् सरोत्तमः ॥ पुरोषाणां कारयन् कोटिहोमं महाफल्गुम् ॥ गायत्री वै त्रिपादं ब्रह्म विश्वरूपाय संस्थिता ॥ प्राणदा सर्वभूतानां धारिणी यापि नित्यजः ॥ इति निश्चय मनसा काटिहोमं प्रयोजयेत् ॥" 'मत्स्यपुराण' में बतलाया गया है कि पशुओं, मनुष्यों का जब महासंहार होता हो, तब 'रौद्री शान्ति' करना चाहिए—"पशूनां मारणे प्राप्ते नराणामपि दास्ये। भूतेषु दृश्यमानेषु रौद्री शान्तिस्तथेष्टयेत् ॥" 'शान्तिकल्प' में भी कहा गया है कि विविध प्रकार की आपत्तियों उपस्थित होने पर 'रौद्री शान्ति' करना चाहिए—"रौद्रीमापस्तु विविधाषु च ॥" 'अग्निपुराण' का वचन है कि शान्तिगण के होम करने से मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है, भैषज्यगण के हवन से भय नहीं रह जाता, रौद्रगण के होम से सभी दोषों का नाश होता है—"शान्तातीत्यगणं हुवा शान्तिमाप्नोति मानवः। भैषज्यं च गणं हुत्वा सर्वान् रोगान् व्यपोहति ॥" कवचिन्नामोति च भयं हुत्वा चैवाभयं गच्छन् ॥" तथा रौद्रगणं हुत्वा सर्वान् दोषान् व्यपोहति ॥" जैसे वाण के प्रहारों का कवच निवारण करता है, वैसे ही देवी उपघातों का उक्त शान्ति निवारण करती है। जिस किसी भी कामना से कोई होम किया जाय, सभी में सफलता प्राप्त होती है—"यथा वाणप्रहराणां कवचं वारणं भवेत्। तद्वद्वेदोपघातानां शान्तिर्भवति वारणम्। येन येन तु कामेन कोटिहोमं प्रयोजयेत्। ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तं तं तं कामं समीहते ॥" इतना ही नहीं, यदि एक बार के अनुष्ठान से कार्यसिद्धि न हो, तो कई बार करना चाहिए तीन कोटिहोम से असाध्य कार्य भी सिद्ध होते हैं—"एकंद्वेऽग्नीषा च कुर्याद् बहुभिर्बहुधा कृतम्। अत्राप्यमपि यत्किञ्चित् साधयेत् त्रिविधाकृतम्" (प्रत्यङ्गिराकल्प)। ऐसे कितने ही शास्त्रप्रमाण दिये जा सकते हैं। वास्तव में ऐसा फल होता है या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है, जिस पर भी प्रसङ्ग आने पर विचार किया जायगा, यहाँ तो केवल शास्त्रवचनों की आप की मौन पूरी की गयी है। पर आप झट कहेंगे "श्रुतयो विभिन्नाः, स्मृतयो विभिन्नाः" इन का क्या प्रामाण्य ? किसी 'सर्वमान्य', 'निर्विवाद' शास्त्र का प्रमाण होना चाहिए। पर ऐसा शास्त्र तो आप की दृष्टि में केवल आप का 'मानवधर्मसार' ही है।

आगे चलकर आप लिखते हैं कि "यदि बुद्धि प्रबल मानी जाय, जैसा मानना (ऊपर कही युक्तियों से) अनिवार्य है, तो यही उत्तर होता है कि वर्तमान अवस्था में जब लाखों प्राणी भूखों मर रहे हैं, तब अन्न और धी का आग में जलाना यह पाप ही है। चारों ओर भूखे आदमी पड़े हैं, उन को न देकर आग में अन्न फेंकना यह 'तीव्र' परपीड़न है। शास्त्र ही का सात्विक बुद्धि-निर्धारित, सद्बुद्धि-प्रेरित कथन है—"परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्", परन्तु इस वचन का अभिप्राय समझने के लिए पहले 'परोपकार और 'परपीडन' क्या है, इसे भी जान लेना चाहिए। क्या शीत-ज्वराक्रान्त रोगी को, जो प्यास से तड़फ रहा है, ठण्डा शर्बत पिलाना 'परोपकार' और फोड़े से पीड़ित रोगी का कष्टप्रद 'आपरेशन' करना 'परपीडन' है ? आजकल यज्ञ 'तीव्र परपीडन' है या 'परम परोपकार', यह भी यथास्थान दिखलाया जायगा।

आगे चलकर आप शास्त्रवादियों की अन्य दलीलों की भी खबर लेते हैं। आप फरमाते हैं कि "एक शास्त्रवादी सज्जन ने लिखा है कि 'आर्यसमाज' माई भी अग्निहोत्र का बड़े बल से प्रचार करते हैं।" इस के उत्तर में आप कहते हैं "जहाँ तक मुझे मालूम हुआ है किसी आर्यसमाजो संस्था या व्यक्ति ने दिल्ली, कानपुर, प्रयाग आदि के यज्ञों का समर्थन नहीं किया, उल्टे इन यज्ञों पर आपत्तियों की। आर्यसमाजो सज्जन जो दैनन्दिन

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

भारत का भावी शासन-विधान

३

‘दूरकाल-योजना’ के द्वितीय भाग में लगभग दो वर्ष का ‘रचनाकाल’ होगा। इस में ‘प्रान्तों का भाषा-वैषम्य के आधार पर स्वतन्त्र एवं स्वनिर्भर राज्यरूप में पुनःविभाजन’ किया जायगा। इस में ‘स्वतन्त्र’ एवं ‘स्व-निर्भर’ शब्दों के क्या अर्थ लिये गये हैं? ‘स्वतन्त्र राज्य’ से अभिप्राय ऐसे ही राज्यों का होता है, जो केवल भीतरी शासन में ही स्वतन्त्र न हों, बल्कि उन्हें अन्य राज्यों के साथ ‘सन्धि-विग्रह’ की भी स्वतन्त्रता हो। क्या इसतरह के राज्य स्थापित करके देश की एकता बनी रहेगी? यदि कहा जाय कि वे सब मिल करके एक मण्डल बना लेंगे और वे उस के सदस्य रहेंगे, तो फिर प्रश्न होता है कि क्या मण्डल से पृथक् होने का उन्हें अधिकार रहेगा? यदि रहेगा, तो फिर किसी न किसी कारण से कोई राज्य कभी मण्डल से अलग भी हो सकता है और यदि नहीं, तो फिर राज्यों के साथ ‘स्वतन्त्र’ विशेषण जोड़ना निरर्थक है। प्राचीन समय में भी देश में कई राज्य अवश्य थे, पर उन में शासन-व्यवस्था प्रायः एक तरह की थी और वे सब एक ही प्रकार के धार्मिक तथा सांस्कृतिक बन्धन में बंधे थे। इस के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों को किसी एक ‘चक्रवर्ती’ राजा के अधीन होकर भी रहना पड़ता था। इसतरह देश की एकता बनी हुई थी। परन्तु आजकल की बदली हुई परिस्थिति में, जब कि धार्मिक बन्धन ढीले पड़ रहे हैं, एक नवीन संस्कृति का प्रवेश हो रहा है, सब को अलग अलग रहने में ही सुख का अनुभव होता है, शासन-पद्धतियों में भी विभिन्नता आ रही है, प्रत्येक राज्य व्यावसायिक दृष्टि से अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है, तब देश की एकता कैसे बनी रह सकेगी? उत्तर में ‘संयुक्तराष्ट्र अमरीका’ या ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का उदाहरण दिया जा सकता है। परन्तु अमरीका में यद्यपि विभिन्न ‘रियासतों’ का नाम ‘राष्ट्र’ रख दिया गया है, पर उन को केवल भीतरी शासन की सीमित स्वतन्त्रता प्राप्त है। वह ‘ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल’ की बात, उस का अभीतक कोई निश्चित रूप ही निर्धारित नहीं हो पाया है। ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत में ‘मण्डल-शासन’ की जो योजना रखी गयी है, उस में भी प्रान्तों की स्वतन्त्रता मान ली गयी है। यही दोष ‘दूरकाल-योजना’ में भी है।

इन प्रान्तों के शासक देशी नरेश ही होंगे यह पहले कहा जा चुका है। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि यदि वे मौलसी शासक होंगे, तो फिर उन के निजी राज्य उसी प्रान्त का अङ्ग माने जायेंगे या वे अलग रहेंगे? फिर अन्य देशी राज्यों के साथ इन प्रान्तीय राज्यों तथा भारत-सरकार का क्या सम्बन्ध होगा? विभिन्न प्रान्तों के शासक हिन्दू होंगे या मुसलमान, इस कठिनाई को दूर रखने के लिए इस योजना में यह मान लिया गया है कि ‘वायव्य प्रान्त ऐसे मुसलमानी भागों में मुसलमान राजा हो सकेंगे।’ यह ‘पाकिस्तान-योजना’ की स्वीकृति है, जिस की आलोचना हो चुकी है, जिन का समुचित उत्तर अभीतक दूरकाल जी की ओर से नहीं दिया गया है। ऐसी दशा में इस अंश पर और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। निजाम दक्षिण का अपना राज्य छोड़कर पश्चिमोत्तर प्रदेश में जा बसेंगे यह असम्भव ही सा प्रतीत होता है। इस योजना के अनुसार “सर्वोच्च अधिकार नरेन्द्रमण्डल के हाथ में होगा, जिस का विस्तार तथा पुनर्निर्माण आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।” इस सम्बन्ध में भी कितनी ही अड़चनें आयेंगी। मण्डल के सब सदस्यों को समानाधिकार होंगे, अथवा भूमि तथा जनसंख्या के अनुसार होंगे? ‘संयुक्तराष्ट्र अमरीका’ के ‘सिनेट’ (परिषद) में तो सब रियासतों के दो दो प्रतिनिधि हैं, परन्तु ‘कांग्रेस’ या ‘राष्ट्रसभा’ में जनसंख्या के अनुपात से प्रतिनिधि भेजने का भी अधिकार है। क्या उसी प्रकार

की व्यवस्था यहाँ भी चलेगी या और कोई प्रकार निकाला जायगा? ‘नरेन्द्र-मण्डल’ के सभापति इस योजना के अनुसार ‘वाइसराय’ होंगे, जो ‘भारतीय परिषद’ में ‘राजमन्त्री’ का स्थान ग्रहण करेंगे। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि ‘ब्रिटिश भारत’ तथा ‘देशी राज्यों’ का पृथक्करण अपने वर्तमान रूप में ही बना रहेगा। उस समय ‘वाइसराय’ का प्रान्तों तथा राज्यों के साथ क्या सम्बन्ध होगा? फिर ‘वाइसराय’ के विशेषाधिकार क्या बने रहेंगे? ब्रिटेन के ‘बादशाह’ को ही ‘सम्राट्’ मानकर ‘वाइसराय’ द्वारा इस रचनाकाल में ब्रिटिश-सम्बन्ध बनाये रखने की इस योजना में व्यवस्था रखी गयी है। यदि ‘वाइसराय’ सम्राट् का प्रतिनिधि हुआ, तो वह ‘भारतीय परिषद’ में ‘मन्त्रिपद’ से क्या सन्तुष्ट रहेगा? ब्रिटेन के बादशाह अपने यहाँ के ‘धर्म-संरक्षक’ (डिफेन्डर आफ् दि फेथ) भी माने जाते हैं। वहाँ ईसाईधर्म प्रचलित है और बादशाह उसी धर्म के अनुयायी हैं, इसलिए वहाँ उन के ‘धर्म-संरक्षक’ होने में कुछ संज्ञति भी है। परन्तु भारत में, जहाँ विभिन्न धर्म प्रचलित हैं, उन की ओर से केवल तटस्थता की नीति तथा विभिन्न सम्प्रदायों के अधिकारों को सुरक्षित रखने की घोषणा ही मात्र हो सकती है। परन्तु इस नीति की ओट में जो कुछ हो रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है।

तृतीय भाग में लगभग दो वर्ष का ‘परिपक्व काल’ रखा गया है। इस के आरम्भ में ही बतलाया गया है कि “इस काल के अन्त तक ब्रिटिश-सम्बन्ध स्थिर रखा जायगा, जिस के पश्चात् यह सम्बन्ध स्वतः स्थापित हो सकेगा।” यदि इस का अर्थ यह है कि भारत जब चाहे ब्रिटेन के आधिपत्य से मुक्त हो सकता है, तो वैसी स्थिति में ‘भारत-सम्राट्’ कौन होगा? उस की नियुक्ति कैसे होगी? यदि निर्वाचन द्वारा, तो वह ‘नरेन्द्र-मण्डल’ द्वारा या प्रजा द्वारा? यह पद स्थायी होगा या केवल कुछ काल के लिए? इस में क्या जाति और धर्म का अड़झान लगेगा? यदि स्थायी तथा मौलसी हुआ, तो क्या सिर गिनने से ही काम चल जायगा और उन के फोड़ने की तो नीबू न आयगी?

‘सारस्वत समाज’ में लार्ड लिटन

लार्ड लिटन सन् १९२२ से २७ तक बङ्गाल के गवर्नर थे। उस समय के उन्होंने अपने अनुभव ‘पण्डित और हाथी’ नामक पुस्तक में दिये हैं, जिस का परिचय हम पाठकों को ‘सिद्धान्त’ वर्ष ३ अङ्क ३७ में करा चुके हैं। यह पुस्तक सन् १९४२ में प्रकाशित हुई थी और अबतक इस के दो संस्करण निकल चुके हैं। इस पुस्तक को पूरी पढ़ने का अवसर अब हमें प्राप्त हुआ। इस में आप लिखते हैं “कि जब मैं ढाका गया, तब मुझ से वहाँ के ‘सारस्वत समाज’ में ‘दीक्षान्त भाषण’ देने के लिए कहा गया। यहाँ मैं ने पण्डितों की, जो देश की प्राचीन भाषा संस्कृत के विद्वान् हैं, समा देखी। भारत में जिन से मैं मिला, उन में केवल ये ही लोग ऐसे हैं, जिन्होंने देश की प्राचीन शिक्षा का भाव जाग्रत रखा है। ज्ञान उन के लिए साध्य है, न कि ऐसा साधन, जिस से इच्छित वस्तु प्राप्त की जा सके। खेद है कि शिक्षा का यह भाव आज सर्वथा नष्ट हो गया है। भारतीय विद्यार्थी स्कूल और कालेजों में शिक्षा को केवल जीविकोपार्जन का साधन मानते हैं। नौकरी पाने के लिए ‘डिग्रियों’ प्राप्त की जाती हैं। कभी कभी ‘बी. ए. फेल’ भी योग्यता-प्रदर्शन के प्रमाण में लिखा जाते हैं। विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की भी प्रायः यही धारणा है। उच्चकोटि के विद्वान् उत्पन्न करना और परीक्षाओं का आदर्श इतना ऊँचा रखना कि जिस में सुयोग्य विद्वान् ही उत्तीर्ण हो सकें, ऐसा वे अपना उद्देश्य नहीं समझते। इस की अपेक्षा वे ‘डिग्रियों’ प्रदान करना ही अपना कर्तव्य मानते हैं। उन के यहाँ से कितने ‘प्रेजुयेट’ निकले, इस का उन्हें गर्व होता है, न की विद्यार्थियों की योग्यता का। ‘सारस्वत समाज’ के पण्डितों

में ही मैं ने शिक्षा का सच्चा भाव देखा। 'फ्रांसिस्कन पादरियों' की तरह इन विद्वानों ने भी दरिद्रता का वरण किया था और अपने टालों (पाठशालाओं) में विद्यार्थियों को 'ज्ञान का केवल ज्ञान के लिए' आदर करने की शिक्षा देते थे। विद्यार्थी अपने गुरुओं ही के साथ रहते थे। एक एक पण्डित के घर में तीन या चार विद्यार्थी रहते थे और वहीं भोजन भी करते थे। इन में 'गुरु-चेले' का सच्चा सम्बन्ध देखने में आता था। 'ढाका विश्वविद्यालय' के सभा-भवन में इन पण्डितों के साथ मेरा सम्पर्क मेरे लिए एक विचित्र तथा भयावह अनुभव था। सभा-भवन के एक ओर कई अङ्ग्रेज तथा प्रतिष्ठित हिन्दुस्तानी तरह तरह के बढ़िया कपड़े पहने हुए बैठे थे और दूसरी ओर पण्डित-मण्डली थी, जिन में कुछ तो केवल धोती ही धारण किये हुए थे और कुछ चादर ओढ़े हुए थे। कुछ तो वृद्ध थे, जो युवक थे, उन के चेहरे से उन की बुद्धि टपक रही थी। मुझे संस्कृत में 'मानपत्र' प्रदान किया गया। विद्वानों की इस मण्डली के सामने भाषण देने में मुझे भय प्रतीत हो रहा था। मैं ने प्रारम्भ में ही कहा कि 'मुझे खेद है, मैं संस्कृत नहीं बोल सकता। मैं शेक्सपियर और मिल्टन की भाषा (अङ्ग्रेजी) में ही बोलूंगा।' मेरे साथ उन का व्यवहार मैत्रीपूर्ण था। बाद में उन से जो मेरी बातचीत हुई, उस से इन त्यागी, सीधे-सादे विद्वानों के प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गयी, इसीलिए भारत छोड़ते समय मुझे कहना पड़ा कि मुझे भारत में सब से मूल्यवान् जो देख पड़े, वह है 'पण्डित और हाथी।' इस पुस्तक में लाई लिटन ने कितनी ही ऐसी बातें कही हैं, जिन से हम कभी सहमत नहीं हो सकते। पर इस में सन्देह नहीं कि उन्होंने ने पण्डितों का मूल्य ठीक ही ओंका है। पुस्तक की भूमिका में भारतीय तथा अङ्ग्रेजों के स्वभाव की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करते हुए आप ने एक और ऐसी बात कही है, जो ध्यान में रखने योग्य है। भूमिका के अन्त में आप लिखते हैं कि "अङ्ग्रेज और भारतीय एक दूसरे की त्रुटियों को देखेंगे तो दोनों में बहुत मिलेंगी। पर यदि वे एक दूसरे में जो अच्छा है, उसे देखने का प्रयत्न करेंगे तो, एक दूसरे की प्रशंसा भी करेंगे। भारतीय के सम्पर्क में आने पर अङ्ग्रेज के लिए सब से अच्छा यह है कि वह अङ्ग्रेज ही बना रहे और किसी भारतीय के लिए यह न चाहे कि वह भारतीय के अतिरिक्त कुछ हो। इसीतरह भारतीय को भी अङ्ग्रेज के साथ व्यवहार करने में समझना चाहिए। जो दूसरे की नकल करना चाहता है या जो दूसरे को चाहता है कि वह हमारी तरह हो, उसे अवश्य निराशा होना पड़ेगा।"

गोपीगीत

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

१०

(यह लेख साप्ताहिक 'सन्मार्ग' में ९ अङ्कों में निकल चुका है। श्रीमद्भागवत में रासपञ्चाध्यायी के गोपीगीत का इस में बड़ा सुन्दर विशद व्याख्यान है। 'सन्मार्ग' के स्थगित होने के कारण इस का अवशिष्टांश 'सिद्धान्त' में प्रकाशित करने की व्यवस्था की गयी है। प्रकृत विवरण जिस श्लोक का है, वह इस प्रकार है—“न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहि-नामन्तरात्महम् । विज्ञानसाधितो विश्वगुणैः सज्ज उदेयिवात् सात्वतां कुले ॥” —सम्पादक)

मानिनी-पक्ष में—यह निर्दय-शिरोमणि कौन है, इस बात पर बहुत विचारकर गोपाङ्गनाएँ कहती हैं—“कुछ भी हो, आप को करुणाहीनता एवं प्रेयसी दुःख-दर्शन में भी अद्भुतचित्ता देखकर चित्कर्षित होता है कि आप हम सब की रक्षा करनेवाले—गोपिका—परमकरुणामयी नन्दरानो के पुत्र नहीं हैं, किन्तु सर्वत्र सुख से रहनेवाले अन्तर्यामी हैं। आप का जन्म भी बल विश्व में छिपाकर ब्रह्मा को सृष्टि बढ़ाने के लिए ही है। अपने छिपाने के लिए आप जैसे अपने अन्यान्य स्वभावों को छोड़कर चौप्यादि करते हैं, वैसे ही अपनी स्वभावभूता उदासीनता को भी छोड़ दीजिये, अन्यथा आप की परमेश्वरता प्रकट हो जायगी, फिर लोग आप को भजकर मुक्त हो जायेंगे, फिर आप का मनोरथ नहीं सिद्ध होगा।” अथवा गोपाङ्गनाएँ

कहती हैं—“हमलोगों की रक्षा में अग्रापृत होने, हमारे हृद्गत प्रेमातिरेक न जानने से, हमारे वध में तत्पर होने से आप गोपिकानन्दन, अन्तरात्महम् एवं विश्वरक्षक नहीं हैं। अथवा तेनतेनरूपेण ख्यात होने पर भी उन उन धर्मों से रहित होने के कारण आप का गोपिकानन्दनत्व आदि व्यर्थ है। सखारूप से ख्यात होने पर शत्रुधर्माक्रान्त होने से आप सखा भी नहीं हैं।”

निवृत्तिपक्ष में—‘खलु’ शब्द का निषेध अर्थ है। श्रुति कहती है कि “आप हम गोपिकाओं (अपने मुखार्थ को छिपाकर रखनेवाले) श्रुतियों को आनन्दकर नहीं हैं ऐसा नहीं, किन्तु हम सब को परमानन्द देनेवाले हैं, क्योंकि अखिलान्तरात्मा एवं साक्षी हैं, अतः सर्वानन्दकर होना उचित ही है। “विशेषेण खनति वेदार्थं विचारयतीति विज्ञाना विद्वान्” इस व्युत्पत्ति से वेदार्थ-विचारशील विद्वान् ‘विखनान्’ हैं। उस विद्वान् से प्रार्थित मोक्षस्वरूप आप विश्व अर्थात् सम्पूर्ण कार्यकरण-सञ्ज्ञा को रक्षा के लिए इन्द्रियों के साथ (खैरिन्द्रियैः सह वर्तते इति सखः) मन आदि सत्त्वानों के समूह में जीवरूप से प्रकट हुए हैं। श्रुति भी यही कहती है—“अनेन जीवनात्मनानुग्रविष्य नामरूपे व्याकरवाणि”, “अपरेयमितस्त्वन्थां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धाव्यते जगत् ॥”

बुद्धिवादी या बुद्धिशत्रु ?

(होम-हवन-यज्ञ पाप है या पुण्य ?)

(श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी)

४

“लकीर के फकीर”

‘बुद्धिवादियों या स्वयं अपना ही धन क्या स्वजनों (बन्धु-बान्धवों, कुटुम्बियों) के ही भरण-पोषण में जाता है ?’ इस का उत्तर टेढ़ा देकर आप ने प्रस्तुत विषय में ‘अग्निदेव’ को ही नितरां ‘परजन’ बना दिया। परन्तु सच्चे आस्तिक के लिए तो कोई भी ‘पर जन’ नहीं—“उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।” यज्ञों के याजक, प्रेरक, अग्रणी आदि में आप को “कुछ संस्कृत शास्त्रों के बहुत अच्छे विद्वान् भी देख पड़ते हैं” परन्तु वे सब ही “लकीर के फकीर।” आप की दृष्टि में यह उन का बड़ा भारी अपराध है, क्योंकि “इस में अपनी और जनता की शक्ति, भ्रम, धन और बुद्धि का भी अपव्यय होता है।” परन्तु यदि विचार से देखा जाय, तो यह दूषण नहीं भूषण है। समय समय पर गिरगिट की तरह रङ्ग बदलते रहना बुद्धिमानी नहीं है। जो ऐसा करता है, वह अवसरवादो माना जाता है। समय के प्रवाह के साथ बहनेवाले में स्थिरता ही क्या हुई ? जो काल के फकीरों की परवाह न कर अपनी प्राचीन परम्परा पर डटा हुआ है, वास्तव में वही मानव जाति का उपकार कर सकेगा। परन्तु इतने ही में काशी के घाटों पर कुछ निठबले लोगों की ‘हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे’ की रट आप को खटकने लगी और आप ने जनता को यह सलाह दे डाली कि “ऐसा रटना व्यर्थ है” और इस के समर्थन में ‘विष्णुपुराण’ का यह प्रमाण भी दे दिया कि “स्वधर्मं कर्म सुखाः कृष्ण कृष्णेति राविणः । ते हरेर्द्वेषिणो मूढाः धर्माय जन्म यद् हरेः ॥” पर इस के साथ ही आप यह वचन क्यों भूल जाते हैं कि भगवान् के नाम का अवश होकर भी उच्चारण करने से वह अघों का नाश करनेवाला होता है—“अवशाभिहितोऽप्यबौधनाशः ।” इतना ही नहीं, नवधा भक्ति में दूसरा स्थान ‘कीर्तन’ ही का है, जिस के सम्बन्ध में ‘भागवत’ में तो यहाँ तक कहा गया है कि जिस की वाणी गद्गद हो जाती है, चित्त ब्रवीभूत हो जाता है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, लज्जा छोड़कर उच्च स्वर से कीर्तन करता है और नृत्य करता है, ऐसा मेरा भक्त संसार को पावन करता है—“वागद्गद्गद्भवते यस्य चित्तं रुदयमोक्षं हसति क्वचिच्च । विलज्ज-उद्गाद्यति नृपते च मज्जति युक्तो भुवनं पुनरिति” (भा० व० ११।१४।२४)। एक नहीं सैकड़ों वचन नाम कीर्तन के समर्थन में दिये जा सकते हैं। शास्त्रों में सभी प्रकार के वचन आते हैं। वास्तव में बात यह है कि शास्त्रों में जो कुछ भी कहा गया है, वह देश, काल तथा अधिकारों के भेद की दृष्टि में रखकर। ऐसा दशा में पूर्वापर के प्रसङ्ग को छोड़कर कहा के वाक्य से अपना सिद्ध कर देना लोगों को धोखा देना है। अङ्ग्रेजों में कहावत है कि

‘शैतान भी अपने समर्थन में बाइबिल के वाक्य पेश कर सकता है।’ फिर यह समझ में नहीं आता कि आप बार बार शास्त्रवचनों को क्यों उद्धृत करते हैं ? वे तो सब के सब ‘लकोर के फकीर’ हैं। आप सरीखे प्रगतिशील वैज्ञानिक को तो उन के चक्कर में पड़ना ही नहीं चाहिए और अपने वैज्ञानिक के आधार पर स्पष्ट शब्दों में घोषित करना चाहिए कि “भगवन्नाम-कीर्तन भी महापाप है।” प्रार्थना, कीर्तन आदि के सम्बन्ध में यदि शास्त्र-वादियों का अज्ञान दूर करने के लिए आप शास्त्रवचन उद्धृत करते हैं, तो भी आप उन्हें गुमराह कर रहे हैं, क्योंकि शास्त्रों में सब ऐसी ही बातें मिलेंगी। रही आप की ‘व्याख्या’, वह उसी को मान्य होगी, जिस ने सब प्राचीन भाष्यों को रद्दी की टोकरी में फेंककर बुद्धि का ‘ठेकेदार’ केवल आप ही को मान लिया है। यदि आप की मजिस्ट्रेटों में कहीं चैतन्य महाप्रभु होते, तो बेचारों को अवश्य जन्मभर ‘कालकोठी’ काटनी पड़ती। आप इतना अवश्य मानते हैं कि “सच्चे हृदय से सच्ची प्रार्थना जगदात्मा से एकान्त में की जाती है और उस का सुफल कुछ न कुछ होता ही है।” यदि यही बात है, तो फिर ईसाइयों की गिरांघर में सामूहिक उपासना और मुसलमानों की सामूहिक नमाज बेकार हो गयी। हाँ, एक बात स्पष्ट है। आप के बुद्धिवादी मुक्किल श्री घनश्यामदास बिड़ला जी की राय में आजकल भारत में “गान्धीजी ही एकमात्र महात्मा-हूँ” जैसा कि उन्होंने शास्त्रवादी श्री गायनकाजी को अपने पत्र में लिखा है। महात्माजी के यहाँ भी “धुपति राघव राजाराम” का कीर्तन होता है, पर कुछ धीमे स्वर में। यदि उस से कुछ लाभ होता है, तो उच्च स्तर से कीर्तन में भी लाभ हो सकता है, कुछ कम भले ही हो। जब में अवश्य मानसिक विधि की श्रेष्ठता स्वीकार की गयी है, परन्तु कीर्तन तो स्वर से ही हो सकता है। पता नहीं कि अब बुद्धिवादी बिड़लाजी देश के एक मात्र विद्वान् की राय मानेंगे, या ‘एकमात्र महात्मा’ की। यज्ञों में आप को एक और बड़ा दोष दिखायी पड़ा। इन में “बड़ा मेला लगता है, तमाशायी लोग टूट पड़ते हैं, चारों ओर मलमूत्र की गन्दगी फैलती है और हैजा आदि की बीमारी का प्रकोप होता है। न रामजी मिलते हैं न विश्वशान्ति होती है।” आप ही के टक्कर के एक दूसरे दार्शनिक को भी दिल्ली के यज्ञ में एक यही बात सब से अधिक देख पड़ी। मेला हो, चाहे घर, किसी की गन्दा करना सचमुच बड़ा दोष है। उस को हमें अवश्य दूर करना चाहिए। पर क्या गन्दागी के भय से यज्ञ, मेला, सार्वजनिक समारोह आदि सर्वथा बन्द ही कर दिये जाँय ?

सचमुच ‘बुद्धिभ्रान्ति’ !

यज्ञसम्बन्ध में ‘अग्निदेव’ की ‘परजन’ बतलाते हुए आप लिखते हैं कि “श्वेतकि राजा द्वारा बारह वर्षतक निरन्तर अन्न, घी खाने-पिलाने से ‘अग्निदेव’ को ‘मन्दाग्नि’ का रोग हो गया और सब शरीर पीला पड़ गया। मन्दा ने कहा “बहुत घी और अन्न पीने-खाने का फल है, अब लकड़ी और चर्बी चबाओ, यही दवा है, परहेज करो।” बेचारे अग्निदेव ने कृष्ण और अर्जुन की खुशामद की। दोनों ने मेहनताना लेकर बादल-पानी को रोक रखा और ‘अग्निदेव’ १५ दिन में खाण्डव वन को भस्म करके चट कर गये। “यह फल होता है, उन को अन्न, घी खिलाने से।” अग्नि की अरुचि की कथा का तात्पर्य मरुत्त (श्वेतकि नहीं) के यज्ञ की प्रशंसा का अर्थवादमात्र है, न कि यज्ञों को पाप बतलाना। यदि ऐसा होता, तो फिर खाण्डववनदाह के बाद ही वहाँ अश्वमेध यज्ञ न हुआ होता। आगे चलकर आप फरमाते हैं कि “आज पाँच वर्ष से हिटलर, चर्चिल, मुसोलिनी, स्टालिन, तोजो, च्यांगकाईशेक की सहायता से अग्निदेव पचासों लाख मनुष्यों की चर्बी, लोहा, लकड़ी, तेल खाते-पीते चजे आ रहे हैं और तृप्त नहीं होते। आज उन को दस बीस हजार मन अन्न और घी की घूस देकर खुश कर लेंगे ?” लोहा, लकड़ी कोयला चबाते और तेल, पेट्रोलियम पीते, अग्निदेव आज सचमुच रोगी हो रहे हैं, उन्हें अब भस्मक रोग हो गया है, सभी उन को सात्विक हव्य देने की आवश्यकता है। यदि वे बराबर ‘पेट्रोलियम’ ही पीते रहे, तो निस्सन्देह उन की ‘आकाश में हजारों फुट ऊँची, लपलपाती हुई जिह्वा सारे संसार को भस्म कर देंगी।’ आप लिखने हैं कि “दिल्लीयज्ञ में विश्वशान्ति का डिण्डिम किया गया था, उस का फल क्या हुआ ? यही न कि १४ अप्रैल को बम्बई में हजारों मनुष्यों को मारकर अग्निदेव अरबों रुपये की सम्पत्ति चाट गये।” परन्तु यदि शास्त्रवादी कहे

कि यज्ञों के विरोध का ही यह परिणाम हुआ, तो फिर उसे क्यों न माना जाय ? थोड़ी देर के लिए हम आप ही की बात मानते हैं कि “दिल्ली-महायज्ञ के फलस्वरूप ही बम्बई में विस्फोट-ताण्डव हुआ।” यदि ऐसा हो है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि किन्हीं उपायों से ‘अग्निदेव’ को संतुष्ट भी किया जा सकता है। विहार-भूकम्प के समय देश के ‘एकमात्र महात्मा’ गान्धीजी ने कहा था कि अल्लूतों के साथ दुर्व्यवहार ही के कारण भूकम्प की विपत्ति आयी। क्या ‘बुद्धिवादी’ को यह मान्य है ? यदि है, तो फिर किसी कर्म से सुफल भी हो सकता है। मुख्य प्रश्न तो यह है कि हमारे कर्मों का कुछ भी प्रभाव दैवी शक्तियों पर पड़ता है अथवा नहीं ? यदि है, तो फिर बुरा और अच्छा दोनों हो सकता है। ऐसी दशा में एक को स्वीकार और दूसरे से इनकार कैसे किया जा सकता है ? हम तो यही कहेंगे कि ऐसे धर्म्मगुणानों के कारण ही भारत में थोड़ी-बहुत कुछ शान्ति रही। यह प्रत्यक्ष होते हुए भी जिन्हें न देख पड़े, सचमुच उन की यह ‘बुद्धि-भ्रान्ति’ ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

‘शास्त्रवादी’ का यह वाक्य उद्धृत करते हुए कि ‘सर्वज्ञ महर्षियों की बात ठीक मानी जाय या आप की’ डाक्टर साहब लिखते हैं कि “पहिले तो इसी का ठीक पता नहीं कि ऐसे यज्ञों का विधान प्राचीन महर्षियों ने लिखा, हाँ, आजकाल सभी काषायधारी, वेशधारी लोग ‘महर्षि’, ‘महात्मा’ कहे जाते हैं, यह बात न्यायी।” यज्ञों के प्रतिपादक दोन्तीन वचनों को हम पहले देख चुके हैं, अधिक देकर लेख को बढ़ाना नहीं चाहते। केवल प्रतिपादन कैसा, विश्वामित्र, वशिष्ठ, भरद्वाज, असित आदि महर्षियों ने स्वयं बड़े बड़े यज्ञ किये थे। रही ‘काषायधारियों’ की महर्षि कहे जाने की ‘न्यायी बात’, सो तो आजकल ‘काल-कुर्ता-धारी’ भी ऋषि कहे जा रहे हैं। फिर आप प्राचीन ‘महर्षियों’ की सर्वज्ञता का प्रमाण मांगने लगते हैं। इस में भी हमारे शास्त्र ही प्रमाण हैं। परन्तु डाक्टर साहब को यज्ञों से विश्वशान्ति हुई, इस का ‘प्रत्यक्ष प्रमाण’ चाहिए, क्योंकि “वह सब प्रमाणों की जड़ है। जब पहिले महानस, अग्नि, धूम, पर्वत प्रत्यक्षसिद्ध है, तब ‘पर्वतो वह्निमान् धूमात्’ यह अनुमान चलता है। हमारे सामने घट रखा है, हम देख रहे हैं कि यह घट है। यदि सौ भ्रुति, सौ वेदवाक्य आकर कहे कि यह घट नहीं है कि यह घट है। यदि सौ भ्रुति, सौ वेदवाक्य आकर कहे कि यह घट नहीं पट है, तो उन की यह बात सुनी-मानी नहीं जा सकती। ‘प्रत्यक्षपरा प्रमितिः’, ‘प्रत्यक्षपराणि प्रमाणाणि’, “न हि भ्रूतीनां शतमपि घटं पटयितुं ईष्टे।” यह परम प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् ‘भामतीकार’ वाचस्पति मिश्र का वचन है।” प्रत्यक्ष प्रमाण को कौन नहीं मानता ? पर प्रश्न तो यह है कि उस के अतिरिक्त अनुमान, आगम आदि प्रमाण है या नहीं ? यदि आगम आदि प्रमाण मान्य हैं, तब तो स्पष्ट है कि जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर बहुफल-प्राप्ति के लिए अन्न खेत में बिखेरा जाता है, वैसे ही शास्त्रप्रमाण के आधार पर विपत्ति दूर करने एवं सुख, सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए यज्ञों में घृतादि की आहुति डाली जाती है। जैसे नेत्रसिद्ध रूप है, वैसे ही श्रोत्रसिद्ध शब्द है। रूप यदि श्रोत्रसिद्ध न हो, तो कोई दानि नहीं है। प्रमेय सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण होना चाहिए। प्रत्यक्ष, अनुमान से असिद्ध अर्थ को ही सिद्ध करने के लिए तो आगम प्रमाण की आवश्यकता होती है— “प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तुपायो बुध्यते। यस्तं विदन्ति वेदेन तस्मादेव वेदता ॥” अर्थात् जो उपायोपेयभाव प्रत्यक्ष एवं अनुमान से नहीं जाना जाता, उस का वेद से ज्ञान होता है, यही वेद की वेदता है। अदृष्ट फलवाले कर्मों के तो माधन-साध्य दोनों ही अदृष्ट होते हैं, शास्त्र से ही उन का बोध होता है और फल कालान्तर में मिलता है। परन्तु जो कर्म दृष्ट अभोष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट-निवृत्ति के लिए होते हैं, उन का स्वरूप तो केवल शास्त्रों से ही वेद्य है, परन्तु फल प्रत्यक्ष होता है। यदि आप अनुमानागमादि प्रमाण मानते नहीं, तो फिर बारबार शास्त्र की साक्षी क्यों देते हैं ? प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इस से आप का अभिप्राय क्या है ? माता के वचनों पर विश्वास करने के अतिरिक्त ‘कोई अपने पिता का पुत्र है’ इस का प्रत्यक्षप्रमाण क्या दे सकता है ? परन्तु आजकल तो अदालतों में चोरी और बर्ध के भी साक्षी दूँडे जाते हैं, ऐसी दशा में ‘शास्त्रवादी’ बनाम बुद्धिवादी’ मुकदमे के ‘जज साहब’ सब का प्रत्यक्ष प्रमाण मांगने लगे, तो इस में क्या आश्चर्य ? विभिन्न प्रमाणों की चर्चा आप भी करते हैं, पर साथ ही लिखते हैं कि “नास्तिक चार्वाक दर्शन एक ही प्रमाण को मानता है और वह है ‘प्रत्यक्ष’

प्रमाण।" ठीक है, चार्वाक के मत को प्रबल बनाने का बीड़ा आप ने उठाया है, जैसा कि इस लेख तथा आप के ग्रन्थों में प्रकट किये हुए विचारों से स्पष्ट है, फिर भला उस के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से आप को सन्तोष कैसे हो सकता है? सूर्य, चन्द्र आदि देखने में छोटे जान पड़ते हैं, पर आगम से उन का बड़ा परिमाण निश्चित होता है। यहाँ आगम से विरुद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष भ्रम समझा जाता है। डाक्टर साहब 'अद्वैत ब्रह्म' की बड़ी चर्चा करते हैं। प्रत्यक्ष में तो जान पड़ता है कि आत्मा कर्ता, बाद' की बड़ी चर्चा करते हैं। प्रत्यक्ष में तो जान पड़ता है कि आत्मा कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी है, परन्तु आगम से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव परब्रह्मस्वरूप बोधित होता है। यहाँ भी आगम से प्रत्यक्ष का बाध होता है। 'सर्वं ब्रह्मिदं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' आदि वचन बिना प्रत्यक्ष का बोध किये हृदयङ्गम नहीं हो सकते। जिन 'भामतीकार' वाचस्पति मिश्र को आप ने बड़े ओरों के साथ अपने समर्थन में पेश किया है, उन्हीं का कहना है कि तात्पर्यवती श्रुति प्रत्यक्ष से प्रबल है—“तात्पर्यवती श्रुतिः प्रत्यक्षालम्ब्यती।” इतना ही नहीं, 'अद्वैतसिद्धि' में समुद्धृत स्मृति से आगम की प्रबलता प्रत्यक्ष की अपेक्षा स्पष्ट रूप से कही गयी है—“प्राबल्यमागमस्यैव ज्ञात्या तेषु त्रिषु स्मृतयः।” इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण 'इत्यक्ष-प्राबल्य-निरास-प्रकरण' उपस्थित किया जा सकता है, पर बुद्धिशत्रुओं के मुँह लगने में इतना प्रयास व्यर्थ ही होगा। बाद में आप मनु का वचन (१२-१०५) उद्धृत करते हुए कुल्लूक-टीका (१२-११३) के आधार पर लिखते हैं कि 'पहले प्रत्यक्ष, तब अनुमान (तर्क, युक्ति, बुद्धि) तब विविध शास्त्रों से जाँचने से ही शुद्ध धर्म का निश्चय हो सकता है, केवल 'शास्त्र' का आसरा करने से, युक्तिपूर्वक विचार किये बिना धर्म की हानि होती है—“प्रत्यक्षं, चानुमानं च, शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धि-मसीप्सता ॥ केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिश्चयः। युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥” परन्तु यहाँ 'भगवान् मनु' ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही कहा माना, शास्त्र, आगम सभी तो उन्होंने मान लिया। 'तर्क' को ताक पर रखने के लिए कौन शास्त्रवादी कहता है? अपने यहाँ का तो प्राचीन सिद्धान्त है कि “जो बात शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित, विद्वानों से अनुमोदित, तर्कसम्मत तथा अपने मन की रुचि के अनुकूल है, उसी को मानना चाहिए।” हाँ, 'कभी इस डार, कभी उस डार' पर कूदनेवाले पल्लवप्राही तर्क का, जिस का परिचय आप ने अपने लेख में दिया है, कोई भी मूल्य नहीं है। फिर कोई ऐसा भी विषय है, जिस में तर्क टकराकर चूर हो जाता, बुद्धि घुस नहीं पाती है—“जो बुद्धेः परतस्तु सः।”

महर्षियों की 'सर्वज्ञता'

इस सम्बन्ध में आप 'महाभारत' से वेदव्यास जी का यह वचन उद्धृत करते हैं कि 'सर्वं सर्वं न जानाति, सर्वज्ञो नास्ति कश्चन' अर्थात् सब ज्ञान किसी एक मनुष्य के पास नहीं है, सर्वज्ञ सचमुच कोई भी नहीं है। परन्तु स्वयं वेदव्यास जी की अपनी ही 'महाभारत' के सम्बन्ध में यह भी तो प्रतिज्ञा है कि “जो यहाँ है, वही अन्यत्र है और जो इस में नहीं, वह कहीं भी नहीं है। “यदिहास्ति तदन्यत्र यच्चेहास्ति न तत् क्वचित्।” यह सर्वज्ञता का दावा नहीं, तो और क्या है? फिर महर्षियों की सर्वज्ञता का मखौल उड़ाते हुए आप लिखते हैं कि “पुराने समय में भारत में तथा चीन, ईरान, ग्रीस, रोम आदि 'पवित्र' देशों में किस प्रकार के 'सर्वज्ञ' महर्षि रहे, यह तो हम को निश्चय से मालूम नहीं, पर आजकल हमारी आँखों के सामने यूरोप, अमरीका में, सर्वज्ञ नहीं, तो 'बहुज्ञ' महर्षि प्रत्यक्ष हो रहे हैं, जिन के विज्ञान के बल से मनुष्य स्थल, जल, अनिल तीनों में अप्रतिहत गति से, महावेग से, दौड़ रहे हैं; आजकल तो प्रत्यक्ष महर्षि ये ही हैं, जो 'श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः' सुनी बातों को, पुराणों की, और 'सहस्ररजनी चरित्र' (अलिफ्लैला) की बातों को कर दिखाते हैं और अन्ध-वी के यज्ञों में ही मग्न रहनेवालों के ऊपर राज करते हैं?” इन 'बहुज्ञ' महर्षियों की साधनाओं से आज सारा संसार त्रस्त हो रहा है, यदि ये कहीं 'सर्वज्ञ' होते, तो न जाने क्या करते? प्राचीनता की फटकार में आपने बेचारे भारत के साथ ग्रीस (यूनान) को भी लपेट लिया है, क्रोध के आवेश में आप को यह भी ध्यान न रहा कि आधुनिक 'बहुज्ञ' महर्षि प्राचीन ग्रीस के महर्षि प्लेटो (अफलातून) और अरिस्टाटल (अरस्तू) को ही अपना आधिपत्य मानते हैं। पाश्चात्य संस्कृति वास्तव में प्राचीन ग्रीस की

ही देन है। रही हमारे महर्षियों की सर्वज्ञता, वह तो इसी से प्रकट है कि उन के स्थिर किये हुए सिद्धान्त हर देश, हर समय में सत्य सिद्ध हो रहे हैं। यदि आज के 'बहुज्ञों' ने उन सिद्धान्तों का ध्यान रखा होता, तो आज संसार की वह दशा न हुई होती, जो हो रही है। ये 'बहुज्ञ पुराणों की बातों को करके दिखला रहे हैं', इतने पर भी क्या अभी आप पुराणों को 'डोकिया' पुराण' या 'जानी की कहानी' ही समझते रहेंगे? यदि नहीं, तो फिर इस से भी महर्षियों की सर्वज्ञता ही सिद्ध हो गयी, क्योंकि जिन्होंने हवा में उड़ने, समुद्र पर चलने, स्वयं रूप-परिवर्तित करनेवाले विमान तथा अन्य कितने वैज्ञानिक चमत्कार दिखला डाले, उन को बुद्धि से तुलना करने पर डाक्टर साहब के 'बहुज्ञ महर्षि' तो 'अल्पज्ञ' भी नहीं, पूरे 'मूर्ख' ठहरेंगे। अब रही बात इन 'बहुज्ञों' की 'अन्न-वी के यज्ञों में ही मग्न रहनेवालों पर राज करने की' इस का भी यथास्थान विचार किया जायगा।

शुभ समाचार

काशी में महायज्ञ की तैयारियाँ—धर्मसङ्घ के चतुर्थ महावि-
वेशन के उपलक्ष्य में जो महायज्ञ होने जा रहा है, उस में नौ मण्डपों का निर्माण होगा। जिन की रचना-प्रणाली निम्न प्रकार की होगी—मध्य में सौ हाथ का लम्बा-चौड़ा एक महामण्डप होगा। इस में १०० कुण्ड होंगे, जिन में माध्यन्दिनी यानुष शाखा की पद्धति के अनुसार हवनान्तक १०० महास्र यगों का अनुष्ठान होगा। इस महामण्डप के चारों ओर २०-२० हाथ भूमिभाग का अन्तर देकर आठों दिशाओं में सोलह सोलह हाथ के आठ मण्डप होंगे, जिन में ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद की विभिन्न शाखाओं की पद्धति के अनुसार पृथक् पृथक् २१ कुण्डों में २१ महास्रयग होंगे। अवशिष्ट मण्डपों में श्रीमद्भागवतादि महापुराणों के पाठ सम्पन्न होंगे। इस महायज्ञ में प्रतिमण्डप के एक एक उन उन शाखाओं के यजमान रहेंगे और प्रतिकुण्ड एक एक आचार्य तथा ब्रह्म रहेंगे। प्रत्येक कुण्ड पर सम्भवतः ६-६ होम करनेवाले ऋत्विक् रहेंगे। इन के अतिरिक्त सदस्य, द्रष्टा, उपद्रष्टा, गाणपत्य, द्वारपाल, जापक, परायण-कर्त्ता एवं परिचारक विभिन्न ऋत्विक्-समुदाय भी रहेगा। सब ऋत्विजों की संख्या प्रायः १२०० रहने की सम्भावना की जाती है। सब मिलकर लगभग २५०००००० आहुति होंगी, जो घृतशर्करामिश्रित तिलों की होंगी। इस अमृतपूर्व महायज्ञ की साङ्ग पूर्णता के लिए काशी के बड़े बड़े विद्वान् बड़ी तत्परता से दत्तचित्त हैं। इस अवसर पर भारत के विभिन्न प्रान्तों से बड़े बड़े सन्त-महात्मा, साधु-संन्यासी, विद्वान्, उपदेशक, व्याख्याताओं आदि के पधारने की आशा है। जो सज्जन आर्थिक या हवनसामग्री आदि द्रव्यरूप सहायता देना चाहें, वे 'धर्मसङ्घ कार्यालय, गङ्गातरङ्ग, नगवा,' को भेज सकते हैं। जो कुछ भी दिया जाय, उस की कोषाध्यक्ष श्री सेठ बाबू लालजी ढाँढणिया के हस्ताक्षरसहित छपी रसीद अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। इस कार्य के लिए बिना रसीद दिये रुपये भौगनेवाले किसी व्यक्ति को द्रव्यादि नहीं देना चाहिए। कलकत्ते के लोग श्री सेठ छोटेलाल जी कानोडिया, ५७ बड़तल्ला स्ट्रीट के यहाँ जमा कर सकते हैं। अन्य स्थानों को प्रतिष्ठित व्यक्ति या धर्मसङ्घ के पदाधिकारी, जो प्ररिचित हों, वे 'प्रधान कार्यालय' से रसीद-वही मँगाकर द्रव्य-सङ्ग्रह कर सकते हैं। अभी से लोग स्वतः सहायता प्रदान करने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। काशी के सुप्रसिद्ध व्यापारी श्री पुरुषोत्तमदास जी ने यज्ञ में भाग लेनेवाले १५०० ब्राह्मणों को प्रतिदिन माध्याह्निक जलपान कराने का भार लिया है। श्री सेठ सूरजमल नागरमल के यहाँ से हवन के लिए जितनी भी तिल की आवश्यकता हो, देने का वचन मिला है। एक देवी ने ब्राह्मणों को गौमुखी और आसन देने का उत्साह दिखलाया है। इसीतरह अन्य सज्जन भी यथा-शक्ति सहायता प्रदान कर सकते हैं। प्रचारकार्य में तो सभी का सहयोग अपेक्षित है। सभी पाठकों से अनुरोध है कि वे इस महायज्ञ की सूचना अपने इष्ट-मित्रों को अवश्य दे देंगे।

प्रकाशक—श्री गदाधर प्रकाशरी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

मुद्रक—कृष्ण बलराम पाठरी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

भारत का भावी शासन-विधान

४

‘दूरकाल-योजना’ में प्रतिनिधि-सभाओं की भी व्यवस्था की गयी है। ‘जिलासभाओं की नीति के आधार पर प्रान्तीय सभाओं की स्वेच्छा-निर्वाचन-पद्धति द्वारा स्थापना, मत के लिए अपने अनुकूल समुदाय में मिलने, प्रतिनिधि पसन्द करने, मत देने के समय और मत देने की पद्धति, इन विषयों में ऐच्छिक नीति का उपयोग किया गया है। मतदाताओं के समुदाय में से हर एक सौ बालिंग अवस्था के मनुष्य एक प्रतिनिधि का निर्वाचन करें। वैसे १० प्रतिनिधि ३-४ मास के उपरान्त एक विशिष्ट प्रतिनिधि चुनें, वैसे १०-१० विशिष्ट प्रतिनिधि एक महाप्रतिनिधि चुनें, जो राजकीय प्रतिनिधि-सभा का सदस्य हो। प्रतिनिधि को सभा में लिखित निवेदन उपस्थित करने का और विशिष्ट प्रतिनिधि को आवश्यकता पड़ने पर सत्र में एक बार बोलने का अधिकार मिले।” संक्षेप में यह प्रतिनिधि-सभाओं की योजना है। इस में भी कई बातें अस्पष्ट हैं। ‘मतदाता-मण्डल’ या ‘निर्वाचन-क्षेत्र’ भूमि या देश के आधार पर बनेंगे अथवा विभिन्न सामाजिक समुदायों के आधार पर। आजकल प्रायः देश के आधार पर ही निर्वाचन-क्षेत्र बनते हैं। परन्तु उन में विभिन्न समाज की श्रेणियों का प्रतिनिधित्व नहीं होता, यह एक बड़ा भारी दोष है। परन्तु जब श्रेणी या समुदायों के आधार की बात आती है, तब यह प्रश्न उठता है कि धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक किस दृष्टि से समाज का विभिन्न श्रेणियों में विभाग किया जाय? स्त्रियों को निर्वाचन का अधिकार रहेगा या नहीं, यह भी एक प्रश्न है। इस निर्वाचन-पद्धति की विशेषता यह बतलायी जाती है कि “इस में स्वयम्भूत नेताओं के घुसने की कम सम्भावना है और तीन-चार चलनियों में छन जाने के कारण मत अधिक विचारयुक्त होगा।” प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार की निर्वाचन-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। उन के गुण-दोषों पर विचार कर लेना बड़ा आवश्यक है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन में आरम्भिक मतदाता का सर्वोच्च सभा के सदस्य के साथ नाममात्र का सम्बन्ध रह जाता है। रह गयी चलनियों में मत छनने की बात, उस में किसी विषय पर मत देने का प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ तो केवल किसी को अपना प्रतिनिधि चुनने भर को मत दिया जाता है। एक बार निर्वाचित हो जाने के पश्चात् प्रत्येक विषय पर प्रतिनिधि अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट कर सकता है या वह मतदाताओं के विचार से वैधा हुआ है, यह भी निर्वाचन-पद्धति की एक ‘जटिल पहली’ है। यदि वह स्वतन्त्र है, तब तो उसे अपने मतदाताओं का निर्वाचन के समय पर केवल ‘वोट’ पाने की चिन्ता रह जाती है। यदि वह स्वतन्त्र नहीं है, तो मतदाता किस तरह अपने विचारों से उसे प्रभावित करते रहें? पहले इस पहली को मुलभूतना आवश्यक है। फिर इन सभाओं का कार्य केवल सलाह देना होगा या कानून बनाना भी। सम्राट्, वाइसराय या प्रतिनिधिसभा, इन में से मन्त्री किस के प्रति जिम्मेदार होंगे?

शासन को धर्मावधारित बनाने के लिए इस योजना में यह व्यवस्था रखी गयी है कि प्रधान धर्मों के विद्वानों की अलग अलग परिषदें रहेंगी, जो अपने अपने धर्मसम्बन्धी विषयों में सम्राट् या उस के प्रतिनिधि को सलाह देते रहें। परन्तु यह परामर्श उसे मान्य होगा या नहीं, यह भी तो प्रश्न है। मान्य न होने की दशा में इन परिषदों का महत्व ही क्या रह जायगा? न्याय-व्यवस्था सुगम तथा सुलभ बनाने की भी बात इस योजना में कही गयी है? पर शासन और न्याय का क्या सम्बन्ध रहेगा और अदालतों का रूप तथा मुकदमे की सुनवाई का प्रकार यही रहेगा या दूसरा, यह भी बतलाना चाहिए।

जैसी संक्षिप्त योजना है, उस के अनुसार ही संक्षिप्त आलोचना भी की गयी है। कहा जा सकता है कि मुख्य सिद्धान्तों को छोड़कर ज्योरे या

तफसील के चक्कर में हम फंस गये हैं। यह हम मानते हैं, पर साथ ही हम यह भी जानते हैं कि तफसील या ज्योरे की चट्टान पर ही बड़ी बड़ी योजनाएँ टकराकर चूर चूर हुआ करती हैं। संसार की कितनी ही बातों पर लोगों का ऐकमत्य है, पर ज्योरे को लेकर झगड़े उठा करते हैं। संसार के अधिकांश लोगों को ईश्वर पर विश्वास है, पर उस की प्राप्ति या उस के प्रसन्न करने के साधन पर मतभेद होने के कारण विभिन्न सम्प्रदाय तथा धर्म चल पड़े हैं, जो आपस में ही लड़ा-मिड़ा करते हैं। जिस योजना की विशेषता उस की व्यावहारिकता बतलायी जाती है, उस के लिए तफसील में जाना तो नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसी से उस की व्यावहारिकता-अव्यावहारिकता का पता लगेगा। यह तो दूरकाल जो भी जानते हैं और हम भी जानते हैं कि वर्तमान परिस्थिति में ब्रिटिश सरकार द्वारा इस या अन्य कोई ऐसी ही योजना के स्वीकृत किये जाने की लेशमात्र भी आशा नहीं है। फिर व्यावहारिकता के पीछे हम अपने आदर्शों को क्यों झुकायें? कहा जा सकता है कि आदर्श तो सब उच्च ही रखे गये हैं। परन्तु उन की प्राप्ति के जो साधन बतलाये गये हैं, उन में वे केवल ताक पर घरे रहने की एक नुमायशी वस्तु बन जाते हैं। ऐसी दशा में हमारी जो योजना होनी चाहिए, वह आदर्श ही होनी चाहिए और उस में हमारे धर्म, हमारे देश की सुरक्षा और विश्वकल्याण की व्यवस्था सन्निहित होनी चाहिए। उस को व्यावहारिक बनाने के लिए हमें बहुत काल तक प्रयत्न करना पड़ेगा। यदि सर्वथा नवीन वर्गवादी व्यवस्था रूस में व्यावहारिक बन सकती है, तो हमारी प्राचीन व्यवस्था, जिस के संस्कार हमलोगों में अबतक बने हुए हैं, काल पाकर सुफल न हो, ऐसी सम्भावना नहीं है। इस समय उस को व्यावहारिक बनाने का हमारे पास एक उपाय यह है कि हम वर्तमान शासन-यन्त्र को किसी न किसी तरह थोड़ा-बहुत अपने हाथ में लयें। पहले एक ऐसी योजना बनाकर, जिस पर हम में से अधिकांश एकमत हो सकें, उस का प्रेस तथा प्लेटफार्म द्वारा प्रचार करना चाहिए। आगामी निर्वाचन में पूरा भाग लेकर ‘सरकार’ तथा सुधारवादियों द्वारा निर्मित शासन के सुदृढ़ दुर्गों में हमें घुसना चाहिए। उस में थोड़ा भी सफलता प्राप्त करने से हमारी बात सुनी जाने लगेगी। कहा जा सकता है कि एक बार इस दुर्ग में घुसने से अधिकार को चसका लग जाता है, जैसा कि कांग्रेस को हुआ। परन्तु यहाँ पर हमें प्रतिनिधि चुनने में अपनी निर्वाचन-पद्धति को सफलता सिद्ध करनी चाहिए। यदि हमारे प्रतिनिधि वर्तमान वातावरण में अपने को अधिकार के प्रलोभनों से असंस्पृष्ट न रख सकें, तो आगे चलकर ऐसा कर सकेंगे, इस की ही क्या गारण्टी? पहले अपनी पद्धति के अनुसार सुयोग्य, अपने सिद्धान्तों में सुदृढ़ प्रतिनिधि चुन लेना चाहिए और फिर उन को ‘सरकारी निर्वाचन’ में खड़ा करके उन के चुने जाने के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए। देश में हमारी अधिकता है, गांवों की जनता हमारी बात को सरलता से समझ सकती है। ऐसी दशा में निर्वाचन में हमारी अपसफलता का कारण हमारी शिथिलता तथा उदासीनता ही हो सकती है। धूर्तता की कमी को भी कुछ लोग इस का कारण बतला सकते हैं, जो अधिकांश में ठीक भी है। परन्तु हमारी प्राचीन राजनीति में साथ ही कुछ रखते हुए धूर्तों को छानने के लिए भी कितने ही प्रकार बतलाये गये हैं। आवश्यकता होने पर विवश होकर हमें भी उन का अनुसरण करना पड़ेगा। अपनी आदर्श योजना को व्यावहारिक बनाने का दूसरा उपाय यह है कि हम कुछ धर्मेनिष्ठ देशी नरेशों को इस बात के लिए उद्यत करें कि वे हमारी व्यवस्था को अपने राज्यों में सफल बनाने का प्रयत्न करें। हम मानते हैं कि इस में भी कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि वे स्वतन्त्र नहीं हैं। परन्तु अपने सीमित अधिकार के भीतर रहकर भी अपने राज्यों के शासन में वे बहुत कुछ कर सकते हैं। यदि वे इतना भी नहीं कर सकते हैं, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि ‘दूरकाल-योजना’ में प्रान्तों के गवर्नर होने पर वे शासन का सारा भाव ही बदल देंगे? एक और भी प्रकार

हैं, हमें अपनी प्रधान संस्थाओं का सङ्गठन प्राचीन ढङ्ग पर करना चाहिए और उन को सफल बनाकर, यह दिखलाना चाहिए कि हमारे सिद्धान्त अव्यवहार्य नहीं हैं। हमारी आजकल की जितनी भी संस्थाएँ हैं, जिन को सनातनी होने का दावा है, उन में ही पाश्चात्य संस्थाओं के सङ्गठन की ही पूरी नकल होती है। निर्वाचनों के ऋगड़े चलते हैं, पदों के लिए लड़ाइयाँ होती हैं और वर्तमान लोकतन्त्र के सारे दोषों का अनुसरण होता है। इस से यही सिद्ध होता है कि जो हम कहते हैं, उस में हमें स्वयं विश्वास नहीं है। यदि होता, तो जहाँ हम कर सकते हैं, उस को करके न दिखला देते? विश्वास वह वस्तु है, जो असम्भव को भी सम्भव करके दिखला देता है। उस के अभाव में हमारी कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। यहाँ पर हमें सब से पहले शिक्षा को अपनाने की आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योंकि इसी के द्वारा अपने सिद्धान्तों में विश्वास सुदृढ़ किया जा सकता है, जिस के बल पर योजनाओं को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है। यह वर्तमान शिक्षा ही है, जिस ने हमारे विश्वासों को खोखला बना दिया है और पाश्चात्य सिद्धान्तों के प्रति ऐसी प्रगाढ़ भ्रष्टा उत्पन्न कर दी है कि उन का व्यामोह हमारे हृदय से जाता ही नहीं। हम जानते हैं कि इन सब प्रकारों में बहुत समय लगेगा। परन्तु जब हम व्यावहारिकता पर विचार करते हैं, तब हमें और मार्ग भी सुझाई नहीं देता। इस सम्बन्ध में एक बात और कही जा सकती है कि यदि यही सब करना है, तो असी 'विधान-योजना' के चक्कर में पड़ने की क्या आवश्यकता है? परन्तु इस को मानने के लिए हम तैयार नहीं हैं। लक्ष्य सामने रहने से आगे मार्ग साफ होता है और उत्साह बढ़ता है। "किसी योजना का खण्डन कर देना सहज है, पर उस की रचना बड़ी कठिन है" अपने विचारों को प्रकट करते समय हम इस बात को भूले नहीं और 'सनातनी योजना' के विद्वान् रचयिता श्री दूरकालजी को इस का विश्वास दिलाते हैं कि सद्भाव से प्रेरित होकर सर्वाङ्गपूर्ण रचना की दृष्टि से ही हम ने इस योजना की खण्डनात्मक आलोचना की है।

"स्वतन्त्रता क्या है?"

ब्रिटेन के प्रधान सचिव चर्चिल इटली का युद्धक्षेत्र देखने गये थे। वहाँ से लौटते हुए आप ने इटलीनिवासियों को एक सन्देश दिया। उस में आप ने कहा कि "ब्रिटिश राष्ट्र को वह दिन देखकर बड़ी प्रसन्नता होगी, जब इटली फिर स्वतन्त्र, उन्नतिशील होकर शान्तिप्रिय राष्ट्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी। इस सम्बन्ध में हम यह नहीं भूल सकते कि कठिन समय में मुसोलिनी की प्रेरणा से उस ने फ्रांस तथा ब्रिटेन के साथ विश्वासघात किया। 'निरन्तर सावधानी' स्वतन्त्रता का मूल्य है। प्रश्न होता है कि 'स्वतन्त्रता क्या है?' आधुनिक संसार में, शान्ति के समय दो चार साधारण बातें हैं, जिन से स्वतन्त्रता की पहचान की जा सकती है। वे इस प्रकार हैं—क्या देश की वर्तमान सरकार की आलोचना करने, उस के विरुद्ध अपना मत प्रकट करने का अधिकार प्राप्त है? क्या लोगों को ऐसी सरकार को, जिस से वे असन्तुष्ट हैं, निकाल बाहर करने का अधिकार प्राप्त है और ऐसे साधन उपलब्ध हैं, जिन के द्वारा वे अपनी इच्छा को व्यक्त कर सकें? क्या वहाँ के न्यायालय शासकों के प्रभाव तथा जनता के उपद्रव के भय से मुक्त तथा राजनीतिक दलबन्दी से अलग है? क्या ये न्यायालय खुली अदालतों में ऐसे कानूनों द्वारा न्याय करते हैं, जिन का मनुष्य की समझ में न्याय तथा शिष्टता से सम्बन्ध है? क्या अमीर और गरीब, साधारण व्यक्ति और सरकारी अफसर के साथ समानरूप से न्याय होता है? क्या व्यक्ति के अधिकारों की, राज के प्रति कर्तव्यों का ध्यान रखते हुए रक्षा होती है और उन को श्रेष्ठता प्रदान की जाती है? क्या ये साधारण किसान या मजदूर दिनभर काम करके अपनी मेहनत-मजदूरी घर में लाता और कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है और इस में उसे यह भय नहीं रहता कि शासनाल्लु राजनीतिक दल की निष्ठुर खुफिया पुलिस उस को बिना किसी प्रकार के मुकदमा सुने हुए जेल में ठूस दे और तरह तरह की यातनाएँ दे? इन साधारण व्यावहारिक परीक्षाओं के

अधिकारपत्र के आधार पर नव इटली न्यस्त होगी।" हम प्रधान सचिव से पूछना चाहते हैं कि स्वतन्त्रता की इन साधारण बातों में भारत को उन्हीं ने कितनी प्रदान की है?

पाकिस्तान और कांग्रेस (श्रीस्वामी करपात्रीजी)

१

आजकल लोग कहने लगे हैं कि 'पाकिस्तान-योजना' स्वीकार करने के अतिरिक्त देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का कोई मार्ग नहीं है। श्री गांधी जी की स्वीकृति के पहले कतिपय व्यक्तियों को छोड़कर सभी देशविभाजन की योजनाओं को खतरनाक बतलाते रहे हैं, यहाँ तक कि राजाजी भी पाकिस्तान देना "मुसलमानों को बांटने के लिए गाय देने के समान समझते थे।" परन्तु मिनिस्ट्री का स्वाद मिलते ही हुकूमत का लालच प्रेरान करने लगा। शीघ्रातिशीघ्र हुकूमत मिलने का दूसरा रास्ता न देखकर पाकिस्तान देकर स्वराज्य लेने पर उतार हो गये हैं। ठीक ही है, स्वार्थ ऐसी ही चीज है। एक साधारण गृहस्थ एक ग्राम पाने पर भी पाकिस्तान मञ्जूर कर सकता है। व्यष्टि-हित के सामने समष्टि-हित की उपेक्षा होनी स्वाभाविक है। समष्टि-हित के सामने व्यष्टि-हित की कुछ भी परवाह न करना यह बड़ी बड़ी साधनाओं का फल है। जब साधारण शतपति गृहपति को पाकिस्तान न बनने पर ग्रामपति या लक्षपति होने की आशा हो, तब वह तैयार हो जायगा। युक्तप्रान्त, 'बिहार के नेताओं को युक्तप्रान्त या बिहार में पूरी हुकूमत मिल जाय, तो वे वक्ता, पञ्जाब मुसलमानों को समर्पण करने में जरा भी आनाकानी न करेंगे, यह बात स्पष्ट हो गयी है। परन्तु जहाँ समष्टि-हित की भावना है, जहाँ धर्म, कर्म, सभ्यता, संस्कृति का प्रश्न है, सज्जन पुरुष रोटी के टुकड़े पर कुछ हुकूमत के लोभ में अनर्थ न करेगा। जो लोग ईश्वर, धर्म आदि की परवाह न करके 'वन्दे मातरम्' का गीत गाते थे, लोगों को राष्ट्रभक्ति का उपदेश करते थे, क्या देश के टुकड़े टुकड़े होने में सहायक होकर वे यशस्वी होंगे? जिस भूमि को 'माता' कहते थे, क्या उस का टुकड़ा करके अब उस के एकांश की ही भक्ति करेंगे? जो लोग कहते हैं दूसरा रास्ता है ही नहीं, इसलिए ऐसा स्वीकार करना बुद्धिमानी है, परन्तु कुछ न कुछ उत्तर मुसलमानों को कन्या देनेवाले नरेश भी देने ही थे। उन के सामने भी दूसरा मार्ग न रहा होगा। परन्तु महाराणा प्रताप ने धैर्य रखा, कठिनाई सही, फिर दूसरा भी रास्ता निकल ही आया।

बुद्धिवादी या बुद्धिशत्रु?

(होम-हवन-यज्ञ पाप है या पुण्य?)

(श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी)

५

यज्ञों की कर्तुत

शास्त्रवादी गोयनकाजी ने अपने पत्र में 'गीता' के अध्याय ३, श्लोक १४ "अन्नाद् भवन्ति" इन दो शब्दों से हवाला देते हुए लिखा था कि तिलक ने भी अपने 'गीताहस्य' में 'यज्ञ' का अर्थ 'अग्नि में हवन करना' ही किया है। उस पर डाक्टर साहब फरमाते हैं—"अच्छा माता, पर उस श्लोक को पूरा पढ़िये।" फिर आप उस श्लोक को इसतरह पढ़ते हैं—"यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्याद् अन्नसम्भवः, अन्नाद् भवन्ति भूतानि यज्ञः कर्मसमुद्भवः।" गीता के कई संस्करण देख लाले, पर जो पाठ पढ़ाया, वह कहीं भी नहीं मिला। सब में यह पाठ देखने में आया—"अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्याद्भवन्ति यज्ञः कर्मसमुद्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥" आप कहेंगे "वस इसी को तो 'लकीर का फकीर' होना कहते हैं, किसी श्लोक का कोई चरण इधर-उधर करने से क्या बिगड़ता है, मान तो एक ही रहता है।" शास्त्र-वचनों में इसतरह उलट-पलट करना ठीक नहीं है। शरीर के विभिन्न अङ्गों को तोड़-मरोड़कर एक साथ ढेर कर देने से शरीर नहीं बनता, शिर के स्थान पर पैर और पैर के स्थान पर शिर रख देने से क्या स्वाभाविक कार्य चल सकता है? पर आप की तो यह आदत पड़ी हुई है। अपने 'मानवधर्मसार' में आप ने एक भी 'शास्त्रवचन' सही-सलामत नहीं छोड़ा है, किसी को 'लकड़ा' तो किसी को 'लुला' करके

उन के स्थान पर स्वनिर्मित 'दृष्टियाँ' घुसेड़ी है। ठीक ही है, यदि आप ऐसे न करें, तो फिर आप के 'डाक्टराई', 'ऋषित्व' में ही फँक न आ जाय। अब आप के इस 'ऋषित्व' का दूसरा नमूना भी लीजिये। उक्त श्लोक में 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' की व्याख्या करते हुए आप लिखते हैं "कर्म से, हाथ-पैर चलाते से, यज्ञ होता है।" यह यज्ञ तो बड़ा सरल रहा, उठते-बैठते, बीकने-खखारते, टट्टी-पेशाब करते यज्ञ ही होते रहते हैं। कुत्ते, बिल्ली भी ऐसे यज्ञ किया ही करते हैं। "ऋत्विग्यजमानयोश्च व्यापारः कर्म, ततः समुद्भवो यज्ञः यज्ञस्यापूर्वस्य स यज्ञः कर्मसमुद्भवः" अर्थात् 'ऋत्विक्' और यजमान द्वारा अनुष्ठित कर्म विहित से उत्पन्न होनेवाला अपूर्व यज्ञ है' ऐसा अर्थ आचार्य शङ्कर ने किया है। आचार्य रामानुज ने भी लिखा है— "यज्ञश्च द्रव्यार्जनादिकर्तृव्यापाररूपककर्मसमुद्भवः।" प्रायः सभी आचार्यों तथा विद्वानों ने ऐसा ही अर्थ किया है, पर आधुनिक 'आचार्य' डाक्टर साहब ने 'वेमत्तलव हाथ-पैर हिलाने' के कर्म से भी यज्ञ बना दिया। यह क्या साधारण बात है? पर आजकल 'गीता' के 'कर्म' शब्द की यह छीछालेदार बहुत हो रही है और हर बात में 'कर्मयोग' की दुहाई दी जा रही है।

यह सब तो आप की वक्र गति के कारण लिखना पड़ा, अब आगे आप लिखते हैं कि दिल्ली के ही "यज्ञ से वादल हुआ, पर अन्न तो नहीं हुआ। मार्च मास, १९४४ ई० के अन्त में, बहुत जोर से पानी के साथ ओला, पत्थर भी बरसा, जिसकी चर्चा कृष्ण ने 'गीता' में नहीं की है, और ऐसे कुसमय कि जो खेत में अन्न खड़ा था, वह भी नष्ट हो गया। यह हुई 'यज्ञ की कर्तृत्व'। यज्ञ-सञ्चालकों ने 'विश्वशान्ति' का डिण्डिम किया, हुई करकान्ति और अन्ननाशजनित अधिक अशान्ति।" पहले तो 'यज्ञ की कर्तृत्व' में 'बम्बई-विस्फोट' दिखलाया गया, अब यह दूसरा हुआ ओला, पत्थर द्वारा अन्ननाश। ऐसा क्यों हुआ, इस का भी आप उत्तर देते हैं— "शान्ति के तात्त्विक आशय और प्रयोग में शान्ति का यह दुष्फल है।" इसके लिए अपने समर्थन में आप 'निरुक्त' का यह वाक्य उद्धृत करते हैं— "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथा इन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥" अर्थात् स्वर, वर्ण से हीन, मिथ्याप्रयुक्त, बिना अर्थ जाने जिस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है, वह वाणीरूप वज्र है, वह यजमान का नाश कर डालता है। जैसे स्वरजनित अपराध के कारण 'इन्द्रशत्रु' शब्द में षष्ठीबहु-ब्रीहि के बदले षष्ठीतत्पुरुष समास हो गया। दिल्ली, कानपुर आदि में जो सैकड़ों 'ऋत्विक्' सज्जन एकत्र हुए, काशी के ही पण्डितों से आप को पता लगा है कि "वह कुछ सन्तोषकारक नहीं था।" हम आप ही की बात मान लेते हैं, सम्भव है, ऋत्विजों की अयोग्यता का ही यह दुष्फल हो। पर यदि अयोग्यों द्वारा विधिवत् न किये हुए यज्ञ का 'दुष्फल' मान्य है, तो फिर योग्य विद्वानों द्वारा विधिवत् कि हुए यज्ञ का 'सुफल' भी मानना पड़ेगा। यज्ञों का फल अवश्य होता है, यह तो आप ही के तर्क से सिद्ध हो गया। खैर, दिल्ली, कानपुर में जो कुछ हुआ सो हुआ, अब तो अगले मास में आप की काशी ही में १२१ महाद्वयाग होने जा रहा है, सुफल-प्राप्ति के लिए सुयोग्य विद्वानों द्वारा क्या उसे विधिवत् कराने में आप अपना सहयोग प्रदान करेंगे? परन्तु आप की दृष्टि में विधिवत् यज्ञ तो तभी होगा, जब कोई 'कर्मणा' ब्राह्मण 'आचार्यत्व' ग्रहण करें, क्योंकि "शस्त्र के तात्त्विक आशय" को समझने की योग्यता तो 'आधुनिक विश्वविद्यालयों' के गढ़े हुए 'आचार्यों' ही में आ सकती है, 'कोरा व्याकरण रटनेवाले', 'लकीर के फकीर' या 'स्टेशन के पानीपाण्डे' वेचारे 'जन्मना' ब्राह्मण में कहाँ? फिर 'निरुक्त' का आप ने जो वचन उद्धृत किया है, उस में यज्ञ का क्या अर्थ किया गया है, इस के 'तात्त्विक आशय' को बतलाने की तो आप ने कृपा की ही नहीं।

बारीक तर्क

'शास्त्रवादी' गोयनकाजी ने 'बुद्धिवादी' बिड़लाजी को अपने पत्र में लिखा था कि "गीता के चतुर्थ अध्याय में अनेक प्रकार के यज्ञ वर्णन किये हैं— "द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः।" परन्तु मुख्य यज्ञ वही है, जिस में प्रत्यक्ष अग्नि में वेदमन्त्रों से आहुति दी जाय। सब से श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ कहा है, किन्तु उस यज्ञ को उपमान बताया है, जिस को आप 'पाप' कहते हैं। जब किसी बालक को सिंह को उपमा दी जाती है, तब बालक उपमेय है, सिंह उपमान है, उपमान में उपमेय से अधिकता निश्चयेन स्वीकार करनी पड़ती

है।" यह सीधी सी 'स्थूल' बात आप के दिमाग को 'सूक्ष्म' देख पड़ी। इस का कोई उत्तर न देकर आप ने व्यर्थ ही यह आक्षेप कर डाला कि "जिन सज्जन ने यह तर्क किया है, वे निस्सन्देह विद्वान् हैं, संस्कृत-ग्रन्थों पर परिश्रम किये हैं, पर उन के विचार को पढ़कर यह अनुमान होता है कि उन्होंने ने संस्कृतग्रन्थों के साथ साथ यूरोपीय इतिहास के चुने चुने, थोड़े से भी, प्रसिद्ध ग्रन्थों की ओर दृष्टि नहीं डाली।" पाश्चात्य विद्वान् संस्कृत या प्राच्य साहित्य का एक ग्रन्थ भी पढ़े बिना आप की राय में 'बहुज्ञ' महर्षि हो सकते हैं, पर संस्कृत का कोई कितना ही विद्वान् क्यों न हो, जबतक वह यूरोपीय इतिहास के चुने चुने ग्रन्थ न पढ़े, तबतक वह 'अल्पज्ञ' ही बना रहेगा। "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्: बिभेति अक्षयश्रुताद् वेदो मामर्थं प्रहिरिष्यति।" इस वाक्य को उद्धृत करते हुए आप चेतावनी देते हैं "वेद के तात्त्विक अर्थ को, 'इतिहास' और 'पुराण' के ज्ञान से उपबृंहित करके, समझने का यत्न करे, तभी ठीक समझेगा। जो अल्पश्रुत है, बहुश्रुत नहीं है, इतिहास का, पुराण का, विविध शास्त्रों का ज्ञान नहीं रखते, उन से वेद डरता है कि ये मेरे अर्थ का अनर्थ कर डालेंगे।" इस तरह वेद के अर्थ का उपबृंहण होगा यूरुप के इतिहास से, अर्थात् यहाँ के इतिहास से नहीं। ठीक है वेबर, मैक्समूलर आदि ने ही वेद का 'तात्त्विक अर्थ' समझा, सायण, महीधर, उव्वट आदि ने तो 'अर्थ' का अनर्थ करके वेदों का वध ही किया। यह है आजकल के 'आचार्य' कहे जानेवालों की 'दासमनोवृत्ति' और उन की 'सूक्ष्म बुद्धि' का नमूना। पाश्चात्य ज्ञान भी आवश्यक है, यह तो माना जा सकता है, पर उस के बिना उच्छकोटि के प्राच्य विद्वान् भी 'अल्पज्ञ' ही हैं, इस का अर्थ तो यही होता है कि आधुनिक विश्वविद्यालयों द्वारा डिग्रीप्राप्त ही आजकल के 'बहुज्ञ' पण्डित हैं। पर वास्तव में न उन्हें अपने ही देश का ज्ञान होता है और न विदेशों का।

'शास्त्रवादी' की सरल सी बात आप को 'सूक्ष्म' दलों से बात की खाल' निकालना प्रतीत होने लगता है और आप बहँसकर बड़े आवेश के साथ लिखते हैं कि "भारत के इतिहास में भी बौद्ध, जैन, कुमारिल, शङ्कर आदि की दिग्विजय-यात्राओं के सम्बन्ध में किंवदन्ती चली आती है कि जो पक्ष दुर्बल पड़ता था, उसे खोलते तेल की कढ़ाई में डाल देते थे। यूरोप के प्रचलित इतिहास से जान पड़ता है कि मतभेद और विवादजनित विद्वेष से, साम्प्रदायिकों ने अपने अपने सहायक राजाओं के द्वारा विरोधियों की दृष्टियाँ एक एक करके जीते जी तुड़वायीं, हजारों को जिन्दा जला डाला और तरह तरह की यातनाओं से मरवा डाला, तो भारत में ऐसा होना अजब नहीं और हुआ भी। किन्तु इन सूखी कठहुज्जतों से, जनसाधारण का, प्रज का, न यूरोप में कोई उपकार हुआ, न भारत में। प्रत्युत बहुत अपकार हुआ, अन्ध श्रद्धा, मूढ़ग्राह, धर्माभास ही बढ़ते, फैलते गये। हजारों, लाखों के प्राण गये, धन-जन का बहुत नाश हुआ।" मला इन सब बातों का यहाँ क्या प्रसङ्ग? हाँ, इतना अवश्य पता लग जाता है कि आप को भारत तथा यूरोप के इतिहास का कितना ज्ञान है। रही 'कठहुज्जत' की बात, सो तो आदि से अन्त तक लेकर आप का सारा लेख ही 'कठहुज्जत' के अतिरिक्त और है ही क्या? 'बाल की खाल खींचना', 'उल्टा-सीधा अर्थ लगाना' इसके 'आचार्य' तो आप ही हैं। तभी तो 'शास्त्रवचनों' को तोड़-मरोड़कर आप अपना पक्ष सिद्ध करते हैं और 'उल्टे चोर कोतवाले डाँटे' की कहावत चरितार्थ करते हैं। आगे चलकर आप फरमाते हैं कि 'यदि कह सब मनोबल और देहबल प्रजा के उत्कर्ष के कामों में लगाया जाता, तो उस के प्रत्येक जीवन के अङ्ग में कितनी शोभा और समृद्धि आगयी होती?' यह भारत या यूरोप का नहीं, सारे संसार का दुर्भाग्य था कि उन दिनों आप सरीखा कोई 'प्रगतिशील' 'बहुज्ञ' दार्शनिक जनता का पथप्रदर्शन करने के लिए अवतीर्ण ही नहीं हुआ। शङ्कर, कुमारिल आदि ने भारत के ज्ञान-भाण्डार को कितना भरा, मध्यकालीन यूरोप की पाश्चात्य संस्कृति को क्या देन है, इस को तो इतिहास के मर्मज्ञ ही बतला सकते हैं।

इन वेतुकी बातों के बाद 'अस्तु' लिखकर आप शास्त्रवादी के 'सूक्ष्म' तर्कों का अर्थ लगाते हैं कि "कृष्ण ने 'ज्ञानयज्ञ' को सब से श्रेष्ठ बताया, सो गलत बताया, असत्य, अनर्कत कहा, ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ नहीं, तत्त्वतः अन्य-यज्ञ ही, अग्नि में दहन ही, श्रेष्ठ यज्ञ है। ब्रह्मा, परमात्मा गौण है; अग्नि मुख्य और श्रेष्ठ है। यदि आप का 'शास्त्र' यही कहता है, तो आप के लिए मुख्य और श्रेष्ठ है। यदि आप का 'शास्त्र' यही कहता है, तो आप के लिए ऐसा ही होगा।" इस से बढ़कर और क्या 'कठहुज्जत' हो सकती है?

शास्त्रवादी के तर्क का ऐसा अर्थ केवल 'स्थूलबुद्धि' लगा सकती है। 'आत्म-ज्ञान' की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए आप ने गीता, याज्ञवल्क्य, मनु, भागवत के वचनों की झड़ी लगा दी। पर यह सारी मेहनत तो आप तब करते, जब शास्त्रवादी 'आत्मज्ञान' की श्रेष्ठता न स्वीकार करता। पूर्व उद्धृत 'शास्त्र-वादी' के वाक्य का केवल इतना ही अर्थ है कि 'गीता' में जहाँ जपयज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का वर्णन आया है, वहाँ ये सब उपमान और हव्यहवनात्मक यज्ञ उपमेय हैं; यह स्पष्ट ही है। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्माणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥" अर्थात् ब्रह्म ही अर्पण, ब्रह्म ही हवि, ब्रह्म ही अग्नि, ब्रह्म ही होम करनेवाला और ब्रह्म ही होम और ब्रह्म ही प्राप्य फल है। यहाँ ब्रह्म ही हवि, होता, हवन सब कुछ है क्या यह 'बुद्धिसंज्ञित' हो सकता है? कहना पड़ेगा कि यहाँ ब्रह्म में अग्नि आदि का आरोप है। मुख्य का गौण में आरोप होता ही है। इसतरह जहाँ मुख्य अग्नि, मुख्य होता, मुख्य होम आदि होते हैं, वही मुख्य यज्ञ है। जिस समय ज्ञान को अग्नि कहेंगे या ब्रह्म को हवि कहेंगे, उस समय साधारण बुद्धिवाला भी यह मानेगा कि ज्ञानरूपी अग्नि से, ब्रह्मरूप हवि से मुख्य अग्नि, मुख्य हवि पृथक् वस्तु होती है। शास्त्रवादी तो स्वयं ही पहले से मानता है कि पाशविक कर्म से वैदिक सकाम कर्म श्रेष्ठ है, सकाम से निष्काम एवं विश्वकल्याणार्थ कर्म श्रेष्ठ है, उस से भी उपासनादि कर्म श्रेष्ठ है और उस से भी श्रेष्ठ ज्ञान है—“यावानर्थं उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।” अर्थात् मधुर महासमुद्र के पा लेने पर जिस तरह वापी, कूप, तड़ागादि की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती, वैसे ही अचिन्त्यानन्त परमानन्द सुधासमुद्र ब्रह्म के पा लेने पर विविध कर्मों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु जो मधुर महासमुद्र को पाये बिना ही वापी, कूप, तड़ाग छोड़ बैठता है उस की क्या गति होगी? इसी तरह जिसे ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ, यदि वह भी कर्मों को छोड़ बैठता है, तो उस की क्या गति होगी? आगे चलकर आप यज्ञ करनेवालों पर उन वचनों को लागू करना चाहते हैं, जो अनीश्वरवादी, सकाम कर्मजड़ों के सम्बन्ध में कहे गये हैं। 'भागवत' के ग्यारहवें स्कन्ध का श्लोक उद्धृत करते हुए आप लिखते हैं कि वेदवादरत, “वेद-वेद-वेद, शास्त्र-शास्त्र-शास्त्र, पुकारनेवाले लोग जो लच्छेदार फूल-पत्ता-बेलबूटादार बातें कहते हैं कि इन यज्ञों के सिवा और कोई साधन ही नहीं है, वे अविपश्चित्त हैं, नासमर्थ हैं, ये बातें मुल्ला देने की बातें हैं, जो अग्नि पर मुग्ध हैं, जिन की आखें धुँएँ से ढँक रही हैं, वे मुक्त को, परमात्मा को नहीं पहचान सकते—“कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः। अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते, न ते मां अङ्ग जानन्ति हृदिस्थं यः इदं यतः। उक्थशास्त्रा ब्रह्मसुप्तो यथा नीहारचक्षुषः ॥” परन्तु यहाँ स्पष्ट है कि व्यष्टिकामना में आसक्त होकर जो ईश्वर को भी नहीं मानते, उन कर्मजड़ों की यह निन्दा है, परमेश्वराधन-बुद्धि से क्रियमाण कर्मों में उन वचनों की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि भगवान् ने ही कहा है कि 'यज्ञ, तप, दान, मनोवियोग को पवित्र करनेवाले हैं—“यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।” जो वेदाक्त कर्म निःसङ्ग होकर ईश्वरार्पण-बुद्धि से करता है, वह शोध नैष्कर्म्य अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होता है—“वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्कोर्षितमोदिवरे। नैष्कर्म्यसिद्धिं लभते रोचनायां फलश्रुतिः ॥” जो ज्ञानाभास के घमण्ड में कर्मकाण्ड का अनुष्ठान नहीं करता, वह अज्ञानी, अजितेन्द्रिय प्राणी विकर्म में फँसकर मृत्यु से पुनः मृत्यु को ही प्राप्त होता रहता है—“नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः। विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥” विभिन्न अधिकारियों की दृष्टि से शास्त्रों में विभिन्न कर्म कहे गये हैं, परन्तु आजकल तो पूजन-हवन, आरति-तर्पण, तप-जप सारे कर्मकाण्ड को व्यर्थ बतलाकर यम-नियमों के झंझटों में न पड़कर जो अपने ग्रन्थों, लेखों और भाषणों में धर्मशास्त्रों, महर्षियों को भरोपेट गाली सुनाते हुए आधुनिक बुद्धिवाद की प्रशंसा के पुल बाँध सके, वही 'ब्रह्मज्ञानी' है। आजकल ऐसे ब्रह्मज्ञानियों और उन के अनुयायियों की भरमार है। इसी ब्रह्मज्ञान की आदिकल ढींग हाँकी जाती है। उन्हें अच्छे से अच्छे पण्डित को डाँट देने में संकोच नहीं होता। आजकल श्री परिस्थिति का गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक वर्णन किया है—“बादहि शूद्र द्विजन ते, हम तुम सन कछु घाटि। जानहि ब्रह्म से विप्रवर, आँखि दिखावहि डाँटि ॥”

शुभ समाचार

'हिन्दू कोड'-विरोधी सम्मेलन—भारतधर्ममहामण्डल, वर्णाश्रम-स्वराज्यसङ्घ, सनातनधर्ममहासभा, धर्मसङ्घ, हिन्दूमहासभा तथा अन्य संस्थाओं के स्थानीय प्रतिनिधियों और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की एक सभा ने यह निश्चित किया कि मार्गशीर्ष के प्रथम सप्ताह में धर्मसङ्घ के महाधिवेशन के अवसर पर 'हिन्दू कोड-विरोधी' एक अखिल भारतीय सम्मेलन किया जाय। उस में सभी हिन्दूसंस्थाओं के प्रतिनिधि और प्रमुख विद्वानों को आमन्त्रित किया जाय। इस के लिए एक प्रभाव-शाली स्वागत-समिति बन गयी है और कार्य प्रारम्भ हो गया है।

कलकत्ते में 'कोड' का जोरदार विरोध—बङ्गालप्रान्तीय धर्मसङ्घ के एक अधिवेशन में प्रस्तावित 'हिन्दू कोड' का घोर विरोध किया गया। सभापति म० म० श्री अनन्त कृष्ण शास्त्री जी थे। म० म० दुर्गा-चरण जी शास्त्री, श्रीजीव न्यायतीर्थ, श्री वसन्तकुमार चटर्जी, राय बहादुर श्री विजयकुमार मजूमदार, प्रोफेसर सत्यनारायण गुप्त, श्री वैज-नाथदास जी बाजोरिया, श्रीईश्वरीप्रसाद जी गोयनका, श्री रिक्षपालजी धुनधुन-वाला, श्रीबालमुकुन्द जी वाजपेयी आदि उपस्थित थे। विरोध का कार्य बराबर चलाने के लिए एक हिन्दू कोड-विरोधी समिति नियुक्त की गयी। यह समिति बड़ी तत्परता से काम कर रही है। इस सम्बन्ध में म० म० श्री दुर्गाचरण जी, श्री आनन्दीप्रसाद जी पोद्दार, श्री वैजनाथदास जी बाजोरिया, श्री छोटेलाल जी कानोडिया आदि का एक शिष्टमण्डल कलकत्ता में भारतसरकार के 'कानून-सदस्य' श्री अशोक राय से मिला।

महिलाओं द्वारा भी विरोध—मार्टिन कम्पनी के सर वॉरेन मुकर्जी के घर पर महिलाओं की भी एक सभा हुई, जिस में प्रस्तावित 'हिन्दू कोड' का घोर विरोध किया गया। इस के अतिरिक्त नाटोर की राज-माता श्रीमती अन्नपूर्णा देवी, नाटोर की महारानी, नदिया की महारानी, श्रीमती रानू मुकर्जी, श्रीमती एन-एन सरकार, श्रीमती सी-सी घोष, श्रीमती यू-एन ब्रह्मचारी आदि ने एक लिखित वक्तव्य प्रकाशित किया, जिस में कहा गया कि 'इण्डियन असोसियेशन' हाल में जिन मुद्दाभर महिलाओं की धर्मविरोध-विलों के समर्थन में सभा हुई है, वे भारतीय स्त्रियों की प्रति-निधि नहीं हैं। दोनों विल हमारे धर्म तथा समाज के आधारभूत सिद्धान्तों के लिए घातक हैं और उन से स्त्री वा पुरुष किसी का भी हित न होगा।

भारतधर्ममहामण्डल की जीत—लगभग १० साल मुकदमा चलने के बाद 'भारतधर्म सिण्डिकेट' का विशाल भवन, लाखों रुपये की धार्मिक पुस्तकें तथा अन्य सामान उस की 'क्रेडीटर्स कमेटी' को इलाहाबाद हाईकोर्ट की आज्ञा से ३ सितम्बर रविवार को वापिस मिल गया। अब उस में पुनः धर्मपुस्तकों का प्रकाशन तथा विक्रय चलेगा।

श्री पूर्णगिरी देवी की प्रतिष्ठा—इस शारदीय नवरात्र में ज्योतिष्पीठ की प्रधान शक्ति जगदम्बा श्री पूर्णगिरी देवी की प्रतिष्ठा नव-निर्मित विशाल मन्दिर में श्रीमदाचार्यमहाप्रभु जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य जी द्वारा होगी। इसी अवसर पर वहाँ एक ब्रह्मचर्य-आश्रम और एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना श्रीचरण करेंगे। इस के अनन्तर श्रीचरण काशी की ओर प्रस्थान करेंगे।

श्री महायज्ञ का कार्यारम्भ—गत आश्विन शुक्ल ३ बुधवार को नगवा पर श्री सत्यनारायण भगवान् के पूजनपूर्वक भूमिपूजन द्वारा यज्ञकार्य का आरम्भ हुआ। श्री गजानन जी ब्रह्मचारी ने भूमिपूजन किया। श्री पं० रामनाथ जी, श्री पं० अमरनाथ जी दीक्षित, श्री पं० केदारनाथ जी सारस्वत, दैवज्ञशिरोमणि श्री दाऊजी दीक्षित, श्री बलदेव जी पाठक आदि विद्वान् तथा पं० श्री श्रीनिवास शास्त्री वैद्य, श्री पं० काशीनाथ जी एम. ए. श्री पं० विजयानन्द जी त्रिपाठी आदि प्रमुख नागरिकों की उपस्थिति में यह कार्य सम्पन्न हुआ। श्री बाबू पुरुषोत्तमदास जी खन्ना ने उपस्थित जनता में प्रसाद वितरण किया। जनता का उत्साह बहुत प्रशंसनीय था। श्री स्वामी करपात्री जी महाराज अब 'गङ्गातरङ्ग' नगवा में आगये हैं।

भूल-सुधार

गत अङ्क २४, पृष्ठ ११५, कालम १, पदंक्ति २१ में 'वेदविधि' कर्मजन्य अदृष्ट को अधर्म कहा जाता है' इस वाक्य में 'अधर्म' शब्द के स्थान में 'धर्म' होना चाहिए। पाठक कृपया इसे सुधार लें। —सम्पादक।

प्रकाशक—श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

पाकिस्तान और कांग्रेस

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

२

बहुत से लोग कहते हैं कि श्रीगान्धीजी की ही यह विचित्र राजनीति है, वे जिना से हाथ मिलाकर अंग्रेजों को नीचा दिखलाना चाहते हैं। हमें तो ऐसे लोगों की बुद्धि पर तरस आता है। ये ही लोग मि० क्रिप्स के लौट जाने पर गान्धीजी द्वारा अंग्रेजों की करारी हार बतलाते थे। व्यक्तिगत सत्याग्रह में विफल, अगस्त आन्दोलन में विफल, अनशन में विफल, वाइसराय से मिलने में विफल होकर, सब तरह उपेक्षित, अपमानित होकर गान्धीजी ने जिना की शरण ली। परन्तु वाइसराय ने अपने भाषण में स्पष्ट कर दिया कि इस मिलन का कोई महत्व नहीं है। अगर कांग्रेस-मुस्लिमलोग का समझौता हो भी गया, तो भी अभी बहुत ऐसे दल हैं, जिन से समझौता करना बाकी रहेगा। सर्व दल का समझौता हो जाने पर सरकार विचार करेगी। इसी को यदि विचित्र राजनीति और गान्धीजी की विजय माना जाय, तो आश्चर्य है। राजाजी क्रिप्सयोजना के लिए फिर से प्रार्थना करेंगे, ऐसा भी बहुत लोगों का विश्वास है। बहुत लोगों का कहना है कि पाकिस्तान का स्वीकार करना एक राजनीतिक चाल है। परन्तु यह हमारी समझ में न आया, क्या इस का अर्थ यह है कि गान्धीजी पाकिस्तान मानकर सपय पर नहीं देंगे? यदि यही बात है, तब तो जंसे गान्धीजी या कांग्रेस अपने वादे से टल जायेंगे, वैसे ब्रिटिश सरकार भी अपने वचन से टल सकती है और दी हुई आज्ञाओं को पुनः छीन ले सकती है। परन्तु अहिंसा, सत्य की रटन लगानेवाले लोग अपनी बात को कैसे टालेंगे? मुसलमान अनेक बार समझौता करके भी तोड़ सकते हैं। कांग्रेस ज्यों उ्यों उन की मांगों को स्वीकार करती जाती है, त्यों त्यों उन की मांग बढ़ती जाती है। पृथक् निर्वाचन, साम्प्रदायिक निर्णय आदि जब से स्वीकार किये गये हैं, तब से ही अनर्थ-परम्परा की सृष्टि होती चली आ रही है। अब पाकिस्तान आया, कुछ दिनों के बाद यह माँग आगे बढ़ेगी, फिर मुस्लिम राष्ट्रों से सम्बन्ध जोड़ कर मुसलमान 'दारुल हरब' से 'दारुल इस्लाम' बनाने के लिए सम्पूर्ण हिन्दुस्तान को हस्तगत करने का प्रयत्न करेंगे। उस समय अहिंसा के उपदेशक गान्धीजी, सिन्ध-निवासियों को जैमे स्थान छोड़ देने का उपदेश दिया था, वैसे ही हिन्दुओं को भी उपदेश दे डालेंगे। पाकिस्तान स्वीकार करने में जिस आत्मनिर्णय की दुहाई दी जाती है, क्या उसी आत्मनिर्णय के अनुसार अछूतों, सिखों, द्राविड़ों के भी अछूतस्तान, सिखस्तान, द्राविड़स्तान आदि नहीं बन सकते? परन्तु म्युनिसिपैलिटी को सीमा में रहनेवाला कोई भी कुटुम्ब क्या अपने को म्युनिसिपैलिटी के नियमों से मुक्त कर सकता है? आत्मनिर्णय का यह अर्थ कदापि नहीं कि हर एक जिला, हर एक ग्राम, हर एक कुटुम्ब अपने को स्वतन्त्र राष्ट्र माने और व्यापक नियमों के पालन करने-न करने, में अपने को स्वतन्त्र समझे। समझिहित के लिए ऐसा कभी भी वाञ्छनीय नहीं हो सकता। दृढ़ शासन-व्यवस्था के बिना छोटे छोटे खण्डों में अनेक तरह के उपद्रव बने रहते हैं। इसीलिए किन्हीं भी प्रान्तों को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। जैसे प्रत्येक कुटुम्ब या ग्राम को पूर्ण स्वतन्त्रता देनी असम्भव है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि पहले भी भारत में अनेक स्वतन्त्र शासन थे, आज भी हैदराबाद आदि स्वतन्त्र राज्य हैं ही, फिर एक पाकिस्तान भी हो गया, तो क्या हानि? परन्तु उन्हें यह ध्यान देना चाहिए कि प्राचीन काल में अनेकों राज्य थे सही, परन्तु वे एक चक्रवर्ती के पराधीन ही थे, कुछ न कुछ उसे ंकर देते थे और पारस्परिक सङ्घर्ष में उस का निर्णय मानते थे। सर्वथापि मण्डलेश्वर चक्रवर्ती की, चक्रवर्ती द्वीपाधिपति की, द्वीपाधिपति सप्तद्वीपाधिपति की, सप्तद्वीपाधिपति प्रजापति की, प्रजापति

ब्रह्माण्डपति की और वह अनन्तब्रह्माण्डपति की आज्ञा मानता था। केवल वही सर्वथा स्वतन्त्र था, उस के अतिरिक्त सभी अंशतः स्वाधीन, अंशतः पराधीन थे। "शास्ति यश्चाज्ञया राजः स सम्राट्" अर्थात् जो अपनी आज्ञा से राजाओं का शासन करे, वही सम्राट् होता था। अयोध्या के अज, दिल्ली-पादि सप्तद्वीपाधिपति थे। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ के युधिष्ठिरादि सब जम्बूद्वीपाधिपति थे। विक्रमादित्य के समय तक यह अखण्ड शासन चलता रहा। जब से खण्ड खण्ड स्वतन्त्र शासन हुए, तब से ही उपद्रव प्रारम्भ हुआ। अतः कभी भी अखण्ड शासन नहीं था, ऐसा कहना असङ्गत है।

कुछ लोग कहते हैं कि संख्या की बहुलता से आत्मनिर्णय अधिकार प्राप्त होता है, अतः हिन्दुस्थान के जिस प्रान्त में मुसलमानों की संख्या अधिक है, उस प्रान्त में पाकिस्तान बनना आत्मनिर्णयानुसार है। परन्तु संख्या के आधार पर राज्य विभक्त नहीं होता। बीकानेर, उदयपुर आदि राज्यों के अधिकारी एक ही पुरुष होते हैं, उन में अगर दो-चार भाई भी हों, तो वे भी हिस्सेदार नहीं होते, बहुसंख्यावाली प्रजा भी हिस्सा बँटाकर पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होती। अवध, बिहार के कितने ही जमीन्दारों के यहाँ भी अनेक भाइयों में एक ही भाई गद्दीदार होता है। प्रबन्ध की सुविधा से मठाधोक्, महन्तों में भी ऐसी ही चाल है। अतः केवल संख्या की अधिकता से ही पितृ-पितामहादि-परम्परा से प्राप्त मौलसी सम्पत्ति में कोई हिस्सेदार नहीं होता। ऐसी स्थिति में पृथक् राष्ट्र बनाने के लिए पृथक् मौलसी भूमि की अपेक्षा है। भारत हिन्दुओं की मौलसी भूमि है, मुसलमानों की नहीं; यहाँ पाकिस्तान नहीं हो सकता। मुसलमानों को पाकिस्तान बनाने के लिए अरब जाना पड़ेगा। प्राचीन-अर्वाचीन इतिहास, 'अन्ननाम', भारतवर्ष, हिन्दुस्थान, आर्यवर्त, ब्रह्मावर्त आदि नाम, विभिन्न तीर्थ, देवालय एवं अन्यान्य हिन्दू सभ्यता के चिन्ह यह स्पष्ट बतलाते हैं कि भारतवर्ष, 'अजनाम' या हिन्दुस्थान हिन्दुओं का है। श्रीजिना हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का बतलाते हैं। वे मुसलमानों को भी अधिकारी सिद्ध करने के लिए 'ब्रविड़ प्राणायाम' का गौरव स्वीकार करते हैं। जिसतरह इङ्गलिस्तान इङ्गलिस्तानियों का, तुर्किस्तान तुर्किस्तानियों का न कहकर इङ्गलिशों एवं तुर्कों का कहा जाता है, उसीतरह हिन्दुस्तान हिन्दुओं का है। हिन्दुस्तानी क्या बला है? जैसे फ्रान्स फ्रान्सीसियों का, इङ्गलिस्तान इङ्गलिशों का है, उस में हिन्दुस्तान, पाकिस्तान आदि नहीं बन सकते, वैसे ही हिन्दुस्थान में पाकिस्तान, इङ्गलिस्तान आदि नहीं बन सकते। वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराणादि के अध्ययन करने से स्पष्ट विदित होगा कि सर्वदा से ही भारतवर्ष आर्यों का रहा है, वह आर्यों की निजी सम्पत्ति है, संख्या-बाहुल्य से कोई इस का मालिक नहीं हो सकता। अतिथि की हैसियत से आगत लोग सुख-शान्ति से रहें। हिन्दुओं का भारत में स्वत्वाभिमान दृढ़ रहना चाहिए। यदि यह रहेगा, तब तो कभी न कभी हिन्दू अपनी चीज लेकर ही रहेंगे। जैसे युद्धों में पराजित होने के बाद फ्रान्स फ्रान्सीसियों को ही मिलता है, वैसे ही कभी पराजित होने पर भी हिन्दुस्थान हिन्दुओं का ही रहेगा। आर्यों का स्वाभिमान नष्ट करने के लिए ही कूटनीतिज्ञों ने भारत का इतिहास नष्ट किया है। प्राचीन रामायण, भारत, पुराणादि इतिहासों से अभ्रष्टा उत्पन्नकर नवीन अटकलपट्ट मनुष्यवृत्त इतिहासों को रचकर हिन्दुओं के मन में यह निश्चय कराने का प्रयत्न किया गया है कि आर्य उत्तर भ्रुव या पश्चिमोत्तर एशिया से आये। भारत के आदिनिवासियों को जीत कर उन्होंने ने निकाल दिया और यहाँ के मालिक बन गये। यहाँ के आदिनिवासी जङ्गली कोल, मिल्ल, किरात आदिकों को अन्त्यज या अस्पृश्य ठहराया गया है और विजेता आर्यों के विजित अनार्यों पर बनाये काले कानूनों की पुस्तक मन्वादि शास्त्र है, जिन में उन के सम्पूर्ण अधिकारों का हरण किया गया है, वेदादि शास्त्र का पठन, श्रवण, मन्दिरों का दर्शनादि सब से उन्हें रोका गया है इत्यादि। कूटनीतिज्ञों की यह नीति सफल हुई। आज देश के

कर्णधार कहे जानेवाले लोगों को भी अपने आप इतिहासों पर से विश्वास उठ गया। वे भी आधुनिक इतिहास के अनुसार आर्यों का बाहर से आना मानने लगे। पाश्चात्यो के स्वर में स्वर मिलाकर मन्वादि स्मृतियों एवं शास्त्रों की उपेक्षाकर अपने पूर्वजों द्वारा अन्त्यजों पर अत्याचार किये जाने पर विश्वास करने लगे। उन के उच्चार के लिए धन-सङ्ग्रह में भी लग गये, मन्दिरादिसम्बन्धिनी प्राचीन मर्यादाओं को भी बिगाड़ने में लग गये। उन की दृष्टि में वे स्वयं मुसलमानों, अंग्रेजों की तरह विदेशी हैं। भारत उन के पूर्वजों की वस्तु नहीं, उन की मौलसी नहीं, इस पर स्वत्वाभिमान नहीं, किन्तु सराय के समान लवारिस माल या सब के साझे का है। इस के बाँटने का सब को अधिकार है। परन्तु सराय या तो बँटती नहीं, बँटे तो, जो पहले आया, जो पीछे आया, सभी बाँट का अधिकारी है। राष्ट्र के भौतिक शरीर की पराधीनता बड़ी खतरनाक है। जब विरोधियों के प्रचार से कोई समूह अपनी निजी भूमि में रहकर भी अपने को विदेशी समझे, अपने पूर्वजों और शास्त्रों के विपरीत होजाय, तो इस से बढ़कर कोई परामभव नहीं, इस से बढ़कर विरोधी की सफलता का कोई उदाहरण नहीं। आजकल हमारे तथाकथित अंग्रेजी अपने को विदेशी समझकर अपनी मौलसी भूमि को दूसरों की समझते हैं, गैर हिस्सेदार अतिथियों को हिस्सेदार समझकर समझौता के लिए उन का मुँह ताकते हैं, न्याय को ताक पर रखकर उन्हें प्रसन्न करने के लिए मुख्याधिकारों एवं बहुसंख्यकों की उपेक्षा करते हैं और अपने अधिकार एवं स्वत्व को स्पष्ट करने के लिए जवान से एक शब्द भी नहीं निकालते, ऐसे लोग अपने अनुयायियों के सहित नष्ट हो जायेंगे। जनता को सावधान हो जाना चाहिए, मृगतृष्णिकामय प्रलोभनों में न फँसकर वस्तुस्थिति का निरीक्षण करना चाहिए। जो कहते हैं कि आज पाकिस्तान स्वीकार करने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं? उन का क्या अभिप्राय है? क्या पाकिस्तान-स्वीकार कोई जादू है, जिस से स्वराज्य चटपट मिल जायगा? यदि कहे कि कांग्रेस और लीग की संयुक्त मांग की सरकार उपेक्षा न कर सकेगी, तो यह भी ठीक नहीं। सरकार हिन्दूसभा, सनातनियों, अल्लतों एवं सिखों का संहारा प्रकड़ेगी और कहेगी कि इन से समझौता किये बिना हम कुछ न करेंगे। मुसलमानों की पाकिस्तानी प्यास रहते उपयुक्त दलों से समझौता किसी भी तरह हो ही नहीं सकता। कल्पना कर ली जाय कि थोड़ी देर के लिए उपयुक्त दलों से भी समझौता हो गया, तो भी ब्रिटिशसरकार भारत पर से अपना पञ्जा न हटा सकेगी। मांगने से कहीं भी किसी को राज्य नहीं मिला। वह तो तीव्र पुरुषार्थ से प्राप्त किया जाता है। जहाँ खून बहाकर लोग दूसरे राष्ट्रों पर कब्जा कर रहे हैं, वहाँ एक स्वायत्त राष्ट्र को ब्रिटेन छोड़ देगा, यह समझना कितनी भयङ्कर भूल है?

कुछ लोग कहते हैं कि अमरीका आदि राष्ट्र भारतीयों को एकमत देखकर ब्रिटेन को स्वराज्य देने के लिए दबायेंगे, यह भी निरी भूल है। जैसे अपने मतलब के लिए जापान और जर्मनी कोरी सहायभूति करते रहे, यही स्थिति अमरीकनों की भी समझनी चाहिए। यह काम तो भारतीयों को अपने आप ही करना पड़ेगा, चाहे आज कर लें या कुछ दिन बाद। यदि यह अभिप्राय हो कि लोग के साथ मिलकर कांग्रेस कोई आन्दोलन या बलप्रयोग करके ब्रिटेन से स्वराज्य लेगी, तो लोग के इतिहास से परिचित लोग इस सम्बन्ध में भी नकारात्मक उत्तर देंगे। राजा, नवाब आदि लीगी लोग ऐसा खतरा उठाने में समर्थ नहीं हैं। फिर जब यही बात थी, तब सन् २८ और ४२ का आन्दोलन मुसलमानों के बिना क्यों छेड़ा गया? क्या इसे भी गांधीजी की 'हिमालय जैवी भूल' न समझी जाय? लाख दो लाख कांग्रेसी, लाख दो लाख लीगी मिलकर ही कौनसा ऐसा आन्दोलन करेंगे, जिसे सरकार न दबा सकेगी। यदि सच्चा सङ्घटन हो, तो क्या २५ करोड़ हिन्दुओं का आन्दोलन कागार नहीं हो सकता? कहा जाता है कि पराधीन बनकर एकत्रित रहने की अपेक्षा अलग अलग होकर स्वतन्त्र रहना अच्छा है, पर यह तर्क भी आभासमात्र है। यदि एक रहकर स्वतन्त्रता, स्वराज्य न ले सकेंगे, तो पृथक्-पृथक् होकर उस कड़ी प्राप्ति एवं रक्षा की आशा क्या की जाय? लीग से समझौता होना परमावश्यक है, होना चाहिए, इस के हम विरोधी नहीं, परन्तु दोनों हाथ से थोड़ी बजती है, एक हाथ से नहीं। दोनों ही समझौते के इच्छुक हों, दोनों ही न्याय चाहें, एक दूसरे के अधिकार,

स्वत्व को समझकर वस्तुस्थिति को समझकर, न्यायसहित समझौता कर सकते हैं। गान्धीजी के आतुरतापूर्वक जिना के चरणों में घुटना टेकने से समझौता कदापि नहीं हो सकता। यदि २४ करोड़ हिन्दू बलवान्, बुद्धिमान् एवं सङ्घटित होकर अपने बल पर स्वराज्य न ले सकेंगे, तो लीग की सहायता से भी वे स्वराज्य पाने के न अधिकारी हैं न उन्हें स्वराज्य मिल ही सकता है। अगर किसी तरह मिल भी जायगा, तो वे उस की रक्षा न कर सकेंगे। वह फिर किसी दूसरे के हाथ चला जायगा। बहुत संभव है मुसलमानों के ही हाथ में चला जाय। यदि हिन्दू बलवान्, बुद्धिमान् एवं सङ्घटित होकर स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्रयत्न करेंगे, तो मुसलमान भी उन के साथ हो लेंगे। बलवान् से ही सब मित्रता चाहते हैं, सन्धि भी बलवान् से ही करने को प्रस्तुत होते हैं। अतः सब से पहले आपसी सङ्घटन आवश्यक है। एतदर्थ शास्त्र को सरपञ्च मानकर धर्म की छत्रछाया में सब के सङ्घटन का प्रयत्न होना आवश्यक है। उस के बिना 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना' वाली स्थिति अनिवार्य नहीगी। अहिंसा, सत्यादि सामान्य धर्मों के पालन में सभी लोग तत्पर हों, साथ ही अपने विशेष धर्म के पालन में भी तत्परता आवश्यक है। हिन्दुओं की शिथिलता अत्यन्त ही शोचनीय है। श्रीअबुलकलाम आजाद कांग्रेस महाधिवेशन के समय उम की कार्यवाही स्थगित करके भी नमज्ज में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु अभी गान्धी-जिना-मिलन के दिनों में साम्प्रदायिक व्योहारों के उपलक्ष्य में जिना ने दो दिन मिलन स्थगित कराया, पर श्रीगान्धी ने अपने नियमित मौन को भी मिलन की उत्प्रेरणा में स्थगित कर दिया। हिन्दूमहासभावाले भी धर्म के सम्बन्ध से इतना डरते हैं कि हिन्दू धर्मध्वंसक 'हिन्दू कोड' के सम्बन्ध में अपनी राय तर्क जाहिर करने में अड़चन समझते हैं। मुसलमान धर्म के नाते ही सङ्घटित हैं, अपने धर्मग्रन्थ पर विश्वास रखते हैं, नियमों का पालन करते हैं, पर हिन्दू अपने शास्त्रों एवं धर्मों की अवहेलना करते हैं। किसी शास्त्र को सरपञ्च न मानने से पारस्परिक विवादों का अन्त न होगा। यदि ईश्वरस्मरणपूर्वक शास्त्र, धर्म, सभ्यता एवं पूर्वजों के आदर्शमय ऐतिहासिक चरित्रों के आधार पर स्वयं शिक्षित एवं सङ्घटित होने का प्रयत्न किया जाय, तो फिर उग्र सङ्घटित शक्ति का कहीं भी उपयोग किया जा सकता है। फिर सन्धि-विग्रहादियुक्त सैकड़ों सम्मानपूर्ण समझौते या अन्य सफल उपाय से काम चल सकता है। (ज्ञानवापी पर दिये हुए एक भाषण का सार। सं०)

बुद्धिवादो या बुद्धिशत्रु?

(होम-द्वचन-यज्ञ पाप है या पुण्य?)

(श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी)

६

शास्त्र और शराब

अन्त में डाक्टर साहब लिखते हैं कि "सब का निश्च्योत, निचोड़ यह है कि बिना बुद्धि की शरण लिये काम नहीं चलता।" पर शास्त्रवादी या कोई भी यह कब कहता है कि "बिना बुद्धि के काम चल सकता है?" फिर आप ने यह अमूल्य 'निश्च्योत, निचोड़' निकालने में अपने इतने समय तथा शक्ति का अपव्यय क्यों किया और कागज के कहत में पन्ने के पन्ने काले करके उसे जनता के सामने क्यों रखा? क्या आप अपने से विरुद्ध मत रखनेवाले सब को मूर्ख ही समझते हैं? यह 'निचोड़' निकालकर आप फिर 'शास्त्रों' पर टूट पड़ते हैं और लिखते हैं कि "यदि 'शास्त्र' शब्द ही पकड़ा जायगा, तो फिर अन्न और घी के ही यज्ञ से सन्तोष क्यों? अश्वमेध, गोमेध, नरमेध क्यों नहीं? सभी तो शास्त्रविदित हैं।" अवश्य हैं, पर 'कब', शास्त्रों में यह भी तो बतलाया गया है, 'कलि-वर्ज्य' होने से तो आजकल उन का प्रश्न ही नहीं है। फिर आप पूछते हैं— "वाममार्ग के उपासक अपने वामतन्त्रों को 'महत्तम शास्त्र' बखानते हैं, उन के 'शास्त्र' को भी शास्त्र मानकर 'पञ्च मकार' की सेवा क्यों न की जाय?" जिन पाश्चात्य विद्वानों की बुद्धिमत्ता पर आप लट्टू हैं, उन्हीं में से स्वर्गीय सर जान बुडरफ के ग्रन्थों से इस का उत्तर लीजिये। 'तन्त्र' भी शास्त्र ही है और उनके अनुसार सभी हिन्दुओं में बहुत सी उपासनाएँ प्रचलित हैं, पर उन के रहस्यों को समझने के लिए सूक्ष्म बुद्धि चाहिए।

आप को बड़ा दुःख है कि “अभागे भारतवर्ष में ‘परप्रत्यय-कारिता’ स्वीची होशियार लोगों ने इतनी बढ़ाई है कि ‘पोथी में लिखा है, इस को नहीं मानते, तो नरक में जाओगे और मानो तो स्वर्ग में जाओगे ?’ ऐसा कहकर कि हिन्दुओं की प्रकृति का वाचक ‘भेड़ियाधसान’ प्रसिद्ध हो गया है। पृष्ठ तो, महावाहणी तो, लघुवाहणी तो, कुम्भ तो, अवकुम्भी तो, सोमवती अमावस्या तो, एक दशो तो, फलानी षष्ठी तो, ठिकाना अष्टमी तो, यह पर्व तो, वह पर्व तो, नित्य कहीं न कहीं अत्यधिकांश अनपढ़ लोग हैं जो भीड़ लदी पड़ती है, गन्दागी और बोमारो बढ़ती है, यह आदमियों की भीड़ लदी पड़ती है, गन्दागी और बोमारो बढ़ती है, यह आदमियों की भीड़ लदी पड़ती है, गन्दागी और बोमारो बढ़ती है।” पोथी में लिखे हुए पाप-पूजित-पूजकों का प्रत्यक्ष दैनन्दिन उदाहरण है।” पोथी में लिखे हुए पाप-पूजित-पूजकों का प्रत्यक्ष दैनन्दिन उदाहरण है।” पोथी में लिखे हुए पाप-पूजित-पूजकों का प्रत्यक्ष दैनन्दिन उदाहरण है।” पोथी में लिखे हुए पाप-पूजित-पूजकों का प्रत्यक्ष दैनन्दिन उदाहरण है।”

‘भेड़ों’ से अब वे ‘मक्कार सिवार’ बनते जा रहे हैं, जिस से डाक्टर साहब को ही सन्तोष हो सकता है। तरह तरह के व्रतों से संयम की शिक्षा मिलती है, त्यौहारों से राष्ट्रीय जीवन में जागरूकता आती है, मेले तों मेल के लिए हैं ही, गरीब को भी उनसे कितना मनोरञ्जन हो जाता है, तीर्थयात्राओं में कितने ही अनुभव होते हैं। यदि पारलौकिक लाभ की बात छाड़ दी जाय, तो भी साधारण बुद्धि के ऐहलौकिक लाभों से इनकार नहीं कर सकती। पर डाक्टर साहब की आँखों में यह सब • ‘अत्यधिकांश अनपढ़’ लोगों की मूर्खता ही प्रतीत होती है। पर जरा ‘अल्पांश पढ़’ लोगों को दिनचर्या पर भी दृष्टि डालिए—दिन भर बिना किसी नियम के भक्ष्याभक्ष्य पेट में धूसते रहना, शाम को सिनेमाओं की सैर करना और रात में क्लबों में मौजूद रहना। बाहर की पूरी सफाई, पर भीतर का गन्दागाँव का कोई ठिकाना नहीं। परन्तु ‘पढ़’ लोग सब कुछ कर सकते हैं—‘समर्थ को नहीं दोस गुसाईं’।

आप को बड़ा खेद है कि "जिन को लोग 'शास्त्र' मान रहे हैं, वे शास्त्र श्राव के लिए सम्मति देते हैं। मथ के किन्हीं स्मृतियों में ग्यारह, किन्हीं में बारह भेद कहे हैं। गौड़ी, माध्वी, पैथी का ब्राह्मणों को, अथवा तीनों द्विजों को, निषेध किया है, अन्य प्रकार को शराबों के लिए अनुमति दी है, दंत्ये 'विष्णुस्मृति' आदि; यद्यपि 'निवृत्तिस्तु महाफल' भी कहा है, शूद्रों के लिए पड़ते तीन की भी मनाही नहीं है। 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' यह वेदविधि है। 'बलाम जी घड़े के घड़े शराब पी जाते थे, कृष्ण और अर्जुन को भी सज्जन ने 'क्षीव'—शराब से मस्त—सत्यभामा और द्रौपदी की गोद में पैरों को रखकर लेटे हुए, जनानखाने में देखा। इस विषय में वे मूर्ख ही नहीं महामूर्ख थे। 'ज्ञारारपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि।' मथ का दृष्टान्त 'परिहासास्पद' नहीं 'रोदनास्पद' है; विशेषकर मेरे ऐसे बूढ़े आदमी को तो भारतवासी हिन्दुओं की समग्र दशा 'रोदनास्पद' हो रही है; यद्यपि अन्य देशवालों को नितान्त 'परिहास' वा 'अपहास' वा 'अट्टहास' की आस्पद है।" परन्तु बूढ़े डाक्टर साहब को बुद्धि, जिस को शास्त्र में शराब का गन्ध आ रहा है, हिन्दुओं के लिए 'रोदनास्पद' है या 'परिहासास्पद' यह कहना हमारे लिए कठिन हो रहा है। हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने मानव-स्वभाव का बड़ा सुन्दर तथा सूक्ष्म अध्ययन किया था। वे जानते थे कि मनुष्य मानव होने के साथ ही देव तथा दानव भी है। उस की कमजोरियों को उन्होंने ने खूब पहचाना था। "स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दवाने के बड़े दुष्परिणाम होते हैं" आधुनिक मनोविश्लेषण (साइको-अनालिसिस) के इस सिद्धान्त को, उस के प्रवर्तक प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रायड से उन्होंने ने कहीं अधिक अच्छीतरह समझा था। "प्रवृत्तिरेवा भूतानाम्" इस 'प्रकृत सत्य' को लिखकर तब उस के आगे "निवृत्तिस्तु महाफल" यह जोड़ा था। इसी से उन के मनोविज्ञान के गम्भीर ज्ञान का पता लगता है। स्वाभाविक, जन्मजात गुणदोषानुसार ही वर्णव्यवस्था है और इस को ध्यान में रखकर ही सब के कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय किया गया है। शूद्र के लिए बहुत थोड़े विधि-निषेध हैं। ऊपर बढ़ने में क्रम से नियम कड़े होते जाते हैं, अन्ततः ब्राह्मण का जीवन सर्वथा नियमों से बाँध दिया गया है। उस के लिए तो 'मदिरा का एक बूँद' भी 'महापाप' बतलाया गया है, जिस के प्रायश्चित्त में 'प्राण' से भी हाथ धोना पड़ता है—"अग्निवर्णां सुरां पिबेत्।" रही ब्राह्मणों के लिए 'अन्य प्रकार के शराबों की अनुमति, इस में डाक्टर साहब को पड़ते 'अन्य प्रकार' की व्याख्या करनी चाहिए थी। 'आसव', 'अरिष्ट' आदि भी मदिराएँ ही हैं, परन्तु आयुर्वेदिक विधि से बने होने पर औषधरूप में उन

को सभी लेते हैं। सम्भवतः स्वयं डाक्टर साहब को भी उन से परहेज न होगा। ऐसी ही शराबों के लिए ब्राह्मणों को भी अनुमति दी गयी है। यदि ऐसा न होता, तो उन के लिए 'एक बूँद शराब' महापाप न बतलायी गयी होती। आजकल तो डाकटरी औषधों में प्रायः शराब का समावेश होता है और विवश होकर बहुतों को उन्हें लेना ही पड़ता है। परन्तु इतने मात्र से शराब लेने की विधि हो गयी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यज्ञों के विधान में प्रायः ऐसी बातें आती हैं, जिन का साधारणतः निषेध है। 'अपूर्व' बनने में उन का क्या स्थान है, यह यज्ञ-रहस्यज्ञ ही बतला सकते हैं। जिसतरह 'यज्ञिय हिंसा' साधारण 'हिंसा', जिम का सर्वथा निषेध है, नहीं है, उसीतरह 'सौत्रामणि' में सुरापान साधारण सुगपान की विधि नहीं बतलाता। प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति 'सौत्रामणि' यज्ञ नहीं करता, यदि कभी किसी को ऐसा यज्ञ सम्पन्न करने का सामर्थ्य हुआ, तो उस में शास्त्रविधि से किञ्चित् सुरापान महापाप नहीं हो सकता। फिर जहाँ कहीं किसी के लिए सुरापान का विधान है, वहाँ 'परिस्ख्या' का भाव है, अर्थात् जो सर्वथा छोड़ने में असमर्थ है, वह किसी विशेष अवसर पर सीमितरूप में अपनी प्यास बुझाने के लिए थोड़ी भले ही ले लें। होली पर गाली बकने, दिवाली पर जुआ खेलने आदि में भी अन्य बातों के अतिरिक्त इस का भी ध्यान रखा गया है। परन्तु इस से उन की विधि कदापि नहीं होती।

अब लीजिये बलराम, कृष्ण, अर्जुन आदि की शराब में मस्त होने की बात। शास्त्रों में इस को भी दिखलाने का रहस्य है। निर्गुण पद्मनाभ ही क्यों न हो, यदि वह मानव-शरीर धारण करता है, तो उसे मानव-समाज की कमजोरियों का भी अभिनय करना ही पड़ता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र स्त्री के लिए वन में रोते फिरे हैं और वृषों से भी उस का पता पूछने की मूर्खता करते हैं। 'गीता' के उपदेश भगवान् कृष्ण गोपाङ्गनाओं के साथ अठखेलियाँ करते हैं। बलराम शराब के घड़े के घड़े उँडेल जाते हैं। दत्तात्रेय मद्य, मांस और महिला में मस्त हैं। पर इत्र के साथ ही इन के दुष्परिणामों का भी भयानक चित्र खींचा गया है, जिस से यह दिखलाया गया है कि 'अवतारी पुद्गल' को भी अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है—“अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्”, “अवश्यं भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि। तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥” ‘शत्रोरपि गुणाः वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि’ कों, जिसे आप ने अपनी निर्भोक्ता दिखलाने के लिए उद्धृत किया है, शास्त्रों ने, जिन्हीं का वह वाक्य है, आप से कहीं अधिक निभाया है। फिर इन महापुरुषों की तुलना हम साधारण व्यक्तियों से नहीं हो सकती। उन के आचरण का अनुसरण करने के हम अधिकारी नहीं हैं, हम तो केवल उन का आज्ञाओं का पालन कर सकते हैं—“ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।” इसतरह कितने ही प्रकार के उदाहरणों तथा भावों से साधारण मनुष्य को कुमारों से बचने और सावधान रहने का बड़े सुन्दर ढङ्ग से उपदेश दिया गया है। यदि इन दृष्टियों से देखें, तो पुराणों की कितनी ही कहानियाँ, जिन में हमें असभ्यता, अश्लीलता आदि का गन्ध आता है, स्पष्ट हो जाते हैं और उन से हमें अपने प्राचीन शास्त्रकारों के अद्भुत ज्ञान, प्रभावशालिनी विचित्र लेखनशैली का पता लगता है। जब पाश्चात्य इन को पढ़कर यह लिखते हैं कि “प्राचीन आर्य गोमांसभक्षी, शराबी, जुआरी, दुराचारी होते थे” तब हम उन का भ्रम समझ सकते हैं, क्योंकि वे हमारे शास्त्ररहस्या से अनभिज्ञ हैं, पर जब डाक्टर साहब सरीखे बड़े विद्वान्, जो प्राच्य-पाश्चात्य विद्याओं के बेजोड़ पण्डित माने जाते हैं, ऐसा लिखते हैं कि “जिन को लोग ‘शास्त्र’ मान रहे हैं, वे शास्त्र शराब के लिए सम्मति देते हैं”, तब ‘अट्टहास’ वा ‘अपहास’ का ‘परिहास’ नहीं सूझता, हमें सचमुच हलाई आती है।

भारत के नये दार्शनिक

(श्री शिवशरण जी)

2.

जब पाशविक वृत्तियों की प्रबल धारा निबंद्ध होती है, तब भूख या लोभ के सामने मन और बुद्धि की सात्त्विक वृत्तियां प्रायः नगण्य विदित होती हैं। इसलिए कलियुग में रहनेवाले मनुष्यों का इतिहास एक शोचनीय अनन्त कथा है, जिध में जातियों, देशों को परस्पर शत्रुता के कारण,

साम्राज्य या असीमित धनादि के लोभ से, अनन्त शताब्दियों की परम्परा से प्राप्त, उत्तम से उत्तम ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, कला आदि से बने हुए सभ्यता-संस्कृति के प्रासाद नष्ट हो जाते हैं। इस से मनुष्य-जाति का कभी एक और कभी दूसरा अङ्ग अत्यन्त मानसिक दुर्बलता में पड़ जाता है। तब धीरे धीरे बड़ो कठिनाई से धर्म, सभ्यता, संस्कृति की आवश्यक सामग्रियों को, जो मनुष्य को पशु से भिन्न करती हैं, एकत्रित करना पड़ता है। जब कभी नष्ट देश या जाति को ये सामग्रियाँ समय पर नहीं मिल सकती, तब वह देश 'असभ्य' हो जाता है। यही आजकल हबिशियों या अन्य जङ्गली जातियों का दुःखमय इतिहास है। जब कोई महत्वपूर्ण संस्कृति या सभ्यता नष्ट होती है, तब इस से मनुष्यजाति को मानसिक सम्पत्ति में एक त्रुटि आ जाती है, जो कभी फिर पूरी नहीं हो सकती। हजारों वर्ष तक ज्ञान-विज्ञान-प्रेमी जलाये हुए पुस्तकालयों, बंध किये हुए विद्वानों और नष्ट हुए मन्दिरों या महलों पर रोते रहते हैं, क्योंकि उन के अभाव में आंक शङ्काएँ रहती हैं, जिन का समाधान आसानी से तब तक नहीं होता, जबतक कि आवश्यक ज्ञान-विज्ञान की उचित रक्षा न हो। शताब्दियों से पाश्चात्य देशों में कई विद्वान् नष्ट संस्कृतियों की भस्म खोज कर सत्य को जानने की इच्छा से अन्धी खोज में उन कुछ प्राचीन संस्कृतियों के ज्ञान-विज्ञानादि को जानने का प्रयत्न करते हैं। कभी मृत शहरों के पत्थर कृपा करके अपने रहस्य के कुछ अङ्ग बतलाते हैं। परन्तु इन प्राचीन संस्कृतियों के इन क्षणभङ्गुर अस्पष्ट दर्शन से यही दुःखमय फल निकलता है कि उस समय के अनुपम धर्म-ज्ञान-विज्ञान-ग्रन्थ और परम्पराएँ हमेशा के लिए नष्ट हो गयीं।

इतिहास की दुर्बान से प्राचीन मिस्र, फारस, रोम या यूनान के सत्यानाश, असीमित बर्बरता का कार्म्य विदित होता है। उन को नाश करनेवालों के आधारभूत लोभ, भूख, विचित्र विशेष विश्वास, धर्म आदि इन उच्च संस्कृतियों के सामने नगण्य प्रतीत होते हैं। हर समय हमलोग देखते हैं कि मनुष्यजाति के उत्तम से उत्तम आदर्श और उस की मानसिक सम्पत्ति नीच से नीच इन्द्रिय-प्रवृत्तियों के सामने नगण्य मानी जाती है। मालूम होता है कि अज्ञानी पुरुष थोड़ी रोटी-दाल के लिए अनुपम मुक्ताहार देने को सदा तैयार रहते हैं। परन्तु सब लोग हृदय में यह जानते हैं कि वे मानसिक उच्च आदर्श केवल आध्यात्मिक कल्याण के ही नहीं, भौतिक कल्याण के भी आधार होते हैं। जहाँ धर्म, सत्य, अहिंसा, यम, नियमादि रहते हैं, वहाँ अनेक सुख-सम्पत्ति भी रहती है। परन्तु जहाँ धर्म की कोई स्थिति नहीं, वहाँ सब के हृदय में दूसरों के धन-कलत्र आदि का लोभ होता है, वहाँ अन्त में किसी का कुछ भी अपना नहीं रहता, केवल एक नग्न शरीर रह जाता है, जिसके अर्क्षित होने पर, किसी न किसी समय उसे कोई भी ले सकता है। इन प्राचीन संस्कृतियों में से, जो हजारों वर्ष हुए मानव-जाति के आकाश में अनेक सूर्य के समान प्रज्वलित होती थीं, पृथिवी पर अब प्रायः कोई भी नहीं रही। प्राचीन मिस्र का असीमित विज्ञान तथा चमत्कारपूर्ण इन्द्रजाल (जादू) का आज पता कहाँ है, बाबिलोन का आश्चर्यजनक ज्योतिष, क्रीट में रहनेवाले अतिप्राचीन दर्शनियों को विद्वत्ता कहाँ गयी? उन भूली हुई सभ्यताओं के थोड़े-बहुत बचे हुए गणित, ज्योतिष, दर्शन, धर्म के सिद्धान्त, अभी तक पश्चिम में नापने-गिनने, सोचने और उपासना करने की विधि के आधार बने हुए हैं। परन्तु इन प्राचीन संस्कृतियों में से, जो सत्यानाश से बच गयी हैं, सब से प्राचीन तथा उन्नत हिन्दू-संस्कृति आज तक अविच्छिन्न परम्परा से चली आ रही है। इसीलिए हिन्दू-संस्कृति का स्थान इस पृथिवी की सभ्यताओं में सब से उच्च और अनुपम है। थोड़े दिनों से अनेक अज्ञानी भारतीयों या विदेशियों से अपमानित होने पर भी मानवजाति के कल्याण के लिए इस अतिप्राचीन संस्कृति का मूल्य निरपम बना हुआ है। यही कारण है कि भारतवर्ष में आजकल के कठिन प्रश्नों और शङ्काओं के उठने पर यह नहीं भूलना चाहिए कि इन प्राचीन सनातनी संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, धर्म, सामाजिक संस्था, कला आदि का मूल्य ओंका नहीं जा सकता। भूखे होने पर भी थोड़े दिन के भोजनादि मिलने की आशा से पूरी मनुष्यजाति के कल्याण की अमूल्य सम्पत्ति को नष्ट न करना चाहिए। बहुत लोगों की प्रायः हर एक देश में यह बड़ी इच्छा रही और अब भी है कि भारत में सुरक्षित प्राचीन ज्ञान और विद्या को कुछ सीखें, क्योंकि उन की समझ

में यह प्राचीन विद्या ही एक ऐसा उपाय है, जिस से मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए अनेक शङ्काओं का समाधान हो सकता है। उन का अर्वाचीन विज्ञाननामक अज्ञान से कभी भी समाधान न हो सकेगा। परन्तु भारतीय विद्या का वास्तविक तत्त्व जानने के लिए अभी तक जो कुछ प्रयत्न किये गये, वे इतने असफल हुए कि यह विश्वास चारों ओर अन्य देशों में फैल गया है कि किसी समय भारत अवश्य अनुपम संस्कृति-वाला रहा, परन्तु प्राचीन विद्या का इतना क्षय हुआ कि वर्तमान भारत में आज भी कोई व्यक्ति नहीं है, जो प्राचीन संस्कृति का महत्त्व समझ सका है। यदि किसी को भगवान् की कृपा से प्राचीन सनातन धर्म के अधिकारियों के सत्सङ्ग का सीमागम्य मिला, तो उसे विदित होता है कि यह सब कवन निरर्थक है और आज भी प्राचीन सनातन विद्या अत्यन्त शोभा से चमक रही है। तब प्रश्न होता है कि भारतवर्ष का यह अनुचित चित्र क्यों और कैसे खींचा जाता है? इस का उत्तर निस्सन्देह यह है कि गलती उन की है, जो हिन्दू-संस्कृति का चित्र विदेशी लोगों के लिए खींचते हैं।

शुभ समाचार

धर्मसङ्गमहाधिवेशन—गत सप्ताह गङ्गातरङ्ग, नगवा में 'स्वागत-समिति' की एक बैठक हुई। गोस्वामी श्री दामोदरलाल जी की ओर से स्वागताध्यक्ष होने से असमर्थता प्रकट करने पर सर्वसम्मति से सेठ श्री गौरीशङ्करजी गोयनका स्वागताध्यक्ष चुने गये। विभिन्न कार्यों के लिए उपसमितियाँ नियुक्ति हुई और उन के प्रतिनिधियों को एक 'कार्यसमिति' बनायी गयी, जिस की प्रति दूसरे दिन यज्ञभूमि पर बैठकें हो रही हैं। बुध होते हुए भी स्वागतमन्त्री श्री पं० काशीराम जी शास्त्री, एम. ए. (भूतपूर्व इन्सपेक्टर संस्कृत विद्यालय, युक्तप्रान्त) बड़ा उत्साह दिखला रहे हैं। यहाँ भी धर्मनगर बसाने का आयोजन हो रहा है। विभिन्न धर्मसङ्ग शाखाओं को चाहिए कि अपने यहाँ के प्रतिनिधियों की सूची शीघ्र ही 'मन्त्री स्वागतसमिति, धर्मसङ्ग चतुर्थ महाधिवेशन, काशी' के पास भेज दें। प्रत्येक शाखा से एक एक प्रतिनिधि अवश्य आना चाहिए। उन के ठहरने का प्रबन्ध 'धर्मनगर' में ही किया जायगा। स्थान की कमी के कारण बाहर से सभी आनेवालों के लिए 'धर्मनगर' में ठहरने का प्रबन्ध न हो सकेगा। यज्ञमण्डप, सभामण्डप, ऋत्विजों के निवास, विभिन्न कार्यालयों तथा प्रतिनिधियों के ठहरने के बाद बहुत थोड़ा स्थान बचा रहता है। जो लोग ठहरना चाहें, शीघ्र ही सूचित करें, नहीं तो फिर स्थान न मिल सकेगा।

'धर्मसङ्ग-सप्ताह'—प्रतिवर्ष की तरह इस बार भी गोपाष्टमी से पूर्णिमा तक सब जगह 'धर्मसङ्ग सप्ताह' मनाना चाहिए। गोपूजन से कार्य आरम्भ होना चाहिए, प्रतिदिन प्रभातफेरी, कुछ जप, पूजन, कथा-वार्ता आदि चलते रहना चाहिए। पूर्णिमा को हवन, ब्राह्मण-भोजन, दक्षिणों को अन्न-वितरण, जुलूस, सभा आदि से समाप्ति होनी चाहिए। जिन शाखाओं के प्रतिनिधि काशी आ रहे हैं, उन्हें भी सप्ताह मनाने का पूरा आयोजन करना चाहिए। इस से सभी स्थानों में जागृति होगी।

'हिन्दू कोड' विरोध—इस सम्बन्ध में 'धर्मसङ्ग महाधिवेशन' के अवसर पर एक अखिल भारतीय सम्मेलन करने का आयोजन हो रहा है। इस में सभी हिन्दू-संस्थाओं के प्रतिनिधि आने चाहिए। यह कार्य किसी एक संस्था का नहीं, समस्त हिन्दुओं का है। इस के प्रश्न से समस्त हिन्दुओं की ओर से जोरदार विरोध किया जायगा। कलकत्ते के लोग बड़ा उत्साह दिखला रहे हैं। बङ्गप्रान्तीय धर्मसङ्ग के मन्त्री श्री छोटेलाल कानोडिया बड़ी तत्परता से काम में लगे हुए हैं। 'हिन्दू कोड' की ५०० प्रतिवर्षी छपाई जा रही है, 'हिन्दू कोड का कुठार' शीर्षक हिन्दी में भी एक पुस्तिका छप रही है, जिस में कोड की प्रधान धाराएँ दी हुई हैं और उन के दुष्परिणाम दिखलाये गये हैं।

धर्म की बात—'सिद्धान्त' को सरकार की ओर से 'अखबारी कागज' (न्यूज प्रिण्ट) में हिस्सा मिल गया है। अब शीघ्र ही वह सम्भवतः इस से बड़े आकार तथा आठ पृष्ठों में निकलने लगेगा। गम्भीर लेखों के साथ साथ उस में 'धर्मसङ्ग महाधिवेशन' सम्बन्धी सूचनाएँ तथा समाचार भी प्रकाशित होंगे।

शिक्षितों की शिष्टता

'लखनऊ महिला कालेज' की प्रधानाध्यापिका की नियुक्ति के सम्बन्ध में वहाँ की छात्राओं ने अपना असन्तोष प्रकट किया। थोड़े दिन हुए समाचार छपा था कि उन्होंने हड़ताल कर दी और जब 'कालेज प्रबन्ध समिति' के कुछ सदस्य उन्हें सम्मानने आये तो छात्राओं ने उनमें से एक को पकड़ कर कमरे में बन्द कर दिया और बाहर खिड़की से उनपर किताबें, रोशनाई आदि फेंककर उनकी अच्छी खबर ली। अब इस सम्बन्ध में कालेज की 'कुमारीसभा' की अध्यक्ष का एक वक्तव्य निकला है, जिसका आशय इस प्रकार है—“एक सदस्य ने बात ही बात एक छात्रा के मुँह पर अपने हाथ की फाड़ल दे मारी और उसके कन्धे पर हाथ रखकर अपने सामने से हटाने लगे। हाथ कन्धे पर से हटा तो लड़की का आँचल उसमें आ गया। उस का ऊपरी भाग अधखुला सा हो गया, तब भी वे छोड़ते न थे। इस पर वह छात्रा वेहोश हो गयी, उसकी रक्षा के लिए अन्य छात्राएँ बढ़ने लगीं, पर एक दूसरा सदस्य उन्हें रोकने लगा। जब अवस्था असह्य हो गयी, तो कुछ छात्राओं ने इस कुकृत्य का प्रतिकार बलपूर्वक करने का यत्न किया। इस संघर्ष में १५ छात्राएँ वेहोश हो गयीं। इनकी चिकित्सा की व्यवस्था किसी ने नहीं की, यद्यपि समिति के अध्यक्ष भी वहाँ आ गये थे। छात्राओं ने जो कुछ भी किया वह अपने शारीरिक सम्मान की रक्षा के लिए किया।” यह सब है हमारी 'शिक्षा' की, जिसका हमें गर्व है, शिष्टता! अब लड़कों की तरह लड़कियों को भी 'उच्च' शिक्षा दी जाने लगी है, तभी तो ठीक है, बिना इसके जोड़ कैसे मिलेगा?

गोपीगीत

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

११

कुछ अन्य गोपाङ्गनाएँ यह समझ कर कि बिना मोंगे भगवान् नहीं देते, भगवान् से अपने सिर भगवत्कर के आधान की प्रार्थना करती हुई कहने लगी—“हे स्वामिन्। हमारा हृदय विदीर्ण होता जा रहा है, अतः हमारे रक्षण के लिए अपने शीतल सुकोमल श्री हस्तकमल को हमारे शिर पर रखिये। कमल ही शीतल होता है, फिर शीतल सरोवर समुद्भूत कमल की शीतलता और भी प्रसिद्ध है। फिर जहाँ श्री हस्त ही सरःस्थानीय हो और वही सरसिज स्थानीय हो, ऐसे आप के करसरोरुह को तापापनोदकता का कहना ही क्या है? आप अपने करसरोरुह से हम सब का उद्धार करें। हे कान्त! हमारे मस्तक पर श्री हस्तकमल रखकर हमें अपनी शरण में लें। आप का श्रीहस्त केवल ताप ही दूर करनेवाला नहीं, किन्तु काम भी है, सम्पूर्ण अभिलाषाओं का प्रदान करने वाले है।” सर्वयोगिष्येय भगवान् स्त्रियों का स्पर्श कैसे करेंगे, इस आशङ्का का समाधान करती हुई ब्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—“श्रीकरग्रहम्, श्रियाः करस्य ग्रहोयेन, तत् श्रीकरग्रहम्” अर्थात् आपने श्री लक्ष्मी का कर स्पर्श किया है, फिर हमारे शिर पर हस्तकमल रखने में क्या हानि? कहा जा सकता है कि लक्ष्मी विवाहिता पत्नी है, उस का करस्पर्श विहित है। आप लोगों का स्पर्श कैसे किया जाय? इस पर कहती हैं—“संस्तेर्भयाच्चरणमीयुषां विरचिताभयम्” अर्थात् आप के श्री हस्तकमल संसार की डर से चरणों में आनेवाले भक्तों को अभय प्रदान करनेवाले हैं, अतः विवाह विधि से बढ़कर शरणागत रक्षा की विधि है। विवाह विधि साधारण धर्म है, शरणागत-रक्षा ईश्वर-धर्म है, अतः हमारी रक्षा के लिए हम शरणागतों के शिर पर श्रीहस्त धारण करें। यदि कहे कि स्त्रीस्पर्श निषिद्ध है, फिर स्पर्श करके कैसे तुम्हारी रक्षा करें, इस पर कहती हैं—“वृष्णिधुर्य्यं, वृष्णिकुलप्रसूत” अर्थात् यदु ने रक्षणार्थ देवयानी का जैसे स्पर्श किया था, वैसे ही हे वृष्णिवंशावतंस! हमारी रक्षा के लिए स्पर्श दोषावह नहीं है। अथवा दुःख हेतु संसार से भयभीत होकर हम सब आप के चरणों की शरण में आयी हैं, अतः हमारे दृष्ट-अदृष्ट सर्व दुःखों को दूर करके अभय प्रदान करें। ‘कान्त’ सम्बोधन से सूचित करती हैं कि आप ही भक्ता हैं। संघति के भय से आप के चरणों की शरण आनेवालों को आप के श्रीहस्त अभय प्रदान करते हैं, इस से मोक्षप्रदत्व कहा गया है। ‘कामद’ पद से धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग

का दाता कहा गया है। भक्तिदाता होना एवं प्रियजन प्रेमवश्या 'श्रीकरग्रहम्' से कहा गया है। सरोरुह रूपक से सहज शीतल मधुर होने से स्वतः फल रूपता कही गयी है।

बुद्धिवादो या बुद्धिशत्रु ?

(होम-हवन-यज्ञ पाप है या पुण्य ?)

(श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी)

७

शास्त्रों की प्रगति

हिन्दुओं को 'अन्धश्रद्धा' का रोना रोते हुए डाक्टर साहब लिखते हैं कि “हिन्दू दास की दासत्व बुद्धि प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है। जो कुछ किसी ने बता दिया उसी पर विश्वास कर लिया। मील के पथर को महादेवजी मानकर उस की पूजा करते हैं। मन्दिर पर मन्दिर बनते चले जा रहे हैं। उन की कोई व्यवस्था नहीं है। किसी किसी में शिवपिण्ड का कुत्ते मूत्र से अभिषेक किया करते हैं।” आप को दुःख है कि “हिन्दू धर्म ऐसा अर्थरहित दुरर्थपूरित हो रहा है।” हम भी मानते हैं कि आज हिन्दूधर्म की बड़ी दुर्दशा है। परन्तु इस को दूर करने का उपाय क्या है? धर्म में श्रद्धा का बड़ा उच्च स्थान है, विवेक से उस का वास्तविक विरोध नहीं है। उलटे विवेक से उस में दृढ़ता आती है। श्रद्धा का निवास है हृदय और विवेक या बुद्धि का मस्तिष्क। दिल और दिमाग का सामञ्जस्य होने पर ही मनुष्य सन्मार्ग पर चल सकता है। 'अन्धश्रद्धा' के भय से श्रद्धा-स्रोत को ही सुखा देने पर विवेक के लाखों प्रयत्न करने से भी वह फिर प्रवाहित न होगी। हिन्दू स्वभाव से ही श्रद्धालु हैं, उन के इस गुण को दबा देना उन की विशेषता को ही नष्ट कर देना है। मन्दिरों की उन्नत व्यवस्था अवश्य कोजिये, पर उन में से श्रद्धा हटाकर हिन्दुओं को कोरा कोरा विवेकी मत बनाइये। यदि विवेक ने संस्कृति के भण्डार को ज्ञान से भरा है, तो श्रद्धा ने अनेक ललितकला के भावों द्वारा उस को सुसज्जित तथा सुन्दर बनाया है। उस को नष्ट कर देना मानवसंस्कृति के प्रति अक्षम्य अपराध होगा।

श्रद्धा परम्परा के प्रभाव में बढ़ती है, उस में प्रगति का प्रश्न ही नहीं; 'परन्तु' बुद्धिवादी डाक्टर को प्रगति चाहिए। अवस्था के अनुसार धार्मिक व्यवस्था भी बदलती रहनी चाहिए। इस के लिए भी आप के पास प्रमाण मौजूद है। आप लिखते हैं कि “मूल सिद्धान्त स्थिर रहते हुए विशेष आचार, धर्म, कर्म, विधि-निषेध, समय समय पर अवस्था के अनुसार बदलते रहे हैं। आखिर, यह भी विचारिये की मनुस्मृति तो भी ही फिर सत्तईश और क्यों बनी? इसीलिए न कि मनु के मूल सिद्धान्तों को अटल रखते हुए थोड़ा-बहुत हेर-फेर-गौण बातों में समय समय पर होता रहता है। जब से हम अन्धविश्वासी बने (और धर्माधिकारियों द्वारा बनाये गये) तब से शास्त्रों की प्रगति रुक गयी। अब उन प्रगतिशील ऋषियों की हम ऐसी अकर्मण्य सन्तान हैं कि हमारे पास शास्त्र की दुहाई देने के सिवा और कुछ भी न रहा; विवेक को कोई स्थान देना ही नहीं चाहते। बुद्धि स्वातन्त्र्य गया; उस के पीछे शासन स्वातन्त्र्य भी, स्वराज्य भी, अवश्यमेव गया।” वास्तव में कभी कोई भी व्यक्ति धर्म-कर्म बदलने में स्वतन्त्र नहीं रहा, स्मृतियों भी स्वतन्त्र नहीं हैं। श्रुतिमूलकता का अनुमान कर के ही स्मृतियों का प्रमाण माना जाता है। युगादि भेद से श्रुति के आधार पर ही ऋषियों ने स्मृतियों में कुछ भेद रखा है। कौन स्मृति विशेष रूप से कब मानी जाती है, इस की भी व्यवस्था है—“कलौ पाराशराः स्मृताः”। यदि वेद-शास्त्र निरपेक्ष कोई धर्म-कर्म मनमाना बदलते चले, तब तो उस का कोई भी निश्चित रूप ही नहीं रह सकता, क्योंकि अधिकतर प्राणियों को कामचार, कामवाद ही रुचता है। काम, क्रोध, लोभादि-जन्य प्रवृत्तियों को रोकने में सब को ही कठिनाई पड़ती है। प्रत्येक धर्म में आध्यात्मिक सिद्धान्त के अतिरिक्त आचार-सम्बन्धी भी नियम होते हैं। हिन्दू शास्त्रों में आचार पर ही अधिकांश ग्रन्थ हैं। जैसे श्रुति ने ही सात, प्रातः, मध्याह्न के कर्मों में भेद रखा है; सम्पत्, विपत्, मार्गस्थ, गृहस्थ के धर्मों में भेद बतलाया है, वैसे ही युगभेद, सम्प्रदायभेद-मूलक भी

अभीष्ट है। ऐसी श्रुतिमूलक स्मृतियों को महर्षियों ने कुछ भिन्न रूप से स्मरण किया है। परन्तु इस का अर्थ यह नहीं है कि अपने मनमाने विचारों को अनुष्ठान श्लोकों में रखकर कोई एक नवीन स्मृति गढ़ डाले।

हिन्दूधर्म की प्रगति का परिचय आप को बौद्ध धर्म में मिलता है। आप लिखते हैं कि "मूल उद्गम स्थान, काशी के सार (सारङ्ग) नाथ नामक जग में, वह धर्म पुनः जड़ पकड़ने का यत्न कर रहा है और भारी बुद्ध भिक्षुओं और भिक्षु गृहों का निर्माण कर चुका है। यदि वहाँ के 'भिक्षु' लोग बुद्ध शासन, का-सच्चे हृदय से पालन करेंगे, तो वे पुनः भारत के विप्लव 'हिन्दू' धर्म ही का संशोधन और जिर्णोद्धार कर सकेंगे, जैसा ही और जो ही बुद्ध देव ने किया, उन्होंने कोई नया धर्म नहीं चलाया।" शास्त्र के विषय में तो शङ्कर के अनुयायी 'प्रच्छन्न बौद्ध' ही कहलाये— "मायावाद असत ज्ञास्त्रं, प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।" गौतम बुद्ध ने यज्ञों और विशेषकर उन में पशुवध का खण्डन अवश्य किया, परन्तु वह भी प्राचीन शास्त्रानुसार कुछ विशेष हेतुओं से। यदि डाक्टर साहब की दृष्टि में वे प्रतिवादी हैं, तो उन के सिद्धान्तानुसार आत्मा का भी खण्डन डाक्टर साहब को मान्य होना चाहिये। ऐसा होने पर तो फिर 'अव्यात्मवाद' के स्थान पर 'शून्यवाद' रह जायगा। यदि इसी में डाक्टर साहब को हिन्दूधर्म की प्रगति देख पड़ती है, तो यह उन्हीं को 'सुवारक' हो, हिन्दूधर्म तो इस प्रगति से बाज रहकर ही जीवित रह सकता है। रही बात शङ्कर और उन के अनुयायियों के 'प्रच्छन्न बौद्ध' होने की, यह तो पाश्चात्य विद्वानों को ही सत्य प्रतीत हो रही है; पर जिसने भारतीय दर्शनों का गम्भीर अध्ययन किया है, वह कभी भी ऐसी ऊटपटांग बात कहने का साहस न करेगा।

'पेटेण्ट नुसखा'

लेख के अन्त में आप लिखते हैं "अन्न-धी के यज्ञ छोड़िये, पशुयज्ञ कुड़वाइये, मध-मांस छुड़वाइये, मनुविहित दैनन्दिन 'पञ्चमहायज्ञों' का प्रचार कीजिये; कृष्ण के ज्ञानयज्ञ को फैलाइये। जनता की बुद्धि, विवेक, स्वयंप्रज्ञता को प्रज्ञान-विज्ञान से उज्ज्वल कीजिये, 'कर्मणावर्णः वयसा आश्रमः' की व्यवस्था से मनु के सिद्धान्त और आदेश के अनुसार सच्चे वर्णाश्रमधर्म को समस्त मानव जगत में फैलाइये, तभी विश्वशान्ति भी होगी और सब मनुष्यों को प्रयाप्त मात्रा में अन्न-धी-दूध खानेपाने को मिलेगा।" खैर, आपने 'पञ्चमहायज्ञ' तो मान लिये। मनु ने कहा है—पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है; तपण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिगैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथिपूजन मनुष्य यज्ञ है—"अभ्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणं। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥" क्या डाक्टर साहब स्वयं इन यज्ञों को करते हैं? यदि करते होते तो जो कुछ उन्होंने लिखा है, उस के लिखने का उन को साहस कभी न होता। फिर यहाँ तो स्पष्ट शब्दों में 'हवन को देवयज्ञ' बतलाया है। इस के आगे ही 'हुतोहोमः' अर्थात् 'हवन हुतयज्ञ है' ऐसा भी कहा है। इतना ही नहीं 'भगवान्' मनु यह भी कहते हैं कि अग्नि में अच्छे प्रकार से दी हुई आहुति सूर्य को जाती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है— "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्येगादियमुयतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेर्न ततः प्रजाः॥" 'होम-हवन' पाप हो है, तो फिर मनु ने इस का विधान क्यों किया? पितरों का 'प्रत्यक्ष प्रमाण' ही क्या; फिर क्या चुल्हू भर पानी देने से उन की प्यास बुझती या पिण्डदान से उन की तृप्ति होती है? पत्ते पर जरा से अन्न की बलि-देने से क्या संसार के प्राणियों का पेट भर सकता है? इसतरह भूतों को टरका कर स्वयं थाल भर जीम-जाना क्या पूरा ढोंग नहीं है? मनु ही के लिखे पञ्चमहायज्ञ के प्रकरण (अध्याय ३, श्लोक ६८-९३) को अच्छी तरह पढ़िये और फिर कहिये कि उनका प्रचार ठीक है या नहीं? परन्तु मुश्किल तो यह है कि आपकी 'मनुस्मृति' तो कोई दूसरी है, जिस का ज्ञान केवल आप ही को है? उस में 'पञ्चमहायज्ञ' क्या है और उन की क्या व्याख्या की गयी है, इसे आप ही बतला सकते हैं। हमलोग तो प्रचलित 'मनुस्मृति' का सीधा-साधा अर्थ ही जानते हैं, जिस को प्राचीन भाष्यकारों ने बतलाया है।

अन्त में सब बातों की ताल टूटती है "कर्मणावर्णः वयसा आश्रमः" जिस में आप को "सर्माज व्यवस्था में अनुभूयमान और संभावनीय सभी

आपत्तियों का प्रतीकार देख पड़ता है," जो सब रोगों के लिए आप का अचूक, 'पेटेण्ट' नुसखा है, जो आप के लिए 'महामन्त्र' है, जिस की रटन आप गत ३५ वर्षों से कर रहे हैं, पर जो आप के 'किसी पाप से' हिन्दू की हृदय-ग्राहिणी तपस्या के अभाव से अथवा देश के ही सामूहिक पाप से अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है। परन्तु आप का यह कोरा भ्रम है, जिस को हम 'सिद्धान्त' वर्ष ३ अङ्क १६, १८ से ३१ में अच्छी तरह दिखला चुके हैं। उस में कौं एक बात का भी आज तक उत्तर देने को आप ने कृपा नहीं की। उन्हीं बातों को दुहराकर हम लेख को बढ़ाना नहीं चाहते। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि वर्णों के लिए उन के योग्य कर्मों का विधान है, न कि कर्मानुसार कर्ता के वर्ण का।

भारत के नये दार्शनिक

(श्री शिवशरण जी)

२.

संसार के हरएक अन्य देशों की तरह भारत की संस्कृति और उस के उच्च विचार मातृभाषा में ही जीकर प्रफुल्लित हो सकते हैं। वे महात्मा, जिन की पूरी शक्ति सत्य की खोज में जाती है, वह वैज्ञानिक अनुभव हो चाहे आध्यात्मिक या अलौकिक सत्य, कभी किसी देश में अपने समय और शक्ति को विभिन्न लौकिक भाषा सीखने में नष्ट नहीं करते। उन का सब प्रयत्न ऐसी भाषा पढ़ने में होता है, जिस से विचार स्पष्ट और गम्भीर हो सके और जिन के द्वारा उत्तम ज्ञान प्राप्त हो सके। तब प्रश्न होता है कि यदि भारत के उच्च दार्शनिक या शास्त्री स्वभाव से ही अन्य देशों की भाषाओं में अपने ज्ञान का दान न कर सकेंगे, तो फिर विदेशी भाषाओं में भारतीय प्राचीन परम्परा और वर्तमान विचारधारा के चित्र कौन खींचेगा? यह बड़े महत्व की बात है, क्योंकि वर्तमान मानसिक कलह में जो अपना पक्ष नहीं बतलाता या गलत बतलाता है, उस का खण्डन सब ओर से निस्सन्देह होगा। प्राचीन हिन्दूधर्म और संस्कृति की ओर से बोलनेवालों में पहले संस्कृत भाषा अध्ययन करनेवाले पाश्चात्य विद्वान् हैं। वे, अभी तक बची हुई, सनातन परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण, रहस्यमय अनादि वेद-मन्त्रों को अपने मन से समझना चाहते हैं। यह बात नहीं है कि वे इस प्राचीन वैदिक धर्म में कुछ विश्वास या प्रेम रखते हैं, वे तो वेदों से अपने काल्पनिक इतिहास के विषय में कुछ प्रमाण निकालना चाहते हैं, जो अधिकारी सनातनी हिन्दुओं की दृष्टि में किसीतरह इन वेदशास्त्रों का विषय नहीं हैं। इन लोगों द्वारा किये हुए वेदादिशास्त्रों के अनुवाद अत्यन्त अशुद्ध तथा निरर्थक हैं। प्राच्य विद्या के अपने को विद्वान् माननेवाले इन थोड़े लोगों के मण्डल के बाहर कोई भी उन से किये हुए वेदशास्त्रों के अनुवाद को न पढ़ता और न मानता है। इन के पश्चात् अंग्रेजी में लिखने-वाले भारतीय दार्शनिक लेखकों का उदय हुआ। उन लोगों से खींचा हुआ हिन्दूधर्म का चित्र बहुत असत्य हुआ, परन्तु इस का प्रचार और प्रभाव बहुत बढ़ा। प्रायः ये दार्शनिक सनातन धर्म की शास्त्रपरम्परा के अनधिकारी थे, इस का तत्व नहीं जानते थे और उन के मन पर वर्तमान पश्चिम की संस्कृति का प्रभाव इतना था कि वे पाश्चात्य विचारधारा की सीमाओं के भीतर एक अस्पष्ट तथा वक्र रूप में सनातन धर्म के कुछ सिद्धान्तों का अङ्ग-भङ्ग करके उल्ट-पलट करने लगे। परन्तु इन सनातन सिद्धान्तों को पाश्चात्य वर्तमान दार्शनिक भाषा की सीमा में लाने के लिए इतना परि-वर्तन करना पड़ा कि उन का आधारभूत तत्व ही नष्ट या निरर्थक हो गया। इस का फल यह हुआ कि एक असङ्गत भावपूर्ण दर्शन, जिस का न कोई प्रयोजन है और न जिस से कोई लाभ उठा सकता है, उत्पन्न हो गया। इस के फलस्वरूप पश्चिम के दार्शनिकमण्डल में हिन्दूदर्शन 'असङ्गत', 'निर्मूल', 'अन्धविश्वास' और 'निराधार कल्पना' के नामों से अपमानित होने लगा। यह भी कह देना चाहिए कि यह भावपूर्ण निरर्थक दर्शन कुछ पाश्चात्य वृद्ध विद्वानों तथा अशिक्षित युवकों को बहुत अच्छा लगा और वे इन वर्तमान भारतीय दार्शनिकों के पास आने लगे। उन थोड़े से विलायती लोगों को देखकर भारत में भी बहुत से लोगों के मन में यह भावना हो गयी कि इन भारतीय नये दार्शनिकों द्वारा हमारी प्राचीन संस्कृति का नाम अन्य देशों में

बहुत बढ़ रहा है; परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। इन लोगों को अहिंसादि यम-नियम अत्युक्ति भावपूर्ण हँसी की बात दीखने लगे। नये दार्शनिकों ने अद्वैतवाद का चित्र ईसाईधर्म के शब्दों, दृष्टियों आदि से मिलाने का इतना प्रयत्न किया कि सब सार हवा हो गया और यह स्पष्ट जान पड़ने लगा कि यह सनातन अद्वैतवाद असली नहीं, बल्कि ईसाई 'एक-ईश्वरवाद' के प्रभाव का फल है। ये वर्तमान भारतीय दार्शनिक ईसाईधर्म की सीमाओं को भी नहीं समझते और हर एक शब्द का प्रयोग गलत करते हैं। उन्होंने ने ईसाईधर्म के आचार्यों की परिभाषा कभी नहीं समझी, क्योंकि वह सब 'लातिन' भाषा में है, जिस से वे अनभिज्ञ हैं। इस तरह ज्ञात होता है कि वर्तमान दार्शनिक न हिन्दूशास्त्र के अधिकारी हैं और न ईसाईधर्म की भाषा के। इसलिए ईसाईधर्म के शब्दों में उन के हिन्दूशास्त्रों की परिभाषा निरर्थक हो तो क्या आश्चर्य? दार्शनिक दृष्टि से ईसाईधर्म के ऊँचे से ऊँचे दर्शन की वैष्णव सम्प्रदाय के किसी सङ्कुचित अङ्ग से तुलना की जा सकती है, अद्वैतवाद से नहीं। ईसाई धर्म की सीमाओं में वेदान्त, उपनिषद् आदि का कोई स्थान ही नहीं हो सकता। वह ईश्वर मानता है, पर ब्रह्म नहीं जानता, स्वर्ग में विश्वास करता है, पर मोक्ष नहीं समझता। ब्रह्म, धर्म, मोक्षादि के अर्थ का कोई भी शब्द उस की भाषा में नहीं है। इसीलिए सनातन धर्म के आधार-भूत सिद्धान्तों का अनुवाद करने के लिए वर्तमान भाषाओं के जनक प्राचीन भाषाओं के धातुओं को अच्छी तरह से जानना चाहिए। तब बड़े प्रयत्न से प्राचीन धातुओं को लेकर आवश्यक नये नये शब्द और उन की धातुओं के अनुकूल नये प्रयोग द्वारा संस्कृत शब्दों का अनुवाद शुद्ध हो सकेगा। आधारभूत सिद्धान्त स्पष्ट न होने से उस का कार्यभूत दर्शन निरर्थक कल्पना ही प्रतीत होता है।

इस के अतिरिक्त यह नहीं भूलना चाहिए कि आजकल ज्यादा से ज्यादा पाश्चात्य ईसाई धर्म में विश्वास नहीं करते, यहाँ तक कि अनेक देशों के बड़े बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक अपने को ईसाई बतलाना भी सह नहीं सकते। इस का अर्थ यह नहीं कि वे अयमी या अनीश्वरवादी हैं परन्तु ईसाई धर्म की वास्तविकता के विषय में उन को सन्देह होता है। प्रायः वे धर्म व दर्शनों के अचल अधिष्ठान प्राप्त करने के लिए सनातन धर्म की ओर देखते हैं लेकिन मिलता है उन्हें ईसाई धर्म के अनुकूल बना हुआ सनातन धर्म का निराधार निरर्थक चित्र। अन्य धर्मों से सनातन धर्म की विशेषता यह है कि इस में प्रमाण बिना कोई बात स्वीकार नहीं की जाती। अद्वैत सिद्धान्त से सृष्टि रचना द्वारा साधारण व्यवहार के नियमों तक सब क्रम से, नियमानुसार, प्रमाणसहित होता है। वही दृष्टि वर्तमान लोगों को अच्छी लगती है। परन्तु सनातन धर्म के विषय में जो कुछ मिल सकता है वह सब भावपूर्ण कल्पना दिखाई पड़ता है। विचारशील लोग वर्णव्यवस्था को संसार का एक अनिवार्य नियम मानते हैं। चाहें या न चाहें सब जगह वर्णभेद मिलता है। उस को नष्ट करने का प्रयत्न करने से वह दूसरे रूप में फिर निकल पड़ती है। जब सनातन धर्म के नाम से बोलनेवालों के मुख से सुनते हैं कि वर्ण कर्म ही से होता है, तो विचारशील लोगों के मन में यह भाव आता है कि यह धर्म भी धोखा देनेवाला है, जिस के सिद्धान्तों का रूप सब लोग अपने व्यक्तिगत भौतिक लाभ के लिए बदलने को तैयार रहते हैं। वह धर्म, जिस का आधार सत्य नहीं, सब से खतरनाक चीज है, क्योंकि इस के नाम से सब लोग कुकर्म में लग जा सकते हैं, जिस से इह तथा पारलौकिक अत्यन्त हानि होती है। यही कारण है कि आजकल बहुत-लोग ऐसे मिलते हैं, जो ईश्वर में विश्वास करने पर भी धर्मों के शत्रु होते हैं, क्योंकि कोई भी अचल सनातन धर्म, जो मनुष्यों से बनाया या बदला हुआ नहीं है, उन के दृष्टि में नहीं आता।

सनातनधर्म के तत्व तथा उद्देश्य को जानने के लिए पाश्चात्यों के बहुत से प्रयत्न निष्फल हो गये। इन को आशा थी कि पश्चिम की वर्तमान खतरनाक गति को रोकने के लिए उचित उपाय और आजकल की असत्य दृष्टियों का खण्डन करने के लिए उचित तर्क मिलेंगे, परन्तु वे सदा धर्म का ईसाई-हिन्दू निरर्थक मिश्रित रूप पाकर निराश होते रहे। यदि कोई विदेशी अपनी सभ्यता-संस्कृति को असत्य और सनातन धर्म को ही संसार के कल्याण का एकमात्र हेतु मानकर भारत में आता है, तो वह नये ढङ्ग से 'शिक्षित' हिन्दुओं द्वारा अपमानित होता है और कभी-कभी शत्रु भी माना जाता है। जब कोई प्राचीन भारतीय धर्म संस्थाओं के नष्ट करने में

वर्तमान 'शिक्षित' हिन्दुओं की सहायता करता है, तो वे उस को निन्दित समझते हैं। यह विचित्र मानसिक भ्रम है। प्रायः ऐसे 'शिक्षित' लोग मन में सोचते हैं कि विदेशी हिन्दू संस्कृति का प्रेमी साम्राज्यवादियों का कोई सेवक अवश्य होगा, जो हम लोगों को असभ्य रखने का प्रयत्न करता है और वर्तमान अन्य देशों की सभ्यता के सुख भोगों से हमें अलग करा चाहता है। इसलिए जो लोग हिन्दू संस्कृति से घृणा करके विदेशी शिक्षा हिन्दुओं के मन पर छापने के लिए आते हैं, उन से आदर पूर्वक व्यवहार होता है, परन्तु हिन्दूधर्म प्रेमियों के लिए सब दर्जा बन्द हो जाते हैं। यह भी एक कारण है, जिस से हिन्दुओं के सनातन धर्म को विनष्ट करने का आधार माननेवालों को सदुपदेश की खोज में भारत आने पर प्रायः असफल होना पड़ा। वे बेचारे अधिकारियों तक पहुँच ही न पाए परन्तु हिन्दू धर्म के अनाधिकारी प्रचारकों के सब जगह अनेक अनाहुए हैं। हिन्दू धर्म, दर्शन, सामाजिक संस्थाओं पर अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं, जिन से हिन्दू धर्म की ओर विदेशियों की प्रवृत्ति का नाश हुआ गया है। प्रायः अनेक विदेशी वृद्ध विद्वान् या बेकार युवक इन नये दार्शनिकों के आश्रम में रहते हैं, क्योंकि हिन्दू जीवन की कुछ नकल करने का खेल उन को अच्छा लगता है। कभी-कभी लोग अपने पैसा और कुर्ता के ऊपर गेरुआ वस्त्र ओढ़ कर साधु बन जाते हैं। जनेक अवसर सब पहनते हैं, कुछ तो थोड़ी पूजा करके 'ब्राह्मण' भी बन जाते हैं। फिर भी अपनी विदेशी मानसिक या शारीरिक आदतें बदलने का कोई भी प्रयत्न नहीं करते। यह सब तमाशा बहुत मजेदार होता है, परन्तु प्रायः विचारवान लोग इन आश्रमों को हिन्दू धर्म का केन्द्र सुनने पर भग जाते हैं।

शुभ समाचार

धर्मसंघ महाधिवेशन का कार्यक्रम—यज्ञभूमि पर चहल-पहल प्रारम्भ हो गयी है। वृष्टि के कारण कुछ बाधा अवश्य पड़ी है पर मण्डप-निर्माण का कार्य जोगों से जारी है। अब यह निश्चित हुआ है कि ११ अतिरुद्र और ४ महारुद्र एक साथ चलेंगे। इसके लिए १४० हाथ लम्बा और एक १०४ हाथ चौड़ा विशाल मण्डप बनाया जा रहा है। श्रौत याग 'चातुर्मास्य' के दो पर्वों के लिए एक अलग मण्डप होगा और १०८ 'भागवत सप्ताह' का मण्डप भी पृथक् ही रहेगा। कीर्तन, कथा, प्रवचन, आदि तो रोज ही चलते रहेंगे। अभी तक जो कार्यक्रम निश्चित हुआ है वह इस प्रकार है—कार्तिक शुक्ल ५—रविवार, ध्वजोत्थान। १३ रवि—यज्ञारम्भ, गणपति पूजन, पुण्याहवाचन, नान्दीश्राद्ध, ऋत्विक् वरण। १४ सोम—मण्डप-प्रवेश देवता-स्थापन। १५ मङ्गल—अरणिमन्थन तथा हवन। सायं 'धर्मसंघ सप्ताह' की समाप्ति। प्रति दिन प्रातःकाल ८ बजे से १२ बजे तक हवन। मार्गशीर्ष कृष्ण २ गुरुवार—तीसरे पहर २ बजे 'धर्मसंघ शिक्षामण्डल' का वार्षिक अधिवेशन। ३ शुक्रवार—'हिन्दू कोड विरोधी सम्मेलन' तीसरे पहर २ बजे से। ४ शनिवार—धर्मसंघ वार्षिक चतुर्थ महाधिवेशन १२ बजे से—स्वागताध्यक्ष तथा सभापति का भाषण। ५ रविवार—महाधिवेशन, तृतीय वार्षिक विवरण का प्रवान मंत्री द्वारा पाठ, प्रस्ताव। ६ सोम—अधिवेशन, प्रस्ताव, सभापति का अन्तिम भाषण। ७ मङ्गल—पूर्णाहुति १२ बजे दिन, वेद भगवान् सवारी, नगरयात्रा, अवभृथ स्नान, सायं ५ बजे, दशार्चमेघ घाट ८ बुधवार—दण्डि-भोजन, श्री सत्यनारायण कथा। सभापति की आज्ञा से इस में परिवर्तन किया जा सकता है।

धर्म संघ प्रचार—गत गोदावरी कुम्भ के अवसर पर नासिक में श्री-माधवाचार्यजी की अध्यक्षता में 'धर्मसंघ का प्रचार शिविर' खोला गया। श्री 'रामनाम आधार' के विशाल हाल में संघ का अधिवेशन सम्पन्न हुआ। बड़ी गादी बम्बई के श्री वैष्णवाचार्य स्वामी देवनायकाचार्य जी ने सभापति का आसन ग्रहण किया। प्रतिदिन जनता की बहुत भीड़ रहती थी। विश्वकल्याणार्थ इष्टदेव की आराधना, सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म में तत्परता, गोरक्षा का प्रयत्न, 'पाकिस्तान' तथा 'हिन्दू कोड' के विरोध में प्रस्ताव पास किये गये। संघ के जयघोष के साथ कार्यवाही समाप्त हुई। टाण्डा आदम (सिन्धु) से श्री प्र. रामदत्त जी, शर्मा तथा लक्ष्मणाचार्य जी के प्रयत्न से संघ का सफल प्रान्तीय अधिवेशन हुआ।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

विरोध का जोर

जब से काशी में ‘धर्मसङ्घ-महाधिवेशन’ तथा ‘महायज्ञ’ की चर्चा चली है, कुछ लोगों के पेट में खलबली मची हुई है। विचार को कार्यान्वित होने देखकर विरोध प्रकट किया जा रहा है। हमारे सहयोगी दैनिक ‘आज’ ने अपने स्तम्भ इस के लिए खोल दिये हैं और इधर दो-चार दिन से प्रायः प्रतिदिन ही कभी ‘स्वामीजी का एक शिष्य’, कभी ‘एक सनातन-धर्मप्री’, कभी कोई, स्वामी करपात्री जी से, तरह-तरह के प्रश्न किया जाता है और उन्हें अपने कर्तव्य-पालन का उपदेश देता रहता है। ‘आज’ के विद्वान् सम्पादक ‘निर्णायक’ बन बैठे हैं और आप ने कृपाकर स्वयं श्रीस्वामीजी को एकबार अपनी सफाई पेश करने का अवसर दिया है। पर यदि कोई दूसरा कुछ कहना चाहे, तो उस के लिए ‘आज’ के ‘दरबार का दरवाजा’ बन्द है। इस की यहाँ किसे परवाह है? जिस को हजार बार गरज हो, श्रीस्वामीजी के पास जाकर अपनी जिज्ञासा पूरी करले, किसी के सामने अपनी सफाई देने से उन्हें क्या मतलब? पर किसी को सचमुच जिज्ञासा हो भी, यहाँ तो ‘भाड़े के टट्टू’ बनकर प्रचार करना है। जिन लोगों को अपना नाम प्रकट करने तक का साहस नहीं है, उन के मुँह लगना बेकार है। ऐसे लोगों को उचित उत्तर है उन की सर्वथा उपेक्षा। कानपुर के ‘रामराज्य’ में जो लेख निकले थे, उन के सामने तो ये कुछ भी नहीं हैं, आगे भले ही जोर पकड़ें, पर फल बही होगा, जो दिल्ली और कानपुर में हुआ। ये लोग ‘टॉय टॉय’ करते ही रह जायेंगे और यज्ञ का दर्शन करने को जनता ऐसी उमड़ेगी कि इन की आँखें खुल जायेंगी। पर तब वह जनता इन को दृष्टि में ‘जनार्दन’ न रहेगी, उस की गणना ‘भेड़िया-पसान’ में हो जायगी। इन लोगों का तो हमें कृतज्ञ होना चाहिए, इन से हमारा बड़ा प्रचार हो रहा है। ‘आज’ में श्रीस्वामी करपात्रीजी का नाम तक आने की ‘मनाही’ थी, पर अब तो उमें सर्वत्र स्वामीजी ही सूझ रहे हैं। एक यज्ञ के बन्द कर का प्रयत्न किया जा रहा है और चार यज्ञ और होने जा रहे हैं।

इस सम्बन्ध में हमें केवल एक बात खटक रही है, वह है हमारे ‘लोकमत के ठेकेदार’ समाचार-पत्रों की नीति। वे प्रचार की धुन में न्याय को ताक पर रख देते हैं। यदि उन्हें सचमुच लोकमत व्यक्त करना है, तो उन्हें तटस्थ रहकर दोनों पक्षों की जनता के सामने समानरूप से आने देना चाहिए। एक पक्ष की बात रखकर दूसरे पक्ष को अपनी बात कहने का अवसर न देना सरासर अन्याय है। ‘आज’ सम्पादक ने जो ‘उदारता’ और ‘न्यायप्रियता’ दिखलाने का प्रयत्न किया, उस का ‘ढोंग’ एक साधारण बुद्धिवाला भी भलीभाँति समझ सकता है। सम्पादकों की कभी कभी यह भी चाल हाँती है कि दूसरे नाम से शङ्काओं का उत्तर भी निकल जाता है और इसतरह भी उस पक्ष को कमजोर सिद्ध किया जाता है। परन्तु जबतक उत्तर साधिका न हो, उस का कोई मूल्य नहीं। वास्तव में किसी प्रकार की कोई जिज्ञासा नहीं, विचार-विनिमय की भावना नहीं, इस विरोध का तो उद्देश्य ही दूसरा है। यदि किसी के कोई शङ्का है, तो उस का समाधान किया जा सकता है, पर यदि शङ्का दूसरे को बदनाम करने की दृष्टि से की जाती है, तो उस से अपनी ही कमजोरी सिद्ध होती है। वास्तव में बात यह है कि लोगों को अब ‘धर्मसङ्घ’ की शक्ति का अनुभव हो रहा है। यदि वह केवल माला जपने पर ही जोर देता रहता, तो कोई बात न थी, पर अब राजनीतिक क्षेत्र में भी, जिस को कुछ दल अपनी ही जमींदारी समझते हैं, पैर रखने लगा है। इस से आशङ्का हो रही है कि वह कहीं चुनाव में भी न उतर पड़े। श्रीस्वामी करपात्रीजी का लोगों पर कितना प्रभाव है, यह इन विरोधी लेखकों को भी मानना पड़ा है। यदि यह प्रभाव योंही बढ़ने दिया-रखा, तो क्या होगा, बस यही चिन्ता इन सब की परेशान किये हुए है। हम व्यर्थ विवाद में नहीं पड़ना चाहते। विचार-विनिमय के

लिए हमारे स्तम्भ सदा खुले हुए हैं। हम तो ‘शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद’ की आलोचना में भी न पड़ने, क्योंकि उस में सार थोड़ा और इधर-उधर की बातें बहुत हैं। उस का ध्येय किसी सिद्धान्त पर विचार नहीं, प्रचारमात्र है। परन्तु उस पर डा० श्रीमगवानदासजी का नाम देखकर उस की ‘खण्डनात्मक आलोचना’ प्रकाशित करना आवश्यक हो गया, क्योंकि उन के नाम के कारण उस का प्रभाव कुछ दूर तक फैल सकता है। यदि वे उस पर कुछ लिखने का कष्ट करेंगे, तो हम सहर्ष उसे छाप देंगे।

शिष्टता का एक और नमूना

‘लखनऊ महिला-विद्यालय’ की घटना का उल्लेख हम गताङ्क में कर चुके हैं। अब प्रयाग का एक समाचार प्रकाशित हुआ है कि वहाँ के किसी बालिका-विद्यालय में पण्डित जी पढ़ा रहे थे। प्रसङ्गवश ‘शूद्र गँवार ढोल पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी’ गोस्वामी तुलसीदासजी की यह चौपाई आ गयी। इस पर लड़कियाँ बिगड़ उठीं और कहा कि ‘ऐसा किस ने लिखा है, हम उस पुस्तक को नहीं पढ़ना चाहतीं, उसे जला देना चाहिए।’ लड़कियों ने इतना उधम मचाया कि वेचारे पण्डित जी को पोथी-पत्रा बाँधकर कक्षा के बाहर भागना पड़ा। यदि हम लड़कियों को आधुनिक शिक्षा देना चाहते हैं, तो फिर हमें उन के ऐसे व्यवहार के लिए तैयार भी रहना चाहिए।

ब्राह्मणों की कूटनीति ?

(श्री स्वामी करपात्रीजी)

१

चतुर राजनीतिज्ञ जानते हैं कि विजेता राष्ट्र का विजित राष्ट्र पर तबतक पूर्ण एवं स्थिर शासन नहीं स्थापित हो सकता, जबतक विजित राष्ट्र की मानसिक पराजय न हो जाय। इस के लिए राष्ट्र के मनोमय शरीर पर अधिकार जमाने की आवश्यकता होती है। यह सब शतघ्नी, मुगुण्डी, बाण, धनुष, गदा, शूल आदि प्राचीन एवं टैङ्क, तोप, उडनबम, विमान आदि अर्वाचीन किसी भी भौतिक शस्त्रास्त्र से नहीं प्राप्त हो सकता। मानसिक विजय प्राप्त करने के लिए शस्त्र, सेना विलकुल व्यर्थ हो जाते हैं। जबतक राष्ट्रसमान, पूर्वजों का गौरव, शास्त्र, धर्म, इतिहास एवं ऐतिहासिक पूर्वपुरुषों के प्रति आदर-भाव अवशिष्ट है, तबतक कोई भी अपने जन्मसिद्ध अधिकारों का परित्याग नहीं कर सकता। उपर्युक्त भावों के हास से नैतिक पतन तथा राष्ट्र का पराभव होता है। पराजय के पश्चात् फिर अधिकाधिक राष्ट्रसमान आदि का हास, नैतिक पतन आदि होता जाता है। जो जाति आत्मसम्मान को जीवित रखती है, वह कभी न कभी अपनी भौतिक पराधीनता को नष्ट कर देती है। अतः सब से मुख्य कर्तव्य यह है कि पराजित जाति अपने सम्मान को नष्ट न होने दे। विजेता सर्वदा विजित राष्ट्र या जाति को अपने से नीच समझने का प्रयत्न करता है। ‘मैं असमर्थ हूँ, नीच हूँ’ यह भावना निराशा उत्पन्न करती है। विजेता विजित पर उन कुटिल शस्त्रों का प्रयोग करते हैं, जो देखने में भयङ्कर नहीं, किन्तु पराजित राष्ट्र के लिए किसी भी तीक्ष्ण शस्त्र की अपेक्षा घातक होते हैं। सेनाबल देह को पराजित कर सकता है, परन्तु हृदय को नहीं झुका सकता। हाँ, अपनी भाषा, अपनी सभ्यता, अपने रहन-सहन में प्रेस उत्पन्न करना, आदर के स्थानों पर अधिकार प्राप्त करना, उस देश के इतिहास नष्ट करना, उस देश के धर्म, कर्म एवं पूर्वजों पर से प्रज्ञा मिटाकर घृणा पैदा करना, फिर जहाँ तक बने राष्ट्र और समाज के पूर्णरूप से अन्दर प्रविष्ट होना, इन भावनाओं के अनुसार ही पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों ने ऐसा ‘मिथ्याभूत ऐतिहासिक जाल बिछा रखा है कि शतशः उन की माया से बचने का हृदय से प्रयत्न करनेवाले लोग भी किसी न किसी

तरह उस के शिष्य बन जाते हैं। लाला हरदयाल जी एक सच्चे देश-भक्त थे। उन्होंने हिन्दू सभ्यता, संस्कृति, भाषा और हिन्दू महर्षियों का आदर करते हुए ही देशोद्धार सम्भव समझा था। 'मेरे विचार' नामक उन की पुस्तक हाल में पढ़ने में आयी। वे ब्राह्मणों की पूज्यता का कारण उन का जाल उमझते हैं। आधुनिक कूटनीतिमय ऐतिहासिक भाव उन के मन से नहीं निकला, अतः मुसलमानों और अङ्ग्रेजों के समान ही उन्होंने आर्यों का भी भारत में बाहर से आना मान लिया। सैनिक विजय की अपेक्षा सामाजिक विजय का महत्व लिखते हुए आप ने ब्राह्मणों की विजय का प्रकार बतलाया है और लिखा है कि "ब्राह्मणों ने अनार्यों को जीतकर पहले अपने वश में किया, फिर मानसिक विजय प्राप्त करने के लिए उन्होंने शिक्षाविभाग को अपने हाथ में लिया। यहाँ तक कि अध्यापन, याजन में ब्राह्मणों का ही असाधारण अधिकार घोषित किया। अध्यापन एवं याजन से उन में स्वभाव से ही गुरुत्व आ गया। सभी समाज में गुरु का एक विशिष्ट स्थान होता है। इसतरह पूजा, पाठ, यज्ञ, जप, तप का स्वयं अनुष्ठान और दूसरों को उपदेश करने से वे अपने शत्रुओं के भी गुरु बन गये। शत्रुओं की सन्तानों को प्राचीन युद्ध एवं शत्रुता की स्मृति नष्ट हो गयी। वे उन के अनन्य शिष्य एवं भक्त हो गये। जो लोग मन्त्र-तन्त्र में न फँस सके, उन को अनुकूल बनाने के लिए औषधालय खोलकर वे ही वैद्य भी बन गये। आपसी झगड़ा निपटाने के लिए सरपञ्च होते होते क्रमेण न्यायाध्यक्ष हुए। प्रायश्चित्त के व्यवस्थापक हुए, कवि हुए, ज्योतिषी, पुरोहित आदि बनकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि उन के बिना कोई भी कार्य ही नहीं हो सकता था। बालक के उत्पन्न होते ही उसे दुग्धपान बिना ब्राह्मणज्ञा के, बिना मुहूर्त के नहीं कराया जा सकता। मृतक भी बिना ब्राह्मण के जलाया नहीं जा सकता। इच्छा होते हुए भी ब्राह्मणज्ञा के बिना लड़के-लड़की का विवाह नहीं किया जा सकता। जल बरसने पर भी हल चलाने में, पके अन्न के भी काटने में, उपस्थित भी अन्न के प्राशनारम्भ में ब्राह्मण द्वारा मुहूर्तनिर्णय परमावश्यक है। उस के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। यद्यपि कोई सरकारी ऐसा कानून नहीं, ब्राह्मण के पास कोई बल नहीं, अस्त्र-शस्त्र नहीं, तथापि बलवान् सशस्त्र लोग भी ब्राह्मण के सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हैं, हृदय से प्रणाम करते हैं। राजा-महाराजा का आदर ऊपर से किया जाता है, हृदय से नहीं। शिक्षक, कथावाचक, उपदेशक, याजक एवं गुरुओं का भरी सभाओं में पूर्ण सम्मान होता है, उन को देखते ही सब उठते हैं और शिर झुकाते हैं। वैसा देखते देखते बच्चों को भी वैसे ही संस्कार हो जाते हैं।" उपर्युक्त प्रकार की नीति का प्रयोग विजेता लोग किया करते हैं, यहाँ तक कि अङ्ग्रेज लोग उसी नीति का अनुसरण करके भारत के मनोमय शरीर पर भी शासन कर रहे हैं। स्कूलों, कॉलेजों, यूनिवर्सिटीयों में से तैय्यार होकर निकलनेवाले शिक्षित लोग इङ्ग्लैण्ड के ही मस्तिष्क से विचार करते हैं। अपनी सभ्यता, संस्कृति, अपने शास्त्रों, अपने इतिहासों एवं ऐतिहासिक पूर्व पुरुषों का परिचय एवं प्रेम तो दूर रहा, विकृत ज्ञान के कारण उन के प्रति घृणा रहती है। समुद्रपार के मुट्ठी-भर कूटनीतिज्ञ जैसा चाहते हैं, वैसा ही यहाँ के शिक्षित सोचते हैं। उन के द्वारा उत्पन्न की गयी स्थिति का लङ्घन करके अपने स्वतन्त्र भारतीय मस्तिष्क से सोचना इन के सामर्थ्य के बाहर की बात हो गयी है। शिक्षणालयों, औषधालयों, न्यायालयों आदि सार्वजनिक स्थानों के अतिरिक्त प्रकाश, जल एवं सफाई, स्वास्थ्य आदि सभी अनिवार्य विभागों में भी आज विदेशी शासकों का प्रभुत्व है। उच्च श्रेणी के राजा-महाराजा, विद्वान्, धर्माचार्य लोग भी सरकारी उपाधियों से अपने को भूषित करने में गौरव मानते हैं। 'आचार्य' आदि उपाधियों से बढ़कर 'डाक्टर', 'सर', 'हिज होल्डिनेस' का सम्मान होने लगा। अपने यहाँ के ऋषि, महर्षि कितनी भी अच्छी बात कहें, उस पर आदर नहीं। एक साधारणसी बात अगर कोई विदेशी विद्वान् कहे, तो उस के शिष्य बनने के लिए तत्क्षण तैय्यार! यही राष्ट्र के मानसिक पराजय का प्रत्यक्ष चिन्ह है। यहाँ तक कि जो विदेशी शासन के विरोधी हैं, जो स्वराज्य या हिन्दूराज्य चाहते हैं, वे भी विदेशी नीति का ही अवलम्बन करते हैं। शुक्र, बृहस्पति, कौटिल्य, कणिक आदि नीतियों का न उन्हें बोध ही है, न आदर ही। केवल पाश्चात्य आदर्शों, पाश्चात्य नीतियों की भड़ी नकल करके उन से

स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त की जा सकती। दुर्भाग्यवश कांग्रेसी, हिन्दू समावाले, दोनों ही तरह के लोग नगशिक्षा में प्रवाहित होकर पाश्चात्यों की नकल करने पर तुले हैं। अपने देश का भोज, भाषा, वेष-भूषा उन्हें नहीं जँचता। अपने घर की महिलाओं को भी इङ्गलिश लेडी के रङ्ग-रङ्ग में देखना चाहते हैं। वास्तव में यदि भारत में ईसाईमत या इस्लामियत फैल जाय, तो वह भारत ही नहीं रहेगा। यहाँ पर हरदयालजी ने ठीक ही कहा है—“यदि भारत ईसाई हो जाय, तो वह हमारा भारत ही न रह जायगा। जब हमारी ऋषिभाषा, हमारा इतिहास, हमारे पर्व और त्योहार, हमारा नाम और संस्थाएँ न रह जाँय, तब हमारी बला से इस देश में भले कोई भी बसे।”

बुद्धिवादो या बुद्धिशत्रु ?

(होम-द्वन्द्वन-यज्ञ पाप है या पुण्य ?)

(श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी)

अन्तिम निर्णय

'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित अपने लेख में डाक्टर साहब ने प्रासङ्गिक तथा अप्रासङ्गिक जितनी भी बातें उठाई, प्रायः उन सभी का उत्तर यहाँ तक दे दिया गया। शास्त्रों ने होम-द्वन्द्वन-यज्ञ को पुण्य ही बतलाया है, इस में तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं। बुद्धि का निर्णय भी कभी इस के विपरीत नहीं हो सकता। यदि साधारण दृष्टि से देखें, तो भी 'यज्ञों' को किसी तरह 'पाप' नहीं कहा जा सकता। यदि किसी उपासना से कोई फल होता है, तो यज्ञों से भी अवश्य होगा, क्योंकि वे भी एक प्रकार की उपासनाएँ ही हैं। एक अदृष्ट जगत् में आजकल वैज्ञानिकों को भी विश्वास करना पड़ रहा है। आधिमौक्तिक के साथ साथ 'आधिदैविक' तथा 'आध्यात्मिक' जगत् को भी मानना पड़ेगा। यदि ईश्वर में विश्वास है, तो देव-देवियों के अस्तित्व से भी इनकार नहीं किया जा सकता। जब देव-देवियाँ हैं, तब उन से सम्पर्क स्थापित रखने के उपाय भी होने चाहिएँ। इन्हीं में से यज्ञ भी एक शास्त्रविहित उपाय है। 'गीता' में स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है कि इस के द्वारा मनुष्य देवों को प्रसन्न करते और देव मनुष्य की रक्षा करते हैं—“देवान् भावयन्तानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥” भारत में अतिप्राचीन काल से यज्ञों की प्रथा चली आ रही है। भगवान् रामचन्द्र, युधिष्ठिर आदिकों ने कितने ही यज्ञ किये। गुप्त सम्राटों ने भी यज्ञपरम्परा को जारी रखा। समुद्र-गुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त आदि ने बड़े बड़े यज्ञ किये, जिन का शिलालेखों से पता चलता है। इस पर कहा जा सकता है कि यदि शास्त्र के ये देवी साधन उपलब्ध थे, तो भारत आज दूसरों की गुलामी क्यों कर रहा है? इस का सीधा उत्तर तो यह है कि उन साधनों के प्रयोग न करने से। जबतक भारत पूर्ण रीति से धर्मनिष्ठ बना रहा, तबतक उस की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही और सारे संसार पर उस की धाक जमी रही। परन्तु बुद्ध के समय से वेदों का निरादर और उन में बताये साधनों की अवहेलना प्रारम्भ हुई, तभी से बाहरी आक्रमण भी जोर पकड़ने लगे और उस की स्वतन्त्रता नष्ट होने लगी। राष्ट्र का बल है धर्म, उस में शिथिलता आने से आपस ही में फूटफाट आरम्भ हुई। इसी समय मुसलमानों का आक्रमण हुआ, जिन की नीति से धर्म को एक और ठेग पहुँचा। उन के शासनकाल में वातावरण विषुब्ध ही रहा। जब हिन्दुओं ने फिर शिर उठाया, तब अङ्ग्रेजों ने अपनी टाङ्क अड़ाकर कूटनीति द्वारा सारा देश हड़प लिया और पाश्चात्य शिक्षा का ऐसा सुरङ्ग लगाया कि जिस से बहुतों की धार्मिक भ्रष्टाहिल उठी। ऐसी दशा में हम राजनीतिक स्वतन्त्रता को बैठे, तो इस में आश्चर्य ही क्या?

परन्तु यह सब होते हुए भी धार्मिक अनुष्ठानों की परम्परा का देश में सर्वथा लोप नहीं हुआ। जितने अंश में वह चलती रही, उस का फल भी प्रत्यक्ष मिला। राजनीतिक परतन्त्रता अवश्य लज्जाजनक है, उस में पड़े रहकर कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता, पर साथ ही राजनीतिक स्वतन्त्रता ही सब कुछ नहीं है। इतिहास में वह तो बराबर आती-जाती

रहता है। मुख्य तो है आध्यात्मिक अस्तित्व, जो राष्ट्र का प्राण और उस की संस्कृति का आधार है। असीरिया, बैबिलोनिया, मिश्र, यूनान की प्राचीन संस्कृतियाँ आज कहाँ बिलान हो गयीं? पर कुछ बात है कि "हस्तो विटती नहीं हमारी।" यह बात क्या हमारी धर्मनिष्ठा नहीं है? यज्ञों पर आज सब सं बड़ा आक्षेप यह किया जा रहा है कि जब लाखों आदमी मृषों मर रहे हैं, तब प्रजा की ऐसी बहुमूल्य वस्तुओं को धर्म के नाम पर आग में झोंकने से क्या लाभ? पर आजकल सिनेमा, अनेक प्रकार के लताशाओ, शराब, सिगरेट आदि पर जो अपार धन व्यय हो रहा है, इस से क्या लाभ? यज्ञों के सुफल का तो शास्त्र प्रमाण है, पर इन के फल-स्वरूप तो राष्ट्र का पतन प्रत्यक्ष है। यज्ञों में भाग लेनेवाले व्रत, संयम, नियम आदि सं रहते हैं, जिस से उन का अन्तःकरण शुद्ध होता है, भोजन, दान, दक्षिणा से कितने ही लोगों का भला होता है, पवित्र वातावरण का दर्शकों पर भी प्रभाव पड़ता है। यह कहना कि सब ब्राह्मणों के ही पेट में चला जाता है, निर्थक है। यज्ञों का तो नियम है कि जो भी भूखे, दुःखी, प्राणी आयें, उन्हें भोजन, अन्न देना चाहिए। ऐसा न करने से तो यज्ञ ही नहीं पूरा होता। कुण्ड, मण्डपादि-निर्माण के सम्बन्ध में पहला सत्कार शूद्रों का, सामग्री आदि खरीदने से दूसरा सत्कार वैश्यों का, रक्षकदृष्टि से तीसरा सत्कार क्षत्रियों का और अन्त में दक्षिणा द्वारा ब्राह्मणसत्कार चतुर्थ कोटि में है। आज ब्राह्मणों से बढ़कर और कौन दीन है, उन का सत्कार दूसरों को क्यों खटकता है? इसतरह चारों वर्णों, स्त्रियों, पुरुषों, बालकों, वृद्धों, आगत अतिथियों, सभी का तो आदर-सत्कार होता है। इस के साथ ही मन्त्रों के साथ विधिपूर्वक अग्निमुख द्वारा सम्पूर्ण देवताओं एवं देवाधिदेव भगवान् को तृप्त करने के लिए कुछ आहुतियाँ दी जाती हैं। वस, क्या इतने ही से यज्ञ 'पाप' हो जाता है? वास्तव में तो यज्ञों का अधिक द्रव्य मनुष्यों को ही तृप्त करता है, केवल थोड़ा सा अंश अग्निमुख में जाता है, जिस से भा लाभ होता है। तभी तो स्वयं भगवान् कृष्ण ने 'गीता' में श्रीमुख से कहा है कि जो यज्ञ से बचा हुआ खाते हैं, सब पापों से मुक्त हो जाते हैं—“यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।” इतने पर भी यज्ञों को 'महापाप' बतलाना अपनी अनभिज्ञता का परिचय देना है।

यज्ञों के विधि-विधान में प्रतीकों की भाषा का ज्ञान भरा हुआ है, जिन से प्रकृति के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन में बड़ी सहायता मिलती है। किस का क्या फल होता है यह कहना बड़ा कठिन है। मात्रा में रत्तो भर रस या सरसों से भी छोटी होमियोपैथिक की एक गोली कभी कभी क्या चमत्कार दिखलाती है? फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि शास्त्रों में जिन उपासनाओं का विधान है, उन का फल कुछ भी नहीं है? कोई भी शास्त्रवादी यह नहीं कहता कि सभी सब कुछ छोड़कर सदा माला ही जपा करें या अग्नि में हवन ही किया करें। उन का तो इतना ही कहना है कि लौकिक प्रयत्नों के साथ दैवी उपायों को भी करते चलो, इस से सफलता को अधिक सम्भावना है। उलटी शिक्षा हाँते हुए भी दैवी उपायों में अब भी लोगों का विश्वास बना हुआ है। श्रीसखारामजी अथर्ववेदों से ज्ञात हुआ कि पिछली बार जब डाक्टर साहब कठिन रोग से पाड़ित थे, तब आप के यहाँ भी अनुष्ठान चल रहे थे और ग्रह-पूजन तथा हवन भी हुआ था। इतना ही नहीं, अनुष्ठान समाप्त करके जब अथर्ववेदीजो अभिषेक के लिए आप के पास गये, तब आप ने अपने सब वस्त्र उतार दिये और कहा कि “जल के कण शरीर के प्रत्येक अङ्ग पर पड़ने दो।” अथर्ववेदीजो की बात पर विश्वास न करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। परन्तु स्वस्थ होने पर आप ने पत्रों में डाक्टरों को तो धन्यवाद दे बाला, पर अथर्ववेदीजो के लिए कृतज्ञता-प्रदर्शक एक शब्द भी नहीं कहा। क्या इसीलिए कि ऐसा करने से लोगों को आप की बौद्धिक कमजोरी का पता लग जाता या इसलिए कि आप की राय में केवल चिकित्सा से ही लाभ हुआ? यदि यही बात है, तो इस का प्रमाण क्या? आप के बुद्धिवादी मुक्किल के वृद्ध पिता राजा बलदेवदासजी बिड़ला तो बराबर कोई न कोई अनुष्ठान करवाते ही रहते हैं। उन के सुपुत्र घनश्यामदासजी या आप ने उन को यह समझाने का कभी प्रयत्न क्यों नहीं किया कि “इस बुढ़ापे में आप यह क्या पाप कर रहे हो?”

फिर धार्मिक प्रश्नों में सब से अधिक आवश्यकता है उदारता और

सहिष्णुता की। आप तो पत्रों 'थियासोफिस्ट' हैं और 'थियासोफी' का यह पहला उसूल है। यदि आप को यज्ञों में विश्वास नहीं है, तो मत कीजिये, पर अपना मत दूसरों पर लादने का प्रयत्न क्यों करते हैं? इतना ही नहीं, आवेश में आकर साधारण शिष्टता को भी आप ताक पर रख देते हैं। आप सरीखे वयोवृद्ध विद्वान् को क्या यह शोभा देता है?

भारत के नये दार्शनिक

(श्री शिवशरण जी)

३.

अनेक हिन्दू इन अमात्य अनधिकारी दार्शनिकों को विदेशी सभा में देखकर सोचने लगते हैं कि इन लोगों द्वारा हमारा देश या हमारी सभ्यता को कुछ मान मिल जायगा। इन दार्शनिकों के उपदेश में त्रुटि तथा असत्य देखने पर भी वे ठीक नहीं समझ सकते कि कहाँ तक उन के द्वारा हिन्दूदर्शन का असत्य तथा निर्थक चित्र खींचा जा रहा था। अपने सत् ज्ञान को आधार रखकर वे यह नहीं देखते कि यहाँ आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं है, जिस के बिना पूरा दर्शन निरर्थक या दूसरे अर्थ का हो जाता है। विदेशी भाषाओं के पूरे ज्ञान के अभाव में सनातनी विद्वान् यह नहीं देख सकते कि यहाँ अनुवाद 'विवाद' हो गया है। शब्दों के धातु भिन्न होने के कारण यदि अनुवाद में उन के साधारण प्रयोग का अर्थ लगा दिया जाता है, तो दार्शनिक दृष्टि से सब अर्थ उलट-पलट जाता है। यह बात मन में रखनी चाहिए कि अभी तक संस्कृत शब्दों के विदेशी भाषाओं में अनुवाद का ऐसा कोई भी कोश नहीं है, जो संस्कृत और पश्चिमी भाषाओं के शब्दों के धातुओं के अनुकूल दार्शनिक प्रयोग के लिए बनाया गया हो। इसलिए संस्कृत से कोई भी अनुवाद करने के लिए हर एक अनुवादक को बड़े परिश्रम से अपने कोश को बनाना पड़ता है और धातु के अनुसार तुल्य शब्द की खोज करनी पड़ती है।

इस के अतिरिक्त अङ्ग्रेजी भाषा में हिन्दूदर्शन का असत्य चित्र बड़ा हानिकारक हो गया है, क्योंकि आजकल बहुत से हिन्दू युवक अङ्ग्रेजी भाषा द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करते हैं और अपने धर्म, संस्कृति आदि विषयों की इस विचित्र परिवर्तित रूप में शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस का प्रभाव अवश्य ही उन के मन पर पड़ता है और जैसे अङ्ग्रेजी में अक्षरों की कमी के कारण वे लोग विदेशियों की तरह 'राम', 'शिव' आदि को 'रामा', 'शिवा' आदि उच्चारण करने लगें, वैसे ही विदेशी दार्शनिक भाषा की कमियों के कारण सनातनधर्म के विषय में अनेक असत्य तथा निर्थक बात बोलने लगते हैं। फिर बहुत से लोगों का विश्वास है कि वर्तमान 'हिन्दू-ईसाई' तथा वैज्ञानिक दर्शनों का मिश्रित रूप, जिसे विदेशी भाषा में लिखनेवाले नये ढङ्ग के दार्शनिक हिन्दूदर्शन के नाम से प्रकाशित करते हैं, वास्तव में सनातनधर्म का रूप है। यदि परम्परा से शास्त्रार्थ-प्राप्त कोई अधिकारी विद्वान् इस के विरुद्ध बोलता है, तो वर्तमान 'शिक्षित' लोग उस का अपमान करते हैं और उस को गँवार, असभ्य, अपण्डित कहते हैं।

ऐसी परिस्थिति में विदेशों के बहुतसे लोग विश्वास करने लगते हैं कि वास्तव में सनातनधर्म का तत्त्वज्ञान सर्वथा नष्ट हो गया। परन्तु इधर पाश्चात्य संसार में दो ऐसे व्यक्ति हुए, जो लोगों को स्मरण कराने लगे कि एक, अविनाशी, नित्य वेद का अस्तित्व अनिवार्य है और अब भी इस वेद की अविच्छिन्न परम्परा के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इस को न्यायपूर्ण उत्तम युक्तियों से इन्होंने दिखलाया, जिस का प्रभाव भी बहुत पड़ा। उन का कहना है कि इस नित्य वेद के बिना विश्वरचना असम्भव तथा निरर्थक है और विश्व के आधारभूत वेद का ज्ञान प्राप्त करने लिए एक अनादि परम्परा का अस्तित्व अनिवार्य है। अधिकार, दीक्षा आदि क्रम के बिना वह परम्परा नहीं चल सकती। इस समस्त वेदादि शास्त्रों के जो पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद हुए, उन का इन लोगों ने बहुत जोर से खण्डन किया। उन का कहना है कि यह सब उन अनधिकारियों की असत्य कल्पना है, जिन्होंने ने कभी हन शास्त्रों के रहस्यमय तत्त्व की शिक्षा प्राप्त नहीं की और इन शास्त्रों का अर्थ जो किसी तरह से समझ नहीं सकते। उन से पाश्चात्य संसार को यह मालूम हुआ कि प्राचीन शास्त्रों के अबतक

नये नये सम्प्रदायों द्वारा या विश्वविद्यालयों के संस्कृत एवं दर्शन के अध्यापकों द्वारा जो कुछ अनुवाद किये गये, वे सब विश्वासयोग्य नहीं हैं और शास्त्रों के विषय में अनेक वर्तमान हिन्दू दार्शनिक लेखकों की लम्बी से लम्बी जो व्याख्याएँ हैं, वे अनधिकारियों की कल्पनामात्र हैं। परन्तु अभी तक अधिकारानुसार परम्पराप्राप्त सनातन विद्या का तत्त्व जाननेवाले ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो नैदादि शास्त्रों का अर्थ बतला सकते हैं। इन अधिकारियों के लेख या भाषण विदेशी भाषाओं में अनुवादित न होने का कारण यह हो सकता है कि अधिकारी लोग हम में विशेष प्रयोजन नहीं देखते या दुमाधिया लोग उस का अनुवाद करना ही नहीं चाहते। विचित्र बात यह है कि इन दोनों विद्वानों में स जिन्होंने विदेशों में सनातनधर्म का इतना प्रचार किया और संस्कृत-शब्दों के अनुवाद का बितकुल नया ढङ्ग दिखलाया, एक तो फ्रांस देश के रेने गेनो नामक मुसलमान हैं और दूसरे हैं लड्डा द्वीप के मिश्रित जाति से उत्पन्न अमेरिका में रहनेवाले श्री आनन्दकुमार स्वामी। परन्तु दुःख है कि भारत में इन दोनों विद्वानों की आवाज़, जिन के द्वारा प्राचीन हिन्दूपरम्परा विदेशों की अनेक दार्शनिक सभाओं में विद्या का उच्च से उच्च शिखर मानी जाने लगी है, सुना नहीं जाती और हिन्दूदर्शन को कुरूप करनेवालों का आदर-सत्कार किया जाता है। प्रायः लोगों का विश्वास है कि अन्य देशों में नये दार्शनिकों का नाम होता है, परन्तु यह अत्यन्त असत्य है। आश्चर्य है कि ऐसा भ्रम फैल जाने पर भी सनातन विद्या के अधिकारी लोग चुप रहने को उचित समझते और सनातनधर्म के आधारभूत सिद्धान्तों के इस असत्य चित्र को नष्ट करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते।

सौभाग्य से अब यह स्थिति बदल रही है। प्राचीन ऋषियों के कई अधिकारी शिष्य आश्चर्यजनक गुण और विभूतियों से परिपूर्ण कई सन्त अपने निःशब्द, शान्त, एकान्त निवास को छोड़कर मानवजाति के कल्याण के लिए आ गये हैं। इन की शक्तिशाली आवाज़ प्रकाशमान सत्य को बतलाने लगी है, जिस को कूटनीतिज्ञ वर्तमान दार्शनिक छिपाने का प्रयत्न करते थे। 'धर्मसङ्घ' के पथप्रदर्शक के पवित्र चरणों में अतिनम्रता से नतमस्तक होना पड़ता है। उन की कृपा से सत्य का दीपक सब हिन्दुओं के सामने चमकता हुआ प्रकाशित होता है और मार्ग स्पष्ट हो जाता है। समस्त मानवजाति के कल्याण का एक ही मार्ग—शुद्ध सनातनधर्म—इन चरणों की अनुकम्पा से अपने सुन्दर रूप में शोभित होता है और वर्तमान शुष्क वैज्ञानिक मन के लिए भी, जो भावपूर्ण विश्वास से डरता है, शुद्ध स्फटिक के समान युक्तियुक्त, न्याययुक्त, अनेक प्रमाणसहित, कठिन से कठिन समस्याओं का समाधान सरल प्रतीत होता है। आजकल के दार्शनिक सब सन्नत तोड़कर नये नये अन्विकारमय मार्ग खोलना चाहते हैं। परन्तु 'धर्मसङ्घ' के निश्चल सिद्धान्तों को ग्रहण करके कठिन से कठिन समस्याओं को खोलने के लिए प्रकाशमय, सरल, नित्य मार्ग सन्त लोग दिखला सकते हैं।

अब सब हिन्दुओं के लिए समय आ गया है, जब उन्हें यह निश्चित करना चाहिए कि हम किस मार्ग पर चलें। सनातन विद्या के मार्गप्रदर्शकों के पीछे चलें, जिस की कृपा से पूर्व काल में भारत ने पूरे संसार के मानसिक, धार्मिक तथा भौतिक उन्नति का पथप्रदर्शन किया और भविष्य में भी जो मनुष्यजाति के कल्याण का प्रकाशमय दीपक रहेगा या इस प्राचीन परम्पराप्राप्त विद्या को छोड़कर स्वयंकृत अङ्गरेजो-हिन्दुस्तानी नये ब्राह्मण के पीछे दौड़कर उस के साथ असत्य और बनावटी अँधेरे वक्र मार्ग में चलें और भारतवर्ष को अन्ध देशों के साथ विकास, विज्ञान आदि भ्रमपूर्ण विश्वास के अशुभ मार्गों द्वारा मानसिक, धार्मिक और इन के फलभूत भौतिक सत्यानाश की ओर ले चलें।

शब्दों के अर्थ का उल्लङ्घन करके तर्क-प्रतिर्तर्क करना अवश्य ही बुद्धि-मानी नहीं, निरर्थक चेष्टा है। कागज की कमती होने पर भी डाक्टर भगवानदास जी के पक्ष का खण्डन करने में 'सिद्धान्त' के अनेक अमूल्य स्तम्भ दिये गये। फिर भी 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद' यह शीर्षक देखकर प्रश्न होता है कि क्या आगे जाने से कोई लाभ हो सकता है? 'शास्त्र' और 'बुद्धि' इन शब्दों के अर्थ पर विचार करने पर क्या ऐसा प्रश्न रह सकता है?

शास्त्र वह है, जिस से शासन हो। किस का शासन? सर्वज्ञ ईश्वर का। यदि यह बात मान ली जाय कि शास्त्र मनुष्य की कल्पनामात्र है, तो वास्तव में शास्त्र शास्त्र नहीं और बुद्धिमान् पुरुष उस को शास्त्र नहीं

कहेगा। अब बुद्धि (बुध-क्तिन्) अन्तःकरण का वही अङ्ग माना जाता है, जिस से सदसत्-विवेक होता है। इसलिए दो तरह की बुद्धि हुई, एक तो सुबुद्धि, जो सत् को सत् देखती है और दूसरी दुर्बुद्धि, जो असत् को सत् समझती है। प्रायः जहाँ केवल 'बुद्धि' शब्द ही का प्रयोग होता है, तो वह सुबुद्धि के अर्थ में है। सुबुद्धि तथा सत्-विवेक और सर्वज्ञ ईश्वर के सत् शब्द—शास्त्र—में इतना भेद है कि बुद्धि का सत् ज्ञान सीमित है और ईश्वर का सत् ज्ञान असीमित है, परन्तु वे विरुद्ध नहीं हो सकते। यदि बुद्धि और शास्त्र दूसरे के विरुद्ध माने जायें, तो बुद्धि शब्द को दुर्बुद्धि के अर्थ में लगाना पड़ता है। यदि ऐसी बात है, तो दुर्बुद्धि के बकौल से इतना तर्क-वितर्क करने से क्या लाभ? (इस लेख के लेखक हिन्दूधर्म-निष्ठ एक विद्वान् हैं, जिन के नाम से हमारे बहुत से पाठक परिचित हैं, सं०।)

शुभ समाचार

महाधिवेशन और महायज्ञ—महाधिवेशन की भूमि पर अभी से दिन में दर्शकों की भीड़ लगी रहती है। स्वागतमन्त्री वयोवृद्ध पं० काशी-राम जी सवेरे ६ बजे ही कार्यालय में पहुँच जाते हैं। कोवाध्यक्ष सेठ बाबूलाल जी ढाँढिनियों ने तो अपनी पासवाली कोठी में डेरा हो डाल दिया है। स्वागताध्यक्ष सेठ गोरेशङ्करजी गोयनका हर समय इसी धुन में लगे रहते हैं। सरकारी अफसर, नगर के गृहस सभी अपना सहयोग प्रदान कर रहे हैं। साधारण जनता में बड़ा उत्साह है, कोई आसन दे रहा है, कोई माला प्रदान कर रहा है, कोई मण्डप के लिए बांस ला रहा है तो कोई फूस का प्रबन्ध कर रहा है। केवल मुट्ठी भर लोग अपनी तान अलग अलग रहे हैं, पर उन की सुनता ही कौन है? यज्ञ में ब्राह्मणों को देने के लिए एक ही प्रकार के गण्डे, धोती और दुपट्टे बनवाये गये हैं, जिन के किनारे पर 'धर्मसङ्घ' बुना हुआ है। अधिवेशन के लिए ३०० × ३०० फुट का 'सभामण्डप' बन रहा है, जिस में १०० × ६० फुट का मञ्च होगा। मण्डप के सामने ही गङ्गाजी बह रही है और दाहिनी ओर 'यज्ञमण्डप' है। यहाँ के धर्मनगर का दृश्य अद्भुत हो रहेगा। शाखासभाओं की प्रतिनिधियों की सूची शीघ्र ही कार्यालय में भेजनी चाहिए। अधिवेशन में जो कोई प्रस्ताव पेश करना चाहें, उन्हें वे शाघ्र ही भेजने की कृपा करें, जिस में उन पर पद ही से पूरा विचार कर लिया जाय।

धर्मसङ्घ सप्ताह—गोपाष्टमी बुधवार से 'धर्मसङ्घ सप्ताह' आरम्भ हो रहा है। उस को बड़े उत्साह से मनाना चाहिए। महाधिवेशन की सफलता की यह भूमिका है। इस में सङ्घ के उद्देश्यों का खूब प्रचार और उस की नीति को कार्यान्वित करने के लिए पूरा प्रयत्न होना चाहिए। काशी में इस का कार्यक्रम इस प्रकार निश्चित किया गया है। प्रतिदिन प्रभातफेरी, अष्टमी बुधवार को विधिवत् गो, गोवत्स और गोपूजन, तथा उस दिन पञ्चाङ्गाघाट, नवमी गुरुवार को दशाश्वमेध, दशमी को अस्तीघाट और द्वादशी को टाउनहाल के मैदान में ४ बजे तीसरे पहर सभाएँ होंगी, जिन में काशी के विशिष्ट विद्वान् सभापति होंगे। त्रयादशी से पूर्णिमा तक धर्मनगर के सभामण्डप में सभाएँ होंगी। सभी सभाओं में श्रीस्वामी करपात्रा जी के भी प्रवचन होंगे।

'हिन्दू कोड विराधा सम्मेलन'—इस के लिए अलग से एक 'स्वागत-समिति' बन गयी है, जिस की ओर से प्रकाशित निमन्त्रण-पत्र के अन्त में कहा गया है—“यह कार्य आप ही का है, सम्मेलन में आप अवश्य पधारें और अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान करें। समय बहुत कम रह गया है। सब को सूचना दे सकना सम्भव नहीं है, अतः आप से यह भी प्रार्थना है कि जिन संस्थाओं तथा व्यक्तियों को आमन्त्रित करना आप आवश्यक समझते हों, उन का पता वापसी डाक से भेजने की कृपा करें और अपने आने के सम्बन्ध में भी सूचना दें। यदि किसी कारणवश आप स्वयं उपस्थित न हो सकें, तो अपना सन्देश अवश्य भेजें।”

अखण्ड भारत सम्मेलन—‘पाकिस्तान-योजना’ के विरोध में एक ‘अखण्ड भारत सम्मेलन’ करने का भी आयोजन हो रहा है। जिस हिन्दूसभा के प्रधान श्री माधवप्रसाद खन्ना तथा हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री जीवनशङ्कर जी याज्ञिक इस के लिए बड़ी तत्परता दिखला रहे हैं।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

ब्राह्मणों की कूटनीति ?

(श्री स्वामी करपात्रीजी)

२

कूटनीतिज्ञ पाश्चात्यों ने धर्म का भी महत्व समझा है। इस का भाव कमजोर सिद्ध करने के लिए वे इसाईयों को भारत में प्रचार के लिए पूर्ण धुविधा देते हैं। कई गुप्त एवं रहस्यपूर्ण संस्थाओं के द्वारा यहाँ धर्मप्रचार का कार्य चल रहा है। वेदादि संस्कृत साहित्य के अध्ययन में भी कितने ही पाश्चात्यों ने पूर्ण परिश्रम किया है, ग्रन्थ भी लिखे हैं, ऊपर से देखने पर यहाँ के शास्त्रों एवं आध्यात्मिक ज्ञान की भूरि भूरि प्रशंसा भी की है। परन्तु अन्त में अपने लक्ष्य—ईसाईमत—के प्रचार के लिए वेदादि शास्त्रों एवं पूर्वजों से घृणा पैदा करने की पर्याप्त सामग्री तैयार कर दी है। हमारे देश के लोग शास्त्रों एवं धार्मिक भावनाओं को व्यर्थ की चीज समझते हैं, परन्तु पाश्चात्यों का ऐसा भाव नहीं है। संक्षेप में शिक्षा, साहित्य, वातावरण ही योग्य या अयोग्य व्यक्तियों का सृजन करते हैं। इन में अयोग्य को योग्य एवं योग्य को अयोग्य बनाने का सामर्थ्य होता है। मेड़ों के सहवासमात्र से सिंह के बच्चे नै अग्ने को मेड़ समझ लिया था। व्याधों के सहवासमात्र में राजकुमार ने अपने को व्याध मान लिया था। अनात्मा के सान्निध्यमात्र से आत्मा अनात्मप्राय हो रहा है। आज विदेशी ढङ्ग के सिन्हाकेन्द्रों का बोलवाला है। उस से सम्बन्ध स्थापन किये बिना, उस की 'डिग्री' बिना, कोई अपने या दूसरे को शिक्षित ही नहीं मानता। साहित्य भी विदेशी ढङ्ग के, सहस्रों पत्र-पत्रिकाएँ, रेडियो एवं सिनेमा, होटल, डान्सहॉल, किंवहुना आज तो प्रत्येक नगर, प्रत्येक स्थान विदेशी भावना के प्रचार का केन्द्र बना हुआ है। हमारे देश के लोगों का जागना भी स्वप्न के जागने के समान ही है। इपीलिए उन के प्रबोध में भी भ्रान्ति का बहुत अंश है। उन्होंने अपने परमहर्षियों को भी भ्रम से शत्रु समझ लिया है। शत्रुओं की कूटनीतियों को बहुत अंश में समझकर भी अंशतः अपने को भी उन का शिकार बनने दिया है। सच्चे साधु और दम्भी में पर्याप्त समानता होते हुए भी महान् भेद है, कुछ दम्भियों का अनुभव होने पर तत्सामान्यात् सच्चे साधुओं को भी दम्भी समझ लेना मूल है। इसीतरह आधुनिक छद्ममय कूटनीतिज्ञों की स्थिति को देखकर अपने ऋषियों, महर्षियों, पवित्र ब्राह्मणों को छद्ममय कूटनीतिज्ञ समझ लेना महती भ्रान्ति है। स्पष्ट है कि अन्त में दम्भियों के दम्भ का भेद खुल जाता है। साथ ही उन का कुछ आर्थिक लाभ लक्ष्य होता है। परन्तु परमत्यागी महर्षियों, महत्परा ब्राह्मणों का लौकिक लक्ष्य क्या हो सकता था ?

बहुत से लोग कहते हैं कि "कुछ ब्राह्मण-समूह ने लोक-प्रतारणा के लिए महातपस्वी, एकान्तवासी, परमत्यागी होकर वेदों का निर्माण किया, अपने-आप को उन का निर्माता भी न कहकर निष्काम होकर वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान में स्वयं लग गये और दूसरे समूहों में भी उन का प्रचार करने लगे, वेदों की अपौरुषेयता का ख्यापन करके अपनी एवं अपने वंशजों की महिमा का खूब विस्तार किया।" परन्तु उनके इस कथन में कुछ भी सार नहीं है। आज कोई एक छोटी सी पुस्तिका या लेख भी लिखता है तो उस में अनेक उपाधियों के साथ अपने नाम का उल्लेख करता है। जो वेद जैसे गम्भीर ग्रन्थ का निर्माण करके भी अपना नाम नहीं चाहते, उन का दम्भ कैसे कहा जा सकता है ? साथ ही आजीवन वेदों का अध्ययन करना, कठिन व्रतों का पालन करना, अपने वंशजों को भी तप, त्याग आदि हो सिखाना, राज्य की अपने आप परवाह न करके दूसरे वर्ग को उसे प्रदान करना, धन का स्वानित्व तीसरे दल को देना, कामकाज का अधिकार चौथे दल को देना, अपने वर्ग को अकिञ्चन रहने का उपदेश देना, इस में सिवा पारलौकिक तात्त्विक लाभ के और क्या लाभ हो सकता है ? जिन

को अर्थ, भूमि, शासन आदि का लोभ नहीं, उन में निरर्थक दम्भ की कल्पना समुचित नहीं है। परिणाम भी स्पष्ट है, सैकड़ों वर्ष से जो कूटनीति का प्रयोग करते हैं, उन्हें भी ब्राह्मणों का स्थान नहीं प्राप्त हो सका है। डर कर अङ्ग्रेजों का कोई भले ही सम्मान कर दे, परन्तु हृदय से उन्हें सम्मान नहीं मिलता, यह अङ्ग्रेज लोग स्वयं अनुभव करते हैं। ब्राह्मणों की किसी प्रकार की लौकिक शक्ति न होने पर भी उन का, विशेषतः सदाचारी ब्राह्मणों का, सब लोग हृदय से सम्मान करते हैं। आर्यों का बाहर से आकर अनार्यों पर विजय प्राप्त करने की कथा केवल कल्पना है। वेद, रामायण, भारतादि आर्ष इतिहासों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि आर्यों का आदि निवासस्थान भारतवर्ष ही था और यह उन की निजी भूमि है। वे यहाँ के अतिथि नहीं, किन्तु मालिक हैं। हमारी अपनी भारतीय राजनीति में किसी देश को पराजित करके उस की भूमि छीन लेना, वहाँ के निवासियों को जङ्गलों में खदेड़ देना, उन्हें अस्पृश्य घोषित करना आदि मान्य नहीं है। यह मिथ्या आरोप कूटनीतिज्ञों के लगाये हुए हैं। श्रीगमचन्द्र ने बालि को जीतकर उस का राज्य उस के माई सुग्रीव को दिया, रावण को जीतकर उस का राज्य स्वयं न लेकर विभीषण को दिया, श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को जीतकर उस का राज्य उस के उत्तराधिकारी सहदेव को दिया, कंस को जीतकर उस के पिता को दिया, भीम को जीतकर उस के पुत्र को राज्य दिया। सर्वत्र उत्खातप्रतिगोपित (उखाड़ कर फिर लगाये गये) शालिवाह्य के समान अन्यायी राजाओं को दण्ड देकर पुनः प्रतिष्ठित करने की हो नीति यहाँ वर्तनी गयी। ऐसी स्थिति में 'अनार्यों को जीतकर आर्यों ने निकाल दिया' इत्यादि उक्तियाँ अनर्गल प्रलाप के सिवा कुछ भी नहीं हैं।

आर्यलोग विजित जाति को अस्पृश्य मानने लगे, यह आरोप निराधार है। हमलोग जैसे पशु-पक्षियों में, गो, गर्दभ, काक, पिक आदिकों के समान मनुष्यों में भी जातिभेद मानते हैं, वैसे ही तत्वावबोधक शास्त्र के आधार पर ही स्पर्शास्पर्श की व्यवस्था मानते हैं। जो शास्त्रानुसार अस्पृश्य हैं, वे विजेता भी अस्पृश्य ही हैं। सच्चे अर्थ में हिन्दू सैकड़ों वर्ष से मुपलान्त एवं अङ्ग्रेज विजेताओं के सम्पर्क में रहते हुए भी उन्हें अस्पृश्य ही मानते हैं। बड़े लोग अतिप्रयोजनवशात् उन से मिलने पर सचैल स्नान करते हैं। शुद्ध आचार-विचारवाले विजित का भी आदर करते हैं, जैसा कि रामचन्द्र का विभीषण आदि के साथ व्यवहार स्पष्ट है, सारांश यही है कि ब्राह्मणों का गुरुत्व उन की कूटनीति से नहीं, अपितु उन के त्याग एवं उन की साधुता से हुआ है। वे प्रायः स्वयं विरक्त, निःस्पृह, अप्रवृत्त, वस्त्रधारी, कन्द-मूल फलाशी रहकर तपस्या करते थे, विश्व के हित में सर्वदा तल्लीन रहते थे और कभी संमान को कामना नहीं करते थे—“संमानाद्ब्राह्मणो-नित्यमुद्बिजेत विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥” ब्राह्मण सदा संमान से घबराता है। विरक्त, निःस्पृह होने से समाधान उस का स्वाभाविक गुण था। जिस के कारण लौकिक-पारलौकिक सभी स्थूल-सूक्ष्म विषयों का उसे सम्यक् बोध रहता था। यथासमय उस के सद्गुणयोग में भी वे तत्पर रहते थे। इसीलिए बड़े बड़े चतुर राज-नीतिज्ञ चक्रवर्त्तों लोग भी उन का सम्मान करते थे। मनु, दिलीप, नीतिज्ञ चक्रवर्त्तों लोग भी उन का सम्मान करते थे। ब्राह्मणों का सम्मान मान्वाता, अज, दशरथ, राम, युधिष्ठिर, कृष्ण, सभी ब्राह्मणों का सम्मान करते थे, उन के कृतज्ञ रहते थे, उन के गुणों का पर्याप्त मात्रा में वर्णन करते थे। समाधि, तुलाधार, विदुः, धर्मव्याध आदि अन्य वर्ण के तत्त्वज्ञ चतुर लोग भी ब्राह्मण की महिमा गाते थे। बलि, रावण आदि असुर, राक्षस लोग भी किसी न किसी रूप में ब्राह्मण की धृक् मानते थे। भारतवर्ष की यह कुटिल नीति नहीं, किन्तु बड़ी सरल नीति रही कि सम्पूर्ण देश को एक कुटुम्ब माना जाता था। अपना अपना उत्तरदायित्व समझकर सावधानी से कार्य करने के लिए विभिन्न श्रेणी के लोगों पर समझकर सावधानी से कार्य करने के लिए विभिन्न श्रेणी के लोगों पर विभिन्न कानूनों का भार डाल दिया गया था और वस्तुस्थिति तथा सुविधा के लिए उस उस श्रेणी का वह वह अधिकार जन्मसिद्ध मान लिया गया

था। ज्ञान का अध्यक्ष ब्राह्मण को, बल का अध्यक्ष क्षत्रिय को, धन का अध्यक्ष वैश्य को और सेवा का अध्यक्ष शूद्र को निश्चित किया गया। ज्ञान आदि यथासम्भव सर्वत्र होने चाहिए, परन्तु प्रधान रूप से उन के अर्जन में नियत श्रेणियाँ ही अधिकारिणी हैं। इन्हीं से सुविधा रह सकती है। किसी न किसी रूप से यह विभाग सर्वत्र वर्तमान है। भेद यही है कि भारतवर्ष में जन्मसिद्ध विभाग के अनुसार योग्यता बढ़ाने पर ही जोर दिया जाता है, अन्यत्र 'कर्मणा वर्ण' का अव्यवस्थित दुर्निर्णय करना पड़ता है। समाज में सभी यदि एक ही कार्य करने का आग्रह करें, तो कार्य नहीं चल सकता। बुद्धिजीवी और श्रमजीवी के खान-पान, रहन-सहन में अन्तर भी अवश्य होगा। स्वाध्याय में तल्लीन व्यक्ति की पवित्रता और ढङ्ग की होगी, चर्मादि या मलपकषणादि के कार्य में लगे हुए व्यक्तियों की पवित्रता और ढङ्ग की होगी। अपने अपने स्वभावज कर्मों में सब सन्तुष्ट रहते हैं। परस्पर प्रेम रखते हुए भी व्यवहार में सब को भेद रहेगा। हर एक विचारशील समाज में यह भेद रहेगा। इतने से ही उन में विजेता एवं विजित की कल्पना करना मूर्खता है। यदि ब्राह्मण विजेता होने के भाव से छद्मद्वारा अपनी पूज्यता सम्पादित करता, तो राज्य और धन को अपने पास रखता, अनेकों बार चरणों में समर्पित राज्य एवं अनन्त सामग्रियों को ठुकरा न देता, अपने वंश के लोगों को तप, त्याग में लगाने का प्रयत्न न करता। अतः अपने परमहितैषी ऋषियों एवं गुरुओं पर कूटनीति से जाल बिछाने का आक्षेप करना ही वर्तमान विजेताओं की नीति का शिकार बनना है। "आप के पूर्वज विजेताओं ने विजितों पर अत्याचार किया है, उन का सामाजिक, नागरिक अधिकार छीनकर उन्हें अस्पृश्य एवं जङ्गली बना दिया है, मनुस्मृति आदि रूप में उन के लिए काले कानूनों का रूप बना दिया है। हम विजेता हैं, फिर भी आप की उन्नति में लगे हैं, आप को शिक्षित बनाते हैं, आप का इतिहास लिखते हैं। हम आप के स्वत्वापहारी नहीं, किन्तु आप की चीज आप को देना चाहते हैं" विजेताओं की इन झूठी बातों में आकर लोग उन के जाल में फँस जाते हैं।

समन्वयवाद

(आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्य स्वामी)

इतिहास के अध्ययन से पता लगता है कि सृष्टि के आरम्भ-काल से ही धर्म-वाङ्मय के रहस्य-ज्ञान पर आधारित निवृत्ति-प्रस्थान और सदस्य-ज्ञान पर अवलम्बित प्रवृत्ति-प्रस्थान का इस जगत् में अस्तित्व चला आ रहा है। धर्म-वाङ्मय में प्रधानभूत अनन्त, अपौरुषेय वेद सतोऽणुणी, रजोऽणुणी और तमोऽणुणी—तीनों ही प्रकार के लोगों के योग्य अलग अलग साधनों का विधान करते हैं। उपदेश-परम्परा के भेद के कारण निवृत्ति-प्रस्थान के कई रूप समाज के सामने आये, जिन के नाम पर ही आगे चलकर अन्य प्रस्थानों की स्थापना हुई। 'महाभारत' में "सांख्य योगः पञ्चरात्र वेदाः पाशुपतं तथा" कहते हुए सांख्य, योग, पञ्चरात्र, वेद और पाशुपत प्रस्थानों का परिचय दिया गया है। बार में उक्त प्रस्थानों की सीमा के अन्दर दर्शनों की स्थापना हुई और बाहर नवीन मतों का उदय हुआ। प्रत्येक का अलग अलग स्वतन्त्र साहित्य बना। इस साहित्य को देखने से तथा तत्कालीन दर्शनों का परिचय देने के लिए लिखे गये 'प्रपञ्चहृदय', 'सर्व-दर्शनसङ्ग्रह' आदि-ग्रन्थों पर विचार करने से यही फल निकलता है कि सारे ही दर्शन और मत अलग अलग हैं। प्रत्येक के सिद्धान्त अलग अलग हैं। प्रत्येक ने तत्कालीन अन्य मतों अथवा दर्शनों के खण्डन करने का भी प्रयत्न किया है, अतएव सामरस्य की भावना की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखायी देती। उदाहरणार्थ वेदान्त के भाष्यकारों ने 'ब्रह्मसूत्र' के ही आधार पर नास्तिक दर्शनों का ही नहीं, वरन् सांख्य, योग आदि आस्तिक दर्शनों का भी खण्डन किया है। खण्डन यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। ब्रह्म का इस चेतनाचेतनात्मक जगत् के साथ सम्बन्ध बतलाते समय ये भाष्यकार अद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि में से किसी एक वाद का समर्थन करते हुए अपने अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करते हैं। इसलिए इन के अन्य वादों का खण्डन भी करना पड़ता है। इस प्रकार इन वादों तथा सम्प्रदायों को भी अलग अलग ही मानना पड़ता है।

उपर्युक्त पद्धतियों का आशय यही है कि ज्ञानक्षेत्र में प्रत्येक प्रस्थान, दर्शन तथा मत के लिए अलग अलग स्वतन्त्र स्थान प्राप्त है। जिस व्यक्ति ने जिस प्रस्थान, दर्शन अथवा मत को अङ्गीकार किया, उस को उसी के सिद्धान्तों का मानना आवश्यक है। ऐसा ही सर्वत्र देखा भी जाता है। इस के अतिरिक्त जो प्रचारक हैं, उस को प्रचारक की हैसियत से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करना पड़ता है। ऐसा करने में यदि किसी अन्य सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है, तो वह दांषावह नहीं और न ऐसा करना दुर्जनता ही है— "स्वसिद्धान्तव्यवस्थित्यै परसिद्धान्त खण्डनम्। तस्माद्द्वौर्जन्य मिति।" परन्तु अपने पक्ष की स्थापना के लिए परपक्ष के किसी व्यक्ति पर आक्षेप करना सज्जनता की सीमा से बाहर की बात है। जो ऐसा करते हैं, उन का परपक्ष-खण्डन कभी न्यायसङ्गत नहीं कहला सकता। किसी ने कहा है— "कपिलो यदि सर्वज्ञः सुगतो नेति का कथा। तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥" आशय यह है कि यदि कपिल सर्वज्ञ हैं, तो बुद्ध सर्वज्ञ नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। दोनों ही यदि सर्वज्ञ हैं, तो दोनों में परस्पर भेद क्यों? इस प्रश्न पर विचार करते हुए सर्वज्ञता अथवा ज्ञाता की उपाधि को जहाँ तक लगाया जायगा, वहाँ तक के मान्य-व्यक्तियों को ब्रह्मजाल तो अवश्य ही समर्पित करनी पड़ेगी। साथ ही उन के उपदेशों में सामञ्जस्य तथा समन्वय करना भी आवश्यक होगा। इसीलिए लोग ब्रह्मसूत्र में बंधकर प्रस्थान आदि में अपनी निर्धारित सीमा तक समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया करते हैं। ऐसा करने में कोई देश-काल-भेद बतलाकर, कोई दृष्टिकोण में भेद बतलाकर, कोई आशय को अपनी भावना के अनुसार व्यक्त कर अथवा कोई अधिकार-भेद बतलाकर अपनी सफलता की कामना करता है। किन्तु इस कार्य में सफलता प्राप्त कर लेना सरल नहीं है। थियसोफी मत के अनुयायी देश-कालभेद बतलाकर ईसाई आदि मतों के साथ सनातनधर्म (निवृत्तिप्रस्थान-प्रवृत्तिप्रस्थान) की एकता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु सनातनधर्म की सामाजिक व्यवस्था (वर्णाश्रम-धर्म) का उन मतों के साथ मेल नहीं मिला पाते। ब्राह्मसमाजियों ने इसी शैली को अपनाया है, पर उन पर ईसाईमत का इतना प्रभाव है, जिस के कारण सनातनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त भी उन को मान्य नहीं हो पाते। स्वामी दयानन्द (आर्यसमाज-प्रवर्तक) ने सभी मतों तथा नास्तिक दर्शनों का पूर्ण बहिष्कार करते हुए अपने मत को आस्तिक कहलानेवाले छः दर्शनों तक सीमित रखा है और दृष्टिकोण का भेद बतलाते हुए इन में अभेद बतलाया है। परन्तु उन के दार्शनिक सिद्धान्तों से किसी भी दर्शन के सिद्धान्त मेल नहीं खाते। कुछ अन्य लोगों ने इन दर्शनों से अपने मनोनीत सिद्धान्तों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने में उन को सूत्रों के अर्थ बदलकर उन सूत्रों के द्वारा अपना आशय निकालना पड़ा है। इस के उदाहरण में स्वामी हरिप्रसाद के भाष्यों को रखा जा सकता है।

यहीं पर उन समन्वयकर्ताओं का उल्लेख हो जाना चाहिए, जो सिद्धान्तप्रवर्तकों के प्रति तो ब्रह्मजाल समर्पित करते हैं, परन्तु इस ब्रह्म की ओट में वे अन्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में निराधार बातें कहकर उन के प्रति अभ्रद्धा फैलाया करते हैं। इन में प्रथम स्थान उन मुसलमानों को प्राप्त है, जो यह कहा करते हैं कि "हजरत मुहम्मद ने उसी सिद्धान्त का उपदेश दिया, जो पहले अन्य सिद्धान्तप्रवर्तकों के द्वारा समाज को समझाया जा चुका था। अतः वे सारे सिद्धान्तप्रवर्तक मान्य हैं। परन्तु इस्लाम का अन्य सिद्धान्तों के साथ काफी मतभेद है। इस का कारण यही है कि अन्य सिद्धान्तों का अनुगमन करनेवाली जनता उन सिद्धान्तप्रवर्तकों के उपदेशों को ठीक-ठीक याद नहीं रख सकी।" उन के बाद ईसाईयों का नाम आता है, जो यह कहा करते हैं कि "सनातनधर्म के भक्ति-अवतारवाद आदि सिद्धान्तों से उन का पूरा मेल है, किन्तु ये सारे सिद्धान्त सनातनधर्म ने ईसाईयों से ही सीखे हैं।" ऐसी ही मिथ्या कल्पनाएं अन्य लोग भी किया करते हैं। याद रखना चाहिए कि इन बातों का जहाँ तक सनातनधर्म से सम्बन्ध है, वे सरासर गलत हैं।

कुछ अन्य लोगों का कहना है कि समन्वय में सब को उचित स्थान मिलना चाहिए। यह लोग सारे दर्शनों की सङ्गति अधिकार-भेद से लगते हैं। स्वामी दयानन्दजी (भारतधर्म-महामण्डल) ने सात अज्ञान की और सात ज्ञान की भूमि बतलाकर नास्तिक और आस्तिक दर्शनों में क्रमिक

विकास प्रदर्शित किया है। इस क्रम में सर्वोच्च स्थान वेदान्तदर्शन को मिला है और सांख्य, योग आदि निचले स्थानों में हैं। अन्य अद्वैतवेदान्तिनों ने इस से एक पग आगे बढ़कर वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत आनेवाले द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वादों में भी तारतम्य बतलाकर अद्वैतवाद के समर्थक शाङ्कर सम्प्रदाय को सर्वोच्च स्थान दिया है। परन्तु न 'वेदान्त-सूत्र' के आधार पर सांख्य, योग आदि को निचला स्थान दिया जा सकता है और न वेदान्त-भाष्यकारों के आधार पर अद्वैतसम्प्रदाय को द्वैत आदि सम्प्रदायों की अपेक्षा ऊँचा ठहराया जा सकता है। कारण स्पष्ट है। ब्रह्म-सूत्रकार स्पष्ट शब्दों में सांख्य, योग आदि का खण्डन करते हैं, उन को निचला स्थान नहीं देते और प्रत्येक भाष्यकार अपने सम्प्रदाय को सूत्रा-नुसार सिद्ध करता है। ऐसी दशा में इस दृष्टि से तारतम्य बतलाना सूत्रा-नुगत नहीं हो सकता।

तो फिर समन्वय किस प्रकार हो? सांख्य प्रधान-कारणवाद का समर्थक है अर्थात् प्रवृत्ति की ही संसार का कारण मानता है। योग और पाशुपत ईश्वर को निमित्तकारण मानते हैं, उपादानकारण नहीं मानते। किन्तु उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माना गया है। इन उपनिषदों की ही सीमा-ना 'ब्रह्मसूत्र' में है। इसीलिए उक्त औपनिषद-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए अन्य सिद्धान्तों का निराकरण किया गया है। अन्य बौद्ध, जैन आदि दर्शन तो बिल्कुल सर्वतोभावेन अमान्य हैं। धर्मशास्त्र के विरुद्ध मतों के सम्बन्ध में भी यही शास्त्रीय निर्णय मिलता है। ऐसी दशा में समन्वय का प्रयत्न कैसे किया जा सकता है? हाँ, पाश्चात्य आगम ने वेद, वेदान्त, सांख्य, योग और पाशुपत प्रस्थानों में समन्वय करने का प्रयत्न अवश्य किया है। अनन्त वेदराशि दो भागों में विभक्त है—कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। इन दोनों भागों को अलग अलगकर एक दूसरे के विरोधी के रूप में खड़ा नहीं किया जा सकता, क्योंकि कर्मकाण्ड का स्वरूप ब्रह्म की आराधना ही तो है। सांख्य, योग तथा पाशुपत-प्रस्थान का जो अंश वेदान्त के विरुद्ध है, वह अमान्य रहे, किन्तु अन्य अंश तो ग्राह्य है। इन अंशों का तो वेदान्त से कोई विरोध नहीं है। कहा भी है—“एवमेकं सांख्ययोगं वेदार्ण्यकमेव च। परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं तु कथ्यते ॥” (मद्भाषा ० शा० ३४९)। आशय यह है कि इस आगम में सांख्य, योग, पाशुपत, वेद और आरण्यक, ये परस्पर अङ्ग हैं। इसीलिए यह 'पाञ्चरात्र' आगम कहलाता है। इस प्रकार विचार करने पर धर्मशास्त्र के जो कुछ अनुकूल हैं, उस के साथ सनातनधर्म का समन्वय है, शेष से कोई नाता नहीं। फिर भी यह न भूलना चाहिए कि परतत्त्व और अहिंसा, सत्य आदि मूल तत्त्वों की दृष्टि से सभी सिद्धान्तों के साथ सनातनधर्म की पूरी समरसता है।

धर्मानुसारी स्वराज्य-शासन-विधान

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)

१

हर्ष की बात है कि 'श्रीसनातन वैदिक धर्मसभा' की ओर से प्रकाशित श्रीदूरकाळजी की 'शासनविधान-योजना' की ओर लोगों का विशेष ध्यान आकर्षित हुआ है और काशी के अग्रगण्य सनातनो 'सिद्धान्त' पत्र ने उस पर अङ्क २३, २४, २५ में सम्पादकीय लेख लिखकर अतिमुन्दर एवं उपयोगी चर्चा उपस्थित कर योजनासम्बन्धी कई मुख्य समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रसङ्ग उत्पन्न किया है। उन लेखों पर श्रीदूरकाळजी की अनुमति लेकर यह लेख लिखा जा रहा है। यद्यपि यह तो ध्यान में रखना ही चाहिए कि ऐसे महान् विषय की चर्चा बड़े प्रन्थरूप में भी पर्याप्त नहीं हो सकती।

१—इस योजना के सम्बन्ध में याद रखना चाहिए कि पू० पा० जगद्गुरु शाङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी, 'अ० भा० वर्णाश्रम-स्वराज्य-सङ्घ' के अध्यक्ष रा० व० पराण्डेजी ऐसे बहुश्रुत विचारकों एवं अन्य विद्वानों तथा पण्डितों के साथ परामर्श करने के उपरान्त योजना का संशोधित मसविदा (ड्राफ्ट) तैयार हुआ है, परन्तु ज्ञात हुआ है, कि वह अभी प्रकाशित नहीं किया गया है। एक दूसरी यह बात विशेष ध्यान में रखना चाहिए कि श्रीदूरकाळजी की सूचनानुसार, ऐसी योजना में अधिकतर बातें सिद्धान्तरूप में रखकर सन्तोष कर लिया गया है, क्योंकि सिद्धान्त-

स्वीकार यही प्रधान वस्तु है, उस का अनुसरण करके विवरण निश्चित करने का बहुत अवकाश है। उस में बहुत मतभेद हो सकता है, पर उसे अभी खड़ा करना न तो उपयोगी है, न इष्ट।

बुद्धिवादो या बुद्धिशत्रु ?

(होम-हवन-यज्ञ पाप है या पुण्य ?)

(श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी)

१

परिशिष्ट

'हिन्दुस्तान' के १६ कालम काले करं भी डाक्टर भगवान्दास जी को चैन न आया और ख को पुस्तकरूप में छपाते समय आपने उस में १७ पृष्ठ का पुछल्ला और जोड़ दिया। काशी में 'केशरेश्वर', 'आत्मावीरेश्वर', 'गभस्तीश्वर', 'भुवेश्वर' आदि में चलनेवाले 'अखण्ड रुद्राभिषेको' की मनक कान में पड़ते ही आप ने अपने 'कलम कुठार' को उठाया और आवेष्ट में आकर लिख डाला कि 'किसी भी शब्द के पीछे 'ईश्वर' शब्द लगा दीजिये, तो एक नया ईश्वर पैदा हो जाता है और दूध मॉगने लगता है। 'ईश्वर' तो, 'डोकेश्वर' तो, 'पत्थरेश्वर' तो, 'पेडेश्वर' तो, 'कंकड़ेश्वर' तो, सभी के सामने हिन्दूदास साष्टाङ्ग दण्डवत् करने को गिर पड़ता है।' किसी ईसाई पादरी के मुख से ये शब्द निकलते तो, हमें आश्चर्य न होता, पर क्या कोई हिन्दू विद्वान् भी ऐसा लिख सकता है? किन्तु डाक्टर साहब तो अपने को 'हिन्दू' मानते ही नहीं, आप ही ने अपने एक भाषण में कहा था कि "मैं अपना कोई ऐसा नाम चाहता हूँ, जिस का किसी धर्मविशेष से सम्बन्ध न हो" ऐसा नाम तो 'शून्यदास' ही हो सकता है। हिन्दू तो सचमुच सब में ईश्वर ही देखता है। दृढ़ अन्धा होने पर प्रह्लाद प्रेस भक्त के लिए पाषाणस्तम्भ से भी भगवान् प्रकट होते हैं। 'गीता' का ग्यारहवाँ अध्याय हमें क्या सिखाता है? साधारण व्यक्ति गूढ़ रहस्य को भले ही न समझे, पर वास्तव में बात तो वही है—“सिखा रामसय सब जग जानी, करौ प्रणाम जोरि जुग पानी।” इस उच्च भावना का उपहास हिन्दूधर्म पर समाधात करना है। एक ओर आप को 'हिन्दू' नाम से चिड़ है और दूसरी ओर आप को यह भी चिन्ता है कि 'भारत की आबादी में ६५ फी सदी 'हिन्दू' नाम-धारी' रह गये हैं, २५ फी सदी मुसलमान हो गये हैं और १० फी सदी ईसाई आदि हैं।" यह तो आप का मनचाही ही हो रही है, किसी तरह 'अन्धविश्वासी', 'मूर्तिपूजक', 'यज्ञों में धन फूँकनेवाले', 'हिन्दूदास' का नाम तो संसार से मिटे। ईसाई, मुसलमानों की वृद्धि हो, तो कोई हानि नहीं, क्योंकि "उन समुदायों में होम, हवनादि कुछ नहीं है।"

फिर आधुनिक दानवीरों की चर्चा करते हुए 'बिड़ला घराने' की प्रशंसा के आप ने पुल बौध दिये हैं और एन्ड्रू कानिंगो, राकफेल के करोड़ों रुपये दानवाले 'सच्चे महायज्ञों' की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। परन्तु इन 'सच्चे महायज्ञों' का फल क्या हो रहा है, यही न कि जिस सभ्यता, संस्कृति के ये पोषक हैं, उसी से प्रेरित होकर आज पाँच वर्ष से पश्चिम में 'अखण्ड नरमेध' चल रहा है, जिस में प्रति दिन सहस्रों मनुष्यों और करोड़ों रूपयों की आहुतियाँ पड़ रही हैं? 'बिड़ला घराने' का दान अवश्य बहुत बड़ा है, परन्तु उस का कुछ अंश धर्मानुष्ठानों में भी जाता है। क्या इसी से तो वह घराना इतना फल-फूल नहीं रहा है? पर साथ ही तामस इसी से तो वह घराना इतना फल-फूल नहीं रहा है? पर साथ ही तामस दान का भी प्रभाव प्रत्यक्ष होने लगा है, अब बिड़ला घराने ही में सती-दान का भी प्रभाव प्रत्यक्ष होने लगा है, अब बिड़ला घराने ही में सती-साध्वी हिन्दू स्त्रियों के स्थान पर गोरी 'मेमो' का प्रवेश हो चला है। यदि इस शौक ने जोर पकड़ा, जिस की पूरी सम्भावना है, तो फिर यह करोड़ों की सम्पत्ति कितने दिन के लिए है?

आगे चलकर आप लिखते हैं कि "तिरस्कार-द्योतक 'बनिया' शब्द से कहे जाते 'वैश्यवर्ग' के कुछ लोग संस्कृतविद्या की ओर ध्यान देने लगे हैं, कई सज्जनों ने अच्छी योग्यता स्वयं भी प्राप्त कर ली है।" पर आश्चर्य यह है कि इन लोगों ने यह कैद लगा रखी है कि उन की खोली हुई पाठ-शालाओं में पढ़ने और पढ़ानेवाले 'ब्राह्मण-जाति-नामधारी' ही हों और वेतन और वृत्ति पाये और आश्चर्य से अधिक खेद यह है कि इन में अधिकतर 'टिड्ढाण्ड', 'द्वसज्ज', 'चुट्ट', दीधी वेवीटाम' आदि की कोरी व्याकरण की और उस से भी अधिक शुष्क और व्यर्थ 'विशेषता-प्रकारता-विषयता' और

‘अवच्छेदकावच्छिन्न’ नव्य न्याय की रटन करायी जाती है।” अपने सर्वोच्च व्याकरण ही की बदौलत संस्कृत भाषा अबतक शुद्ध बनी है, पाश्चात्य विद्वानों का भी उस की प्रशंसा करनी पड़ी है। व्याकरण तथा न्याय के प्रौढ़ ज्ञान के बिना क्या क्लृप्त ग्रन्थों का लगना कभी सम्भव है? संस्कृत सूत्रसाहित्य-ज्ञान की कुञ्जी है, इस के द्वारा बहुत सी बातों का सहज में बोध हो जाता है और वे याद भी रहती हैं। हमारे ऋषियों ने मेधा का तिरस्कार करके पाण्डित्य को नश्वर पुस्तकों के सहारे कभी नहीं छोड़ा। ‘टिड्ढाणम्’ ‘चूट्’, ‘द्वयमज्’ आदि सूत्रों के बिना क्या किसी को व्याकरण का बोध हो सकता है? इन में से कई सूत्र तो ऐसे हैं, जो पारिभाषिक होने से दो तीन अक्षरों के द्वारा अनेक स्थलों के उपयोगी विभिन्न अर्थों का स्मरण कराते हैं। नव्यन्याय का तो निर्माण ही हिन्दूधर्म का रक्षा के लिए हुआ है। बौद्ध, जैन, चार्वाक इत्यादि प्रखर तार्किकों को परास्त करने का साधन यदि अपने पास कोई है, तो वह नव्य न्याय ही है। ‘विषयता-प्रकारता-अवच्छेदकता’ इत्यादि शब्द, जिन को आप व्यर्थ समझते हैं, प्रतिवादा को मूक करने के अद्वितीय साधन हैं। प्राचीन आर्य ग्रन्थों की ग्रन्थियों को इन्हीं के द्वारा सुलझाया जा सकता है। अन्य भाषाओं में भी व्याकरण तथा न्याय के सूत्र बने हुए हैं, जो पहले बड़े क्लृप्त तथा निरर्थक जान पड़ते हैं, किन्तु समझ में आ जाने पर ज्ञान का मार्ग खोल देते हैं। ‘संस्कृतज्ञ वैश्यो’ ने ब्राह्मणों के जन्मदत्त अध्यापनाधिकार को न छीनकर अपनी दूरदर्शिता का ही परिचय दिया है। विभिन्न वर्णों के स्वाभाविक कार्यों छीननापटी ही के कारण वर्तमान दुर्व्यवस्था है।

आप लिखते हैं कि “कोषागार, रत्नभाण्डार हमारा ही है, आखें हमारी ही, पर भण्डार की मञ्जूषाओं को धूल-गर्द के ढेर ने, मूढ़ग्राहों ने दबाकर छिपा दिया है और उस के ऊपर मिथ्या कर्मकाण्ड और असत् ‘शास्त्रों’ की मकड़ियों ने जाला भर दिया है, कोठरी में अन्धेरा कर दिया है, हमारी आँखों में धुन्ध पैदा कर दी है, जबतक हम पच्छिम के विज्ञान के लम्प-लालेन से काम न लेंगे, वहाँ की परीक्षणी विवेचनी बुद्धि की झाड़ू से धूल-गर्द, जाला-मकड़ा को न झाड़ेंगे, तबतक हमारे ही पुत्रतैनी रत्न हम को न सुलेंगे।” किसी अंश तक हम भी इसे मानते हैं, परन्तु साथ ही हम यह भी देख रहे हैं कि पश्चिम के विज्ञान की ऐसी झाड़ू लगायी जा रही है कि उस में हमारे अमूल्य रत्न भी, जो मञ्जूषाओं में हर समय तालाबन्द नहीं, पर इधर-उधर सर्वत्र बिखरे हुए हैं, बंदुरे जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में उर्दू के प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय अकबर की यह सूक्ति याद आती है—“घोंन की है अय रिकार्मर जा बाकी, जब तलक कपड़े पे है धब्बा बाकी। थो शौक से-पर इतना न रगड़, न रहे कपड़ा न रहे धब्बा बाकी॥” पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का हमारी संस्कृति के लिए कितना घातक परिणाम होगा, इस का उदाहरण स्वयं आप ही की विचारधारा है। निराशा के वशीभूत होकर आप ने यह पद्य रच डाला है—“देखि कुपुत्रन की करतूती, भारतमाता रोती है, रही-सही सब आश पुरानी, तजि धीरज अब खोती है॥” बिचकुल ठीक! यों तो अपने को ‘सुपुत्र’ और ‘दूसरी’ को ‘कुपुत्र’ सभी समझते हैं, पर वास्तव में ‘कुपुत्र’ कौन है? वे, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति की निधि—शास्त्रों—का निरादर कर रहे हैं, ऋषियों को गालियाँ दे रहे हैं, सामाजिक जीवन के आधार ‘वर्णव्यवस्था’ को भ्रष्ट कर रहे हैं और साधारण लोगों की सरल श्रद्धा को नष्ट करके भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं, या वे, जो इन ‘शिक्षित’ नामधारियों से अपमानित तथा तिरस्कृत होकर अनेकों कष्ट सहते हुए अपनी माता की निधि को सुरक्षित रखे हुए हैं?

अन्त में अपने ‘विनम्र निवेदन’ में आप लिखते हैं—“आप को शास्त्र में आस्था है, तो मुझ को भी शास्त्र में आस्था है, पर किस शास्त्र में?” इस के बाद ही आप ने कुमारिल भट्ट का, जो आप को राय में ‘बड़े स्वतन्त्र विचार के स्पष्ट वक्ता’ थे, यह वाक्य उद्धृत किया है “लोभद्वन्द्वकल्पनमेवोपपन्नामिति निर्णयत् सन्देह-निवृत्तः।” अर्थात् ऋत्विक्, पुण्डित अद्वालु यजमान को कर्मकाण्ड के किसी प्रयोग में फँसाकर फिर उस में शाखा-प्रशाखा निकालते हुए कर्मों की परम्परा को बड़ते ही चले जाते हैं और पद पद पर दक्षिणा मांगते और लेते चले जाते हैं। कुमारिल भट्ट ने ठीक ही कहा है, ऐसे लोग कहाँ नहीं हैं, उन की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है, पर कुमारिल भट्ट ने यह कब और कहाँ कहा कि “यज्ञ करना पाप है?” आप को ‘कृष्ण के’ जिन्हें आप “अपने

युग के सूत्रधार, नये युग के प्रवर्तक” मानते हैं, शास्त्र में आस्था है। आप का कहना है कि “उन्हीं कृष्ण ने ‘गीता’ में ‘शास्त्र’ शब्द का केवल पाँच बार प्रयोग किया है और यह ‘निर्णय कर दिया है कि “अध्यात्मविद्या विद्यानाम्”, “एतद्बुद्ध्या बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।” भगवान् कृष्ण ने चाहे ‘शास्त्र’ शब्द का एक ही बार ‘गीता’ में प्रयोग क्यों न किया, पर ‘शास्त्र’ शब्द से उन का क्या अभिप्राय है, य. स्थान स्थान पर स्पष्ट कर दिया है और साथ ही यह भी लिख दिया है कि “यः शास्त्र-विधिसुस्तुज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां रातिम्” और स्वयंमन्य बुद्धिवादियों को चेतावनी दे दो है कि ‘जनसाधारण से भ्रम उत्पन्न न करो—“न बुद्धिभेदं जनयेत्।” आप का शास्त्र क्या है, यह तो स्वयं आप और आप के पट शिष्य ही जानते होंगे, पर जिस ‘शास्त्र’ का भगवान् रामचन्द्र, भगवान् कृष्ण ने अनुसरण किया, जिस की ऋषियों, महर्षियों ने व्याख्या की, वह छिपा नहीं है, उस की भावना उस के संस्कार आज भी हिन्दुओं की नस-नस में भरे हैं। पर आवश्यकता है उन्हें उस मायाजाल से मुक्त करने की, जिस में उन्हें कुछ स्वार्थी विद्वानों ने फँसा रखा है।

अब हम इस ‘कठहुज्जत’ में अधिक नहीं पढ़ना चाहते। हमें खेद है कि ‘सिद्धान्त’ के कितने ही स्तम्भ हमें इस विवाद में काले काने पड़े। अन्त में ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ से हमारी यह प्रार्थना है कि वह बुद्धि के इन ‘भेकेदारों’ को वास्तविक सद्बुद्धि प्रदान करें।

शुभ समाचार

धर्मनगर का रचना—आगापी धर्मसङ्घ महाधिवेशन तथा महायज्ञ के लिए धर्मनगर की रचना तेजी से चल रही है। प्रतिदिन तम्बुओं की नयी कतारें खड़ी होती जा रही हैं। नगर के मुख्य चार द्वार खोले गये हैं—पूर्व में गङ्गातट पर ‘गङ्गाद्वार’, उत्तर की ओर अस्सी सङ्गम पर ‘विश्वेश्वरद्वार’ पश्चिम में ‘अन्नपूर्णाद्वार’ और दक्षिण में रामनगर की पक्की सड़क पर ‘विनायकद्वार’ रहेंगे। यज्ञमण्डप के समीप पश्चिम में ऋत्विजों के निवासस्थान रहेंगे और दक्षिण में प्रतिनिधियों, महात्माओं एवं अन्य अतिथियों को ठहराने के लिए तम्बुओं की कतारें लगायी जा रही हैं। उसी ओर दुकानें भी बन रही हैं। सभाभण्डप के पश्चिम तथा उत्तर में गृहस्थों तथा अन्य विशिष्ट संजनों के निवास का प्रबन्ध किया जा रहा है। स्नानादि के लिए गङ्गातट पर चार घाट बनाये जा रहे हैं। उपनगरनाथक श्री पं० अम्बिकादत्तजी उपाध्याय स्वयंसेवकों के सङ्घटन में दत्तचित्त हैं। गत गुरुवार को कलेक्टर साहब ने धर्मनगर का निरीक्षण किया। गत रविवार को मध्याह्नोत्तर ४ बजे धर्मनगर में तपोनिष्ठ श्री पं० रामयश जो त्रिपाठी अध्यक्ष ‘धर्मसङ्घ महाविद्यालय, काशी’ के करकमलों द्वारा ध्वजोत्तोलन एवं ध्वजवन्दन समारोह सम्पन्न हुआ।

हिन्दू कांड विरोधा अ० भा० सम्मेलन—गत रविवार को धर्मनगर में स्वागतसमिति को एक महत्वपूर्ण बैठक हुई। सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए ‘हिन्दू कानून समिति’ से भी प्रार्थना करते हुए उसे लिखा गया है कि “उक्त सम्मेलन में देश के प्रमुख धार्मिक विद्वान् एकत्रित हो रहे हैं, जिन से एक साथ हो मिलकर विचार-विनिमय का कमेटी को सुअवसर प्राप्त हो सकेगा।” सम्भावना है कि उस अवसर पर उक्त समिति के सदस्य भी पधारने की कृपा करें।

अ० भा० वर्णाश्रम-स्वराज्य-सङ्घ-महाधिवेशन—सङ्घ का १५ वां वार्षिक महाधिवेशन विदम्बरम् में हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कानून के अध्यापक श्री वि० वि० देशपाण्डे जी ने अधिवेशन का उद्घाटन किया। अस्वस्थता के कारण श्रीपराण्डेजी की अनुपस्थिति में श्री नटेश एयर ने सभापति का आसन ग्रहण किया। ‘हिन्दू कोड’ तथा पाकिस्तान के विरोध में प्रस्ताव पास हुए। प्रस्तावित ‘हिन्दू कोड’ पर अपना मत प्रकट करने के लिए एक समिति भी नियुक्त हुई, जिस की बैठक काशी में होगी। कार्यवाही में म० म० श्री अनन्तकृष्ण शास्त्रीजी ने भी भाग लिया। बाहर से भी कई प्रतिनिधि आये थे और स्थानीय जनता ने बड़ा उत्साह दिखलाया।

श्रीजगद्गुरु शङ्कराचार्य जी का शुभगमन—अनन्त श्री-विभूषित श्रीज्योतिष्यठाधीश्वर महाराज ‘धर्मसङ्घ महाधिवेशन में’ सम्मिलित होने के लिए आगामी गुरुवार को काशी में पधार रहे हैं।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

स्वागत

अहोभाग्य है कि हमारे कार्यालय के सामने ही अमृतपूर्व धार्मिक समारोह हो रहा है । महायज्ञ आरम्भ हो ही गया और परसों से सम्मेलनों का भी श्रीगणेश है । इस अवसर पर हम पूज्य आचार्यों, श्रेष्ठ महात्माओं, आदरणीय विद्वानों एवं सभी समागत सज्जनों का हृदय से स्वागत करते हैं । इस तपोभूमि पर हम सब एक महान् कार्य के लिए एकत्र हो रहे हैं । देश की सनातनी जनता इस ओर दृष्टि लगाये हुए है, उस का पथप्रदर्शन करना है, इसलिए हमारे ऊपर बड़ा जिम्मेवारी है । महायज्ञ में काशी के रहे बड़े विद्वान् भाग ले रहे हैं । हमें आशा है कि यज्ञों के आलोचकों को देखकर दैगे कि ब्राह्मणवर्ग आज भी निःस्वार्थ भाव से नियमपूर्वक ऐसे अवसरों पर अपना कर्तव्य-पालन कर सकते हैं । जिन सम्मेलनों का आयोजन किया गया है, उन के सामने जटिल प्रश्न आ रहे हैं, उन सब पर निष्पक्ष भाव से गम्भीरतापूर्वक पूर्ण विचार करना है, चार पांच दिन केवल समाशा दृष्टि ही चले जाना नहीं है । सब से पहले गुरुवार को 'धर्मसङ्घ शिक्षा-मण्डल' का प्रथम अधिवेशन हो रहा है । 'मण्डल' के विधान में सङ्घ की 'शिक्षा-योजना' है । देश के सामने शिक्षा का प्रश्न बड़ा टेढ़ा है । पण पर हमें आधुनिक शिक्षा के कुपरिणामों का अनुभव हो रहा है । शिक्षा पाठशाला, विद्यालयों तक ही सीमित नहीं रहती, किसी न किसी रूप में मनुष्य को हर समय शिक्षा मिलती रहती है । आजकल देश के सामने सरकार की ओर से 'राष्ट्रीय शिक्षा' की योजना पेश है, पर न वह 'राष्ट्रीय' ही है और न 'शिक्षा' ही । सङ्घ की ओर से जो 'शिक्षा-योजना' प्रकाशित हुई है, वह 'एकाङ्गीण' ही है, पर यदि हमें सरकारी योजना से टक्कर लेना है, तो अपनी योजना को सर्वाङ्गीण बनाना पड़ेगा । उसे कार्यान्वित करने के लिए हमारे पास साधन नहीं है, यह हम भी मानते हैं, पर साथ ही हमें अपनी योजना तैयार रखनी चाहिए, जिस में सुविधाएँ मिलने पर हम आगे बढ़ते चलें । प्रारम्भिक शिक्षा पर हमें विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि मावी शिक्षा की वही आधारशिला है । उच्च शिक्षा में हम आधुनिक इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, विज्ञान की अवहेलना नहीं कर सकते, पर उन को अपने रङ्ग में ऐसा रङ्गना पड़ेगा कि जिस में उन के दुष्प्रभाव से हम बचे रहें । संस्कृत के साथ ही आधुनिक देशी तथा विदेशी भाषाओं के ज्ञान की भी आवश्यकता है और उपयोगी तथा ललित कलाओं का भी विस्तार नहीं किया जा सकता । इन सब विषयों पर मण्डल की 'विद्वत्परिषद्' को विचार करना चाहिए ।

शुक्रवार को 'हिन्दू-कोडविरोधी सम्मेलन' है, जिस का सभापतिव कासिमबाजार के महाराजा श्री शितीशचन्द्र नन्दी बहादुर ग्रहण करने जा रहे हैं । असेम्बली में पेश 'उत्तराधिकार' तथा 'विवाह' बिलों आर प्रस्तावित 'हिन्दू कोड' पर हम बहुत कुछ लिख चुके हैं । आंशिक मतभेद बहुतों में सम्भव है, पर सारे 'कोड' का विरोध एक स्वर से करना सब का कर्तव्य है । मुख्य प्रश्न यह है कि हमारे धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में हस्ताक्षेप करने का सरकार को अधिकार प्राप्त है या नहीं ? यदि हम यह अधिकार मान लेते हैं, तो फिर किसी सम्प्रदाय के धर्मशास्त्र का प्रामाण्य ही नहीं रह जायगा । रीतिरिवाजों में जो दोष आगये हों, उन्हें दूर करना विभिन्न सम्प्रदायों के धर्माचार्यों का कर्तव्य है, न कि दूसरे लोगों का । अपने यहाँ व्यवस्थापन का भार राजा के हाथ में कभी नहीं रहा ? अपना मुख्य प्रस्ताव इसी आशय का होना चाहिए । दूसरी बात यह है कि इन तथाकथित 'सुधारों' के लिए जनता की ओर से कोई माँग नहीं है और न इन को कानून का रूप देने के लिए यह उपयुक्त समय ही है । इस अंश में तो बहुतसे नेता भी सहमत हैं । ऐसी दशा में सब दलों की ओर से एक 'प्रतिनिधिमण्डल' वाइसराय से मिलना चाहिए और कम से कम युद्धकाल में इस पर विचार स्थगित रखने की प्रार्थना करनी चाहिए ।

शनिवार का प्रातःकाल 'अखण्ड भारत सम्मेलन' है । पाकिस्तान-योजना का विरोध तो बहुत हो रहा है, पर उस के मूल में जाने का प्रयत्न नहीं किया गया है । 'धर्मसङ्घ' ने इस प्रश्न पर नया प्रकाश डाला है, उस पर उपस्थित विद्वानों को विचार करना चाहिए और इस सम्बन्ध में जो ऐतिहासिक भ्रम हैं, उन को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । पाकिस्तान-विरोध का विषय भी ऐसा है, जिस में बहुत कुछ ऐकमत्य है । परस्पर मत-भेदों की कमी नहीं है, उन में एकता के इन सूत्रों को हमें दृढ़ करते रहना चाहिए, क्योंकि यह निश्चित है कि बिना एकता के हमें सफलता नहीं मिल सकती, पर साथ ही ऐसी एकता नहीं चाहिए कि जिस में असली बात ही हवा हो जाय । 'पाकिस्तान-योजना' को स्वीकृत करने के लिए इधर जो षड्यन्त्र रचा गया, उस का हमें स्पष्ट शब्दों में विरोध करना चाहिए ।

उसी दिन मध्याह्नांतर से 'धर्मसङ्घ' का चतुर्थ महाधिवेशन आरम्भ होगा, जो बराबर तीन दिन तक चलेगा । 'सङ्घ' का आरम्भिक कार्य एक दृष्टि से बहुत कुछ हुआ । अन्य किसी संस्था ने इतने थोड़े दिनों में ऐसी लोकप्रियता तथा सफलता नहीं प्राप्त की । परन्तु हमें इतने ही से सन्तुष्ट न रहना चाहिए । अब ठोस और सुसंघटित कार्य की आवश्यकता है, जो बिना नियमपालन में कड़ाई के सम्भव नहीं है । आजकल हम में अनुशासन की बड़ी कमी है । दूसरों की आज्ञा न मानना हम 'स्वतन्त्रता' समझने हैं, पर वास्तव में आवश्यक परतन्त्रता द्वारा ही सच्ची स्वतन्त्रता मिलती है । 'सङ्घ' के प्रतिज्ञापत्र में अनुशासन से भाग निकलने के लिए 'यथासम्भव' के कई छिद्र हैं, उन को हमें भरना होगा । 'सङ्घ' के विधान में भी कुछ हेरफेर करना आवश्यक है, जिस में कार्य्य सुचारुरूप से चल सके । 'कार्यसमिति' छोटी रखने ही में अधिक सुविधा होती है । उस में ऐसे ही लोगों को रखना चाहिए, जो अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करते हुए अधिक से अधिक समय और शक्ति उस की सेवा में अर्पण कर सकें । इस अवसर पर विभिन्न स्थानों के विद्वान् एकत्र हो रहे हैं, उन के चुने हुए प्रतिनिधियों की एक समिति में इस सम्बन्ध में पूरा विचार होना चाहिए ।

श्रीगङ्गा के पुण्यतट पर यज्ञभगवान् के समक्ष प्रस्तावों के रूप में हम प्रतिज्ञा कर जा रहे हैं, यदि हम उन को पूरा नहीं करते, तो हम पाप के भागी होंगे, इस का हमें बराबर ध्यान रखना चाहिए । अन्त में भूतभावन विद्वानाथ से हमारी यही प्रार्थना है कि यह महान् धर्मावुष्ठान निर्विघ्न समाप्त हो ।

मीमांसकों की दृष्टि में शास्त्र

(श्री स्वामी करपात्री जी)

१

श्रुति का स्वतन्त्र प्रामाण्य होता है और स्मृति का 'इयं स्मृतिः श्रुति-मूलिका स्मृतिस्वात् मन्वादिस्मृतिवत्' इस अनुमान के द्वारा सम्मूलभूत श्रुति का अनुमान करके तब प्रामाण्य माना जाता है । जहां प्रत्यक्ष श्रुति का विरोध विद्यमान है, वहाँ स्मृति को मूलभूत श्रुति की जिज्ञासा ही नहीं होती, अतः वहाँ श्रुति का अनुमान नहीं हो सकेगा, अतएव श्रुतिमूलक न होने से श्रुतिविरुद्ध स्मृतियों का स्वरूपतः अप्रामाण्य है । भट्ट कुमारिल कहते हैं कि किसी भी आर्षस्मरण के श्रुतिविरुद्ध वचन का भी अप्रामाण्य मानने में अनादवास होगा और नास्तिकों को हर एक विषय में सुन्दर करने का अवसर मिलेगा, अतः किसी शिष्टपरिपुष्ट आर्षस्मरण के किसी श्रुतिविरुद्ध वचन का भी स्वरूपतः अप्रामाण्य मानना ठीक नहीं है, किन्तु श्रुतिविरुद्ध वचन का मूल जबतक, प्रत्यक्ष श्रुतिवचन न मिले, तबतक श्रुतिविरुद्ध वचन का मूल जबतक, प्रत्यक्ष श्रुतिवचन न मिले, तबतक उस का अनुपपत्त्यलक्षण अप्रामाण्य मानकर अनुष्ठान तो न किया जाय । परन्तु अनधिगता बाधितबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य मानना ठीक

नहीं है। श्रुतिविरुद्ध स्मृतिवचन के आधार पर अनुष्ठान न करना चाहिए। प्रत्यक्ष श्रुति या श्रुत्यविरुद्ध स्मृतिवचन के आधार पर ही अनुष्ठान उचित है। जब प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्ध स्मृति का आधारभूत भी कोई श्रुति-वचन मिल जाय, तब दोनों का ही समबल होने से विकल्प-पक्ष का समाश्रयण उचित है। 'तन्त्रवार्तिक' में बारंवार पूर्व और उत्तर पक्ष आते हैं। स्थूलदर्शों उन को नहीं समझ पाते, इसीलिए असिद्धान्त को ही सिद्धान्त मान बैठते हैं। पहले भाष्य के अनुसार विषय, वाक्य एवं पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष का उल्लेख है। पश्चात् वार्तिककार ने स्वसिद्धान्त का प्रदर्शन किया है। वार्तिककार कहते हैं कि जिन आर्ष धर्मग्रन्थों का विप्रलम्भ, भ्रान्ति आदि मूल नहीं है, किन्तु वेद ही मूल है, उन्हीं का निर्वाज्य प्रामाण्य है और वे ही धर्म, व्यवहार में प्रमाण हो सकते हैं। यदि वेदविरुद्धत्व, विप्रलिप्सा आदि हेतुदर्शन (किंवा परस्पर विगानादि) किसी भी छल से उन आर्षग्रन्थों (स्मृतियों) का अप्रामाण्य कहा जायगा, तो हरेक स्मृतियों में अप्रामाण्य की शङ्का हो जायगी, क्योंकि अनेक शाखावाले मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद और उस के श्रुति, लिङ्गादि अनेक भागों के किस अंश से इस स्मृति का विरोध होगा, यह जानना बहुत ही कठिन होगा। अतः अविश्वास के कारण स्मृतियों का प्रामाण्य अत्यन्त प्रतिहत ही हो जायगा। "कदाचिच्छ्रुतिमूलत्वं मुक्त्वा भ्रान्त्यादिमूलता। स्मृतिभिः प्रतिपन्नां चेत्कस्तामिन्द्रोपि वारयेत् ॥"

श्रुति का विरोध न होने पर स्मृति का मूल श्रुति माना जाय, विरोध होने पर उस का मूल भ्रान्त्यादि माना जाय, यह अर्द्धवैशंस होगा अर्थात् एक धर्मसंहिता में अर्धवेदाङ्गकूल अर्धान्तर वेदप्रतिकूल मानना होगा। तथा च जो पहले स्मृति की भ्रान्त्यादिमूलकता का निरास किया, वही पुनः प्रसक्त होगा। अतः या तो स्मृतियों का श्रुतिमूलकत्व व्यवस्थित मानना चाहिए अथवा उन के प्रामाण्य की तृष्णा छोड़नी चाहिए। "अविरोधे श्रुतिमूलं न मूलान्तरसंभवः। विरोधे तत्रन्यमूलत्वमिति स्यादर्थ-वैशंसम् ॥ तेन तां श्रुतिमूलत्वं सर्वदैव व्यवस्थितम्। मूलान्तर-प्रवेशे वा किन्तत्प्रामाण्यतृष्णया ॥" यदि किसी लोभादि-मूल के दर्शन से अप्रामाण्य की कल्पना की जाय, तो ऐसे हेतुओं की सर्वत्र उत्प्रेक्षा की जा सकती है, क्योंकि राग, द्वेष, मद, उन्माद, प्रमाद, आलस्य आदि की कल्पना कहाँ असंभव है? "गृह्यमाणनिमित्तत्वाद् यद्युचेताऽप्रमाणता। उत्प्रेक्षणीयहेतुत्वात्सा सर्वत्र प्रसज्यते। रागद्वेषमदोन्मादप्रमादालस्यहेतुता। क्व वा नोत्प्रेक्षितुं शक्या स्मृत्यप्रामाण्यहेतवः ॥" फिर ऐसे कौनसी धर्म-क्रिया हो सकती है, जिस में कोई न कोई दृष्ट हेतु न मिल सके और किसी न किसी तरह से प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध न हो? इसीलिए तो चार्वाकों के मत से अदृष्टार्थ कोई कर्म ही नहीं माना जाता। वैदिक कर्म को भी वे दृष्टार्थ ही समझते हैं, थोड़े भी निमित्त से विरोध दिखलते हैं। यदि मीमांसकों ने उन को थोड़ा भी अवकाश दिया, तो वे किसी भी धर्ममार्ग को नहीं छोड़ेंगे। जबतक मर्कटों को अवकाश नहीं मिलता, तभीतक वे चुप रहते हैं, अवकाश मिलते ही उन का आक्रमण भयानक हो जाता है। इसलिए धर्मनाशक लोकायतमतस्थों का मनोरथ मीमांसकों को कभी पूर्ण न होने देना चाहिए। "का वा धर्मक्रिया यस्यां दृष्टो हेतुर्न युज्यते। कथंचिद्वा विरुद्धत्वं प्रत्यक्षश्रुतिभिः सह ॥ लोकायतिकपूर्वाणां नैवान्यकर्म विद्यते। यावत् किंचिददृष्टार्थं तद्दृष्टार्थं हि कुर्वते ॥ तेभ्यश्चेत्प्रसरो नामो दत्तो मीमांसकैः क्वचित्। न च कञ्चन मुञ्चेरन्धर्ममार्गं हि ते तदा। प्रसरं न लभन्ते हि यावत्त्वचन मर्कटाः। नोपद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे ॥ तस्मात्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम्। एवं मीमांसकैः कार्यन्न मनोरथपूर्णम् ॥" इसलिए जो पहले श्रद्धा से सिद्ध है और पश्चान्त्याय से साधित है, ऐसे आज्ञासिद्ध प्रमाण पुराणादि को उसी रूप में मानना चाहिए। उस के प्रामाण्य में शैथिल्य न आना चाहिए। कहीं पर भी किसी तरह से भी शैथिल्य आने पर सभी का प्रामाण्य शिथिल हो जायगी—“आज्ञासिद्धप्रमाणत्वं पुराणादिचतुष्टयम्। तत्तथेवानुमन्तव्यं कर्तव्यं नान्तरा शक्यम् ॥”

दृष्ट हेतुमात्र से अप्रामाण्य-कथन उचित नहीं, क्योंकि ऋत्विजों का दक्षिणादान और परस्पर ऋत्विक् यजमान का सपथग्रहण यह सब दृष्ट ही हेतु हैं। इतने मात्र से इन कर्मों में अवैदिकता नहीं आ सकती। इसलिए पहले जो स्मार्त ज्ञानों की वेदमूलता निर्वाहित की गयी है, उस को

उसी रूप में मानना चाहिए। इस के बाद वार्तिककार भाष्यकारीय पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि “वेद के विरुद्ध जो भी स्मृति है और जिस का मूल कोई स्पष्ट श्रुति नहीं है, उस को भ्रान्तिमूलक कहने में कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि स्मृति का स्वातन्त्र्येण प्रामाण्य है ही नहीं। उस के मूलभूत वेदवाक्य का अनुमान तभी किया जा सकता है, जब कि उस विषय में प्रत्यक्ष श्रुति का विरोध न मिले। हाथों के देख लेने पर उस के पैर से हाथों का अनुमान इष्ट नहीं होता। आनुमानिक पदार्थ तभी तक प्रस्फुरित होते हैं, जबतक प्रत्यक्षशास्त्र से उन का मूल नहीं कट जाता। मूल कट जाने पर प्रस्फुरित होती हुई भी स्मृतियों निराधारत्व दोष से उसी तरह दीर्घजीवी नहीं हो सकतीं, जैसे मूल के कट जाने पर शाखाएँ—“तावदेव स्फुरन्त्यर्थाः पुरस्तादानुमानिकाः। यावत्प्रत्यक्षशास्त्रेण (शास्त्रेण) मूलमेषां न कृत्यते। कृतमूलाः स्फुरन्त्योऽपि स्मृतयो न चिरायुषः। निराधारत्वदोषेण शाखा इव वनस्पतेः ॥” प्रत्यक्ष से प्रतिवृत्त होने के कारण नेराकांक्ष्य होने से आनुमानिको श्रुति स्मृति का मूल नहीं बन सकती। भिन्न कक्षा के दो प्रमाण एक विषय में प्रवृत्त हों, तो भी शीघ्रगामी से निर्णीत अर्थ में मन्दगामी प्रमाण अकिञ्चित्कर रहता है। हाँ, यदि शीघ्रगामी उस अर्थ का अपहारक न हो, तो विलम्ब से पहुँचने-वाला मन्थरगामी दुर्बल प्रमाण भी नहीं हटाया जा सकता। यह कोई ईश्वराज्ञा नहीं कि जिस का एक जगह प्रमाणत्व हो गया, उस का प्रमाणत्व सर्वत्र रहे। उत्पन्न होती हुई सभी वस्तु यदि किसी विरोधी से रुद्ध न हो, तो काल से उस की सिद्धि होती है। जिस की उत्पत्ति के समय ही मूल कट जाय या द्वार रुद्ध हो जाय, उस का आत्मलाभ हो ही नहीं सकता। अतएव उत्सर्ग और अपवाद सर्वत्र रहता है। जो सामान्य दर्शन से सभी व्यवहार को चलाना चाहता है, उसे मृगतृष्णा-जल से भी प्यास बुझानी चाहिए या मृगतृष्णिका के जल को बाधित देखकर सरोवर में जाकर भी विप्रलम्भ के भय से स्नानादि न करना चाहिए। इसलिए मानना पड़ेगा कि जलादिज्ञान को तभी तक प्रमाणता है, जबतक यह जल नहीं, मृगतृष्णा है, यह ज्ञान हो जाय। इसीतरह अनुमान तभी तक अपने विषय में प्रमाण है, जबतक प्रत्यक्ष से उस का अपहार न हो जाय। इसी तरह स्मृति का तभी तक प्रामाण्य है, जबतक श्रुतिविरोध न हो। अतः अविरोध और विरुद्ध स्मृति के प्रामाण्य और अप्रामाण्य होने में अर्द्धजरतीय न्यायादि को अवकाश नहीं ॥” इस के बाद बहुत सी बातों पर विचार करते करते वार्तिककार ने यह भी कहा कि “यदि प्रथम श्रुति का श्रवण न करके स्मृति के आधार पर किसी अर्थ का निर्णय हो गया, तो पश्चात् श्रूयमाणा भी श्रुति उसी तरह से बाधिका नहीं होती, जैसे गर्दभ से अपनीत विषय को पश्चादागत अश्व भी नहीं ले सकता—“न पश्चाच्छ्रूयमाणापि श्रुतिः स्यात् प्रतिबन्धिका। गर्दभेनापनीतं हि हरेन्नाश्विचराद्भूतः ॥” इस का भी समाधान अन्त में इस प्रकार किया है कि स्मृति से विरुद्ध श्रुति को देखकर पूर्वविज्ञान को मिथ्या समझता हुआ यह निश्चय कर लेता है कि वह स्मृति पहले से ही अप्रामाण्य थी। यदि कोई अज्ञ कुछ काल तक कूट कार्षापण (नकली सिक्का) से व्यवहार चलाता रहा हो, तो भी विवेकज्ञान होने पर वैसा व्यवहार नहीं चला सकता। इस प्रकार पूर्वोत्तरपक्ष करते हुए भाष्यकारीय मत से “वैसर्जन-होमीयं वासतोऽध्वर्युर्गृह्णाति” इत्यादि हेतुदर्शन से वेदविरुद्ध स्मृति का अप्रामाण्य कहकर स्वमत से श्रुतिविरुद्ध स्मृति को भी भ्रान्त्यादिमूलता का निराकरण किया है।

अन्त में वार्तिककार कहते हैं कि जसे वेदों का स्वरूप अध्यापकों द्वारा प्रकाशित होता है, वैसे ही शाखान्तरविप्रकीर्ण पुरुषान्तरप्रत्यक्ष-पुरुषधर्मावृष्टानक्रमेण अपठित वेदवाक्यों का ही वेदसमान्नायविनाश के भय से स्वरूपेण उपन्यास न कर यदि वचनान्तर से अर्थोपनिबन्धन द्वारा महर्षियों से बनायी स्मृतियों का अनेक विषयों में प्रामाण्य मानना अनिवार्य ही है, तो उसी स्मृति के एक वचन को अपस्मृति कहने या भ्रान्त्यादिमूलक कहने में हमारी जिज्ञा प्रवृत्त नहीं होती। जब कोई न्यायवित् किसी एक स्मृति को बाधित कहता रहता हो, तब शाखान्तरगत उस अर्थ की पोषिका श्रुति यदि मिल जाय, तो उस नैयायिकमानी की मुखच्छाया कैसी होगी! इन सब के अन्त में भाष्यकार से समुद्धृत सभी श्रुतिविरुद्ध स्मृतियों का मूलभूत शाखान्तरीय स्मृतिवचन उपस्थापन करके वार्तिककार कहीं विरोध-

विहार और कहीं विकल्प की व्यवस्था सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि मन्त्रकार के ये उदाहरण श्रुतिमूलक होने से बाध्योदाहरण नहीं कहे जा सकते। वेष्टनमात्र का स्पर्श श्रुति से विरोध भी नहीं कहा जा सकता। यदि बीच में २-३ अङ्गुल छोड़कर औदुम्बरी का वेष्टन कर दिया जाय, तो स्पर्श के साथ वेष्टन भी बन जाने पर विरोध ही न रहेगा। इस सम्बन्ध में लोभ की कोई बात नहीं, क्योंकि उस की सिद्धि प्रकारान्तर से भी हो सकती थी। यदि स्त्रियों के अन्तरीय और उत्तरीय के समान सुन्दर जाति के वस्त्र का उल्लेख होता, तो स्पर्श की जगह छूट जाने पर भी लोभ में कमी न रहती—“लोभमूलञ्च, यत्तस्याः कल्प्यते सर्ववेष्टनम्। तल्लोभः सुतरां सिद्धयेत् मूलाग्रपरिधानयोः ॥ अन्तरीयोत्तरीये हि योषितामिव वाससी। स्मरेत्कौषेयजातीये नोद्गातैकगुणैर्विना ॥”

धर्मानुसारी स्वराज्य-शासन-विधान

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)

२

१—उक्त विधान-योजना को तीन समय-विभागों में विभक्त कर दिया गया है—युद्धकाल, संयोजनकाल और सङ्गठनकाल। युद्धकाल के लिए एक मुख्य विषय यह है—राज्यसञ्चालकों का हिन्दीकरण। यह विषय काङ्ग्रेस से इस तरह पृथक् हो जाता है कि वह पहले अपने हाथ में अधिकार होने की माँग करती है और फिर अपनी इच्छानुसार हिन्दीकरण या ‘काङ्ग्रेसीकरण’ चाहती है। हमारी माँग का मुख्य विषय ऐसा स्वतःशुद्ध है कि वाइसराय की कौन्सिल, भारत के बाहर की नियुक्तियाँ, युद्धसमितियाँ आदि में हिन्दीकरण अधिक होने लगा है, भारतीय राजाओं की युद्ध-समितियों में स्थान मिलने लगा है। जिस ऐक्य से मुसलमान काम करते हैं, वैसे ही ऐक्य से हमारे २५-३० करोड़ हिन्दुओं ने माँग की होती, तो ‘नरेन्द्रमण्डल’ के प्रतिनिधियों की भी ‘वारकौन्सिल’ में सहज में ही नियुक्ति हो जाती। हिन्दीकरण का विषय, जहाँ सामान्यतः हिन्दू नहीं, बल्कि अङ्ग्रेज होते हैं, वहाँ लागू करने का है, उस में धारासभा के विषय का प्रश्न नहीं है। हाँ, यह बात समझ में आने योग्य है कि गवर्नर के पद पर भारतीय की नियुक्ति नहीं हुई है।

२—पहले काल में दूसरा महत्वपूर्ण विषय यह है कि अनेक अङ्ग्रेज तथा भारतीय राजनीतिज्ञों ने जैसा कि कहा या स्वीकृत किया है, युद्धकाल में शासनसम्बन्धी परिवर्तन करना ठीक नहीं रहता, अतः सन् १९३५ के शासन-विधान में रहकर जब युद्ध चल रहा है, उस समय में भी किये जा सकें, ऐसे विशेष प्रयोजनीय परिवर्तन इस समय के लिए सूचित किये गये हैं। प्रचलित धारासभाओं को पुनः बुलाने की आवश्यकता ही नहीं है, प्रांतीय सभाओं के निर्वाचनद्वारा नवीन निर्माण करने की सूचना है। इतना ही नहीं, दूसरा महत्वपूर्ण विषय यह है कि समस्त धार्मिक जातियों की—सांस्कृतिक, धार्मिक—अखण्डतासम्बन्धी गारण्टी देना। इस का अर्थ ही यह है कि हाल में कोई ‘हिन्दूकोड’ आदि की बात भी न आगे ला सके। यह ध्यान में रखना चाहिए कि १९३५ के विधान के उपरान्त १८५८ वाली महारानी की घोषणा में अमली ताकत नहीं रह जाती। हम उस का उद्घोष करते हैं सही, पर कानून के विद्वान् उसे तुरत उड़ा देते हैं।

३—अब आइये दूसरे काल अर्थात् शासनपरिवर्तन-काल पर। उस में वैधानिक आयोजन का अधिकतर क्रम आता है और तीसरे काल में उस की सर्वतोमुख सिद्धि की विशेष प्रक्रियाओं के स्थिरीकरण की योजना की गयी है। इस द्वितीय काल में आदर्शों का स्पष्टीकरण करनेवाले तीन सिद्धान्त राजनीति में प्रमुख दिखलायी पड़ते हैं—१-धर्मभावनाप्रधान राज्य, २-राज्यधुरा के वहन में राजवंशियों का विधान और ३-हिन्दूप्रधान प्रदेशों का अधिकार यथासम्भव आनुवंशिक क्षत्रिय या राजपूत आदि के पास रखने की अधिकार-दृष्टि। विद्वान् पाठक समझ सकेंगे कि ये विषय अत्यन्त मृदुता से पेश करने योग्य हैं, क्योंकि उस में पक्षपात का आक्षेप होना सम्भव है, इतना ही नहीं, रागद्वेषप्रेरित तृतीय पक्ष की निन्दा होने की भी सम्भावना है।

४—इन तीनों में से प्रथम सिद्धान्त काङ्ग्रेस की—जिस के हाथ में सत्ता जाने की सम्भावना बतलायी जाती है—मान्य नहीं है और तत्सम्बन्धी रायपक्षवाले तो उस के विरोधी ही हैं। काङ्ग्रेस का कराचीवाले प्रसिद्ध प्रस्ताव का भी—‘धर्म के कारण नौकरी आदि किसी काम में रुकावट न डालो

जा सकेगी’ इस तरह के रूप द्वारा धर्म की उपेक्षा की ओर ही रुख है। मालूम पड़ता है कि मुसलमान लोग परिस्थिति समझ गये हैं, इसीलिए हिन्दुओं का जो चाहे सो हो, पर अपने लिए वे ‘पाकिस्तान’ मांगते हैं, जिस में धर्म को पहला स्थान दिया जा सके। इस बात को अनेक धर्मवाले राष्ट्र में सिद्ध करना अत्यन्त कठिन होगा। हमें अपनी विशाल संख्या होते हुए भी, सुधार के नाम पर धर्म में हस्ताक्षेप करनेवाले कानूनों के विरुद्ध सफल हो सकना, कठिन हो जाता है और ‘शारदा ऐक्ट’ पास भी हो गया, यह इस का सर्वविदित दृष्टान्त है। यह भी प्रसिद्ध है कि जब काङ्ग्रेसराज की इतिश्री हुई, तब मुसलमानों ने ‘मुक्तिदिन’ (डेलिवरेन्स डे) मनाया था। हमें भी अपने धर्म की, मुसलमानों की तरह, प्रधानता मान्य है, पर ऐतिहासिक कारण हमलोगों को जब मुसलमानों से पृथक् करते हैं, तब काङ्ग्रेसवादियों का मुसलमानों से भाईचारा उन्हें ‘कोरा चेक’ दिलवाता है। ‘हिन्दूमहासभा’ ‘हिन्दू’ शब्द को चाहती है, पर हिन्दूशास्त्र के विधानों से दूर रहती है। ‘हिन्दू’ शब्द के अर्थ में सिख, जैन, समाजों आदि को लाकर शास्त्रों को उस ने उड़ा दिया है। इसलिए न तो उसे हिन्दू मानते हैं, न काङ्ग्रेसी, फिर भी वह मुसलमानों के विरोध पर जीवित है।

५—दूसरा सिद्धान्त राज्यधुरा के वहन में राजवंशियों के विधान का है। इस विषय में जरा मौलिक विचार की आवश्यकता है। यहाँ एकाधिपत्य या अनेकाधिपत्य का प्रश्न मुख्य नहीं है। हमारी योजना के मौलिक सिद्धान्त की तरह आधिपत्य तो धर्म का ही हुआ, किन्तु विशेषतः यहाँ उस अधिकार के प्रधान वाहक के रूप में आनुवंशिक राजकुमार का विधान इष्ट गिना है। इस सम्बन्ध में भी काङ्ग्रेस की भावना हमलोगों से लगभग विरुद्ध है। वह प्रजातन्त्र राज मांगती है और वर्ण, वंश प्रभृति के गुण, शक्ति तथा लाभों को प्रधानता नहीं देती। राजसंस्था को इस जमाने में केवल अयोग्य, अनुपयुक्त समझने की ओर उस का रुख है। देशी राज्यों के भारत को भी, जिसे ‘इण्डियन इण्डिया’ कहा जाता है, हो सके तो वह अपने हाथ के नीचे लाना चाहती है।

६—प्रजासत्ताधीश-शासन या लोकशासन का मार्ग हमारी प्रणाली का या शास्त्रीय मार्ग अथवा आदर्श नहीं है। इतना ही नहीं, विगत यूरोपीय महायुद्ध के उपरान्त यूरोप के लोकतन्त्रात्मक अनेक राज्यों में अधिनायकता, ‘डिक्टेटरशिप’, सर्वसत्ताधीशता स्थापित हुई थी। अतः लोकशासन में बहुमत यदि आप्रही हो, तो लोकशासन में से ‘डिक्टेटरशिप’ का ही जन्म होता है। यहाँ श्रीगान्धीजी एवं मि० जिन्ना की ओर परदेश में मि० चर्चिल, मि० रूजवेल्ट आदि की थोड़ी-बहुत अधिनायकता ही दृष्टिगोचर होती है।

केवल प्रलाप !

(महन्त श्री शान्तानन्द जी, श्रवणनाथ मठ, हरद्वार)

ता० ५ अक्टूबर के दैनिक ‘आज’ में ‘स्वामी जी का एक शिष्य’ नाम से ‘धर्मप्रचार या और कुछ’ शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। इस सम्पूर्ण लेख को पढ़ने के बाद मैं जहाँ तक समझ सका हूँ श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज को धार्मिक जनता में जो आदरणीय स्थान प्राप्त होता जा रहा है और जनता में उन के प्रति जो अनन्य श्रद्धा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है, उस से लेखक महोदय का सङ्कीर्ण हृदय थर्रा उठा है और उन्होंने ने अन्य कोई उपाय न देखकर श्रीस्वामीजी पर तथा उन के कार्यों पर अनर्गल प्रलाप करके जनता को भ्रम में डालने की चेष्टा की है। अपने उस लेख में सुधारवादी महोदय ने ‘असामयिक’, ‘अशास्त्रीय’ और ‘घन का अपव्यय’ आदि शब्दों का विशेष प्रयोग कर पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने का विशेष प्रयत्न किया है।

असामयिक से लेखक का तात्पर्य यही हो सकता है कि यह समय यज्ञ करने का नहीं है। परन्तु वास्तव में देखा जाय, तो असामयिक की परिभाषा यह हो सकती है कि जिस में जनता का समर्थन प्राप्त न हो और जो उस देश की संस्कृति, सभ्यता के विरुद्ध हो। परन्तु इन यज्ञों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। इन में सर्वसाधारण जनता का पूर्ण सहयोग रहा है। पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति के उपासकों का उस के विरोधी होने से तो सन्देह ही नहीं हो सकता। यज्ञ करने का उपयुक्त समय देखकर ही ये किये जा रहे हैं और सुचारु रूप से सम्पन्न हो रहे हैं। रही विरोध की बात, संसार का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जिस का विरोध न हो। यह सृष्टि का नियम

है कि अच्छे से अच्छे कार्य का भी विरोध होता ही है। इसी का एक उदाहरण यज्ञ का विरोध भी है। यज्ञ हिन्दू-संस्कृति के उच्चादर्श के प्रतीक हैं। यज्ञों का प्रायः लोप सा हो गया था, परन्तु श्रीस्वामी करपात्रीजी के पवित्र सङ्कल्प के बल से फिर यज्ञों के प्रति जनता की अज्ञा जाग उठी है। यही कारण है कि अन्न आदि के दुष्काल में भी जनता ने उत्पादपूर्वक अज्ञा से यज्ञों को सम्पन्न कराने में पूर्ण सहयोग दिया है। लेखक महोदय को यज्ञों से इतनी चिढ़ क्यों है, इस का रहस्य तो वे ही समझ सकते हैं। हमारे देश का लाखों, करोड़ों रुपया सिनेमा, मादक द्रव्यों और आधुनिक फैशन को सामग्रियों आदि में लुट रहा है और हजारों, लाखों नवयुवक और नवयुवतियों पथभ्रष्ट हो रही हैं। इन सभी बातों पर शायद ही लेखक महोदय को कुछ सोचने और लिखने का अवसर प्राप्त हुआ हो, परन्तु ४, ५ लाख रुपये यज्ञ में व्यय हो गये, तो आप समझने लगे कि देश का सर्वस्व चला गया। वर्तमान समय के सुधारवादियों का ब्राह्मणों से द्वेष करना प्रधान कर्तव्य ही बन गया है, अन्यथा जिन ब्राह्मणों की कृपा से प्राचीन वैदिक हिन्दू-संस्कृति की रक्षा परम्परा से होती आ रही है और जिन्होंने विविध प्रकार के कष्टों को सहनकर त्याग, तपस्या और विद्या के बल पर हिन्दूधर्म को सड़ूटों से बचाया, उन में से यदि कुछ ब्राह्मणों को यज्ञ में दीक्षित होने पर दक्षिणा मिल गयी, तो तथाकथित सुधारवादी पर पहाड़ न टूट पड़ता। मैं लेखक महोदय से सादर पृच्छना चाहता हूँ कि आप ने देश, धर्म और जाति के अभ्युत्थान के लिए क्या कुछ कर डाला ? जिस यज्ञ में देश के सर्वशास्त्र-पारङ्गत विद्वान् पधारे हो और उन की पूर्ण सम्मति और सहयोग प्राप्त किया गया हो, उसे अशास्त्रीय कहना लेखक महोदय को ही शोभा दे सकता है। हाँ, ब्राह्मणों में कुछ ऐसे भी लोग मिल सकते हैं, जो 'अशक्तस्तत्पदं गन्तुं ततां निन्द्य प्रकुर्वते' इस उक्ति को यज्ञ में भाग न मिलने के कारण चरितार्थ कर रहे हों और सुधारवादियों के स्वर में स्वर मिलाकर 'अशास्त्रीय' 'असामयिक' आदि कहने की धृष्टता कर रहे हों।

जनता का एक बहुत बड़ा भाग स्वभाव से ही यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों में रुचि रखता है, इसलिए यज्ञ आदि के अतिरिक्त स्वयं करपात्रीजी भी उन्हें शिक्षा, सामाजिक आदि कार्यों के लिए यदि धन देने के लिए प्रेरित करें, तो शायद वे आनाकानी करने लगे। इस यज्ञ का सांस्कृतिक और सामयिक महत्त्व तो है ही, साथ ही सहस्रों ब्राह्मणों, शिल्पियों और मजदूरों की आजीविका भी हो जाती है और यज्ञ में दान देने के लिए किसी की बाध्य भी नहीं किया जाता। बल्कि अधिकांश रुपये तो लक्ष्मी के ऐसे वरद पुत्रों से ही प्राप्त होते हैं, जिन के पास इतना दान देने पर भी कोई कमी नहीं आती, जैसे दिल्ली के यज्ञ में ब्राह्मणों की समस्त दक्षिणा श्री गौरीशङ्कर जी गोयनका ने ही दी। सभी दृष्टियों से यह धन का दुरुपयोग नहीं, बल्कि महान् सदुपयोग है।

उक्त लेखक ने अपने लेख में महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू और डा० भगवान् दास जी का नाम लेकर अपने पक्ष का समर्थन करने की चेष्टा की है, परन्तु ये हमारे राजनीतिक नेता हैं। इन से स्वामीजी का किन्हीं बातों पर सैद्धान्तिक मतभेद हो सकता है, परन्तु व्यक्तिगत मतभेद की कोई सम्भावना नहीं की जा सकती। यज्ञ में सरकारी सहायता की भी लेखक ने दुहाई दी है। वर्तमान समय में, जब कि प्रत्येक चीजों पर कण्ट्रोल है, बिना सरकार के सहयोग के इतने बड़े यज्ञ कैसे हो रहे हैं ? पर लेखक महोदय को जानना चाहिए कि ये महान् कार्य केवल जनता के सहयोग से ही हो रहे हैं। धार्मिक कृत्य होने के नाते सरकार स्पर्शरूप से इन का विरोध नहीं करती, यही उस की बड़ी कृपा समझनी चाहिए। एक प्रश्न में लेखक महोदय ने यह भी कहा है कि स्वामी ब्रह्मानन्दजी ज्योतिर्मठ के आचार्य कैसे ? इस सम्बन्ध में लेखक महोदय से निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारे साधुसमाज के 'दशनामी' संन्यासी अखाड़ों ने उन्हें अपना शङ्कराचार्य स्वीकार किया है और देश की प्रायः सभी सनातनधर्मी संस्थाओं एवं विद्वानों ने उन के आचार्यत्व का समर्थन किया है। रही 'बद्रीनाथ कमेटी' की बात, उस का मानना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। परन्तु लेखक महोदय इस बात को ध्यान में रखें, एक समय आयेगा जब कि कमेटी आचार्य महोदय के अधीन रहकर काम करेगी।

अन्त में लेखक महोदय से मेरा अनुरोध है कि वे किसी भी अच्छे कार्य को दोषदृष्टि से देखना छोड़ दें। क्या ही अच्छा होता यदि स्वामीजी

के तथाकथित 'शिष्य' अज्ञा-भाव से न सही, जिज्ञासाभाव से भी अपने प्रश्नों का समाधान स्वामीजी के ही सान्निध्य में हल कर लेते, इस से शिखण्डी की तरह पीछे से बाण छोड़ने के अपराध से भी वे बच जाते। श्रीस्वामी करपात्रीजी महागज एक दैवी पुरुष हैं, उन में त्याग, तपस्या और विद्या का महान् बल है, वे जो कुछ कर रहे हैं किसी महान् उद्देश्य से ही कर रहे हैं, महान् कार्यों में विलम्ब होता ही है। त्यागी, तपस्वी महात्मा के शुभ सङ्कल्प में महान् बल होता है, अतः स्वामी करपात्रीजी शुभ सङ्कल्प से जिन यज्ञों को कर रहे हैं, उन से हमारे देश का हित ही होगा इस में सन्देह नहीं करना चाहिए। मैं ने भी ये दो शब्द इसीलिए लिखे हैं, जिस से लेखक महोदय आत्म-निरीक्षण करें।

('आज' में प्रकाशित लेख के कई उत्तर उस के सम्पादक के पास भेजे गये, उन में 'धर्मसङ्घ' तथा जिला 'हिन्दूमहासभा' की ओर से भी उत्तर थे, परन्तु किसी को भी छापने की उदात्ता सम्पादक महोदय ने नहीं दिखलायी। इसी से उन की न्याय-प्रियता का परिचय मिलता है। स्थानाभाव के कारण हम उन लेखों को निकालने में असमर्थ हैं। केवल यह छोटा सा लेख ही निकाल रहे हैं। सं०)

शुभ समाचार

अ० भा० धर्मसङ्घ चतुर्थ महाधिवेशन तथा महायज्ञ— श्रीजगदीश्वर की कृपा से धर्मनगर में गत त्रयोदशी रविवार को महायज्ञ का आरम्भ हो गया। सभी मण्डलों में प्रातः ९ बजे एक साथ कार्यारम्भ हुआ। अक्षय नवमी को ज्योतिषीठाधोश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य जी काशी पधारे। सायंकाल ५ बजे स्थानीय गायघाट स्थित रायबहादुर पं० माधोरामजी सण्ड के राममन्दिर से जगद्गुरुजी के स्वागतार्थ विराट् जुलूस निकाला गया। धर्मसङ्घ तथा स्वागतमर्मित के सभी पदाधिकारी, विद्वत्पण, गण्यमान्य धनीमानो सज्जन एवं छात्रगण बहुत बड़ी संख्या में जुलूस में सम्मिलित थे। रास्ते में स्थान स्थान पर नागरिकों द्वारा पुष्पमाला अर्पण एवं पुष्पवृष्टि से जगद्गुरु का स्वागत किया गया। दशाश्वमेध घाट से एक सुसज्जित नौका द्वारा आचार्यचरण धर्मनगरस्थित उन के निवास-स्थान पहुँचाये गये। गत द्वादशी शनिवार को शारदापीठ के शङ्कराचार्य जगद्गुरु श्रीराजराजेश्वराश्रम जी महागज भी पधारे और उन का भी पूर्ववत् बड़े समारोह से स्वागत किया गया। पुष्कर से श्री वीरराघवाचार्य जी महागज और बम्बई से श्री गोकुलनाथ जी महाराज के सुपुत्र कृष्णजीवन जी महागज भी पधार रहे हैं।

हिन्दू कांड विरोधी अ० भा० सम्मेलन—स्वागतसमिति की अध्यक्षता पं० कैलासनाथ काटजू ने स्वीकृत कर ली है। सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए महाराजा कासिमबाजार श्री शिरीषचन्द्र नन्दी बहादुर पधार रहे हैं।

पाकिस्तानविरोधी सम्मेलन—धर्मसंघ महाधिवेशन के साथ ही पाकिस्तान-योजना के विरोध में 'अखण्डभारत सम्मेलन' करने का निश्चय हुआ है। श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी इस के अध्यक्ष होंगे। डाक्टर मुन्जे आदि नेता इस में सम्मिलित होने के लिए काशी आ रहे हैं।

धर्मसङ्घ-सप्ताह—गत गोपाष्टमी बुधवार से काशी में धर्मसङ्घ-सप्ताह बड़ी धूमधाम से मनाया जा रहा है। प्रथम दिन पञ्चगङ्गाघाट पर म० म० पं० हरिहरकृपालु द्विवेदी की अध्यक्षता में सभा हुई। अध्यक्ष महोदय के अतिरिक्त श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी, श्री स्वामी करपात्री जी, श्री पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी एवं श्री पं० अनन्तशास्त्री फड़के आदि के अत्यन्त ओजस्वी भाषण हुए। इसीतरह अक्षयनवमी गुरुवार को पं० सभापति जी उपाध्याय की अध्यक्षता में मणिकर्णिका घाट पर, १० शुक्रवार को पं० श्रीशङ्करजी भट्टाचार्य जी के सभापतित्व में दशाश्वमेधघाट पर, १२ शनिवार को म० म० पं० चित्रस्वामि शास्त्री जी की अध्यक्षता में अस्सीघाट पर सभाएं हुईं। प्रतिदिन अत्यधिक भीड़ होती रही। १३ रविवार से तीन दिन यथाक्रम धर्मनगर में सभाएं हुईं।

दैनिक 'सन्मार्ग'—हमें हर्ष है कि हमारा सहयोगी 'सन्मार्ग' अब दैनिक रूप में निकलने लगा। हम हृदय से उस का स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वह 'सत्यमेव जयते नातृतम' की नीति पर सदा दृढ़ रहेगा।

सिद्धान्त

साप्ताहिक

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

हमारा कर्तव्य

(श्रीमज्जिमग्गसुल्लसङ्गह शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर
श्रीब्रह्मानन्दसरस्वती जी महाराज)

भूतभावन श्रीविश्वनाथ तथा जगदम्बा अन्नपूर्णा का यह परम अनुग्रह कि आज इस जगत्प्रसिद्ध काशी नगरी में पुण्यसलिला जाह्नवी के तट पर आपलोगों के समागम का सुअवसर फिर से प्राप्त हो रहा है। काल का प्रवाह इतना प्रबल है कि उस के सामने स्थायी रूप से कोई वस्तु टिकती नहीं, केवल धर्म की ही एक ऐसी चट्टान है, जिस पर पड़कर यह प्रवाह भी छितरा जाता है। जिस ने इस चट्टान का सहारा पकड़ लिया, वही पार लग जाता है। इसीलिए धर्म 'सनातन' है। इतिहास के रङ्गमञ्च पर कितनी ही संस्कृतियाँ आयीं और अपना खेल दिखलाकर काल की उदरदरी में विलीन हो गयीं। आज उन में से कुछ का इतिहास के पृष्ठों में केवल नाम शेष रह गया है। परन्तु हमारी भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है। यद्यपि काल के थपेड़ों से उस का रूप विकृत हो गया है, पर वह मरी नहीं है। इस का मुख्य कारण यही है कि वह सनातन धर्म की पुष्ट चट्टान पर स्थिर है। धर्मानुष्ठान की परम्परा उसे इस घोर कलिकाल में भी जीवित बनाये हुए है। परन्तु आज हम उसी को छिन्न-भिन्न करने पर तुले हुए जान पड़ रहे हैं।

इस में सन्देह नहीं कि आज हमारी दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही है। उस को दूर करने के लिए तरह तरह के उपाय बतलाये जा रहे हैं, परन्तु बिना उचित निदान के कोई चिकित्सा कभी सफल नहीं हो सकती, उल्टे उस से हानि ही होगी, आजकल हो भी यही रहा है। वर्तमान रोग को समझने के लिए हमें अपने पिछड़े इतिहास पर एक दृष्टि डालनी पड़ेगी। आधुनिक इतिहासकार भारत का इतिहास प्रायः गौतम बुद्ध के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ करते हैं। एक दृष्टि से यह ठीक भी है, क्योंकि वास्तव में हमारे पतन का आरम्भ वहीं से होता है और इन इतिहासकारों को हमारी इस अवर्नात में ही उन्नति देख पड़ती है। इस के पहले के इतिहास में उन की गति ही नहीं है। तत्कालीन मनुष्यों के न अस्थि-पञ्जर मिलते हैं, न इमारतों के भग्नावशेष, न मुद्राओं का पता है, न शिलालेखों का, जो इतिहास के आजकल साधन माने जा रहे हैं। फिर उन्हें इतिहास की झलक कैसे मिल सकती है? परन्तु वह सुरभारती के वाङ्मय में आज भी सुरक्षित है और 'अशिक्षित' कहे जानेवालों में भी उस की स्मृति का आभास मिलता है। गौतम बुद्ध के पहले भी नास्तिकों की आवाज इधर-उधर सुनायी पड़ती थी, राजाओं में बराबर युद्ध चला करते थे। पर वैदिक धर्म की मर्यादा बँधी हुई थी, राष्ट्र का जीवन उसी के भीतर प्रवाहित होता था। धार्मिक सङ्गठन इतना सुदृढ़ था कि उस का भेदन संभव न था। तभी भारत की धाक सारे संसार पर जमी हुई थी। परन्तु कालधर्मानुसार सङ्गठन में कुछ दीर्घत्व आया, क्रियाकलापों का रूप कुछ विकृत होने लगा। उसी समय गौतम बुद्ध का जन्म हुआ, जिन की प्रतिभा से प्रभावित होकर बौद्ध-सम्प्रदाय चल पड़ा। इस में सनातनधर्म की आध्यात्मिक-वर्णव्यवस्था का निरादर, यज्ञ-यागादि का तिरस्कार और आत्म-वाद की अवहेलना की गयी। बौद्ध प्रचारकला में बड़े कुशल थे। वास्तव में आज उन्हीं का अनुकरण हो रहा है। उन के समुदाय, शिष्य तथा सङ्घ राजाओं को अपने वश में करने के लिए उन के घर में प्रवेश करते थे और यह घोषित करते थे कि राजा हमारे पक्ष का है, उस का देश हमलोगों का है; इसलिए आपलोग वेदमार्ग में श्रद्धा मत रखिये—“सशिष्यसङ्घाः प्रविशन्ति राज्ञं गेहं नृणां विप्रसङ्गं विधातुम् । राजा मदीयोजिरमस्मदीयन्तदा प्रियवचनं मु वेदमार्गम् ।” (साधन-शङ्कराचार्य ७।११)। “राजा का स्वयं चरणम्” इस की वे श्रुति समझते थे। इसके साथ ही शिक्षा की भी उन्होंने अवैतनिकता और विभिन्न प्रान्तों में विद्यालय तथा पुस्तकालय स्थापित किये।

राजमार्ग के स्तम्भों पर, जङ्गलों के पत्थरों पर, पर्वतों की चट्टानों पर, अपने नियम खुदवाँ दिये, जिन को पढ़कर जनता उस ओर आकृष्ट होने लगी। सङ्घों ने भी प्रचारकार्य अपने हाथों में लिया और पैदल घूम घूमकर भिक्षुओं ने देश के कोने कोने में बौद्धमत का सन्देश पहुँचाया। 'स्वतन्त्रता' और 'समानता' की उस ने आवाज उठायी, जिन के मोह में कितने ही फँस गये। फलतः कुछ दिनों तक उस ने बड़ा जोर पकड़ा, पर आधारभूति कमजोर होने के कारण इस का प्रभाव अधिक दिनों तक न टिक सका। जिस आचार पर भगवान् बुद्ध ने इतना जोर दिया, वही भ्रष्ट होता गया। वैदिक धर्म वर्णाश्रम-व्यवस्था के ढाँचे में ही शुद्ध रह सकता है। उस की सीमाएं टूटने पर तो उच्छृङ्खलताएं ही रह जाती हैं। इन्हीं दिनों जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य जी का आविर्भाव हुआ। उन की प्रखर बुद्धि, उदात्त विचार, परम त्याग, सूक्ष्म दृष्टि, अटल धर्मनिष्ठा, कठोर कर्तव्यपालन, अदम्य शक्ति और परमाश्रय का ऐसा प्रभाव पड़ा कि बौद्धमत को अपनी जन्मभूमि से डेरा-ढण्डा उठाना पड़ा।

उन्होंने जिस मार्ग का दर्शन कराया, जिस के द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त किया, उस पर चलकर आज भी हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। आचार्यचरण के जीवन का प्रधान लक्ष्य वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रचार था; क्योंकि उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से यह देख लिया था कि विश्व-कल्याण का मूल धर्म तथा सारे अनर्थों का कारण अधर्म है। अतः 'धर्म-ग्लान्यधर्माभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्वक धर्मसंस्थापन' ही ऐसा मार्ग है, जिस के द्वारा सारे संसार में समस्त वास्तविक सुख, सम्पत्ति तथा अन्त में निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है और वह धर्म है 'श्रुतिस्मृतिपुराणप्रतिपादित सनातन वैदिक धर्म'। वेद के तथ्यों को अप्रमिद्वान्त का रूप देकर तत्कालीन सुधारवादिश्यों ने धर्म को जर्जरित करने का पर्याप्त प्रयत्न किया, जैसा कि तत्कालीन हमारी आज भी कर रहे हैं। पूज्य आचार्यचरण ने अपनी अलौकिक विद्वत्ता के बल पर उस समय प्रचलित समग्र अवैदिक एवं अर्धवैदिक सिद्धान्तों की धजियाँ उड़ा दीं, उन की निःसारता प्रमाणित कर दी, वेदप्रतिपाद्य मत का विपुल ऊहापोह करके उस को निरापद बना दिया। धर्मस्थापन के कार्य को स्थायी बनाने के लिए उन्होंने महात्माओं को सङ्घबद्ध करने का उद्योग किया। गृहस्थ अपने ही कार्यों में फँसा है, उसे हर समय नोन, तेऊ, लकड़ी की चिन्ता रहती है। धर्मप्रचार के लिए उस के पास समय कहाँ? परन्तु वैदिकसमाज का साधुवर्ग इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। विरक्त पुरुष ही धर्म का सच्चा उपदेश हो सकता है तथा अपने जीवन को धर्माभ्युत्थान के प्रबल प्रयत्न में अर्पण कर सकता है। इस तापसवर्ग को सुसङ्गठित करके धर्म की रक्षा के लिए उन्होंने महान् कार्य सम्पन्न किया। इस के लिए भारतभूमि की चारों दिशाओं में उन्होंने ने चार प्रधान पीठ स्थापित करके उन के अध्यक्षरूप में अपने चार पटशिष्य नियुक्त कर दिये। केवल इतने ही से उन्होंने अपने कर्तव्य को इति नहीं समझा, इन की उन्होंने ने ऐसी सुव्यवस्था भी बॉध दी कि जिस के अनुसार चलने से ही महान् उद्देश्य पूर्ण हो सकता है। इस के लिए बड़े कठोर नियम बनाये गये, जो 'महासुशासन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस के अनुसार आचार्यों को चाहिए कि "अपने धर्म का विधिवत् पालन करें, किसी प्रकार अपने धर्म का निषेध न करें। लोग धर्मविरुद्ध क्या कर रहे हैं, इस की जानकारी के लिए उन्हें चाहिए कि अपने निर्दिष्ट प्रान्तों में सदा भ्रमण किया करें। हमलोगों ने वर्णाश्रम के जिन सवाचारों को शास्त्रद्वारा उचित सिद्ध कर दिया है, उन की रक्षा अपने अपने भाग्य के विधिपूर्वक किया करें। इस समय लोक में धर्म का नाश विशेष रूप से होता जा रहा है, इसलिए आलस्य छोड़कर उद्योगशील होना चाहिए, एक दूसरे को आपस में मिल-जुलकर धर्म की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। मर्यादा यदि नष्ट हो जायगी, तो अच्छे निग्रह लुप्त हो सकते हैं और सर्वत्र कलह की वृद्धि होने लगेगी, अतः कलह की वृद्धि को सदा रोकना चाहिए।"

आचार्य ने मठाधीशों को रहने के लिए राजसी ठाटबाट का भी उपदेश दिया। परन्तु यह धर्म के उद्देश्य से ही, उन्हें तो स्वयं पद्मपत्र की तरह निर्लेप ही रहना चाहिए—“केवल धर्ममुद्दिश्य विभवो बाह्यचेतसाम्। त्रिहि-तलोपकाराय पद्मपत्रनयं चरेत्।” सिंहासन उन के लिए सुख का आसन नहीं है, उन को बड़ी भारी जिम्मेदारी है। उन्हें पवित्र, इन्द्रियजित्, वेदवेदाङ्गविद् विद्वान्, योगाभ्यासी तथा सर्वशास्त्रनिष्णात होना चाहिए। यदि वे इन गुणों से हीन हैं, तो पीठारूढ होते हुए भी उन का निग्रह विद्वानों को करना चाहिए—“उत्कलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग् भवेत्। अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम्।” इन नियमों का पालन करना केवल सन्यासियों का ही काम नहीं है, राजा सुधन्वा तथा दूसर नरेश भी इस धर्मपरम्परा का विधिवत् पालन करें। धर्म मनुष्यों का मूल है और वह धर्म आचार्य के ऊपर अवलम्बित रहता है। इसलिए श्रेष्ठ आचार्य का शासन ही सब शासनों से बढ़कर है—“धर्मो मूलं मनुष्याणां स चाचार्याव-लम्बनः। तस्मादाचार्यसुमणेः शासनं सर्वतोऽधिकम्॥” आचार्य के ये उपदेश कितने उदात्त, कितने पावन तथा कितने उपादय हैं। इन से उन के व्यावहारिक ज्ञान का परिचय मिलता है। ‘महानुशासन’ सबमुक्त महानु-शासन है। मायावाद के पुरस्कर्ता होने के नाते आचार्य के ऊपर जगत् को काल्पनिक बतलाने का प्रायः दोषारोपण किया जाता है। उन की दृष्टि में इस देश में अकर्मण्यता तथा आलस्य फेलने का सारा दोष ‘मायावाद’ के उपदेशक के मत्थे मढ़ा जाता है। कहा जाता है कि जब सारा जगत् ही खेल है, तब-फिर उस में उद्योग की आवश्यकता ही क्या? परन्तु ऐसे तर्कभासों को दूर करने के लिए आचार्य का कर्मठ जीवन ही पर्याप्त है। कर्म के साथ ही उन के जीवन में उपासना और ज्ञान का अद्भुत समन्वय मिलता है। वास्तव में आचार्य का जीवन उन के ग्रन्थों के ऊपर भाष्य-स्वरूप है और उस से हमें व्यावहारिक वेदान्त का उपदेश मिलता है।

भारत के सीमाग्य से विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने इन्हीं दिनों अपना आदर्श जीवन देश के सामने रखा। थोड़ा बहुत सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी सबने मिलकर धर्मोद्धार का प्रयत्न किया, जिस का फलस्वरूप देश में धार्मिक जागृति की लहर उठ पड़ी। परन्तु थोड़े ही दिनों में प्रमाद का फिर प्राबल्य हुआ। आचार्यों ने नियन्त्रण ढोला कर दिया, शासकों में स्वार्थपरता आगयी, धार्मिक एकता के बन्धन शिथिल पड़ गये। कई छोटेमोटे राज्य स्वतन्त्र हो गये और आपस ही में कलह चल पड़ा। हमें असावधान पाकर यवनों ने आक्रमण किया और हमारा धर्मभीरता से लाभ उठाकर ललछद्मद्वारा देश पर अपना शासन स्थापित कर लिया। यद्यपि शासन हमारे हाथ से बहुत कुछ निकल गया, पर हमारी शिक्षा में हस्ताक्षेप नहीं किया गया। इसीलिए हमारी सामाजिक जीवन की परम्परा बहुत कुछ अविच्छिन्न बनी रही। परन्तु अंग्रेजी शासन के साथ हमारे हाथ से अपनी शिक्षा भी चली गयी। फलतः आज भारत राजनीतिक से भी बढ़कर मानसिक गुलामी में फँसा हुआ है।

हमारे भावी कार्यक्रम का सूत्र उस ‘महानुशासन’ में मिलते हैं, जिस की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। शासन और शिक्षा इन सौंचों में ढलकर ही मनुष्य सच्चा नागरिक बनता है, परन्तु दोनों का आधार होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है, तो पारणाम ही उल्टा होगा। हमें हर्ष है कि ‘अखिल भारतीय धर्मसङ्घ’ ने इसी कार्यक्रम को अपनाया है। उस की आधारशिला है अधर्मनिवृत्ति तथा धर्मसंस्थापन के लिए तीव्र संवेग से भगवद्गाराधना और उस के साथ ही शासन तथा शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करना, जिस के द्वारा मनुष्य का पुरुषार्थसम्पादन में सहायता मिल सक। वर्तमान शासनविधान हमारे धर्म तथा संस्कृति के लिए सर्वथा घातक है। शासन आज ऐसे लोगों के हाथ में है, जन्हें न वैदिक धर्म में श्रद्धा है और न प्राचीन संस्कृति से सहायभूति। फलतः ऐसे ऐसे कानून बनते जा रहे हैं, जिन से हज़ारा धार्मिक तथा सामाजिक जीवन क्षिणभ्रम होता जा रहा है। प्रस्तावित ‘हिन्दू कोड’ उस का सब से ताजा उदाहरण है। इन सब पर छाप-लगायी जाती है लाकतन्त्र की, जिस से स्पष्ट होता है कि यह शब्द कितना घांखे में डालनेवाला है। जनता के नाम पर यह तथाकथित ‘सुधार’ किये जा रहे हैं, पर उस के ९९ प्रतिशत को उस का पता तक नहीं है। वास्तविक लोकतन्त्र तो हमें अपनी प्राचीन शासनव्यवस्था में ही मिलता है। ‘वृद्धारण्यकोपनिषद्’ अध्याय १ में बतलाया गया है कि आदि में एक ही

ब्रह्म था, अकेले होने के कारण विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ, तब उस ने अतिशयता से ‘क्षत्र’ इस प्रशस्त रूप की रचना की, अतः क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई भी नहीं। इसी से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। वह क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है। यह जो ब्रह्म है, क्षत्रिय की योनि है, इसीलिए यद्यपि राजा उत्कृष्टता को प्राप्त होता है, तथापि अन्त में वह ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है अर्थात् उसे पुरोहित करके आगे स्थापित करता है। पर क्षत्रिय-जाति उग्र होती है, वह नियन्त्रण में नहीं रह सकती, इसलिए अश्रेष्ठ धर्म की उत्पत्ति हुई। यह धर्म क्षत्रिय का भी नियन्त्रण करता है, क्षत्र का भी क्षत्र है। धर्म द्वारा निर्बल भी बली पर शासन करता है, जैसे राजा। अतः धर्म से उत्कृष्ट कुछ नहीं—“स नैव व्यभवत् तच्छ्रेष्ठोरूपमन्त्यसृजत् धर्मम्। तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः तस्मात् धर्मस्य परं नास्ति अथोऽश्ली-यान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्”। ‘महानुशासन’ में बुद्धि और शान्त, शास्त्र और शस्त्र, व्यवस्थापन और शासन में क्या सम्बन्ध है यह दिखलाया गया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय यह दो शासन के प्रधान अङ्ग हैं, जिन से समस्त प्रजा शासित होती है। पर दोनों में सर्वथा स्वतन्त्र कोई नहीं है। ब्राह्मण राजा को धर्ममार्ग बतलाता है और राजा उस पर शासन करता है। कोई भी व्यक्ति, कोई भी वर्ग, कोई भी श्रेणी सर्वतन्त्रस्व-तन्त्र नहीं है। सब एक दूसरे पर आश्रित है और सब पर धर्म का अङ्कुश है। राजनीतिशास्त्र को भारत की यह खास देन है। प्रत्येक व्यक्ति में शासन की योग्यता नहीं है, इसलिए जो जिस श्रेणी के परम्परया नेता है, वे ही उस के प्रतिनिधि हैं। राजा इन की सलाह बराबर लेता है। महाराज दशरथ रामचन्द्र को युवराज बनाने के लिए नेताओं की सम्मति लेते हैं। शासननियमों का प्रभाव सब पर पड़ता है। यदि किसी को कोई कष्ट है, तो उस व्यक्ति करने का सब का अधिकार है। एक साधारण व्यक्ति की भी शिकायत सुनी जाती है। एक रजक द्वारा लाञ्छन लगाय जाने पर भगवान् रामचन्द्र महारानी सीता का पांगत्याग कर देते हैं, इस से बढ़कर और लोक-तन्त्रता क्या होगी? ‘रामराज्य’ का चित्र आदिकवि वाल्मीकि ने बड़े अच्छे शब्दों में खींचा है। परन्तु हमारे सामने प्रश्न है ‘रामराज्य’ फिर से स्थापित कैसे हो? आज अनेक प्रकार के शासन-विधान बन रहे हैं। हमारे ‘धर्मसङ्घ’ ने भी अपने गत महाधिवेशन में इस के लिए एक समिति स्थापित की थी। वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए यह कार्य साधारण नहीं है। इस में प्राचीन तथा नवीन शासनावधानों के पूर्ण अध्ययन की आवश्यकता है। इस के सुयोग्य अध्यक्ष की पूरी तत्परता होते हुए भी उक्त मिति ऐसा विधान आज हमारे सामने उपस्थित नहीं कर सकी, इस के लिए हम उसे दोष नहीं दे सकते, क्योंकि प्रश्न बड़ा जटिल है, जिस को सुलझाने के लिए पर्याप्त समय की आवश्यकता है। विधान हमारा आदर्श ही होना चाहिए, पर इस वर्तमान परिस्थिति में उन को कैसे कार्यान्वित कर सवेंगे इस पर ध्यान रखना बड़ा आवश्यक है। यहाँ व्यावहारिक बात आ जाती है। यह तो हम भी जानते हैं कि ‘रामराज्य’ स्थापित करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, पर उस प्राचीन आदर्श के पहले उस समुदाय की श्रद्धा उत्पन्न करानी है, जो नेताओं के नाम से प्रसिद्ध है और जो आधुनिक लोकतन्त्र की चकाचौंध में अपनी बर्चाखुची स्वतन्त्रता भी नष्ट करने जा रहा है। पर इतने से ही काम नहीं चल सकता, ध्येयप्राप्ति के लिए हमें राजनीतिक कार्यक्षेत्र में भी उतरना पड़ेगा। इस में कई संस्थाओं के साथ सहयोग भी अवसर आ सकता है। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हम भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं, उस की राजनीतिक पराधीनता हमें हर समय खटकती है, पर साथ ही इस राजनीतिक स्वाधीनताप्राप्ति के लिए हम अपना धर्म नहीं वेचना चाहते। ‘पाकिस्तान’, ‘आज़ादपञ्जाब’ आदि आदि योजना द्वारा ‘भारतमाता’ का खण्ड-खण्ड करने में उसे वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। ‘रामराज्य’ तो जब मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की कृपा होगी, तभी स्थापित होगा। परन्तु उस आदर्श की ओर बढ़ने के लिए वर्तमान प्रतिकूल परिस्थिति में थोड़ा-बहुत प्रयत्न तो अवश्य कर सकते हैं। देशी नरेशों से हमारा यह अनुरोध होना चाहिए कि ‘दिवाळ लोकतन्त्र’ के भुलावे में न फँसें। विवश होते हुए भी यथासम्भव अपने राज्यों में प्राचीन शासन-प्रणाली का अनुकरण करके प्रजा को सन्तुष्ट तथा सुखी रखने का प्रयत्न करें। प्राचीन शासनशैली की

सकलता वे ही सिद्ध करके दिखला सकते हैं। ब्रिटिशभारत में प्रामाण्यद्वय को हम अपने हाथ में लेकर 'रामराज्य' को नांव डाल सकते हैं। पञ्चायतों की प्रथा को फिर से प्रचलित करना चाहिए, इस से वर्तमान न्याय-व्यवस्था के पञ्जे से, जिस में पड़कर हमारी शक्ति और सम्पत्ति नष्ट होती है, बहुत कुछ मुक्त हो सकते हैं। वर्णव्यवस्था का 'साम्यवाद' हमें चलाना चाहिए, जिस में सब के लिए स्वाभाविक योग्यता तथा अधिकारानुसार उच्च से उच्च पदप्राप्त का द्वार खुला हुआ है। कृषि तथा व्यापार में भी प्राचीन नियमों का पालन करना चाहिए। स्मृतियों, इतिहास, पुराणों, स्मृतियों, राजनीति, कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि में हमें प्राचीन शासनपद्धति का अच्छा विचार मिलता है। उन में से कई बातों का अनुकरण हम आज भी कर सकते हैं। हमारा किसी व्यक्ति, किसी संस्था, किसी वर्ण से द्वेष नहीं और न हम किसी का अनिष्ट ही चाहते हैं। हमारी दृष्टि में तो सभी ईश्वर के अंश हैं। 'धर्मसङ्घ' स्वतन्त्रता-युद्ध में अन्य संस्थाओं के साथ सहयोग के लिए तैयार है, यदि उसे यह आश्वासन दिया जाय कि धार्मिक, सामाजिक जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो फिर 'धर्मसङ्घ' को भी निर्वाचन-क्षेत्र में उतरने का विचार करना पड़ेगा।

आजकल की दुर्व्यवस्था का प्रधान कारण है आधुनिक शिक्षा, जैसा कि गत महाध्वेशन में हम कह चुके हैं। 'शिक्षामण्डल' स्थापित करके 'धर्मसङ्घ' ने इस ओर भी सुधार का कदम उठाया है, परन्तु शिक्षा का प्रश्न बड़ा जटिल है। प्रारम्भिक से लेकर उच्च तक सभी शिक्षाएँ ऐसे लोगों के हाथ में हैं, जिन्हें हमारा प्राचीन संस्कृति का न ज्ञान ही है न उस से कोई सद्भाव-मूर्ति। इस का प्रभाव सर्वत्र प्रकट हो रहा है और धीरे धीरे हमें अपनी ही संस्कृति से अन्ना उठती जा रही है। केवल बालकों की ही शिक्षा का प्रश्न नहीं है, प्रौढशिक्षा की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। पहले यह कार्य कथा-वार्ता एवं धर्मोपदेश द्वारा हुआ करता था, जिस का भार साधु-समुदाय तथा पण्डित-मण्डल ने अपने ऊपर ले रखा था। साक्षर न होते हुए भी प्रायः सभी को अपन प्राचीन इतिहास तथा धर्म-कर्म का ज्ञान था। वर्णव्यवस्था के प्रचलन से वेकारी का प्रश्न ही नहीं उठता था। सब को अपने परम्परा-प्राप्त व्यवसाय की शिक्षा बराबर मिला करती थी। साक्षरता अनिवार्य बनाने से शिक्षा का प्रचार न होगा। सदा से मन्दिर हमारे यहाँ सर्वसाधारण की शिक्षा के प्रधान केन्द्र रहे हैं, इसलिए उन की सुव्यवस्था करना हमारा परम कर्तव्य है। उस क इन प्राचीन साधनों को फिर से प्रचलित करना होगा। साथ ही साहित्य, समाचारपत्र, रेडियो आदि प्रचार के आधुनिक साधनों को भी अपनाना पड़ेगा। आजकल विदेशी साहित्य द्वारा बहुत कुछ विषम-मन हो रहा है, जिस से शिक्षित समाज का वातावरण विषाक्त हो रहा है। उस को दूर करने के लिए विदेशी भाषाओं में भी हमें उपयुक्त साहित्य निकालना पड़ेगा। ये सब शिक्षा के ही अङ्ग हैं और इन पर पूरा विचार करके अपनी योजना तैयार करनी चाहिए।

शिक्षा के साथ संस्कारों का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा ही क्यों, संस्कार का सम्बन्ध हमारे यहाँ प्राणी के जन्म के पहले से मरणान्तपर्यन्त बतलाया गया है। भगवान् मनु का यहाँ तक कहना है कि गर्भाधानादि बतलाया गया है। भगवान् मनु का यहाँ तक कहना है कि गर्भाधानादि संस्कारों से शरीर इन्द्रोक्त-परलोक में पावन होता है और इन्हीं संस्कारों के प्रभाववश प्राणी इन्हीं क्षणभङ्गुर, अपवित्र देह द्वारा शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्तस्वभाव ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ होता है। अत्यन्त खेद का विषय मुक्तस्वभाव ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ होता है। अत्यन्त खेद का विषय है कि आज भारत में उन्हीं पावन संस्कारों का प्रायः लोप सा होता जा रहा है। जहाँ कहीं कुछ थोड़ा-बहुत होता भी है, वहाँ केवल अभिनयमात्र हो जाता है और इसी के परिणामस्वरूप आज हमारे देश में निर्वीर्य, निस्तेज, दुबुद्धि ही सन्तानों की वृद्धि हाती जा रही है। सन्ध्यावन्दन की भी वही दशा है, जिसे विप्ररूप वृक्ष का मूल ही बतलाया गया है। अब भी समय है, जब हमें सावधान होकर संस्कारों के यथावत् परिपालन में भी समय है, जब हमें सावधान होकर संस्कारों के यथावत् परिपालन में सचेष्ट होकर देश की पतनोन्मुखी दुरवस्था को फिर से संभालने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए।

'हिन्दू-कोड-विरोधी सम्मेलन' की कार्यवाही आप देख ही चुके हैं। यह 'कोड' हमारे धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर कुठाराघात करने जा रहा है। इस का विरोध करना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है। हमारे समाज में जो को उस के अनुरूप ही स्थान दिया गया है, वह गृहलक्ष्मी है,

जहाँ उस का आदर होता है, देवता बसते हैं। समाज के समुचित सम्बालन के लिए स्त्री-पुरुष का क्षेत्र बँटा हुआ है। दोनों में कभी सङ्घर्ष का अवसर न आये, इसलिए परस्पर ऐक्यसम्पादन किया गया है। भगवान् को आत्मसमर्पण कर देना भक्त की सब से बड़ी भक्ति है। पत्नी पति को आत्मसमर्पण करके प्रेम की पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है। वहाँ मेरे-तेरे का भेद नहीं रहता और न कभी विलग होने की सम्भावना ही रहती है। इस जन्म की कौन कहे, हिन्दू स्त्रियों की तो यह आशा रहती है कि जन्म-जन्मान्तर उस का अपने पति के साथ अटूट सम्बन्ध बना रहे। स्त्री-पुरुष-समस्या को हल करने के लिए हिन्दूधर्मशास्त्रों की यह खास देन है। इस उच्च आदर्श को छोड़कर दिखावटी 'समानता', 'स्वतन्त्रता' इत्यादि के मुलावे में पड़ना मूर्खता है। हमारे देश की स्त्रियों को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और अपने तथाकथित द्वैतियों के फन्दों में न फँसना चाहिए। साथ ही पुरुषों को उन का बराबर ध्यान रखना चाहिए। साम्प्रलित कुटुम्ब की प्रथा नष्ट होने से विधवाओं की दशा बड़ी शोचनीय हो रही है। उन के भरण-पोषण का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए।

सृष्ट्यास्पृश्य के सम्बन्ध में शास्त्रों का मत स्पष्ट है। उस का अनुसरण करते हुए भी हम अन्यजों को छोड़ नहीं सकते, क्योंकि वे हमारे ही अङ्ग हैं। उन सब के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वे सुख-शान्तिपूर्वक स्वधर्मपालन द्वारा परमकल्याण को प्राप्त कर सकें।

इन सभी के साथ हमें एक गम्भीर विषय की ओर भी दुर्लक्ष्य करने से काम नहीं चलेगा। इस विषय के सम्बन्ध में कहना पड़ेगा कि वह हमारे देव-पितृकार्य एवं समस्त मानवजाति की सर्वविध उन्नति का मूल है। वह है गोमाता, जिस की प्रशंसा से वेद, शास्त्र, स्मृतियाँ, इतिहास, पुराण भरे पड़े हैं, जिस के अनन्त उपकारों का बदला कभी चुकाया हा नहीं जा सकता। दुग्ध, दधि, तक्र, नवनीत, घृत, गोमय, गामूत्र आदि विविध पौष्टिक, पावन पदार्थों से वह सारे विश्व को आप्यायित करती है, पर आज भवौषिक अत्याचार उसी गोमाता और उस के वंश पर हो रहा है। हमें जैस भा हो उस की रक्षा एवं वृद्धि के उपायों का अवलम्बन शीघ्र ही करना चाहिए। प्रत्येक गृहस्थ को कम से कम एक गौ अपा घर में अवश्य ही रखनी चाहिए, प्रतिदिन गोशाला दिये बिना भोजन न करने का सब को व्रतग्रहण करना चाहिए। प्रत्येक जमादार को पर्याप्त गोचरभूमि अवश्य छोड़नी चाहिए। केवल गोशाला में कुछ चन्दा दे देने ही से काम न चलेगा।

निर्वलता भी एक पाप है, निर्वल को कहीं पूछ नहीं होती। सबल से ही सब लोग योग्य व्यवहार करते हैं। भारतमन्तान की शारीरिक, मानसिक निर्वलता उस के पतन का निदान है। यदि आज वे सबल होते, सङ्घटित होते, एकमत होते, तो संसार में उन की ओर आँख नम्रकर देखने का साहस कौन करता? इस के लिए हम व्यायाम के प्रचार को और ध्यान देना चाहिए। इन सब कार्यों के लिए प्रचार की आवश्यकता है, जो निर्लोभ, सहिष्णु, तपस्वी पुरुषों के द्वारा ही हो सकता है। इस की पूर्ति साधुसमाज बड़ी सरलता से कर सकता है। उस के पाछे न तो सांसारिक झंझटों को विपत्ति है, न समय का अभाव और न उपयुक्त साधनों की कमी, कमी है केवल कृतव्यता-ज्ञान की। साधु-मन्तों का अपन पूर्वाचार्यों के लोकोपकारक आदर्श जीवन के अनुसरण की आवश्यकता पर विचार करना चाहिए।

ईश्वरकृपा, शास्त्रकृपा और गुरुकृपा के पहले आत्मकृपा की अपेक्षा होती है। प्राणी आदि स्वयं कुछ यत्न न करे, तो उसे के उदर की आशा व्यर्थ है। भगवान् श्रीकृष्ण ने 'गीता' में बतलाया है कि प्राणी स्वयं ही अपना बन्धु और शत्रु है—“आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मनः।” अतः लोगों का स्वयं अपने सुधार के लिए यत्नशील होना चाहिए। आज शास्त्रों की, उपदेशों की कमी नहीं है, पर सभी प्रायः अपन सुधार का ध्यान छोड़कर दूसरों के सुधार में ही व्याकुल हैं। पर जो स्वयं वहाँ सुधार, वे दूसरों का सुधार कैम कर सकता है?—“स्वयं नष्टः परान् नाशयति, स्वयं तीर्णः परान् तारयति।” अतएव सब के स्वयं आत्मगुणवर्धन-स्वयं तीर्णः परान् तारयति।” अतएव सब के स्वयं आत्मगुणवर्धन-पूर्वक दाषपरवर्जन एवं गुणग्रहण की ओर ध्यान देने से ही शीघ्र समस्त विश्व का कल्याण सम्भव है। आत्मकृपासम्पन्न पर शास्त्र, गुरु एवं भगवान् की कृपा सहज ही हो जाती है। यह सब होते हुए भी हमें 'सामाहित्य यतन्त्रि' का राजान्त कभी न

मुलाना चाहिए। हमारा एकमात्र अवलम्बन उसी विश्वाधार, विश्वनियन्ता, विश्वव्यापक प्रभु के चरण ही है। हमें सब कर्मों के आदि, मध्य, अन्त में उसी महत्त्वमय जगदीश्वर से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि हे भगवन् ! सर्वानर्थों के मूल अधर्म को मिटाकर परमकल्याणमूलभूत धर्म का संस्थापन कीजिये और प्राणियों में सद्भावना का साम्राज्य स्थापित कर विश्व का कल्याण कीजिये।

('अखिल भारतीय धर्मसङ्घ' के चतुर्थ महाधिवेशन के अवसर पर काशी में अध्यक्षपद से दिये गये भाषण का सारांश—सम्पादक ।)

मीमांसकों की दृष्टि में शास्त्र

(श्री स्वामी कंफात्री जी)

२

आगे चलकर बौद्धादि स्मृतियों को वेदविरुद्ध होने से वार्तिककार सर्वथा ही अप्रमाण बतलाते हैं, जिन के कि डा० साहब परम भक्त हैं। “शास्त्रवचनानि तु कतिपयदमदानादिवचनवर्जं सर्वाभ्येव समस्तचतुर्दश-विद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणंश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्वर्णनिर्वासितप्रायेभ्यो व्यामुहेभ्यः समर्पितानि इति न वेद-मूलत्वेन संभाव्यन्ते।” बुद्ध ने अपने क्षात्रधर्म का उल्लंघन करके प्रवचन और प्रतिग्रह को स्वीकार कर लिया, फिर वह अविप्लुत धर्म का उपदेश करेंगे इस में क्या विश्वास ? “स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता भवन्तु-स्वप्रतिग्रही प्रतिपन्नो स धर्ममविप्लवमुपदेक्ष्यतांति कः समाधासः। उक्तञ्च—परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्यजेत्। आत्मानं योऽतिसन्धत्ते सोऽन्यस्मै-स्यात्कथं हितः।” परन्तु बुद्ध आदिकों ने इस व्यतिक्रम को ही अलङ्कार समझा आज भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो लोकहित के लिए अपने धर्म का परित्याग गौरव की बात मानते हैं। कहा जाता है कि शबर ने कई जगह प्रसिद्ध स्मृति के प्रसिद्ध श्लोक को अप्रामाणिक लिखा है। जैसे “स्मृतिम-प्रमाणीकृत्य भार्यादयो निर्धना इति स्मर्यमाणमपि निर्धनत्वमन्यायमेव।” यहाँ “स्मृतिमप्रमाणीकृत्य” यह अपनी ओर से जोड़ा गया है। ऋषि ही तो ठहरे, फिर क्यों न जोड़े ? और अत्यावश्यक अंश को छोड़ भी दिया है। शबर स्वामी का वचन इस प्रकार है—“भार्यादयो निर्धना इति स्मर्यमाणमपि निर्धनत्वमन्यायमेव श्रुतिविरोधात्। तस्मादस्वातन्त्र्यमनेन प्रकरणेनोच्यते संव्यवहारप्रसिद्धयर्थम्” अर्थात् यज्ञ में स्त्री-पुरुष दोनों का ही सहाधिकार सिद्ध करके “द्रव्यवत्त्वानु पुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात्” इत्यादि सूत्र से यह विचार किया है कि कर्मों में द्रव्य की आवश्यकता होती है, पुरुष द्रव्यवान् होता है, अतः उस का अधिकार तो ठीक है, परन्तु स्त्री “भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्धनाः सर्व एव ते” इत्यादि वचनों के अनुसार धनविहीन है, अतः उस का अधिकार कैसा ? यह प्रश्न उठता है। इस पर यह कहा गया है कि ‘स्वर्गकामो यजेत’ यहाँ पर पुंस्त्व विवक्षित न होने से जब स्त्री को भी फलार्थिनी होने पर यज्ञ विहित है, तब स्मृति के अनुसार स्त्री निर्धना कैसे हो सकती है ? स्मृति से श्रुति का बाध नहीं हो सकता। अतः फलार्थिनी स्त्री स्मृति को अप्रमाण करके द्रव्य ग्रहण करेगी और यज्ञ भी करेगी। यहाँ का “स्मृतिमप्रमाणीकृत्य” अंश डाक्टर साहब ने “भानमती के कुनवे” की तरह उपर्युक्त वाक्य में जोड़ दिया है। इसलिए भार्यादि निर्धन है यह स्मर्यमाण निर्धनत्व श्रुतिविरुद्ध होने से अन्याय्य है। परन्तु इतने से ही भाष्यकार उस स्मृति को अप्रमाण कहकर छोड़ नहीं देते, अपितु “न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति” इस मनुवचन के साथ समन्वय करके “भार्या दासश्च” इस वचन का तात्पर्य निकालते हैं कि भार्यादि स्वतन्त्र धनवाले नहीं। इसी तरह व्यवहार-सिद्धि होगी। एतावता स्मृति के अप्रामाण्य का तात्पर्य स्मृति के यथाश्रुत अर्थ में अप्रामाण्य है। समन्वय के अनुसार भार्यादि स्वतन्त्र धनवाले नहीं है, इस तात्पर्यार्थ में तो स्मृति का प्रामाण्य है ही। “विरुद्धा च विगीता च” इत्यादि मेधातिथि का उद्धृत श्लोक भी बौद्धादि स्मृतियों के ही अप्रामाण्य में तात्पर्य रखता है।

इस के आगे वार्तिककार ने “अतश्च भाष्यकारेण यद्विहोक्तमचिन्तितम्।

वाक्यमङ्गयन्तरन्तत्र कर्तव्योऽनीह ताऽऽदरः।” इस श्लोक से भाष्यकार का खण्डन नहीं किया, जैसा कि डाक्टर साहब लिखते हैं, किन्तु भाष्यकार के यथाश्रुत अर्थ को ग्रहण न कर अस्मदुक्त अर्थ को ग्रहण करने में ही तात्पर्य है। इस की समझने के लिए “इमामगृह्णन् रशनामृतस्यैत्यरवाभि-धानीमादत्ते” इत्यादि परिरक्ष्या के उदाहरणों की समझने के लिए किसी मीमांसक गुरु की शरण लेनी होगी।

डाक्टर साहब कहते हैं कि “कुमारिल बड़े स्वतन्त्र विचार के स्पष्टवक्ता थे, उन्होंने ने उत्तर भारत और दक्षिण भारत के अनाचारों की सूची लिख दी है, ऋत्विक्, पुरोहितों के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि यजमानों को फँसाकर फिर उस में शाखा-प्रशाखा निकालते हुए कर्मों को परम्परा को बढ़ाते ही चले जाते हैं और पद पद पर दक्षिणा माँगते और लेते चलते हैं तथा अपने मन से अपने मतलब की श्रुतियाँ, स्मृतियाँ गढ़ते रहते हैं—“लोकपूर्वकत्वकल्पनमेवोपपन्नमिति निर्णय-स्सन्देहनिवृत्तिः” (तन्त्र वा० १।३।४) इत्यादि।” वस्तुतः यह सब कथन असङ्गत है। ‘तन्त्रवार्तिक’ का यह अभिप्राय नहीं है। हाँ, श्रुति-स्मृति-विरुद्ध किसी भी देश या व्यक्ति का आचरण अनादरणीय है, यह उन को और सब वैदिकों को भी मान्य ही है। भट्टपूढ़ के अभिप्राय को न समझकर उन के अन्तर्गत वचनों के आधार पर डाक्टर साहब उन के मध्ये स्मृति न मानने का दोष मढ़ते हैं। आप लिखते हैं कि “हमें भी शास्त्र में भ्रष्टा है, पर किस शास्त्र में ? देखिये”, यह कहकर डाक्टर साहब जैमिनि के ‘मीमांसासूत्रों’ के सम्बन्ध में कहते हैं—“यह धर्मशास्त्र का प्रधान ग्रन्थ है।” ‘शबर भाष्य’, ‘श्लोकवार्तिक’, ‘तन्त्रवार्तिक’, ‘दुपटीका’दि को भी चर्चा करते हैं। परन्तु जैसे विडभुक् क्रिमि सर्वत्र विड् को ही ढूँढ़ता है, सुगन्धित, मधुर, दिव्य पदार्थ उसे स्वर्ग के नन्दनवन में भी मिलने मुश्किल है। इसी तरह परमास्तिकतापूर्ण ग्रन्थ में भाग्यनुसार डाक्टर साहब को नास्तिकता ही मिली। आप की दृष्टि में स्मृति आदि शास्त्रों, भाष्यों एवं पूर्वजों का खण्डन करनेवाला उच्छृङ्खल ही ‘बुद्धिमान्’ है। इसीलिए अपने भावानुसार वस्तु मीमांसा से भी ढूँढ़ निकाली। वस्तुतः ऐसे ज्ञानव-दुर्विदग्धों को शास्त्र की पङ्क्तिर्था तो लगती नहीं, फिर अभिप्राय-ज्ञान कैसे हो ? पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, सिद्धान्त आदि भी इन की समझ से परे है। इन्हीं सब कारणों से कुछ पूर्वपक्ष की बातों को अनभिज्ञता के कारण ले भागने का प्रयत्न करते हैं। जिस मीमांसा को शास्त्र मानकर वे उस में आस्था करते हैं, उस का दूरा ही सूत्र है—“चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः”, जिस का अर्थ यह है कि प्रवर्तक-निवर्तक वैदिक वाक्यों से ही अवगत होनेवाला अग्निहोत्रादि अर्थ ‘धर्म’ है। जैसे रूप का बोध चक्षु से ही होता है, अन्य से नहीं, वैसे धर्म का बोध वेदादि शास्त्र से ही होता है, अन्य से नहीं। इसी तरह जैसे निर्दोष चक्षु से रूप का ज्ञान अवश्य ही होता है, वैसे ही साधनसम्पन्न पुरुषों को वेदविचार से अवश्य धर्माधर्म का बोध होता है। इसीलिए ऐसे स्थलों में अयोगव्यवच्छेदक, अन्ययोगव्य-वच्छेदक दो ‘एव’ कार का प्रयोग किया जाता है। डाक्टर साहब जिस प्रत्यक्ष को चितला-चितलाकर शास्त्र से बलवान् बतलाते हैं, उस प्रत्यक्ष को जैमिनि कहते हैं कि धर्म में प्रमाण ही नहीं है—“तत्प्रत्यक्षमनिमित्तम्” (प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में प्रमाण नहीं है)। “तस्य ज्ञानमुपदेशः” इत्यादि वचनों से शबर स्वामी भी वैदिक उपदेश को ही धर्म में प्रमाण बतलाते हैं। “शास्त्रज्ञानतिशङ्क्यं पितृमातृवचनादपि प्रमाणतरम्” इत्यादि वचनों से वार्तिककार भी उपर्युक्त वात का ही समर्थन करते हैं।

(डाक्टर भगवान्दासजी की ‘शास्त्रवाद वनाम बुद्धिवाद’ नाम की पुस्तिका के कतिपय अंशों पर इस लेख में आलोचना की गयी है—सं०)।

‘हिन्दू कोड’ पर अभिप्राय

(श्री श्रीशचन्द्र नन्दी, महाराज कासिमबाजार)

हिन्दूसमाज का अङ्गच्छेद करने के लिए अन्यायपूर्ण और अनुचित ढङ्ग से जो प्रयास किया जा रहा है, उस के प्रति विरोध-प्रदर्शन के निमित्त सभी भागों के प्रतिनिधि यहाँ आज इकट्ठे हुए हैं, अपने बीच इस एकता और दृढ़ सङ्कल्प को देखकर मुझे भविष्य बहुत उत्साह-वर्धक प्रतीत होता है। वास्तव में यह खेद का विषय है कि इस

समय में, जब कि सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर निष्पक्ष और विचारपूर्ण निर्णय करना व्यवहारतः असम्भव है, भारतसंस्कारों का सुधार करने का निश्चय किया है, जिस का व्यय केवल सामाजिक ही नहीं, वरन् पूर्णतः धर्म से सम्बद्ध है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दू-कानून हिन्दू-धर्म का अभिभाष्य अंश है, अतः सुधार के किसी भी प्रयत्न से जटिल धार्मिक प्रश्न उठ खड़े होंगे। इस विषय का विवेचन अभी नहीं करना चाहता कि 'भारतीय व्यवस्थापिका' को कानून बनाकर धार्मिक सुधार को हाथ में लेने या इस का सूत्रपात करने का अधिकार है अथवा नहीं। परन्तु मैं यहाँ इस बात की ओर संकेत करना चाहता हूँ कि 'हिन्दू कोड कमिटी' भी इस विषय की गम्भीरता का अनुभव करती है, जब वह बतलाती है कि कोई भी विचारशील सुधारक प्राचीन हिन्दू-व्यवस्था में बिना सिद्ध अनिवार्य आवश्यकता के क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं कर सकता।" उस के विचार-विन्दु से किसी भी परिवर्तन के लिए दो बातों का होना आवश्यक है। प्रथम यह सिद्ध होना चाहिए कि सुधार की अनिवार्य आवश्यकता है और दूसरा यह कि सुधारक विचारशील, योग्य और विश्वासपात्र है।

हम पहले सुधारकों और सुधारों को कानून का रूप देनेवाली संस्था की स्थिति पर विचार करें। सुधार की आवश्यकता और किधौ सीमा तक सुधार होना चाहिए इस का निर्णय कौन कर सकता है? एक आवश्यक गुण ऐसे सुधारकों में यह होना चाहिए कि उन्हें शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान हो और इस के अतिरिक्त उन्हें हिन्दू-जनता, उस की जीवनचर्या, आचार-विचार, भावनाओं, सामाजिक विचार, स्त्रियों के प्रति उस के दृष्टिकोण तथा परलोक की आशाओं और आकांक्षाओं का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। हमारे आधुनिक सुधारकों के कितने ऐसे हैं, जो इस आवश्यक गुण से युक्त होने का औचित्यपूर्ण दावा कर सकें? क्या वे जानते हैं अथवा यह जानने की चिन्ता करते हैं कि जीवन का हिन्दू-दृष्टिकोण उपनिषदों और अन्य पवित्र पुस्तकों पर आधारित है और 'हिन्दू-कानून-विधान' ऐसा निर्मित है कि हमारे सांसारिक स्वार्थों को हिन्दुत्व के आधारभूत जीवन के सिद्धान्त के अनुकूल नियन्त्रित रख सके? यह खना एक साधारण सत्य है कि हमारे कानून के स्रोत वेद हैं, फलतः कोई भी सच्चा हिन्दू धर्म के अन्य स्रोत को स्वीकार या सहन नहीं कर सकता। मुझे बड़ा सन्देह है कि 'हिन्दू ला कमेटी' के सदस्य इस प्रकार की योग्यता का दावा कर सकते हैं जो 'हिन्दू कानून' जैसा उल्लम्बनपूर्ण विधान में परिवर्तन करने के लिए आवश्यक है। स्पष्टतः वे ऐसा कोई दावा नहीं कर सकते और प्रत्येक अवसर पर इस प्रकार के धार्मिक प्रश्नों के आने पर उन्होंने कन्नी काटकर निकलने की चेष्टा की है और उन्होंने न बड़े कष्ट से स्मृतियों के कानूनों के आध्यात्मिक पहलुओं को सांसारिक पहलुओं से पृथक् करने का असम्भव प्रयास किया है।

यदि हमारे सुधारक इसी कोटि के हैं, तो जो संस्था इन प्रस्तावित सुधारों को कानूनी रूप देने जा रही है, उस की उपयुक्तता में सन्देह करने के उचित कारण हैं। उल्लम्बनों को ठीक ठीक समझने के लिए उन लोगों की विशेष सहायता की अनिवार्य आवश्यकता है, जिन का इस से आजीवन सम्पर्क रहा है तथा जिन के समक्ष सारी वस्तुओं का वास्तविक रूप इस कारण प्रकट है कि उन के परिणामों में उन का चरम स्वार्थ निहित है। जब गणतान्त्रिक देशों की पार्लियामेण्ट भी धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती, तब धर्मप्रतिनिधिसत्तात्मक-अर्धलोकतन्त्रात्मक भारतीय व्यवस्थापिका ऐसे मौलिक परिवर्तन करनेवाले कानूनों को पास करने के योग्य कैसे हो सकती है, जिन का सम्बन्ध धर्मसम्मत रीतियों और विचार-धाराओं से है?

यह वस्तुतः शोचनीय बात है कि 'हिन्दू कोड' के सुधार के नाम पर हमारे आधुनिक सुधारकों के जीवन के एक निम्न दृष्टिकोण को सामने रखा है, जो व्यक्तिगत अधिकारों और वराचतना के सिद्धान्त पर आधारित है। सारा का सारा दृष्टिकोण हिन्दूजाति की विचारधारा के प्रतिकूल है, क्योंकि हम ऐसे अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकते, जो परिवार और समाज से असम्बद्ध हों। औसत हिन्दू उत्तराधिकार के सम्बन्ध में परम्परा-क्रम से निर्भर है। वह चाहेगा कि उस की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उस के लड़के हों, नशातें कि उस की विधवा पत्नी, गरीब लड़की, विधवा पुत्रवधू और अन्य आश्रितों के भरण-पोषण, कुमारी लड़कियों के विवाह, कुल के

देवी-देवताओं की पूजा तथा पुरखों के श्राद्ध आदि की व्यवस्था करने का वे भार लें। सम्मिलित कुटुम्बप्रणाली में एक सुन्दर सामंजस्य है और स्त्रियों के अधिकार के प्रश्न को उठाये बिना ही एक सुरक्षा की ऐसी भावना जाग्रत करता है, जो अन्य किसी प्रणाली में प्राप्य नहीं। स्त्रियों के प्रति अन्याय और कठोरता के कुछ छिटफुट प्रमाण मिल सकते हैं और यदि हिन्दू-लोकमत उन की रक्षा के लिए पर्याप्त नहीं हो, तो हम कानून में कुछ सीमित परिवर्तन करने को प्रस्तुत हो सकते हैं। किन्तु ऐसे क्रान्तिकारी प्रस्तावित सुधार के लिए तो हम कदापि प्रस्तुत नहीं हो सकते, जो सुधार के नाम पर हिन्दू-समाज के मूल पर आघात करता है। दूसरी ओर प्रस्तावित 'हिन्दू कोड' द्वारा हम देखते हैं कि उक्त सामंजस्य रह नहीं जाता, स्त्री-पुरुष और पित्रपक्षीय तथा स्त्रगोत्रीय के भेद मिटा दिये गये हैं। पुत्रवधू को एक पुत्र के बराबर हो भाग दिया गया है और स्त्रियों की अधिकार देने के नाम पर हिन्दू-सम्पत्ति को विघाटित करने के बीज बोये गये हैं।

शास्त्रीय तथा उत्तराधिकारसम्बन्धी 'हिन्दू कोड' की धाराओं की विस्तृत चर्चा मैं यहाँ नहीं करना चाहता, क्योंकि वे अतक मल्लोभाति ज्ञात हो चुके हैं। मैं इतना ही कहकर सन्तोष करता हूँ कि यदि इन तथा कथित सुधारकों की मनमानी करने दिया गया, तो सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली अन्ततः छिन्न-भिन्न हो जायगी, जो अबतक साधारणतः हिन्दू-समाज के लिए उत्तम सामाजिक सुरक्षा की योजना रही है। हम अपने सुधारकों से पूछना चाहते हैं कि वे इस सामाजिक सुरक्षा-योजना के प्रतिसम (संसीच्युट) के रूप में कौन-सी योजना रखना चाहते हैं? भारत की जनता के लिए वे पूरी 'विवरज योजना' अपनांना चाहते हैं अथवा सर्वथा विरोधी राष्ट्रीय समाजवाद? 'राव कमेटी' का तथोक्त प्रशंसनीय ध्येय हिन्दू-कानून को एक सूत्र में प्रथन करना है, पर वह यह भूल जाती है कि हिन्दुस्तान के एक छोर से दूसरी छोर तक विभिन्नताओं का अन्त नहीं और यह कि हिन्दू-समाज की एकता अभी अपूर्ण है।

'कोड' में मृत्यु के पहले उचित अधिकारी के नाम सम्पत्ति लिखने, विवाह और तलाक, पोषण, नाबालिगी और अमिभावकता, अन्ततः गोद लेने के प्रश्नों का सम्मिलित कर उसे सर्वतोभावेन पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। अपने विस्तृत प्रस्तावों की प्रत्येक अवस्था में उन्हें सदियों से मान्य प्रथाओं और धार्मिक रीतियों से सङ्घर्ष करना पड़ा है एवं हिन्दू-जीवन के धार्मिक अङ्गों के महत्व को समझने में शोचनीय अयोग्यता प्रदर्शित की है। पिण्ड-प्रदान के सिद्धान्त को उन्होंने तिलाज्जल दी ही है, हिन्दुओं के पारिवारिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अङ्ग गोत्रसिद्धान्त में भी उन्होंने ने-हस्तक्षेप किया है। स्त्री-धन के सिद्धान्त के साथ खिलवाड़ को है और पवित्र विवाह-संस्कार के सम्बन्ध में भी कुछ विशिष्ट नियम बनाये हैं। ऐश्वर्य की प्राप्ति को अपनी उत्सुकता में उन्होंने 'दायभाग' और 'मिताक्षरा' के युगों से सम्मानित सिद्धान्तों को उम्र देने का प्रयत्न किया है और अनेक सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाओं और रीतियों में हस्तक्षेप किया है। क्या मैं उन्हें मि० जेडीमेन के शब्दों में याद दिलाऊँ कि 'दैविक घटनाओं का युग च्यत गया और मुझे ऐसे 'हिन्दू कोड' को देखने की शायद ही आशा है जो धनिक और कृषक, पञ्जाबी और बङ्गाली, काशी और दक्षिणभारत, अमृतसर तथा पूना के पण्डितों को सन्तुष्ट करेगा। पर मैं आसानी से एक बहुत ही सुन्दर और बृहत् कोड की कल्पना कर सकता हूँ जो वर्तमान चालू विधान से अधिक असन्तोषजनक और व्ययसाध्य होगा।" मेरा विचार है कि इस भयानक 'हिन्दू कोड' के गुणों को और अधिक वर्णन नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह कुछ ऐसे सुधारकों के अनुरोध से निर्मित हो रहा है, जिन के उत्साह ने उन की सुमति और बुद्धिमत्ता के आदेशों को दबा दिया है। सहस्रो वर्षों से चालू रीतियों और धार्मिक प्रथाओं ने हिन्दू-समाज का निर्माण किया है, अनुचित शोषणों में अयोग्य सुधारक सुधार न आरम्भ करें। हम सब लोग इस अध्यात्मिक कृत्य के विरुद्ध आवाज उठाये और सरकार से अनुरोध करें कि वह सुधार का भार विशाल हिन्दू-समाज के प्रतिनिधियों को सौंपे।

(ता० ३ नवम्बर सन् १९४४ को काशी में हुए 'अखिल भारतीय हिन्दू कोड विरोधी सम्मेलन' में अध्यक्ष-पद से दिये भाषण का सारांश —सं०)

सामायिक आवश्यकताएं

(श्रीसेठ गौरीशङ्करजी गोयनका)

वर्तमान शासन-विधान में धार्मिक समस्याओं पर विचार करने का कोई साधन नहीं है, उस के लिए शास्त्रमर्मज्ञ विद्वानों की परिषद् ही होनी चाहिए। धर्मशास्त्रकारों ने हमारे प्रत्येक प्रश्नपर गम्भीर विचार किये हैं, जिन्हें समझने के लिए महर्षि जैमिनि एवं व्यासजी ने पूर्व-उत्तर-मीमांसाशास्त्र का निर्माण किया है। इन शास्त्रों का विधिपूर्वक गुरुमुख से अध्ययन करनेवाले विद्वान् ही धार्मिक प्रश्नों का निर्णय कर सकते हैं। आज भी अङ्ग्रेजों के देश विलायत में, जहाँ 'पार्लियामेंट' का ही बोलवाला है, उन के धर्म के विरुद्ध कोई भी प्रस्ताव तबतक उपस्थित नहीं किया जाता, जबतक विभिन्न 'गिरिजों' की 'अमम्बलो' उम स्वीकृत न करे। इस के विपरीत यहाँ (भारत में) शास्त्रबल से शास्त्र पर विजय पाने का प्रयत्न हो रहा है। भारतसरकार अथवा अगने ही भाइयों द्वारा नियोजित 'रावकमेटी' ने 'हिन्दू-कोड' बनाया है। इस के बनाने में उक्त 'कमेटी' ने दरिद्र भारत का, जहाँ कि लाखों प्राणियों को एक समय भोजन तक नहीं मिलता—वे भूख से तड़प तड़प कर मर जाते हैं—लाखों रुपया व्यर्थ व्यय किया है। इस के अध्यक्ष 'श्री सर बी. एन्. राव' है। 'कमेटी' हमारे हिन्दूशास्त्रों पर विश्वासकर हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को ध्यान में रखते हुए 'कानून' बनायेगी, क्या यह स्वप्न में भी संभव है? किन्तु बना रही है। इसी का नाम शास्त्रबल से शास्त्र पर विजय है। 'कमेटी' ने इस 'कोड' पर सर्वसाधारण के मतसङ्ग्रह का (राय लेने का, स्वांग रचा है। एक शास्त्रतत्त्वज्ञ विद्वान् के मत का भी मूल्य अनपढ़ के मत के बराबर आँका जा रहा है। ऐसी स्थिति में यह 'कमेटी' क्या हमें मान्य हो सकती है? पूर्ण विचार करके ही अपनी सम्मति देना आप का कर्तव्य होगा।

हमारे शास्त्रों के अनुसार धर्म पर राजा का शासन नहीं प्रत्युत धर्म का ही राजा पर शासन रहता है। इसी प्रकार विद्या पर भी राज शासन नहीं है। प्राचीन भारत का इतिहास हमें बतलाता है कि जङ्गलों में रहनेवाले, उदासीन, तापस, विद्वान् कुलपतियों के यहाँ स्वयं राजकुमार शिक्षा पाने थे। भगवान् श्रीकृष्ण का गुरु सान्दीपनि के यहाँ शिक्षा लेने जाना इस का उजलन्त उदाहरण है। इसी विचार से 'आखिल भारतीय धर्मसङ्घ' ने शिक्षा को शासन से स्वतन्त्र बनाने के लिए एक स्वतन्त्र 'शिक्षा-मण्डल' स्थापन किया है, जिस में सरकारी परीक्षाओं में उस का सम्बन्ध न रहे। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, श्री वल्लभाचार्य आदि आचार्यचरण किस 'यूनिवर्सिटी' की परीक्षा पास थे? 'वद्वर्शन' के टीकाकार श्रीवाचस्पति मिश्र, खण्डनकार श्रीहर्ष, 'अद्वैतसिद्धि' के प्रणेता श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि कहीं की 'विप्रप्राप्त' लिये थे? कविकुलतिलक श्रीकालिदास, श्रीभवभूति आदि कहीं के 'विप्रप्राप्त' थे? अभी अभी काशी के सुप्रसिद्ध विद्वन्मूर्धन्य श्रीशिव-कुमार शास्त्री, श्रीगङ्गाधर शास्त्री, श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती, श्रीनित्यानन्द-पन्तजी, श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ आदि क्या कभी किन्हीं परीक्षाओं के फेर में पड़े थे, जिन का कि संस्कृत विद्या पर पूर्ण अधिकार था? सच तो यह है कि जब से इन परीक्षाओं की प्रधानता हुई है, १८३० 'नम्बरपास' विद्वान् निकलने लगे हैं, तभी से 'मर्तिफाइड' पण्डितों की ही वृद्धि हो रही है, शास्त्रप्राप्तियों की नहीं। अतः शिक्षा का शासन से सम्बन्ध-विच्छेद अत्यन्त आवश्यक है, जिस की ओर अग्रसर होते हुए 'धर्मसङ्घ' ने स्तुत्य-कार्य किया है। यदि अब भी पुराणों, स्मृतियों, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों की कथाओं का विद्यालयों में, मन्दिरों में, सम्यक् प्रचार हो, तो लोग धर्ममार्ग से अनाश्रित न रहें।

'सङ्घ' ने दूसरा कार्य-विश्वकल्याणार्थ यज्ञ, जप, अनुष्ठान, नामसङ्कीर्तन आदि की प्रचार किया है। इस चोर विपत्तिकाल में, जब कि सनातनधर्म की आवाज कोई नहीं सुनता, सिवा भगवान् को पुकारने के और दूसरा उपाय हो ही क्या सकता है? जब विश्व में अशान्त हो रही है, बड़े बड़े वैज्ञानिकों का अनुभव जनक्षय में ही प्रयुक्त हो रहा है, जो भ्रम और व्यय कोरचण में उचित था, वह लोभनाश में लगाया जा रहा है, संसार की अतुल सम्पत्ति के द्वारा उसी सम्पत्ति और संसार का नाश किया जा रहा है, ऐसे समय में हमारे पास और कौन-सा साधन शेष है, जिस से हम

अपना और विश्व का कल्याण कर सकते हैं? तब यही एकमात्र बल, जो निर्बलों का बल है, उस से हम क्यों चूकें? इसीलिए 'धर्मसङ्घ' ने धर्म-ग्लान्यधर्माभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्वक-धर्मसंस्थापनार्थ तीव्र संवेग से भगवत्प्राप्ति को अपना मुख्य उद्देश्य बनाया है, जो उस के 'धर्म की जय हो', 'अधर्म का नाश हो', 'प्राणियों में सद्भावना हो', 'विश्व का कल्याण हो' इन चार जयकारारों से स्पष्ट है। विश्वकल्याणार्थ आयोजित इन अनुष्ठानों में 'यज्ञ' मुख्य है। 'छान्दोग्यउपनिषद्' में 'यज्ञ', 'स्वाध्याय' और 'दान'—ये ही तीन 'धर्म' के प्रथम स्कन्ध कहे गये हैं—'त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।' (छा० २।२।३।१)।

पूर्वकाल में इन्हीं इष्टापूर्व में हमारा धन व्यय होता था, उस समय भारत सुमम्पन्न था। हमारा तो निश्चय है कि संसारभर के आकाश पर जा आजकल आपत्ति की घटाएँ छाई हैं, दुःख के समुद्र उमड़ रहे हैं, वे भगवत्कृपा से दूर हो सकते हैं और नित्य सन्ध्या-समय हम उस मन्त्र को पढ़ते हैं, जिस में स्पष्टरूप से यज्ञ ब्रह्मरूप बतलाया गया है। भगवद्गीता में भी भगवान् ने यज्ञ को अपने बराबर महत्त्व दिया है। मेरी तो यह भावना है कि गगनस्पर्शी वेदमन्त्रों के स्वर, आहित गिन के पवित्र धूप, भागवत, रामायण, महाभारत एवं पुराणों की कथा का श्रवण और महात्माओं के दर्शन न केवल हमारे ऐहिक कष्टों को दूर करेंगे, किन्तु हमारे पारलौकिक आनन्दापार्जन में भी सहायक होंगे। हिन्दूशास्त्रों ने द्विजाति को उत्पन्न होने के साथ साथ ही देव, ऋषि, पितृ—इन तीन ऋणों से युक्त बनाया है। इन का चुकाना द्विजातिमात्र का प्रथम कर्तव्य है। क्रमशः इन तीनों ऋणों की निवृत्ति यज्ञ, स्वाध्याय एवं सन्तति से होती है। इन्हें चुकाये बिना यदि मृत्यु हो जाय, तो सद्गति नहीं होती। इन तीनों ऋणों में मुख्य एवं सर्वप्रथम देवऋण की निवृत्ति यज्ञ से ही होती है। कुछ लोगों का कथन है कि यज्ञ में इतनी सामग्री व्यर्थ क्यों जलायी जाती? यदि इसे गरीबों को खिलाया जाता, तो उन का उपकार भी होता। फिर आज देश में जब धी, दूध, चावल का सर्वथा अभाव है, वङ्गाल-विहार में भूख-मरी से लाखों प्राणी मर रहे हैं, इतना अन्न इन वृमुक्षतां को देने से प्रत्यक्ष लाभ (फल) होता है, तब उसे छोड़ परोक्ष की ओर क्यों दौड़ा जाता है? इन महानुभावों में हमारा यही निवेदन है कि वेदमन्त्रों से उत्पन्न अग्नि साक्षात् देवता है। उन्हीं के द्वारा सब अन्य देवों को आहुति पहुँचायी जाती है। तब वे देव प्रसन्न होकर समय समय पर वृष्टि कर अन्न उत्पन्न करते हुए समस्त जगत् का पेट भरते हैं। फिर प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि अग्नि में केवल तिल जलाया जाता है और अन्न तो गरीबों को, वेदज्ञ ब्राह्मणों को ही दिया जाता है।

इस के अतिरिक्त प्रारम्भ में ही इन यज्ञों से कितने गरीबों का उपकार होता है, आज की बेकारी के समय कितने ही मजदूरों को राख मिलती है, जिस से उन के पेट की भूख भी दूर होती है। शुद्धि, सफाई आदि कार्यों में अन्त्यजों को कितना लाभ पहुँचता है? ब्राह्मणों को कुछ आधक भी मिल जाय, तो भी हम उन से ईर्ष्या क्यों करें? क्या ब्राह्मण गरीब नहीं हैं? हम तो समझते हैं कि आज वे ही सब से अधिक गरीब हैं। उन की जीविका का कोई भी साधन नहीं है। अस्तु, इस प्रकार सङ्घ की सभी योजनाएँ, समस्त विश्व के कल्याण का साधन करनेवाली एवं भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म-कर्म, आचार-विचार का पुनः सजीवन करनेवाली है। लौकिक उपायों का भी, पारलौकिक उपायों के साथ, अवलम्बन करने का प्रचार 'सङ्घ' के द्वारा किया जाता है। द्विजातियों के विलुप्तप्राय संस्कारों को पुनः उज्जीवित कर और उन्हें यथोचित गति से सञ्चालित करने की ओर भी 'धर्मसङ्घ' सचेष्ट है। आलस्य, उदामीनता एवं कर्तव्य ज्ञान के अभाव के कारण हमारे बच्चे-सुचे उपनयन आदि संस्कार भी यथासमय सम्पन्न नहीं हो रहे हैं। भारत के समस्त धर्मातुरांगी द्विजातियों को चाहिए कि वे अपने षोडश संस्कारों पर ध्यान दें और शास्त्रानुसार यथासमय करें। विद्वानों को चाहिए कि वे अपने षोडश संस्कारों की उपयोगिता पर उचित प्रकाश डालें, जिस से इन के प्रांत फैलो हुई नवाशक्ति समाज की उदासीनता एवं उपेक्षा का आमूल विनाश हो।

आज हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में धार्मिक विषयों की ओर आकृष्ट करनेवाले साधन के अभाव के कारण ही हम अपने नित्यकर्मों से वंचित होते जा रहे हैं। सन्ध्यावन्दन आदि पौनःपुन्य महायज्ञों के प्रति हमारी उपेक्षा

धर्मानुसारी स्वराज्य-शासन-विधान

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री, दर्शनकेसरी)

३

८—लोकमत जानने के लिए समाएँ उपयोगी हैं और वे तो इस योजना में रखी गयी हैं। परन्तु लोकतन्त्र का मौलिक एवं लाक्षणिक तत्व वह नहीं है। वह तत्व तो यह है कि लोग ही देश के मालिक हैं, प्रत्येक विषयो में अन्तिम सत्ता उन्हीं की है, राज्य के अधिकारीगण उन के अधीन हैं। इस का अर्थ यह है कि लोगों की अर्थात् लोगों के बहुमत की एवं बहुमत की अर्थात् अधिक लोग जैसे हों, वैसी और वैसे तत्वों की। इस शासन-प्रणाली में किसी सिद्धान्त की स्थिरता नहीं है और उस को स्वीकार करनेवाले दशों में यही हुआ है। सन् १७८९ की फ्रान्स की क्रान्ति के बाद का यही इतिहास है।

९—प्रजा का हित साध्य है और यह समझने की बात है कि वह जैसा राजकीय शासनप्रणाली से नियन्त्रित आनुवंशिक राजा के लिए साध्य है, वैसा किसी पक्ष के जोर पर बलवान् बन बैठे हुए समुदाय या व्यक्ति के लिए नहीं है। आधुनिक राजवर्ग के प्रति अनेकों की अरुचि या तिरस्कार विभिन्न कारणों का आभारी है। इस के अतिरिक्त उन्हें वार्षिक गति से राज्य चलाने के स्पष्ट वैधानिक कर्तव्य का ज्ञान नहीं कराया जाता और उन की शिक्षा विलायती (देश या विचार की दृष्टि से पाश्चात्य) शिक्षागुरुओं के पास होती है। यह सब होते हुए भी उदयपुर, जामनगर, बीकानेर, मोरवी, गोंडल आदि राज्यों के राजा अपनी प्रजा का हित एवं प्रेम, दोनों का सम्पादन कर सके हैं। जिन राजाओं में पाश्चात्य हवा अधिक घुसी, उन्होंने ही असन्तोष के अधिक कारणों का उपस्थित किया है। वस्तुतः ऐसी कुछ बात है ही नहीं कि राजा होने से ही आदर्श राज्य बन जाय। परन्तु एक राजा को शुभ संस्कार तथा शिक्षा देना अधिक सुगम हा जाता है और उत्तरदायित्व भी उस पर स्पष्टतरा रखा जा सकता है। लोकतन्त्र में तो बलवान् पक्ष को पदच्युत भी नहीं किया जा सकता, अतः लोकतन्त्र में अधिक अनुत्तरदायित्व है।

१०—यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि राजतन्त्र में सापेक्षता ही अच्छी-बुरी कही जाती है और पूर्वपर सारासारता से निर्वाचन करना पड़ता है। विश्वतन्त्र, युद्धतन्त्र तथा कुटुम्बतन्त्र आदि की एकतन्त्रता प्रसिद्ध है। संसार के आजतक के इतिहास में भी राजतन्त्र ही अधिक व्यापक दिखलाई पड़ेगा। ब्रिटिशशासन धार्मिक राजतन्त्रवाला है और उन में धर्मगुरु, अमोर तथा सामान्य जनता के अभिप्राय को व्यक्त करनेवाली समाएँ हैं। सम्प्रति लोकसभा का जोर है यह सच है, पर उस के नेता संरक्षक (अनुदार) दल के 'डाईहाई'—रुढ़ि पर प्राण देनेवाले—म० चर्चिल हैं। राजशासन में राजा मनमाना करे, ऐसा कोई बात नहीं है, साथ ही यह भी नहीं है कि काम यदि सरलता से चल रहा हो, तो उस में हस्ताक्षेप करना ही चाहिए। परन्तु ऐसे धार्मिक राजतन्त्रशासित देश के रूढ़िचुस्त नेता ने ही हिटलर ऐसे की टक्कर का झेल है।

११—संवर्द्धित नरेंद्रमण्डल को केन्द्रीय अधिकार सौंपने की सूचना के पीछे एक अत्यावश्यक विषय यह है कि उस से भारतीय राजसत्ता का परिवर्तन या सङ्क्रान्ति अत्यन्त सरल हो जाती है। कांग्रेस की प्रक्रिया एक दम दूसरी है। यह जानी हुई बात है कि काङ्ग्रेस द्वारा रचित 'नेहरू शासन-विधान' चारों ओर से चुंघु जाकर हवा हो गया है। विदेशियों की ओर के विरोध के कारण कांग्रेस के प्रांत लोगों का पक्षपात है, परन्तु विध्यात्मक राजकाय विषयो में अनन्त संतमेद है। इस काङ्ग्रेसी जानते हैं, इसलिए अब योजनाएँ पेश न करके 'कान्स्टिट्यूण्ट अमन्बली' अर्थात् विधान-परिषद् का प्रस्ताव उन्होंने आग्रहपूर्वक रखा है। उस परिषद् में से यह योजना फलित होती है कि चुनाव में कांग्रेस अपने

१—इस का विस्तृत ऊहापोह श्रीदूरकांजो की 'कङ्ग्रेसवैदिक इण्डिया' नामक अङ्ग्रेजी पुस्तक में किया गया है।

मुसलमान, ईसाई तथा अन्य मतावलम्बी नियमित रूप से अपनी मसजिदों, गिरजाघरों आदि में नमाज, प्रार्थना आदि करते हैं। परन्तु द्विजातियों में अपने इन कृत्यों के प्रांत प्रायः हार्दिक सम्भावना से कम दीख पड़ रही है। स्मरण रहे कि बिना क्रिया, आचार एवं विचार के प्रगल्भ पाण्डित्य भी प्रभावोत्पादक और विश्व के कल्याण का अर्थ नहीं हो सकता। इसलिए इन कृत्यों पर ध्यान देना प्रत्येक आस्तिक का मुख्य कर्तव्य है।

आज 'स्वराज्य-प्राप्ति' के लिए अनेक प्रकार के कार्य किये जा रहे हैं, हिन्दु स्वराज्य, साम्राज्य के सर्वविध साधनों के मूलभूत एकमात्र साधन गोवंश का उत्तरोत्तर हास हो रहा है। देश में हजारों गोएँ प्रतिदिन मारी जाती हैं। गोधन हिन्दू जाति का प्राण है, भारतीय संस्कृति और सम्यता का अन्तर्गमन रक्षक है। जब म इस भारतभूमि में गोवंश का संसार होने लगा है, तभी न भूकम्प, दुर्भिक्ष, महामारी, 'इन्फ्लूएन्जा' और भी तरह-तरह के संक्रामक रोगों की वृद्धि होती जा रही है। शास्त्रकारों ने कहा है—
गोमिर्विप्रैश्च वेदेषु सतीभिः सत्यवादिभिः। अलुब्धैर्दानशूरैश्च सप्तभिर्वायैते यो ॥
आधुनिक विज्ञान ने भी यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी के धारण का भार गोवंश पर अवलम्बित है। भला, जब आधार ही न रहेगा, तब लक्ष्ये ठहरगा ही कैसे? यही कारण है कि आये दिन संसार में भूकम्प होने के दुःखद संवाद सुनाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी गोवंश का रक्षण परमावश्यक है। हमें चाहिए कि हम सङ्कटित रूप से गोवंश की रक्षा के लिए रचनात्मक, दृढ़ आन्दोलन करें। इस कार्य में लग जाने की हमें श्रितान्त आवश्यकता है।

'धर्मसङ्घ' के इन उपर्युक्त उद्दिष्ट शास्त्रीय धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार की सर्वतोन्मेषी आवश्यकता है। वैसा प्रचार एकमात्र राष्ट्रीय हिन्दी भाषा से ही हो सकता है। प्रत्येक प्रान्त एवं अन्तर्गत प्रान्तों में हिन्दीभाषा प्रसन्ननेवाले प्रायः सभी व्याप्त हैं, हमारे बड़े बड़े विशालया, विश्वविद्यालयों में भी, जो कि शिक्षा के मूल केन्द्र हैं और जिन का एकमात्र ध्येय भारत में शिक्षाप्रचार के द्वारा सम्यता का विस्तार करना ही है। हिन्दी को अवकाश नहीं मिलता, सभी व्यवहार विदेशी भाषा में हो लिपिबद्ध होते हैं। यह कम विचारणीय विषय नहीं है, क्योंकि एकमात्र हमारे धन स ही उन की जड़ पड़ी है, उसी से वे अङ्कुरित एवं पल्लवित हुए हैं। दाताओं में अधिकतर ऐसे दाता हैं, जो विदेशी भाषा नहीं समझने, फिर भी हमारी भाषा की क्षिणा अवहेलना हो रही है? महानुभावा! क्या यह कष्ट का विषय नहीं है? 'सङ्घ' ने अपने कार्यक्रम को चतुर्दिग्व्यापी बनाया है और उस के साथ अपने दृढ़ विश्वास के आधार पर भगवान् के पुकार की छाप लगायी है। भगवान् की कृपा से सनातनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार देश में कई संस्थाएँ उत्साहपूर्वक कर रही हैं। यदि वे सभा सङ्कटित होकर वेदभगवान् की छत्रछाया में परस्पर अधिक सद्भावना से प्रेरित होकर कार्य करें या किसी अनुकूल योजना के अनुसार कृतकार्य होने की चेष्टा करें, तो हमारी अभीष्टसिद्धि शीघ्र ही हो। थोड़ा भी मनोमालिन्य या परस्परविरोध किसी प्रकार भी उचित नहीं है। मैं सभी सञ्चालको, नेताओं और उत्तरदायी कार्यकर्त्ताओं से प्रार्थना करता हूँ कि वे अधिक सद्भावना से काम लें और भारत के प्रत्येक प्रदेश में पास्त्र सहायक होकर अपने धर्मबल को बढ़ायें। भारत के प्रत्येक प्रदेश में पधारे हुए आप विद्वानों, महात्माओं तथा सनातनधर्मसम्बन्धी अनेक संस्थाओं के कार्यकर्त्ताओं एवं धनी-मानी श्रेष्ठ-साहूकारों तथा जनसाधारण के इस अभूत एवं अभूतपूर्व विशाल समारोह के सुअवसर पर हमारा हार्दिक निवेदन है कि आप अपने अपने प्रान्त में सङ्कटित रूप से मत्तैव्य हो, 'अखिल भारतीय धर्मसङ्घ' के शुभोद्देश्यों को रचनात्मक कार्यों द्वारा सफल बनाने की प्रवृत्ति करें। यह समय सोने का नहीं है, कार्यक्षेत्र में उत्तरदाय कटिबद्ध होने का है। 'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे' इस उक्ति के अनुसार कालयुग में सङ्घ में चल है। आइये, 'धर्मसङ्घ' के मण्डे के नीचे रहते हुए तथा इस मङ्गलमय भारतीय ध्वजा को फहराते हुए हमलगा विश्व का कल्याण करने में सामर्थ्य-सम्पादन करें।

('अखिल भारतीय धर्मसङ्घ' के चतुर्थ महाधिवेशन में स्वागताध्यक्षपद निरूपण का सारांश—सम्पादक)।

पक्ष की ताकत के ओर पर अधिक संख्या प्राप्त कर सके और फिर वह जो स्थिर कर, वही, देश की ओर से निश्चित 'शासन-विधान' के रूप में अनिवार्य रीति से व्यवहार में आये। 'विधान-विधायक परिषद्' बहुधा क्रान्तिकारी शक्तियों से सम्बद्ध दिखलाई पड़ती है और फ्रान्स की वैसी परिषद् के उपरान्त, यह सर्वविदित है कि देश के पतन का आरम्भ हुआ था। दूरकाल-योजनासम्बन्धी—नरेन्द्र-मण्डल को देश का केन्द्रीय अधिकार सौंपने की—सूचना से एक साथ अनेक उद्देश्य सिद्ध होते हैं—१—वह राजसत्ता परिवर्तन को सरल करती है, २—राजाओं से ब्रिटिशों द्वारा हस्तगत की गयी सत्ता को पुनः उन्हीं के वंश को देती है, ३—राजसत्ता क्रान्तिकारियों के हाथ में जाने से रोकती है, ४—'हिन्दो भारत' और 'ब्रिटिश भारत' ऐसे देश के दो विभाग रोककर दोनों की एकता करती ५—प्रजा सर्वसत्ताधीश है, इस भ्रान्त पाश्चात्य धारणा के साथ आयी हुई प्रजासत्ता के पञ्जे से प्रजाहित का रक्षण करता है, ६—बहुजातिवाले देश को भौतिकवादप्रधान राजनीति की ओर वह जाने से रोकती है और ७—प्रजा में रहनेवाले अथवा दब गये हुए संश्लक्ष्ण बलों को पुनर्जीवन प्रदान करती है। यह तो स्पष्ट है कि लोकशासन और धर्मविपत्य, दोनों एक साथ शायद ही टिक सकें, क्योंकि लोकशासन के साथ ही मन्तव्य के मेद भी आते हैं और फिर जैसे भी हो सके, अधिक शक्तिसम्पन्न अल्पशक्तिपक्ष को अपने पञ्जे में ले लेता है। शिक्षा-योजना, आर्थिक-योजना आदि उस के साधन सर्वविदित हैं। वस्तुतः प्रश्न अनेकविध का नहीं, पूर्णतया लोकविपत्य का है। कोई धार्मिक धारणा—उदाहरणार्थ प्रतिभापूजन—या कोई रिवाज—जैसे कि स्पृश्य-स्पृश्य-विवेक को लोकसभा प्रजाहित-प्रतिबन्धक समझकर—लोकशासनतन्त्र में—उड़ा दे सकती है।

१२—पूर्वसूचित राजनीतिक तीसरा सिद्धान्त यह है कि हिन्दूप्रधान देश की सत्ता में यथासम्भव क्षत्रियराजवंशीय की नियुक्ति होनी चाहिए। वह विषय वर्तमान ब्रिटिश भारत से सम्बद्ध है। तात्पर्य यह है कि गवर्नरों के स्थान पर राजकुटुम्बों में से योग्य राजकुमार लिये जायें। यहाँ सामान्यतया राज्यकर्ता राजा विवक्षित नहीं हैं, किन्तु 'राजकुमार' हैं। इस में वर्णाश्रमी हिन्दुत्व की आनुवंशिकता तथा क्षत्रियपरम्परा की इष्टता ध्यान में रखी गयी है। इस से सामान्यतया यह परिणाम निकलता है कि गवर्नरों की तरह ऐसे सत्ताधीश राजाओं में समय समय पर परिवर्तन तथा पुनर्नियुक्ति की जा सकती है। नरेन्द्रमण्डल की केन्द्रीय सत्ता के आधार पर यह भी समझ में आने योग्य बात है कि उस सत्ताधीश राजाओं की नियुक्ति नूतन शोषित-परिवर्धित नरेन्द्रमण्डल करे। प्रान्तों की भाषा-सारणी पुनर्रचना से प्रान्त, जिन्हें राज्य कहा गया है, कुछ छोटे हो जायेंगे, जैसे की बम्बई प्रान्त में से गुजरात, महाराष्ट्र और कर्णाटक इस तरह तीन पृथक् राज्य हो सकते हैं और राजा भी तत्तद्देशीय चल सकते हैं।

सारा उपरोक्त सामाजिक उषद्वियों तथा हिन्दूविरोधी क्रान्तिकारियों के आग्रह से हिन्दूधर्म तथा संस्कृति के विरुद्ध किया गया है। ३—'कानून-समिति' के सामने, जो अनुचित रीति से ऐसी धर्म एवं संस्कृति के हस्ताक्षेप की प्रवृत्ति में पड़ी है, अपनी साक्षी देना हमें उचित प्रतीत नहीं होता। ४—इस मसविदा में 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या इतनी उल्टा दी गयी है कि उस में परिगणित जातियों का एक भी धार्मिक ग्रन्थ सर्वसाधारण नहीं है, अतः हिन्दूधर्म का समूची स्वरूप ही भंग कर दिया गया है। ५—समग्र भारत में एक समान कानून बनाने का बहाना—केवल कानून-परिवर्तन की तरकीब सा—है। तजवीज यह है कि इस नवीन कानून से सारी हिन्दू-समाज-रचना एवं ब्राह्मण-कर्मकाण्ड लुप्त हो जाय। ६—प्रचलित रिवाजों के पार्थक्य में धर्मशास्त्रों की मान्यतारूपी स्थायी एकता है। नवीन मनुष्य-निर्मित कानून चाहे जब उस धारा द्वारा दबला जा सकता है, अतः आगे चलकर भिन्नता अधिक बढ़ जाने की सम्भावना है। ७—राजनीतिक कोप के लिए, राजनीतिक दृष्टि से निर्वाचित किसी प्रतिनिधि को धार्मिक विषयों में हस्ताक्षेप करने का विलकुल अधिकार नहीं है। ८—करोड़ों धार्मिक हिन्दुओं ने अपने स्थायी एवं पवित्र धर्मशास्त्रों को इस तरह उड़ा देने की मांग की ही नहीं है और ऐसी कार्यवाही को वे विदेशी राज्य तथा पंचमेल धागासभा की ओट में हिन्दू-जाति के विरुद्ध षड्यन्त्र और श्लोह समझते हैं। ९—धर्माचार्या, धार्मिक पण्डितों, धर्मसभाओं, मठ-मन्दिरों के महन्त और अन्य लोगों ने, जो ऐसे विषयों में हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं, हिन्दूधर्मशास्त्र को इस तरह उल्टा डालने के लिए मैदान में ले जाने की स्पष्ट अस्वीकृति प्रकट की है। १०—यह नवीन वनावटी कानून हिन्दुओं से उन के नियमों की पवित्रता, उस की मूल संस्कृत भाषा, देश-काल के कारण हुए उस के पाठभेद, उस की स्थिरता एवं धर्ममूलक एकता को और प्रजा की चिरञ्जीवित्व प्रदान करनेवाली उस की शक्ति का अपहरण कर लेता है। ११—इस नवीन कानून को बनाने-बिगाड़ने में उपयुक्त द्रव्य, शक्ति तथा बुद्धि का अन्ततः इतना ही उपयोग हो सकता है कि जो इस नवीन कानून में शुरू से रजिस्टर्ड हो, उस पर वह कानून लागू किया जाय। इस से उक्त कानून की निःसारता भी प्रकट हो जायगी। १२—हिन्दुओं की ओर से ऐसे कानून की मांग नहीं की गयी है, उन्हें उस की आवश्यकता नहीं है। यह विषय ही ऐसा है कि वह वर्तमान धारासभा के, किसी तटस्थ गृहस्थ के अथवा राज्य के हस्ताक्षेप के नीचे नहीं आ सकता। कमेटी के मत या बहुमत के आधार पर उस का निर्णय नहीं हो सकता। प्रजासम्बन्धी अमोघ एवं अविभाज्य सांस्कृतिक अधिकारों का यह विषय है, अतः इस समूचे प्रयत्न को स्थगित कर देना आवश्यक एवं उचित है।

निवेदन

महाधिवेशन के कार्यों में व्यग्र रहने के कारण दो अङ्क हम साथ निकाल रहे हैं। इस में मुख्य भाषणों का सारांश दिया गया है। अगले अङ्कों में हम महाधिवेशनसम्बन्धी अपने विचारों को प्रकट करेंगे।

—सम्पादक

'हिन्दू कोड' पर अभिप्राय

(श्री जयचन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एस्. ए.)

अमरावती की 'सनातनधर्म-सभा' ने प्रस्तावित 'हिन्दू कोड' के मसविदा के सम्बन्ध में निर्गलखित अपना मत सरकार के पास भेजा है। १—यह मसविदा ऐसा क्रान्तिकारक एवं संस्कृतिघातक है कि उस से समूचे भारत में विरोध, दोष एवं असन्तोष उत्पन्न हो गया है। २—यह

प्रकाशक—श्री गदाधर ज्ञानचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

मुद्रक—कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामबाद, बनारस।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

धर्मसङ्घ चतुर्थ महाधिवेशन

भगवान् विश्वनाथ के परम अनुग्रह से धर्मसङ्घ का चतुर्थ महाधिवेशन सानन्द समाप्त हो गया। अब यह केवल धर्मसङ्घ का ही अधिवेशन नहीं रहता, साथ ही में अन्य कई सम्मेलन हो जाते हैं। यज्ञ, जप, पाठ कीर्तन आदि के समावेश से यह एक महान् धार्मिक पर्व भी बन गया है। 'धर्मनगर' के बसाने में ललित कला को भी अपनी छटा दिखलाने का अवकाश मिल जाता है। तद्वियों के तट पर कितने ही नगर बसे हुए हैं, किन्तु पुण्यसलिला जान्हवीतट पर अर्द्धचन्द्राकार बसी हुई काशी की शोभा निराली ही है। उसी से समवेत धर्मनगर का दृश्य था, जिसमें काशी, काशी, मथुरा, अयोध्या, अवन्तिका, महेन्द्र, ब्रह्म, विवेक आदि पुरियां अलग अलग दिखलायी पड़ रही थीं। इन में डाक, तार टेलीफोन, वेडू आदि सभी प्रकार की सुविधाएं थीं। रात में बिजली के प्रकाश से सारा नगर जगमगा उठता था। इस आधुनिक नगर के मध्य में विशाल यज्ञमण्डप था, जिस से निकलता हुआ पावन धूम पवन के साथ मिलकर अनन्त आकाश में व्याप्त हो रहा था। प्राचीन और नवीन का यहां अपूर्व सम्मेलन देखने में आता था। पर साथ ही सुन्दर पर्णकुटियां, फूल-पल्लवों से सुशोभित तपोभूमि की शान्ति का उस में अनुभव न होता था, हर समय दर्शकों की चहल-पहल, लाउडस्पीकों की चीत्कार और मोटरों की घरघराहट से वातावरण विक्षुब्ध सा प्रतीत होता था।

कार्तिक शुक्ल १३ से महायज्ञ आरम्भ हुआ। यज्ञों का विरोध दिल्ली से ही चल रहा था, कानपुर में उस ने कुछ जोर पकड़ा, पर काशी में तो उस ने अनेक रूप धारण करके अपनी पूर्ण शक्ति लगा दी। विरोध हम समझ सकते हैं, किसी बात के न्यायपूर्ण विरोध करने का सभी को अधिकार है। पर न्याय तो दूर रहा, विरोध में साधारण शिष्टता को भी तिलाजलि दे दी गयी। हमारे सहयोगी दैनिक 'आज' ने, जो अपनी गम्भीरता के लिए प्रसिद्ध था, कोई बात उठा न रखी। सत्य की डींग हांकनेवालों ने असत्य की सीमा पार कर दी। एक सज्जन ने 'अमृतबाजार पत्रिका' में लिख डाला कि इस यज्ञ में ३५,००० मन गेहूँ, २०,००० मन चावल और २५०० मन घी अग्नि में झोक दिया गया। इस नामधारी हिन्दू को यहां तक पता नहीं है कि 'गेहूँ' से हवन नहीं होता। जहां तक हमें ज्ञात है हवन में केवल १००० मन तिल, १०० मन घी और १०० मन चीनी खर्च हुई। अधिकांश द्रव्य तो लोगों को खिलाने-पिलाने में ही खर्च हुआ। प्रतिदिन आठ-दस हजार व्यक्तियों को बिना किसी जातिभेद के भोजन मिलता रहा। यज्ञ के निमित्त से कितने ही लोगों का उपकार हुआ। बड़े बड़े आयोजनों में कुछ त्रुटियां रह ही जाती हैं। जहां सहस्रों का वरण होता है, कुछ अयोग्य व्यक्ति भी घुस जाते हैं। परन्तु यदि ऐसे ही आयोजन होते गये, तो ब्राह्मणों को बाध्य होकर अपने को उनके योग्य बनाना पड़ेगा और वह समय भी आयेगा, जब इन की ओर अङ्गुली उठाने का किसी को साहस न होगा। चाहे जो कुछ भी हो यह मानना पड़ेगा कि जिन विरोधियों ने भी यज्ञ भगवान् का दर्शन किया, उन्हें नतमस्तक होना पड़ा। मार्गशीर्ष कृष्ण १ से सम्मेलनों का श्रीगणेश हुआ। सर्वप्रथम 'सौत्रवेद महाविद्यालय नरवर' के संस्थापक परमपूज्य ब्रह्मचारी श्रीजीवन-दत्त जी की अध्यक्षता में 'गौरक्षा सम्मेलन' हुआ। इस का मुख्य प्रस्ताव यह रहा कि "प्रत्येक हिन्दू अपने भाग का दसवां हिस्सा गोधन और चारे के रूप में रखे, कम से कम एक गौ पाले और गोघ्रास निकाले।" आजकल गोपालन सहज नहीं है, बहुतांश के यहां घर के प्राणियों को ही मरपेट भोजन नसीब नहीं होता, फिर गौ के लिए कहाँ से लायें? तब भी गोसंस्था के लिए आय का कुछ अंश निकालना और प्रतिदिन गोघ्रास देना, इतना तो अवश्य करना चाहिए। साथ ही धनिकों को गौ अवश्य

पालनी चाहिए। गोवंशजों के प्रति आजकल निष्ठुरता बहुत बढ़ गयी है, वेलों से कितना काम लिया जाता है और किस क्रूरता से उन की ताड़ना की जाती है, यह प्रायः सड़कों और खेतों में देखने में आता है। क्या ही अच्छा होता यदि सम्मेलन ने जनता का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट किया होता।

दूसरे दिन शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीराजराजेश्वर-श्रम जी की अध्यक्षता में 'धर्मसङ्घ शिक्षामण्डल' का प्रथम अधिवेशन हुआ। सालभर का विवरण पढ़कर सुनाया गया। इस संस्था का कार्य अभी आरम्भ ही हुआ है। शिक्षा के सम्बन्ध में कितने ही विचारणीय प्रश्न हैं। मण्डल की ओर से एक वृहत् योजना तैयार हो रही है, जो शीघ्र जनता के सामने आयेगी, तभी हम उस पर अपने विचार प्रकट करेंगे।

तीसरे दिन 'हिन्दू कोड विरोधी सम्मेलन' हुआ, जिस के अध्यक्ष महा-राजा कासिमबाजार के विद्वत्तापूर्ण भाषण का सार हम गताङ्क में दे चुके हैं। सम्मेलन में कई प्रस्ताव पास हुए, जिन का आशय इस प्रकार है — "समाज-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों के परिवर्तन का हिन्दूधर्मशास्त्रानुसार किसी भी राजा को अधिकार नहीं है। हमारे धार्मिक तथा सामाजिक नियमों में परिवर्तन करना भारतसरकार की अनधिकार चेष्टा है। उसे 'हिन्दू-कमेटी' को तोड़ देना चाहिए। कोड द्वाग स्त्रियों को जो तथा-कथित स्वतन्त्रता दी जा रही है, वह उन के लिए अहितकर है। उस से सहस्रों वर्ष से प्राप्त सामाजिक संरक्षण विनष्ट हो जायगा। 'प्रस्तावित कोड' धर्म-शास्त्रों के सर्वथा प्रतिकूल है। ब्रिटिशभारत तथा देशी राज्यों के हिन्दुओं को अलग करने से हिन्दू राष्ट्र की एकता नष्ट हो जायगी।" प्रथम प्रस्ताव डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी के भाई श्री भामाप्रसाद मुखर्जी ने रखा, जिस का समर्थन डाक्टर मुखर्जी ने जोरदार शब्दों में किया। आप ने कहा — "जब हिन्दू राजाओं को भी धार्मिक नियम-परिवर्तन का अधिकार नहीं है, तब विदेशी राजाओं को वह अधिकार कहाँ से प्राप्त हो सकता है? राज जीत लेनेवाले को भी यह अधिकार नहीं हो सकता। सन् १८५७ में इसी प्रकार धार्मिक नियमों के परिवर्तन का प्रस्ताव आया, फलतः उस समय 'बलवा' हो गया। जब रानी विक्टोरिया ने धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा की, तब कहीं शान्ति हुई। क्या हम राज्य की तरह अपने धर्म को भी दूसरों के अधिकार में दे सकते हैं? जब तक शरीर में प्राण है, मैं कभी इसे न होने दूँगा। ईसाई, मुसलमानों आदि के लिए 'कोड' क्यों नहीं बनाया जा रहा है? यदि हम आज सरकार का ऐसा अधिकार मानते हैं तो हमारी रहीं-सही पुरानी सभ्यता, संस्कृति नष्ट हो जायगी।" दूसरा प्रस्ताव कलकत्ते की सुलेखिका, स्वनामधन्य स्वर्गीय बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय की भतीजी श्रीमती अनुरूपादेवी ने रखा, जिस का कई महिलाओं ने समर्थन किया। सम्मेलन ने विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों की एक समिति नियुक्त की, जिस का कार्यालय कलकत्ते में रहेगा, यह समिति कोड-विरोध का कार्य बराबर चलाती रहेगी। इस के मन्त्री उत्साही कार्यकर्ता श्री दामोदरदास खन्ना रखे गये हैं। हमें आशा है कि यह कार्य बराबर चलता रहेगा। इस से शिथिलता करने से हमारे इतने दिन का प्रयत्न व्यर्थ जायगा। सभा में उपस्थिति लगभग ५० सहस्र की थी, स्त्रियों की संख्या १० सहस्र से भी अधिक थी। दूसरे दिन श्रीमती अनुरूपा देवी की अध्यक्षता में स्त्रियों ने अपना अलग 'महिला सम्मेलन' करके 'कोड' का घोर विरोध किया।

'संस्कृत साहित्य सम्मेलन' में प्राचीनतम पठन-पाठनप्रणाली पर बड़ा जोर दिया गया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि स्वयं संस्कृत के विद्वान् ही अपने लड़कों को विदेशी शिक्षा दिया करते हैं। दूसरे प्रस्ताव में भूगोल, विज्ञानादि सामयिक विषयोपयुक्त शब्दों के कोशनिर्माण की आवश्यकता बतलायी गयी। ऐसे ग्रन्थों के अभाव का अनुभव संस्कृत के विद्वानों को भी होने लगा, यह तो ठीक ही है, पर-यह समझ में न आता कि भूगोल,

विज्ञानादि का पूरा अध्ययन किये बिना ऐसे ग्रन्थ कैसे बन सकेंगे और संस्कृत विशालियों में भूगोल, विज्ञानादि सामयिक विषयों के पढ़ाने की व्यवस्था के बिना उन का उपयोग ही क्या होगा ? श्रीरामाप्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में 'अखण्डभारत सम्मेलन' भी हुआ, जिस में भारतमाता को विभाजित करनेवाली 'पाकिस्तान', 'आजाद पञ्जाब' आदि योजनाओं का घोर विरोध किया गया और यह दिखलाया गया कि भारत सदा से अखण्ड रहा है और भविष्य में रहेगा ।

भारतीय नगरनिर्माण-कला

आ टाउन रो ज़िटेन के गृह तथा नगर-निर्माण की केन्द्रीय समितियों के प्रमुख सदस्य हैं । गतवर्ष 'इण्डिया सोसाइटी' के सामने आप का एक भाषण हुआ, जिस में आधुनिक ज़िटेन तथा प्राचीन भारत की नगरनिर्माण-कला का तुलना करते हुए आप ने कहा—“जो लोग एक नवीन संसार की आशा दूसरों को दिखाते रहते हैं, जिस की योजना उन्होंने स्वयं भारी पीढ़ियों के सुख के लिए अपने विश्वासातुसार बनायी है, उन्हें कभी कभी धीरे धीरे असर करनेवाला अधिनायकत्व का विष लग जाता है । वे यह भूल जाते हैं कि जिन बातों का उन्हें गर्व है, वे ५ हजार वर्ष पुरानी हैं । सिन्ध की घाटों में तब के गड़े हुए नगरों की खुदाई होने पर मकानों, सड़कों और नालियों की सुन्दर व्यवस्था मिलती है । प्रत्येक घर में एक स्नानागार मिलता है । वैदिक साहित्य से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय गृहनिर्माण, नगर-रचना और नगर-प्रबन्ध में बड़े कुशल थे । पांच हजार वर्ष पुरानी सिन्धघाटी की नागरिक सभ्यता की ओर जब हम ध्यान देते हैं, तब वर्तमान समस्याओं को हल करने में हमें नतमस्तक होना पड़ता है । सुदूरपूर्व उत्तरी अफ्रीका और यूरोप के उन नगरों के पुनर्निर्माण में, जो बम से ध्वस्त हो चुके हैं, हम भारत से धैर्य तथा बुद्धि की बहुत कुछ शिक्षा ले सकते हैं ।”

‘सगोत्र विवाह-बिल’

प्रस्तावित ‘हिन्दू कोड’ पर विचार चल ही रहा है, पर इतना विलम्ब भी तथाकथित सुधारकों को असह्य है । जान पड़ता है कि यदि उन के मनमाने ‘सुधार’ न हुए तो हिन्दुओं पर न जाने क्या विपत्ति टूट पड़ेगी । गत १० नवम्बर को ‘केन्द्रीय असेम्बली’ में डाक्टर देशमुख पुराने पड़े हुए ‘सगोत्र-विवाह बिल’ पर सेलेक्ट कमेटी नियुक्त करने के पीछे पड़ गये । प्रस्तावित ‘हिन्दू कोड’ में, जिन लोगों में ‘सगोत्र-विवाह’ प्रचलित है, उन को छोड़कर अन्य लोगों के लिए ऐसा विवाह जायज नहीं माना गया है, परन्तु देशमुख के भाषण से ज्ञात हुआ कि मसविदा में संशोधन करते समय इस को भी मान लिये जाने की सम्भावना है । किन्तु देशमुखजी को विश्वास न हुआ और आप ने कह डाला कि “ऐसे आवश्यक सुधार व्यर्थ ही टाले जा रहे हैं । बियाँ अपना हित समझती नहीं हैं । उन की प्रमुख समितियाँ सुधारों के सम्बन्ध में वकीलों से सलाह-लेने दीड़ती हैं और वकील उन्हें समझा देते हैं कि यदि कुछ सुधारों से संतोष कर लिया गया, तो फिर आगे सुनवाई न होगी, इसलिए सब सुधारों को एक साथ ही माँगना चाहिए । इस चक्र में उन्हें न पड़ना चाहिए और जो ‘बिल’ पेश है, उन्हें शीघ्र ही पास करवाने का प्रयत्न करना चाहिए ।” ‘बिल’ पर अपने विचार प्रकट करते हुए आप ने कहा कि “एक ही गोत्र के लोग विभिन्न प्रान्तों में रहते हैं, तब भी वे परस्पर विवाह नहीं कर सकते । सगोत्रीय एक ही ऋषि के सन्तान कभी नहीं हो सकते, ऋषि तो प्रायः ब्रह्मचारी होते थे । उन के शिष्यों के सन्तान उन के नाम से प्रख्यात हो गये । इसलिए सगोत्र-विवाह में किसी धार्मिक आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं होता ।” भला ऐसे तर्कों में क्या सार ? विभिन्न प्रान्तों में रहने से क्या सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । ऋषिलोग तो प्रायः विवाह करके गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते थे । यदि आप की ही बात ठीक है, तो फिर उन के शिष्य भी ब्रह्मचारी ही रहते होंगे । ऐसी दशा में सर्व भूटे ही ऋषि-सन्तान बनने का दावा करते हैं । स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आप की राय में “सगोत्र-विवाह से कोई हानि नहीं । डार्विन के माता-पिता दोनों निकट-सम्बन्धी थे । अरब की ‘विदूष’ जातियों में आज भी और मिश्र के प्राचीन राजवंश में निकटसम्बन्धियों में बराबर विवाह हुआ करते थे, जिस से जाति का कोई ह्रास नहीं हुआ ।” डार्विन के माता-पिता निकट सम्बन्धी थे, क्या तभी तो उन्होंने ने मनुष्य के दादा-भ्राता को

‘बन्दर’ नहीं बना डाला ? यदि अरब के अर्द्धसभ्य विदूषों का ही देशमुख जी को अनुकरण करना है, तो फिर कहना ही क्या ? रही मिश्र के प्राचीन राजवंशों की बात, जिन में भाई-बहन भी परस्पर विवाह कर सकते थे, तो आज उस वंश का पता तक नहीं है । तमाशा यह है कि हिन्दूधर्म की एक बात भी न मानकर डाक्टर देशमुख बने हिन्दू ही रहना चाहते हैं । जो लोग ऐसा विवाह करना चाहते हैं, वे ‘सिविल मैरेज कानून’ के अनुसार विवाह करें, इस को अस्वीकार करते हुए आप ने कहा कि “मैं हिन्दू हूँ और मुझे हिन्दू होने का गर्व है । मुझ से यह कोई कैसे कह सकता है कि हिन्दूसमाज से अलग होकर मैं किसी दूसरे प्रकार से विवाह करूँ ? मैं हिन्दूसमाज से कभी पृथक् नहीं रहना चाहता, मैं तो उस में पैर का अंगूठा गड़ाकर, उस का सुधार करूँगा, उस को पुनर्जीवित करूँगा, उस को शुद्ध करूँगा । यही मेरा पवित्र कर्तव्य है ।”

धर्मग्रन्थों की होली

‘सत्यार्थप्रकाश’ की कतरव्यौत करने की बात सिन्ध में बहुत दिनों से चल रही थी । गतवर्ष अङ्क २१ में इस पर हमने अपने कुछ विचार भी प्रकट किये थे । अब वहाँ की सरकार ने ‘भारतरक्षा नियम’ के अन्तर्गत यह आज्ञा निकाल दी है कि आगे से ‘सत्यार्थप्रकाश’ में उसी का चौदहवाँ ‘समुल्लास’ न छपा जाय, क्योंकि उस से सरकार की प्रजा में द्वेष और असन्तोष फैलने का भय है । ‘भारतरक्षा नियम’ की ओट में ऐसी आज्ञा निकालना बड़ी धीमाधीनी है । उस का अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि कोई ऐसी बात न हो, जिस से युद्ध के समय में किसी प्रकार की अशान्ति उत्पन्न हो । ‘सत्यार्थप्रकाश’ को प्रकाशित हुए ७७ वर्ष होगये, अबतक उस से कोई उपद्रव न हुआ, फिर अब केवल अगले संस्करणों में उस समुल्लास को निकाल देने में क्या तुक है ? गत ७ नवम्बर को भाई परमानन्दजी ने इस प्रश्न को केन्द्रीय असेम्बली में एक ‘कामरोको’ प्रस्ताव द्वारा उठाया । इस अवसर पर श्री लालचन्द्र नवलराय ने ठीक ही कहा कि ‘भारतरक्षा नियम’ धार्मिक विषयों में लागू नहीं है, यह पुस्तक न कोई गुप्त रिपोर्ट है, न इस के प्रकाशन से शत्रु को ही किसी प्रकार की सहायता मिल सकती है, फिर सिन्ध-सरकार की यह आज्ञा ‘भारतरक्षा नियमों’ के अन्तर्गत कैसे आ सकती है ? “सिन्ध में तो सचमुच ‘पाकिस्तान’ स्थापित हो गया ।” सर विठ्ठल चन्द्रावरकर ने कहा कि “यदि ऐसा ही है, तो सिन्ध ही क्यों, सारे देश के लिए यही आज्ञा होना चाहिए ।” आप ने हँसते हुए यह भी कहा कि “भारत-सरकार को एक सभिति नियुक्त करनी चाहिए, जो प्राचीन धर्मग्रन्थों के ऐसे अंशों को छाँटे, जो आधुनिक सदाचार और सार्वजनिक नीति के विरुद्ध हैं ।” इस पर दिल्ली के अङ्गरेजी दैनिक ‘हिन्दुस्तान टाइम्स’ ने एक ‘व्यङ्ग चित्र’ ठीक ही निकाला है, जिस में धर्मग्रन्थ एक ‘अग्निकुण्ड’ में झोके जा रहे हैं । यदि ऐसी आज्ञाएँ, ‘हिन्दू कोड’ आदि पास होने दिये गये, तो जो बात सर चन्द्रावरकर ने हँसी में कही है, वह सत्य भी हो जायगी और एक ‘धर्मग्रन्थ-संशोधन कमेटी’ नियुक्त हो जायगी । वोट लिये जाने पर प्रस्ताव के पक्ष में केवल १५ और विपक्ष में ५५ वोट आये । कांग्रेस-दल में से केवल ४ ने समर्थन किया और बाकी मौन रहे हैं, यह है उन के ‘स्वतन्त्रता-प्रेम’ का उदाहरण !

‘धर्मसङ्घ’ का सच्चा उपदेश

(श्रीस्वामी करपात्री जी)

स्वधर्मनिष्ठ होकर धर्म का पालन करने से प्राणी को पवित्र बुद्धियोग प्राप्त होता है और उस से प्राणियों की सद्गति होती है अर्थात् लोक-पर-लोक दोनों बनते हैं । जैसे अन्धे का सहारा एकमात्र लकड़ी ही है, वैसे ही प्राणियों के लिए भगवत्कृपा ही बहुत बड़ा सहारा है । बुद्धिमान, बलवान्, बड़े बड़े राजा-महाराजा, नरेन्द्र, चक्रवर्ती नरेश, अमलात्मा परम-हंस आदि जितने भी उच्छ्रोत्र के लोग हैं, वे भी भगवत्कृपा को ही मुख्य सहारा मानते हैं । अपना बल तो केवल संतोष के लिए होता है और होना ही चाहिए, क्योंकि यदि हाथ-पैर भी न हिलाये जाय तो भगवान् के दिये हुए हाथ-पैर और शक्ति की उपेक्षा होती है । ‘गीता’ में भगवान् ने कहा है—“मामनुस्मर युद्धय च” तात्पर्य यह कि भगवान् का सहारा लेकर ही प्रयत्न करना चाहिए, तभी वह सफल हो सकता है । पुराणों में दिग्भि

एक आख्यान हुआ है। समुद्रतीरस्थित टिटिहरी के अण्डों को समुद्र अपनी लहरी के साथ बहा ले गया। इस पर टिटिहरी को कोष हुआ और समुद्र का शोषण करने के उद्देश्य से वह अपनी लहरी से समुद्र के जल को लेकर बाहर मरुभूमि में छोड़ने लगा और मरुभूमि से एक चञ्चु वाला लेकर समुद्र में गिराने लगा। टिटिहरी के प्रयत्न पर पहले तो लोग हँसे, परन्तु जब उसे लोगों ने इस भर्गोरथ-जल में डूब देखा, तब उस के जाति एवं वन्धुवर्ग भी उस के इस कार्य में सहायता प्रकट करते हुए सहायक हुए। इस तरह जाति, उपजाति एवं जाति-जातियों की भी सहायता मिलने लगी। इस पर देवताओं तथा देवियों को बड़ा कुतूहल हुआ और देवर्षि नारद ने पक्षिराज गरुड़ के पास पहुँचकर सारी कथा कह सुनायी। अपनी जाति पर आयु हुई आपत्ति के निवारणार्थ पक्षिराज गरुड़ भी समुद्र के समीप पधारे। गरुड़ के भय से समुद्र का पराजय हुआ और टिटिहरी अपने खाये हुए अण्डों को पाकर खुशी हुआ। तात्पर्य यह कि प्रयत्न दृढ़ होना चाहिए, फिर भगवद-वचन अवश्य मिलेगा। भगवदाज्ञापालन से ही मनुष्य स्वातुष्टत कायों में सफल हो सकता है। महाभारत-युद्ध में प्रवृत्त अर्जुन के लिए भी भगवान् ने बार बार यही उपदेश दिया है कि 'मामनुस्मर युद्धय च', तभी पाण्डवों की विजयश्री मिली। धर्मात्मा पाण्डवों ने दुस्तर कौरव-सैन्यरूप सागर को, जिस में जयद्रथ, कर्ण आदि अतिरथी, महारथी घोर भगर थे, भगवच्छरणों का अवलम्बन लेकर ही पार किया। यदि भगवच्चरणरूपी नाव का सहारा न लेते, तो उस सैन्यसागर को पार करना उन के लिए असंभव था। गाण्डावधारी धनुर्धर अर्जुन की भी सारी शक्ति भगवान् कृष्णचन्द्र से वियुक्त होने पर क्षीण हो गयी। भगवान् की पटरातियों समेत जब वे प्रभासक्षेत्र से लौट रहे थे, मार्ग में साधारण जाट और आभीर उन्हें पराजितकर स्त्रियों को छीन ले गये थे। जिन सामग्रियों से अर्जुन ने कौरवसेना पर विजय पायी थी, वे सब उन के पास उथों की त्यों थी, वही अग्निप्रदत्त रथ, वही गाण्डीव धनुष, परन्तु केवल भगवान् का सहारा न रहा। सारांश, भगवदवलम्ब ही सब बलों में श्रेष्ठ बल है। इसलिए बुद्धिमानों को भगवान् का सहारा लेकर ही सभी कार्य करने चाहिए। हमलोगों का तो सिद्धान्त है—“लाद दे लदाय दे, लादनेवाले को साथ कर दे।” क्योंकि जिस तरह कर्णविहीन को शब्द दुर्गम है, तद्वत् अज्ञानी को ब्रह्म दुर्गम है। “मच्चित्ता मदगतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च। तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥” अर्थात् भगवान् कहते हैं—जो भगवान् के परमपावन यश के कीर्तन में लीन हैं, भगवान् उन को बुद्धियोग प्रदान करते हैं। सुबुद्धि मिलने से अज्ञानान्धकार दूर होकर प्रकाश (ज्ञान) मिलता है। ज्ञान होने से ही प्राणी भगवत्स्वरूप पहचानने में समर्थ होता है। भगवत्कृपा से हम सब कुछ कर सकते हैं, राजनीतिक अधिकार, अन्ताराष्ट्रीय ख्याति सभी कुछ प्राप्त कर सकते हैं। भगवत्परायण होने पर—“इहलोके सुखं सुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं ययौ”—जबतक जीव मृत्युलोक में रहता है, सुखी रहता है और मरण पर सत्यलोक—पुण्यधाम—की प्राप्ति होती है। तदनन्तर निर्वेद—वैराग्य—की प्राप्ति होने पर कैवल्यधाम—नित्यधाम—की प्राप्ति होती है।

धर्मावबन्धी अर्थ से ही लोककल्याण हो सकता है। अतिकलेश से, धर्म का अलङ्घन करके, गोवध करके, जनेऊ और शिखा कटा देने से जो कौड़ी या धन मिलता हो, उस धन को धिक्कार है। अतएव “अकृत्वा पर-सन्तापम्” के अनुसार एक कौड़ी की भी चीज मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट होना चाहिए। न्यायोपार्जित एक कौड़ी भी अग्नि में नहीं जल सकती। इसीलिए कौटिलीय अर्थशास्त्र वर्णाश्रमव्यवस्था पर बार बार जोर देता है। आजकल के राजनीतिज्ञ कहते हैं—राष्ट्र की स्वतन्त्रता में धर्म रोड़ा है। मुझे उन की बुद्धि पर तरस आता है। अपने शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन न करने से ही वे ऐसा कहते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय आदि नीतिग्रन्थों का अध्ययन करने से उन का यह भ्रम दूर हो सकता है। हमारे कामशास्त्र, अर्थशास्त्रों में भी धर्म का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है। इसलिए हम जो कुछ चाहें, भगवन्निष्ठ होकर, भगवत्परायण होकर, पा सकते हैं। भगवद्भक्तों के चरणों में स्वराज्यलक्ष्मी स्वयं आकर साया देकती है। भक्त तो कैवल्य तक की भी परवाह नहीं करता—

“जिमि सरिता सागर पहुँ जाहीं, यद्यपि ताहि कामना नाहीं।” हम अज्ञानतिमिर में पड़े हुए लोगों से पुकारकर कहते हैं कि अबतक अथर्मा बनकर स्वराज्यलक्ष्मी की प्राप्ति का स्वप्न देख लिया, अब कुछ दिन धर्मेनिष्ठ बनकर भी देख लें। कल्पना कर लें कि हम ने सदा ही खेला है निश्चल, धर्मेपरायण एवं स्वधर्मेनिष्ठ होकर सन्मार्ग पर चलने से ही इस का रस समझ में आ सकता है। इसलिए दितैषिता को दृष्टि से आचार्य महात्मा जो कुछ उपदेश दे रहे हैं, उस पर विश्वासकर तद्वत् आचरण करना चाहिए। फिर अविश्वास उसी बात पर किया जा सकता है, जो कोई नयी बात कही जाय। ‘धर्मेसङ्ग’ तो आप के बाबा-दादा की ही बात कहता और उस पर चलने का अनुरोध करता है। इसलिए अपने में विश्वास पैदा करना और ईमानदारी लाना चाहिए।

आजकल अद्वैतवाद को लेकर लोग खानपान आदि में समानता का व्यवहार चाहते हैं। परन्तु आजकल का अद्वैतवाद उच्छृङ्खलवाद है, अद्वैतवाद नहीं। हमारे यहाँ का अद्वैतवाद ‘भेदव्यपदेश’ है। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार ‘रेडियम’ आदि में कौन सा अद्वैतवाद भरा है? प्रयोगशाला में बैठे बैठे आधुनिक वैज्ञानिक मिट्टी, जल और कोयले के संयोग से अद्वैतवाद का विकास कर रहे हैं। इस तरह का अद्वैतवाद देहांतमवाद है। ‘स्थूलोऽहं’, ‘कृशोऽहं’ क्या यही अद्वैतवाद है? नहीं। हम तो देह से पृथक्, मन से पृथक् निर्लिप्त द्वैत के द्वारा ही अद्वैत पर पहुँच सकेंगे। द्वैतनिर्णय द्वारा कर्मकाण्ड का सर्वथा निरीक्षण करके तब कहीं निःशेष दृक् पर परिनिष्ठित हो सकते हैं। यह नहीं कि संसार में समानता का ढोंग रचकर, अष्टाचार, अनाचार, खान-पान आदि में विकृति फैलाये। अतएव शास्त्र की आज्ञा से चलना चाहिए। भगवान् कहते हैं—“तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ” शास्त्र के अनुकूल ही अपने कार्याकार्य का निर्णय करो। इसलिए वर्णाश्रमानुसार ही सोच-समझकर स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिए, यही ‘धर्मेसङ्ग’ का सच्चा सदुपदेश है।

धर्मानुसारी स्वराज्य-शासन-विधान

(श्री अनूपराम सदाशिव शास्त्री दर्शनकेसरी)

३

१३—इस योजना में—स्थापित देशी राज्यों में—अकारण हस्ताक्षेप करने की धारणा नहीं है। इस में उन्हें प्राचीन संस्कृति की शक्ति के अवशेषरूप में बलवान् बनाने की धारणा दिखलाई पड़ती है। नवीन भारत में जो शिष्टों का सङ्गठन—उस के शासनविधान के अङ्ग में भी होगा—उस का यह कर्तव्य होगा कि इन राजाओं को अपने पवित्र आदर्शों के अनुगामी बनाना। वेदान्त की प्रक्रिया की तरह उस में सिर्फ आदर्श पर से मैल ही साफ कर डालना है। कार्य कुछ कठिन है सही, पर असाध्य नहीं है। राजालोग अब भी भीतर से स्वभावतः उसी तरह आस्तिक रानियों के सहवास से धर्म तथा संस्कृति की ओर प्रेम रखनेवाले हैं। हिन्दू-मुसलमान सब उन की प्रजा हैं, अतः वे उन की ओर स्वभावतः ही प्रेमदृष्टि से देखते हैं। राजाओं के, पक्ष से परे होने का, यह एक बड़ा लाभ है। १४—दूसरे विभाग में अर्थात् संयोजन-काल में जिन प्रान्तों की पुनर्रचना होगी, वे प्रान्त—राज्य—स्वतन्त्र अर्थात् अपने तन्त्रवाले होंगे और स्वनिर्भर अर्थात् स्वयं अपने व्यय की पूर्ति करनेवाले होंगे, ऐसी योजना है। समस्ततन्त्र से वे अर्थ की आकांक्षा न करें और समस्ततन्त्र उन में हस्ताक्षेप न करें। समस्ततन्त्राधीन नरेन्द्रमण्डल चुन्नी आदि विषयों पर विचार करे और सहमति से सब का हितसाधन कर सके। हाँ, देशरक्षा, युद्ध, सन्धि तथा परराष्ट्रों के साथ के सम्बन्ध आदि में समस्ततन्त्र का निर्णय बन्धनकारक हो, ऐसा इस योजना का सामान्य विधान है। यह विदित ही है कि कुछ ऐसे ही अर्थ में ‘प्रान्तीय स्वराज्य’ शब्द भी रूढ़ हो गया है। १५—शोधित-वर्द्धित नरेन्द्रमण्डल बनाने का काम यद्यपि स्वयं नरेन्द्रमण्डल के ही हाथों में रखा जा सकता है, तथापि इसे इस परामर्श में राष्ट्र की सम्मति मिल सकती है। ऐसे नवनिर्मित मण्डल में स्वभावतः ही यह स्पष्ट है कि नवीन प्रान्तों—राज्यों—के राजाओं का स्थान होगा। इस से आधुनिक ब्रिटिश भारत एवं भारतीय भारत के बीच का अन्तर कम हो जायगा और ऐक्य होता जायगा।

वर्तमान में जैसा है, उत्तरार्द्ध नरेन्द्रमण्डल में मुसलिम राजा-या नवाब भी होंगे, पर उन में इस समय जो ऐक्यभाव है, वह कायम रहेगा, ऐसी आशा रखने के कारण वर्तमान है। बलूचिस्तान ऐसे प्रान्त में वह मण्डल ही यदि किसी नवाब-कुटुम्ब के व्यक्ति को नियुक्त करे, तो इस में कोई आश्चर्य नहीं। लोकशासन में जो कड़वाहट पैदा हुई है, उस की अपेक्षा ऐसे देशी राज्यों में—यह तो सुप्रसिद्ध है कि जातीय वैमनस्य अल्प है।

१६—इस नरेन्द्रमण्डल के हाथ में—ऊपर सूचित किया जा चुका है कि अमुक निश्चित विषयों में भारतसमस्त की सत्ता रहेगी। इस की भी संभावना देखी गयी है कि उस के अध्यक्षरूप से इङ्ग्लैण्ड के रामकुटुम्ब के कुमार को वाइसराय के स्थान पर नियुक्त करने से भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध स्वीचातानी के नहीं, अपितु अधिक कोमल एवं भावपूर्ण होंगे और इस के उपरान्त केवल स्वतन्त्रता प्राप्त करके—तीसरे काल के अन्त में—सन्धि तथा समाधान द्वारा इङ्ग्लैण्ड के मित्रराज्य के रूप में रहना भी संभव हो जायगा। नरेन्द्रमण्डल के अध्यक्ष 'भारतदेशाध्यक्ष' कहे जायेंगे। इस योजना में यह भी ध्यान रखा गया है कि इस के द्वारा—राजसत्ताधीशों की उत्तरदायित्वसम्बन्धी भावना और उन में से अधिकांश की सहविवारणा के लाभ भी इस तरह देश को प्राप्त हों, इस में सम्राट के खिताब का वितरण नहीं किया गया है। १७—राज्य का अर्थ ही है कि प्रजा की स्वेच्छा-चारिता की नियामक शक्ति। यह बात तो है ही नहीं कि देशी राजा होने से स्वर्ग नीचे उतर आयेगा। उस में किसी को, भले ही कठिन्ता भी प्रतीत हो, किसी का नियमन भी करना पड़े। ब्राह्मण हमारे आर्यों की राजशक्ति का बुद्धिदाता है, वह जान-बूझकर ही उस राजशक्ति का सत्ता-धीश नहीं बनता, क्योंकि राज्ञ रजोगुणी घटना या प्रक्रिया है और इसी लिए "राज्यान्ते नरकं भ्रुवम्" ऐसी लोकप्रसिद्धि है, अतएव पवित्र, सात्विक ब्राह्मण लोग राजसत्ता के पीछे नहीं दौड़ते और राज का अन्न स्वीकार करने में भी सझोच करते थे। बहुत संभव है कि साम्प्रदायिक जनतावाला लोक-शासन धर्मविहीन हो, वह भौतिक लाभों को देनेवाली भौतिक योजनाओं की ओर ही मुख्यतया दृष्टि रखेगा। हम धर्मप्राण प्रजा हैं। हम धर्ममूलक अभ्युदय चाहते हैं और इसीलिए धर्मप्रधान राज्य चाहते हैं। धर्मप्रधानता में भी चारों वर्णों की जनता के लिए सनातनधर्म का प्राधान्य चाहते हैं और इसीलिए क्षत्रियकुल के राजाओं को इस योजना में अधिक श्रेष्ठ माना गया है। फिर भी वर्तमान युगबल पर ध्यान रखकर राजाओं पर नैतिक प्रभाव के लिए लोकसभा, जातीय समितियाँ आदि मतदर्शन के साधन रखे गये हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि कानूनों में साम्प्रदायिक जातियों के अपने अपने धर्म-ग्रन्थ मान्य होने से नित्य नये नये कानून बनाने की इस योजना में शायद ही आवश्यकता रहेगी।

१८—यह ऐतिहासिक विषय है कि भारतखण्ड में साधारणतः अनेक स्वतन्त्र राज्य रहते आये हैं और यह देश एक बड़ा खण्ड होते से यही स्वाभाविक है। पिछले दो हजार वर्षों का इतिहास तो स्पष्ट ही है, पर पुरातन समय का चक्रवर्तित्व भी राजाओं पर की सांस्कृतिक सत्ता का साङ्केतिक था। हमारे विद्वानों को विलायत से यहां घुस आये हुए कई अभिमानपोषक आसुरी आत्मासि विचारों एवं इच्छालुगामी विचारणा से सावधान रहना है और उन्हें सर्वादाओं में रखना है, इस विषय पर श्री दूरकाळजी ने अपने ग्रन्थों में उचित जोर दिया है। इस तरह के विचारों में लोकशासनवाद, स्वच्छन्दवाद, राष्ट्रभिमानवाद, समानतावाद, इत्यादि को रखा जा सकता है। ऐक्य के लिए धर्म की बलि देना, देश धर्म से भी ऊपर है, इत्यादि धारणाएँ भी उसी प्रकार की हैं। इस प्रकार की सभी शक्तियाँ हमारी संस्कृति के मूल का उच्छेद करनेवाली या नींव शिथिल करनेवाली हो जाय, ऐसी हैं। हमें तो अपना कल्याणकर सांस्कृतिक पैतृक सम्पत्ति की चाहे जिस वस्तु की बलि देकर रक्षा करनी है। समूचा प्रश्न ही यह है कि संस्कृति की बलि देकर भी स्वराज्य चाहिए या स्वराज्य का सझोच करके भी संस्कृति की रक्षा करना है? साम्प्रदायिक एकता की सिफारिस भी हाल में बहुत की जाती है, उस का क्या अभिप्राय समझा जाता है, इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

अन्त में कहना है कि वर्तमानकालिक राज्यशासन-विधान में थोड़ी बहुत नये-पुराने की खिचड़ी तो करनी ही पड़ेगी। देश-कालानुसार निर्णय करने का शिष्टो का वचन निरुपसोगी तो है ही नहीं। परन्तु विचारों को

प्रकाशक — श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

समझने के लिए शाब्दिक प्रयोग पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा सम्भव है कि समझने में खिचड़ी हो जायगी। श्री दूरकाळजी की शासन-विधानयोजना की मूलभाषा अङ्ग्रेजी है और उस की परिभाषा वर्तमान राजनीतिक परिभाषा, व्यञ्जना एवं भावनाओं को अधिक सुस्पष्ट करती है। आलङ्कारिक भाषा में कहें, तो श्री दूरकाळ-योजना की आकासनातन, शरीर प्राचीन और वस्त्रभूषण अर्वाचीन है।

सब धर्मों का मूल

(श्री शिवशरण जी)

एक अनादि सनातन धर्म ही से सब धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ है, सब धर्मों का स्वरूप सनातन धर्म का विकृत रूप है। यदि ऐसा न होता, तो उन को 'धर्म' नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि धर्म-अधर्म के ज्ञान के बिना अनादि, अपौरुषेय सत्ताशास्त्र को छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। सब धर्म सनातनधर्म की शाखाएँ हैं, परन्तु स्कन्ध से अलग होजाने के कारण वे किसी अङ्ग में विकृत हो गये, किसी अङ्ग में सूख गये, किसी अङ्ग में सड़ गये। फिर उन का सनातन स्कन्ध से कभी संसर्ग होने पर उन की कुछ शुद्धि की गयी, जिन के कारण प्रायः इन विकृत धर्मों द्वारा भी भगवान् की असीम कृपा से चार पुरुषार्थों का कुछ न कुछ साधन प्राप्त किया जा सकता है। इन धर्मों के अशुद्ध रूप के भीतर से अब भी शुद्ध ज्ञान का प्रकाश भी चमकता हुआ दिखलाई पड़ता है।

'तत्समुद्र' यहूदी धर्म के धर्मशास्त्र का ग्रन्थ है। इस में अद्वैत-सिद्धान्त के विषय में अनेक सुन्दर और भावपूर्ण दृष्टान्त मिलते हैं। इन में 'रवि अकीवा' नामक एक प्रसिद्ध कथा है। प्राचीन समय में रोमन सरकार ने एक ऐसा नियम बनाया, जिस से यहूदी लोगों को अपने धर्मग्रन्थों को पढ़ना-पढ़ाना मना कर दिया गया था। ऐसा होने पर भी एक दिन किसी यहूदी के पुत्र पण्यस रवि (ब्राह्मण) अकीवा को अनेक एकत्रित लोगों को धर्मशास्त्र पढ़ाते हुए देखा। उन्होंने पूछा—'अकीवा! क्या तुम को सरकार का डर नहीं है?' उत्तर मिला—'सुनो, दृष्टान्त से तुम को समझा दूँगे। एक रोज नदी के पास चलता हुई एक लोमड़ी ने देखा कि मछलियाँ पानी में इधर-उधर भाग रही हैं। लोमड़ी ने पूछा—कृपया 'बतलायें, आप लोग क्यों भागती हैं?' मछलियाँ बोली 'मनुष्यों के द्वारा लगाये हुए जाल से डरकर हम बड़े प्रयत्न से भाग रही हैं।' लोमड़ी ने कहा—'यदि ऐसी बात है, तो जैसे आप के पूर्वज करते थे, वैसे आपलोग पृथिवीतल पर हमारे साथ ही मित्रतापूर्वक क्यों नहीं रहते?' मछलियाँ चकित होकर बोली—'निःसंदेह तुम वही नहीं हो, जो सब वननिवासियों में सब से चतुर कहा जाता है। इस विषय में तुम चतुर नहीं, अपितु बुद्धिहीन दिखाई पड़ते हो, क्योंकि यदि जहाँ हमलोग अपने स्वभाव में रहने योग्य हैं, वहाँ डरने का कारण है, तो कितनी खतरनाक हमारी दशा होगी, जब हम वहाँ जायेंगे, जहाँ हमारी मृत्यु अनिवार्य है।' रवि अकीवा ने कहा—'हमारी स्थिति बिल्कुल वैसी ही है। रवि अकीवा से हमलोग उस धर्मशास्त्र का अध्ययन करनेवाले हैं, जिस में लिखा है—'वही तुम्हारा प्राण है, वही तुम्हारा आयु'। धर्मशास्त्र का अध्ययन करने से यदि कुछ कष्ट सहना पड़ता है, तो ठीक ही है, क्योंकि धर्म छोड़ने से कितने ही और दुःख सहने पड़ेंगे।'

थोड़े दिन बाद रवि अकीवा को रोमन सिपाहियों ने गिरफ्तार कर कारागृह में बन्द कर दिया। जब मारने के लिए सिपाही उन्हें ले गये, वह सायङ्काल का समय था, जब स्थान स्थान पर सब लोग 'सुनो हे प्रभु' कहकर भगवान् की प्रार्थना कर रहे थे। अश्वदेह मार्जनीयों (कोड़े) की मार से अत्यन्त पीड़ा सहने के बाद अतिगम्भीर साँस लेकर 'एक ही अद्वैत है' उच्चारणकर प्राणों ने उस के शरीर को छोड़ दिया, उस समय आकाशवाणी सुनायी पड़ी—'धन्य है रवि अकीवा, जिन का प्राण और 'अद्वैत' शब्द साथ ही शरीर से निकले।

सूचना

वी० पी० फार्मों के न मिलने से हम वी० पी० भेजने में असमर्थ हैं। जिन ग्राहकों का चन्दा बाकी हो, वे कृपाकर मनिआर्डर से शीघ्र भेज दें।

सूचक — कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

सिद्धान्त

सामाजिक

वार्षिक मूल्य — साधारण ३)

विशेष ५), एक प्रति —)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं० — दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

धर्मसङ्घ चतुर्थ महाधिवेशन

२

मार्गशीर्ष कृष्ण ४ से सङ्घ का महाधिवेशन आरम्भ हुआ। उस के अध्यक्ष जगद्गुरु ज्योतिष्पीठाधीश श्रीगङ्गाचार्य जी महाराज के भाषण का सारा हम अङ्क ३२-३३ में दे चुके हैं। उस में प्रायः सभी सामयिक प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है और एक व्यावहारिक कार्यक्रम सङ्घ के सामने रखा गया है। सङ्घ में जो प्रस्ताव पाम हुए, वे अन्यत्र प्रकाशित किये जा रहे हैं। प्रथम प्रस्ताव में सभी सम्प्रदाय के सन्तों, आस्तिकों, संन्यासियों एवं संसार के सभी राष्ट्रों से अनुरोध किया गया कि "अनर्थों" के मूलभूत अधर्मों को मिटाकर विश्वकल्याण के मूलभूत धर्म की संस्थापना के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करें, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् परमेश्वर का ही स्वरूप है और जगत् का सब कुछ परमेश्वर का अंश है। इस भावना के विस्तार से ही प्राणिमात्र में सद्भावना बढ़ेगी, वर्तमान समय का सङ्कट तथा संघर्ष भी मिटेगा और विश्व में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित होगी।" यह सङ्घ का प्रधान प्रस्ताव है, जो उस के सभी अधिवेशनों में पास किया जाता है। इसी पर उस का संबंध से अधिक जोर है। बात भी ठीक ही है, "सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का ही स्वरूप है और सब उसी के अंश है" यदि यह भावना प्राणियों में दृढ़ हो जाय, तो फिर संसार की सुव्यवस्था होने में कितनी देर लगेगी? इस के दृढ़ करने का प्रकार केवल भगवदाराधन ही है। भारत का शासन-विधान तैयार करने के लिए सङ्घ ने अपने दिल्ली के महाधिवेशन में जो समिति नियुक्त की थी, उस का कार्य समाप्त न हो सका। परन्तु उस के अभिप्रायानुसार यह मौलिक सिद्धान्त स्वीकृत किया गया कि "भारत में प्राचीन काल से धर्मनियन्त्रित नृपतन्त्रशासन मान्य है, अतः ऐसा ही शासन प्रजा की संस्कृति एवं परम्परा के अनुकूल होगा। इस में सब को सदाचारयुक्त वर्तन, सद्भाव एवं भाषण की स्वतन्त्रता होगी और समस्त मतवादियों का यथोचित संरक्षण प्रदान किया जायगा।" समयाभाव के कारण इस महत्वपूर्ण प्रस्ताव पर सभा में विचार न चल सका और इस को समापति की ओर से ही रखकर पास कर दिया गया। वास्तव में इस पर सदाचार की आवश्यकता है। इस 'लोकतन्त्र' के जमाने में 'नृपतन्त्र' शब्द भी मुख से निकालना 'पाप' समझा जाता है। पर वास्तव में यही स्वाभाविक शासनपद्धति है। उस को 'धर्मनियन्त्रित' बना देने पर वह सच्चा 'लोकतन्त्र' हो जाता है। प्राचीन तथा नवीन राजनीतिशास्त्र का पूरा अध्ययन करके देशी तथा विदेशी भाषाओं में इस विषय पर ऐसे उच्चकोटि के साहित्य के निकालने की आवश्यकता है, जिस का प्रभाव आधुनिक शिक्षित समाज पर पड़ सके। यदि विधान की व्यवहार में लाना है, तो उस के लिए भूमि पड़े ही से तैयार करनी होगी। शिक्षित समाज में हमारे विधान की पहले तो खिल्ली ही उड़ायी जायगी, पर यदि हम ऐसा साहित्य निकाल सकें, जिस से विचारों को उत्तेजना मिले, तो विद्वानों को बाध्य होकर इस पर विचार करना पड़ेगा। विधान बनाने में आदर्श और व्यवहार दोनों का ध्यान रखना पड़ेगा। व्यावहारिकता न होने से विधान केवल कागज पर ही रह जायगा और केवल व्यावहारिकता में ही आदर्श को सीमित कर देने से ध्येय ही नष्ट हो जायगा। अपना भीतरी सङ्कट दूर करने के लिए सङ्घ ने एक योजना स्वीकार की है, जिस में ग्राम, नगर, जिला एवं प्रान्तीय केन्द्रों के क्रियाशील रखने की व्यवस्था की गयी है। परन्तु उन के सामने कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं रखा गया। केवल प्रति सप्ताह, प्रति पक्ष, प्रति मास बैठकें कर लेने से काम न चलेगा। प्रायः देखा जाता है कि बैठकों में बात बहुत और काम कम होता है। यदि समापति के भाषण में बतलाया हुआ कार्यक्रम ही एक प्रस्ताव के रूप में रखा जाता, तो विभिन्न दिशाओं में क्या करना है, इस का सही साक्षात्कार को मिल जाता। परन्तु सङ्घ तथा प्रचार के

नियम बनाने के लिए एक उपसमिति नियुक्त कर दी है। हमें आशा है कि यह उपसमिति शीघ्र ही एक ठोस कार्यक्रम सङ्घ के सामने रखेगी और उस के अनुसार तत्परता से काम होगा।

मार्गशीर्ष कृष्ण ७ को यज्ञ की पूर्णाहुति के पश्चात् 'अवधूतस्नान' के लिए वेदभगवान् की शोभायात्रा हुई। जुलूस लगभग एक मील लम्बा था। स्थान स्थान पर उस का स्वागत हुआ। दशाश्वमेध घाट नर-नारियों में लड़ा था। दूसरे दिन भगवान् सत्यनारायण की कथा के साथ यह विराट् धार्मिक समारोह समाप्त हुआ। इतने बड़े आयोजन में त्रुटियों का होना स्वाभाविक है, किसी कार्य की आलोचना कर देना सहज है, पर उस का करना कठिन। कितनी ही प्रतिकूल परिस्थितियाँ होती हुए भी सब कार्य निर्विघ्न समाप्त हो गया यह सब संतोष की बात है और इस के लिए सभी कार्यकर्ता धन्यवाद के पात्र हैं। इस अवसर पर कितनी ही बातें ऐसी देखने में आयीं, जिन से उज्ज्वल भविष्य की आशा होती है। सभाओं में लाखों की भीड़ होती थी, जिस में आबालवृद्ध-वृद्धि सभी रहते थे, पर वे घंटों चुपचाप बैठकर अपना सद्ग्रोह प्रदान करते थे। किसी किसी दिन १२ बजे दिन से लेकर १२ बजे रात तक समाएँ चलती थीं, पर भीड़ उस से कम न होती थी। यह बात अवश्य है कि इस सारे आयोजन के सूत्रधार पूज्यपाद श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज का प्रवचन सुनने की उत्कण्ठा से सब के सब अन्त तक बैठे रहते थे, पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि वे अपनी इस उत्कट इच्छा को बीच में कभी हल्ला-का-हल्ला धारण न करने देते थे। प्रायः प्रतिदिन विरोधियों को शङ्का-समाधान का अवसर दिया जाता था और जो प्रश्न किये जाते थे, उन का सन्तोषजनक उत्तर दिया जाता था। कई दिन सुनने में आया कि विरोधी कुछ उपद्रव करनेवाले हैं, पर कुछ लोगो ने निज्ञासा-भाव से ही शङ्काएँ कीं और सदा अपनी शिष्टता का परिचय दिया, जिस के लिए हम उनके आदर करते हैं। उस अपार जनसमूह में 'कटर विरोधी' थे ही नहीं, यदि ऐसा कहा जाय, तो फिर विरोधियों को यह मानना पड़ेगा कि जनता उन के साथ नहीं है और यदि वहाँ रहते हुए भी उन्होंने ने अपनी आवाज नहीं उठायी, तो उन्हें इस की शिकायत न होनी चाहिए कि अपना मत व्यक्त करने का उन्हें अवसर नहीं दिया गया। गात्रों से सहस्रों नर-नारियाँ अपने अपने बाल-बच्चों सहित आये थे, वे रात में विशाल पण्डाल में ही सो रहते थे। रात में वहाँ किसी बड़े मेले के तीसरे दर्जे के 'मुसाफिरखाने' का दृश्य देखने में आता था, पर साथ ही मुसाफिरखानों की गन्दगी, वहाँ का होहल्ला और चोरी-चपाटी का पता न था। दिन में गङ्गास्नान के पश्चात् कुछ रुखा-सूखा खाकर ये बेचारे सारा समय सत्सङ्ग में ही बिताते रहते थे। इन दृश्यों की सहिष्णुता, शिष्टता, विनम्रता की तुलना जब हमें तथाकथित शिक्षितों के इन गुणों से करने का अवसर मिलता था, तब आधुनिक शिक्षा के दुष्प्रभावों का चित्र सामने आ जाता था। भारत का सामाजिक जीवन धार्मिक उत्सवों पर प्रस्फुटित होता रहा है। बिना किसी प्रचार के ऐसे अवसरों पर अपार भीड़ जुट जाती है। सङ्घ की ओर से कोई विशेष प्रचार न था, पर तब भी जनता उमड़ी पड़ती थी। आजकल धार्मिक उत्सवों की अवहेलना की जा रही है। उन के स्थान पर नुमायशों, चोड़दौड़ों, खेल-तमाशों की प्रोत्साहन दिया जा रहा है, जिन में बलासता का बाजार गरम रहता है। धार्मिक मेलों में भी मनोरंजन के नाम ऐसी बातों का समावेश कर दिया जाता है, जिन से उन का वातावरण कलुषित हो जाता है। पर धर्मनगर का यह मेला इन दोषों से मुक्त था। प्रातःकाल चार बजे से ही प्रभातफेरियों का सुमधुर गान, गङ्गास्नान, यज्ञभगवान् का दर्शन, महात्माओं का समागम, कथा, कीर्तन, सजन, प्रवचन का प्रवाह हर समय चलता ही रहता था। 'हर हर महादेव' के नाद से सारा नगर गूँजता रहता था, लाखों कण्ठ से प्रतिदिन भगवान् से यही प्रार्थना निकलती थी—“धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो,

प्राणियों में सञ्जावना हो, विश्व का कल्याण हो।" भगवान् के दरबार में क्या यह पुकार व्यर्थ जा सकती है ?

आज भी हिन्दुओं में कितनी श्रद्धा, कितनी भक्ति, कितना धर्मभाव, कितना त्याग बना हुआ है, इस का आभास धर्मनगर में मिलता था। परन्तु जहाँ धर्मनगर बसा हुआ था, आज वहाँ हल चल रहे हैं, वह दृश्य एक स्वप्न हो गया। यदि उस के साथ यह भाव भी विलीन हो गये, तो फिर कुछ भी हाथ न लगा। आवश्यकता तो है इन को जागृत बनाये रखने और उन को ऐसे सोंचे में ढालने की, जिस से कोई स्थायी फल निकल सके। यज्ञभगवान् के सामने गङ्गा के तट पर प्रस्तावों के रूप में हम ने कितनी ही प्रतिज्ञाएँ की हैं, उन के कार्यान्वित करने ही से हमें उस फल की प्राप्ति होगी।

शुद्ध्योग

मुनने में आया था कि जर्मनों ने कुछ ऐसी गोलियों बनायी हैं, जिन को खा लेने से भूख नहीं लगती और पूरी ताकत भी बनी रहती है। ये गोलियाँ सैनिकों की जेब में रहती हैं और बीच बीच में उन का सेवन करते रहने से उन्हें भोजन पकाने-खाने का झंझट नहीं उठाना पड़ता। जब सेना किसी दुर्ग में घिर जाती है और खाद्यपदार्थ नहीं पहुँच पाते, तब बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो जाती है। ऐसे अवसरों पर इस तरह के प्रयोगों से बड़ा लाभ उठाया जा सकता है। 'मत्स्यपुराण' में ऐसे ही अवसरों के लिए 'शुद्ध्योग' बतलाया गया है। मनु के यह प्रश्न करने पर कि दुर्ग में घिर जाने पर रक्षा किस तरह करनी चाहिए, मत्स्य ने बतलाया कि शिरोष, उदुम्बर, शमी और बीजपूर धी में मिलाकर पन्द्रहवें दिन लेना चाहिए। कशेरु के फल तथा मूल, इन्धुमूल तथा विष (अतीस) और दूर्वा को दूध या घृत में पकाकर महीने महीने पर लेना चाहिए, यह 'शुद्ध्योग' है, जिस से क्षुधा शान्त रहती है—“शिरोषोदुम्बरशमीबीजपूर घृतप्लुतम्। शुद्ध्योगः कथितो राजन्! मासाहंस्य पुरातनैः ॥ कशेरुफलमूलानि इक्षुमूलं तथा विषम्। दूर्वाक्षीरघृतैर्भण्डः सिद्धोऽयं मासिकः परः ॥” (अध्याय २१९ श्लोक २७५, २७६) अपामार्ग में भी प्रायः ऐसा गुण बतलाया जाता है। अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे कुछ योग बतलाये गये हैं और कुछ ऐसे आसन भी हैं, जिन के करने से जठराग्नि का शमन होता है। इन को प्रयोग की कसौटी पर कसकर देखना चाहिए, जिस में समय पड़ने पर उन से लाभ उठाया जा सके।

संस्कार और शिक्षा

(श्रीम्वामी करपात्री जी)

समा वर्णों को अपने-अपने वर्णानुसार सन्ध्यावन्दन, नित्यनैमित्तिक कर्म करना अत्यावश्यक है। इस के लिए राष्ट्र को शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षा के अनुकूल प्रयत्न द्वारा ही हम देश, समाज एवं जाति का कल्याण कर सकते हैं। शिक्षा हमारे अभ्युदय का मूलमन्त्र है। इसी से हमें साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य की प्राप्ति हो सकती है। अशिक्षा से दरिद्रता और दुर्बुद्धि आती है। सतशिक्षा से सद्बुद्धि, सद्बुद्धि से सदिच्छा और सदिच्छा से सत्प्रयत्न और सत्प्रयत्न से सफलता मिल सकती है। यदि शिक्षा वैदिक धार्मिक प्रवृत्ति के अनुकूल हो, तो सद्बुद्धि होनी अनिवार्य है। जैसे संस्रज में स्थाित होगी, वैसा ही ज्ञान होगा, वैसी ही उत्कट इच्छाएँ एवं सुन्दर भाव होंगे और तदनुकूल प्रयत्न करने से प्राणों को अवश्य असीम की प्राप्ति होगी। आजकल की कुशिक्षा द्वारा बालकों का संस्कार भी नष्ट किया जा रहा है। बालकों पर संस्कार ढालने के लिए संचिच्छा अनिवार्य है और ऐसी शिक्षा प्राचीन परिपाटी से वेदशास्त्रों के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है। ऐसी शिक्षा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थचतुष्टय को देनेवाली है, इसलिए बालकों के मन को संस्कृत करने के लिए वैदिक-प्रणाली के अनुसार ही प्रारम्भिक शिक्षा होनी चाहिए।

हमारे यहाँ सभी कार्य सविधि होते हैं। केवल आमोक्केन के रिकार्ड

के समान कुछ कह लेने, बोल लेने में कुछ सार नहीं। विधिपूर्वक बोलने और कहने में स्थायी शक्ति होती है। तपस्या के बिना वाणी की शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए हमारे धर्मशास्त्रों में खाने, पीने, उठने, बैठने, सोने, यहाँ तक कि मरने तक की भी विधि लिखी गयी है। जो अनाचार और दुराचार में जीता है, वह जीते हुए भी मृतक है। 'तपः किञ्च जीवन्ति भस्त्राः किञ्च श्वसन्त्युत' की भाँति जीवन आदि धारण करना मानवता नहीं। मूत्रपुरीषोत्सर्ग तो पशु, पक्षी आदि भी करते हैं, परन्तु मनुष्य की क्रियाएँ भिन्न होती हैं, इसीलिए हर एक कार्य के लिए शास्त्रविधि है। शास्त्रानुकूल चलना ही धर्म है। शास्त्रानुकूल मन, बुद्धि, वाणी की दलचल ही धर्म, इस के विपरीत अधर्म है। मन से आनन्दकन्द व्रजचन्द श्रीकृष्णचन्द्र जी का अनुसन्धान करें, अतिबल नरेन्द्र राघवेन्द्र के पवित्र नामों का जप करें, भूतभावन भगवान् शङ्कर के कल्याणमय नामों का चिन्तन करें अथवा पुत्र-वत्सला भगवती आदिशक्ति महामाया की आराधना करें अर्थात् जिस के जो देव इष्ट हों, उस भगवान् के निगाकार-साकार, निर्गुण-सगुण रूपों का चिन्तन करें। इस तरह देवताओं का चिन्तन करने से पुण्य का उदय होता है। मन से किसी का अहितचिन्तन करने से पाप का उदय होता है। निरभिमान होकर ही भगवदाराधन होना चाहिए। अभिमान हो भी तो 'मैं सेवक रघुपति पति मोर। अस अभिमान जाय नहीं मोर' के अनुसार ऐसा अभिमान भी कल्याणकारक है। हम प्रभु के स्वरूप हैं ऐसा अभिमान भी पुण्य-दायक है।

ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक, गुरुशुश्रूषापुरस्सर मन्त्र-ब्राह्मणों एवं वेदों का अध्ययन करने से वीर्यवत्ता आती है। इसीलिए स्नातक "सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं कर्वावहे। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहे।" मन्त्रों को पढ़कर अपने को वीर्यवत्तर बनाते हैं। वेद में यातयाम तथा अयातयाम छन्दों का वर्णन है। प्रातःकाल का राधा हुआ तन्दुल जैसा सड़ जाता है, गतरस हो जाता है, वह ग्रहण करने योग्य नहीं रह जाता, वैसे ही जो वेदाध्ययन वीर्यहीन हो, उसे यातयाम कहते हैं। सहवीर्य अध्ययन अयातयाम कहलाता है। ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन ही स्थायी रह सकता है। उपनयन संस्कार से अध्ययन की योग्यता बढ़ती है। इसीलिए दूसरी विद्याओं के ग्रहण करने के लिए भी उपनयन संस्कार की आवश्यकता होती है। अतएव उपनयन भी हमारे संस्कारों में एक प्रधान वस्तु है। इस के पहले भी कई संस्कार हैं, यहाँ तक कि संस्कार पर ही सारी हिन्दू संस्कृति खड़ी है। हिन्दूधर्म में गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, विवाहादिक संस्कार हैं। विवाह संस्कार के अनन्तर गार्हस्थ्य पवित्र सन्तान उत्पन्न करने का संस्कार चलता है। संस्कार एक भूषण है। उत्तरभारत में तो ये संस्कार लुप्त हो चके हैं। दक्षिणभारत में अब भी यह संस्कार प्रथातुसार चल रहे हैं। संस्कारविहीन होने से आजकल हिन्दुओं में ईसाई एवं मुस्लिम संस्कृति घर करती जा रही है। प्रकृति से हीरा, जवाहर आदि रत्न पैदा होते हैं, किन्तु जबतक उन का संस्कार नहीं हो जाता, उन में चमक नहीं आती। भले ही हम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकुल में जन्म लेने की डींग होंक लें, किन्तु संस्कारविहीन ब्राह्मण में ब्रह्मतेज नहीं आ सकता, क्षत्रियों में चात्र शौर्य, वीर्य नहीं हो सकता, वैश्यों में समाधि और तुल्यचार की भाँति विवेक और भगवत्परायणता नहीं आ सकती, शूद्रों में महात्मा विदुर जैसी विनम्रता आना असंभव है।

सुधारवादियों का कहना है कि हम शूद्रों को दलित कहकर उन का अपमान करते हैं। यह सरासर झूठ है। हमारे यहाँ तो 'अग्रज' और 'अन्यज' दो शब्द हैं। जो आगे पैदा हुए वे 'अग्रज' कहलाये, पश्चात् होने से 'अन्यज' कहलाये। हम तो उन्हें छोटा भाई समझते हैं। जिन के साथ हमारा अङ्गाङ्गीभाव है, भला हम उन्हें दलित कैसे कह सकते हैं? यह समझनेवालों की भूल है। जिन शूद्रों में महात्मा विदुर एवं व्याध जैसे तत्वज्ञानी हो चुके हैं, क्या हम उन्हें दलित समझेंगे? अपने माता-पिता की सेवा, गुरुजनों के समादर से ही उन के हाथ ज्ञान-विज्ञान आ सकता है, उन के संस्कार उच्च बन सकते हैं। बिना स्वकर्तव्यपालन से अग्रज भी निन्दनीय है। जातीय संस्कार से ही ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय में क्षत्रियत्व, वैश्य में वैश्यत्व एवं शूद्रों में उदात्त भावनाएँ आ सकती हैं।

संस्कार, समाज और संस्कृत भाषा

(पुरोहित लक्ष्मीनारायण शास्त्री, कांकरोली, मेवाड़)

१

किसी भी वस्तु में दोषनिराकरणपूर्वक गुणों का उत्पादन ही उस का संस्कार कहलाता है। जबतक किसी भी वस्तु का संस्कार नहीं हो जाता, तबतक वह सदाश और गुणहीन ही बनी रहती है। संस्कार के होने पर ही उस के दोषों का दूरीकरण एवं गुणों का आविर्भाव होता है। शाण पर जबतक चढ़ा नहीं लिया जाता, तबतक न हीरे का मृदावरण दूर होता है, न उस में प्रकाश ही प्रस्फुरित होता है एवं न कृपाण का कुण्ठत्व दूर होता है, न उस में छेदनशक्ति ही प्रादुर्भूत होती है। जब उन्हें शाण पर चढ़ा लिया जाता है, उन का संस्कार कर लिया जाता है, तभी उन के उक्त दोष दूर होकर अमोघ गुणों का आविर्भाव होता है। जड़ वस्तुओं की भांति अश्न, उष्ट आदि चेतन वस्तुओं के भी दोषदूरीकरण-पूर्वक गुणोत्पादन के लिए संस्कार की ही अपेक्षा होती है। संस्कार से वे भी अनभीष्ट कुत्सित गति को छोड़कर अभीष्ट विशिष्ट गति को ग्रहण करते हैं। तात्पर्य यह कि जगत् की जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन्हें उपयोगी बनाने के लिए संस्कारों की नितान्त आवश्यकता होती है। संस्कारों से जब उन के दोषों का दूरीकरण एवं गुणों का आविर्भाव हो जाता है, तभी उन का उपयोग होता है, तभी उन के द्वारा किये गये कार्यों से सिद्धि एवं सफलता मिलती है और तभी उन का महनीय मूल्य भी आँका जाता है। अन्यान्य वस्तुओं की भांति मनुष्य भी उपयोगी बनने के लिए अपने दोषों के दूरीकरण एवं गुणों के आविर्भाव की अपेक्षा रखता है और इस के लिए उसे संस्कारों की ही नितान्त आवश्यकता होती है। बिना संस्कारों के वह भी कभी उपयोगी नहीं बन सकता, कभी कार्यक्षम नहीं हो सकता एवं कभी भी सिद्धि और साधुवाद प्राप्त नहीं कर सकता। संस्कारों के हो जाने पर ही वह कार्यक्षम बन सकता है, सिद्धि एवं साधुवाद प्राप्त कर सकता है तथा च यशस्वी बनकर अपने चरम लक्ष्य पर भी पहुँच सकता है।

मानव-जीवन की सफलता धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति करने में ही मानी गयी है। यदि मनुष्य होकर भी किसी ने मनुष्योचित धर्मों का पालन नहीं किया, लचित प्रकार से धन-संग्रह नहीं किया, अनिषिद्ध कामों (मनोरथों) की पूर्ति में सफलता नहीं पायी एवं अन्त में सांसारिक बन्धनों में मुक्त होकर ब्रह्मप्राप्ति के लिए भी उपाय नहीं किया, तो उस का मानव-जन्म निष्फल ही होता है। पर उक्त धर्मादि चतुर्वर्ग की प्राप्ति कर लेना कोई साधारण बात नहीं है। इस के लिए प्रत्येक को बल, बुद्धि, विद्या, विनय, शील, तप, कला, कौशल आदि सद्गुणों से सम्पन्न होना अनिवार्य होता है। तभी कोई भी धर्मादि चतुर्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। दोषों के निराकरणपूर्वक उक्त सभी सद्गुणों का आविर्भाव हमारे वैदिक संस्कारों से ही हो सकता है।

इसी लिए महर्षि याज्ञवल्क्य और महागज मनु कहते हैं कि "मनुष्य को बीज और क्षेत्र से ही पापों की प्राप्ति होती है, अर्थात् अगम्या चो-चिन्तनादि से पिता के वीर्य में जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं, उन से तथा अशुचि मातृगर्भ में वास से मनुष्य को दोषों (पातकों) की प्राप्ति होती है, जिन से उसे अभ्युदय में बड़ी बाधाएँ पहुँचती हैं। बीजप्राप्त और गर्भप्राप्त उन दोषों का (पातकों का) दूरीकरण गर्भाधानादि एवं जात-कर्मदि संस्कारों से ही किया जा सकता है। जब बालक निदोष (निष्पाप) हो जाता है, तब उसे गुणों और पुण्यों के उत्पादन के लिए वेदाध्ययन, मादकवस्तुपरिहारादि व्रत, सायंप्रातर्हवन, त्रैविद्यालय वेदव्रत, देवर्षि-पितृपूज, गृहस्थावस्था में पुत्रोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ एवं ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, ये कर्म करने होते हैं। इन संस्कारों से संस्कृत होने पर ही मनुष्य चतुर्वर्गप्राप्ति के योग्य बनता है। बात भी ठीक है—यदि उन्नति के

बाधक पातकों (पातन-कारणों) को ही पहिले दूर नहीं कर दिया जाता, तो धर्मादिकों में से किसी की भी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि जबतक किसी में पापदोष रहेंगे, तबतक उस की पुण्यों या गुणों के सञ्चयन में प्रवृत्ति ही न होगी। यदि कोई हीरे में प्रकाश को, उस का मृदावरण दूर किये बिना ही प्रकट करने को तत्पर हो जाय अथवा कृपाण में छेदनशक्ति उस का कुण्ठत्व दूर किये बिना ही ला देने को सन्न हो जाय, तो वह उस का दुस्साहस मात्र होगा।

ये संस्कार महर्षि गौतम के मत से चालीस और महर्षि अश्विनि के मत से पच्चीस हैं। पर महर्षि व्यास और हमारे गृह्यसूत्रों के अनुसार किये जानेवाले मुख्यतया प्रचलित संस्कार सोलह ही हैं। सब से पहले, स्त्री के रजोदर्शन होने पर गर्भाधान संस्कार होता है। उस के दूसरे या तीसरे मास में पुंसवन और छठे या आठवें मास में सीमन्त संस्कार होता है। ये तीनों गर्भ के संस्कार कहे जाते हैं। बालक का जब जन्म होता है, तब जातकर्म, फिर ग्यारहवें आदि शुभ दिन में नामकर्म, चौथे मास में निष्क्रमण, छठे मास में अन्नप्राशन, प्रथम या तृतीय वर्ष में चूड़ाकर्म, और तृतीय या पञ्चम वर्ष में कर्णवेध संस्कार होता है। जब बालक आठ वर्ष का होता है, तब उस का उपनयन संस्कार और साथ ही वेदारम्भ संस्कार होता है। वेदारम्भ के साथ ही बटुक ब्रह्मचर्यव्रत की शिक्षा भी ले लेता है। तब से अध्ययनपर्यन्त या बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य का व्रत रहता है। सोलहवें वर्ष में उस का केशान्त संस्कार होता है, जिसे गुरुकुल में गुरु स्वयं ही करते हैं। साक्ष वेदों का अध्ययन पूर्ण हो जाने पर या द्वादशवार्षिक ब्रह्मचर्यव्रत की समाप्ति हो जाने पर बटुक का समावर्तन संस्कार होता है और गुरु उसे विद्यास्नातक या व्रतस्नातक अथवा विद्या-व्रतस्नातकरूपी अतिमहार्थ उपाधि से अलङ्कृत करते हैं। तदनन्तर गुरु से वह विवाह के लिए अनुमत होता है और उस का विवाह संस्कार होता है। विवाह से पाँचवें दिन आवसथ्याधान संस्कार होता है, जिस में वैश्वदेव, स्मार्त-होम आदि गृहस्थोपयोगी कर्मों के लिए गृह में अग्निस्थापन किया जाता है और इस के अनन्तर औताधान संस्कार होता है, जिस के द्वारा गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि नामक तीन अग्नियों का सम्ग्रह होकर अनेक यज्ञ होते हैं। मुख्य सोलह संस्कार ये हैं। इन के अतिरिक्त बालक के जन्म से छठे दिन षष्ठीपूजा, बारहवें दिवस दोलारोपण, डेढ़ मास पर ताम्बूलदान, पाँचवें मास में भूम्युपवेशन, पाँचवें वर्ष में विद्यारम्भ आदि संस्कार भी स्मृत्यन्तरो में कहे गये हैं।

हमारे पूर्वज इन्हीं संस्कारों से संस्कृत होते रहे हैं। उन के बल, विद्या, वर्चस्व, योग, तप आदि के ऊर्जस्वल उदाहरण जो भारतीय साहित्य में आज भी देदीप्यमान हो रहे हैं, वह उन के उदार संस्कारों की ही दन हैं। "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वस्व चरित्रं शिखरेण पृथिव्या सर्वमानवाः॥" "अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठनः सगरं धनुः। इदं ब्राह्मिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि॥" "नाहं निष्ठाके सुरराजध्वजाय त्र्यश्रुलाय यमस्य दण्डात्। नाङ्ग्यकंसोमानिलवित्तपाश्चाच्छुक्रं ब्रह्मकुलावमानात्॥" प्रभृति शतशः वाक्य आज भेरीघोष के साथ उन के संस्कारों की ही विजयवार्ता सुना रहे हैं। हमारे पूर्वजों ने संस्कारों से ही अपने को शक्ति-शाली और समर्थ बनाया है, संस्कारों से ही उन्होंने ने वर्चस्वता एवं यशस्विता का अर्जन किया है एवं संस्कारों से ही उन्होंने गौरवशाली पद प्राप्त किया है। संस्कारसंपन्न होने से ही उन के संकल्प में सिद्धियाँ निवास करती थीं। संस्कारसम्पन्न होने से ही उन की इच्छाओं के अनुवर्तन में निधियाँ अपना सौभाग्य मानती थीं। एवं संस्कारसम्पन्न होने से ही सुवनो की भूतियाँ उन के परिग्रह की प्रतीक्षा में रहा करती थीं। संस्कारों के कारण ही वे सर्वभूत के सुहृद् रहे, परोपकार के लिए उन्होंने आत्मीयता भी कर दिया एवं अन्त में ब्रह्मभूत भी हो गये।

"एवमेतः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्॥" (याज्ञवल्क्य)
"गार्भमैजितकर्मचोदमौज्जीनिबन्धनः। वैजिक गार्भिकं चोदो द्विजानां संप-
सृज्यते॥ स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैश्चोदयेन्नेत्या सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं
क्रियते सुतु॥" (मनु)

प्रकाशक — श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, जगन्नाथ, नगरस।

मुद्रक — कृष्ण बलचन्द्र पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामधाम, बनारस।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

‘हिन्दू कोड’ पर डाक्टर काटजू के विचार

१

इधर ‘हिन्दू-कोड’ पर प्रयाग के सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता डाक्टर श्री केशवनाथ काटजू का एक महत्वपूर्ण लेख ‘इलाहाबाद ला जर्नल’ में निकला है, जो कई पत्रों में उद्धृत हुआ है। इस में आप लिखते हैं कि हिन्दू-समाज ने बाहर से किसी प्रकार के सुधार घुसेड़े जाने का सदा विरोध किया है। हिन्दूकानून में कोई परिवर्तन, जो समाजमत से भी आगे बढ़ना चाहता है, निरर्थक सिद्ध हुआ है। ‘विधवा-विवाह’ को कानूनद्वारा जायज बनाना इस का उदाहरण है, ‘शारदा कानून’ की असफलता भी इसी का प्रमाण है। हिन्दू-समाज का सुधार कानून द्वारा नहीं किया जा सकता। इतिहास को देखते हुए मुझे यही मानना पड़ता है कि सुधार के प्रस्ताव यदि समस्त हिन्दू-समाज को स्वीकृत नहीं हैं, तो उन से निश्चयेन कोई लाभ न होगा, उल्टे हानि होने की सम्भावना है। उदाहरण के लिए, यदि हिन्दू-समाज पिता की सम्पत्ति में लड़की के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं करता है, तो बहुत से लोग लड़कों के नाम वसीयत करके इस कानून को निरर्थक बना देंगे, जिस का परिणाम यह होगा कि लड़की को अपने पिता की सम्पत्ति में हिस्से के बदले विवाह के समय तथा अन्य अवसरों पर जो कुछ मिला करता है, उस से भी वह वञ्चित रह जायगी। इस के अतिरिक्त वर्तमान धारासभाओं को हिन्दूजनता को ओर से ऐसे सामाजिक परिवर्तन करने के लिए कोई आदेश नहीं मिला। ये धारासभाएँ पुरानी हो गयी हैं और लोकमत का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही हैं। सन् १९३५ में जब इन का निर्वाचन हुआ था, तब हिन्दूकानून के सुधार को कोई भी चर्चा न थी। ऐसी दशा में उन को ऐसा महत्वपूर्ण कार्य सौंपना मेरी राय में लोकतन्त्र-संस्थाओं तथा प्रतिनिधि-शासन के सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध होगा। इस के अतिरिक्त वर्तमान विधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार को कृषिभूमि के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार नहीं है और ब्रिटिश भारत में हमलोगों की अधिकतर सम्पत्ति ऐसी भूमि में ही है। उस के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकार ही कानून बना सकती है, परन्तु आजकल जनमत की सरकारें नहीं हैं। ऐसी सरकारें स्थापित करने के लिए नये निर्वाचन की आवश्यकता है। महत्तर राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखते हुए इस अवसर पर ऐसे विवाद को उठाना मैं अनुचित समझता हूँ। जल्दबाजी करने से गड़बड़ी मचेगी। एक अर्थ में हिन्दूकानून मुख्यतः लोकतन्त्रात्मक है। शासक कानून (धर्म) के अधीन है, न कि उस का स्रोत। वह कानून निर्माता नहीं है। रीति-रिवाजों द्वारा जनता ने स्वयं अपने लिए कानून बनाये हैं। लोकमत-समर्थन के रूप में बिना स्वीकृति प्राप्त किये धारासभाओं द्वारा, जो जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही हैं, हिन्दुओं के निजी कानूनों में परिवर्तन करना उस जाति की बुद्धि तथा परम्परा के प्रति जबर्दस्ती करना है। स्पष्ट बात तो यह है कि कोड द्वारा जो क्रान्तिकारी परिवर्तन के प्रस्ताव कर रहे हैं, वे वास्तव में लोकमत व्यक्त नहीं कर रहे हैं। हिन्दू-कुटुम्ब में लड़कियों की अविहेलना की जाती है, यह बात नहीं है। उत्तराधिकार द्वारा वे भले ही सम्पत्ति प्राप्त न करें, पर विवाह के अवसर पर तथा अन्य अवसरों पर उन्हें जो देने की चाल है, उस से उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। प्रायः देखने में आता है कि इस सम्बन्ध में लड़कियाँ अपने भाइयों से कहीं अच्छी रहती हैं। फिर उसे अपने पिता की सम्पत्ति में जो नहीं मिलता, वह उसे अपनी ससुराल में पतोहू के नाते मिल जाता है। उस के ससुर की सम्पत्ति में नन्द को कोई हिस्सा नहीं मिलता, वह और उस के बच्चे ही उस सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। उत्तराधिकार मिल जाने से लड़की के लिए दोनों ओर हानि ही की सम्भावना है। दहेज की प्रथा उठ जाने से उसे कानूनी अधिकार पर ही निर्भर रहना पड़ेगा और इस में उसे सहज ही में नुकसान दिया जा सकता है।”

डाक्टर काटजू ने इस लेख में कानून तथा नीति की दृष्टि से प्रस्तुत विषय का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है, पर हृदय से वे हैं सुधारवादी।

वे स्वयं लिखते हैं कि “सुधारों की आवश्यकता नहीं है, यह मैं नहीं कहता। मनुष्यबुद्धि द्वारा कोई आयोजित व्यवस्था किसी समाज को हजारों वर्ष तक बाँधे नहीं रह सकती। समय समय पर उस में परिवर्तन होना अनिवार्य है। हमारे ऋषियों तथा धर्मशास्त्रज्ञों ने अपनी व्यापक बुद्धि द्वारा रीति-रिवाजों को कानून का स्रोत माना है। हिन्दू-कानून कभी ठोठकरी नहीं रहा। यह समझना कि हिन्दू-कानून हजारों वर्ष से बिना किसी परिवर्तन के ही चला आता है, भूल है। स्मृतियों तथा उन के भाष्यों के अध्ययन से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक शताब्दी में उन में परिवर्तन होता रहा है। ये परिवर्तन किसी व्यवस्था या राजाज्ञा द्वारा नहीं, बल्कि रीति-रिवाजों द्वारा, जो देश के विभिन्न स्थानों की आवश्यकताओं के अनुसार चल पड़े, होते रहे। स्मृतिकार तथा भाष्यकार उन रीति-रिवाजों को ढ़ढ़ पाकर उन का मेल प्राचीन नियमों से मिलाने का प्रयत्न करने लगे। विभिन्न स्मृतियाँ, जो आज प्रचलित हैं, इन्हीं प्रयत्नों का फल हैं।” परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, इसे हम अगले अङ्क में दिखलायेंगे।

मत भेजने की अवधि बढ़ी

प्रस्तावित ‘हिन्दू-कोड’ पर लिखित मत तथा ‘हिन्दू कानून कमेटी’ के सामने वक्तव्य देनेवालों की सूची भेजने की अवधि पहले ३० दिसम्बर तक रखी गयी थी। लिखा-पढ़ी होने पर वह बढ़ाकर ३० नवम्बर तक कर दी गयी, अब सूचना निकली है कि अन्तिम तारीख ३१ दिसम्बर सन् १९४४ होगी। साथ ही यह भी लिखा गया है कि “जनता के अनुरोध से अवधि बराबर बढ़ायी गयी, अब आगे ऐसा न किया जायगा।” परन्तु यदि कमेटी को वास्तव में कोड पर लोकमत जानना है, तो उसे अवश्य यह फिर बढ़ानी पड़ेगी। पता लगा है कि अब ‘कोड’ का अनुवाद कुछ प्रान्तीय भाषाओं में हो रहा है। जबतक सभी प्रान्तीय भाषाओं में उस का अनुवाद प्रकाशित होकर अच्छी तरह वितरण न किया जाय और लोकमत प्रकट करने की पूरी सुविधाएँ न दी जायँ, तबतक अवधि न बढ़ाना सरासर अन्याय है। कुछ दिन हुए लाहोर के ‘ट्रिब्यून’ में यह सूचना निकली थी कि ‘पञ्जाब में ‘कोड’ का हिन्दी, उर्दू तथा गुरुमुखी में अनुवाद कराया जा रहा है, परन्तु उस की उत्तनी ही प्रतियाँ छापी जायँगी, जितनी की माँग होगी। एक प्रति उस का दाम चार आना होगा, जिन्हें भेजना हो, पहले ही से ‘सरकारी प्रेस’ को लिख दें।” यह है सरकार की ओर से ‘कोड’ के प्रचार का नमूना। भला गाँवों की जनता में किस को पता होगा कि कोड का कोई अनुवाद प्रकाशित हो रहा है और उस के लिए चार आने भेजने की कौन तैयार होगा? क्या ‘युद्ध साहित्य’ का इसी प्रकार से प्रचार होता है? ‘युक्त-प्रान्तीय सरकार’ अभी यही पूछ रही है कि उसे क्या करना है। जहाँ तक हमें ज्ञात है कि अभी तक सम्भवतः बङ्गाल और मद्रास में ही अनुवाद प्रकाशित हुआ है। ऐसी दशा में लोकमत क्या जाना जा सकता है? गाँवों की जनता में कितने ऐसे हैं, जिन्हें अङ्ग्रेजी भाषा का ज्ञान है? हम ने सरकार के सामने यह सुझाव रखा था कि प्रान्तीय भाषाओं में ‘कोड’ का अनुवाद कराकर पटवारियों द्वारा गाँवों की जनता के पास उसे पहुँचाना चाहिए। वहाँ के अध्यापकों से भी इस में सहायता ली जा सकती है। गाँव के लोगों को उसे समझाकर उन की सम्मति लेनी चाहिए और उसे कलेक्टर या हाकिम परगना के पास भेजना चाहिए। इस में जो कुछ खर्च हो, वह सरकार को उठाना चाहिए। इसी तरह शहरों में यह काम म्यूनीसिपल्टियों को सौंपना चाहिए। समझे करने, जुलूम निकाूलन की सुविधाएँ जनता को मिलनी चाहिए। कई जगह इस में पुलिस द्वारा अड़बटें डाली जा रही हैं। गया के एक सज्जन ‘कल्याण’ में प्रकाशित ‘हिन्दू कोड’ का कुठार’ शीर्षक लेख की दो हजार प्रतियाँ वितरण करने के लिए अपने पास से छपवाना चाहते थे, परन्तु कलेक्टर ने इस की अनुमति नहीं दी। यह तो पूरी ज्यादती है।

नाम कल्पतरु

(श्री स्वामी करपात्री जी)

श्रीभगवान् का मङ्गलमय नाम भक्तवाञ्छाकल्पतरु है। उस से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब कुछ प्राप्त हो सकता है। यद्यपि आजकल धर्म-मोक्ष की वाञ्छा कम हो रही है, तथापि अर्थ-काम की वाञ्छा का सर्वत्र प्राबल्य है ही। अर्थ, काम की प्राप्ति भी वाञ्छामात्र से ही हो सकना कठिन है, अतएव तदर्थ भगवान् के मङ्गलमय नाम का ही सहारा लेना समुचित है। "साधक नाम जपहि लयलाये, हौहि सिद्ध अणिमादिक पाये।" उत्साह के साथ भगवन्नाम जपने से साधकों को अणिमादि सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं, फिर साधारण धन-धान्य की तो बात ही क्या? धर्म और मोक्ष का भी बीज भगवन्नाम ही है, इसीलिए प्रणव, तत्सत् इत्यादि भगवान् के अभिधानों का उच्चारण करके ही सम्पूर्ण क्रियाओं की प्रवृत्ति होती है। तत्त्वसाक्षात्कार में भी प्रधान हाथ भगवन्नाम का ही होता है— "जाना चाहि गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहि तेऊ ॥" सकल साधनों की फलभूता भगवद्भक्ति में भी भगवन्नाम का ही प्राधान्य रहता है। उच्च-कोटि के भक्तों को नामश्रवण से ही सम्पूर्ण सात्त्विक भाव प्रकट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण-नाम श्रवण करके एक विचित्र स्थिति का अनुभव करती हुई श्रीराधा कहती है—हे सखि! जिस का नाम श्रवण में पड़ते ही ब्रीडा (लज्जा) का विलोडन कर डालता है, धैर्य को तोड़ डालता है, आर्यजनों के भय को मेदन कर डालता है, चित्तवृत्ति को विलुप्त कर देता है। फिर जब उस का प्रत्यक्ष दर्शन हो, तब हमलोगों की क्या स्थिति होगी?—"ब्रीडां विलोडयति लुब्धति धैर्यमार्यभीतिं भिनत्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम्। नामैव यस्य कर्लितं श्रवणोपकण्ठे दृष्टः सकिञ्च कुरुतां सखिमद्विधानाम् ॥"

श्रीभगवान् का नाम सर्वपुरुषार्थों का साधन होते हुए स्वयं भी परम-पुरुषार्थ है। इसीलिए परमकृतकृत्य सिद्ध लोग भी भगवन्नामरसामृत का पान बड़े प्रेम से करते हैं। जिस समय श्रीमद्भगवत्पुरुषोत्तम रामचन्द्र परमवाम पधारणे को प्रस्तुत थे, उस समय उन्होंने अपने समस्त परिकरों को अभीष्ट देकर तप्त किया। सब के अन्त में श्रीहनुमान् जी को बुलाकर उन्होंने ने कहा—"जो चाहो सो वरदान ले लो।" हनुमान् जी ने कहा—"विशो! आप की कृपा है, अब मैं यही चाहता हूँ कि मैं आप के मङ्गलमय परम पवित्र चरित्रों को श्रवण करूँ और आप के मङ्गलमय नामामृत का रसास्वादन करता रहूँ। वस और मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।" जब श्रीहनुमान् जी जैसे परमसिद्ध लोग प्रेम से नामामृतपान में तत्पर होते हैं, तब साधकों के लिए तो कहना ही क्या है? श्रीतुलसीदासजी के शब्दों में रामनाम की अद्भुत महिमा है। वे लिखते हैं— "ब्रह्मात्मोघिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनञ्चाव्ययं श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा। संसारामयभेषजं सुमधुरं श्रीजानकीजीवनं धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥" अर्थात् श्रीरामनामामृत वेदसमुद्र से उद्भूत है, कलिमल का प्रध्वंस करनेवाला है, भगवान् शङ्कर के मुखचन्द्र में सदा सुशोभित रहता है, संसाररोग का महौषध है, महौषध भी सुमधुर है, कूट नहीं। श्रीजनकनन्दिनी का वही मात्र एक जीवन है। वे कुशली धन्य हैं, जो सर्वदा श्रीरामनामामृत का पान करते हैं। वैसे तो भगवान् के सभी नाम सुन्दर हैं, जिस नाम में जिस की प्रीति, प्रवृत्ति हो, उसे उसी नाम का जप एवं कीर्तन करना चाहिए। नाम की महिमा अनन्त है, उस का अन्त राम भी नहीं पा सकते— "कहहुँ कहाँ लगी नाम बढ़ाई, राम न सकहि नामगुण गाई ॥" वेदादि शास्त्र सभी भगवान् के प्रणवरूप अभिधान से ही प्रादुर्भूत होते हैं। 'अ' 'उ' 'म' इन तीन अक्षरों ही में विश्व, तैजस, प्राज्ञ, विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि का ऐक्य हो जाता है। उसी तरह 'र' 'अ' 'म' इन तीनों अक्षरों में उपर्युक्त सभी तत्त्वों का अन्तर्भाव है। राम शब्द का वाच्यार्थ सगुण ब्रह्म और लक्ष्यार्थ निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म है।

संस्कार, समाज और संस्कृत भाषा

(पुरोहित लक्ष्मीनारायण शास्त्री, कांकोली, मेवाड़)

२

आज वे संस्कार कहीं हैं? आज तो समाज से प्रायः उन का विलोप ही हो गया है और जो कुछ भी विद्यमान है, उस का विकृत

रूप ही हमारे सम्मुख आता है। न तो उन का कोई विधि-विधान से ही सम्प्रेषण रखा जाता है और न उन का कोई मुख्य ही समझा जाता है। यही कारण है कि उपनयन और विवाह इन दो संस्कारों के अतिरिक्त अन्य संस्कार प्रायः देखने में भी नहीं आते। उपनयन भी कोई मुख्य संस्कार नहीं माना जाता, विवाह संस्कार का ही वह एक अङ्ग समझा जाता है और विवाह ही एक मुख्य संस्कार गिना जाता है। इसलिए माता-पिता बालक के सुदृढ़ शिक्षित, शीलगुणान्वित होने की चिन्ता न कर उस के विवाह की ही चिन्ता करते हैं, क्योंकि वे इसी में अपना उत्तरदायित्व मानते हैं और उपनयन तो जब कभी विवाह होता है, तब किसी न किसी एक दिन कर दिया जाता है। उस का क्या प्रयोजन और सामर्थ्य है, इसे न तो वे जानते हैं, न जानना चाहते हैं। गायत्री का उपदेश का बालकों को वेदादिकों के अध्ययन का अधिकारी बनाना एवं अध्ययनार्थ उसे आचार्य के समीप ले जाना, यही उस का प्रयोजन और अर्थ है— "उपनयनं नाम आचार्यपरीपनयनारमको गायत्र्युपदेशप्रधानकर्मविशेषः।" पर आज इसे कौन मानता है? उस का प्रयोजन और अर्थ आज सर्वथा विपरीत है। आज बालक उपनीत हो जाने पर वेदाध्ययन का नहीं, अपितु विवाह का अधिकारी माना जाता है। वह गुरुकुल में आचार्य के समीप नहीं, अपितु विवाह-मण्डप में वधू के समीप ले जाया जाता है, मानो वही अब उस की आचार्या होगी, उसी के पास वह स्त्रैणत्व, निर्वलत्व, श्रीहीनत्व आदि का अभ्यास करेगा एवं दैन्य, दुःख, अंश आदि के व्रत में दीक्षित होगा। जिस अमूल्य वय का बल, विद्या, वर्चस्व के अर्जन में गुरुकुल के लिए विनियोग किया जाता था, वही महाधन्य वय आज, दीर्घवय, दैन्य, दुःख, विनाश के आह्वान में विवाहसंस्कार के नाम पर बालदान कर दिया जाता है। हन्त! कितना वैपरीत्य है?

जब हम समाज की इस सांस्कारिक दुरवस्था का कारण सोचते हैं, तब उस का एकमात्र कारण मिलता है हमें उस का अपने लक्ष्य को सर्वथा भूल जाना। वह आज अपने व्यापक लक्ष्य को सर्वथा भूला हुआ है और सीमित लक्ष्य को ही अपनाकर उसी की ओर दौड़ पड़ा है। कहीं अर्थप्राप्ति के लिए ही वह निरन्तर दौड़ रहा है, तो कहीं यश-प्राप्ति के लिए ही वह आतुर हो गया है। कहीं विविध भोगों के लिए ही वह विह्वल हो उठा है, तो कहीं ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए ही वह लग पड़ा है। उस का कोई एक निश्चय नहीं है, निश्चय होने पर भी वह अपने मुख्य और व्यापक लक्ष्य से तो कोसों दूर है। यही कारण है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के भिन्न भिन्न विचार और भिन्न भिन्न मार्ग दृष्टिगत हो रहे हैं। इस के सीमित लक्ष्य के निर्धारित मार्ग से किसी को हानि हो या न हो, उसे इस के विचार की कोई आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है उसे अपने सीमित स्वार्थ को सिद्ध कर लेने की, चाहे वह किसी भी अवैध मार्ग से ही क्यों न हो। यदि हमारा समाज अपने स्वार्थ की सीमितता को छोड़कर व्यापकता को ग्रहण कर ले, तो अवश्य उसे सांस्कारिक सुव्यवस्था की ओर ध्यान देना पड़ेगा और अवश्य उसे अपने संस्कारों को अपनाना पड़ेगा। मैं पूछता हूँ कि वह क्यों केवल धन-यश-भोग-ऐश्वर्य इन्हें या इन में से अन्यतम को ही प्राप्तव्य मानता है? क्यों नहीं इन सबों के साथ सन्तोष, शान्ति आदि को भी प्राप्तव्य मानता? एवं क्यों नहीं संसार से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द को भी प्राप्तव्य मानता? पर वह माने कैसे? वह तो अपने इन सभी प्राप्तव्यों को आज भूला हुआ है। उस को अपने व्यापक स्वार्थों की ओर दृष्टि ही नहीं है। यदि वह अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्यों को, जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में ही समाविष्ट हो जाते हैं, समझ ले, उन सभी को प्राप्तव्य रूप से मान ले, तो अवश्य उसे अपने को उन की प्राप्ति के योग्य बनाना पड़ेगा। वह उन की प्राप्ति के योग्य तभी होगा, जब कि वह अपने में रहे हुए दोषों को दूर कर उच्च गुणों को प्रकट कर लेगा। अन्वेषण करने पर उसे संस्कार ही एक ऐसे उपाय मिलेंगे, जिन से वह अपने को निर्दोष और गुणवान् बनाकर उक्त प्राप्तव्यों को प्राप्त करने योग्य बना सकेगा।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि अवश्य संस्कारों से समाज अभ्युन्नत हो सम्पन्न और सुखी बन सकता है एवं अन्त में परमानन्द भी प्राप्त कर सकता है, पर आज की निर्धनवस्था में समाज के ये द्रव्यसाध्य संस्कार कैसे सम्पन्न हो सकते हैं? प्रश्न ठीक है, पर यही तो सिद्ध नहीं है कि

भी कार्य केवल द्रव्य तथा इतर दृश्य स्थूल साधनों से ही सम्पन्न होते हैं। उन के सम्पन्न होने में उत्साह, निश्चय और लगन की भी आवश्यकता होती है। बस उन का अभाव ही एक कारण है कि समाज से संस्कार दूर होते चले जा रहे हैं। यदि द्रव्य का अभाव ही संस्कारों के न हो सकने में कारण हो, तो हमारे पूर्वजों के, जो जङ्गलों में रहा करते थे, द्रव्य का सम्बन्ध अपने लिए अहितकर मानते थे एवं आगामी दिन के निर्वाह जितना सङ्ग्रह ही अपने लिए पर्याप्त समझते थे, क्या संस्कार होते ही नहीं थे? अवश्य होते थे, तब संस्कारों के लिए द्रव्यराशि को ही साधन मानना भूल है। वस्तुतः प्रत्येक कार्य के लिए उत्साह, दृढ़ निश्चय व सच्ची लगन की अपेक्षा होती है और उही से वे सिद्ध भी होते हैं। केवल उत्साह, निश्चय और लगन के कारण ही आज का विघटन समाज प्रतिसमय अनावश्यक कार्यों में सदस्यों रूपों का व्यय कर दिया करता है। तब यदि संस्कारों के सम्पादन के लिए भी वह उत्साह, दृढ़ निश्चय और सच्ची लगन रखे, तो संस्कार होते रह सकते हैं, द्रव्य का अभाव होने पर भी होते रह सकते हैं, अन्यान्य कार्यों को भौति कृणु लेकर भी किये जाते रह सकते हैं। वस्तुतः यदि झूठी कीर्ति, मिथ्या मान और थोड़े बड़प्पन के लोभ से प्रदर्शन, आडम्बर और पाखण्ड को स्थान न दिया जाय, तो न उन के लिए कृणु की आवश्यकता है और न द्रव्यराशि की, क्योंकि उन का परिमित व्यय से भी सम्पादन किया जा सकता है।

इस के अतिरिक्त संस्कारों के प्रति उदासीनता का प्रधान कारण है उन के महत्व से अपरिचित होना। संस्कारों के महत्व से अपरिचित होने के कारण भी आज समाज की उन के प्रति उदासीनता है। यही नहीं, अपितु अनादर की भावना भी जमी हुई है एवं कभी कभी तो उन्हें अनावश्यक समझकर मिटा देने के लिए भी वह तत्पर हो जाता है। पर इस का दोष हम उस पर लादना नहीं चाहते, क्योंकि वह तो अपने संस्कारों के महत्व के विषय में सर्वथा अज्ञानी है। यदि उसे उन के महत्व का ज्ञान रहता, तो अवश्य उस के प्रति उस की दुर्भावनाएँ न जगतीं और कभी भी वह उन के प्रति उदासीन नहीं रहता। किन्तु दोष है आज की राजनीति का, जिस की शिक्षणव्यवस्था के अनुसार ही वह शिक्षित होता है एवं शिक्षित होकर भी वह अपने विषय में सर्वथा मूर्ख है, अपनी हितकर वस्तुओं से भी वह अपरिचित है एवं उन के विषय में विरुद्ध ज्ञान भी उस में जमकर बैठ आ रहा है। जब से हमारे समाज की शिक्षण-व्यवस्था राजनीति के चक्र में जा पड़ी है, तभी से संस्कृत भाषा का अनादर होने लगा है, तभी से हमारे सांस्कृतिक शिष्टाचार की इति आ पड़ी है एवं तभी से हमारा समाज संस्कारों के विषय में अज्ञ बन चला आ रहा है।

सांस्कारिक सुव्यवस्था के लिए आज सर्वत्र ही संस्कृत भाषा के साम्राज्य की अपेक्षा है। कम से कम हमारे समाज का तो एक भी बालक संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ नहीं ही रहना चाहिए। जबतक हमारा समाज संस्कृतज्ञ नहीं बन जाता, तब तक अन्य किसी भी प्रकार से हमारे संस्कारों की सुव्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि समाज का प्रत्येक व्यक्ति संस्कारों का पात्र, कर्ता और कारयिता होता है। पात्र के, जिस का कि संस्कार किया जाता है, किसी अवस्था में मूक होने पर भी कर्ता यजमानादि एवं कारयिता पुरोहित-उपाध्यायादि को तो संस्कार कर्म के समय मन्त्रादिकों का जो संस्कृतभाषामय ही होते हैं, उच्चारण करना आवश्यक ही होता है। यदि कर्ता और कारयिता संस्कृतभाषा से अनभिज्ञ हैं, तो वे मन्त्रादिकों का, कभी भी शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। शुद्ध उच्चारण न होने पर ही कभी कभी 'इन्द्रशत्रुर्वर्द्ध' की भौति मन्त्रों का विपरीतार्थ होकर इष्टप्राप्ति के स्थान पर अनिष्टप्राप्ति भी होने लगती है। इस प्रकार की अनिष्टप्राप्ति से बचने के लिए उस के कारण को न सुधारकर संस्कारों को ही दूर करने लगना बुद्धिमत्ता नहीं है। ज्वरजर्जरित मनुष्य यदि इसलिए भेषज को दूर कर दे कि उस के विषिषत् सेवन न हो सकने पर कोई अन्य रोग आ चरेगा, तो वह विषिषत् सेवन न हो सकने पर कोई अन्य रोग आ चरेगा, तो वह उस की मूर्खता ही होगी। आरोग्य की भौति श्रेयःप्राप्ति के उपायों में भी यदि सावधानतापूर्वक परिश्रम उठाना पड़े, तो उस से किसी भी

बुद्धिमान को उन के प्रति अस्विकार करना उचित नहीं। अतएव हमारे समाज को संस्कारों के, जो पुरुषार्थचतुष्टय के प्रापक हैं, महत्त्वज्ञान की ओर सम्पादनकौशल की प्राप्ति के लिए यदि संस्कृताध्ययन की कठिनाई भी उठानी पड़े, तो उठानी चाहिए। बिना संस्कृतज्ञान के हमारा समाज संस्कारसम्पत्ति की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता।

संस्कृत-पठन की कठिनाई से बचने के लिए संस्कारों के लिए हिन्दी आदि प्राकृत भाषाओं को अपनाना अनुचित है, क्योंकि (१) संस्कारसम्बन्धी मन्त्रों के साथ लगनेवाले प्रणव, व्याहृति एवं स्वाहादि शब्दों का कथमपि हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद नहीं हो सकता। (२) संस्कारमन्त्रों के भी, जिन का कि विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकारों से अर्थ किया है, एक निश्चित अनुवाद संस्कारपद्धति के लिए नहीं किया जा सकता। (३) वेद भगवन्निष्ठासवरूप और सनातन है, जिन्हें महर्षियों ने तीव्र तपश्चर्याओं द्वारा स्वयम्भू भगवान् से प्राप्त किया है, उन के मन्त्र जिस भाषा, जिस अक्षरपरिपाटी और जिन स्वरों के रूप में विद्यमान हैं, उन्हीं में उन का माहात्म्य है, उसी रूप में प्रयोग करने पर उन का नियत अर्थ होकर उन से अभीष्टप्राप्ति होती है। (४) प्राकृत भाषाएँ उत्पन्न होती, बनती और विगड़ती चली जाती हैं, क्योंकि वे संस्कृत की सी संस्कार-युक्त न होने से सनातन नहीं हैं। शूरसेनी, मागधी, पेशाची आदि प्राकृत भाषाएँ जो कभी उत्पन्न होकर फूली-फली थीं, आज अस्त हैं। पाली भाषा को भी इने-गिने ही व्यक्ति जानते हैं, क्योंकि वह संस्कृत की तरह दृढसंस्कारयुक्त न होने से परिवर्तनशील रही और परिवर्तित होते होते एक दिन नष्ट हो गयी। हिन्दी भी परिवर्तनशील है, उस का जो स्वरूप शताब्दियों के पहले था, आज सर्वथा परिवर्तित है और जो आज है, वह भविष्य में भी परिवर्तित होगा ही, क्योंकि वह भी संस्कृत की सी संस्कारसम्पन्न नहीं है और वर्तमान में भी हिन्दी का कोई एक रूप नहीं। हिन्दीभाषाभाषी प्रान्त, उपप्रान्तों की संख्या के अनुसार ही उस के भी विविध स्वरूपों की भी एक बड़ी संख्या है। हिन्दी के अतिरिक्त वर्तमान में गुजराती, मराठी, तैलुगू, कर्णाटकी, बङ्गला, मिथिला आदि कितनी ही ऐसी भाषाएँ हैं, जिन का हिन्दी के साथ सर्वथा मेल नहीं खाता और वे अपने अपने प्रान्तों में ही हिन्दी की तरह फूली-फली एवं सम्पन्न हैं। ऐसी परिस्थिति में किसी एक भाषा में अनुवादित संस्कारपद्धति इतर भाषाभाषी प्रान्तों के लिए अनुपयुक्त ही होगी। सभी भाषाओं के प्रान्तानुसार पृथक् पृथक् स्वरूपों में उस का अनुवाद करने से निरर्थक भ्रमगौरव ही होगा। (५) परिवर्तनशील वर्तमान हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवादित संस्कारपद्धतियाँ २५।५० वर्षों के अनन्तर उन भाषाओं के अधिक परिवर्तित हो जाने पर तत्तद्भाषाभाषी प्रान्तों के लिए भी अनुपयुक्त हो जायेंगी। (६) पाश्चात्यानुकारी उच्छृङ्खल अनुवादकों को इच्छानुसार संस्कारों के मौलिक तत्त्वों की मनमानी तोड़मरोड़ होने पर उन के स्वरूप ही नष्ट हो जायेंगे। वैसे रूपान्तरापन्न संस्कारामासों से कोई वाञ्छित फललभ न होने पर वे कभी उड़ा भी दिये जायेंगे। इस तरह यदि हमारा समाज संस्कृताध्ययन की कठिनाई के भय से अपने संस्कारों को संस्कृत से ही, जो उन की सनातन और सुदृढ़ आधारवेदिका है, गिरा देगा, तो फिर उन के टिकने के लिए कोई स्थान न होगा। हिन्दी आदि कोई भी प्राकृत भाषा उन्हें थाम न सकेगी और वे इन्हीं असंस्कृत भाषाओं में गिरते गिरते चूर्ण होकर एक दिन सर्वथा नष्ट हो जायेंगे, जो हमारी संस्कृति के मुख्य प्रतीक हैं, हमारे सर्वार्थलाभों के संसाधक हैं और हमारे जीवन को उन्नत एवं सफल बनानेवाले एकमात्र उपाय हैं। संस्कृताध्ययन के भ्रम से यदि हमारा समाज भय खाता है, तो उस का यही अर्थ है कि वह अपने अभ्युदय और जीवन की सफलता से ही भय खाता है, जो सर्वथा अनुचित है।

यदि किसी को भी अपना जीवन अभ्युन्नत एवं सफल बनाना है, तो उसे संस्कारों का यथाविधि स्वागत करना चाहिए एवं संस्कारसम्पत्ति की योग्यता प्राप्त करने के लिए साथ ही संस्कृताध्ययन के भ्रम का भी अभिनन्दन करना चाहिए। संस्कृतज्ञ होने पर ही कोई भी संस्कारों का यथाविधि सम्पादन कर सकेगा एवं संस्कारसम्पन्न होने पर ही कोई भी निर्दोष और गुणवान् होते हुए धर्मादि चतुष्टय को प्राप्त करने का अधिकारी हो सकेगा, जो मानवजीवन की सफलता का एकमात्र प्रयोजक है।

१—'इन्द्रशत्रुर्वर्द्ध' इस वाक्य में केवल स्वर के ही अन्तर से विरुद्ध अर्थ हो जाता है। 'इन्द्रशत्रु' शब्द का अन्त में उदात्त स्वर लगने से 'इन्द्र का मारनेवाला' और मध्य में उदात्तस्वर लगने से 'इन्द्र से मारा जानेवाला' अर्थ हो जाता है।

मुसलमान शासनकाल में डाक-व्यवस्था

(एक किताबी कीड़ा)

दक्षिण हैदराबाद से निकलनेवाली त्रैमासिक पत्रिका 'इस्लामिक कलचर' (मुसलमान संस्कृति) के गत जुलाई के अंक में श्री सैयद सबाहुद्दीन ने मुसलमानों के शासनकाल में भारत की डाक-व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसवी सन् की सातवीं शताब्दी में सिन्ध में मुसलमानों का प्रवेश हुआ। उस समय मुहम्मद बिन कासिम को ईराक का हाकिम प्रति तीसरे दिन पत्र लिखा करता था, जो उसे सातवें दिन मिल जाता था। इस के लिए विशेष रूप से सिखाये हुए घोड़ों की डाक बराबर लगी रहती थी। अरबों के द्वारा जब व्यापार चल पड़ा, तब वे समुद्री मार्ग से भी पत्र भेजने लगे। मुलतान महमूद गजनी (९९७-१०३० ई०) को डाक पैदल हरकारा तथा घोड़े दानों से जाया करती थी। डाकविभाग का अध्यक्ष 'साहब बरीद' कहलाता था। इस की नियुक्ति साम्राज्य के प्रत्येक प्रान्त में होती थी, जहाँ की खबर उसे बराबर भेजनी पड़ती थी। पत्रों को गुप्त रखने के लिए दूतों को तरह तरह के मेष बनाने पड़ते थे और पत्र घोड़ों की जीन, जूते के तलों में सिलाकर या पोली छड़ियों के अन्दर रखने पड़ते थे। गोरियों ने यह प्रथा जारी रखी। गुलाम मुलतानों के समय में 'धावा' (हरकारा), 'उलाग' (घोड़े) 'कासिद' (दूत) इन तीन प्रकार की डाक चलती थी। अलाउद्दीन खिलजी (१२९७-१३१६ ई०) ने साम्राज्य का बहुत विस्तार किया। उसे राजधानी से प्रायः दूर रहना पड़ता था, पर उस ने डाक की ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि उसे प्रान्तों के समाचार बराबर मिला करते थे। उस का यह विभाग 'महकमाबरीद' कहलाता था, जिस का अध्यक्ष 'मलिकबरीद ममालिक' के नाम से प्रसिद्ध था। जब उस की सेना दिल्ली से कहीं बाहर जाती थी, तब मार्ग में बराबर 'डाक चौकियाँ' कायम कर दी जाती थीं। इन चौकियों पर हरकारा तैनात रहते थे और हर एक नगर में एक 'दरोगा' या 'अखबार नवीस' रहता था, जो प्रतिदिन की खबर भेजा करता था। सैनिकों के पत्र भी इन के द्वारा जाया करते थे। इतिहासकार बर्नी ने 'तारीख फीरोजशाही' में से इस का विस्तृत विवरण दिया है। इब्नबतूता ने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि "दिल्ली से दौलताबाद तक ४० दिन का मार्ग था, सुन्दर सड़क बनी थी, जिस के दोनों तरफ घने पेड़ लगे थे। उस पर चलनेवाले यात्रियों को ऐसा जान पड़ता था कि मानो बगीचे में सैर कर रहे हैं, बीच बीच में चौकियाँ बनी हुई थीं, जिन में यात्रियों के ठहरने की पूरी सुविधाएँ थीं और बाजार की तरह सब चीजें मिलती थीं।" डाक की व्यवस्था का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि 'दिल्ली से मुलतान पहुँचने में ५० दिन लगते हैं, परन्तु मुलतान के पत्र पोंच ही दिन में पहुँच जाते हैं। डाक पैदल या घोड़ों द्वारा भेजी जाती है। घोड़े हर चार मील पर बदल जाते हैं। हरकारों के लिए एक मील में तीन चौकियाँ होती हैं। चौकी के पास ही कोई गाँव होता है, जिस के बाहर एक मीनार (स्तम्भ) रहता है, जिस में कुछ हरकारे हर समय तैयार रहते हैं। हरकारे के पास दो गज लम्बा एक लट्ठा रहता है, जिस में ताम्बे की घण्टियाँ बँधी रहती हैं। वह एक हाथ में घण्टियों का झोला और दूसरे में लट्ठा लेकर बड़ी तेजी से दौड़ता है। घण्टियों का शब्द सुनकर दूसरा अपने को तैयार रखता है और पहले के आगे ही डाक का झोला लेकर आगे बढ़ता है। इस तरह डाक घोड़ों से भी अधिक तेज जाती है। कभी कभी इसी तरह खुरासान से ताजे फल मुलतान के लिए आते हैं। बड़े बड़े अपराधियों को भी प्रायः चारपाइयों पर इसी तरह ले जाते हैं। गङ्गा जी से जल भी हिन्दू राजा के लिए दौलताबाद इसी तरह पहुँचाया जाता है, साधारण रास्ता ४० दिन का है। 'अखबार-नवीस' बाहर से आनेवालों का पूरा हुलिया-हवाला लिखकर भेजता है। जरा जरा सी बात मुलतान को पहुँचा दी जाती है।" मुहम्मद तुगलक (१३२५-१३५१ ई०) के समय में एक मिस्त्र का यात्री आया था, जो अपनी पुस्तक 'मसालिक-उल-अवशार' में लिखता है कि "दिल्ली और देवगिरि (दक्षिण) के बीच की चौकियों पर नगाड़े रखे रहते हैं, जब कोई विशेष घटना होती है, तब उन के लगातार बजाने से मुलतान को शीघ्र ही पता लग जाता है।" शेरशाह (१५४२-१५४५ ई०) ने कई एक

बड़ी सड़कें बनवायी थीं। 'तारीख शेरशाही' तथा तुल्कालीन अन्य इतिहासों से पता लगता है कि बङ्गाल से सिन्ध नदी तक जो सड़क गयी थी, उस पर १७०० से २५०० तक सराय बनी थी। इस तरह लगभग ५००० घोड़े केवल इस सड़क पर डाक ले जाने के लिए रहते थे। नीलाब और बङ्गाल से प्रतिदिन शाह के पास समाचार पहुँचते थे। कई इतिहासकारों ने उस समय की एक बड़ी रोचक घटना लिखी है। एक बार हुसेन तशत-दार किसी बड़े आवश्यक कार्य के लिए बङ्गाल से भेजा गया। रात दिन वह चलता ही रहता था। जब कभी उसे नींद आती, तब वह चारपाई पर लेट जाता था और मजदूर उस चारपाई को लेकर चल देते थे। जब वह जगता था, तब घोड़े पर चढ़कर चलता था। इस तरह वह गौर (बङ्गाल) से ८०० मील का सफर कर के तीन दिन में चित्तौर (राजपूताना) पहुँच गया।

बाबर (१५२६-१५३० ई०) ने अपनी डाक-व्यवस्था में कुछ परिवर्तन किये थे। इस का विवरण उस ने स्वयं 'बहतरनामा' में दिया है। आगरा से काबुल तक एक सड़क बनायी गयी थी। इस में प्रत्येक दो मील पर लगभग २४ फुट ऊँचा एक मीनार होता था, जिस पर 'चारदरी' बनी रहती थी, जो चारों ओर खुली होती थी। हर चौकी पर ६ तैयार घोड़े खड़े रहते थे। डाक आते ही उन पर अगली चौकी को भेज दी जाती थी। इतिहासकार फिरस्ता लिखता है कि "अकबर के समय (१५५६-१६०५ ई०) में सौ सौ मील का मार्ग डाक द्वारा एक दिन-रात में पूरा हो जाता था। आगरा से अहमदाबाद खबर ५ दिन में पहुँचती थी। चार हजार आदमी घोड़ों सहित इस के लिए तैनात रहते थे और ७०० मील की यात्रा १० दिन में समाप्त कर देते थे।" खजाना भी इसी तरह भेजा जाता था। साधारण व्यक्ति भी रुपया हुण्डियों द्वारा भेजते थे। पटियाला के मुन्शी सुजनाराय खत्री सन् १६९५ में अपनी पुस्तक 'खुलासत-उत-तवाखिख' में लिखते हैं कि "इस देश के आदमी रुपये-पैसे के व्यवहार में इतने ईमानदार हैं कि कोई बेजान साधारण आदमी भी यदि किसी शराफ के पास बिना किसी गवाह के लाख रुपया जमा कर देता है, तो जब कभी वह मॉगे, तब बिना किसी पूछताछ के शराफ उस को उतना रुपिया तुरत वापस कर देगा। यदि साथ में दूर ले जाने या भेजने में झंझट तथा खतरा हुआ, तो शराफ उस को हिन्दी में एक पर्चा लिख देता है, जिस पर न कोई मुहर होती है और न वह किसी लिफाफे में ही बन्द रहता है। प्रायः बड़े शहरों में इन का दूकानदारों से लेन-देन का हिसाब रहता है, वहाँ वह पर्चा दिखला देने से तुरत रुपिया मिल जाता है। इस को देशी भाषा में 'हुण्डो' कहते हैं। यह और विचित्रता है कि यदि कोई चाहे, तो उस हुण्डो को बेच भी सकता है। सुरक्षित रखने की दृष्टि से व्यापारी प्रायः अपना माल इन शराफों को सौंप देते हैं, जो बड़ी सावधानी से यथास्थान पहुँचा देते हैं। इस को 'बीमा' कहते हैं।" आज भी यही शब्द प्रचलित है। अकबर के समय यह विभाग 'दाखल इशा' या 'पत्र-विभाग' कहलाता था। इस के द्वारा शाही फर्मान या अन्य पत्र 'दारोगा डाकचौकी' के पास भेजे जाते थे, जो उन को यथास्थान भेजता था। बड़े शहरों में प्रान्तीय दारोगा रहते थे। उन के नीचे और कई अफसर रहते थे, जो बराबर खबरें भेजते थे। साम्राज्य में विभिन्न स्थानों से प्रतिसप्ताह सभी प्रकार के समाचार आया करते थे।

यह डाक-व्यवस्था मुसलमान शासकों की कोई खास सृष्टि न थी। यहाँ आने पर देश में उन को यही व्यवस्था मिली, जो प्राचीन काल से चली आ रही थी। इस में आनेवाले शब्दों से ही यह सिद्ध है। पहले ही 'धावा' शब्द है, यह वास्तव में 'धावक' संस्कृत शब्द है। 'तारीख फीरोजशाही' के लेखक बर्नी का कहना है कि डाकचौकी पहले 'शाम' कहलाती थी, जो शुद्ध संस्कृत शब्द है और जिस का अर्थ है 'रात' अर्थात् जहाँ रात में विश्राम किया जा सके। इसी तरह उस का कहना है कि पैदल पत्र लेजानेवाला 'पाइक' कहलाता था, जो सम्भवतः 'पायक' शब्द है, जिस का अर्थ है 'भृत्य' या 'सेवक'। इस पर फिर कभी विचार किया जायगा।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

‘हिन्दू कोड’ पर डाक्टर काटजू के विचार

२

सनातनधर्मियों की दृष्टि में तो पहले यह समझना ही कि “हिन्दू समाज-व्यवस्था मानवबुद्धि द्वारा आयोजित है,” भूल है। वे तो इस व्यवस्था का आधार दैवी मानते हैं। यह दस, पांच हजार वर्ष से नहीं अनादि काल से चली आ रही है, इस में भूत, वर्तमान और भविष्य दोनों का ध्यान रखा गया है। इस के रचयिता प्राचीन ऋषि हैं, जो त्रिकालज्ञ थे। यह बात भले ही हमारी समझ में न आये, पर पूर्ण रूप से विचार करने से इस में कोई असम्भव बात या तर्क की छुट्टि नहीं मालूम पड़ती। हिन्दुओं का इतिहास कुछ हजार वर्षों में ही सीमित नहीं है। युगों, कल्पों, मन्वन्तरो आदि पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि वह कतने प्राचीन काल तक जाता है। अपने यहाँ के सिद्धान्तानुसार सृष्टि-प्रलय का चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस में पिछली बातें फिर आती रहती हैं—“यथापूर्वम् अकलयन्त” जो स्मृतियाँ पहले थीं, वे ही फिर प्रदुर्भूत होती रहती हैं, इसलिए वहाँ कोई नये-पुराने का प्रश्न ही नहीं उठता। समयानुसार उन में कुछ सङ्कोच-विकास भले ही हुआ हो, पर उस की सीमाएँ पहिले से ही निर्धारित हैं। कोई ऐसा परिवर्तन कभी नहीं होता जिस का मूल पहिले से न हो। स्मृतियों तथा उन के भाष्यों के समुचित तथा गम्भीर अध्ययन से ही उन में एकता का सूत्र प्रत्यक्ष हो जायगा और जो तरह तरह की असङ्गतियाँ दिखलायी पड़ती हैं, वे दूर हो जायेंगी। सीमासंपन्नता से उन का विवेचन करने पर परस्पर कोई भी विरोध नहीं रह जाता। उन के केवल अङ्गरेजी अनुवादों पर निर्भर रहने से तो कितनी बातें उलटी ही जान पड़ेंगी। रीति-रिवाज को कानून का स्रोत अवश्य माना गया है, पर सभी प्रकार की रीति-रिवाजों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अपने यहाँ ‘सदाचार’ शब्द का प्रयोग किया गया है और वह धर्मशास्त्रमूलक ही हो सकता है। जहाँ कहीं किसी आचार का श्रुति-स्मृति आदि से विरोध नहीं है, पर समर्थन में कोई प्रमाणवाक्य नहीं मिलता, वहाँ उस की कल्पना कर ली जाती है और यह मान लिया जाता है कि आज वह उपलब्ध नहीं है। फिर यदि रीति-रिवाजों को ही हिन्दुकानून का स्रोत माना जाय, तो फिर उन का विधिकरण (कोडिफिकेशन) ही कैसे हो सकता है, क्योंकि उन में इतनी विभिन्नता है कि वे कभी एक ही सॉचे में नहीं ढाली जा सकतीं ?

विवाह के सम्बन्ध में आप लिखते हैं कि “उस के नियमों को अधिक उदार बनाने की आवश्यकता है। आजकल की बहुत सी रुकावटें प्राचीन रीति-रिवाजों के कारण हैं, जो पिछले हजार वर्षों में चल पड़ीं। प्राचीन स्मृतिकारों तथा भाष्यकारों ने निश्चितरूप से असवर्ण विवाह को माना है। मनु ने बिना किसी विरोध के इन का उल्लेख किया है और भाष्यकारों ने उन का समर्थन किया है। ‘अनुलोम विवाहों’ को ही लीजिये, दूसरे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र जायज माना जाता था और उसे अपने पिता की सम्पत्ति में हिस्सा मिलता था। इन प्रमाणों के अतिरिक्त आजकल हवा दूसरी ओर बह रही है। असवर्ण-विवाह की चाल चल पड़ी है और उन को सरकारी अदालतों ने भी मान लिया है। इधर जो अदालती फैसले हुए हैं, उन से यही अनुमान होता है कि आगे चलकर अनुलोम-विवाहों को मान ही लेना पड़ेगा। आजकल तलाक के सम्बन्ध में बड़ी विवाद की मान ही लेना पड़ेगा। आजकल तलाक के सम्बन्ध में बड़ी विवाद चल रहा है, परन्तु सनातनी यह ध्यान में नहीं रखते कि कई हिन्दू जातियों तथा उपजातियों में इस का बराबर प्रचलन है। कुछ वर्ष हुए वैश्यों में एक परित्यक्ता स्त्री का अपने पति के जीवित रहते हुए भी दूसरे के साथ विवाह हुआ था, जिस पर “बहुत दिनों तक मुकदमा चलता रहा और अन्त में ‘प्रिवी कौंसिल’ ने उस को जायज मान लिया” (गोपी-कृष्ण कसौधन बनाम मुसम्मात जीगी, ४९३६)। ‘इलाहाबाद ला जनरल’

पृ० ८१९)।” यहाँ भी डाक्टर काटजू भूल में हैं। मनु ने स्पष्ट शब्दों में असवर्ण-विवाहों की निन्दा की है। उन्होंने लिखा है कि द्विजातियों के लिए विवाह में सवर्णा कन्या ही प्रशस्त है—“सवर्णाग्नि द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि” (३।१२)। मोहवश हीनजाति की स्त्री से विवाह करनेवाले द्विजाति सन्तान सहित अपने कुलों को शूद्रता की ओर ले जाते हैं—“हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्भूतं द्विजातयः। कुलान्नेव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥” (३।१५)। ब्राह्मण से स्वातिरिक्त अन्य तीन, क्षत्रिय से दो और वैश्य से एक वर्ण की अर्थात् अपने से हीनवर्ण की स्त्री में उत्पन्न की गयी सन्तान निवृष्ट होती है—“विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः। वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदाः स्मृताः॥” इस प्रकार प्रतिलोमादि विवाहों से जिस राष्ट्र में वर्णसङ्कर प्रजा की सृष्टि होती है, वह उन राष्ट्रनिवासियों के सहित शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है—“अत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः। राष्ट्रिकैः सह तद्वाण्डं क्षिप्रमेव विनश्यति॥” (१०।५१)। भाष्यकारों में भी किसी ने उस का समर्थन नहीं किया। हाँ, प्राचीन काल में कुछ अनुलोम-विवाह हुए थे, पर इन उदाहरणों से उन की विधि नहीं कही जा सकती। असवर्ण स्त्री और सवर्ण स्त्री से उत्पन्न सन्तान में भी भेद माना जाता था और असवर्ण स्त्री से उत्पन्न लड़के को कम हिस्सा दिया जाता था—“समवर्णसु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्। उदारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम्॥” (१।१५६)। “ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतुस्तसु यदि स्त्रियः। तासां पुत्रेषु जातेषु विभागोऽयं त्रिभिः स्मृतः॥ कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेदश्च। विप्रस्यौदारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः॥ त्र्यंशं दायाद्वेदोद्भिरो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः। वैश्याजः साद्धमेवांशमर्शं शूद्रासुतो हरेत्॥” (मनु १।१४९-१५१)। उस के भरण-पोषण के लिए पिता की सम्पत्ति में हिस्सा देना तो आवश्यक ही था, पर दोनों के पद में बराबर अन्तर रहता था। तलाक उपजातियों में अवश्य प्रचलित है, पर यहाँ भी ध्यान रखना चाहिए कि उच्च जातियों में नहीं। अपने यहाँ यह बराबर देखा जाता है कि नीचे की जातियों में खान, पान, विवाह आदि की बहुत कुछ स्वतन्त्रता है, किन्तु उत्तरोत्तर नियम कठिन होते जाते हैं। अधिकारी को ध्यान में रखकर विभिन्न नियम बनाये गये हैं, सब को एक ही कानून के ढण्डे से ढाँकने का प्रयत्न नहीं किया गया है। वैश्य-समाज का जो उदाहरण दिया गया है, उस में भी पहले यह देखना चाहिए कि ‘कसौधन’ किस श्रेणी के वैश्य है। इस के अतिरिक्त वर्तमान अदालतों की व्यवस्था दे देने से ही धार्मिक दृष्टि से उस की मान्यता नहीं हो जाती, जिन जजों को संस्कृत का एक शब्द भी नहीं आता, जिन का ज्ञान अङ्गरेजी प्रत्यो ही तक सीमित है, जो अपने शास्त्रों की विवेचनपद्धति नहीं जानते, उन के निर्णय का क्या मूल्य हो सकता है ?

“हिन्दूसमाज की वर्तमान अवस्था से हम सन्तुष्ट हैं”, ऐसा हम भी नहीं कह सकते। सचमुच आज वह बड़ी शोचनीय है और उस में सुधार की नितान्त आवश्यकता है। पर मुख्य प्रश्न तो यह है कि वास्तव में ‘सुधार’ है क्या ? मूल में जो अन्तर आ गया, उसी को दूर कर देना ही सुधार है, न कि ऐसा परिवर्तन जिस से उस का अस्तित्व ही नष्ट हो जाय। समाज-व्यवस्था को पूर्णतया शास्त्रानुसारिणी बनाना ही हमारी समझ में उस का सब से बड़ा और आवश्यक सुधार है, क्योंकि उसी के द्वारा केवल हिन्दूसमाज का ही नहीं, किन्तु सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। आजकल मानव-समाज के सुधार के लिए तरह तरह की योजनाएँ प्रतिदिन बन रही हैं, परन्तु उन का परिणाम क्या हो रहा है। वह भी प्रत्यक्ष ही चारों ओर अशान्ति और सङ्घर्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। मानवबुद्धि की जहाँ तक पहुँच है, वह वहीं तक काम कर सकती है, परन्तु अपने यहाँ तो अन्तिम वस्तु उस से भी परे है—“यो बुद्धेः परतस्तु सः”। ऐसी दशा में केवल कोरी कोरी बुद्धि से काम नहीं चलता। डाक्टर काटजू ‘गीता’ के बड़े प्रेमी हैं। इधर उस के प्रचार में आप ने

बड़ा उत्साह दिखाया है। आप से हमारा विनम्र अनुरोध है कि आप 'गीता' की कसौटी पर ही अपनी बात कसकर देखें कि वह कहाँ तक ठीक है। भगवान् कृष्ण ने वर्णाश्रमधर्म के पालन पर बड़ा जोर दिया है। 'गीता' में उन्होंने कोई नयी योजना नहीं बतायी है। शास्त्रव्यवस्था ही उन की मुख्य योजना है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों से कहा है कि जो शास्त्रविधि छोड़कर अपनी मनमानी करते हैं, न उन को सफलता मिलती न सुख मिलता है और न परमगति—“यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः, न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।”

प्रचार-बल

(श्री स्वामी करपात्री जी)

आजकल का युग एक तरह से प्रचारयुग कहा जाता है। यद्यपि प्रचार को महिमा सदा ही रही है, व्याख्यान, प्रवचन, शास्त्रार्थ, साहित्य आदि का प्रचार में ही उपयोग होता रहा है, बड़े बड़े ऋषियों एवं आचार्यों ने मतपरिवर्तन के लिए ही पर्याप्त परिश्रम किया है, किसी भी उदात्त विचार के व्यक्ति को किसी समाज, जाति, राष्ट्र या विश्व का संहार इष्ट नहीं हो सकता, तथापि केवल विचार-परिवर्तन ही इष्ट हो सकता है। विचार-परिवर्तन ही सब से बड़ी विजय भी है। उस में उतना अस्त्र, शस्त्र, सैनिक-सङ्घटन आदि का भी प्रभाव नहीं पड़ता, जितना प्रचार का। शिक्षा और साहित्य का आविर्भाव प्रचारदृष्टि से ही हुआ है। अधिकाधिक लोगों में सत्यवस्तु का बोध विस्तृत हो, यह सजनों को इष्ट ही होता है। तदनुकूल प्रचार, आचार बड़े, तो विश्व का हित ही होता है। सत्यवस्तु के समझने में कुछ कठिनाई पड़ती है, असत्यवस्तु में प्राणियों का स्वाभाविक ही अभिनिवेश होता है। प्रचार के प्रभाव से असत्य को सत्य एवं सत्य को असत्य सिद्ध कर दिया जाता है। एक सुनी-सुनायी आख्यायिका है कि कोई एक शक्ति पण्डित एक बकरी का बच्चा लिये जा रहे थे। भौंभू ठगों ने पण्डित से उसे लेना चाहा। वे मील-आध मील की दूरी पर बैठ गये। एक ने कहा—“पण्डित जी महाराज! आप तो कभी कुत्ते का स्पर्श नहीं करते, फिर कैसे उस के बच्चे को कन्धे पर बिठला लिया?” पण्डित ने कहा—“नहीं नहीं, यह तो बकरी का बच्चा है।” ठग ने कहा—“महाराज! क्या आप ने भङ्ग पी है? यह तो कुत्ते का बच्चा है, आप क्या कह रहे हैं?” कुछ दूर आगे जाने पर दूसरे ठग ने प्रणाम करके ब्राह्मण्यभिनय के साथ कहा—“ओहो पण्डित जी! यह क्या? यह कुत्ते का बच्चा कैसा? इसे क्या करोगे?” पण्डित ने कहा—“क्या तुम भ्रान्त हो? यह तो बकरी का बच्चा है।” ठग ने कहा—“महाराज! आप को कुछ हो गया है क्या?” पण्डित जी आगे चले, तो फिर इसी ढङ्ग के ठगों से बातचीत हुई। अन्त में सचमुच पण्डित के मन में संशय हो गया कि यह क्या है, कहीं मुझे भ्रम तो नहीं है? सबलोग इस कुत्ते का बच्चा कहते हैं, कहीं यह वही न हो।” बस, यह सोचकर पण्डित उसे वहीं छोड़कर चले गये और ठग उसे उठाकर चलते बने।”

वेदान्तशास्त्रों में भी एक इसी ढङ्ग की आख्यायिका आती है। भर्तृहृन्नाम का कोई व्यक्ति किसी राज्य के राजा को बड़ा प्रिय था। दूसरे राजकीय व्यक्ति उस से द्वेष करते थे, किसी तरह राजा का उस से अपराग चाहते थे। एकबार किसी प्रसङ्ग से भर्तृहृन् को वन में ले जाकर उन्होंने छोड़ दिया और यह प्रचारित कर दिया कि “भर्तृहृन् मर गया और सरकार प्रेत हो गया, बिल्कुल भर्तृहृन् जैसा ही वह प्रेत है। फिर क्या था, अब उसे कोई नगर, ग्राम आदि में आने ही न देता था। वेचाग अरण्य में ही किसी तरह जीवन बिताता था, राजा के पास तक किसी तरह पहुँच नहीं पाता था। एकबार कभी मृगया के लिए राजा अरण्य में गये, तो वहाँ भर्तृहृन् मिला। अरन्तु प्रचार के प्रभाव से राजा ने यही समझा कि यह वही भर्तृहृन् मरकर प्रेत हो रहा है। फिर तो मिलना, सम्मान करना तो दूर रहा, उसे देखते ही राजा थोड़ा दौड़ाकर भाग गया।” यह दृष्टान्त वेदान्त-ग्रन्थों में आता है—“पुरुषापरामर्शलिना धिषणा निरवयवश्च दयाऽपि यथा। अतिसम्भवाऽपि तु तथास्मिन् भीर्न भर्तृहृन् विषया भवति ॥”

प्रचार के प्रभाव से आँखों देखी वस्तु में भी विश्वास नहीं रहता।

आजकल आधुनिक रेडियो, वेतार का तार, समाचार-पत्र, नाटक, सिनेमा, शिक्षणालय तथा अन्यान्य साहित्यों की अधिकता से प्रचार का बल बहुत बढ़ गया है। जिन के पास प्रचारसाधन हैं, वे ही देशहितैषी, वे ही धार्मिक, वे ही नेता बन जाते हैं, उन के विरोधी लोग देशद्रोही, अधार्मिक या न जाने क्या क्या बनाये जा सकते हैं। लड़ाई जीतने में भी प्रचार का बहुत बड़ा हाथ माना जाता है। आये दिनों समाचार-पत्रों और रेडियो, सिनेमा आदिकों में विरोधी पक्ष की छीछालेदर की जाती है। वर्तमान युग की उन्नति का अन्यतम साधन प्रचारसामग्री भी है। ‘धर्मसङ्घ’ के विरुद्ध देशी-विदेशी सभी लोग अनेक दुष्प्रचार करते हैं। कोई उस में किसी पद-यन्त्र की गन्ध पाते हैं, कोई उसे विदेशी सरकार से सम्बन्ध बतलाते हैं, उस के सञ्चालकों एवं कार्यकर्ताओं को सरकारी सहायता मिलेती है, यह बात वक्ता वक्ता में फेलाने का प्रयत्न देशहितैषी नामधारी लोगों की ओर से किया जा रहा है। प्रचारकों के पास प्रचारसाधन पर्याप्त है। अतः प्रचार में उन्हें सफलता मिली है और मिल रही है। उन के उत्तर के लिए धार्मिकों को भी प्रचारसाधन के सङ्ग्रह की अपेक्षा है। इन का काम थोड़े ही साधन से भी चल सकेगा। “तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः” यह एक शास्त्रीय सूक्ति है। बुद्धि का तत्त्व में पक्षपात होता है, इसलिए मिथ्याज्ञान अनादि वासनानिबद्ध होने पर भी तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है। जैसे लाखों वर्ष का गह्वरस्थ गाढान्धकार क्षणिक प्रदीपप्रभा से नष्ट हो जाता है, मैं यहाँ का प्राचीन निवासी हूँ, मेरा यहाँ अधिकार है, तुम आग-न्तुक हो, इस तरह का शास्त्रार्थ वह अन्धकार नहीं करता। यदि ऐसा न होता, तब तो जैसे यव, गोधूमादि बीजों की अग्निमध्य में स्थिति ही असम्भव होती है, फिर अङ्कुरित, पुष्पित, फलित होने की तो बात दूर ही रहती है, वैसे ही विरोधी प्रत्ययों के उक्त्वण सङ्घट्ट में क्षणिक सत्प्रत्ययों का टिक सकना ही असम्भव होता, फिर कार्यकरणक्षम होना तो बहुत ही कठिन होता। परन्तु नहीं, एक भी सत्प्रत्यय का सामना सहस्रों असत्प्रत्यय नहीं कर सकते। अन्य दार्शनिकों ने भी कहा है कि—“निरुपद्रवभूतार्थ-स्वभावस्य विपर्ययैर्न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्त्वपक्षपाततः” अर्थात् यथार्थविषयक संशयादि से अनास्कन्दिता (अनाक्रान्त) प्रमात्मक प्रत्यय (ज्ञान) का विपर्यय (वैपरीत्य) अनेकों प्रत्ययों से भी, प्रयत्न करने पर भी, बाध नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि तत्त्व का पक्षपात करती है। विशेषतः वैदिक सनातनधर्म के गोप्ता भगवान् हैं—“त्वमव्यग्रः शाश्वतधर्म गोप्ता”। अव्यग्र भगवान् ही शाश्वत धर्म का रक्षण करते हैं। फिर भले ही कोई असन्मार्ग से मिथ्याप्रचार द्वारा सन्मार्ग का प्रच्छादन कर दे, परन्तु अन्त में सत्य की ही जय होती है—“सत्यमेव जयते नानृतम्”। फिर भी पर्याप्त प्रयत्न की अपेक्षा होती है। जैसे छोटे पौधों की रक्षा के लिए कण्टकों के वाड़ की अपेक्षा होती है, वैसे ही सिद्धान्तों की रक्षा के लिए तर्कों की अपेक्षा होती है। इसीलिए नैयायिक, वैशेषिकों ने वेददुर्ग की रक्षा के लिए निग्रहस्थानादि अनेक साधनों को प्रस्तुत किया है। श्रीशङ्कर, कुमारिल प्रभृति आचार्यवर्ग्य से सिद्धान्त-प्रचार के लिए शास्त्रार्थ एवं ग्रन्थनिर्माण आदि में प्रवृत्त हुए थे।

आचरणशील, धर्मात्मा, तपस्वी प्रचारकों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है, ओगों के अनेकों सुन्दर व्याख्यान इतना काम नहीं कर सकते, जितना एक आचरणशील के दर्शन से हो जाता है। औरों के चमत्कारपूर्ण आलङ्कारिक शब्दों से उतना कार्य नहीं होता, जितना आचरणशील के साधारण एक दो वचनों से हो जाता है। कुछ चाहने और लेनेवाले के बहुत मधुर शब्द भी नहीं रुचते, निःस्पृह के रक्षक वचन भी मधुर लगते हैं। यही समझकर महावि वासमीकि ने सीतासम्बन्धी मिथ्या प्रचारों को दूर करने के लिए परम निःस्पृह लव-कुश के द्वारा रामायण का प्रचार कराया था। लव-कुश के सौकुमार्य, सौशील्य, सौस्वर्य, सुबाध, सुकान्त वपु के अतिरिक्त निःस्पृहता का भी प्रचार-साफल्य में प्रधान हाथ था। जिस समय श्री रामचन्द्र जी द्वारा दिलाये गये बहुभार सुवर्णभार की उन्होंने उपेक्षा कर दी, उस समय श्रीगमचन्द्र सहित सब के सब प्रभावित हो उठे। वे वन से ही साथ लगे कन्द, मूल, फल खाकर सुन्दर वीणावादनपूर्वक सुन्दर स्वर से दिव्य रामायण महाकाव्य का गायन करते थे, क्षुधा लङ्गने पर अपने ही कन्द, मूलों को खाते थे और अपने हाथ से ही कूप वा नदी से जल निकालकर पीते थे, किसी से किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं रखते थे। फिर उन के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्र० ३—“मिताक्षरादि निबन्धों का अनादर करते हुए अङ्ग्रेजी में स्वतन्त्र कोड निर्माण करना युक्त है या नहीं?” इस का उत्तर है कि प्राकृतिक वैदिक व्यवस्था संस्कृत भाषा में होने से संस्कृत-गन्धशून्य लोगों को अङ्ग्रेजी अनुवाद पढ़कर वकालत करने की आदत पड़ी है। फिर भी मूलग्रन्थ संस्कृत में होने से किसी समय चूक जाने पर संस्कृतज्ञों से उन को हार खाना पड़ता है। अङ्ग्रेजी में स्वतन्त्र कोड बन जाने पर उन का बचाव तो इस से हो जायगा, पर लोगों को इस से क्या लाभ? प्रत्युत अनर्थकर होगा। इतना ही नहीं, विवाह, पुत्र, भार्या, अपत्य आदि शब्द यूप, आहवनीय आदि शब्दों के समान दृष्टदृष्टार्थक हैं, जिन के पर्याय अङ्ग्रेजी भाषा में कथमपि हो नहीं सकते। इसलिए भी यह कार्य अनर्थकर है। अतः संस्कृत भाषा में विद्यमान मीमांसक-निबन्धों का प्रामाण्य एवं संस्कृतभाषामयी कानूनी पुस्तकें ही की व्यवस्था रहनी चाहिए।

प्र० ४—“मिताक्षरादि निबन्धों के अनुयायी ब्रिटिश राज्य में रहने-वाले हैं और देशी रियासतों में भी। ऐसी दशा में सिर्फ ब्रिटिश राज्य के निवासियों के लिए नया कोड बनाया जायगा, तो रियासत के हिन्दुओं से उन का वैल्य हो जायगा। इस प्रकार हिन्दूसमाज का वैल्य क्या इष्ट है?” उत्तर अनिष्ट है। उदाहरणार्थ ब्रिटिशराज्यनिवासी एक कन्या देशी रियासत में दी गयी अथवा रियासत की एक कन्या ब्रिटिशराज्य में विवाहित हुई। अब उन की, उन के सन्ततियों के दायभागवर्म में वैल्य हो जायगा। एवंच आजतक शिष्टों के दृढ़ आचारों से प्राप्त भेदों के रहते हुए कोड के द्वारा नये कुछ और भेद प्रतिजाति-कुलश्रेणियों में हो जायेंगे, यह एकरूप बनाने के उद्देश्य से भी विरुद्ध है। समाज की सुस्थिति भी इस से हो नहीं सकती। कोडनिर्माण के विषय होनेवाले राजकीय क्षेत्र एवं कोड के परिणाम को भोगनेवाले समाजक्षेत्र समनियत न रहने से भी कोडनिर्माण करने का प्रयत्न सर्वथा अनुचित है।

धर्मसङ्घ समाचार

शाखासभा की स्थापना

फर्रुखाबाद १ दिसम्बर।

स्थानीय ‘सनातनधर्मविद्यालय’ में धर्मसङ्घ शाखासभा की स्थापना मार्गशीर्ष शुक्ल १५ बुधवार को श्री पं० लक्ष्मीनारायण जी शास्त्री ‘विद्यालय’ की अध्यक्षता में हुई। इसी उपलक्ष्य में उस दिन उत्सव मनाया गया। गणेशस्तवन के बाद पताकामिवन्दन हुआ। फिर मङ्गलाचरण के उपरान्त धर्मसङ्घ के उद्देश्य एवं कार्यों पर सभापति जी का पूर्ण विवेचनात्मक भाषण हुआ। इस के उपरान्त सदस्यों ने वाल्मीकि रामायण का पाठ और जपाद किया। अब तक ४६ सदस्य बनाये जा चुके हैं—पं० मांती-अल शास्त्री (उपमन्त्री)।

जिन्दोपुर (आजमगढ़) मार्गशीर्ष शुक्ल ७ बुध।

पं० रामाक्षर द्विवेदी धर्मसङ्घप्रचारक, कटहर सूचित करते हैं कि यहाँ पं० रामकरणजी पाण्डेय द्वारा धर्मसङ्घ शाखासभा स्थापित की गयी। श्री पं० रामयशजी त्रिपाठी (अध्यक्ष धर्मसङ्घ महाविद्यालय, काशी) का भाषण हुआ, जिस का प्रभाव जनता पर गम्भीर हुआ, बहुत संख्या में लोग सदस्य बने। निम्नलिखित पदाधिकारी नियुक्त हुए—सभापति—पं० परमेश्वरदीन पाठक। मन्त्री—पं० जङ्गलप्रसाद पाठक। प्रचारकमन्त्री—पं० हरहरप्रसादजी सङ्गीताचार्य, महात्मा रामकरण साधुजी। निरीक्षक—पं० नरहरिप्रसाद जी पाठक व्या० आ० प्रधानाध्यापक धर्मसङ्घ गिरौरी संस्कृत-पाठशाला, जिन्दोपुर।

जगदीशपुर (मुस्तानपुर) २४ नवम्बर।

आज गाँव जगदीशपुर, पोस्ट—लम्भुआ, तहसील—कादीपुर, जिला—मुस्तानपुर में धर्मसङ्घ की शाखासभा स्थापित हुई। ब्रह्मचारी पं० रामचरित जी योगाभ्यासी का व्याख्यान हुआ। निम्नलिखित पदाधिकारी निर्वाचित हुए—सभापति—डॉ० मुनेश्वरसिंह जी, मन्त्री—पं० सन्त-बक्ससिंहजी, उपमन्त्री—रामप्रतापसिंह जी भक्त।

प्रकाशक—श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

छपरा, २२ नवम्बर। श्री पं० रामपुकार द्विवेदी मन्त्री धर्मसङ्घ शाखा सूचित करते हैं कि आज बुधवार को सायंकाल ७ बजे बाबा मनःकामनानाथ जी के मन्दिर में श्री पं० रामदेव जी शुक्ल वेदाचार्य के सभापतित्व में धर्मसङ्घ शाखासभा की स्थापना की गयी, अनेक सदस्य बनाये गये।

ग्राम क्यामपुर, पोष्ट अग्रवालमण्डी, जिला मेरठ की चौपाल में मार्ग० शु० ९ शुक्ल को एक महती सभा हुई, जिस के सभापति पं० हरद्वारीलाल मास्टर थे। धर्मसंघ की शाखा स्थापित हुई, जिस के सभापति—पं० नाथू-राम शर्मा, मन्त्री—लाला मिहिरामल नियुक्त हुए। धर्मसंघ के सङ्गठनानुसार शतचण्डी हुई, जिस की पूर्णाहुति रात्रि में निवृत्त होकर ब्रह्मभोज हुआ। २३ सदस्य हुए। चुन्नीलाल शर्मा मन्त्री शाखासभा हिलवाड़ी तथा पं० शिवदत्त जी के व्याख्यान हुए।

ता० ३०।१।४४ गुरुवार सन्ध्याकाल ४ बजे से स्थान श्री बाबा मनोकामनानाथ जी का मन्दिर मुडल्ला कटरा, छपरा (जिला सारन) में स्थानीय गण्यमान्य महिलाओं का एक वृद्ध सभा श्री पं० लक्ष्मीनारायण शर्मा (उपनाम—जय-जयसियाराम परमभक्त जी) के शुभ सभापतित्व में हुई। अनेक वक्ताओं ने अपना प्रभावशाली वक्तव्य में धर्मसङ्घ की उपयोगिता बहुरूपेण बतलाते हुए इस पुण्यभूमि छपरा में एक ‘धर्मसङ्घ’ शाखासभा की स्थापना की परम आवश्यकता बतलायी। तत्पश्चात् श्रीमान् सभापति का हृदयग्राही भक्तिरस से साराबोर भाषण हुआ और उपस्थित महिलाओं ने सर्वसम्मति से स्थानीय ‘धर्मसङ्घ’ स्थापना होने की स्वीकृति देते हुए इस में सर्व प्रकार से हाथ बँटाने तथा नियमानुसार वर्तने की प्रतिज्ञा की। अन्त में ‘धर्मसङ्घ’ विधानानुसार अनेक महिलाओं ने प्रतिज्ञा की। अपना नाम सदस्य-श्रेणी में अङ्कित कराकर उपस्थित जनता के प्रशंसा-पात्री बनी। सभापति जी को धन्यवाद देने के पश्चात् सभा विसर्जित हुई। मन्त्री—रामपुकार द्विवेदी धर्मसंघ, छपरा, कटरा।

श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज का काशी से प्रस्थान

पौष कृ० ५ सोम।

आज मध्याह्नोत्तर करीब ३ बजे गङ्गातरङ्ग, नगवा से पूज्यपाद श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज ने काशी से प्रस्थान किया। यात्रा के समय पूज्यपाद श्री १००८ स्वामी करपात्री जी महाराज के अतिरिक्त श्री पं० रामयश जी त्रिपाठी तथा धर्मसङ्घ महाविद्यालय काशी के कुछ अध्यापक एवं छात्रगण, काशी के अनेक गण्यमान्य सज्जनों के सहित उपस्थित थे। श्रीस्वामी जी विन्ध्यक्षेत्र, प्रयाग आदि होते हुए कानपुर जायेंगे। वहाँ सङ्घ के विशेषाधिवेशन में सम्मिलित होकर मेरठ पधारेँगे। आप की यात्रा के लिए कानपुर तक मोटर की व्यवस्था श्री सेठ गौरीशङ्करजी गोयनका ने की।

धर्मसङ्घ महाविद्यालय की स्थापना

ब्रह्मावर्त, पौष कृष्ण ५ सोम।

आज शुभ मुहूर्त में ब्रह्मावर्त (विठूर) में धर्मसङ्घ महाविद्यालय, दिल्ली के व्यवस्थापक श्री १०८ स्वामी नरोत्तमाश्रम जी महाराज की तत्त्वावधानता में धर्मसङ्घ महाविद्यालय की स्थापना हुई। विद्यालय-सम्बन्धी कार्यों में कानपुरनिवासी वा० किशोरचन्द्र जी, लाला रामस्वरूप जी भरतियाँ, लाला मोतीलाल जी, पं० रामाङ्कुर जी अवस्थी आदि सज्जनों का प्रयत्न प्रशंसनीय है। स्थापना के समय श्री पं० विश्वनाथ शास्त्री ब्रविड़ काशी भी उपस्थित थे। श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज के पधारने की यहाँ बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही है। आप के पधारने पर सङ्घ का विशेषाधिवेशन करने का आयोजन किया जा रहा है।

क्षमा-याचना

पिछली बार भूल से कुछ लोगों के पास अङ्क ३६ के स्थान पर अङ्क ३५ चला गया है, जिस के लिए हमें खेद है और हम क्षमाप्रार्थी हैं। जिन सज्जनों के पास अङ्क ३५ दुबारा चला गया है, वे कृपया उसे वापस कर दें, उस के स्थान पर अङ्क ३६ उनके पास भेज दिया जायगा।

सञ्चालक।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

आवश्यक निवेदन

आजकल किसी बड़ी संस्था का काम बिना एक प्रचारपत्र के नहीं चल सकता। इसी दृष्टि से ‘धर्मसङ्घ’ ने ‘साप्ताहिक सन्मार्ग’ निकाला था, परन्तु वह सरकारी ‘कागज-नियन्त्रण आज्ञा’ का शिकार बन गया। उस के अनुसार सभी पत्र जो सन् १९४२ के बाद निकले, बन्द कर दिये गये। इधर सङ्घ का कार्यक्षेत्र बराबर बढ़ता गया और एक दैनिक निकालने की आवश्यकता प्रतीत होने लगा। दिल्ली के गत महाधिवेशन में यह निश्चित किया गया और इसके लिए प्रयत्न होने लगा। तब से भारतसरकार के साथ बराबर लिखा-पढ़ी चल रही है, पर अबतक अनुमति नहीं मिल सकी। काशी के महाधिवेशन के अवसर पर उसे केवल एक मास के लिए दैनिक बनाने की अनुमति दी गयी और उस में भी यह शर्त लगायी गयी कि केवल महाधिवेशन तथा महायज्ञसम्बन्धी ही समाचार निकले, पृष्ठ चार से अधिक न हों और दाम एक ही आना हो। परन्तु इतने दिन के ‘दैनिक सन्मार्ग’ के प्रकाशन ने ही दिखला दिया कि ऐसे पत्र की कितनी आवश्यकता है। एक हजार प्रतियां हाथोहाथ बिक जानी थीं। कितने ही लोगों ने इस आशा से कि पत्र स्थायी हो जायगा, पहले ही से साल भर का चन्दा भेज दिया, अब भी बराबर पत्र की मांग आ रही है और ग्राहक बनने के लिए कितने ही लोग उत्सुक हैं। परन्तु अभी उस के स्थायी रूप से निकलने में कुछ विलम्ब जान पड़ता है। हमें पूरी आशा है कि एक ही दो महीने में सब ठीक हो जायगा। तबतक के लिए यह निश्चित किया गया है कि ‘सिद्धान्त’ के ही दो पृष्ठ धर्मसङ्घ-समाचारों के लिए दे दिये जायें। महाधिवेशन के अवसर पर एक स्तम्भ ‘शुभ समाचारों’ के लिए देना ही पड़ता था, पर अब सङ्घ को दो पृष्ठ की आवश्यकता है, इसलिए ऐसा करना पड़ रहा है। कुछ दिन हुए हम ने यह सूचना निकाली थी कि हमें ‘अखबारी कागज’ का ‘कोटा’ मिल गया है और शीघ्र ही ‘सिद्धान्त’ ८ पृष्ठ में फिर निकलने लगेगा, पर उस में एक भ्रम हुआ। पहले जितनी ग्राहक-संख्या थी, उसी के अनुसार प्रतियां छापने के लिए ‘कोटा’ मिला था, परन्तु इधर वह संख्या अधिक बढ़ जाने के कारण प्रतियां भी अधिक छापनी पड़ रही हैं। ‘कोटे’ के कागज में उतनी प्रतियां ८ पृष्ठों के साथ नहीं छप सकतीं। इस सम्बन्ध में भी सरकार से बराबर लिखा-पढ़ी चल रही है। आठ पृष्ठ हो जाने पर हम लेख तथा समाचार दोनों अच्छी तरह दे सकेंगे। परन्तु यह सब अपने हाथ की बात नहीं है, इस में कुछ समय लगेगा, तबतक हमें जो कुछ मिल रहा है, उसी से सन्तोष करना पड़ेगा।

‘सिद्धान्त’ आरम्भ से ही ‘विचार-पत्र’ रहा। आवश्यकता भी है आजकल के विचारों में ही परिवर्तन करने की, जो प्राचीन आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल जा रहे हैं। साधारण लोग तो जो विद्वानों को कहते सुनते, या करते देखते हैं, वही कहने, करने लगते हैं। परन्तु आज तथाकथित शिक्षित समाज ऐम मार्ग पर जा रहा है, जिस से कल्याण नहीं है। साथ ही अधिकांश जनता आस्तिक, भ्रष्टालु तथा धर्मनिष्ठ है, पर वह सुप्त है, उसे जगाने की आवश्यकता है। उस पर अधिकतर-प्रभाव बाहरी बातों का ही पड़ता है। कहाँ क्या हो रहा है, इसे जानकर उस में उत्साह होता है। प्रचार के प्राचीन साधन दूसरे ही प्रकार के थे। मन्दिरों में, जो सदा से हमारी संस्कृति के केन्द्र रहे हैं, बराबर कथावार्ता चलती रहती थी, साधु-सन्त, महात्मा घूम घूम कर लोगों को जागृत करते रहते थे। घरों का वातावरण ऐसा रहता था कि बचपन से ही धार्मिक संस्कार बँध जाते थे। विभिन्न स्थानों के शिष्ट जनों के सदाचार का प्रभाव सदा पड़ता रहता था। पर अब सब बातें बदल गयीं। प्रचार के साधन समाचार-पत्र बन गये। एक बार किसी ने प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्सनाडू से पूछा कि “कौन सी ऐसी वस्तु है, जिस के न रहने से वर्तमान संस्कृति नष्ट हो जाय”, तो उन्होंने ने उत्तर दिया—‘समाचार-पत्र’। बात भी ठीक है, चाहे

कोई कितनी ही बड़ी घटना क्यों न घट जाय, यदि उस का समाचार प्रकाशित नहीं होता, तो किसी को कुछ पता ही नहीं लगता। यद्यपि हम धर्मप्रचार के लिए समाचारपत्रों को एक दूषित ही साधन समझते हैं, परन्तु वर्तमान परिस्थिति में उन की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस तरह आजकल ‘विचार’ तथा ‘समाचार’ दोनों ही प्रचार के पत्रों की आवश्यकता है। कुटुम्ब बढ़ जाने और मकान या स्थान कम होने पर कुछ तोड़ा-फोड़ा करनी ही पड़ती है और सभी रहनेवालों को कष्ट भी होता है। यहाँ दशा हमारी भी हो रही है, थोड़े दिन की बात समझकर हमें जैसे-तैसे निर्वाह करना चाहिए। भगवान् को कृपा हुई तो शीघ्र ही ‘दैनिक पत्र’ द्वारा समाचार और ‘सिद्धान्त’ द्वारा विचार हम जनता के सामने रख सकेंगे।

राम-विवाह

(श्री स्वामी करपात्री जी)

१

“राम सीय शोभा अवधि, सुकृत अवधि दोउ राज। जहँ तहँ पुरजन कइहि अस, मिलि नर नारि समाज।” जनकपुर के नर-नारी लोग शोभायाम सीता-राम और सुकृतमीम जनक एवं दशरथ को देखकर कहने लगे कि “जनक के पुण्य की मूर्ति जानकी एवं दशरथ के पुण्य की मूर्ति राम हैं। इन दोनों नरन्द्रों के समान किसी ने भी सदाशिव का आराधना नहीं की, इन के समान किसी ने भी फलसाधन नहीं किया, इन के समान संसार में न कोई हुआ, न है, न होगा। हम सब लोगों ने भी बड़े पुण्य किये हैं, जो संसार में जन्म लेकर जनकपुर के वासी हुए, हमलोगों ने श्रीजानकी और श्रीरामजी की शोभा देखी, हमारे समान कौन पुण्यात्मा है?” कोकिला के से मीठे वचनवाली, सुदृष्टि, सुमुखोजन कइने लगी—“सखि ! इस विवाह में बड़ा लाभ है, विधाता ने बड़े भाग्य से यह बात बनायी है, ये दोनों भाई हमारे नयनों के अतिथि हुए हैं। इन को देखकर हमलोग अपने नेत्रों को सुफल करेंगी। विवाह के पश्चात् भी, जब स्नेहवश राजा जनक बार बार जानकी को बुलायेंगे, तब कोटिकन्दर्पकमनोय दोनों भाई सीता जी को विदा कराने के लिए आयेंगे और यहाँ उन की अनेक मूर्ति पढ़नायी होगी, ऐसी समुगल किन को नहीं रुचती ? सब पुरवासी राम-लक्ष्मण को देख देख प्रसन्न होंगे। सखि ! जैसे राम-लक्ष्मण का सुन्दर जोड़ा है, वैसे ही राजा के साथ दो कुमार और हैं। सौंले और गोंरे तथा सब अङ्गों के सुहावने हैं, वे लोग कहते हैं, जो देख आये हैं।” एक ने वहाँ कहा—“मैं आज ही देखकर आयो हूँ, वे ऐसे सुन्दर हैं, मानो ब्रह्मा ने अपने हाथ से ही बनाया हो। भरत, राम तो ऐसे मिलते-जुलते हैं कि कोई नर-नारी उन के भेद को एकाएक पहचान ही नहीं सकते। इसीतरह लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी एक ही रूप के हैं। उन के नख-शिख सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग अनुपम हैं। ये ऐसे मनभावने हैं कि उन का मुख से वर्णन नहीं हो सकता। उन का उपमा का तीनों भुवन में कोई मिलता ही नहीं। ये बल, विनय, विद्या, शील एवं शोभा के सिन्धु हैं, इन के समान ये ही हैं।” जनकपुर की स्त्रियाँ अञ्चल फेलाकर विधाता को यह वचन सुनाती थीं कि “इसी पुर में चारों भाई ब्याहे जाय और हम सब मङ्गल गावें।” नेत्रों में आनन्द के आँसू भर पुलकित होकर वे स्त्रियाँ परस्पर कहती थीं कि “सखि ! भगवान् पुरारि सब पूरा करेंगे, क्योंकि दोनों राजा पुत्र के पयोधि हैं।” इस तरह सब अनेक मनोरथ करती और उमङ्ग उमङ्ग कर आनन्द से हृदय भरती थीं।

इस तरह आनन्द में कुछ दिन बीत गये। सब पुरजन और बराती प्रसुदित हो रहे थे। हेमन्त-ऋतु का सुहावना अगहन महौना आया, जिस में

मङ्गल-मूल राम के विवाहलग्न का दिन आया। ब्रह्मा ने तिथि, ग्रह, नक्षत्र, योग, वार, लग्न, जो उत्तम था, शोधकर नारदजी के द्वारा भेज दिया। परन्तु वही सब बातें जरूरी के गणकों ने भी निश्चित की थीं। लोगों ने यह बात सुनकर कहा—“ज्योतिषी साक्षात् ब्रह्मा होते हैं।” मङ्गलमूल निमल गोधूलि वेला को उचित समय जानकर ब्राह्मणों ने वही राजा को बताया। राजा की अनुमति से शतानन्दजी ने सचिवों को आज्ञा दी, मङ्गलकलश सजकर आये, शङ्ख, ढोल आदि बहुत से बाजे बजने लगे। सगुन के लिए कलश सजने लगे, सोभाग्यवती मुहागिनी गीत गाने लगी, विप्रलोग पुनीत वेदध्वनि काने लगे। इस तरह सब लोग बरात को लाने के लिए जनबासा में गये। वहाँ जाकर लोगों ने महाराज दशरथ का वैभव देखा तो इन्द्र की भी वैभव साधारण प्रतीत होने लगा। सब लोगों ने महाराज से पधारने की प्रार्थना की। महाराज गुह्वर की आज्ञा लेकर कुल-विधि के अनुसार विधि पूर्ण करके मुनियों के साथ समाज साजकर चले।

जिस समय श्रीचक्रवर्ती नरेन्द्र दशरथजी श्रीजनकजी की प्रार्थना से राम आदि पुत्रों को लेकर विवाहार्थ चले, उस समय उन के भाग्य और वैभव का अवलोकन कर ब्रह्मादि देवता और शेष प्रभृति भी प्रशंसा करने लगे। माङ्गलक अवसर जानकर देवगण पुष्पवर्षा करते थे और दुन्दुभि बजाते थे। शिव, ब्रह्मादि सकल देवगण अपने अपने यूथ के साथ विमानों पर बैठकर साथ साथ चलते थे। उन लोगों के अङ्गों में प्रेम-पुलकावली प्रकट हो रही थी, राम-विवाह देखने को लालसा सब के हृदय में थी। जनकपुर देखकर सब देवता प्रसन्न हो रहे थे। उस के सामने सब को अपना लोक निम्न श्रेणी का ही जँचता था। चकित होकर सब लोग विभिन्न विज्ञानों और अलौकिक रचनाओं को देखते थे। नगर के स्त्री-पुरुष सब रूप को खान, सुगर, धर्मात्मा, सुन्दर, सुशाल तथा सुज्ञान थे, उन का देखकर दवाङ्गना और देवता ऐसे हो गये, जैसे चन्द्रमा के सामने नक्षत्रों की स्थिति हाँता है। ब्रह्मा की भी बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने ने वहाँ अपनी कृति कुछ भी नहीं देखी। भगवान् शङ्कर ने सब को समझाया कि आप लोग आश्चर्य में न पड़ो, धैर्य के साथ श्रीसीता-राम का विवाह देखो। जिन के नाम-स्मरण मात्र से सब के अमङ्गल जड़-मूल सहित नष्ट हो जाते हैं, चतुर्वर्ग अनायास ही हस्तगत हो जाते हैं, ये वही परमतत्त्व हैं। इस तरह देवताओं का समझाकर भगवान् ने नन्दीश्वर को आगे बढ़ाया।

देवताओं ने देखा कि महाराज दशरथ वही प्रसन्नता के साथ प्रफुल्लित हो जा रहे हैं, साथ में साधुओं एवं ब्राह्मणों की मण्डली थी। राम, लक्ष्मण दोनों मरकत और कनक के समान श्यामल और गोरे थे, उन की अद्भुत जोड़ी देखकर देवगण बड़े ही प्रसन्न हुए। रामचन्द्र को देखकर प्रसन्न हो देवता दशरथ की प्रशंसा कर फूल बरसाने लगे। उमासहित भगवान् शङ्कर रामचन्द्र के सुभग स्वरूप को देखकर पुलकित हो उठे और उन के नेत्रों में आनन्दाश्रु आ गये। शरच्चन्द्र के समान सुन्दर मुख, कमल सदृश नेत्र एवं अलौकिक सुन्दरता हठात् मन को आकर्षित करती थी। श्रीराम के मयूर-कण्ठ के समान श्यामल अङ्ग, तडित्-विनिन्दक, सुन्दर-सुन्दर वसन, विशाह के मङ्गलमय भूषण बड़े सुहावने लगते थे। मनाहर वन्दुओं के साथ चपल तुरङ्गों को नचाते हुए रामचन्द्र जा रहे थे। वन्दोजन विदावली का वखान कर रहे थे। जिस तुरङ्ग पर रामचन्द्रजी विराज रहे थे, उस की गति देखकर गरुड़ भी लज्जते थे। वह सदा भाँति इतना सुन्दर था कि मालूम पड़ता था कामदेव ने ही अश्वरूप बना लिया है, अपने सुन्दर वय, बल, रूप, गुण और गति से वह समस्त भुवन को मोहित करता था, उस पर मुक्तामण्यादि रत्नों से जटित सुन्दर जौन आस्तीर्ण थे, मनोहर लगामे लगे थीं। श्रीरामचन्द्र जी का अङ्ग उन की इच्छा के अनुसार ही चलता हुआ ऐसा शांति होता था, मानो अभूषणरूपी तारों और पीताम्बररूपी विद्युत् से युक्त रामरूपी मेघ को देखकर मयूर नाच रहा हो। जिस अश्व पर रामचन्द्र विराजमान थे, शारदा भी उस का वर्णन नहीं कर सकती थीं। रामचन्द्र के सुन्दर रूप को देखते हुए भगवान् शङ्कर को परमानन्द हुआ। उस समय उन को अपने पन्द्रह नेत्र बड़े ही प्रिय लगे। लक्ष्मीपति विष्णु स्नेहसहित राम को देखकर, लक्ष्मीसहित मोहित हो उठे। ब्रह्माजी श्रीराम की शोभा देख बड़े प्रसन्न हुए, परन्तु आठ ही नेत्र जानकर पकड़ते लगे। कर्त्ति-

क्रेय बारह नेत्र से श्रीराम की बड़े उत्साह में देख रहे थे। इन्द्र सहस्र नेत्र से सप्रेम राम को देखते हुए गौतम शाप को अपना परम हित मानने लगे। सब देवता भी इस सम्बन्ध में इन्द्र की बड़ाई कर रहे थे।

‘हिन्दू-कोड’ पर पण्डित-समिति का शास्त्रीय विचार

(मान्त्री—श्रीविनायक विष्णु देशपाण्डे एम्. ए.)

२

प्र० ५—“स्त्रीधन पद का क्या अर्थ है?” इस विषय में मिताक्षराकार के मतानुसार “स्त्रिया धनं स्त्रीधनं” इस रीति से विग्रह करके स्त्रीसम्बन्धि धनमात्र का नाम ‘स्त्रीधन’ है। ‘विश्वरूपादि’ इतर निबन्धकारों के मतानुसार ‘स्त्रीधन’ शब्द पारिभाषिक है, मन्वादिकों से परिगणित धन की ही स्त्रीधन संज्ञा है, लेकिन मिताक्षराकार के मत में भी स्त्रीधन की तोर पर होनेवाले विभाग और उत्तराधिकार आदि कार्यों के लिए विश्वरूपादि निबन्धकारों की भाँति मन्वादपरिगणित स्त्रीधन ही विषय है। शिष्य क्रय आदि अन्य प्रकारों से स्त्री के द्वारा अर्जित धन यद्यपि मिताक्षराकार के मत से स्त्रीधन कहा जायगा, तथापि उन पर पारिभाषिक स्त्रीधन की तरह विभाग, उत्तराधिकारादि कार्य नहीं हो सकने। इस प्रकार का सिद्धान्त वीरभिन्नोदय, मयूख और सदाचार आदि के संवाद से निर्णत होता है। इसीलिए “विमजेरन् सुताः पित्रोरुर्ध्वं रिक्थमृणं समम्” का व्याख्या करके “मातुर्दुहितरः शेषमृणात्” की व्याख्या के आरम्भ में मिताक्षराकार ने कहा है कि “मातापितृमन्त्रेण धनयोर्विभागो पुत्राणां कर्तव्यमभिधाय मातुर्दुहितर इत्यादिना तदपवाद उच्यते।” जिस शास्त्र में व्यापक धर्म से नियमित उद्देश्यता हो, वह शास्त्र ‘उत्सर्ग’ और जिस में व्यापक धर्म से नियमित उद्देश्यता हो, वह ‘अपवाद’ शास्त्र है। इसलिए प्रकृत में “विमजेरन्” इत्यादि उपक्रम उत्सर्गशास्त्र में उद्देश्यता की नियामक कोटि में प्रविष्ट मातृधनत्व को अपवादशास्त्र की उद्देश्यता की अवच्छेदक कोटि में प्रविष्ट मातृधनत्व की अपेक्षया अधिकदेशवृत्ति कहना आवश्यक होगा। एवंच हर प्रकार के स्त्रीसम्बन्धि धनत्व जो समास से अवयवार्थ निकलता है, उस का पूर्व-शास्त्र की उद्देश्यता में नियामकतया प्रवेश मानना प्रकट करने के लिए मिताक्षराकार ने स्त्रीधन शब्द की पारिभाषिकता न्यायविरुद्ध बतलायी है।

एवंच जिस प्रकार “तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्दृष्टाः। रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि” इस वाक्य में दूसरे कमल शब्द का अर्थ प्रयाजनवश विशिष्ट कमल किया जाता है, उसी प्रकार “विमजेरन्” इत्यादि श्लोक में प्रथम ‘मातुः’ पद का अर्थ माता का स्वत्वसामान्य अर्थ होने पर भा द्वितीय ‘मातुः’ पद का अर्थ लक्षणा से मातृ-सम्बन्धि स्त्रीधनविभागकार्यकारि धन अथवा “एकशतं षष्ठ्यर्थाः” वाली महाभाष्यपङ्क्ति के प्रामाण्य से शक्ति से ही किया जायगा। यही प्रकार मिताक्षराकार को अभिप्रेत है। परिणाम में यही सिद्ध होता है कि “प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्द्रव्यं प्रीतिरैव यदन्यतः। भर्तुः स्वात्म्यं तदा तत्रापि तु स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ तत्र सोपधि यदत्तं यच्च योगवशेन वा। पित्रा आत्राय वा पत्या न तस्त्रीधनमुच्यते। न दत्तं स्त्रीधनं यासौ” इत्यादि वचनों में लक्षणा अथवा शक्ति से द्वितीयार्थ ही विवक्षित है, अन्यथा प्रथम श्लोक में “द्वैतं तु” से सूचित होनेवाली परिसंख्या (इतरो का स्त्रीधनत्व निषेध) एवं द्वितीय श्लोक में “न तस्त्रीधनमुच्यते” से निषेध अनुपपन्न हो जायगा। इसी प्रकार तृतीय उदाहरण में ‘स्त्री’ पद का वैयर्थ्य हो जायगा। अतः मिताक्षराकार के मत से भी विभाग, उत्तराधिकारादि कार्यों के विषय में स्त्रीधन पद से विश्वरूपादिमन्मत मन्वादपरिगणित ही अर्थ विवक्षित है। इसीलिए ‘मिताक्षरा’ एवं ‘वीरभिन्नोदय’ में “पितृमातृ” इत्यादि श्लोक की अवतरणिका इस प्रकार है—“विमजेरन् सुताः पित्रारित्यत्र स्त्रीधनविभागं संक्षेपेणभिधाय पुरुषधनविभागो विस्तरेणाभिहितः। इदानीं स्त्रीधनविभागं विस्तरेणाभिधायैतत्स्वरूपं तावदाह” (मिताक्षरा)। अर्थात् संक्षेप से स्त्री और पुरुषों के धन का विभाग “विमजेरन्” इत्यादि श्लोक में जो उक्त है, ओही उसी का विस्तार है। “एवं विस्तरेण पुरुषधनविभागमभिधाय मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताम्य कर्तव्यमभिधायः इति प्रागुक्तमातृधनं निरूपयितुं वक्तव्यं

“वीरमित्रोदय” (वीरमित्रोदय) अर्थात् पुरुषधनविभाग विस्तार से कहकर अब “पतिवृत्ति” से उक्त स्त्री-धनविभाग कहने के लिए स्त्रीधन का निरूपण करते हैं।

प्र० ६—“पतितों को दाय का स्वामित्व हो सकता है या नहीं?”
उत्तर है कि पतित स्त्री का दायस्वामित्व न होने का निरूपण निम्नप्रमाणों में स्पष्ट है—“पत्नी दुर्गतरश्चैव” इत्यादि में पत्नीपदार्थ यज्ञसंयोग हो सकने का है। “भार्या अश्वभिचारिणी यावत् यावच्च नियमे स्थिता। तावत्स्वया अनेदुद्रव्यमन्यथास्या विलुप्यते ॥” (लघुहारीत) अर्थात् भार्या जबतक अश्वभिचारिणी एवं नियमवर्तिनी हो, तभीतक द्रव्यभागिनो हो सकती है। “अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चायनाशिका। न्यभिचाररता या च स्त्रीधनं न तु ग्राहति ॥” इस श्लोक में वीरमित्रोदय की व्याख्या यह है कि—“नाहंतीत्यनेन तथा लज्जामपि आच्छिद्य ग्राह्यमिति सूचितम्”। अर्थात् उसे प्राप्त हुए धन को भी वापस ले लेना चाहिए। पतित पुरुषादि इतरो के विषय में भी विभाग के पूर्व पतित होने पर दायधिकार न रहना निम्न प्रमाण में उक्त है—“अनंशौ क्लोत्रपतितौ जात्यन्धबन्धौ तथा”। इस प्रकार कितने ही वचन हैं। विभाग के पश्चात् पतित होने पर भी पतित के स्वत्व का नाश होना ही सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त दायभाग एवं उस की टीका आदि में स्पष्ट है। यह सिद्धान्त युक्तियुक्त भी है, क्योंकि सिद्धान्त में यथेष्ट विनियोग करने की योग्यता स्वत्व का लक्षण है। विनियोगपद का अर्थ है “अनेनेदु तु कर्तव्यं विनियोग उदाहृतः ॥” अर्थात् फल के उद्देश्य से प्रवृत्त शास्त्रविहित कृति के प्रति कारकत्व ही विनियोग है। यह स्मृतिवचनसिद्ध अर्थ है। “दध्ना जुहोति, तप्ते पयसि दध्यानयति” इत्यादि वाक्यों से बोधित होनेवाले विनियोगों में यथेष्ट विहित कृति के प्रति कारकत्व की योग्यता स्वत्वाश्रय दधि ही में आ सकती है। परन्तुत्वाश्रय अथवा देवता के लिए सङ्कल्पित में हो नहीं सकती। एवं जबतक वस्तु में तादृश कारकत्वयोग्यता रहेगी, तभीतक वस्तु में स्वत्व हांगा। ऐसी दशा में जिस प्रकार चौर्यप्राप्त वस्तु में उक्त योग्यता के अभाव के कारण स्वत्व का अभाव है, उसी प्रकार पतित हो जाने पर भी द्रव्य पर पतित के द्वारा विनियोग की योग्यता न रह सकने से स्वत्व रह नहीं सकता, किन्तु वह नष्ट हो जायगा। विनियोग पद का अर्थ प्रवृत्ति भी है, लेकिन उस अर्थ का उपयोग प्रकृत में नहीं हो सकता, क्योंकि चांर्यानीत धन में भी फलार्थ प्रवृत्ति हो सकती है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। इसीलिए स्वत्व का पूर्वोक्त शास्त्रीय विनियोगपदार्थ से घटित लक्षण स्वीकार कर विश्वरूपनिबन्ध में पतित के स्वत्व का नाश कहा गया है। वहाँ की पङ्क्तियाँ इस प्रकार हैं—“पिता-महादिद्रव्यतन्त्रन्धस्तु अपतितानामन्धादीनामस्येवेति तु सप्रदायः। सामर्थ्येन तु भरणमात्रातिरिक्तद्रव्यविनियोगाशक्तेः औचित्यानुवादेऽयमित्यवसेयम्। तथा च स्वायम्भुवम्, येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः। त्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते” इति। अनेन प्राप्तस्यांशस्य विनियोगाशक्तौ औचित्यप्राप्तमपहारं दर्शयति। अतएव च “तस्य भागो न लुप्यते” इति। एवं च स्वयमेवैते निरंशकाः” इति। अर्थात् पितामहादिकों के द्रव्य का सम्बन्ध अपतित अन्धादिकों में विद्यमान ही है, लेकिन उन लोगों का सामर्थ्य ही भरणमात्रातिरिक्त द्रव्य के विनियोग के लिए न रहने से औचित्य से प्राप्त होनेवाले अनंशत्व का यह अनुवादमात्र है। “येषां ज्येष्ठ” वाले श्लोक में “तस्य भागो न लुप्यते” कहकर सूचित है कि विनियोग की अशक्ति होने से प्राप्त अंश का भी अपहार औचित्य से प्राप्त है। एवं च ये लोग स्वयं ही निरंशक हो जाते हैं। उपर्युक्त विश्वरूप ग्रन्थ में पतितों की विनियोगशक्ति के न रहने से उन के प्राप्त अंश में भी सामर्थ्य ही से स्वत्व का अभाव स्पष्ट सिद्ध होता है। इस प्रकार पूर्वोक्तार्थ सब स्थिर हो जाते हैं। हर हालत में यह अनुमान अवश्यमेव होता है कि अतिप्राचीन विश्वरूप निबन्धकार से लेकर श्रीकृष्णतर्कालङ्कार की टीकापर्यन्त पतित का स्वत्व निवृत्त होना अनादि सदाचारसिद्ध है। वीरमित्रोदयकार की एक पङ्क्ति है कि “वयं तु स्वातन्त्र्याहं पितरि जीवति तदिच्छेव विभाग-निमित्तं, पातित्यपारिग्रज्यादिभिस्तदनेह पुत्रेच्छापीति” इस में वीरमित्रोदयकार की एक निराली शैली है, जिस से पतित-विनियोगाशक्ति को विश्वरूपोक्त प्रकार की अपेक्षा भिन्नरीत्या समर्थित है। कथमपि पिता के पातित्य से स्वातन्त्र्य का नाश माना है।

अब एक प्रश्न विचारणीय यह है कि इस प्रकार पातित्योत्तर स्वत्व-

नाश मिताक्षरा-सम्मत होता, तों मिताक्षरा की पङ्क्ति इस प्रकार क्यों रहती? जैसा कि “एतेषां विभागात्प्रागेवानंशत्वमुपपन्नं, न पुनर्विभक्तत्वं” लेकिन यह पङ्क्ति विरोधी नहीं है। इस में दाय अर्थ में अंश शब्द प्रयुक्त है। दाय की व्याख्या इस प्रकार है “विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मनीषिणः ॥” (निघण्टु) अर्थात् विभाग के प्राक्काल में ही दायसंज्ञा रहेगी। प्रतिषेध प्राप्तिपूर्वक होता है, इसलिए वह द्रव्य जबतक दायस्वरूप में रहेगा, तभी तक दायनिषेध निरंशकथन से हो सकेगा। इतने से विभाग के अनन्तर निरंश शब्द का प्रयोग हो नहीं सकता, किन्तु विनियोगाशक्ति से प्राप्त होनेवाला है निषेध। यही ‘मिताक्षरा’ का तात्पर्य है। इसीलिए मूल में अतुक्त ‘प्रागेव’ शब्द को भी प्रतिषेध के प्राप्तपूर्वकत्व स्वभाव के कारण जोड़ दिया है। विभक्तावस्था में वह द्रव्य अंश नहीं कहलता, इसलिए विभक्त को अंश का प्रतिषेध अनुपपन्न कहा गया है।

विश्वरूपोक्तार्थ का आशय यह है कि “भर्तव्याः स्युः” कहकर भरणमात्र ही विधेय है। निरंशकत्व का भी विधान की अपेक्षा भरणमात्र का मानने में लाघव है। परिणाम में जिस प्रकार “हृदे बन्धिर्नास्ति” इस लौकिक वाक्य में, हृद में बन्धि की सत्त्वरूप प्रतियोगि की प्रसक्ति के बिना ही प्रतिषेध मीमांसकों ने माना है और प्रधान भावना में नकार के उत्सर्गसिद्ध अन्वय को छोड़ दिया है, उसी प्रकार औचित्यवश लोकप्राप्त निरंशत्व का अनुवाद-मात्र माना जायगा, विनियोगाशक्ति के कारण अंश की प्रसक्ति नहीं रहेगी।

‘धर्मसङ्घ शिक्षामण्डल’ की परीक्षाएँ

मानवजीवन के अभ्युदय का मूल शिक्षा है। शिक्षा के अनुसार ही भावना और तदनुकूल ही कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। शिक्षा को अधीन करके किसी भी देश के मानसिक क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। भारत की वर्तमान दुरवस्था का मुख्य कारण प्रचलित शिक्षा-प्रणाली ही है। वर्तमान शिक्षाशैली से कोई भी विचारशील व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं है। हमारे दूरदर्शी पूर्वजों ने इसीलिए शिक्षा को राजसम्बन्ध से अलग रखा था। आज शिक्षा के साथ परीक्षाशैली के भी दूषित हो जाने से प्रौढ़, गम्भीर पाण्डित्य ध्येय न रहकर जैसे भी हो परीक्षा पास कर लेना ही लोगों का लक्ष्य बनता जा रहा है। धर्मसङ्घ ने इन्हीं सब बातों का विचार करके ३ वर्ष हुए ए.ए. ‘शिक्षामण्डल’ को स्थापना की है। मण्डल ने विविध विद्वानों की सहायता से एक पाठ्यक्रम तैयार किया है, जिस के अनुसार काशी, दिल्ली आदि अनेक स्थानों के धर्मसङ्घ विद्यालयों में पढ़ाई चल रही है।

जब कि संस्कृत शिक्षा का विस्तार करने और संस्कृत परीक्षा के लिए अनेक संस्थाएँ भारतवर्ष में विद्यमान हैं, तब ‘धर्मसङ्घ शिक्षामण्डल’ के स्थापित करने की क्या आवश्यकता थी, यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है। परन्तु बात यह है कि “विद्या धर्मेण शोभते” यह बहुत प्राचन सिद्धान्त है, किसी समय यह नियम चरितार्थ होता था और उस के फलस्वरूप उत्कट विद्वान्, तेजस्वी, ब्रह्मचारी, धुरन्धर पण्डित तयार होते थे। अब कई सौ वर्षों से यह नियम केवल शब्दों में रह गया है। छात्र लोग परीक्षा उत्तीर्ण होने के लिए ग्रन्थ पढ़ते हैं और अध्यापकों की योग्यता का परिमाण उन के छात्रों की बहुसंख्यक उत्तीर्णता से लिया जाता है। ‘धर्मसङ्घ शिक्षामण्डल’ का यह उद्देश्य है कि प्राचीन समय के समान फिर से वैसे ही पण्डित और वैसे ही ब्रह्मचारी तैयार हों। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि ‘शिक्षामण्डल’ के परीक्षार्थी ग्रन्थों को आनुपूर्वी से पढ़ें और उन को मौखिक, शल्लभा और लिखित परीक्षा प्रतिपक्ष ली जाय करे। वार्षिक परीक्षा में भी यही क्रम रहेगा। ‘मण्डल’ के अध्यापक अपने आप को ‘मण्डल’ के नौकर नहीं बल्कि धर्म से बाधित अध्यापक समझेंगे। इसलिए उन को तनख्वाह या मासिक वेतन नहीं दिया जायगा, बल्कि दक्षिणा दी जायगी। उन को विशेष कौटुम्बिक आवश्यकता के समय उन को विशेष रूप से सहायता की व्यवस्था की जायगी। ये अध्यापक सदा अपने छात्रों के साथ रहेंगे। छात्र २४ घण्टे नियमित कार्य में संलग्न रखे जायेंगे। छात्रावास में ब्राह्मसूत्र में जागना, शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर स्नान करना, सन्ध्योपासन करना, व्यायाम करना, महाविद्यालय में आकर पुरुषसूक्त पाठ से अपना अध्ययन आरम्भ करना, निश्चित समय पर अध्ययन समाप्त करना, मध्याह्न

सन्ध्या करना, भोजन करना, तदुपरान्त पुनः स्वविषयों का अध्ययन करना, सायंकाल सन्ध्योपासन करके भोजन करना और थोड़ा अध्ययन करके रात्रि में नव-दश बजे के बीच में शयन करना। समय समय पर इन को ब्रह्मचर्य आदि की महिमा पर उपदेश दिये जायेंगे, इन के शरीर और अन्तःकरण को पवित्र रखने के लिए पवित्र वातावरण रखा जायगा। बाहर का कोई व्यक्ति रात्रि को छात्रावास में नहीं रहने पायेगा और न कोई छात्र बाहर जाने पायेगा। एक विशेषता इस 'शिक्षामण्डल' की यह भी होगी कि किसी भी शास्त्र का छात्र क्यों न हो उस के लिए अपनी शाखा के अनुसार वेद का अध्ययन करना अनिवार्य होगा। उस को कर्मकाण्ड, तन्निमित्तक ज्योतिष और धर्मशास्त्र का अध्ययन आवश्यक होगा। इस के अतिरिक्त निम्नलिखित विषयों की शिक्षा दी जायगी—चारों वेद, वेदाङ्ग, शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, कल्प, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, स्मृति, पुराण, इतिहास, कला, नीति, दर्शन अर्थात् सांख्ययोग, मीमांसा, वेदान्त, न्याय और वैशेषिक, साहित्य, आयुर्वेद, और आवश्यकतानुसार आधुनिक विषय जैसे—हिन्दी, अंगरेजी, भूगोल, इतिहास आदि।

मण्डल की परीक्षाएँ आगामी वैशाख कृष्ण २ रविवार वि० सं० २००२ (ता० २९ अप्रैल सन् १९४५) से 'धर्मसङ्घ महाविद्यालय, मीरघाट, काशी' तथा 'धर्मसङ्घ महाविद्यालय, निगमबोधघाट, दिल्ली' में प्रातः ९ बजे से होगी। 'धर्मसङ्घ शिक्षामण्डल, मीरघाट, बनारस' से आवेदनपत्र मँगवाकर माघ के अन्त तक परीक्षार्थियों को चाहिए कि उसे भरकर चैत्र कृष्ण २ तक वापस भेज दें। मण्डल से असम्बद्ध विद्यालयों के छात्र पौष शुक्ल १५ तक मण्डलमन्त्री के पास आवेदन भेजकर माघकृष्ण ५ को उक्त दोनों में से किसी एक महाविद्यालय अथवा 'साङ्गवेदमहाविद्यालय, नरवर (बुलन्दशहर)' में होनेवाली योग्यतापरीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही मण्डल की परीक्षा में सम्मिलित हो सकेंगे। परीक्षाएँ लेखबद्ध एवं मौखिक, दोनों प्रकार से होगी। मौखिक परीक्षा भी विद्वानों द्वारा प्रश्न पूछकर और शलाकाविधि—इन दोनों प्रकार से होगी, जिन से परीक्षार्थी की योग्यता की ठीक जाँच हो सके। परीक्षा-शुल्क 'प्रवेशिका' तथा 'रत्न' के लिए एक रुपया और 'शिरोमणि' तथा 'वाचस्पति' के लिए दो रुपये आवेदनपत्र के साथ भेजना चाहिए। निर्धारित पाठ्यक्रम दस आने के पोस्टेज स्टाम्प भेजकर 'मण्डल' से मँगवाया जा सकता है। आवश्यक जानकारी के लिए 'मन्त्री धर्मसङ्घ शिक्षामण्डल, मीरघाट, बनारस' से पत्रव्यवहार करना चाहिए।

काशीराम इस्सर एम्. ए.
मन्त्री, धर्मसङ्घ शिक्षामण्डल,
मीरघाट काशी।

धर्मसङ्घ समाचार

नवीन शाखाएँ

भलुअनी, पोस्ट-गरेर (गोरखपुर)—पौषकृष्ण ७ को स्थानीय सरोजमेडिकल हाल के मैदान में एक विराट् सार्वजनिक सभा बाबू सुमेश्वर-सिंह जी समीकरणेश की अध्यक्षता में हुई। ध्वजोत्तोलन के बाद सिंहासनासीन भगवान् की सवारों का जुलूस सभास्थान से पुष्कर शिवमन्दिर तक निकाला गया, जहाँ धर्मसङ्घशाखा की स्थापना की गयी। निम्नलिखित पदाधिकारी निर्वाचित हुए—श्री पं० भगवतीप्रसाद शर्मा 'सरोज' विशारद (अध्यक्ष), श्रीजलेश्वरप्रसाद गुप्त 'गीताध्यायी' (मन्त्री)। प्रत्येक पूर्णिमा को अधिवेशन करना निश्चित हुआ। चाईबासा, सिंहभूमि—मार्गशीर्ष शुक्ल १० शनिवार से ५ दिन तक श्री पं० बद्रीप्रसाद शर्मा पौराणिक, काव्यतीर्थ के आचार्यत्व में धर्मसङ्घके सङ्कल्पानुसार महारथ याग हुआ। साथ ही रामायण-सम्मेलन तथा अखण्ड हरिकीर्तन हुआ। ११ रविवार को सायंकाल गीताजयन्ती के उपलक्ष्य में तमाकूपट्टी में श्री पं० राखालचन्द्र चट्टोपाध्याय बी. ए., बी. एल्. के सभापतित्व में एक विराट् सार्वजनिक सभा हुई और धर्मसङ्घ-शाखासभा की स्थापना हुई। श्री पं० गौरीपद चट्टोपाध्याय एम्. ए., बी. एल्. जमीन्दार (सभापति), श्री पं० बद्रीप्रसाद शर्मा पौराणिक काव्यतीर्थ (मन्त्री), श्री पं० कन्हैयालाल शर्मा (उपाध्यक्ष) और श्री पं० केशरनाथ जी शुक्ल व्याकरण-साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ (उपमन्त्री)।

प्रकाशक - श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

ग्राम पहुँ, पोष्ट धीना (बनारस)—पौषकृष्ण ८ शुक्रवार को सायंकाल पहुँ ग्रामनिवासियों की एक सभा वहीं के आस्तिक रेईस बाबू श्री नारायण-राय के सभापतित्व में हुई। 'कोड' के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ और धर्मसङ्घ के सदस्य बनाये गये। शाखासभा की स्थापना हुई, (सभापति) श्री बाबू श्रीनारायण राय, (उपसभापति) पं० आदित चौबे तथा सत्यनारायण चौबे, (प्रधान मन्त्री) श्री ज्वालाप्रसाद राय, (सहायक मन्त्री) श्री राम आशाराय तथा श्री ठाकुरप्रसाद राय। आर्याभाषा बालक-बोधिनी, पाठशाला बेलौही पोस्ट हनुमना (रीवाँ)—पौष कृष्ण ५ को धर्मसङ्घ की शाखासभा स्थापित की गयी। पं० ललितप्रसाद जी प्रधान-अध्यापक पाठशाला सिगरी (अध्यक्ष), पं० रामसहोदर जी सहायक-अध्यापक पाठशाला सिगरी (मन्त्री), पं० भुवनेश्वर द्विवेदी (सहायक मन्त्री)। गाँव गौराना, पोस्ट बडौत, (जिला मेरठ)—मार्गशीर्ष शुक्ल ५ रविवार को पं० जयभगवान् जी आयुर्वेदाचार्य के औषधालय के प्राङ्गण में नागरिकों की एक महती सभा पं० रामचन्द्रजी की अध्यक्षता में होकर धर्मसङ्घ-शाखासभा की स्थापना की गयी। पं० संदस्य बने। पं० जय-भगवान् जी आयुर्वेदाचार्य (अध्यक्ष), पं० शिवदयाल शर्मा (मन्त्री)। फिरोजाबाद—पौष कृष्ण २ शुक्रवार को ब्रह्मचारी श्री मार्कण्डेयजी के प्रयत्न से धर्मसङ्घ शाखा स्थापित हुई। श्री पं० रघुवर दयालजी मिश्र संस्कृताध्यापक एस्. आर. के. इण्टर कालेज, फिरोजाबाद (प्रधान), श्री किशनलाल जी 'कुसुमाकर' अध्यापक दयानन्द विद्यालय (उपप्रधान), श्री पं० चन्द्र-शङ्करजी शास्त्री (मन्त्री), श्री गौतमजी (उपमन्त्री), श्री गिरिजाशङ्करजी सक्सेना (सहायक-मन्त्री), श्री पं० हरकृष्णजी (प्रचारमन्त्री)।

धार्मिक अनुष्ठान

तेजपिह खेरा, पो० अलीपुर, (उन्नाव)—पौष कृष्ण ५ श्रीसा-खण्डेश्वर महादेव के स्थान पर एक यज्ञ और श्रीहरिनाम-कीर्तन महोत्सव हुआ। कई हजार जनता ने सहयोग दिया। सभा में धर्मसङ्घ चतुर्व-महाधिवेशन का विवरण सुनाया गया। लोगों से प्रत्येक ग्राम में सङ्घ की शाखा स्थापित करने की प्रार्थना की गयी। —श्री प्रेमप्रकाशजी।

विशेष समाचार

श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रम जी की यात्रा—पौष कृष्ण ७ बुधवार को श्री स्वामी जी कानपुर पहुँचे। ९ शनिवार को सायंकाल 'हृदिशा नवजीवन पुस्तकालय' में एक सार्वजनिक सभा में आप का भाषण हुआ। ११ बजे रात को सभा समाप्त हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल आप कल्याणपुर गये। वहाँ से ११ बजे दिन को ब्रह्मावर्त पहुँचे, जहाँ सायंकाल को सभा हुई। रात वहीं पाठशाला में विश्राम कर ११ सोमवार को प्रातःकाल आप एटा के लिए रवाना हो गये।

हरिद्वार में अर्द्धकुम्भी

प्राप्त समाचारों से पता चलता है कि आगामी अर्द्धकुम्भी के अवसर पर हरिद्वार में धर्मसङ्घ के विशेषाधिवेशन तथा यज्ञ की सम्भावना की जाती है।

खोयी हुई वस्तुएँ

धर्मसङ्घ के गत महाधिवेशन एवं महायज्ञ के अवसर पर धर्मनगर में लोगों की खोयी हुई निम्नलिखित वस्तुएँ 'भूलाभटका विभाग' द्वारा प्राप्त हुई हैं, जिन को हों, व परिचय देकर श्री सेठ गौरीशङ्कर जी गोयनका की असीवाली कोठी से ले जायें—४ लच्छे चाँदी के, १ बिछुआ चाँदी का, १ सेफ्टीपिन चाँदी की, १ झाडन, १ गमछा, १ रुमाल, १ आचमनी, ३ धोती, १ नोटबुक, १ जाकिट, १ गंजी, २ कण्टोप।

धर्मसङ्घ कार्यालय का स्थान-परिवर्तन

'अखिल भारतीय धर्मसङ्घ कार्यालय' अब गङ्गा-तरङ्ग, नगवा से हटकर ५/११७ मीरघाट पर चला आया है, अतः पत्र-व्यवहार इसी नवीन पते से करना चाहिए। धर्मसङ्घ का टेलिग्राफिक एड्रेस (तार का पता) 'धर्म, बनारस' (Dharma, Benares) निश्चित हो गया है। तार देनेवालों को इस का उपयोग करना चाहिए।

मुद्रक—कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

माण्डवी को भरत से, उर्मिला को लक्ष्मण से और भृतिकीर्ति को शत्रुघ्न के साथ न्याहा। सब वर और दुलहिने अपने अपने अनुरूप जोड़ पाकर सकुच से उन्हें देखते हुए मन में बड़े प्रसन्न हो रहे थे। जनकजी के मण्डप में चारों सुन्दरी अपने अपने सुन्दर वरों के साथ ऐसी शोभित होती थीं, मानो जीव के हृदय में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय यह चारों अवस्थाएं अपने स्वामी विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं शुद्ध ब्रह्म के साथ शोभायमान हों। अवधपति वधुओं के साथ अपने चारों पुत्रों को देखकर ऐसे प्रसन्न थे, जैसे ब्रह्मा, तपस्या, सेवा और भक्ति क्रियाओं के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पाकर प्राणी प्रसन्न होता है। जिस विधि से रामचन्द्र का व्याह हुआ, उसीतरह सब भाइयों का व्याह हुआ। इतना दहेज दिया गया कि स्वर्ण, मणि आदि से मण्डप भर गया। विचित्र कम्बल, बहुमूल्य रेशमी वस्त्र, हाथी, रथ, घोड़े, दास-दासी, कामधेनु के समान गायें तथा अनेक वस्तुएं दहेज में मिलीं, जिन्हें देख लोकपाल भी सिंहाने लगे। दशरथजी ने सब स्वीकार किया और याचकों को, जिसे जो अच्छा लगा, वही दिया, जो बचा, वह जनवासे में आया। हाथ जोड़कर जनकजी ने सब बरातियों का सम्मान किया, महामुनियों का पूजन किया। देवताओं को मनाकर हाथ जोड़ वे सब से कहने लगे कि "देवतालोग भाव से सन्तुष्ट होते हैं। जैसे जलाजलि से कोई सिन्धु को तृष्ट नहीं कर सकता, वैसे ही वस्तु से हम आप लोगों को तृष्ट नहीं कर सकते।" इसीतरह महाराज दशरथ से हाथ जोड़कर राजा जनक बोले—“राजन्! आप के सम्बन्ध से हम सब भक्ति बड़े हो गये। राज-साजसहित मुझे आप अपना अक्रीत सेवक समझे। इन कन्याओं को अपनी परिचारिका समझकर पालना। मैं ने बड़ी धृष्टता की है, जो इतनी दूर से आप को बुला भेजा है, यह अपराध क्षमा करना।” भातुकुलभूषण महाराज अवधेश ने समधी का बड़ा सम्मान किया। दोनों राजाओं के हृदय प्रेम से भरे थे, वाणी गद्गद हो रही थी, इस से विनती नहीं की जा सकती थी।

राजा जनवासे चले, देवगण फूल बरसा रहे थे, दुन्दुभि, जयध्वनि, वेदध्वनि फैल रही थी, नभ और नगर में कौतूहल हो रहा था। सखीगण मङ्गल-गान करती हुई मुनीश की आज्ञानुसार दूल्ह-दुलहिन को कुहवर ले गयीं। सीताजी बार बार श्रीरामजी को देखतीं और सकुचती थीं, परन्तु मन नहीं सकुचाता था। प्रियतम के मुख-चन्द्र की छवि देखना ही चाहता था, प्रेम की प्यासी आँखें मनोहर मछली की शोभा को हरती थीं, श्याम शरीर स्वभाव से ही सुहावना लगता था, अङ्ग की शोभा करोड़ों मनोजों की शोभा को लाजवती थी। महावर लगे हुए चरणारविन्द तो और भी सोहते थे, जिन में मुनियों के मन औरों के समान रहा करते थे। पवित्र पीताम्बर बालरवि और विद्युत् की झ्योति को हरण करता था। कटि में सुन्दर काञ्ची तथा मनोहर कटिसूत्र और विशाल बाहु में सुन्दर अङ्गद, कङ्कादि भूषण शोभित होते थे। पीत यज्ञोपवीत बड़ी शोभा-देता था। हाथ की मुद्रिका तो मानो चित्त को ही चुराती थी। व्याह के साज सब सजे-थे, विशाल उरःस्थल पर कौस्तुभ और हार सोहता था, पीत उत्तरीय कन्धे पर विराजता था, जिस के दोनों छोरों में मणि और मोती लगे हुए थे, कमल के समान नयन थे, कानों में सुन्दर कुण्डल थे, सौन्दर्य-निधान मुख, सुन्दर ब्रुकुटी, मनोहर नासिका, भाल में सुन्दर तिलक, मस्तक पर मनोहर मौर था, जिस में मुक्ता, मणि आदि जटित थे। सब मञ्जुल अङ्ग चित्त चुगानेवाले थे। पुरनरनारि सुन्दर वरों को देखकर नजर बचाने के लिए तृण तोड़ती थीं, आरती काती थीं और भूषण, वसन, मणि आदि को बारती थीं, सुरगण सुमन बरसाते थे, मागध सुयश सुनाते थे। कुहवर में दूल्ह-दुलहिनों को ले जाकर अति प्रीति से लौकिक रीति करके सुवासिनीगण मङ्गल गाती थीं। गौरीजी राम को, सरस्वतीजी सीता को लहकौरी सिखाती थीं, रनिवास हास-विलासरस में मग्न होकर जन्म को सफल मान रहा था। जानकी भी हाथ की मणियों में रूपनिधान श्रीराम की प्रतिमूर्ति देखकर विरहभय से भुजा को नहीं हिलाती थी, क्योंकि हाथ हिलाने से प्रिय की मूर्ति नहीं दिखलायेगी। उस समय के सीताजी के कौतुक, विनोद, प्रमोद और प्रेम का वर्णन नहीं हो सकता, उसे तो सखीलोग ही जानती थीं। जिस समय वर और कुमारियों की लेकर सखियां जनवास को चलीं, उस समय जिधर-तिधर 'यह चारों जोड़ी चिरजीव रहो' यही अशीश सुनायी देती थी। योगोन्द्र, सिद्ध, मुनीन्द्र और देवताओं ने

दुन्दुभी बजायी, पुष्पवर्षा कर सब ने जय-जय कहा। हृष्टियों के साथ सब कुमार पिताजी के पास आये, उस समय जनवास में शोभा, मङ्गल और मोद उमङ्ग आया। जनक जी के यहाँ सब बरात का विविध जेवनार होता था। जनकजी स्वयं दशरथ तथा रामादि चारों भाइयों के पाँव धोते थे। भोजन के समय स्त्रियां गाती थीं। समय पाकर गालियों भी सुहावनी लगती हैं। पौन देकर अवधेश की मिथिलेश ने पूजा की।

श्रीराम-विवाहोत्सव बड़ा ही अद्भुत है, ऋषियों एवं कवियों ने अनेक प्रकार से उस का वर्णन किया है। महात्मा तुलसीदास जी के शब्दों के आधार पर उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इस के वर्णन, अवण से प्राणियों की मङ्गलकामनाएँ अनायासेन सफल होती हैं।

सतयुग की झलक

(रावराजा श्री दुर्जनसिंह जी, अलवर)

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से पूर्व कई वर्षों से ऐसी प्रसिद्धि हो रही थी कि सन् २००१ से सतयुग का प्रवेश होगा। इस पर एक पूज्य विद्वान् के द्वारा एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी। परन्तु उस के खण्डन में अनेक लेख निकले और प्रायः जनता में भी इस का आदर नहीं हुआ और वह भविष्यवाणी निःसार वा खोथी समझी गयी। तथापि आधुनिक वातावरण को गम्भीरतापूर्वक देखने से उस की सत्यता की किरणें अवश्य झलक मार रही हैं। इस विषय में पूर्वापर परिस्थिति अवश्य विचारणीय है।

श्रीमद्भागवत-महात्म्यानुसार श्रीभगवान् के अन्तर्धान होने के पश्चात् महाराज परीक्षित का शासनकाल परिपूर्णाता को प्राप्त होने पर एक दिन भक्तिरूपिणी तरुणी को उस के दो वृद्ध पुत्रों—ज्ञान-वैराग्य—के साथ रुदन करते हुए देखकर और उन को करुणोत्पादक दशा पर दया करके श्रीदेवर्षि नारदजी ने उन के दुःख-निवारणार्थ श्रीसनकादिकों द्वारा श्रीभगवान् की वाङ्मयी मूर्ति श्रीमद्भागवत श्रवण करने की योजना का अपूर्व वा लोकोत्तर उपाय किया, जिस से वह भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का त्रिक यौवनावस्था को प्राप्त होकर हृष्ट-पुष्टतासम्पन्न हो गया। दूसरे शब्दों में धार्मिक भावों का पूर्ण चमत्कार दीखने लगा, जिस के फलस्वरूप इसी काल के लगभग ऋषिकल्प, त्यागी, तपस्वी, त्रिकालदर्शी प्रेममूर्ति भगवत्-भागवतानुरागी अनेक सन्त-महात्माओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन के मार्मिक प्रबल उपदेश वा परमपावनी जगत्तारणी रचनाओं ने सनातनधर्म जगत में एक अपूर्व जाग्रति उत्पन्न कर दी, जिस से भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का तो मूर्तिमान् नृत्य होने ही लगा। इतना ही नहीं, सनातनधर्म के प्राणस्वरूप वर्णाश्रमधर्म में भी श्रद्धा की इतनी वृद्धि हो गयी कि विदेशी और विषमार्थ आततायियों के अनेक उत्पात, उपद्रव एवं अत्याचार होने पर भी उस में शिथिलता आने के स्थान में उलटी दृढ़ता आकर उन का पूर्ण साहस और उत्साहपूर्वक प्रतिरोध किया गया। ऐसी दशा न्यूनाधिक चिरकाल तक चलती रही और यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है, जिस के साक्षी इस समय भी जहाँ-तहाँ अनेक हैं। सन् १८७७ ईस्वी के आसन्न पर्यन्त यद्यपि धार्मिक शिक्षा के साधन न रहने से धर्मसम्बन्धी मार्मिकता का अभाव अवश्य हो गया था, परन्तु धर्माचरणों में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ और दुर्मिक्षों के दिनों को छोड़कर भरण-पोषणोपयोगी पदार्थों की दुर्लभता वा महर्घता का चिन्ह भी न होने से प्रजा में अन्न-वस्त्र का कष्ट लेश-मात्र नहीं था और दुग्ध एवं घृत की विपुलता होने से बल-पराक्रम में भी क्षीणता नहीं आयी थी। जिस किसी के पास उस समय के अङ्क हो, उन्हें भले ही वह देख ले कि सामान्य अन्न प्रति रुपया एक मन या इस से अधिक था। गोधूप बीस सेर या इस से अधिक थे, घृत तीन सेर या इस से अधिक था और खद्दर एक थान एक रुपये वा सत्रा रुपये में उपलब्ध होता था। उस सुख, शान्ति वा सुकाल की यह सीमा थी। यहाँ से कलियुग ने पुनः अपनी करालता का वेग बढ़ाया। वृद्ध पुरुष, जिन का जन्म सन् १८७७ से पूर्व का है, स्मरण करें और अन्य जन लेख-प्रमाणों को देखें कि सनातनधर्म-विरोधी अनेक सभा, समाज, सम्प्रदायों के जन्म का भी कुछ आगे-पीछे यही काल है, जिस में अब तो निरन्तर इन का वेग बढ़ता ही जा रहा है। इसी काल के आसन्न समुद्र पार की विदेशयात्राओं की भी अनर्गलता हो गयी, बस फिर क्या था, केवल वेष-भूषा में ही हेरफेर नहीं हुआ, स्पृष्टास्पृश्य का विवेक नष्ट होकर सर्वथा आचारभ्रष्टता हो गयी और अब तो असवर्ण-

विवाहादि के कारण वर्णसङ्करता की दशा भी आ प्राप्त हुई।

इस प्रकार जब कि वर्णाश्रमधर्म के ही लोप होने के ये शोचनीय चिन्ह देखने लगे, तब भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के लिए तो अवकाश ही कहाँ रहा और तब तो केवल ज्ञान, वैराग्य ही वृद्धता की प्राप्त हुए थे, परन्तु अब तो भक्ति भी जर्जरताग्रस्त होगयी। इस धर्मसङ्कट का परिणाम भी साथ ही देख लेना उचित है। सन् १८७७ के पश्चात् सनातनधर्म के सिद्धान्तों पर जैसे जैसे कुठाराघात होता रहा है, वैसे वैसे ही दुर्भिक्ष, महामारी, जलप्लावन आदि उत्पातों के साथ महर्घता की भी वृद्धि होती रही, जो इस समय तो पराकीर्णों की पहुँचकर पदार्थों का मिलना दुर्लभ वा असम्भव हो रहा है, घृत और दुग्ध का तो नाममात्र सा ही शेष है। कारण और परिणाम दोनों पक्षों पर दृष्टि डालने से इस निश्चय में किसी भी सन्देह को स्थान नहीं रहता कि वर्तमान विकट परिस्थिति का उत्तरदायित्व केवल इसी देश के उन सुपुत्रों पर है, जिन के द्वारा वर्णाश्रमधर्म की घोर अन्वहेलना होकर आचार-विचारकुचला जा रहा है। सनातनधर्म के विरोधी दलों के प्रतिपक्ष में सनातनधर्मी जगत् में कई सभा, समाज, सङ्गठन तथा व्यक्तिगत आचार्य, विद्वान् आदि खड़े अवश्य हुए और हो रहे हैं, परन्तु जहाँ तक अनुभव हुआ, सत्र की प्रभावहीन पाया, क्योंकि किसी न किसी रूप में सब ही स्वार्थ की गन्ध से मुक्त नहीं थे। सनातनधर्म का पतन करुणा-सागर श्रीभगवान् को अधिक सहा नहीं है और जब जब धर्म-ग्लानि की ऐसी उत्कट दशा प्राप्त हो जाती है, तब श्रीभगवान् किसी न किसी रूप में प्रकट होकर साधुओं का परित्राण, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना करते हैं। यह सनातनधर्म-जगत् का महान् सौभाग्य है कि इस समय भी वह चमत्कार प्रत्यक्ष देखने लगा है। जहाँ एक ओर 'कल्याण' ने भक्ति-मन्दाकिनी की पतितपावनी धारा के द्वारा प्रवाहित प्रेमाभूत का भावुक जनो को आस्वादन कराने का सहसा अलभ्य साधन उत्पन्न कर दिया, वहीं दूसरी ओर श्रीहरिहर भगवान् ज्ञान और वैराग्य की मूर्ति बन्दनीयपादपद्म श्रीस्वामी कृष्णचोधाश्रमजी महाराज तथा श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के रूप में प्रकट होकर भगवान् ज्ञान और वैराग्य का सत्य आदर्श दिखलते हुए धर्मोत्थान के यज्ञादिक अनेक साधन इन के द्वारा सम्पादन करा रहे हैं। यह कैसा शुभ अवसर है, जब कि भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के त्रिक में पुनः तारुण्य प्राप्त होने की सामग्री सञ्चय होने लगी। इस परमोत्साहवर्द्धक दशा को कम से कम आंशिक अथवा एकदेशीय सतयुग क्यों न कहा जाय? इस समय रणचण्डी ने जो प्रचण्ड रूप धारण कर रखा है, इस से जगद्व्यापी पूर्ण व्याकुलता और घोर अशान्ति अवश्य है, परन्तु यह भी आसुरी सम्पत्ति के क्षय द्वारा अधर्मनाशार्थ ही है। यों तो चारों युगों के धर्म नित्य ही वर्त्त जाते हैं, परन्तु अब तो इस एकदेशीय सतयुग को सार्वदेशिक व्यापक रूप में देखने की उत्कट प्रतीक्षा है। जिन मधुमूर्ति, मनोहररूप, छविधाम, शरणागतवसल, धनुर्धारी श्रीअवधविहारी वा मुक्तीअधरधारी श्रीब्रजविहारी की प्रेरणा से यह शुभ दिन देखने को प्राप्त हुआ, वे ही इन महात्माओं के युग में ऐसी शक्ति डालकर इन को प्रेरित करेंगे कि जो चमत्कार इन के द्वारा इस समय एकदेशी देखा जा रहा है, वह व्यापक रूप से हो जाय, जिस से अधर्म के नाशपूर्वक धर्म की जयध्वनि से संसार गुँजने लगे और प्राणियों में स्वाभाविक सद्भावना उत्पन्न होकर विश्व का कल्याण हो।

'हिन्दू-कोड' पर पण्डित-समिति का शास्त्रीय विचार

(मन्त्री—श्रीविनायक विष्णु देशपाण्डे एम्. ए.)

३

'मिताक्षरा' के मत से भी भरणमात्र का विधि इष्ट है, क्योंकि दोनों के विधान से वाक्यभेद हो जायगा। केवल निरंश पद का व्याख्यान क्लिष्ट-कल्पना के बिना करना विशेष है। विभागान्तर भी पतित का स्वत्वनाश मिताक्षराकार को इष्ट है। इसलिए "अतएव अनिच्छत्यपि पितरि अधर्मवर्तिनि दीर्घरोगग्रस्ते च पुत्राणामिच्छया भवति विभागः" कहकर पिता के पातित्य को पुत्रेच्छा से विभागकाल बतलाया है। इस से पतित पिता का स्वत्व-नाश स्वीकृत हो जाता है। इसलिए "येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा" इस श्लोक का मिताक्षराकार ने यह अर्थ किया है कि पतितों के भाग को उस के उत्तराधिकारियों ने हरण कर लेना चाहिए। वहाँ पर "येषां संसृष्टिनां"

कहा है, तो भी हविरात्यधिकरण न्याय से निमित्तकोटि में उस का प्रवेश हो नहीं सकता, किन्तु "आतरो ये च संसृष्टाः" में संसृष्ट विशेषणविशिष्ट आता ही विधेय होने से वहाँ पर संसृष्ट धन ही उद्देश्य विवक्षित है। इस प्रकार उत्तर वाक्य में उद्देश्यसङ्कोच करना तात्पर्य है, परन्तु पूर्व वाक्य में विनियोगानर्हता के कारण स्वत्वनाश के सूचक "तस्य भागो न लुप्यते" में संसृष्टासंसृष्टसाधारण ही उद्देश्य है। यद्यपि यह वचन संसृष्टिप्रकरण का है, तथापि विश्वरूपाचार्य के कथनानुसार सामर्थ्यरूप लिङ्ग से प्रकरण का वाक्य सामान्यविषयक माना जायगा। अब प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार प्रमाण के रहने पर भी 'वीरमित्रोदय' का प्रमाणाभाव-कथन क्यों है? उस का तात्पर्य इतना ही हो सकता है कि प्रायश्चित्त करनेवाले पतित का प्रायश्चित्तोपयोगी और भरणोपयोगि द्रव्यविनियोगशक्ति रहने के कारण प्रायश्चित्तेच्छु पतित के विषय में प्रमाणाभाव कथन समझना चाहिए। इसीलिए उन्होंने ने ही लिखा है कि "औद्धत्यादिना प्रायश्चित्तमकुर्वतो अस्तु नियतमेवानंशत्वमिति" अर्थात् प्रायश्चित्त करना न चाहनेवाले का स्वत्वनाश निश्चित ही है। यही बात 'वीरमित्रोदय' के भी निम्न वाक्य में स्पष्ट है—“पतितत्वपारिजययोः पितृस्वत्वनाशाऽप्यधिकः। जन्मना स्वत्वं तुल्यमेव। पातित्ये तु प्रायश्चित्तानाचरण एव स्वत्वनाशो विभागानर्हता च”। एवं च “दत्तविभागापहरणे प्रमाणाभावात्” वाली वीरमित्रोदय की पद्धति का आशय यह है कि पतित का भाग आता लोग न बांट लें, किन्तु उस के उत्तराधिकारी लें। यही अर्थ "तस्य भागो न लुप्यते" का भी है। 'मिताक्षरा' के समर्थन-प्रकरण में ये बातें लिखी रहने से सिद्ध है कि वीरमित्रोदयकार 'मिताक्षरा' का आशय यही समझते हैं। एवं च विभाग के पूर्व या उत्तर पतित का दायस्वत्वनाश अवश्य होता है।

प्र० ७—“स्वत्व का लौकिकत्व कैसा है? दायभाग का सदाचारमूलकत्व कैसा?” उत्तर यह है कि जिस प्रकार सङ्गीत में षड्ज आदि स्वर प्रत्यक्ष होते हैं, उसी प्रकार 'मिताक्षरा' के मत से स्वत्व भी प्रत्यक्ष होकर सर्वसाधारण के लिए आनन्ददायक होता है। लेकिन अनादि शिष्टाचार-प्राप्त प्रतिग्रहादि उपायों से उस की अभिव्यक्ति होती है, जैसा कि सङ्गीत के षड्ज आदि स्वर तन्त्रोविशेष की सहायता ही से व्यक्त होते हैं। दायभागकार आदि का कथन है कि अभिव्यञ्जक शास्त्रीयोपाय अपेक्षित ही है तो शास्त्रैकगम्य स्वत्व होना चाहिए। दोनों के मत में भी स्वत्व का सन्देह होने पर निर्णय के लिए उस पुरुष के स्वत्व का व्याप्य प्रतिग्रहादिविषयत्व होने का विशेषदर्शन सन्देहास्पद द्रव्य पर स्वत्वनिर्णय के लिए सहकारी है। जैसा कि दूर से किसी को देखकर स्थाणु-पुरुष सन्देह होने पर एक पक्ष का विशेषदर्शन निर्णय के लिए सहकारी अपेक्षित है। विशेषदर्शन के सहयोग से होनेवाला स्वत्वनिर्णय 'मिताक्षरा' के मत से प्रत्यक्ष होगा, दायभाग के मत में अनुमितिरूप होगा। 'मिताक्षरा' के मत में व्याकरणाधिकरण न्याय से शास्त्र अनादि परम्प्राप्राप्त स्वत्वोपायों का परिगणन नियम के लिए करता है, अतः शास्त्र का वैयर्थ्य नहीं है। परिगणन का प्रयोजन नये परिवर्तन का निराकरण है। अनादि परम्प्रा से प्राप्त शब्दों का साधु-असाधु विवेक "साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिः" इत्यादि विधि-निषेधों के लिए उपयोगी है। अनादि परम्प्राप्राप्त स्वत्व पदार्थ का परिगणित उपायों से परिचय करा देना "स्वं दद्यात् परस्वं नादरीत" इत्यादि विधि-निषेधों के लिए उपयोगी है। किन्तु लौकिक व्यवहार में असाधु शब्द से पाप नहीं होता। अस्व व्यवहार से तो लोक में भी अवश्य मेव पाप है। यही विशेष है, क्योंकि स्वत्वसम्बन्धी विधिविषेध पुरुषार्थ है। यही व्याकरणन्याय की अपेक्षया विशेष है। "न्यायागतेन द्रव्येण कुर्यात् कर्माणे न द्विजः। अन्यायोपरतं द्रव्यं गृहीत्वा यो ह्यपण्डितः। धर्माकांक्षी तु यजते न धर्मफलमश्नुते" इत्यादि वचनों से मुख्य, गौण या साधारण अर्थार्जनोपायों को, अविकारितारतम्य से क्लृप्तत्व बोधित रहने के कारण संयोगपृथक्त्व न्याय से उभयार्थ मानने पर भी दोष नहीं हो सकता। अतः माट्टदीपिकादि ग्रन्थों में व्याकरण को तरह क्लृप्तत्व भी कहा गया है।

प्र० ८—“क्लीब, पतित आदिकों के साथ विवाह होने से भार्यात्व-सिद्धि हो सकती है या नहीं?” उत्तर है कि विवाहसंस्कार का प्रयोजन रति, पुत्र और धर्म कहे गये हैं। क्लीबादिकों को भी सती धर्म में अधिकार है। अतः सप्तपदी पर्यन्त हो जाने पर भार्यात्वसिद्धि अवश्य है। पतित की बात दूसरी है। उस का और उस की सन्तति का

त्याग विहित है। इसलिए रति, पुत्र और धर्म इन में से कोई भी सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव फलस्वाम्यरूप अधिकार के न रहने से “अनधिकारिणा कृतमकृतं भवति” के न्याय से सप्तपदी पर्यन्त हो जाने पर भी पतित का विवाह सिद्ध हो नहीं सकता। इसी प्रकार सगोत्र, सपिण्ड, सप्रवर परिणयन होने पर भी भार्यात्वादि की सिद्धि हो नहीं सकती। “परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा। त्वारां कृत्वा द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ भोगतस्तर्हि परित्यज्य पालयेज्जननीमिव। गर्भस्तज्जोऽन्त्यर्तां ब्रजेत् ॥” इत्यादि वचनों से पूर्वोक्त तीनों फलों का अभाव सिद्ध होने के कारण पूर्वोक्त न्याय समान है। गृहस्थाश्रमों के उपक्रम में गृहस्थाश्रम का अवश्यकर्तव्य विवाहसंस्कार कहा गया है। मनुवचन है कि—“अवि-प्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्बहेत् ॥” इस से मानना पड़ेगा कि सगोत्रादि विवाह में भार्यात्वसिद्धि न हो सकने पर भी गृहस्थाश्रम की सिद्धि अवश्य है, क्योंकि मुख्य कल्प अनुष्ठान की अशक्ति रहने पर प्रतिषिद्ध के द्वारा भी नित्यकर्म की सिद्धि होना भाट्टदीपिका आदि मीमांसाग्रन्थों में स्थापित है। इसीलिए “पालयेज्जननीमिव” कहा है, अर्थात् गृहस्थाश्रम धर्म की सिद्धि हो जाने के कारण वह स्त्री कन्या रह नहीं सकती। भार्यात्वसिद्धि न होने के कारण रति, पुत्र की सिद्धि भी हो नहीं सकती। इसलिए धर्मसिद्धि केवल होगी। जननी के समान पालन करते रहना पड़ेगा। परन्तु वीरमित्रो-दयकार का मत है कि मुख्य कल्प के लिए यदि पुरुष समर्थ रहेगा, तो पालन या विवाह विकल्प से हो सकेगा।

धर्मसङ्घ-समाचार

नवीन शाखाएँ

१ उत्कल प्रान्तीय धर्मसङ्घ, सत्सङ्ग आश्रम, सम्बलपुर—श्री पं० डाक्टर जनार्दन पुजारी (अध्यक्ष), श्री पं० डाक्टर रामचन्द्र मिश्र (मन्त्री), श्री पं० मित्रमाला पुजारी (सहायक मन्त्री), श्री पं० गोविन्दचन्द्र मिश्र, प्रधानाध्यापक संस्कृत कालेज गजाम, श्री पं० डमरूधर पुजारी, श्री स्वामी अलसुआ बाबा, श्रीस्वामी मथुरादास जी, श्री पं० दीनबन्धु वरपण्डा, श्री बाबू लवणीधर सराफ, श्री सेठ ओङ्कारमल पोद्दार (सदस्य)। २ कालिङ्जर (बाँदा)—श्रीहरिश्चन्द्र मिश्र (सभापति), श्रीअयोध्या प्रसाद वैश्य (उपसभापति), श्रीनाथूराम वैश्य (मन्त्री), श्री मुंशी कामताप्रसाद वैश्य और श्रीभगवतीप्रसाद वैश्य (उपमन्त्री), श्री वैजनाथ चौधरी और श्रीगोविन्दप्रसाद वैश्य (प्रचारक)। ३ श्रीधर्मसङ्घ संस्कृत विद्यालय, झूलटङ्केश्वर, पो० रोहिनियाँ, जि० बनारस—श्रीगुनाथजी देसवाली (सभापति), श्रीरामरत्नजी (उपसभापति), श्री पं० प्रियानाथजी पाण्डेय (मन्त्री), श्री पं० राजनारायण पाण्डेय (उपमन्त्री)। प्रति एकादशी को अधिवेशन होना निश्चित हुआ। ४ साण्डेशाव (मारवाड़) श्री पं० शुक्रदेवजी द्विवेदी (सभापति), श्रीसन्त अचलदासजी (मन्त्री), श्री पं० दीनानाथजी शास्त्री महोपदेशक श्रीसनातनधर्मप्रतिनिधि सभा, जोधपुर (संस्थापक)। ५ खैरगढ़ (गैरपुरी)—श्रीचतुर्भुज शर्मा (सभापति), श्री पं० कन्हैयालाल शर्मा (मन्त्री)। ६ पडरौना (गोरखपुर)—श्रीतमकुही नरेश तथा बा० हरeram खेतान (संरक्षक), श्री पं० शिव-प्रसादजी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य (सभापति), श्रीब्रह्मचारी तुलसीरामजी (मन्त्री), श्री पं० ज्वालाप्रसादजी पुजारी (उपमन्त्री)। ७ रेणुकार ब्रह्मस्थान, मुहम्मदाबाद (गाजीपुर)—श्री पं० कैलाशपति मिश्र (सभापति), श्री पं० नन्दकिशोरजी (मन्त्री)। ८ गाजीपुर—श्री पं० गणेशदत्तजी वैद्य (सभापति एवं संयोजक)। ९ सैदपुर (गाजीपुर)—श्री पं० लक्ष्मीनारायण पाण्डेय (अध्यक्ष तथा संयोजक)। १० जमानियाँ (गाजीपुर) श्री पं० हरिद्वारजी चतुर्वेदी (अध्यक्ष और संयोजक)। ११ नेवादाबाजार पो० मेहनाजपुर, जि० आजमगढ़—ठा० विश्वनाथसिंहजी (सभापति), श्री पं० विश्वनाथजी पाण्डेय (उपसभापति), श्री पं० शिवाधीन पाण्डेय (मन्त्री), श्री ठा० विश्वनाथसिंहजी (उपमन्त्री)। १२ श्रीराममन्दिर, बड़गाँव (धनारस)—पं० सत्यनारायणजी (सभापति), महन्त श्रीभद्रदास जी (उपसभापति), पं० विश्वनाथ पाण्डेय (मन्त्री), श्री पं० गौरीशङ्कर पाण्डेय (संरक्षक)। शाखासभा के उद्घाटन के उपलक्ष्य में पौष कृष्ण १ को प्रभातफेरी, झण्डाभिवादन, कीर्तन, स्त्रयज्ञ, सभा आदि किये गये। १३ सौरी, पो० सादियाबाद, जि० गाजीपुर—श्रीचण्डीश्वर महादेव के धाम पर ‘सादात संस्कृत पाठशाला’ के भूतपूर्व

अध्यापक पं० रामाधार मिश्रजी के सभापतित्व में स्थापन। श्रीविश्वनाथ पाण्डेय (सभापति), पं० चन्द्रिकादत्तजी त्रिपाठी (मन्त्री), श्री मुन्शी राजारामजी लाल (उपमन्त्री)। १४ फलकपुर धर्मसङ्घ शाखासभा—श्री पं० जुगगीलाल शास्त्री मन्त्री सूचित करते हैं कि उक्त शाखासभा का द्वितीय वार्षिकाधिवेशन पौष कृष्ण १३ बुध सं० २००१ वि० को अपराह्न ३ बजे हुआ। पदाधिकारी—पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री (सभापति), पं० देवीदयालु शास्त्री (उपसभापति), पं० मङ्गीलालजी शास्त्री (उपमन्त्री)।

धार्मिक अनुष्ठान

१ श्रीसरसङ्गाश्रम, सम्बलपुर—प्रतिदिन सायंकाल धर्मसङ्घ के सङ्कल्प से श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता का पठन-पाठन होता है। अन्त में भगवन्नाम-सङ्कीर्तन होता है—श्रीभगवान्शङ्कर जी पण आदि। २ पडरौना (गोरखपुर)—मार्गशीर्ष शुक्ल १३ से दो दिन धर्मसङ्घ का विशेषाधि-शन हुआ और सङ्घ के सङ्कल्प से श्रीमद्भागवत-पारायण, चण्डीपाठ, हवन आदि हुए। जनता का उत्साह था। अङ्गरेजी स्कूल के हेड मास्टर भी स्कूल बन्द कर सभा में उपस्थित होते थे। ३ मुहम्मदाबाद (गाजीपुर)—स्थानीय रेणुकार नामक ब्रह्मस्थान में सङ्घ के सङ्कल्प से पौष कृष्ण ५ सोमवार से ७ दिन तक श्रीविष्णुयाग, पुराणपारायण आदि हुए। इसी उपलक्ष्य में अन्तिम दो दिन धर्मसङ्घ का विशेषाधिकेशन किया गया और जिला की सभी तहसीलों में शाखासभाएँ स्थापित की गयीं। ४ श्रीधर्मसङ्घ शाखासभा, नेवादाबाजार, पो० मेहनाजपुर (आजमगढ़)—मार्गशीर्ष कृष्ण १३ सोमवार को श्री पं० विश्वनाथजी पाण्डेय की अध्यक्षता में सङ्घ का विशेषाधिवेशन किया गया। सङ्घ के उद्देश्य एवं सङ्कल्प के प्रचार की जनता से अपील की गयी। अधिक संख्या में लोग सदस्य बने। दूसरे दिन भी सायंकाल को बाजार में ठा० विश्वनाथसिंहजी की अध्यक्षता में सभा हुई। तीसरे दिन शीतलादेवी के मन्दिर में श्रीरामप्रसाद साहु के सभा-पतित्व में एक सभा हुई। तीनों दिन प्रभातफेरी, जुलूस आदि हुए। मार्गशीर्ष शुक्ल १५ से ५ दिन तक पुनः सभाएँ हुईं। प्रतिदिन प्रभातफेरी, नगरकीर्तन, जुलूस आदि किये गये।—श्री पं० शिवाधीन पाण्डेय (मन्त्री)।

विशेष समाचार

श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज (अध्यक्ष अ० भा० धर्मसङ्घ) की यात्रा—ब्रह्मवर्त में श्रीधर्मसङ्घ महाविद्यालय स्थापित कर आप कानपुर से रवाना होकर पौष कृष्ण ११ सोमवार को मध्याह्नोत्तर ३ बजे एटा पहुँचे। सायंकाल ७॥ बजे बा० रामलालजी के देवालय में एक सार्व-जनिक सभा में धर्म की आवश्यकता पर आप का व्याख्यान हुआ। रात्रि में स्थानीय श्रीसनातनधर्म संस्कृत महाविद्यालय में निवास कर दूसरे दिन मध्याह्न में दो बजे आप ने मेरठ के लिए पैदल प्रस्थान किया।

‘हिन्दू-कोड’-विरोध

१ सरधना (मेरठ)—पौष कृष्ण ५ सोमवार को मध्याह्नोत्तर स्थानीय ला० प्यारेलाल की धर्मशाला में ला० गङ्गाराम जी की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा करके प्रस्तावित ‘हिन्दूकोड’ का विरोध किया गया। प्रस्ताव पास करके सरकार के पास भेजा गया। चौधरी केशवजी बी. ए., एल्. एल्. बी. (ऑनररी मजिस्ट्रेट), मास्टर सुलतानसिंहजी जैन एम्. ए., सेठ चतरसेन जैन, लाला मङ्गलसेनजी रईस आदि के कोड-विरोध में भाषण हुए। २ बसी, पो० खेखड़ा (मेरठ)—लाला श्यामलाल गुप्त की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा हुई। एक प्रस्ताव द्वारा सरकार से प्रस्तुत कोड उठा लेने की प्रार्थना की गयी। लगभग ३०० स्त्री पुरुषों के हस्ताक्षर से विरोधपत्र सरकार के पास भेजा गया। ३ आनन्दभवन, (गया)—रा० व० श्रीकाशीनाथसिंहजी सूचित करते हैं कि यहाँ से ‘कोड’ के विरोध में सार्वजनिक सभा कर प्रस्ताव ‘हिन्दू कानून कमेटी’ तथा भारतसरकार के पास भेज दिये गये हैं। मत देने की अवधि बढ़ाने और ‘कोड’ का अनुवाद प्रान्तीय भाषाओं में करवाकर वितरण करने के लिए उक्त कमेटी को तार भेजा गया है और कमेटी के गया आने पर उस से मिलकर ‘कोड’ पर मत प्रकट करने के लिए कुछ विद्वानों के नाम उक्त कमेटी के पास भेजे जा रहे हैं। ४ कोराव, (जिला इलाहाबाद)—श्रीविश्वनाथ संस्कृत पाठशाला, कोराव में एक सार्वजनिक सभा करके ‘कोड’ का विरोध किया गया और १०५ हस्ताक्षरों से विरोधपत्र सरकार के पास भेजा गया।—पं० उमाकान्त पाण्डेय।

सिद्धान्त

सामाहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण ३)

विशेष ५), एक प्रति —)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं० — दुर्योधन त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

ब्राह्मणभाग का वेदत्व

(श्री स्वाम करपात्री ज)

वैदिक लोग "मन्त्रब्राह्मणयोर्नामधेयं वेदः" इस 'कात्यायनसूत्र' के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद मानते हैं। परन्तु कुछ आधुनिक लोग ब्राह्मणभागों के वेद होने का खण्डन करते हैं। उन का कहना है कि मन्त्रसंहिताओं का नाम वेद है। कात्यायन के कथनानुसार ब्राह्मणभाग को भी वेद क्यों नहीं माना जाता, इस के उत्तर में वे कहते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराक्षसी जी है। वे ईश्वरोक्त नहीं, किन्तु महर्षियों के किये वेदों के व्याख्यानरूप हैं। एक कात्यायन को छोड़कर और किसी भी ऋषि ने उन का वेद होना नहीं कहा है। ब्राह्मणभाग देहधारी मनुष्यों के बनाये हैं, अतः ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती। मन्त्रों की वेदसंज्ञा इसलिए है कि वेद ईश्वररचित और सब विद्याओं के मूल हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में लौकिक मनुष्यों के नामलेखसहित इतिहास पाये जाते हैं, इसलिए उन की मनुष्यों द्वारा रचना साफ मालूम ही पड़ती है। परन्तु मन्त्रों में ऐसा कोई भी इतिहास नहीं, जिस से उन की नवीनता सिद्ध हो।" जैसे 'ऐतरेय' आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, जनक आदि के आख्यान मिलते हैं, वैसे ही मन्त्रों में भी "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यदेवेपु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्" इत्यादि मन्त्रों में भी मनुष्यों के नाम आते हैं। इस शङ्का का समाधान करते हुए वे यह कहते हैं कि "जमदग्नि, कश्यप आदि नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं, किन्तु "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, कश्यपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः" इत्यादि ब्राह्मण-वचनों के अनुसार चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है, अतः प्राण से अन्तःकरण और चक्षु से सब इन्द्रियों का ग्रहण है। तथाच उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ यह है कि 'हे जगदीश्वर। आप के अनुग्रह से हमारा प्राण आदि अन्तःकरण और चक्षु आदि इन्द्रियों की तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे। जैसे देवों अर्थात् विद्वानों की विद्यादि शुभ गुण और आनन्दयुक्त आयु होती है, वैसे ही हमलोगों की भी आयु हो।" त्र्यायुषं' इत्यादि से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु प्राप्त कर सकता है, अतः वेदों में सत्य अर्थों के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश होता है, लौकिक इतिहासों का नहीं। सायणाचार्य आदिकों ने जो वेदों में इतिहासों का वर्णन किया है, वह मिथ्या है। ब्राह्मणग्रन्थों का ही इतिहास, पुराणादि नाम समझना चाहिए। भारत, भागवतादि को इतिहास आदि नहीं समझना चाहिए। ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराक्षसी इत्यादि वचन देखने में आते हैं। 'अथर्ववेद' में भी "स बृहतीं दिशमनुष्यचलत्, तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराक्षसीश्चानुष्यचलत्" इत्यादि वचनों में ये नाम आते हैं।" इन पुराणादिकों को भागवतादि की ही संज्ञा क्यों न माना जाय, इस प्रश्न के उत्तर में भी कहा जाता है कि "भागवतादि के पुराणादि होने में कोई भी प्रमाण नहीं है, उन में मर्तों के परस्पर विरोध, कलह और असम्भव मिथ्या कथाओं का उल्लेख मिलता है, अतः इतिहासादिरूप से वे कथमपि ग्राह्य नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में ही इतिहास आदिकों का अन्तर्भाव है। "देवाश्च अपुराश्च संयत्ता आसन्" अर्थात् देव (विद्वान्) और असुर (मूर्ख) ये दोनों युद्ध करने की तत्पर हुए इत्यादि कथाओं का भाग 'इतिहास' है। जिस में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है, वह ब्राह्मणभाग 'पुराण' है—जैसे "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (हे सोम्य। सृष्टि के पहले यह सब कुछ सत्पदवाच्य परमात्मा ही था)। ऐसे ही मन्त्र के अर्थ (सामर्थ्य) का प्रकाश करनेवाला ब्राह्मण 'कल्प' है,

जैसे "सविता वै देवानां प्रसविता" (देवों का प्रसविता ही सविता है)। जनक, याज्ञवल्क्य आदिकों के संवादों को वर्णन करनेवाला ब्राह्मण ही 'गाथा' है। नर द्वारा ईश्वरधर्मों या नरों की प्रशंसा करनेवाला ब्राह्मण ही 'नाराक्षसी' है। इसतरह ब्राह्मणग्रन्थ में ही यह सब तरह के रचन आ जाते हैं, अतः इन्हीं को इतिहास, पुराणादि समझना चाहिए।

"वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्" इस 'न्यायसूत्र' के 'वात्स्यायन-भाष्य' में कहा गया है कि "प्रमाणं शब्दः यथा लोके विभागश्च ब्राह्मण-वाक्यानां त्रिविधः" अर्थात् जैसे लौकिक वाक्यों का त्रिविध्य होता है, वैसे ही ब्राह्मणवाक्यों का भी तीन प्रकार का विभाग है, अतः ब्राह्मण भी लौकिक ही है। "विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्" अर्थात् तीन प्रकार का ब्राह्मणवचन होता है। जैसे 'देवदत्तो ग्रामं गच्छेत् सुखार्थं' (देवदत्त सुख के लिए गाँव जाय) इस लौकिक वाक्य के समान "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" (स्वर्ग की कामना वाला प्राणी अग्निहोत्र करे) यह 'विधिवचन' है। दूसरा 'अर्थवाद' है। वह चार प्रकार का होता है—पदवा 'स्तुति' अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिस से मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम कर्म करने और गुणों के ग्रहण करने में हो। दूसरा 'निन्दा' अर्थात् बुरे कर्म करने में लोगों का दिखलाना, जिस से उन में किसी की प्रवृत्ति न हो। तीसरा 'परकृति', जैसे, चोर ने बुरा किया, उसे दण्ड मिला, अमुक व्यक्ति ने उत्तम कर्म किया, इस से उस की उत्तमि और प्रतिष्ठा हुई, इत्यादि। चौथा 'पुराकल्प', जैसे याज्ञवल्क्य आदिकों का जनकप्रभा में शास्त्रार्थ आदि। ब्राह्मण के विधि और अर्थवाद इन दो भागों के अतिरिक्त तीसरा भाग 'अनुवाद' कहलाता है। वह दो प्रकार का है—एक शब्द का अनुवाद, दूसरा अर्थ का अनुवाद। "इति होचुस्त्रिनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्" अर्थात् जिस का प्रवक्ता निर्दिष्ट नहीं है और प्रवाद-परम्परा से जो चल रहा है, उसे ही 'ऐतिह्य' कहते हैं। इन प्रमाणों से और इतिहासादि नामों से ब्राह्मणभाग का ही ग्रहण होना युक्त है, भारत, भागवतादिका नहीं। ब्राह्मण वेदव्याख्यान ही है, वेद नहीं, क्योंकि "ईष्टेत्त्रोर्ज्जेवेति" इस तरह मन्त्रों का प्रतीक रखकर ब्राह्मणों में उन का व्याख्यान किया गया है। इसतरह ब्राह्मणों का व्याख्यान मन्त्रों में नहीं है। 'महाभाष्य' में भी लोक और वेद के भिन्न भिन्न उदाहरणों का दत्ते हुए लोक के 'गौरवः' इत्यादि उदाहरण दिये हैं, वेद के "शन्नोदेवीभिष्टय" आदि मन्त्रों के उदाहरण दिये गये हैं, ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया गया। वैदिक उदाहरणों में जो लोक के उदाहरण हैं, वे ब्राह्मणों के ही पाठ हैं। "द्वितीया ब्राह्मणे" (१ अ०, २ पा०, ६० सू०), "चतुर्थ्यं बहुलं छन्दसि" (२ अ०, ३ पा०, ६२ सू०) "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (३ अ०, ४ पा०, १०५ सू०) यहाँ पाणिनि ने भी ब्राह्मण को वेद से अन्य कहा है। तीसरे सूत्र में ब्राह्मण, कल्प-ग्रन्थों को ब्रह्मा आदि पुराण ऋषियों ने प्रोक्त वतलाया गया है। ये ग्रन्थ वेद के व्याख्यान हैं, इन्हीं का नाम पुराणादि भी है। यदि छन्द और ब्राह्मण को वेदसंज्ञा महर्षि को इष्ट होता, तो द्वितीय सूत्र में छन्दोग्रहण व्यर्थ ही होता, क्योंकि तब तो ब्राह्मण शब्द को अनुवृत्ति से ही काम चल सकता था, अतः चतुर्वेदविद् ब्राह्मणों से लिखे गये वेदव्याख्यान ही 'शत-पथ' आदि ब्राह्मण हैं। यद्यपि ईश्वरोक्त न होने से ये वेद के समान तो प्रमाण नहीं हैं, तथापि परतः प्रमाणयोग्य हैं।"

वे लोग ब्राह्मणभागों के वेद न होने में छः हेतुओं का उपन्यास करते हैं—१ ब्राह्मणभाग की इतिहास-पुराणसंज्ञा है, २ इस में वेदार्थ का व्याख्यान है, ३ यह ऋषियों का रचित है, ४ यह ईश्वर से अन्य का रचित है, ५ कात्यायन से अन्य ऋषियों ने इस की वेदसंज्ञा नहीं मानी और ६ इस की रचना मनुष्यबुद्धि के अनुसार है। इन में प्रथम हेतु पर विचार किया जाय, तो उस की अयुक्तता स्पष्ट ही प्रतिभासित होने लगती है। जब कि एक ही व्यक्ति की घट, कलश, द्रव्य आदि अनेक संज्ञाएं होती हैं,

‘हिन्दू-कोड’ पर पण्डित-समिति का शास्त्रीय विचार

(मन्त्री—श्रीविनायक विष्णु देशपाण्डे एम्. ए.)

४.

प्र० १—“हिन्दू ला” वाक्य में ‘हिन्दू’ शब्दार्थ क्या होना युक्त है ? ‘हिन्दू ला’ इस वाक्य में हिन्दूपद का अर्थ मिताक्षरादि निबन्धाभ्यास समाज पर होना सामर्थ्यसिद्ध है। तत्रापि मिताक्षरादि सिद्धान्तों के स्वरूप से एवं ‘यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वो विहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥’ इत्यादि मनुवचनों के प्रामाण्य से हिन्दूपद का मुख्य अर्थ सदाचारादि प्रमाण के बल से भी वेदबोधित कर्तव्यता का अनुमान करके प्रवृत्त होनेवाले समाज एवं उस समाज की वशवर्ती सन्तति होगी। इन्हीं लोगों में मुख्य व्यवहार हिन्दूपद का देखा गया है, व्यवहार ही शक्ति-प्राहकों में मुख्य प्रमाण है। अग्रवाल वैश्यादि समाजों में अन्तर्गत जैन मिताक्षरायुक्त सदाचार के अनुयायी होने पर भी हिन्दूपद का अमुख्य अर्थ है, क्योंकि वे वेदबोधित कर्तव्य समझकर प्रवृत्त होनेवाले किंवा तदधीन नहीं हैं। हिन्दू सदाचार के अनुयायी होने के कारण मुख को चन्द्र कहने की तरह वे हिन्दू कहे जाते हैं। “हिन्दू ला” का वाक्यार्थ मुखार्थ विवक्षित हो, तो उन लोगों पर “हिन्दू ला” अतिदेश होगा। “हीनं च दूषयत्येव स वै हिन्दुरिति स्मृतः” इस ‘मेस्तन्त्र’ के वचन से हिन्दू शब्द का साधु शब्द होना एवं उपर्युक्त अर्थ उस का होना प्रमाणित होता है। इसीलिए लोकमान्य तिलक ने वेदप्रामाण्यबुद्धि को हिन्दुत्वघटक स्वीकार किया है। तिलक का लक्षण यह है कि—“प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता। उपास्याना-मनियमः एतद्धर्मस्य लक्षणम्॥” इतर लक्षण कोई भी हिन्दूपद का मुख्य अर्थ हो नहीं सकता, क्योंकि प्रमाणविरुद्ध है। इसलिए “हिन्दू ला” के विषय में मिताक्षरायुक्त अर्थ पर परिणामकारी मत सङ्ग्रहणीय हो, तो उपर्युक्त मुख्य हिन्दुओं का ही होना चाहिए।

इस प्रकार नौ प्रश्नों पर विचार पण्डितसमिति ने प्रकाशित कर दिया है। और कई प्रश्नों पर विद्वत्परिषद् ही ने सम्बत् २००० के अयोध्याधिवेशन में निर्णय दिये हैं। उन का संक्षेप इस प्रकार है—“हिन्दू कोड” में पुत्र के रहते हुए हर हालत में पत्नी एवं कन्या को दाय-धिकार देना, धन पर पुरुषों के समान स्त्रियों का पूर्ण स्वामित्व मानना, किसी भी मार्ग से अर्थात् रिश्त, क्रय आदि मार्ग से भी स्त्री को प्राप्त धन पर ‘स्त्रीधन’ के क्रम उत्तराधिकार स्थापित करना, पिता से विभक्त पुत्र को पिता के अनन्तर अविभक्त पुत्र के साथ समांश स्थापित करना, अविभक्तों का विभक्तों के समान पितृधन पर स्वामित्व मानना, धन के अनधिकार के लिए पत्नी का व्यभिचार पति के द्वारा कचहरी में सिद्ध करने की अपेक्षा करना, असवर्णाविवाह करनेवाले दम्पतियों में से एक की मृत्यु हो जाने पर शेष जीवित की जाति उन की सन्तति को मानना, विवाह के पश्चात् भी कन्या का पितृगोत्र मानना इत्यादि बातें सर्वथा धर्मशास्त्राविरुद्ध हैं। संवत् २००० के ‘प्राच्यविद्यापरिषद्’ की ‘पण्डितपरिषद्’ का निर्णय है कि भ्राता के रहते हुए कन्या दायभागिनी नहीं हो सकती, किन्तु कन्याओं का संस्कार, भरण-पोषण प्रतिष्ठापन भ्राता का अनिवार्य कर्तव्य है।

सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था

(श्री शिवशरण जी) °

१

हिन्दूसामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन की आवश्यकता या अनावश्यकता पर आजकल बहुतेरे विद्वान् अपने विचार प्रकाशित कर रहे हैं। प्रायः बहुत लोगों का, जो कि अपने को सनातनधर्म के अनुयायी समझते हैं, यह कहना है कि देश-काल के अनुसार कुछ परिवर्तन की आवश्यकता अनिवार्य है और लोगों की सम्मति लेकर यदि वर्तमान शासक प्रचलित धर्मशास्त्र के नियमों में कुछ समयानुकूल परिवर्तन करें, तो इस से हानि नहीं, बल्कि समाज की भलाई होगी। परन्तु यह अत्यन्त खतरनाक भूल है और इस से विदित होता है कि वे लोग हिन्दू-समाज के आधार और विशेषताओं से अत्यन्त अनभिज्ञ हैं। यदि वे लोग चार्वाक की तरह धर्म को न मानकर भोग में लगे होते, तो यह ज्यादा बुद्धिमानी होती। परन्तु धर्मवृक्ष पर चढ़कर और कष्ट से कुछ न कुछ धर्मनियम का पालन करके

तब ब्राह्मणभाग की इतिहास, पुराणसंज्ञा मान भी ली जाय, तो भी वेदसंज्ञा होने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती अर्थात् ब्राह्मणभाग को वेद भी और इतिहास, पुराण भी कहा जा सकता है। कहा जा सकता है कि जब ‘भारत’ आदि इतिहासों और ‘पाद्य’ आदि पुराणों में वेद शब्द का व्यवहार नहीं होता, तब इतिहास और पुराण के साथ वेद शब्द के व्यवहार का विरोध स्पष्ट ही है, अतः जब ब्राह्मणभाग की इतिहास-पुराणसंज्ञा है, तब उस की वेदसंज्ञा कैसे हो सकती है ? परन्तु यह कथन तो उसी के लिए समुचित है, जो ‘भारत’ और ‘पाद्य’ आदिकों को इतिहास, पुराण मानता है। जो भारतादि को इतिहासादि मानता ही नहीं, वह उपर्युक्त कथन का अधिकारी कैसे हो सकता है ? जो कहा जाता है कि यद्यपि हमलोग भारतादि को इतिहासादि नहीं मानते, तथापि प्रतिवादो मानता हुआ भी उन्हें वेद नहीं मानता, अतः उस के प्रति यह विरोध दिखलाना सङ्गत ही है। परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि वाद में उन्हीं हेतुओं को प्रयुक्त करना उचित है, जो वादि-प्रतिवादी दोनों ही को सम्मत हों। ऐसी स्थिति में जबतक वादी भारतादि को इतिहास नहीं मान लेता, तबतक उस के सहारे पर विरोध दिखलाने का उसे कोई भी अधिकार नहीं है। इस के अतिरिक्त जो ब्राह्मणभाग की इतिहास-पुराणसंज्ञा कही गयी है, वह भी प्रतिवादी (ब्राह्मणभाग को वेद माननेवाले) के प्रति अभी तक असिद्ध है।

जो कहा जाता है कि ब्राह्मणभाग प्राचीन और ऐतिहासिक अर्थ का प्रतिपादन करता है, इसलिए उस की पुराण-इतिहाससंज्ञा माननी युक्त ही है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि आस्तिकों के सिद्धान्तानुसार वेद जब सर्वकाल के अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, तब प्राचीन अर्थों का भी प्रतिपादन कर ही सकते हैं, फिर इतने मात्र से उन की पुराणसंज्ञा भी हो जाय, तो कोई हानि नहीं अर्थात् वेदों में वेदत्व और पुराणत्वाद दोनों संज्ञाओं के रहने पर भी कोई दूषण नहीं है। यदि वेदसंज्ञा से पुराणादि संज्ञा का विरोध माना जाय, तब तो “हिरण्यगर्भः समवर्त्ततग्रे” मन्त्रों आदि में भी वेदत्व न रह सकेगा, क्योंकि ये भी प्राचीन अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण पुराणसंज्ञक हो जायेंगे। यदि ये मन्त्र प्राचीनार्थ का प्रतिपादक होने से पुराणसंज्ञक होने पर भी वेद हैं, तब तो वैसे ही ब्राह्मणभाग भी पुराणसंज्ञक होने पर भी वेद ही कहलायेंगे। जो कहा जाता है कि ब्राह्मणभाग से पृथक् इतिहास, पुराणादि नहीं है, यह बात आर्ष सिद्धान्तों से विरुद्ध है, क्योंकि “समारोपणादात्मन्य-प्रतिषेधः” इस ‘न्यायदर्शन’ के चतुर्थार्थोप, प्रथमान्हिक, ६२ वे सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन महर्षि ने इतिहास, पुराण को भी प्रमाण माना है—“चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेष्वेकाश्रम्यानुपपत्तिः॥” ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमों के विषय में इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्रादि प्रमाण हैं। “तदप्रमाणमिति चेन्न, प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते”—‘ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन्’—“इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति॥” अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि इतिहास, पुराण प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि प्रमाण-भूत ब्राह्मण से इतिहास, पुराण का प्रामाण्य स्वीकृत है। अथर्वाङ्गिरस लोग इतिहास, पुराणों का प्रामाण्य यों कहते हैं कि इतिहास और पुराण चारों वेदों का पाँचवाँ वेद है। यज्ञादि मन्त्र-ब्राह्मणों के विषय हैं, प्राचीन वृत्तान्त आदि इतिहास, पुराणों के विषय हैं। अपने अपने विषय में वे सभी प्रमाण हैं। जो ऋषि मन्त्र-ब्राह्मणों के द्रष्टा हैं, वेदों, इतिहासों, पुराणों के भी पढ़ने-पढ़ानेवाले हैं, अतः इतिहास, पुराणों का प्रामाण्य दृढ़ है। यदि वात्स्यायन मुनि ब्राह्मणों को ही इतिहास, पुराण समझते होते, तो उन के अप्रामाण्य की शङ्का करके प्रमाणभूत ब्राह्मणवचन से उन का प्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों करते ? अतः स्पष्ट है कि उन्हें ब्राह्मणभाग के अतिरिक्त भारत, भागवतादि ही इतिहास, पुराणरूप से मान्य है। जब इस तरह ‘वात्स्यायन भाष्य’ प्रमाण मानकर वादी द्वारा प्रमाणरूप में उद्धृत किया जा रहा है, तब ब्राह्मण के ही प्रामाण्य में ब्राह्मण को उद्धृत करना असङ्गत भी है, अतः प्रथम हेतु सर्वथा निर्मूल और आर्ष सिद्धान्त के विरुद्ध है।

उस वृक्ष की जड़ कोटना और अपना सत्यानाश करना यह अवश्य ही बुद्धिमानी नहीं है। विदित होता है कि आज-कल के बहुत से लोग वृक्ष की जड़ काटकर उस का फल भोगना चाहते हैं। परन्तु जिस समय फल न मिलकर भूखे मरने का अवसर उपस्थित होगा। उस समय पश्चात्ताप करना बेकार होगा।

क्षत्र या विधायक मण्डल पर धर्म का नियन्त्रण रखना किसी सामाजिक संस्था की आधारभूत समस्या है। प्रजा तो राजा के अधीन है, परन्तु राजा को धर्म के अधीन रखना सरल बात नहीं है। शासन किसी रूप से भी हो, यदि धर्म से बाधित नहीं होता, तो उस में कोई रुकावट नहीं हो सकती। शासक जिस को अपना हित समझता होगा, उस को धर्म बनायेगा, जिस में विश्वास रखता है, उस को सिद्धान्त बनायेगा और जबर्दस्ती सब प्रजाओं को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करेगा। इसलिए अनेक देशों में दिखलायी पड़ता है कि प्रचार आदि द्वारा शासक प्रजाओं के मन को अपने वश में करने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह अत्यन्त हानिकारक है, क्योंकि इस से मनुष्य-जीवन का उद्देश्य नष्ट हो जाता है। संसार में विचार करने में अस्वतन्त्र पुरुष निरर्थक वस्तु है, जैसे पांखहीन पक्षी।

प्राचीन समय में सब देशों की शासन-विधि का आलोचन करने से विदित होता है कि राजाओं पर धर्म का शासन रहा। यह धर्म अपने मन से कल्पित धर्म नहीं, बल्कि सम्प्रदाय से प्राप्त अधिकारियों द्वारा विवक्षित धर्म ही था। यही ईसाईसमाज का भी आधार रहा। 'चर्च' (धर्मसङ्घ) की शक्ति इतनी रही कि अधार्मिक राजा का राज्य से ही नहीं, बल्कि पूरे ईसाई-समाज से बहिष्कार कर दिया जा सकता था, उस स्थिति में वेचारे राजा को कोई भी छोटे से छोटा आदमी जल, भोजन आदि देने का साहस नहीं कर सकता था। जबतक राजा लोग 'धर्मसङ्घ' के नियन्त्रण में रहे, तबतक समाज की स्थिति अच्छी रही, युद्ध आदि धर्म की सीमाओं में रहे, संस्कृति की उन्नति भी रही। अपने ऊपर 'धर्मसङ्घ' का अधिकार राजालोग पसन्द नहीं करते थे। उस से छूट जाने के लिए वे यत्न करते रहते थे। परन्तु प्रजा धर्म को अपना रक्षक समझकर 'धर्मसङ्घ' की सहायक रही। सिर्फ देश-भक्ति के प्रचार से राजालोगों को प्रजा को अपने पक्ष में लेने का उपाय मिला। 'धर्मसङ्घ' निर्देश रहा। देशी देशी धर्म बनाने में राजालोग सफल हुए, इस से 'धर्मसङ्घ' की एकता टूट गयी, राजालोग धर्म को अपने वश में ले सके। इस के बाद उन की प्रजा को कष्ट होने में, आपस में झगड़ा करने में कोई रुकावट नहीं रही। कहा जाता है कि भारतवर्ष में बौद्धधर्म का इतिहास कुछ इस से मिलता है, क्योंकि बौद्धधर्म भी क्षत्रिय-क्रान्ति थी, जिस के द्वारा राजालोग धर्माधिकारियों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होकर धर्म को अपने वश में ले सके। परन्तु राजाओं पर धर्म का नियन्त्रण न रहने पर देश की स्थिति अवश्य ही बिगड़ जायगी और युद्ध आदि का कष्ट प्रजाओं को सहना पड़ेगा।

सब देशों की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था धर्म-नियन्त्रित राजतन्त्र रही। उस के कष्ट होने से सब देशों में अधर्म, अन्याय और अशान्ति अत्यन्त बढ़ गयी। दुष्काल में पड़ने पर भी अभीतक हिन्दूसमाज ही इस सिद्धान्त की रक्षा कर सका, जिस के कारण हिन्दू-समाज संसार में एक ही धार्मिक समाज दिखलाई पड़ता है। वर्तमान नयी शिक्षावाले हिन्दुओं को धर्महीन समाज का अनुभव नहीं है। वे समझते हैं कि आजकल के भारतवासियों में सात्त्विक भाव दिखाई पड़ते हैं। यहाँ के लोगों में शान्ति, कृपा, परस्पर प्रेम, गुरुजनो पिता आदि में आदर, शौच, नियमित भोजन, जीवन आदि स्वाभाविक हैं। पर वे नहीं जानते कि अन्य देशों में मां-बाप को मारना, गुरु का अनादर, कूटता, अशुद्धता आदि मनुष्य-स्वभाव माने जाते हैं, यदि भगवान् की अकृपा से यहाँ भी धर्मशासन न रहेगा, तो लोगों का स्वभाव वैसा ही होगा।

यदि दुष्काल में धर्मशासन के सिद्धान्त की रक्षा कुछ न कुछ हो सके, तो निस्सन्देह वह समय आ जायगा, जब क्षत्र भी इस के अनुकूल हो जायगा। उस समय सब संसार के देशों में भारतवर्ष की स्थिति श्रेष्ठ रहेगी। दुष्काल में सब से कठिन समस्या यही है कि सुकाल में आवश्यक भोग-सामग्रियां नष्ट न हो जायें। यदि दुष्काल में घर, वस्त्र आदि थोड़े भोजन के लिए दे दिये जाते हैं, तो सुकाल आने पर घटहीन वस्त्रहीन

होकर गरीबी में रहना ही पड़ेगा। सामाजिक दृष्टि से भी स्थिति ऐसी ही है। बहुत सी सामाजिक संस्थाओं का मूल्य दुष्काल में स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु सुकाल आनेपर वे देश की उन्नति, कल्याण आदि के साधन हो जायेंगे।

उन्नत समाज का एक ही साधन—क्षत्र के उपर धर्म-शासन—ही है। उस सिद्धान्त को कभी नहीं छोड़ देना चाहिए, क्योंकि उस को छोड़ने से फिर उन्नति असम्भव हो जाती है। यदि इस सिद्धान्त को, चाहे कुछ और आवश्यक परिवर्तन की आशा से तोड़ दिया जाय, तो यह नहीं मूलना चाहिए कि इस से हिन्दू-समाज का आधार नष्ट हो जाता है और पूरे सामाजिक स्वरूप का नाश अनिवार्य है। इस का फल आजकल के समाज-संशोधकों की दृष्टि के बाहर है। यदि वे अपने प्रयत्न का फल देख सकते, तो काँपते हुए वन में भागते होंगे।

ऐसे गम्भीर प्रश्न को केवल राजनीतिक प्रश्न की दृष्टि से देखना बुद्धिहीनता है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि ईसाईधर्म और इस्लाम भी शुरू में किसी रूप में क्षत्र के ऊपर थोड़ा सा धर्म-नियन्त्रण रखने के प्रयत्न में रहे। सफल या असफल हुए यह उन के अनुयायियों की गलती है।

अतिकठिन समय में आजतक हिन्दू-धर्म का, अपने सिद्धान्त की रक्षा करने का, सामर्थ्य आश्चर्यजनक है। इस से विदित होता है कि हिन्दू-समाज का आधार अत्यन्त बलवान् और सच्चा है। आजकल शिथिल कहे जानेवाले लोगों में एक शौक सा विदित होता है कि अपने देश की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता के नगण्य और अनादरयोग्य समझते हैं। परन्तु इस से विदित होता है कि वे विचारहीन हैं, आजकल की शिक्षा का यह शोचनीय फल है।

जब शारीरिक स्वतन्त्रता नियन्त्रित रहती है, तब विचार की स्वतन्त्रता की सम्भावना होती है। नियम, मर्यादा आदि के बिना कोई भी समाज नहीं हो सकता, यह सर्वमान्य है। परन्तु आजकल बहुत से लोग यह नहीं समझते कि मर्यादा कम होने से विचार और व्यवहार की स्वतन्त्रता कम होती है। यदि जाति, आप्रम आदि, खान-पान, स्पृश्यता-अस्पृश्यता आदि की मर्यादा बहुत होती, तो मनुष्यस्वभाव भिन्नभिन्न होने से हर एक को स्वस्वधर्म पालने में कोई बाधा न होती। परन्तु जब मर्यादाएँ कम हो जाती हैं, तब सब लोगों को एक ही आचार, एक ही विचार का होना चाहिए, नहीं तो हर समय झगड़ा, कठिनाई उत्पन्न होती है। मछली खानेवाले बङ्गाली ब्राह्मण और न खानेवाले दूसरे ब्राह्मण यदि साथ ही भोजन करें, तो या तो बङ्गाली को मछली खाना छोड़ देना पड़ेगा, या तो दूसरे ही को खाना पड़ेगा। इस से झगड़ा, जबर्दस्ती आदि प्रसङ्ग अनिवार्य ही हैं। किसी को विचार-आचार की स्वतन्त्रता न रहेगी। यही बात हरेक विषय में आती है। मर्यादा कम होने से स्वतन्त्रता का सत्यानाश हो जाता है। जिन देशों में मर्यादा बहुत कम होती है, वहाँ सब लोगों को बराबर करने के लिए अनेक तरह का प्रचार करना पड़ता है, जिस से विचार की स्वतन्त्रता नष्ट होती है, स्वधर्म पालने की सम्भावना नहीं रहती।

इतिहास के पर्यालोचन करने से विदित होता है कि हिन्दू-समाज में जो परस्पर तितिक्षा, विचार, धर्म आदि की स्वतन्त्रता मिलती है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलती, यह हिन्दुओं के शत्रु को भी मान्य है। फिर हिन्दू-समाज के जैसे मर्यादा से पूर्ण नियम, अन्य किसी भी समाज में नहीं है। किसी दूसरे देश में इतनी भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ, धर्म, सामाजिक संस्थाएँ एक दूसरे के पास मित्रता और शान्तिपूर्वक नहीं रह सकते थे। इतनी बात ही देखकर उसी समाज-आदर्श को मानना चाहिए, जिस में इतनी स्वतन्त्रता की सम्भावना है और बिना सोचे इन नियमों में हस्ताक्षेप करना, जो कि इस समाज के आधार हैं, अवश्य ही बुद्धिमानी नहीं हो सकती। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इस्लामधर्म की तरह यदि कोई समाज सब लोगों को बराबर मानता है, तो स्वतन्त्रता का नाम भी नहीं रहता। क्या मुसलमानों के देश में मुसलमानों के आचार-विचार, धर्म आदि का पालन करने की स्वतन्त्रता के अलावा और कोई भी स्वतन्त्रता है ?

धर्मसङ्घ-समाचार

नवीन शाखाएँ—

१—नागरिक सङ्घटन की दृष्टि से काशीस्थ 'लक्ष्मीमण्डल' की सभा मुंशी जयन्तीप्रसादजी एडवोकेट के निवासस्थान पर हुई। मुंशीजी ने अपने भाषण में सङ्घ की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर प्रकाश डाला।

‘नगरसङ्घ’ के मंत्री श्री पं० ब्रजमोहनजी दीक्षित आयुर्वेदान्त्राय ने सङ्घ की योजना बतलाई। उक्त मण्डल के निम्न पदाधिकारी निर्वाचित किये गये—पं० विश्वनाथप्रसादजी उपाध्याय कर्नल (अध्यक्ष), श्री मुंशी जयमङ्गलप्रसादजी, बाबू राधेकृष्णजी वर्मा रिटायर्ड सुनसरिम, तथा मुंशी जयन्तीप्रसादजी एडवोकेट (उपाध्यक्ष), बाबू रामानन्दसिंहजी मुख्तार (मंत्री), बा० प्यारेलालजी श्रीवास्तव आनरेरी मेजिस्ट्रेट (उपमंत्री)।—श्रीविद्याधरजी मिश्र। २—मु० पो० रानी (मारवाड़)। श्री सेठ प्रमुखलजी अग्रवाल (अध्यक्ष) पं० दुर्गाशङ्कर जी ज्योतिषी (मंत्री)। ३ संस्कृत पाठशाला, उदयमानपुर (कोरहुआ), पो० शङ्करगञ्ज, जि० जौनपुर—श्री पं० रामयशजी त्रिपाठी की प्रेरणा और श्री पं० रामकरणजी पाण्डेय एवं श्री पं० रामसहायजी त्रिपाठी (व्याकरणाचार्य) के प्रयत्न से यौष शु० ३ को शाखासभा स्थापित की गयी। श्री पं० सुखनन्दनजी उपाध्याय (अध्यक्ष), श्री पं० महानन्दजी चतुर्वेदी (उपाध्यक्ष), श्री बाबू वैजनाथसिंहजी (मंत्री), श्री बाबू रघुनाथसिंहजी (उपमंत्री), श्री ठाकुर विजयबहादुरसिंहजी (सञ्चालक)। ४—पूरे रेवतीराम, स्टेट डिग्वस, १७ दिसम्बर—श्रीमान लालजयसिंह बहादुरसिंह जी डिग्वस-नरेश के सान्निध्य में ‘धर्मसङ्घ’ शाखा की एक महती सभा हुई। पं० रामनारायण जी शुक्ल के निवासस्थान पर, जहाँ सभा हुई थी, एक दिन अखण्ड-कीर्तन का आयोजन किया गया था। श्री राजा साहव डिग्वस ने वचन दिया कि हमारे राज्य के भीतर या बाहर कहीं भी यदि ‘धर्मसङ्घ’ की शाखासमिति खोलने का आयोजन होगा, तो अवसर पर पहुँचने का मैं सहर्ष प्रयत्न करूँगा। उपस्थित जन-वर्ग ने धर्मसङ्घ के नारों द्वारा इस का स्वागत किया।

धार्मिक अनुष्ठान

१ दुबराजपुर—पं० रामसकल तिवारी ने सङ्घ के सङ्कल्प से रामायण-प्रवचन किया। आगामी माघ शुक्ल १४ को महावीर-ध्वजोत्तोलन का उत्सव मनाया जायगा। २ अतिविष्णुयज्ञ—‘धर्मसङ्घ’ के सङ्कल्पानुसार नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री शिवस्वरूपजी, संचालक ‘संस्कृत पाठशाला, सुनपैड़ा’ ने श्रीमद्भागवत के १०८ सप्ताह किये, जिस की समाप्ति के उपलक्ष्य में स्थान सुनपैड़ा रामनगर जि० रोहतक में माघ शु० ५ गुरुवार (ता० १८ जनवरी सन् १९४५ ई०) से माघ शु० १५ रविवार (ता० २८ जनवरी) तक अनन्तश्रीविभूषित वीतराग स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज के तत्वावधान में श्रीअतिविष्णुयाग होगा। श्रीओंकारआश्रमजी, श्रीशिवाश्रमजी महाराज तथा श्रीहरिहराश्रमजी महाराज आदि महात्मागण पधारेंगे। विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों को भी निमन्त्रित किया गया है। साथ साथ प्रवचन, स्वाध्याय, व्याख्यान, भजन, कीर्तनादि भी होते रहेंगे। बाहर से आनेवाले यात्रियों के भोजनादि का प्रबन्ध यथा-साध्य रहेगा। सुनपैड़ा रेलवे स्टेशन गन्नौर से ३ मील है और मोटर से आनेवाले को लहरधौली बंगला उतरना चाहिए—श्रीहरिस्वरूपजी ब्रह्मचारी।

‘हिन्दू-कोड’-विरोध

१ बिहृसभा, नदियाद में ता० १७ दिसम्बर को वैद्यराज श्रीसुन्दरालालजी की अध्यक्षता में एक सभा हुई। २००० हस्ताक्षरों से विरोध-पत्र सरकार के पास भेजा गया।—श्री हरिनारायण जोशी (मंत्री)। २ मौरासां जागीर, बाया उज्जैन, ग्वालियर रान्य—ता० २१ दिसम्बर को ७३ श्रीगुरुषों के हस्ताक्षर से विरोधपत्र सरकार को भेजा गया।—श्रीनारायणसिंह पोस्ट-मास्टर। ३ डोहडा, थाना धनबाद, जिला हजारीबाग (बिहार)—५० हस्ताक्षरों से विरोधपत्र सरकार के पास भेजा गया।—श्रीपोखीराम ‘निशारद’। ४ श्रीमूलचन्द खैरायतीराम सनातनधर्म संस्कृत विद्यापीठ, लाहौर—म० म० श्री पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, म० म० श्री पं० परमेश्वरानन्दजी, पं० ललिताप्रसादजी डबराल आदि ९ विद्वानों ने ‘हिन्दू कानून कमेटी’ की लाहौर आनेपर शास्त्रार्थ के लिए आव्हान किया है। ५ सत्सङ्ग-भवन, गणेशबाग, बम्बई के प्रयत्न से लगभग १००० हस्ताक्षरों से विरोध-पत्र भेजे गये हैं। ६ पिलखुवा—१५ दिसम्बर। परमपूज्यपाद जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीस्वामी देवनायकाचार्यजी महाराज वडगादी बम्बई, श्रीस्वामी बंसीनाथ जी महाराज तथा अन्य कई विद्वान् यहाँ पधारें। श्रीरामशरण-दासजी के स्थान पर दो दिन तक जगद्गुरुजी तथा अन्य विद्वानों के धर्मविरोधी विलोके विरोध में मार्मिक भाषण हुए।—श्रीरामलाल।

प्रकाशक—श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

७—माहेश्वरीभवन कलकत्ता—रविवार ता० २४ दिसम्बर को श्री सेठ जुगलकिशोरजी बिरला की अध्यक्षता में विराट् सभा हुई। अ० भा० कोड विरोधी सम्मेलन के मंत्री बाबू दामोदरदास खन्ना, श्री सेठ जुगलकिशोर जी सोमानी, श्रीवसन्तकुमार चटर्जी, श्री गणेशदत्तजी गोस्वामी, श्रीरामाप्रसाद मुकर्जी, श्रीईश्वरदास जालान, श्री सेठ छोटे-लालजी कानोडिया आदि प्रसिद्ध व्यक्तियों ने कोड की त्रुटियों, उस के पास हो जाने पर होनेवाली हानियों पर हिन्दू जनता को ध्यान दिलाने हुए उस के जोरदार विरोध की अपील की। अध्यक्ष महोदय ने भी अपने लम्बे भाषण में कोड के स्वरूप, उस को बनाने, प्रस्तुत करने के सरकार तथा ‘हिन्दू कानून कमेटी’ के अनधिकार आदि की चर्चा करते हुए लोगों से कोड के तीव्र विरोध का अनुरोध किया। श्री गोस्वामी गणेश-दत्तजी ने विरोध-प्रस्ताव उपस्थित किया, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ।

निम्नलिखित स्थानों से भी ‘कोड’ के विरोध में जनता के हस्ताक्षर से विरोधपत्र सरकार के पास दिल्ली भेजे गये। जानकारी के लिए केवल स्थान, हस्ताक्षर-संख्या और समाचार-प्रेषक के नाम आगे दिये जा रहे हैं—
८ उन्नाव, १०, मुंशी जयन्तीप्रसादजी श्रीवास्तव, स० अध्यापक मिडिल स्कूल उन्नाव। ९—पीसाखोड़ी, पो० नीमपानी पन्डर, वैतूल (सी० पी०) श्रीशिवदयाल तिवारी। १०—आलमगिरिगञ्ज, बरेली—३००१, श्रीराम-विहारीलाल अग्रवाल, वकील। ११—कुटियाना (जूनागढ़ स्टेट, काठियावाड़) ७३। १२—कोटालडीह ३३, श्रीसन्तुष्टमणि तिवारी। १३—पचगढ़ी बाजार—२१, श्रीकविराज ज्योतिर्मय गोस्वामी। १४—श्रीयोगानन्द संस्कृत विद्यालय, काँको—८७, श्रीस्वामी अशोकाश्रमजी महाराज। १५—बाव-सारा—३२, श्रीअयोध्यानाथ तिवारी। १६—धारकिरी—६७, श्रीराम-प्रताप तिवारी। १७—खरणीग्राम—३२, श्रीचीनीवाससिंह चौधरी। १८—विराजपुर—३७, श्री पं० द्वारिकानाथ पाण्डेय। १९—मयूरपहाड़—५०, श्रीनान्ही पाण्डेय।

विशेष समाचार

श्रीधर्मसङ्गक्षामण्डल, काशी—उक्त संस्था की रजिष्ट्री हाल ही में हो गयी है। ‘मण्डल’ की शिक्षा-योजना को व्यापक एवं विस्तृत करने के लिए श्रीस्वामी करपात्रीजी के तत्वावधान में प्रबन्धसमिति की एक बैठक गत प्रतिपदा शनिवार को सायङ्काल गङ्गातरङ्ग, नगवा में हुई।—श्री पं० काशीराम इस्सर एम्. ए. (मंत्री)।

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज का प्रवचन—गत पौष शुक्ल १४ गुरुवार को स्थानोप गोयनका महाविद्यालय में श्रीस्वामीजी महाराज को उक्त संस्था की ओर से निमन्त्रित किया गया था। सायङ्काल ४ बजे श्री सेठ गौरीशङ्कर जीगोयनका नगवा गङ्गातरङ्ग से श्रीस्वामीजी महाराज को साथ लेकर नौकाद्वारा महाविद्यालय में आये। पहले ‘उपदेशक-विभाग’ के कतिपय छात्रों के भाषण हुए, जिन्हें सुनकर श्रीस्वामीजी महाराज ने सन्तोष प्रकट करते हुए उन्हें प्रोत्साहित किया और प्रवचनसम्बन्धी आवश्यक कई उपयुक्त सूचनाएँ दीं। इस के पश्चात् आप का ‘धर्म से ही लौकिक-पारलौकिक उन्नति होती है’ इस विषय पर बहुत ही मार्मिक भाषण हुआ। सभा में विद्यालय के अध्यापक तथा छात्रों के अतिरिक्त काशी तथा बाहर के बहुसंख्यक विद्वद्गण उपस्थित थे। वहाँ से रात में ७॥ बजे के लगभग आप श्रीलक्ष्मीमण्डल की सभा में पधारें।

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज का प्रस्थान—पूज्यपाद श्रीस्वामी जी महाराज गत माघ कृष्ण ३ सोमवार को ७॥ बजे प्रातःकाल काशी से प्रयागराज जाने के लिए नौका द्वारा रवाना हो गये। शूलटङ्केश्वर, मिर्जा-पुर, श्रीविन्ध्यक्षेत्र होते हुए आप प्रयाग पहुँचकर वहाँ सम्भवतः बसन्त-पञ्चमी तक ठहरेंगे। वहाँ से चलकर आगामी अर्द्धकुम्भी तक हरद्वार पहुँचेंगे। आप के साथ काशी से श्रीगदाधरजी, श्रीमार्कण्डेयजी, श्रीमहावीर-स्वरूपजी आदि ब्रह्मचारिगण भी गये हैं।

कार्यसमिति की बैठक—‘अखिल भारतीय धर्मसङ्घ’ के प्रधान मंत्री श्री पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी सूचित करते हैं कि कई आवश्यक विषयों पर विचार करने के लिए आगामी माघ कृष्ण अमावास्या को प्रयाग में सङ्घ की कार्यसमिति की बैठक और विशेषाधिवेशन होगा। सभी सदस्यों को सूचित किया जाता है कि जिन्हें सुविधा हो, वे अवश्य पधारने की कृपा करें। श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज भी उक्त क्षणसर पर वहाँ रहेंगे।

सिद्धान्त

सामाहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण २)

विशेष ५), एक प्रति -)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं० — दुर्गावृक्ष त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

ब्राह्मणभाग का वेदत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

२

अब वेद का व्याख्यानरूप होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं है, इस हेतु पर विचार करें, तो मालूम होता है कि वह भी असङ्गत है। अनुमान का आकार यह होता है—“ब्राह्मणानि न वेदः व्याख्यानरूपत्वात्।” अर्थात् ब्राह्मण वेद नहीं है, क्योंकि वे वेद के व्याख्यानरूप हैं। इस अनुमान में हेतु अनैकान्तिक है अर्थात् कहीं मन्त्र भी अन्य मन्त्र का व्याख्यान करते हैं, फिर भी जब वे वेद माने जाते हैं, तब ब्राह्मण ने क्या अपराध किया, जो वेदव्याख्यान करने से ही वे वेद न माने जायें? वेदपद से कहे जानेवाले वाक्यकलाप को पदान्तर से अर्थ कथन करना वह वेदव्याख्यान है। ऐसा व्याख्यान मन्त्र में भी देखा जाता है, जैसे “प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता वभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।” (यजु० अ० २३, मं० ६५)। इस मन्त्र का व्याख्यान करनेवाला दूसरा मन्त्र यह है—“प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता वभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्” (ऋक्० अष्टक ८, अ० ७, व० ५)। ये दोनों मन्त्र यद्यपि परस्पर भिन्न हैं, प्रथम मन्त्र में ‘विश्वा रूपाणि’ और द्वितीय में ‘विश्वा जातानि’ यह शब्दभेद है, तथापि इतने भेदमात्र से अर्थ का भेद नहीं हो सकता, किन्तु इन का अर्थ एक ही है। इस रीति से मन्त्र का व्याख्यान मन्त्र भी होता है। इसीतरह “नवो नवो भवसि जायमानोऽह्नाङ्केतुरुषसामेव्यग्रम्। भागन्देवेभ्यो विदधास्यायन्प्रचन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥” यह अथर्वणमन्त्र है। “नवो नवो भवति जायमानोऽह्नाङ्केतुरुषसामेव्यग्रम्। भागन्देवेभ्यो विदधास्यायन्प्रचन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥” यह ऋद्धमन्त्र है। यहाँ भी वेदपदों का पदान्तर से अर्थकथनरूप व्याख्यान कहा जा सकता है। वस्तुतस्तु वेदव्याख्यानरूप होने पर भी अपौरुषेयता के कारण इन मन्त्रों को ‘वेद’ कहा जाता है। जिस ग्रन्थ का कोई कर्त्ता स्मर्यमाण न हो और सम्प्रदाय-परम्परा से जिस का अविच्छिन्न पठन-पाठन चला आ रहा हो, उसी ग्रन्थ को ‘वेद’ कहा जाता है। मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही में यह बात तुल्य ही है, अतः मन्त्र के समान ही ब्राह्मण भी वेद ही हैं। किसी वाक्य का कर्त्ता होने से ही उसे वेद नहीं कहा जाता, इसी में ऋगादि वेद कहलाते हैं, भारतादि वेद नहीं कहलाते। जैसे व्याख्यानरूप न होना वेद होने का कारण नहीं, वैसे व्याख्यानरूप होना वेद होने में बाधक भी नहीं है। यदि व्याख्यानरूप न होने से ही किसी ग्रन्थ का वेदत्व हो, तब तो सभी दर्शन-सूत्रों को वेद कहा जा सकेगा। परन्तु यह किसी भी वैदिक को सम्मत नहीं है, अतः व्याख्यान-रूप होने से ब्राह्मणभाग से वेदसंज्ञा कदापि नहीं मिटायी जा सकती। अतएव “वेदव्याख्यानरूपत्वात्” यह हेतु सोपाधिक भी है। जो साध्य-व्यापक होकर साधन का अव्यापक हो, वही ‘उपाधि’ कहलाता है। प्रकृत में स्मर्यमाणकर्त्तृत्व उपाधि है। जहाँ जहाँ वादी का साध्य वेदत्वाभाव है, वहाँ वहाँ स्मर्यमाणकर्त्तृत्व है, जैसे महाभारतादि में वेदत्वाभाव भी है, उन के कर्त्ता व्यास आदि स्मर्यमाण भी हैं। वेदव्याख्यानत्वरूप हेतु पूर्वोक्त मन्त्रों में भी रह गया, परन्तु वहाँ स्मर्यमाणकर्त्तृत्व नहीं है। ऐसी स्थिति में उपाध्यभावहेतु से ब्राह्मण में साध्याभाव अर्थात् वेदत्व का इस प्रकार अनुमान कर लिया जायगा कि—“ब्राह्मणानि वेदाः स्मर्यमाणकर्त्तृत्वाभावात्” अर्थात् ब्राह्मण वेद है, उन का कर्त्ता स्मर्यमाण न होने से। इस अनुमान से पूर्वोक्त वादी का अनुमान अपने-आप ही प्रतिरुद्ध हो जायगा।

इसी तरह “ऋषिभिरुक्तत्वात्” अर्थात् ऋषियों से उक्त होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं है, यह तीसरा हेतु भी असङ्गत ही है, क्योंकि यदि ऋषि से उक्त होना ही वेदत्व का वाचक है, तब तो ऋगादि मन्त्र भी

ऋषि से उक्त हैं, क्योंकि उन का भी अनादि काल से पठन-पाठन ऋषियों द्वारा ही चला आता है, अतः ऋष्युक्तत्व ब्राह्मणों के वेदत्व का वाचक नहीं है। यदि ‘उक्त’ का अर्थ रचित है, तब तो ब्राह्मणभागों का ऋषियों से रचित होना ही असिद्ध है, अतः हेतु ही असिद्ध है, फिर उस से साध्य की सिद्धि कैसे होगी? यदि भारद्वाज, अङ्गिरा, पुलह, याज्ञवल्क्य, जनक आदि का संवाद देखकर ब्राह्मणों को ऋषियों से रचित मानना इष्ट है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदों की यही तो वेदता है कि वे अतीत, अनागत, वर्त्तमान, सन्निवृष्ट, विप्रकृष्ट, सब वस्तुओं को स्वयं जानते हैं और दूसरों को ज्ञानते हैं—“भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।” अतएव ‘प्रातिशाख्य’ में कात्यायन ने कहा है कि लौकिक वाक्यों का उच्चारण अर्थपूर्वक अर्थ के अनुसार होता है। प्रयोक्ता जिस वाक्य से जिस अर्थ का बोध कराना चाहते हैं, उस अर्थ को समझकर उस के अनुसन्धान से ही वाक्य की रचना करते हैं, परन्तु वैदिक वाक्यों का प्रयोग अर्थपूर्वक नहीं हो सकता, क्योंकि वेद नित्य हैं, उन के अर्थ सृष्टि-प्रलयादि अनित्य हैं। सारांश यह है कि लौकिक वाक्यों और आख्यायिकाओं को घटनापूर्वक कहा जा सकता है, किन्तु वैदिक वाक्य या आख्यायिका तो अर्थ की विल्कुल अपेक्षा न करके सब समाचारों को ज्ञापन करते हैं। जब ऋषियों में भी अर्थनिरपेक्ष भविष्य बात कहने का सामर्थ्य होता है, तब ईश्वर के निःस्वासभूत वेदों के लिए तो कहना ही क्या? साधारण लोग अर्थानुगारी शब्द बोलते हैं, परन्तु असाधारण ऋषि लोगों के तो शब्द का अनुसरण अर्थ करते हैं—“लौकिकानां ऋषीणां तु अर्थं वागनुवर्त्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥” अतः यदि वेद में कोई संवाद आ जाय, तो इतने से ही उन को अनादिता का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि अनादि वेद से भी भूत, भवत्, भविष्यत् तीनों काल की वस्तु कही जा सकती है। यदि यह सिद्धान्त न माना जायगा, तब तो “सूर्याचन्द्रमसौ घाता यथापूर्वमकल्पयत्”। इस संहिता-मन्त्र में भी अवेदत्वापत्ति आ जायगी, क्योंकि जैसे जनकादि का संवाद देखकर ब्राह्मणभागों को संवाद के पश्चात् ऋषियों का बनाया मानकर उन के वेदत्व का खण्डन किया जाता है, वैसे ही मन्त्र में पूर्वकल्प के समान सूर्य-चन्द्रमा को सृष्टि देखकर यह भी कल्पना की जा सकती है कि सूर्यचन्द्र की सृष्टि के बाद किसी ने इन मन्त्रों को बनाया होगा। फिर उन की अनादिता, अपौरुषेयता सुतरां खण्डित हो जाते हैं। यदि उक्त कल्पना का खण्डन करके मन्त्रभागों का वेदत्व सिद्ध हो सकता है, तो उसी तरह ब्राह्मणभाग की वेदता निर्विघ्न ही सिद्ध हो जाती है अर्थात् जैसे चन्द्र-सूर्य को सृष्टि का वर्णन होने पर भी मन्त्रों का सृष्टि के पश्चात् निर्माण न मानकर यही माना जाता है कि वेद अर्थपूर्वक नहीं होते, किन्तु अर्थ-निरपेक्ष अतीतानागत सभी अर्थों का वर्णन करते हैं, वैसे ही ब्राह्मणभागों की भी वही स्थिति है, फिर उन के वेदत्व में क्यों शङ्का हो?

चतुर्थ हेतु अनाश्रयगतत्व है, परन्तु यह तीसरे से ही गतार्थ है। यदि उपर्युक्त हेतु का अर्थ यह लगाया जाय कि ईश्वररचित न होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं है, तो सनातनियों को यह हेतु स्वीकृत ही नहीं है, क्योंकि वे तो मन्त्रों को भी ईश्वररचित नहीं मानते, अतः ब्राह्मण का ईश्वररचित न होना उन्हें मान्य ही है।

सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था

(श्रीशिवशरण जी)

हिन्दुसमाज के सामने अनेक अतिगम्भीर समस्याएँ उपस्थित हैं। बीसों के समय हिन्दु सामाजिक संस्थानों के प्रति प्रायः ऐसे आक्रमण नहीं हुए, प्रायः जैसे आजकल हो रहे हैं। शत्रु के आक्रमण के समय सेनापति

अपनी किलाबन्दी के कोण कोण देखते हैं, जिस से अच्छी तरह से जान लें कि इस में कोई त्रुटियाँ, कोई कमजोरी तो नहीं है। वे शत्रु की ओर न देखकर अपनी त्रुटियाँ खोजते हैं। वही आजकल भी हिन्दुओं को करना पड़ेगा। अपना बल या कमजोरी समझने के लिए अपने स्वरूप को जानना चाहिए। अपने आधार, उद्देश्य आदि समझकर अपनी स्थिति का अन्वेषण करना चाहिए, मिद्धान्तों की कसौटी पर आजकल के व्यवहारों की परीक्षा करना चाहिए। तभी मालूम होगा कि कौन व्यवहार सैद्धांतिक है और कौन गौण। यह कहना कि जो कुछ हमलोग करते हैं, धर्म है और जो नहीं करते, वह अधर्म, उचित नहीं है, इस से पराजित होना निश्चित है। परन्तु यह कहना कि सनातनधर्म के सामाजिक मिद्धान्त सच हैं, उन को पालने में हिन्दुओं की शक्ति है यह अत्यन्त सत्य है। इसलिए मिद्धान्त की दृष्टि से सामाजिक संस्थाओं का अन्वेषण करना चाहिए, क्योंकि यह असम्भव नहीं कि दुष्काल में अनेक व्यवहार या आदतें धार्मिक संस्थाओं में ऐसे मिलें, जो कि वास्तव में इस के अङ्ग नहीं हैं। वे कमजोरी के कारण हैं, इस के लिए अपना रक्षा के लिए समाज को अपने आप ही उन से शुद्ध होना चाहिए।

वर्ण-व्यवस्था मनुष्य-समाज का आधार है। इस के बिना कोई भी समाज नहीं रह सकता। इस संस्था के अलौकिक प्रमाण शास्त्रों ही से मिलते हैं, परन्तु वेदशास्त्रों से रचे हुए लोक में भी इस का प्रमाण मिलना अनिवार्य है। लौकिक दृष्टि से भी वर्ण-व्यवस्था शुद्ध या अशुद्ध रूप से किसी भी समाज की अनिवार्य आधार है।

संस्कृति, सभ्यता जितनी ऊँची होती है, उतनी ही व्यक्तियों के विशेष सामर्थ्य की आवश्यकता रहती है। जितनी सभ्यता ऊँचा हा, उतनी ही जातियों की विलक्षणता होनी चाहिए, जिस से हर एक काम में व्यक्ति की ज्यादा से ज्यादा कार्यक्षमता हो। किसी कारखाने में बोल्ट उठानेवाले, डिवाइ रखनेवाले, यन्त्र चलानेवाले के गुण भिन्न भिन्न हैं। अपने कर्म में आवश्यक गुण को परिपूर्ण करने के लिए हर एक व्यक्ति अपना जितनी शक्ति लगायेगा, उतना ही कारखाना का काम अच्छा होगा। वही बात समाज के विषय में भी सच है।

यदि सब लड़कों को एक ही शिक्षा दे दी जाय, तो सब को अनेक विषय पढ़ने पड़ेंगे, जो अपने जीवन में अनावश्यक हैं। इस से वह अपने जीवन में परिपूर्ण न हो सकेगा, जिस से व्यक्ति को भी हानि पहुँचती है। लड़कपन स शिक्षा दिये बिना अच्छा रज्जुतर्क, अच्छा अश्ववाहक, बहुभाषावादी, अच्छा नायिक आदि नहीं बन सकता। यही बात किसी दूसरे कर्म के प्रसङ्ग में भी आती है।

यदि मान लिया जाय, जैसा कि आजकल कुछ लोगों का कहना है कि पैतृक गुण प्राप्त करने में विशेष महत्त्व नहीं, कि सब जातियाँ बराबर हैं, जन्म से शिक्षा आदि द्वारा व्यक्तियों में गुण-अवगुण आते हैं, तो यह एक और कारण होगा, जिस से जन्म से ऐसा वातावरण, ऐसी शिक्षा हो, जिस से व्यक्ति अपने उपजावित कर्म के लिए तैयार किया जाय। इस शिक्षा और वातावरण के लिए पैतृक उपजावित कर्म में हर एक सुविधा मिल जाती है।

सामाजिक दृष्टि से वर्ण समाज का एक ऐसा अङ्ग है, जिस में जाति, कुल, धर्म और कर्म की अनेक विशेषताएँ दूसरे वर्णों से भिन्न हैं। कोई भी जाति ऐसी नहीं है, जिस से कुछ भी काम नहीं हो सकता। जातियों का सामर्थ्य देखकर उन को अपने अपने काम में लगाना चाहिए। यदि किसी जाति के लिए अनेक काम निषिद्ध होते हैं, तो कर्तव्य है कि अपनी जीविका के लिए कुछ उचित काम भी उन को दिया जाय, नहीं तो सङ्घर्ष अनिवार्य है। आजकल मुसलमान आदि धर्मा के सनातनधर्म से अलग हो जाने से नया नयी जातियाँ बन गयीं, जैसे कि पहले हा धर्म से भ्रष्ट होने से सब नीच जातियाँ बन गयी थीं। उन को भिन्न धर्म मानना अनुचित है। धर्म एक ही है और वह सनातन है, अन्य धर्म सनातनधर्म के भ्रष्ट अङ्ग हैं। परन्तु कभी समय उन को भी सनातनधर्म का शासन मानना ही पड़ेगा, वे सनातनधर्म की नीच जातियों में गिन लिये जायेंगे। उस समय उनकी जीविका के लिए जो नियम बना लिये जायेंगे, आज भी वे मान्य हैं, चाहे वे लोग मानें या न मानें। और उन के उचित कर्म निश्चित करके समाज की भलाई के लिए उन कर्मों में प्रयत्न से यथाशक्ति उन लोगों को लगाना चाहिए।

नयी विचारधाराओं से प्रभावित लोगों का कहना है कि लोगों को इच्छाएं, सामर्थ्य आदि भिन्न हैं, उन को अपनी पैतृक जीविका में अवरोध लگانा अन्याय है। परन्तु उन लोगों से पूछना चाहिए कि दूसरे समाजों में, जहाँ जाति के अनुसार जीविका अमान्य है, किस आधार पर अनेक जीविकाओं का निश्चय होता है? क्या वहाँ मालिक-नौकर का भेद नहीं? क्या अशुद्ध, निन्दित आदि कर्मों को कोई नहीं करता? यदि करनेवाले हैं, तो इस अन्याय का क्या आधार? यदि भाग्य या कर्म, तो ये भी जन्म के कारण क्यों मान्य नहीं हैं? यदि अपने बल या सामर्थ्य से अच्छा कर्म मिलता है, तो जो बलवान् हैं, कूटनीतिज्ञ हैं, अन्यायीपूर्ण, अधर्म, क्रूर आदि हैं, उन को सब अच्छी अच्छी जीविकाएं मिलेंगी और जो नष्ट हैं, कमजोर हैं, या धर्मान्ध, सत्यभाषा आदि हैं, उन्हें नीच कर्मों से अपनी जीविका करनी पड़ेगी। इस से बड़ा और अन्याय क्या हो सकता है?

जन्म जन्म से कार्य निश्चित होता है, तब उस कर्म के करने से मनुष्य निन्दित नहीं हो सकता। जन्म या कर्म के कारण सनातनी पुरुष किसी का अपमान नहीं कर सकता, यदि भाग्य से किसी भी जाति में एक विशेष बुद्धिमान् पुरुष उत्पन्न होता है, तो अपनी बुद्धि से वह अपनी जाति की सहायता कर सकता है। अपने काम ज्यादा सफाई से कर सकता है। इस से जाति और देश की भलाई होगी। यदि ज्यादा बुद्धि मिलने से आदमी अपने भाइयों की सहायता नहीं करेगा, बल्कि दूसरी जातियों के काम करने का प्रयत्न करेगा, तो उस को जाति की सहायता कौन करेगा? जातिनिर्यादाओं के कारण प्राचीन भारत में हर एक कार्य में बहुत ऊँची कारीगरी रही। किसी भी छंटे से छोटे शिल्प-कला आदि में एक जाति की पूरी बुद्धि, पूरी शक्ति लगती थी, यह बात नहीं थी कि विशेष बुद्धिवाले मनुष्य अपनी जाति के शिल्प आदि को छोड़ देते थे। इस के अलावा अपनी पूरी बुद्धि अपनी जाति के कर्म में लगा रहे थे, इसलिए भारतवर्ष में हर एक काम में, वह चाहे ऊँचा हो या नाचा, ऐसी उन्नत कारीगरी रही, जो किसी भी दूसरे देश में कभी विदित नहीं हुई। दूसरी बात यह है कि भारतवर्ष की समृद्धि देखकर उस को छीन लेने का अन्य देशवालों की लोभ उत्पन्न हुआ।

जब वर्णों का स्वरूप नष्ट हो जाता है, तब किसी न किसी रूप में सामाजिक आवश्यकताओं के लिए चार वर्ण बनाने ही पड़ते हैं। भारतवर्ष में भी मान्य है कि आचार के आधार पर ब्राह्मण, शूद्र आदि जातियों के अन्तर्गत चार वर्ण हैं। इन उपवर्णों का सामाजिक कार्यों में कुछ उपयोग हो सकता है। परन्तु इन वर्णों से धर्म आदि की रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए उन का अस्तित्व शुद्ध ब्राह्मण आदि जातियों के आधार पर है, जिन से अनादि वेद आदि शास्त्रों की रक्षा हो सकती है। फिर भी इन समाजों में, जिन में कर्म से वर्ण बनते हैं, जैसे प्राचीन ईसाईसमाज, ये अपनी आरामकुर्सी पर बैठने से नहीं होते थे। अत्यन्त तप, गुरुआज्ञा, ब्रह्मचर्य आदि से पूजा आदि के मन्त्रों का अधिकार मिलता था। युद्धक्षेत्र में अत्यन्त वीरता से लोग क्षत्रिय-समाज में लिये जाते थे।

सामाजिक दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था तब तक रह सकती है, जब तक भिन्न भिन्न अधिकार और भिन्न भिन्न कर्तव्यों का पालन रहता है। चार वर्ण होने से यदि कोई भा वर्ण दूसरे वर्णों के अधिकार छीन लेने का प्रयत्न करता है, तो तीनों दूसरे वर्ण एकत्रित होकर उस को नहीं करने देते। इसलिए किसी वर्ण से दूसरे वर्ण को पदचलित करना असम्भव हो जाता है।

वर्णव्यवस्था को छोड़कर ऐसा कोई भी सामाजिक व्यवस्था नहीं हो सकती, जिस में एक वर्ण का दूसरे वर्णों पर अनियन्त्रित आधिपत्य न हो। परन्तु एक वर्ण के अनियन्त्रित शासन के आधार पर किसी स्थिर समाज की सम्भावना नहीं है, क्योंकि चार वर्णों के बिना कोई समाज नहीं रह सकता और तीन वर्णों की जनसंख्या शासकवर्ण की जनसंख्या से अधिक होना अनिवार्य है। वे लोग भी अपने हाथ में शासन लेने का अवश्य प्रयत्न करेंगे। क्रान्ति के बाद क्रान्ति होना ही निश्चित है। कोई भी समाज सेवा के बिना, व्यापार पूँजीपतियों आदि के तथा मजदूर, शिल्पी आदि के बिना नहीं रह सकता। वस, इतने से चार वर्ण बन गये और वे सब शासन अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करेंगे। सिर्फ प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में धर्म का शासन हो सकता है और शासक नियन्त्रित हो सकता है। धर्मशासन स्थापित करने में सब से कठिन समस्या यह है कि किस उपाय से ब्राह्मण

जाति, जिस के द्वारा धर्मशासन राजाओं के ऊपर होता है, स्वतन्त्र रहे, जिस से शासक धन को लालच से या भय से उन को अपने हाथ में न ले सकें। इस उद्देश्य से ब्राह्मणों के जीवन और शिक्षा के नियम इतने कठोर होते हैं कि जिन से कर्तव्य-पालन स्वाभाविक हो जाय और दुर्वासनाएं रुक जाय।

वर्ण-व्यवस्था को छोड़कर चार शासन-विधियाँ हो सकती हैं। ये एक एक वर्ण के अनियन्त्रित शासन हैं, वे रूप में भिन्न हैं, परन्तु तत्व में बराबर हैं, क्योंकि स्थिर नहीं हैं, एक दूसरे के बाद हुए एक वर्ण शासन करता है। अनियन्त्रित राजतन्त्र से प्रजातन्त्र नामक वैश्य-शासन उत्पन्न होता है। इस से साम्यवाद नामक शूद्रों या मजदूरों का शासन और उस से अधिनायकवाद उत्पन्न होता है, फिर राजतन्त्र आदि। ब्राह्मणों का अनियन्त्रित शासन कम दिखाई पड़ता है। तिव्रत में आजकल वैद्य शासन प्रचलित है, परन्तु प्रायः भारतवर्ष में वैद्य कभी नहीं हुआ। भारतवर्ष में ब्राह्मण जाति शुद्ध और सुरक्षित है। उस में द्वैतरीय गुण मिलते हैं। धर्मरक्षक होने से यह सम्भावना कम है कि ब्राह्मणलोग धर्म छोड़कर राज्याधिकार भी लेने का प्रयत्न करें।

धर्मसङ्घ-समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

काशी—पौष कृष्ण २ शुक्र से स्थानीय श्रीकालभैरव के समीप श्री आकाशभैरव में सङ्घ के सङ्कल्प मे अनुष्ठान हो रहा है।—श्री पं० सीताराम भट्टमह। २—पीलीभात—सङ्कीर्तनसङ्घ, कुमारतनय सभाभवन के प्रयत्न से १०८ दिन के लिए अखण्ड हरिनाम-सङ्कीर्तन हो रहा है। चैत्री पूर्णिमा को पूर्णाहुति होगी। ३—श्रीसीताराम-मन्दिर, मिश्रिततीर्थ, सीतापुर—आगामी फाल्गुन कृष्ण ११ से फाल्गुन शुक्र ५ तक श्रीविष्णु-यज्ञ करना निश्चित हुआ है। साथ में साधुमम्मेलन, रुविसम्मेलन, गीज्ञा-रामायण-सर्वशाखा-विद्वत्सम्मेलन आदि भी करने का विचार है।—श्रीराधेन्द्रशरणजी (पं० वंशेश्वर शुक्ल वैद्यराज)। ४—रावर्ट्सगञ्ज, मिर्जापुर—आगामी फाल्गुन कृष्ण ९ मङ्गलवार से अमावास्या तक स्थानीय गौरीशङ्करस्थान में महासद्वय एवं धर्मसङ्घ का विशेषाधिवेशन करना निश्चित हुआ है। श्रीवडहरनरेश राजा शाहदामहेशप्रसाद शाहजी अगोरी और श्रीमान् राजा नरसिंहपद्मशरणसिंहजी शाह विजयगढ़नरेश की संरक्षकता में उक्त कार्य का आयोजन किया जा रहा है। श्रीस्वामी स्वरूपानन्दजी इस के लिए प्रयत्नशील हैं। कोषाध्यक्ष श्रीसेठ वद्रीप्रसादजी रावर्ट्सगञ्ज के पास सहायता भेजी जा सकती है। विशेषाधिवेशन त्रयोदशी शनिवार से ३ दिन होगा।

नवीन शाखाएँ—

१ श्रीगौरीशङ्करमण्डल, रावर्ट्सगञ्ज (मिर्जापुर)—पौषशुक्ल ३ सोमवार को शाखासभा की स्थापना हुई। पं० विश्वनाथ द्विवेदी (अध्यक्ष), पं० प्रभाशंकरजी चतुर्वेदी (उपाध्यक्ष), आराजेन्द्रप्रसाद-सिंहजी (मन्त्री), श्री पं० उमाशङ्करजी द्विवेदी (उपमन्त्री)। २—श्रीशीतल-मण्डल, रावर्ट्सगञ्ज—श्रीसेठ वद्रीनारायणजी (अध्यक्ष), पं० रामरखा पाण्डेय (उपसभापति), श्रीसेठ रामविलासजी (मन्त्री), बा० वज्रनाथसिंहजी (उपमन्त्री), श्रीगोपीबल्लभजी दाक्षित (सहायक-मन्त्री)। ३—सु० पो० खीमेल (मारवाड)—मेहता हेमराजजी (सभापति), श्रीओडरदासजी रावल (मन्त्री)। ४ काशी—माघकृष्ण १ को स्थानीय महारानी दामझा के राममन्दिर, बाँसफाटक में श्री पं० बालबोधजी मिश्र की अध्यक्षता में मैथिलसमाज की ओर से एक सभा करके 'मैथिल-मण्डल धर्मसङ्घ शाखा' की स्थापना की गयी।—श्रीराजेन्द्र चौधरी (मन्त्री)। ५ सदरपुर, पो० गाखपुर, जि० सुलतानपुर—२५ दिसम्बर, ब्रह्मचारी श्रीरामचन्द्रजी योगाभ्यासी की अध्यक्षता में सभा होकर शाखा स्थापित की गयी। श्री ठा० अयोध्याप्रसादसिंहजी (अध्यक्ष), श्री ठा० सूर्यपाल-सिंहजी (उपाध्यक्ष), श्री ठा० रामदेवसिंहजी (मन्त्री), श्री ठा० दव-नारायणसिंहजी (उपमन्त्री), श्री ठा० रामबलीसिंहजी (प्रचारमन्त्री)। ६ जगदीशपुर (सुलतानपुर)—१४ नवम्बर, श्री बा० मुनेश्वरसिंहजी

नम्बरदार (सभापति), बाबू रामप्रतापसिंहजी जमींदार (उपसभापति), बाबू सन्तवक्त्रसिंहजी मास्टर (मन्त्री)। ७ पडरौना धर्मसङ्घ, स्थान—पञ्चायती संस्कृतपाठशाला—२३ दिसम्बर। संरक्षक—१ राजावहादुर राजा वृजनारायणसिंहजी, पडरौना, २ रा० व० कुँवर चन्द्रप्रतापनारायणसिंहजी, पडरौना, ३ रा० व० सेठ हरीरामजी खेतान, ४ सेठ वैजनाथजी बगगिया, ५ सेठ रतनलालजी केडिया, ६ सेठ बनारसीरामजी, ७ सेठ वद्रीप्रसाद साहू, ८ पं० वृद्धिचन्द्रजी जोशी। श्री पं० सुन्दरमल चौमाल (सभापति), पं० महादेवप्रसादजी पुजारी और ठाकुर सखूप्रसादसिंहजी हेडमास्टर हाई-स्कूल (उपसभापति), श्री पं० विनयेश्वरीप्रसादजी त्रिपाठी (मन्त्री), पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र, पं० रामधना चौबे और पं० चन्द्रमृषणजी दीक्षित (उपमन्त्री), बा० द्वारकाप्रसादजी टोवरवाल (कोषाध्यक्ष)। ८ तहसाल धर्मसङ्घशाखा, पडरौना—संरक्षक (१)—श्रीमान् तमकुडीनरेश, श्रीमान् पडरौनानरेश, श्रीसम्पतकुमारसिंहजी रईस, रा० व० श्रीहरीरामजी खेतान पडरौना और श्रीरामेश्वरप्रसादजी रईस सलेमगढ़। श्री पं० उमापतिजी कविपति तमकुहागाँव, श्री पं० शिवप्रसादजी व्याकरणाचार्य, श्री पं० वृद्धिचन्द्रजी जोशी, श्री पं० अवनारायणजी व्या० आ० प्रधानाध्यापक संस्कृत-पाठशाला पडरौना और श्रीकुँवर सूर्यप्रतापनारायणसिंहजी (सभापति), श्री पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र (मन्त्री), श्री महात्मा तुलसीदासजी, श्री पं० महादेवजी पुजारी, श्री पं० राधाकृष्णजी पुजारी, श्री पं० राजदेवजी और श्री बाबू नन्दलालजी (उपमन्त्री), श्री हेडमास्टर पडरौना हाईस्कूल (निरीक्षक), श्री बाबू रामवचनसिंहजी (सहायक निरीक्षक)। ९ श्रीमङ्गलमोचन-मण्डल, काशी—पूर्व निश्चित नगरमङ्गल-योजना के अनुसार श्री स्वामी कृष्णवाधाश्रमजी महाराज के तत्वावधान में 'श्रीपङ्कज' मोचन मण्डल सङ्घशाखा' का स्थापना हुई। श्रीमुञ्जोलालजी अप्रवाल (मन्त्री), श्रीपद्मनारायणजी आचार्य (उपमन्त्री)। प्रति मङ्गलवार को सायङ्काल ६ बजे सङ्कटमाचन मन्दिर में नियमित सभा करना निश्चित हुआ। १० आदुर्गामण्डल, काशी—सुहृद् काशी के प्रयत्न से श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के सन्निधान तथा श्रीस्वामी-कृष्णबोधश्रमजी महाराज के तत्वावधान में श्रीदुर्गाजी के मन्दिर में उक्त मण्डलशाखा की स्थापना हुई। श्री पं० रामव्यासजी ज्योतिषी (सभापति), श्री पं० विश्वकान्तजी पाण्डेय (मन्त्री), श्री पं० विश्वनाथ त्रिपाठी साहित्याचार्य (उपमन्त्री)। नियमित सभादिवस—प्रति मङ्गलवार, ४ बजे अपराह्न। श्रीकेदारेस्वरमण्डल काशी—महाराजा तद्विरपुर की राजवाड़ी में श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के तत्वावधान में श्री बाबू सुबोधचन्द्र लाहिड़ी एडवोकेट, बाबू मङ्गलाप्रसादजी आदि के प्रयत्न से उक्त मण्डल-शाखा की स्थापना की गयी। श्री पं० वैद्यनाथजी मध्याचार्य (सभापति), श्री बाबू गोपीकृष्णदासजी (मन्त्री)। नियमित सभा प्रति एकादशी को सायङ्काल ६ बजे श्रीकेदारेस्वरमण्डल में हुआ करेगा। १२ श्रीलक्ष्मीमण्डल काशी—पौष शुक्ल १५ शुक्रवार को रात्रि ८ बजे बाबू सीतारामजी साहू के राममन्दिर पितृकुण्ड पर श्रीस्वामी करपात्रीजी की अध्यक्षता में उक्त मण्डलशाखा की स्थापना हुई। पदाधिकारियों की सूचना मताङ्क में दी जा चुकी है। बा० सीतारामजी साहू कोषाध्यक्ष निर्वाचित हुए। आप की ओर से श्रीगमजी का प्रवाद वितरण हुआ। यहाँ कार्यकर्ताओं के प्रयत्न से सङ्कटन का काम जोगें में चल रहा है। १३ श्रीमच्छिदानन्द संस्कृत पाठशाला, मुडकुडा, पो० जखनियाँ, गाजीपुर—१ जनवरी, पं० धर्मदेव पाण्डेय व्या० आ० (अध्यक्ष), पं० रामचन्द्रजी त्रिपाठी मन्त्री)। प्रतिमास सभा करना निश्चित हुआ। १४ संदस्य वनाये गये। १४ पञ्जाबगान्तीय सङ्घ को कार्यपमिति का निर्वाचन—पं० लक्ष्मीनारायणजी सूदन (अध्यक्ष), ला० विशनदासजी, अमृतगर (उपाध्यक्ष), पं० आनन्दविहारीजी पुष्करणा, लाहौर (मन्त्री), पं० दोनदयालुजी आचार्य (उपमन्त्री), पं० नन्दलालजी एम्. ए. एल्. एल्. बी. (रावलपिण्डो), पं० गोकुलेश शर्मा ज्योतिषी (रावलपिण्डो), पं० रामचरणजी (रा० पि०), राजादा वेलीरामजी बालो (रा० पि०), पं० त्रिलोकचन्द्रजी प्रधानाध्यापक श्रीकृष्ण हाईस्कूल, कुझाह (गुजरात), मा० देशराजजी (लाहौर), पं० चुन्नीलालजी (लाहौर), श्रीचौबे धर्मदेवजी वैद्य (लाहौर), पं० रुद्ररामजी (लाहौर), ला० मूलचन्द्रजी कपूर (अमृतसर), पं० रलियारामजी, सम्पादक 'सनातनधर्म-न्यास' (अमृतसर) (सदस्य)।

‘हिन्दू-कोड’-विरोध

निम्नलिखित स्थानों से ‘कोड’ के विरोध में सरकार के पास विरोधपत्र भेजे गये—
 १ नैनीताल—हस्ताक्षर-संख्या १७८, प्रेषक—श्री उदवानन्दजी पाण्डेय, बड़ाबाजार । २ सुंजरगढ़ी, पो० जरग, (पटियाला) पंजाब—ह० सं० ८०, पं० हरिरामशर्मा । ३ बिसाल (जयपुर)—ह० ४४८, श्रीकेशवदेव बावरी । ४ सम्बलपुर—श्रीरामचन्द्र मिश्र के सभापतित्व में एक महती सभा हुई । विरोध-प्रस्ताव सरकार के पास भेजा गया । मत देने की अवधि बढ़ाने के लिए तार भेजे जा रहे हैं और विरोधपत्र पर हस्ताक्षर भी हो रहे हैं—श्रीजानार्दनजी पुजारी । ५ गोमो—ह० १८४—श्रीगजेन्द्रप्रमादजी, पो० गोमो (मानभूम) । ६ दिनाजपुर—ह० ४६४, श्रीनागरमल गोयनका । ७ जबलपुर—ह० ४५, श्रीठाकुरप्रसाद गणेशप्रसाद, त्रिसल मचेंट, भरतपुर । ८ गीताप्रेस, गोरखपुर—ह० १८२३, मैनेजर । ९ मोंडल, जि० भीलवाड़ा (मेवाड़)—५६७, श्रीजानकीलालजी त्रिपाठी वैद्य राजकीय औषधालय । कलकत्ता के निम्नलिखित स्थानों में सभा करके विरोध किया गया—
 १० गोविन्दभवन, ३० बॉसतल्ला गली—सभापति—श्रीछोटेलालजी कानोडिया । ११ छिले का मैदान—श्रीजयदयालजी कसेरा । १२ स्टेट्समैन आफिस—श्रीमातावदलजी ओझा । १३ टाउनहाल—श्रीकपीन्द्रशर्मा । १४ कलकत्ता कलेक्टरी—श्रीरामपति शर्मा, तीर्थत्रय । १५ कलकत्ता मोन्यूमेण्ट—श्रीदारोगाजी पण्डित रामायणी । सर्वत्र जनता की उपस्थिति पर्याप्त थी ; आन्तम स्थान में ४००० से भी अधिक जनसंख्या उपस्थित थी । १६ बोरैगाँव, पो० नन्दकाठी, जि० द्रग (सी० पा०)—सभा करके प्रस्ताव सरकार के पास भेजा गया । श्रीदेवउदयप्रसादजी अध्यक्ष सनातनधर्मसभा । १७ मोंडी (हरदोई)—‘हिन्दू कानून कमेटी’ को हरदोई में बुलाने के लिए २५ विद्वानों की ओर से मदरास सूचना भेजी गयी है । १८ सदोखर, पो० चेनारी, जि० आरा (सादाबाद)—ह० ८५, श्री पं० वैजनाथ मिश्र । १९ खजनी (गोरखपुर)—ता० २७ दिसम्बर, ह० ८०, श्रीलालजी उपाध्याय, रकसानारा । २० बागली (ग्वाज़ियर)—ह० १०४, वैद्य नटवल्लाल आनन्दीलाल जोशी । २१ बरेली—ह० १६२, श्रीरामचन्द्रशर्मा वैद्य । २२ सुनाममण्डी (पटियाला)—ह० ४४०, श्रीकुलवन्तराय चौधरी । २३ एक अज्ञात स्थान—ह० १६८, श्रीमदनलालजी ‘प्रभाकर’ । २४ श्रीब्रह्मचर्य महाविद्यालय, सुसुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर—ह० ५६६, श्रीप्रमुदयाल शर्मा प्रधानाध्यापक । २५ खाईडोरा, रोडनाइड, अलीगढ़—ह० ११२, श्रीदुर्गाप्रसाद माथुर, रिटायर्ड साइन्स मास्टर । २६ हैदराबाद (मिन्ध)—२७ दिसम्बर । पं० रामदत्त शर्मा धर्मसङ्घ कार्यकर्ता सूचित करते हैं कि यहाँ हिन्दू-कोडविरोधी कार्यक्रम चल रहा है, प्रचार खूब हो रहा है । तार तथा पत्रों द्वारा ‘हिन्दू ला कमेटी’ के पास विद्वानों के मत भेजे जा रहे हैं । उक्त कमेटी के यहाँ आने पर उस का प्रतीकार यहाँ अच्छी तरह से किया जायगा । २७ ऊन (होल्कर राज्य)—ह० ५४, श्रीकन्देलाल महाजन । २८ मनासा (होल्कर राज्य)—ह० ४५१, श्रीरामकान्त शास्त्री, वाणीविलास त्रिपिन । २९ कानपुर—ह० ५०, श्रीप्रमलालजी । ३० बराहपुर, पो० बाली बेलछी, जि० पटना—ह० ५३८, श्रीजनकधन सिंह जी । ३१ राधापुर, पो० सुरसण्ड, जि० मुजफ्फरपुर (बिहार)—ह० २८३, श्रीबन्नीनारायण तिवारी । ३२ अ० आ० श्रीकमलापुरी वैद्यमहासभा, छपरा—३० दिसम्बर । उक्त सभा के मन्त्री श्रीधुवीरप्रसाद गुप्त सूचित करते हैं कि महासभा की ओर से विरोधप्रस्ताव भारत सरकार के पास भेजा गया है । ३३ बन्तौली, पो० धर्मघर, जि० अलमोड़ा—ह० ९४, श्रीलक्ष्मीश पाठक तथा श्रीत्रिलोकसिंह कार्की । ३४ बीना इटावा, जि० सागर—२९ दिसम्बर, ह० ११५, श्रीदेवीप्रसाद माथुर । ३५ श्रीहरिवंश शीलादशपुस्तकालय, करनगढ़ी मलाव (गोरखपुर)—ह० ६००, श्रीरामसुगत शुक्ल ‘श्रील’ । ३६ खामगाँव (बदायूँ)—३१ दिसम्बर, ह० १९६, श्रीगधाकिसन अप्रवाल (बंशीलाल गिरधारीलाल फर्म) । ३७ बाजार निहालगंज, श्रीपुर राज्य—२८ दिसम्बर, ह० ११४, श्रीलमासीराम वर्मा । ३८ सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर)—ह० ५१, श्रीबालसरूप (घासीराम बन्दराम फर्म) । ३९ नयागंज (कानपुर)—३१ दिसम्बर, ह० २३८, श्री बीपालसिंह (लाल जयकिशनदास दामोदरदास फर्म) । ४० श्रीसदाचार-वर्द्धनी सभा जनरलगंज, कानपुर—ह० १०९, मन्त्री । ४१ श्री सनातन-प्रकाशक—श्री मदीश्वर प्रसादचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस ।

धर्म सभा, बरेली—२४ दिसम्बर, सभापति सूचित करते हैं कि उक्त सभा की ओर से विरोध-प्रस्ताव सरकार के पास भेजा गया ।—श्रीरामचन्द्रलाल अप्रवाल । ४२ देहली में हिन्दू-कोड विरोध के उद्देश्य से सभाओं का ताँता—पौष शुक्ल, १० रविवार को ‘धर्मसंघ’ महाविद्यालय, देहली के मन्त्री श्री रामेश्वरदासजी मुरारका के आयोजन से ‘महालक्ष्मी मार्केट’ में श्रीस्वामी नरोत्तमाश्रमजी महाराज के सभापतित्व में एक बड़ी सभा हुई । ‘देहली धर्मसङ्घ’ के प्रधान श्रीमनोहरलालजी, श्रीगोविन्दचन्द्र पाण्डेय तथा श्रीविश्वम्भरदयाल शास्त्री के भाषण हुए । जनता की विशेषासु-मति से कई तार एवं कई सौ हस्ताक्षर कराकर तथा प्रस्ताव पास कर भारत सरकार देहली को भेजे गये । दूसरी सभा इसी बुधवार को ‘गान्धी ग्राउण्ड’ में हुई, जिस में लगभग ५००० जनता उपस्थित थी । ‘सनातनधर्म नव-युवक महामण्डल, देहली’ की ओर से कोड का विरोध बड़े जोरों के साथ हुआ । लगभग १०० से अधिक विरोध प्रस्ताव कार्ड तथा ३५००० हस्ताक्षर कराकर सरकार के पास भेजे गये ।—मन्त्री ‘धर्मसंघ विद्यालय’ देहली । ४३ सरोली, मझगाँवाँ, बुदरी, बुदरा, खितौला आदि (जबलपुर)—३० दिसम्बर, ह० ५९४, पं० भगवन्तलाल दूवे और श्रीजगेश्वर पाण्डेय । ४४ सदरबाजार, हरदोई—३० दिसम्बर, ह० २१०, श्रीप्रथामनारायण कपूर । ४५ सत्यभवन, दादीसेठ अग्यारीलेन, न्यूबाड़ी, गणेशबाजार, बम्बई—ह० ६२५ । ४६ हरिहरपुर, पो० गोमो (मानभूम)—३० दिसम्बर, ह० ६१, श्रीभूमकलाल वासुदेव पण्डित । ४७ श्रीराममन्दिर बड़ागाँव (बनारस)—३१ दिसम्बर, श्रीविश्वनाथ पाण्डेय लिखते हैं कि यहाँ ‘कोड’ के विरोध में सभा की गयी और विरोधपत्र हस्ताक्षर करवाकर सरकार के पास भेजे गये । ४८ गाजीपुर—३१ दिसम्बर, ‘कोड’ के विरोध में ‘हिन्दू कानून कमेटी’ के पास विरोधपत्र भेजा गया—डा० हरिप्रसादजी तिवारी । ४९ सुंजरगढ़ी, पो० जरग (पटियाला, पंजाब)—३० दिसम्बर, ह० १७, पं० हरि-राम शर्मा ।

विशेष समाचार

वार्षिकोत्सव श्रीसंस्कृतविद्यालय, रावर्टसगंज (मिर्जापुर)—ता० १५ दिसम्बर को बाबू हीरामणिजीकी अध्यक्षता में उक्त संस्था का वार्षिकोत्सव हुआ । श्रीस्वामी स्वरूपानन्दजी (प्रचारक धर्मसङ्घ), श्रीप्रभाशङ्करजी चौवे आदि के व्याख्यान हुए । दूसरे दिन धर्मसङ्घ की स्थापना के लिए उक्त स्वामीजी का उद्बोधक प्रवचन हुआ ।

पल्लवार. पो० बहरियाबाद, जि० गाजीपुर—मार्गशीर्ष शुक्ल ६ से पौष शुक्ल १५ तक शाखासभा पल्लवार के मन्त्री तथा सञ्चालक श्रीशन्तनु पाण्डेयजी ने पल्लवार, हींगनपुर, घाँव, पाण्डेपुर आदि ग्रामों में सङ्घ का प्रचार किया, सदस्य बनाये गये, कई सभाएँ की गयीं ।

राज्य दिशा (सुलतानपुर) के एक बाग में सायङ्काल ६ से ९ बजे तक सत्सङ्ग होता है । एक वृद्ध संन्यासी महात्मा और राजा साहब जगदीश-प्रतापजी के छोटे चाचा श्रीसुरेन्द्रप्रतापजी वहाँ भजन करते हैं—ब्र० रामचरित्रजी योगाभ्यासी, बधूपुरबाजार, पो० लभुआ (सुलतानपुर) ।

बड़ागाँव (बनारस) धर्मसङ्घ शाखासभा का द्वितीय वार्षिकाधिवेशन पं० सत्यनारायणजी पाण्डेय की अध्यक्षता में गत माघ कृष्ण १ शनिवार को हुआ । उसी दिन शाखासभा की ओर से पं० चन्द्रिका पाण्डेय की अध्यक्षता में एक मल्लशाला स्थापित की गयी ।—श्रीविश्वनाथ पाण्डेय ।

गत बुधवार माघ कृष्ण पञ्चमी को सायङ्काल ६ बजे से विश्वकुटीर सराय गोवर्द्धन में ‘लक्ष्मीमण्डल’ की ओर से श्रीरामदेवी का प्रवचन एवं हरिकीर्तन हुआ । उस में मन्त्री द्वारा धर्मसङ्घ के सार्वभौम रूप का दिग्दर्शन कराया गया, अन्य विविध विद्वानों के भी भाषण हुए । आगामी माघ कृष्ण एकादशी को सायङ्काल ६ बजे से साहु सीतारामजी के राममन्दिर पितरकुण्ड पर हरिकीर्तन एवं विविध विद्वानों के भाषण होंगे ।—श्रीविद्याधर त्रिवेदी ।

‘हिन्दू-कोड’ के विरोध में आवश्यक सूचना

विरोधपत्रों पर हस्ताक्षर कराकर ‘हिन्दू-कानून-कमेटी’ एवं ‘भारत-सरकार’ के पास भेजने में समय की कोई अवधि नहीं है, अतः हस्ताक्षर बराबर भेजते रहना चाहिए ।—सम्पादक ।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

समदर्शी

(श्रीभगवान् शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु महाराज)

उत्तर ठीक ठीक देखनेवाले का नाम समदर्शी है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही जो देखे, वही समदर्शी है। वस्तु के प्रकार में और दृष्टि में भेद न आने पाये, सामञ्जस्य रहे और दृष्टि में पदार्थ का यथार्थ अनुभव हो, भ्रम न हो, यही समदर्शिता है। संसार मिथ्या है तो उस में सत् का आरोप न किया जाय, प्रबल सत्य है, उसे सत्य ही समझा जाय, यही समदर्शिता है। जिसे अन्तर्दृष्टि और वदितृष्टि में समत्व प्राप्त हो गया है, जिस का अन्तर्दृष्टि से अनुभूत आत्मस्वरूप ही वाह्य दृष्टि का अवलम्बन बन गया है, अर्थात् जो सारे विश्व में भीतर-बाहर एक ही सत्चित्तानन्दस्वरूप परमात्मा का दर्शन कर रहा है, वही सदा एकरस रहनेवाला समदर्शी कहा गया है। जिसे नीर-क्षीर-विवेक हो गया है, वही समदर्शी है। समदर्शिता सफल भक्तों का स्वाभाविक गुण है, बनावट से यह बात नहीं आती। समवर्तिता का नाम समदर्शिता नहीं है, समदर्शिता का सम्बन्ध दृष्टि से है, वह तो निजी चीज है। वशिष्ठादि समदर्शी हुए हैं, वे ज्ञानसागर थे, पर व्यवहारदशा में बराबर कार्य करते थे, महाराज दशरथ के यहाँ पुरोहिता करते थे, राजकार्य में मन्त्रणा देते थे। शासन में उन का पूरा हाथ था, उचित-अनुचित का ध्यान रखते थे, शास्त्र-मर्यादा पर उन की पूरी दृष्टि रहती थी। समदर्शी थे, तो इस का अर्थ यह तो नहीं कि चार और साहूकार को एक सा बर्ते। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि व्यवहारदशा में भेदभाव न मानना समदर्शिता है। वह तो समवर्तिता हुई न कि समदर्शिता। समदर्शी तो पहले हुए हैं, आज भी हैं और आगे भी होंगे। परन्तु समवर्ती होना असम्भव है। न समवर्ती कोई हुआ है, न कोई है और न कभी होगा, इसलिए समदर्शिता को समवर्तिता के साथ नहीं मिलाना चाहिए। समदर्शी वही है, जिस की दृष्टि में कभी भ्रम नहीं होता, जो वस्तु जैसी है, उस को वह वैसी ही देखता है।

ब्राह्मणभाग का वेदत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

३

“कात्यायनभिन्नैर्वापिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्।” अर्थात् कात्यायन से भिन्न ऋषियो ने ब्राह्मण ग्रन्थ को वेद नहीं माना, इसलिए वे वेद नहीं हैं, इस पौचर्वे हेतु का उपन्यास करना बड़े साहस की बात है, क्योंकि “मन्त्रब्राह्मणयोर्नैदनामधेयम्” इस रूप से आपस्तम्ब महर्षि ने ‘यज्ञपरिभाषासूत्रों’ में स्पष्ट ही ब्राह्मण को वेद माना है। इस के अतिरिक्त सर्व-वैदिकशिरोधार्य ‘पूर्वमीमांसादर्शन’ में “तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, शेषे ब्राह्मण-शब्दः” इन दो सूत्रों से स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञक्रिया के स्मरण कराने-वाले वेदभाग को ‘मन्त्र’ कहा जाता है और उस से अवशिष्ट वेदभाग को ‘ब्राह्मण’ कहा जाता है। यदि ब्राह्मण वेद का भाग न होता, तो वह मन्त्र की अपेक्षा शेष—अवशिष्ट—क्यों कहलाता? जैसे ‘रामायण’ को ‘भारत’ की अपेक्षा शेष नहीं कहा जाता, वैसे ही यदि ब्राह्मण वेद से स्वतन्त्र ग्रन्थ होते, तो वेदकदेश मन्त्रों से उन्हें शेष न कहा जाता। इसलिए यही सिद्ध होता है कि वेद के मन्त्र और ब्राह्मण ये दो भेद हैं। शबरस्वामी भी यही कहते हैं कि मन्त्र का लक्षण कह देने पर ब्राह्मणलक्षण के कथन की आवश्यकता नहीं रहती। जब मन्त्र, ब्राह्मण दोनों वेद हैं, तब जिस में मन्त्र का लक्षण न घटता हो, उसी वेदभाग को ब्राह्मण समझा जा सकता है, यह परिशेषन्याय से ही सिद्ध है। जैमिनि महर्षि पूर्वोक्त दोनों सूत्रों से सम्पूर्ण वेद का लक्षण बतलाकर उक्त वेद के ऋक्, साम, यजुर्भाग के लक्षणों को तीन सूत्रों में इस प्रकार कहते हैं—“तेषामृग्यत्राथ-वशेन पौर्वव्यवस्था” अर्थात् ‘ऋक्’ उसे कहते हैं, जिस में पाद (चरण)-

व्यवस्था होती है। “गीतिषु सामाख्या” अर्थात् गान को ‘साम’ कहते हैं। “शेषे यजुःशब्दः” अर्थात् उक्त दोनों भागों से अन्य भाग को ‘यजुः’ कहते हैं। यदि मन्त्रभाग ही वेद होता, तो मन्त्र का लक्षण कहने के बाद ही ऋगादि का लक्षण करते, बीच में ब्राह्मण का लक्षण न कहते। मन्त्र और ऋगादिलक्षण के मध्य में ब्राह्मण का लक्षण करना स्पष्ट ही वेदकदेश मन्त्र के समान ही ब्राह्मण को भी वेदकदेश ही सिद्ध करना है। अतएव “स्वर्गकामो यजेत”, “कलशं न भक्षयेत्” इत्यादि धर्माधर्म का बोध कराने-वाले विधि-निषेध ब्राह्मणभाग में ही आते हैं। अपौरुषेय वेद होने से ही इन का प्रामाण्य मानकर धर्माधर्म की व्यवस्था सिद्ध होती है। मन्त्रों में विधि-निषेध हैं ही नहीं, उन से धर्माधर्म का ज्ञान हो ही नहीं सकता, अतएव मन्त्र भी ब्राह्मणवचनों से ही भिन्न भिन्न कार्यों में विनियुक्त होते हैं। ‘वैशेषिकदर्शन’ में कणाद महर्षि कहते हैं—“बुद्धिपूर्वा वाक्य-कृतिर्वेदे” अर्थात् लौकिक वाक्यों के समान ही वेदवाक्यों की रचना भी किसी स्वतन्त्र पुरुष की की हुई है और उस रचना को अस्मदादि कोई पुरुष नहीं कर सकता, क्योंकि हमलोग वेदवाक्यों के बिना यह नहीं जान सकते कि याग स्वर्ग का कारण है या नहीं, तब “स्वर्गकामो यजेत” ऐसे वाक्यों की रचना कैसे कर सकते हैं? अतः कोई निर्दोष, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र पुरुष वेद का कर्ता है। “ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिर्लिङ्गम्” अर्थात् जैसे लोक में पिता अपने पुत्र का देवदत्त आदि नाम रखता है, वैसे ही ब्राह्मणनामक वेदभाग में “उद्भिदा यजेत, अभिजिता यजेत, बलभिदा यजेत, विश्वजिता यजेत” आदि वाक्यों से उन उन यज्ञों के ‘उद्भिर्’ आदि नाम रखे हुए हैं। नामकरण करना स्वतन्त्र पुरुष का काम है, हमलोग अलौकिक वस्तु को जान ही नहीं सकते, तो नामकरण कैसे कर सकते हैं? इस से सिद्ध होता है कि उद्भिद आदि नाम रखनेवाला परमेश्वर ही वेद का कर्ता है। इन दोनों सूत्रों से स्पष्ट ही मालूम पड़ता है कि महर्षि कणाद को ब्राह्मणभागों में वेदसंज्ञा इष्ट है। कहा जा सकता है कि पहले सूत्र में ‘वेद’ शब्द और दूसरे सूत्र में ‘ब्राह्मण’ शब्द आने से तो यही मालूम पड़ता है कि वेद से ब्राह्मण पृथक् हो है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस षष्ठाध्याय में महर्षि ने संसार के मूल कारण धर्माधर्म की परीक्षा की है। धर्म-अधर्म वेद ही से ज्ञात होते हैं। कणादमत में वेदों का स्वतःप्रामाण्य नहीं है, किन्तु आप्तोक्त होने से ही उन का प्रामाण्य है। यथार्थ ज्ञानवान् वक्ता को ही ‘आप्त’ कहते हैं अर्थात् यथार्थ ज्ञान से जिस वाक्य की रचना होती है, वही वाक्य प्रमाण होता है। इस रीति से पहले वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए मुनि ने परमेश्वर के यथार्थज्ञान को सिद्ध किया। उस यथार्थ ज्ञान की सिद्धि मन्त्र-ब्राह्मणरूप सम्पूर्ण वेद का रचना से ही सिद्ध होती है। प्रथम सूत्र में वेद शब्द सामान्यरूप से कहा, दूसरे सूत्र में विशेषरूप से ब्राह्मण का नाम लिया, क्योंकि ब्राह्मणभाग में प्रायः नाम आते हैं। इसी नाम रखने के अनुसार भी उक्त यथार्थ ज्ञान सिद्ध करने के लिए ब्राह्मण शब्द कहा। अतः दोनों सूत्रों से ब्राह्मण का वेद होना सिद्ध होता है। ‘भारत’ में ऋषे पुरुषार्थ का वर्णन है, मोक्षधर्म में मोक्ष का निरूपण है, इस तरह ‘भारत’ से पृथक् मोक्षधर्म का नाम लेने से जैसे यह नहीं सिद्ध होता कि मोक्षधर्म ‘भारत’ का प्रकरण नहीं है, वैसे ही “वेदसामान्य को रचना से और वेद के ब्राह्मणभागस्थ नामों के रखने से परमेश्वर को सर्वज्ञता सिद्ध होती है”। इस कथन से यह नहीं सिद्ध हो सकता कि ब्राह्मण वेद का भाग नहीं है। सभी आस्तिक धर्माधर्म में वेद का ही प्रामाण्य अङ्गीकार करते हैं, अन्य किसी का भी स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं, फिर धर्माधर्म-परीक्षाप्रकरण में वेद से अन्य का प्रमाणरूप से नाम लेना भी सङ्गत नहीं है। ब्राह्मणभागों के वचनों का उन्होंने स्पष्ट ही प्रमाण दिया है, अतः ब्राह्मणभागों को वेद मानना उन को मान्य ही है। कात्यायन से अन्य ऋषियों ने ब्राह्मण को वेद नहीं माना, यह कहने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वे लोग कात्यायन-

को झूठा या बल्लक मानते हैं। परन्तु जबतक ब्राह्मण वेद नहीं है, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं उपस्थित किया गया और ब्राह्मण वेद नहीं है, ऐसा किसी पुरुष का भी वचन नहीं दिखलाया जाता, तबतक ब्राह्मण वेद नहीं है, यह कहना कितना साहस और कितनी वञ्चना है यह कोई भी समझ सकता है। वस्तुतस्तु कात्यायन के "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस सिद्धान्त को ही सभी महर्षियों ने माना है।

"मनुष्यबुद्धिरचित्त्वात्" यह छठा हेतु भी अकिञ्चित्कर है। जब ब्राह्मणभाग में मनुष्यबुद्धिरचितत्व सिद्ध हो जाय, तभी उस हेतु से ब्राह्मणों का अवेदत्व सिद्ध किया जा सकता है। जब मनुष्यरचितत्व ही असिद्ध है, तब अवेदत्व की आशा दुराशा ही है। महर्षि गौतम ने 'न्याय-दर्शन' में "तदप्रामाण्यमनुतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" इस सूत्र से और वात्स्यायन ने अपने भाष्य में स्थणानिखननन्याय से वेदों के अप्रामाण्य की शङ्का की है। उस अवसर में "पुत्रकामः पुत्रेष्टया यजेत", "अग्नि-होत्रं जुह्यात्", "उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यम्," त्रिःप्रथमामन्वाह, त्रिरुक्तमाम्" इत्यादि ब्राह्मणभाग के ही उदाहरण दिये हैं। यदि ब्राह्मण वेद न होते, तो वेद का अप्रामाण्य दिखलाने के लिए ब्राह्मण का अप्रामाण्य दिखलाना स्पष्ट ही कर्णस्पर्श में कटिचालन के समान असङ्गत होता। लोक में कोई भी बुद्धिमान् मैत्र के वाक्य पर विश्वास न करो इस बात की सिद्धि के लिए चैत्र के वाक्य को मिथ्या नहीं सिद्ध करता। भाष्यकार कहते हैं—पुत्रेष्टि समाप्त होने पर भी पुत्रजन्म नहीं होता। दृष्टार्थ वाक्य के मिथ्या होने पर "अग्निहोत्रं जुहोति" इस अदृष्टार्थक वाक्य का भी मिथ्यात्व सिद्ध होता है। इसी तरह विहितव्याघात, पुनरुक्तव्याघात से भी वेद का प्रामाण्य नहीं। 'उदित में होम करो, अनुदित और समयाधुषित में होम करो' इत्यादि पक्षों का विधान और 'इयावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, जबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, इयावश्चलौ वास्या-हुतिमभ्यवहरतो यः समयाधुषिते जुहोति' इत्यादि वचनों से उन पक्षों में दोष भी दिखलाया गया है। इन कारणों से वेदों के अप्रामाण्य की शङ्का की गयी है। "विध्यर्थवादानुवादवचनाविनियोगात्" इस वचन से भी वाक्य-विभाग का वर्णन करते हुए ब्राह्मण के ही अनेक भेद दिखलाये गये हैं। यहां यह समझ लेना चाहिए कि न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकार ने सिद्धान्त में समाधान करने के लिए ही यह पूर्वपक्ष दिखलाया है। पुत्रेष्टि करने पर भी जहां पुत्रोत्पत्ति नहीं होती, वहां कर्त्ता, क्रिया एवं साधनों की विगुणता की कल्पना करनी चाहिए। जैसे किसी वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत यन्त्र के निर्माण या सञ्चालन में वैज्ञानिकनिर्दिष्ट पद्धति के विपरीत एक छिद्र या कील की कमी-वैशी आदि त्रुटियों के कारण प्रयत्न विफल होता है, वैसे ही वैदिक विधि के ठीक अनुसार पुत्रेष्टि करने पर ही पुत्र हो सकता है, अन्यथा नहीं। पुत्रेष्टि ठीक होने पर भी यदि पत्नी बन्धा और पति निर्वाण्य है, तो भी पुत्रोत्पत्ति असम्भव है। अतः कर्त्ता, साधन क्रिया आदि के वैगुण्य के कारण ही फल में गड़बड़ी हो सकती है, अन्यथा अनादि, अपौरुषेय शास्त्रसिद्ध साध्य-साधनभाव के विघटन में कोई भी कारण नहीं है। अतः अनृत दोष जब दृष्टार्थ वेदवाक्य में नहीं है, तब अदृष्टार्थ "अग्निहोत्रं जुहोति" आदि वाक्यों में भी वह दोष नहीं आयेगा। इसी तरह व्याघात आदि दोष भी नहीं हैं। निन्दा का तात्पर्य निन्दा की निन्दा में न होकर विषेय की स्तुति में होता है, मीमांसकों के इस सिद्धान्त के अनुसार उदितानुदित होम की निन्दाओं का तात्पर्य निन्दा में नहीं, अपितु दूसरे पक्षों की स्तुति में ही है, जिस का प्रयोजन यह है कि जिस परम्परा में जो पथ चला आ रहा है, उसी पथ में निष्ठा दृढ़ हो, ऐसा न हो कि एक पक्ष को छोड़कर दूसरे पक्ष में प्रवृत्ति हो जाय, इत्यादि रीतियों से अनृत, व्याघात आदि का समाधान किया किया गया है।

सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था

(श्रीशिवशरण जी)

३

आजकल की शिक्षा से प्रभावित लोगों का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था में ऊँच जातियों को सब दे दिया जाता है, नीच जातियों के साथ बहुत अन्याय किया जाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इतिहास देखने

से विदित होता है कि वर्णव्यवस्था में अनेक जातियों को अपने अपने स्वधर्म, आचार आदि के अनुसार रहने की पूरी स्वतन्त्रता मिलती है, जो कि वर्ण-व्यवस्था के बिना असम्भव है, क्योंकि जब वर्ण नहीं मान लिया जाता है, जिस का फल यह है कि कोई वर्णमर्यादाएं नहीं रहतीं, बल्कि सब एक ही वर्ण के हो जाते हैं, तब सब लोगों को एक ही आचार-विचार, धर्म आदि के हो जाना पड़ता है, नहीं तो किसी सामाजिक संस्थाओं की सम्भावना नहीं रहती।

सब लोगों को मान्य है कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को कुछ मर्यादाओं में रखे बिना कोई भी समाज नहीं रह सकता। यदि दूसरों को मान, धन, कलत्र आदि चोरी करने की स्वतन्त्रता होती, तो कोई समाज नहीं रह सकता था। वही मर्यादाएं यदि व्यक्ति को नहीं, बल्कि व्यक्तियों के समुदाय या वर्ग को लगायी जाती हैं, तो जाति-मर्यादा बनती है। व्यक्ति से कहा जाता है कि दूसरे व्यक्ति की स्त्री मत लो, जाति से भी कहा जाता है कि दूसरी जाति की स्त्री मत लो। जैसे इस नियम को पालने से हर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ मित्रतापूर्वक रह सकता है, वैसे ही इन नियमों को पालने से अनेक जातियां एक साथ मित्रतापूर्वक एक ही देश में रह सकती हैं, जैसा कि भारतवर्ष में दिखाई पड़ता है।

लोगों में बराबरी स्थापित करने के सब प्रयत्नों का फल अन्त में बलवान् व्यक्तियों द्वारा कमजोर व्यक्तियों या जातियों का सत्यानाश हुआ। कुछ नीच जङ्गली आदि ऐसी जातियां हैं, जिन को अलग रखने को वर्तमान लोग हिन्दुओं का दोष या कलङ्क आदि बोलते हैं। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि वे अल्प बुद्धि की जातियां दूसरे देशों में नष्ट हो चुकी हैं? क्या यहाँ भी यदि वर्णमर्यादाएं नष्ट होने पर वे दूसरे लोगों के साथ ही रहेंगे, तो दूसरे लोगों के बराबर होने के असामर्थ्य से क्या वे भूखे नहीं मर जायेंगे? उन की रक्षा अभी तक सिर्फ वर्णव्यवस्था कर सकी है। फिर भी उन के नाम से वर्णव्यवस्था का खण्डन हो रहा है, यह आजकल के 'शिक्षित' लोगों की बुद्धिमानी का नमूना है।

विवाह के अलावा एक साथ खान-पान का निषेध वर्णव्यवस्था का एक प्रधान नियम है। यदि मान लिया जाय कि अन्न से शरीर और मन पर कुछ प्रभाव होता है, तो भिन्न-भिन्न काम में लगे हुए भिन्न जातियों के भोजन भिन्न गुणों की आवश्यकता से भिन्न होने चाहिए। परन्तु यदि सब लोग एक दूसरे के यहाँ खा सकते, तो अलग अलग मर्यादाएं रखना असम्भव होता। यदि सब लोग साथ ही साथ खाँय, तो किसी को अपनी इच्छा के अनुसार, स्वधर्म के अनुसार, आवश्यकता के अनुसार खाने-पीने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। आजकल के लोग नहीं समझते कि मर्यादा ज्यादा होने से स्वतन्त्रता ज्यादा होती है और मर्यादा कम होने से सब लोगों को एक ही आचार-विचार के होना पड़ता है, कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती।

यदि संसार में फिर ऐसी संस्थाओं की स्थापना करने की आवश्यकता मान ली जाय, जिस से शान्ति हो और हर एक व्यक्ति को चार पुरुषार्थों की प्राप्ति का पूरा अवकाश मिले, तो सनातनधर्म के आधार पर सब देशों में वर्णव्यवस्था को फिर से स्थापन करना ही पड़ेगा—“एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादप्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥”

भारतवर्ष के सामने यही समस्या उपस्थित है कि शुद्ध रूप से वर्णाश्रम आदि धर्मों का पुनः स्थापन या संशोधन कैसे किया जाय, जिस से प्रजा को कष्ट न हो और चारों पुरुषार्थों को पूरा अवकाश मिले, जिस से हर एक मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार स्वधर्म का पालन कर सके। क्या आजकल की विचारधाराओं के अनुसार भारत को भी अन्य देशों की तरह खून की नदियों में निक्षेप करना चाहिए कि किस 'एकजातवाद' से देश का कल्याण होता है, या क्या आज भी संसार को भारतवर्ष वर्णाश्रम-व्यवस्था द्वारा शान्त और ऊँची सभ्यता का मार्ग दिखला सकता है? वर्णव्यवस्था में सब 'वादों' के गुण मिले हुए हैं। इस में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों समाज अलग होने से स्वतन्त्र भी हैं और एक ही समाज के अङ्ग होने से एक दूसरे के सहायक भी हैं। इस व्यवस्था से व्यक्तियों के भिन्न भिन्न गुणों के उत्तम प्रयोजन पूर्ण हो सकते हैं, जिस से देश की और व्यक्तियों की भी उन्नति होती है।

वह उत्तम सामाजिक संस्था कुछ मर्यादाओं के बिना नहीं हो सकती। परन्तु देखना चाहिए कि इन मर्यादाओं को पालने से क्या कुछ लाभ होता

हे ? इस से अधिक मानसिक स्वतन्त्रता मिलती है या नहीं ? यदि वर्ण-व्यवस्था को आदर्श रखकर हिन्दू-समाज अपने शुद्ध रूप में फिर प्रफुल्लित होना चाहता है और इस आधार पर फिर समस्त पृथिवी के समाज को स्वधर्मानुसार धर्म में लगाना इष्ट है, तो यह हर एक प्रश्न में सिद्धान्त की दृष्टि से देखने से हो सकता है, व्यवहारदृष्टि से देखने से नहीं। आजकल शोचनीय बात है कि जब कोई आर्थिक हानि आदि के प्रश्न आते हैं, तब सनातनधर्म के नाम से बहुत लोग उठते हैं। परन्तु ब्राह्मण आदि जातियों में अनेक व्यवहार ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जो वर्ण-सिद्धान्त से विरुद्ध हैं। परन्तु इस से कुछ आर्थिक आदि लाभ न होने से सिद्धान्त का किसी को स्मरण नहीं होता। यदि वर्णव्यवस्था को फिर शुद्ध, बलवान् आदि करना हो, तो यह ऊपर से और भीतर से हो सकता है, न नीचे से, न बाहर से। यदि 'धर्मसङ्घ' के सदस्य सभी अवस्थाओं में वर्ण के आधारभूत सिद्धान्तों का पालन करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें, तो इस की शक्ति इतनी बढ़ जायगी कि इस का अत्यन्त प्रभाव इस देश और अन्य देशों पर भी होना अनिवार्य है। परन्तु उन को होना चाहिए चारों वर्णों के, जिस से सब आधारभूत समस्याएँ उपस्थित रहें और इन का समाधान सिद्धान्त के अनुकूल हो जाय, न कि व्यवहारानुकूल। जो व्यवहार सिद्धान्त के विरुद्ध हों, उन को शास्त्राधिकारियों द्वारा, धर्मशासन की ओर से हस्तगत करना चाहिए। अन्यथा अनधिकारियों से प्रयत्न होना अनिवार्य है, जिस से हानि होती है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक तारतम्य में ऊँचे से ऊँचे पद में जब अधिकार बढ़ते हैं, तब मर्यादा भी ज्यादा हो जाती है। इस से समाज की सब श्रेणियाँ सन्तुष्ट रहती हैं, क्योंकि अपने से ऊँचे व्यक्ति के अधिकार के साथ ही उन का कर्तव्य देखकर उन से ईर्ष्या नहीं होती। आजकल प्रायः कुछ अशिक्षित ब्राह्मण ब्राह्मणोचित धर्म को ही धर्म समझते हैं और नीचे जातियों के सुखभोग, व्यवहार को अश्लील, अधर्म आदि कहते हैं। परन्तु सामाजिक दृष्टि से यह भारी भूल है, क्योंकि जितने अधिकार कम होते हैं, उतने ही भोग अधिक होने चाहिए, नहीं तो ईर्ष्या अनिवार्य है। इस भूल से आजकल नीचे जातियों के तेहवार होली आदि और उन के विवाह, नाच आदि की विधियाँ अश्लील समझी जाने लगी हैं और वे रोक दी जाती हैं। यह विदेशी सभ्यता के प्रभाव से होता है। परन्तु अपने जात्युचित भोग न मिलने से आदमी दूसरी जाति के कार्य में लग जाते हैं। दूसरी बात यह है कि मोक्ष की इच्छा से यदि कोई विशेष व्यक्ति जाति आदि के धर्मों को छोड़ देते हैं, तो उन का व्यवहार भी सामाजिक संस्थाओं के बाहर रहता है।

यदि हर वर्ण, जाति के सिद्धान्तानुसार चारों वर्णों के धार्मिक लोग उन सैद्धान्तिक नियमों के पालन करने की प्रतिज्ञा कर लें, तो एक आदर्श बन जायगा, जिस का प्रभाव बहुत होगा और अवसर आने पर सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तैयार रहेंगे, जो राजनीतिक आदि कार्य में लगाने के योग्य होंगे।

धर्मसङ्घ-समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

१ पूरे रेवतीराम—१६ दिसम्बर। पं० रामनारायणजी शुक्ल ने आज २४ घण्टे हारकीर्तन किया। इसी उपलक्ष्य में पं० रामनिवासजी पाठक प्रधानाध्यापक मिडिल स्कूल ढिगवस की अध्यक्षता में धर्मसङ्घ की सभा हुई। श्रीढिगवसनरेश भी कीर्तन तथा सभा में सम्मिलित हुए। सङ्घ के सदस्य बनाये गये—श्री पं० नागेशदत्त मिश्र, मन्त्री ध० सं० शा० सं० ढिगवस (जि० प्रतापगढ़)। २ राजापुर (भदरी राज्य)—२४ दिसम्बर। पं० रवि-शङ्करजी शुक्ल ने २४ घण्टे तक सङ्घ के सङ्कल्प से अखण्ड कीर्तन किया। पञ्चदेवात्मक विराट् यज्ञ, चित्रकूट। आगामी चैत्र शुक्ल ५ मङ्गलवार से १२ मङ्गलवार तक विद्वक्त्त्याणार्थ धर्मसङ्घ के सङ्कल्प से उक्त यज्ञ होना निश्चित हुआ है। उसी अवसर पर धर्मसङ्घ आदि के विशेषाधिवेशन का भी आयोजन हो रहा है—श्रीरामस्वरूपजी ब्रह्मचारी। पत्रव्यवहार का पता—माफत पं० भैरवलाल शर्मा, मिडिल स्कूल अतर्ग, जिला बान्दा।

चतुरस्र शतमुख अष्टकोटिद्वन्नात्मक श्रीविष्णुमहायज्ञ, हैदराबाद दक्षिण—भूवैकुण्ठमठाधीश श्रीस्वामी दाक्षारिणी महाराज नदिङ के सङ्कल्पानुसार विद्वक्त्त्याणार्थ आगामी फाल्गुन कृष्ण ५ शुक्लवार से फाल्गुन शुक्ल १ मङ्गलवार तक उक्त महायज्ञ होना निश्चित हुआ है। इस में १०४ कुण्ड, ८०००००० आहुतियाँ और लगभग २००० होता होंगे। साथ ही ४ वेद, १८ पुराण आदि का पारायण होगा, अनेकों धर्माचार्य, व्याख्याता, महोपदेशक तथा साधु-महात्मा पधारेंगे। धार्मिक जगत् की स्थिति पर विचार करने के लिए कई सम्मेलन होंगे, भगवन्नाम-सङ्कीर्तन की भी विशेष आयोजना रहेगी।—श्रीस्वामी राघवाचार्यजी।

भारवत-रामायण कथा—शामली (मुजफ्फरनगर)। श्री पं० राम-धनाचार्यजी आत्रय ने पौष कृष्ण ६ स पौष शुक्ल १५ तक स्थानीय ठाकुरद्वारा के मन्दिर में सङ्घ के सङ्कल्प से श्रीमद्भगवत प्रथम स्कन्ध (रात्रि में) तथा श्रीवाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड (दिन में) का प्रवचन किया।—श्री पं० पुरुषोत्तमदत्त शास्त्री।

महारुद्रयज्ञ—श्रीगुप्तेश्वरनाथ महादेव, पो० चनारी, जि० आरा। श्रीजयरामदासजी दीन (अलवेल्ला बाबा) को संरक्षकता में आगामी फा० कृ० ७ से शुक्ल ५ तक उक्त यज्ञ तथा अखण्ड कीर्तन होगा।

नवीन शाखाएँ—

१ श्रीसनातनधर्म विद्यालय फर्रुखाबाद धर्मसङ्घ शाखासभा—पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री वित्थार 'विद्यारत्न' (अध्यक्ष), पं० देवीदयालु शास्त्री (उपाध्यक्ष), पं० जुगुलाल शास्त्री (मन्त्री), पं० मङ्गलाल शास्त्री (उपमन्त्री)। ७५ सदस्य बनाये जा चुके। २ पूरे रेवतीराम (ढिगवस राज्य)—पं० शिवमूर्ति शुक्ल (सभापति), श्री पं० इन्द्रनारायणजी शुक्ल (मन्त्री)। ३ भटनी, कुरड़ा (कालाकांकर राज्य)—२९ दिसम्बर। श्री पं० हरिहरप्रसादजी ओझा (अध्यक्ष), पं० रामकान्तजी ओझा (मन्त्री)। ४ लाहौर शाखा—१२ दिसम्बर, ला० गोपालदासजी (अध्यक्ष), ला० नन्दकिशोरजी (उपाध्यक्ष), पं० रुडोलाल शर्मा (मन्त्री), कविगज श्रीधर्मदत्तजी चौधरी (उपमन्त्री)। स्थान—ठाकुरद्वारा लाला राममिलानामल, सूत्रमण्डी बाजार। ५ खुटहरी, पो० नौनीहाट, जि० दुमका, (सन्थाल परगना)—माघ कृष्ण २। श्रीप्रेमभिक्षुजी ब्रह्मचारी के प्रयत्न से धर्मसङ्घ की शाखा स्थापित हुई। पं० वासुदेवजी दुवे (सभापति)। ६ रामकोला (गोरखपुर)—माघ वृष्ण ४ गुरुवार। श्री पं० चन्द्रमणि शर्मा वैद्यभूषण (आयु०आ०) श्री पं० विश्वनाथ शर्मा व्या०आ०, श्री पं० भोक्तपितामह पुजारी (संरक्षक), वा० हरिहर गो० रावजी (अध्यक्ष), श्रीरामदेवजी तुलसीभान। स्थान—श्रीसीताराममन्दिर। ७ ढाढर (प्रतापगढ़)—बुधवार माघ कृष्ण ५, श्री पं० मानाभीख तिवारी (अध्यक्ष), श्रीमातादीन तिवारी (उपाध्यक्ष), श्रीमहादेवसिंहजी (मन्त्री), श्रीकुँआर बहादुरसिंहजी, श्रीराजपतिसिंहजी (उपमन्त्री)। प्रतिमास पूर्णिमा को अधिवेशन होना निश्चित हुआ। ८ बाबा ठाकुरबाड़ी, कटिम्बा, पो० नौनीहाट, जि० दुमका (सन्थाल परगना)—२ जनवरी ४५। श्रीफुलकुमार शर्मा ज्यो० आ०, ज्यो० ती०, सा० ध० आ० (निरीक्षक), श्री पं० कमलाकान्त तिवारी (सभापति), श्रीललितनारायण मिश्र (उपसभापति), श्रीवासुदेव दुवे (मन्त्री), श्रीसरयू तिवारी (उपमन्त्री), श्रीहलधर तिवारी (कोषाध्यक्ष), श्रीधुनाथ दुवे (स्थानीय प्रबन्धक), श्रीशङ्कर मिश्र (संयोजक)। ९ सिकन्दरपुर, पो० जिला चकिया (बनारस राज्य)—जिला धर्मसङ्घ की स्थापना की गयी। श्री पं० चन्द्रधर मिश्र व्या० आ० (अध्यक्ष), श्रीपरशुराम शर्मा (मन्त्री), श्रीभास्करानन्दजी उपाध्याय कथावाचक (प्रचार-मन्त्री)।—श्री पं० श्रीराम शर्मा।

'हिन्दू-कोड'-विरोध

१ नौनीहाट, जि० दुमका, सन्थाल परगना—२९ दिसम्बर, ह० ३२१, श्री पं० फुलकुमार झा (सा० ज्यो० ध० आ०)। २ पत्तासुडाई, जि० कटक (उड़ीसा)—२९ दिसम्बर, ह० १६१, श्री बाबा रामकान्तदासजी। ३ गोटेगाँव, जि० होशङ्गाबाद—३० दिस०, ह० १६३, डा० हुत्करसिंह माफीदार। ४ गुमला, जि० रौंची (बिहार)—३१ दिस०, ह० १२२५, तार १३, पं० पद्मलोचन शर्मा, सं० मन्त्री हिन्दूसभा। ५ मुरादाबाद—

२६ और ३० दिस०, ह० ३२५, श्रीलक्ष्मीनारायण रामकिशोर शर्मा, किस-
रौल कूँचा, खेखविचई। ६ खलीलाबाद, जि० बस्ती—३० दिस०, ह०
११३, श्रीबनारसीलाल कानोडिया। ७ हुबेपुर (काशी)—१८ दिस०,
ह० १३३, श्रीआद्याप्रसाद दूवे। ८ नटवार, जि० झांझाबाद—२९ दिस०,
ह० ५१३, श्रीरामबलीसिंह, हेडक्वार्टर बीसो सर्किल (राजछावनी)।
९ सिकन्दराबाद—३० दिस० ८००, ओप्रकाशगुप्त (मन्त्री धर्मसङ्घ
शाखा)। १० खण्डवा—३० दि०, ह० १००, श्रीरामलाल कुराजमल
चौधरी। ११ अम्बहटा, जि० सहारनपुर—३१ दिस०, ह० १६१, पं०
केदारनाथ शर्मा। १२ रामनगर (नैनीताल)—३१ दिस०, ह० १३५,
श्रीप्यारेलाल गङ्गागाम। १३ मदनपुरा, रावलपिण्डी—३१ दिस०, ह०
१००८ तथा १८ सभाओं से विरोध-प्रस्ताव, श्रीबलदेवसहाय कपूर।
१४ चुरू—२९ दिस०, ह०, ३८३, श्रीजयदयाल सुन्दरमल। १५ सिक-
न्दराबाद (हुल्दशहर)—ह० ३४८, श्रीबालस्वरूप अग्रवाल (घासीराम
नन्दराम फर्)। १६ बम्बई प्रान्तीय धर्मसङ्घ, माधवबाग—पत्र और तार
ज० म० दूरकाल (सभापति) और श्री पं० रामजी पाण्डेय (मन्त्री) की
ओर से।

विशेष समाचार

ग्रामों में धार्मिक प्रचार—श्रीस्वामी कृष्णबोधभ्रमजी महाराज बड़ौत
(मेरठ) पहुँच गये। मेरठ प्रान्त के छपरौली, बड़ौत, खेखड़ा, सूप,
लुहारासराय आदि ग्रामों में पैदल घूमकर आप धर्मसङ्घ का प्रचार कर रहे
हैं। १ जनवरी तक दौघट पहुँचने की आशा थी।—पं० खजानदत्त
श्रीत्रिय।

रमईपट्टी, २३ दिसम्बर। श्री पं० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी के यहाँ पहुँचने
पर रमईपट्टी, तरकापुर तथा अधौलीनिवासी महानुभावों ने मिलकर
धर्मसङ्घ का एक अधिवेशन श्रीमान् पं० अमरेशचन्द्र पाण्डेय बी. ए. के
सभापतित्व में सायंकाल ७॥ बजे किया। श्री पं० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
ने उद्देश्य और विधानों को बड़े स्पष्ट रूप से लोगों के सामने रखा।
उपस्थित प्रत्येक स्थानों के लोगों ने अपने यहाँ सङ्घ की शाखासभा के स्थापन
का निश्चय किया और कार्यसञ्चालन की दृष्टि से अधिकारियों की भी नियुक्ति
उसी समय सर्वसम्मति से हुई। (१) रमईपट्टी धर्मसङ्घ शाखासभा—
श्री पं० हरिनारायण शिजलू (सभापति), श्री पं० वैजनाथ तिवारी
(मन्त्री)। (२) तरकापुर धर्मसङ्घ शाखासभा—श्री पं० रघुबीरप्रसाद दूवे
(सभापति), श्री पं० रामचन्द्र दूवे (मन्त्री), (३) अधौली धर्मसङ्घ
शाखासभा—श्री पं० लक्ष्मीनारायण पाण्डेय (सभापति), श्रीपरशुराम
ओझा (मन्त्री)।

मिर्जापुर से श्रीस्वामी करपात्रीजी की पैदल यात्रा का श्रीगणेश

मिर्जापुर में नगर-सङ्गठन का जोरदार आयोजन

तिवरानी टोला, ५ जनवरी। श्रीस्वामीजी के काशी से प्रस्थान की
सूचना वैसे तो सर्वत्र ही व्याप्त है और उसी के अनुसार मार्ग के प्रामाण
तथा नागरिक उन के स्वागत के आयोजन में यत्रतत्र एकत्रित दिखाई पड़े,
फिर भी श्रीमहाराज के मिर्जापुर पहुँचने की सूचना नगर में बिजली की
तरह व्याप्त हो गयी। मौसम के खराब रहने और पानी के बरसते रहने पर
भी स्थानीय पक्के घाट पर जन-समाज एकत्रित हो गया। जिला के प्रति-
ष्ठित रईस एवं जमीन्दार सर्वश्री पं० सदायतनजी पाण्डेय तथा श्री पं०
अमरेशचन्द्रजी पाण्डेय अन्य कई सज्जनों के साथ श्रीचरणों में यह निवेदन
करने के लिए उपस्थित हुए कि श्रीमहाराज कुछ दिन मिर्जापुर में ठहरें,
जिस से मिर्जापुर में भी धर्मसङ्घ का सङ्गठन जोरों से किया जा सके। इस
पर उत्तर यही मिला कि “दो-तीन घण्टे का ही समय है, एकादशी तक प्रयाग
पहुँचना आवश्यक है, जो कुछ भी करना हो, इतने ही समय में कर लो।”
समय का अत्यन्तभाव होने पर भी बड़ी तत्परता से काम प्रारम्भ हुआ,
शहर के खास लोगों में श्रीमहाराज के दो घण्टे ठहरने की सूचना दी गयी
और माघ कृष्ण ७ सं० २००१ (५ जनवरी ४५) शुक्रवार को ५ बजे
सायंकाल चौधरीभवन तिवरानी टोला में धर्मसङ्घ का अधिवेशन प्रारम्भ

हुआ। सर्वप्रथम श्री पं० ब्रह्मानन्दजी त्रिपाठी ने सङ्घ के सामूहिक सङ्कल्प
की विधि से कीर्तन कराया और थोड़े में धर्मसङ्घ की आवश्यकता पर प्रकाश
डाला। तदनन्तर श्री पं० सदायतनजी पाण्डेय ने श्रीचरणों की आज्ञानुसार
अपना भाषण प्रारम्भ किया। आप ने अपने भाषण में धर्मसङ्घ की शिक्षा-
योजना और हिन्दू-सङ्गठन पर प्रकाश डाला। अन्त में श्रीस्वामिचरणों का
उपदेश हुआ। श्रीस्वामीजी ने अन्त में ‘धर्मसङ्घ’ के सदस्यों के कर्तव्य
पर जोर दिया और नगरसङ्गठन-योजना के अनुरूप एक नगरसमिति
की योजना का आदेश दिया। इस के बाद श्री पं० ब्रह्मानन्द
त्रिपाठी ने सङ्घ के जयकारों और कीर्तन के बाद काशी के
नगर-सङ्गठन को बतलाया और कहा कि आज काशीनगरी अ०
भा० धर्मसंघ के आदेशानुसार कई मण्डलों में विभक्त होकर एक
केन्द्रीय समिति के नियन्त्रण में कार्य कर रही है। इन प्रत्येक
मण्डलों के अन्तर्गत कई मुहल्ले हैं और मण्डलों की समिति के नियन्त्रण में
काम करना उन का आवश्यक कर्तव्य हो गया है। इस के बाद ‘मिर्जापुर
नगर धर्मसङ्घ समिति’ का सङ्गठन हुआ। सभापति—श्रीमान् राजा
नरसिंहपदमशरण शाह विजयगढ़गज मिर्जापुर तथा प्रधान मन्त्री श्रीमान्
पं० अमरेश चन्द्र पाण्डेय बी. ए. नियुक्त हुए।

विन्ध्यक्षेत्र ६ जनवरी। विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि श्री
स्वामीजी मिर्जापुर से नौका छोड़कर विन्ध्यक्षेत्र पैदल चल पड़े। जड़ा
बड़े जोरों का था और पानी भी बरस रहा था। फिर भी प्रयाग पहुँचने
की शीघ्रता में आप ने लोगों के आग्रह करने पर भी पैदल यात्रा का
श्रीगणेश कर ही दिया। कहा जाता है कि अष्टमी को जब आप भगवती
के मन्दिर में पाठ कर रहे थे, तभी आप के दर्शनार्थियों की भीड़ जुटने
लगी। पाठ समाप्त होने पर आप ने भगवती का दर्शन किया और उस के
बाद वहाँ के तीर्थपुरोहितों तथा दर्शनार्थियों के आग्रह पर संघ के अधि-
वेशन का आयोजन हुआ। श्रीब्रह्मानन्द त्रिपाठी ने संघ के जयकारों के
साथ कीर्तन कराया और इस प्रकार श्रीस्वामीजी का उपदेश प्रारम्भ
हुआ। आप ने अपने भाषण में विन्ध्यक्षेत्र में धर्मसंघ-संस्थापन की बात
कही और उस के अब तक के प्रयत्नों पर प्रकाश डाला। आप ने आगे
बतलाया कि भगवती के आश्रयण से ही आज सङ्घ का विजयी
स्वस्तिक झण्डा किस प्रकार सङ्घ के विजय का द्योतन देश में कर
रहा है। भगवती का रहस्योद्घाटन करते हुए आप स्वयं गद्गद
हो उठे। आप ने बतलाया कि “अपर्णा लता की शक्ति से ही स्थाणु
ब्रह्म कैवल्यफल फलता है।” इस प्रकार अनेक रहस्योद्घाटन के बाद
श्रीमहाराज ने तीर्थपुरोहितों तथा वहाँ के निवासियों को सङ्घ के
कार्यसञ्चालन पर विशेष प्रोत्साहित किया और कार्य-सञ्चासन के लिए
एक समिति बनायी गयी, जिस के सभापति श्री पं० मधुसूदनपतिजी
त्रिपाठी तथा मन्त्री श्री पं० ज्वालाप्रसादजी पाण्डेय नियुक्त हुए।

लक्ष्मचण्डी का सङ्कल्प

श्रीस्वामीजी के विन्ध्यक्षेत्र पहुँचते ही लोगों ने लक्ष्मचण्डी के आयोजन
की बात चलायी और उस के श्रीगणेश को चर्चा सङ्घ के विन्ध्यक्षेत्रवाले
अधिवेशन में की गयी। लोगों की विशेष रुचि देखकर श्रीस्वामीजी ने
उस के श्रीगणेश के लिए यह प्रणाली स्थिर की कि लक्ष्मचण्डी की निर्विघ्नता
के लिए कुछ पाठ नियमित रूप से नवरात्र तक किया जाय और
नवरात्र आने पर दश सहस्रचण्डी का आयोजन पुनः निर्विघ्नता के लिए
हो। बाद में यदि अवसर हो, तो इसी नवरात्र में, नहीं तो शरदकालीन
नवरात्र में लक्ष्मचण्डी के आयोजन का प्रारम्भ किया जाय। इस के अनुसार
श्रीमूलचन्दजी चौपड़ा ने पूजन का आयोजन किया। श्रीस्वामीजी की आज्ञा-
नुसार श्री पं० मधुसूदनपति त्रिपाठी ने श्रीस्वामीजी के सन्निधान में भगवती
का पूजन किया और तदनन्तर लक्ष्मचण्डी की निर्विघ्नता के लिए सङ्कल्प
किया। सङ्कल्प श्रीस्वामीजी के तत्वावधान में हुआ इस आयोजन में
यजमान बनने का सौभाग्य श्री पं० मधुसूदनपति त्रिपाठी को प्राप्त हुआ।

इस के बाद श्रीस्वामीजी प्रयाग के लिए पैदल रवाना हुए। सङ्घ के
जयकारों के साथ बहुत दूर तक लोग पहुँचाने गये। साथ में श्रीगदाधर
ब्रह्मचारी, श्रीमार्केण्डेय ब्रह्मचारी, श्रीआज्ञादत्त ब्रह्मचारी, श्रीमहावीर
ब्रह्मचारी हैं।

सिद्धान्त

साप्ताहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण ३)
विशेष ५), एक प्रति —)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं० — दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

ब्राह्मणभाग का वेदत्व

(श्री स्वामी करपात्री जी)

४

जो कहा जाता है कि “जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में मनुष्यों के नामों-लेख-पूर्वक इतिहास का उल्लेख है, वैसे मन्त्रों में नहीं है” यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे सृष्टि-प्रलय का कथन होने पर भी मन्त्र के वेदत्व में कोई क्षति नहीं, वैसे ही लौकिक इतिहास होने में भी कोई क्षति नहीं है । वेद सब विद्याओं के स्थान हैं, अतः सुगमता के लिए लौकिक आख्यायिकाओं के समान याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा आदि कल्पित नामों के ही द्वारा ब्रह्मविद्या आदि विद्याओं का उपदेश वेद में है । जैसे सृष्टि-प्रलयादि प्रवाहरूप से अनादि वेदों के अनुसार होते रहते हैं, वैसे ही ब्राह्मण में इतिहासादि का वर्णन होने पर भी इस आक्षेप का अवसर नहीं है कि ऐतिहासिक पदार्थों की उत्पत्ति के पश्चात् ब्राह्मणभाग की रचना हुई, किन्तु यही सिद्ध होता है कि ऐतिहासिक पदार्थों की उत्पत्ति ही अनादि ब्राह्मणभाग के अनन्तर होती है । अतएव ब्राह्मणग्रन्थों से पृथक् भारत, रामायण, भागवतादि इतिहास-पुराण हैं, यह भी सिद्ध है । अतएव वात्स्यायन मुनि ने ब्राह्मण का प्रमाण देकर इतिहास-पुराणों का प्रामाण्य सिद्ध किया है । यदि ब्राह्मण-ग्रन्थ ही पुराणादि होते, तो उन का प्रामाण्य ब्राह्मण से ही कैसे समर्थन किया जाता ? यदि “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक वचनों को ही ‘पुराण’ और “देवासुरा संयत्ता आसन्” इत्यादि पुरातत्त्वप्रतिपादक अंश को ‘इतिहास’ माना जाय, तब तो “हरण्यगर्भः समवर्तताम्रे” इत्यादि मन्त्रभाग को भी इतिहास कहा जाने लगेगा । “अहं मनुर्भवं सुर्यश्च कक्षीर्वा ऋषिस्मि विप्रः अहं” अर्थात् मैं प्रथम मनु होता हूँ और सूर्य होता हूँ तथा इस समय ब्राह्मण ऋषि हूँ, कक्षीवान् मेरा नाम है, इत्यादि मन्त्रों में सृष्टि के समय का इतिहास वर्णित है । ‘व्याकरण महाभाष्य’ के प्रथमान्दिक में कहा गया है कि सात द्वीपवासी पृथ्वी, तीन लोक तथा अङ्गरहस्यसहित चार वेद, जिन के अनेक भेद हैं, अर्थात् यजु की १०१ शाखा, साम की १००० शाखा, ऋक् की २१, अथर्व की ९ शाखाएँ हैं, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक शब्दों के प्रयोग करने का विषय है, इस वचन में वैद्यक के साथ इतिहास-पुराण आने से स्मृतिरूप ही ब्राह्मण से अतिरिक्त रामायण, भारत, भागवतादि समझना ठीक है ।

जो “प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च त्रिविधः” इस वात्स्यायन-भाष्य का यह अर्थ लगाया है कि ब्राह्मणग्रन्थ लौकिक ही है, वैदिक नहीं, यह अत्यन्त अनर्गल प्रलाप है । यदि “यथा लोके” इन शब्दों पर ध्यान दिया जाता, तो ऐसा भ्रम न होता । इस का स्पष्ट अर्थ है कि जैसे लोक में शब्द प्रमाण है, वैसे ही वेद में भी । ब्राह्मणरूप वेद में वाक्यों का त्रिविध विभाग है, यही ‘वात्स्यायन भाष्य’ का स्पष्ट तात्पर्य है । वैदिक उदाहरणों को दिखलाकर यह कहा गया है कि लोक में भी इसतरह के विधि आदि होते हैं ।

कहा जाता है कि ब्राह्मणभागों में मन्त्रों का प्रतीक रखकर उन का व्याख्यान किया जाता है, इसलिए ब्राह्मण वेदव्याख्यानरूप ही है, यह भी ठीक नहीं । यदि ब्राह्मण वेदव्याख्यानरूप होते, तो उन का कर्ता अवश्य स्मर्यमाण होता । परन्तु मन्त्रों के समान ही सम्प्रदायाविच्छेद और अस्मर्यमाणकर्तृक होने से उन की भी अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है । इस के अतिरिक्त जैसे भाष्यों में व्याख्यान और व्याख्यातव्य दोनों ही एक भाष्यकार के होते हैं, जैसे “पश्चादिभिश्चाविशेषात्” इस अपने ही सूत्रालुकारी वचन का व्यास ने नहुत शब्दों में व्याख्यान किया है, वैसे ही मन्त्र और ब्राह्मण में व्याख्यातव्य-व्याख्यानभाव होने पर भी दोनों अपौरुषेय हैं । भाष्य के समान ही ईश्वरप्रणीत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद में भी व्याख्यान-व्याख्यातव्यभाव हो सकता

है । जो कहा जाता है कि जैसे भाष्य अष्टाध्यायीपदवाच्य नहीं हो सकते, वैसे संहिता-व्याख्यानरूप ब्राह्मण संहितापदवाच्य नहीं हो सकते, परन्तु यह इष्ट ही है । ब्राह्मणभाग संहिता से भिन्न होने पर भी वेद, आम्नाय, श्रुति आदि पदों से कहे जा सकते हैं, अतएव मनु ने भी उपनिषदों को, जो कि अधिकतर ब्राह्मणभाग में आते हैं, श्रुति पद से कहा है—“एताश्चान्याश्च सेवेत दोक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्चोपनिषदी-रारमसंसिद्ध्ये श्रुतीः ॥”

जो कहा जाता है कि ‘इषेत्वा’ इत्यादि मन्त्रों का व्याख्यानरूप ब्राह्मण मन्त्रों के पश्चात् ही होना चाहिए, ऐसी स्थिति में ब्राह्मणभागों का अनादिता और वेदत्व कैसे कहा जा सकता है ? परन्तु यह केवल अज्ञान है अर्थात् पीवापर्य्य से आगे-पीछे होने मात्र से प्राचीनता-अर्वाचीनता का भेद नहीं निकाला जा सकता, अन्यथा संहिता में भी एक मन्त्र के अनन्तर दूसरे मन्त्र को देखकर या पिछले मन्त्र का सम्बन्ध अगले मन्त्र से देखकर कोई मन्त्रों में भी आगा-पीछा देखकर उन को भी अनादिता-सादिता या प्रथम मन्त्र की प्राचीनता, उस की अपेक्षा द्वितीय, तृतीयादि मन्त्रों की अर्वाचीनता सिद्ध कर सकता है । यदि मन्त्रों में आगे-पीछे पाठमात्र से पूर्वकाल और उत्तरकाल में उत्पत्ति आदि की कल्पना नहीं हो सकती, तो इसीतरह मन्त्र-ब्राह्मणों में व्याख्यान-व्याख्येयभाव होने मात्र से उन में प्राचीनता-अर्वाचीनता की कल्पना निराधार ही है । कहा जाता है कि जैसे ब्राह्मणभाग में संहिता के मन्त्रों का उल्लेख है, वैसे संहिता में मन्त्रों का व्याख्यान करने के लिए व्याख्येय मन्त्रों का उल्लेख नहीं होता, अतः ब्राह्मणभाग से संहिताओं में वैलक्षण्य क्यों न माना जाय ? इस का उत्तर यही है कि सनातनधर्मों को यह विलक्षणता मानने में कोई आपत्ति नहीं है । व्याख्येयरूप होना या व्याख्यानरूप होना, दो में से एक भी वेद होने में कारण नहीं । जब व्याख्येयरूप होना वेद होने में कारण नहीं, तब व्याख्यानरूप होना वेद न होने का ही कारण क्यों ? जो कहा जाता है कि यह अनुमान हो सकता है कि जो ग्रन्थ व्याख्यानरूप है, वह वेद नहीं है, जैसे ऋक्संहिता का भाष्य, इसीतरह ब्राह्मण भी वेदव्याख्यानरूप है, अतः वेद नहीं है, परन्तु इस अनुमान के प्रतिरोध में दूसरा अनुमान यह उपस्थित होता है कि जो ग्रन्थ अपौरुषेय होता है, वह वेद है, जैसे मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण भी अपौरुषेय है, अतः वेद ही है । पिछला अनुमान अप्रयोजक है और अनैकान्तिक है यह-पीछे कहा जा चुका है, अन्यथा व्याख्येयरूप होने से अष्टाध्यायी आदिकों की तरह संहिता का भी अवेदत्व क्यों न सिद्ध किया जाय ? भाष्यकार ने वैदिक उदाहरणों में मन्त्रों को ही दिया है, ब्राह्मणभाग को नहीं, इतने से ही ब्राह्मणभाग की अवेदता नहीं सिद्ध होती । मन्त्र-ब्राह्मण के एकात्मक होने से ही उन उन संहिताओं के ब्राह्मणों को तदात्मक ही मानकर वे निर्देश सज्जत हैं ।

“शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः”

(विद्याभूषण पं० नन्दलाल खेडवाल साहित्याचार्य)

हिन्दूजाति शङ्का-समाधानार्थ अथवा उदाहरणार्थ ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ के मार्मिक श्लोकों का अधिक आश्रय लिया करती है । जब कभी जाति-पाँझ में कूआलूत का विरोध मनोनीत रहता है या अछूतोंद्वारा की नोति-युक्त भावनाओं को जाएत करना आवश्यक दीख पड़ता है, तब हमारे उपदेशकों द्वारा “विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः” का उच्च स्वर से पाठ होने लगता है । प्रायः जब विजातियों के साथ खाने-पीने और उन के सम्पर्क में उठने-बैठने का प्रश्न आता है, तब इस श्लोक पर मत्न प्रारम्भ हो जाता है । इस श्लोक का यह अर्थ कहकर कि “विद्या-विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल में पण्डितलोग कोई अन्तर नहीं समझते

अथवा उन सब को एक ही तुलना में देखते हैं। हमारे बीसवीं सदी के उपदेशक अपने बुद्धिविशेष का अतिशीघ्र परिचय दे देते हैं। परन्तु यह अनुवाद केवल भ्रमात्मक है। उपर्युक्त श्लोक के शब्दानुवादकों का यह कथन है कि एक विद्वान्, सभ्य ब्राह्मण और एक (हरिजन) अन्त्यज में कोई अन्तर नहीं देखना चाहिए, अथवा एक मातृवत् गौ में और एक विद्याभक्षी कुत्ते में कोई भेदभाव न करना चाहिए। जब पण्डित-जन मनुष्य और पशु में कोई भेदभाव नहीं रखते, तब फिर मनुष्य को मनुष्य के प्रति भेदभाव क्यों रखना चाहिए? यहीं से जाति-पङ्क्ति में छूटछाट के विचारों को गिरा देने का प्रयत्न किया जाता है और डोम का ब्राह्मण के साथ सहभोजन आदर्शसूचक सिद्ध होता है। परन्तु ऐसा शब्दार्थ सामञ्जस्यविहीन प्रतीत होता है। 'गीता' के इस पुण्य श्लोक का ऐसा अर्थ युक्तियुक्त नहीं है। अपनी अभीष्टसिद्धि के लिए हमें महर्षि वेदव्यास की काव्यरचना का इस रीति से अनादर न करना चाहिए। श्लोक का शब्दार्थ एवं भावार्थ दोनों ही हमें उसी बुद्धि से समझना चाहिए, जिस मन्तव्य से उस की रचना हुई है। एक कवि का भाव उस की अनूठी शैली में छिपा रहता है, जिसे ढूँढ निकालने के लिए हमें उस की आद्योपान्त रचनाओं का अध्ययन अनिवार्य है। महर्षि वेदव्यासरचित अन्यान्य ग्रन्थों का जिस ने सुचिपूर्ण अध्ययन किया है, वही उन के मनोनीत शब्दकोष से परिचित है और वही ठीक ठीक अनुवाद भी कर सकता है अन्यथा कवियों की प्रगतिशील शब्दावली के रहस्य को विना मनन-अध्ययन के सराहना बहुत कठिन है। उपर्युक्त श्लोक का जो भी मनन-अध्ययन मुझ से हो सका है, उसे मैं पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर देना समुचित धर्म समझता हूँ। इस श्लोक में सात रहस्यमय शब्दों का विचित्र सङ्गठन हो गया है। प्रत्येक शब्द का भावार्थ और उन का मिलित औचित्य समझाना तथा समझना यथेष्ट है। (१) ब्राह्मण, (२) गौ, (३) हस्ती, (४) श्वा, (५) श्वपाक, (६) पण्डित तथा (७) समदर्शन, उपर्युक्त श्लोक के ये सात सारगर्भित उपादान हैं। ब्राह्मण का उल्लेख करते हुए महर्षि स्वयं कह रहे हैं कि "विद्याविनयसम्पन्ने"। विद्या और विनय इत्यादि अलङ्कारयुक्त शब्दों ने ही हमें सूचित कर दिया है कि इस श्लोक में प्रत्येक व्यवहृत शब्द महर्षि के ऐसे ही अलङ्कारपूर्ण भावों से गर्भित है। ब्राह्मण का परिचय विद्या, विनय प्रभृति शब्दों से देने का तात्पर्य केवल यही हो सकता है कि हमें ब्राह्मण को उस के कर्तव्य कर्मों से ही जानना श्रेयस्कर है। शेष अलङ्काररहित शब्दों की प्रयुक्ति में महर्षि की वाचकलुप्ता शैली विद्यमान है। कर्तव्य परिचय से ब्राह्मण हम उसी को कहेंगे जो विद्या-विनय से सम्पन्न हो, जिस पर पथप्रदर्शन का भार हो, जो संसार में धर्म, विद्या तथा नीति को बताने के कारण जन्म लेता हो। इसी दृष्टि से इसी कर्तव्यपरिचय के ज्ञान से हमें गौ को भी समझना चाहिए। गौ वही है, जो अपने सन्ततिमुख से अमृत को हटाकर दूसरे प्राणियों के रक्षण, पालन अथवा लोकपरित्राणार्थ अर्पित कर दे। स्वयं सौम्यता, सभ्यता तथा ममता का अवतार बनकर माता कहलने की अधिकारिणी हो—“गावश्चैलोक्यमातरः”। यह तभी चरितार्थ हो सकता है, जगज्जननी वही कहला सकती है, जो प्राणिमात्र के शिशुओं का पालन-पोषण अपने दूध से करे। कर्तव्यपरिचय के ज्ञान से हस्ती को भी देखें। शरीर अतिविशाल, अवयव अतिबलवान्, पाशविकता की चलती-फिरती उन्मत्त श्री, चिगड़ा में मेघगर्जन का कड़क नाद तथा चाल में मदनमस्त की मतवाली शूम, परन्तु नेत्र छोटे और सस्मित, जिन से शरीर की अपार विशालता का अहङ्कार न प्राप्त हो सके, वृक्षों को क्षणमात्र में उखाड़ फेंकने का प्रतिदिन अनुभव रखते हुए भी वनशोभा को प्रतिष्ठित रखना, यह हस्ती की गौरवपूर्ण परिभाषा है। वन की काष्ठविभूति को मानवप्रदेश तक पहुँचा देना उस विशाल-देह हस्ती की उपयोगिता है। जिस के द्वार पर इस ने जीवननिर्वाह किया, उसे महाराजा प्रभृति सम्मान दिलवाया, यह उस की आदरणीय विशेषता है। अब कर्तव्यपरिचय से शुनि का अवलोकन करें। अपने स्वामी के लिए सदा प्राण न्योछावर करनेवाला, भूखा रहने पर भी विना दिये आहार न करनेवाला, सच्चा द्वारपाल, अपने स्वामी की प्रतिक्षण आकांक्षाओं का पालन करनेवाला, विश्वासपात्र प्रभुभक्त इस विश्व में कुत्ते को छोड़कर दूसरा नहीं है। नीति भी कुत्ते के गुणों का इस प्रकार वर्णन करती है—

“बद्धाशी स्वल्पसन्तुष्टः सुनिद्रः शीघ्रचेतनः। प्रभुभक्तश्च शूरश्च शतव्याधः

षड् शुनो गुणाः ॥” श्वपाक को देखें। प्राचीन समय से ही पृथ्वी को स्वच्छ साफ रखने का काम प्रकृति ने इसे ही सौंपा था। कुत्ते का मांस खाकर तामसी जीवन निर्वाह करते हुए भी मानव-सेवाधर्म से विमुख न रहना, इस अनासक्त योगी की सेवाएँ दुर्लभ हैं। चाण्डाल होते हुए भी मानवता के भाव में पदार्पण करनेवाला श्वपाक अपना विशेष महत्त्व रखता है। 'पण्डित' वही है, जिस का पाण्डित्य तत्त्वज्ञान में लय हो चुका हो अथवा जो सत्यबुद्धि से आवरण को, परिभाषारूप को, सूचक और कर्म को कर्तव्य समझता हो। श्लोक का सातवाँ अतिमहत्त्वपूर्ण शब्द है 'समदर्शन'। इसी एक शब्द ने भ्रम को स्थान दिया है। इस शब्द का साधारण अर्थ है 'एक समान देखना'। यहाँ तर्क को बहुत बड़ा क्षेत्र प्राप्त हो जाता है। 'समदर्शन' के भावार्थ का समझना भी समबुद्धि अथवा बुद्धि की समता पर ही निर्भर है। समता कहते हैं बराबरी को। बुद्धि जब ब्रह्म की समता को प्राप्त होती है, अर्थात् जब मानवबुद्धि को 'अहं ब्रह्म' का भाव, निर्दोष ज्ञान, प्राप्त हो जाता है, तब वह एक भावो बुद्धि समझी जाती है। एक भावो सम, स्थिर अथवा सत्य इत्यादि शब्दों में एक ही सन्तुलन है। इस रीति से समदर्शन शब्द का अर्थ सत्यदर्शन से सिद्ध होता है। भिन्न भिन्न रूपों को देखकर उनसे सम्पादित होनेवाले कर्मों को जानना 'समदर्शन' कहलाता है।

अब 'गीता' के उपर्युक्त श्लोक का इस प्रकार अध्ययन करें। एक सविनय तथा विद्वान् ब्राह्मण का कर्तव्य कर्म है ब्रह्मज्ञान-सम्पादन और रूप है मानवता का। एक गाय का मातृ-कर्तव्य है प्राणिमात्र का परिपोषण और रूप है सौम्य पशु का। एक हस्ती का कर्तव्य है उस की वह उप-योगिता, जो अगम्य वनों में दृष्टिगोचर होती है और रूप है विशाल तथा सम्मानित पशु का। एक श्वान का कर्तव्य कर्म है पहरा देना और रूप है विश्वास-पात्र पशु का। एक श्वपाक का कर्तव्य है पृथ्वी को स्वच्छ रखना और रूप है तामसी व्यक्ति का। जो तत्त्वज्ञानी है, वह इन प्राणियों के कर्तव्यपरिचय-ज्ञान से इन्हें देखना है, इस में भेद नहीं करता। इस त्रुटि-रहित दर्शन को ही समदर्शन कहेंगे। जो जैसा पात्र है, उसे उसी रूप में देखना ही समदर्शन है। प्राकृतिक सन्तुलन में कोई वस्तु तुल्य नहीं है। न एक जैसी आकृति है और न एक जैसा कर्म। संसार में प्रत्येक वस्तु अपनी पृथक् उपयोगिता रखती है। इसी क्रम का अनुसरण प्राणी की प्रकृति में भी वर्तमान है। उस के रूप का ज्ञान उस के कर्मों से करना और कर्मों को देखकर उस के रूप को जानना ही समदर्शन है। यदि समदर्शन का अर्थ एकभाव से देखना मान लिया जाय, तो अर्थ का अनर्थ ही हो जाय। एक चोर को यदि एक साहूकार के बराबर सम्मानित किया जाय, तो सम्पत्तिरक्षा का प्रश्न ही जाता रहे। यदि एक मूर्ख को एक विद्वान् की समता में बिठला दिया जाय, तो राजनीति का उपचार ही स्थगित हो जाय। यदि एक मोगी को एक योगी की तुलना में समझ लिया जाय, तो जिज्ञासा का सर्वनाश ही हो जाय। यदि एक मूढ़ को एक ज्ञानी का स्थान प्राप्त करा दिया जाय, तो समस्त आत्म-विकास के साधनों पर पानी ही फिर जाय। मेरी समझ में इन प्राकृतिक अपभ्रमवताओं का समावेश महर्षि वेदव्यासजी के समदर्शन में कदापि नहीं हो पाया है, वरन् हमारे बीसवीं सदी के उपदेशकों की अविवेकी बुद्धि की यह उपज है, जो अर्थ का अनर्थ ही करने की प्रगतिशीलता मान बैठी है। महर्षि वेदव्यास को यह कब ज्ञात था कि एक ऐसा भी युग आनेवाला है, जब संस्कृतसाहित्य मौन हो जायगा और उन की रचना का पापमय उपहास होगा। समदर्शन शब्द के व्यवहार से उन्होंने अपनी विद्वत्ता को पराकाष्ठा का परिचय दिया था, जिसे आज साहित्याभिमानीयों ने मिथ्याचारों के शरणागत करा दिया है।

विद्वानों की विश्लेषणी का उन्हीं के भावों में अध्ययन करना समदर्शन है। ज्ञान के ध्रुव का ज्ञान की दृष्टि से परखना ही प्रज्ञापरदर्शिता है। सूर्य में अभिवल का, चन्द्रमा में शीतलता का, आकाश में अवकाश का, देह में अहङ्कार का तथा साकार में निराकार का अनुभव करना ही समदर्शन है। जिस भी विषय को हम देखें, हमें चाहिए कि हम उस विषय के प्रस्तुत करनेवाले की दृष्टि से अपनी दृष्टि मिलाकर देखें। जैसे ब्राह्मण, श्वान इत्यादि के रचयिता की दृष्टि के समान भाव में अपनी दृष्टि ले जाकर फिर अवलोकन करें अर्थात् परमात्मा की रचना को हम परमात्मभाव से अध्ययन करें, तो सत्यता का रूप दिख जायगा। पृथक् पृथक् जीवाणुओं को एक समान न

देखकर हमें चाहिए कि हम उन्हें वैसा ही देखें, जैसा कि उन का बनाने-वाला उन्हें देखता है। भिन्न रूपवाले अणुओं का समदर्शन तभी समदर्शन कहलायेगा, जब हम अपनी दृष्टि को उस दृष्टि की समता में प्रतिष्ठित करें, जो दृष्टि उन अणुओं के सृष्टि-कर्ता की है। यही भाव निर्विवाद एवं समता-सूचक है।

धर्मसङ्घ-समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

१ बहटा, जि० मिर्जापुर—सङ्घ के सङ्कल्प से माघ कृष्ण २ रविवार को विधिपूर्वक रुद्रयज्ञ हुआ। आसपास के ग्रामनिवासियों ने बड़ी श्रद्धा और उत्साह से इस में सहयोग किया। लोगों से सङ्घ के सदस्य बनने का अनु-रोध किया गया—श्रीसहजानन्दजी अव्यक्त। २ श्रीसनातन-धर्मशिरोमणि मन्दिर, बिस्म (पक्षाथ) से श्रीजीवनदासजी सूचित करते हैं कि यहाँ विश्वशान्त्यर्थ ता० ३ जनवरी से ११ जनवरी तक हरिमहास्त्रयज्ञ होना निश्चित हुआ है। साथ ही लपदेश, भाषण, कथा, हरिकीर्तन आदि भी होंगे। ३ चातुर्मास्य त्रैतयज्ञ—काशी, गत माघ शुक्ल ५ सुबवार से पांच दिन तक स्थानीय 'श्रीवल्लभराम शालिग्राम साङ्ख्येद्विद्यालय रामघाटभवन' में दक्षिणदेश के तब्जावर जिलान्तर्गत नखिलेरी ग्रामनिवासी श्रीतस्मार्तकर्मधुरन्धर ब्रह्मश्री अभिनोत्री रामनाथ दीक्षित सोमयाजी महोदय ने श्रीत चातुर्मास्य याग का अनुष्ठान किया। ४ श्रीमहारुद्रयज्ञ, बड़ौत (मेरठ)—श्रीस्वामी कृष्णबोधभ्रमजी महाराज की संरक्षकता में स्थानीय श्रीपञ्चमुखी शिवमन्दिर के विशाल भवन में आगामी फा० कृष्ण ५ शुक्रवार से उक्त महायज्ञ तथा धर्मसङ्घ का विशेषाधिवेशन होगा। श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज से भी इस का अनुमोदन प्राप्त हो चुका है। महायज्ञ का यजमानत्व एवं आचार्यत्व क्रमशः बावलीनिवासी श्री पं० सीतारामजी तथा हृषीकेश के श्री पं० बालकरामजी आहिताग्नि करेंगे। पूर्णाहुति फा० कृ० १३ शनिवार को होगी। —श्री पं० मुरारीलालजी, मन्त्री श्रीमहारुद्रयज्ञसमिति। ५ काशी—स्थानीय 'अपारनाथमठ संन्यासी संस्कृत कालेज' में ध० सं० के सङ्कल्प से गत पौष तथा माघ मास में कतिपय पण्डितों ने स्त्राभिषेक, हवन, महामृत्युञ्जयजप, श्रीगणेशजी का १। लाख दूर्वा से अर्चन, पुराणपाठ आदि अनुष्ठान किये, महात्माओं को भोजनादि से सत्कृत भी किया गया। —श्रीस्वामी धर्मानन्दजी (मन्त्री)।

नवीन शाखाएँ—

१ थाना पारुशाखा, ग्रा० दातापुर, पो० वसन्तपुरपट्टी, जि० मुजफ्फरपुर, (बिहार)—जप-पाठपूर्वक उक्त शाखासभा की स्थापना की गयी। श्री पं० लक्ष्मीरमणजी द्विवेदी धर्माचार्य (सभापति), श्री पं० बाणेश्वरजी द्विवेदी तन्त्राचार्य (उपसभापति), श्री पं० अमरेश द्विवेदी (मन्त्री), श्री पं० नन्दीपति द्विवेदी सा० शा० (उपमन्त्री)। २ ग्राम सरियावां (हिंमावस राज्य)—श्री पं० राममुख उपाध्याय (अध्यक्ष), श्री पं० छिताउ उपाध्याय (मन्त्री), श्री पं० शीतलादीन उपाध्याय (उपमन्त्री), सदस्य १०। ३ ग्रा० आसामऊ (हिंमा० राज्य)—श्री ठाकुर महादेवसिंहजी (अध्यक्ष), श्री ठा० अमरपालसिंहजी (मन्त्री), सदस्य ३०। ४ ग्राम डेकुरी (हिंमा० राज्य)—श्री पं० शिवसहायरामजी शास्त्री (अध्यक्ष), श्री पं० सूर्यनारायणजी त्रिपाठी (मन्त्री), सदस्य २२। ५ ग्राम ताजपुर (समसपुर राज्य)—श्री पं० मदनलालजी द्विवेदी (अध्यक्ष), श्री पं० भगवतप्रसादजी पाण्डेय (मन्त्री), सदस्य ९०। ६ ग्राम जमेठी (भदरी राज्य)—श्री ठा० विक्रमाजीतसिंहजी (अध्यक्ष), श्री ठा० वजरङ्गबहादुरसिंहजी (मन्त्री), सदस्य १६। ७ रामआश्रम, ग्रा० तेजसिंहखेरा, पो० अलीपुर, जि० उन्नाव—श्रीप्रेमप्रकाशजी (अध्यक्ष), श्री पं० गयाप्रसादजी त्रिपाठी (मन्त्री)। ८ कल्याणपुर, पो० नारायणदासखेरा, जि० उन्नाव (गङ्गातट)—श्री पं० कामताप्रसादजी पाण्डेय (अध्यक्ष), श्री पं० कमलकान्तजी मिश्र (मन्त्री)। ९ श्रीवैष्णवभगवान् संस्कृत पाठशाला, उदयभोलपुर, पो० शङ्करगञ्ज, जि० जौनपुर—श्री पं० मुखनन्दनजी उपाध्याय का० ती०, वि० भू० (अध्यक्ष), श्री पं० सुहानन्द चतुर्वेदी (उपाध्यक्ष), श्री ठा० वैजनाथ-सिंहजी (मन्त्री), श्री ठा० रघुनाथसिंहजी (उपमन्त्री), श्री ठा० विजय-

बहादुरसिंहजी (प्रचारमन्त्री) तथा अन्य सदस्य १०। १० श्रीगुरुमेधरनाथ धाम, पो० हरिहरपुर (सं० पर०)—माघ कृष्ण ७ शुक्ल। श्रीमहात्मा दुर्विजय-नाथजी, दुःखदण्डगुफा, हरिहरपुर (निरीक्षक), श्री पं० शुक्रदेव पाठक का० व्या० सां० ती०, प्रधानाध्यापक श्री शु० ना० सं० विद्यालय तथा श्रीवसन्तकुमार पण्डा जमींदार (सभापति), श्री पं० रामेश्वर पाठक का० व्या० ती० तथा श्री पं० पूर्णानन्द पाठक जमीन्दार वैद्य (उपसभा-पति), श्री पं० महावीरप्रसाद पाठक (मन्त्री), श्रीशशिभूषण पण्डा पाठक तथा श्रीअनन्तलाल पाठक आ० वे० शा० (उपमन्त्री), श्रीरामधन मिश्री (कोषाध्यक्ष)। ३६ सदस्य और ४ उपदेशक निर्वाचित हुए। प्रति सोमवार को अधिवेशन होना निश्चित किया गया।

'हिन्दू-कोड'-विरोध

१ दिल्ली—३१ दिसम्बर, ह० ६५, श्रीप्रेमसिंहजी डागर, पहाड़ी घोरज, गली चौ० गैरीराम। २ श्री डी. एन्. दर्शनविद्यालय, आचार्यमठ, घाट-कोपर. बम्बई—९ जन०, श्रीधर्मसभा के प्रचारमन्त्री श्री पं० त्रिविक्रमाचार्यजी स्वयंसेवकों के साथ बम्बई के घाटकोपर, मुलुण्ड, थाणा, पनवेल, भिमडी आदि उपनगरों में 'कोड' के विरोध में प्रचार कर रहे हैं। उक्त विद्यालय के व्यवस्थापक श्रीस्वामी भागवताचार्यजी के समामित्व में कई सभाएं हुईं। स्त्रियों ने भी हजारों की संख्या में हस्ताक्षर किये हैं।—श्री कमलपति मिश्र। ३ श्रीसंस्कृतछात्र-मण्डल, मद्राताल, जबलपुर—२८ दिसम्बर, मण्डल की ओर से विरोधप्रस्ताव और साधारण जनता के ह० ५०, श्री पं० गिरिजाशङ्कर उयो० 'प्राज्ञ'। ४ करांची—३० दिसम्बर, ह० ६ तथा तार। श्रीगिरिधारीलाल रामलाल मलिक। ५ शिरपुर (पश्चिम खान-देश)—३० दिसम्बर, ह० ३८७, तार ४, श्री पं० जनार्दनशर्मा गौड़, उद्योतिषकार्यालय। ६ रामगढ़ (सीकर)—२६ दिसम्बर, ह० १७५, श्रीनन्दलाल सराफ। ७ हांडीडीह, पो० गिरिडीह, जि० हजारीबाग—ह० ९१, श्रीखगपतिरामजी। ८ चोरहुआं, पो० हंसोडीह, जि० पटना—२९ दिस०, ह० १३५८, श्रीमुकुटबिहारीसिंहजी। ९ श्रीहितसङ्घ, सौरासा, जि० उज्जैन (ग्वालियर राज्य)—ह० ५७८, मन्त्री। १० इन्दौर—ह० १०१४८, और तार १०, श्रीदेवचन्दजी वर्मा, इन्दौर ट्रेडिङ्ग कम्पनी। ११ श्रीब्राह्मण संस्कृत पाठशाला, कायमगञ्ज—३१ दिसम्बर, ह० १९०, श्रीतपेश्वर पाण्डेय। १२ गोदना पो० रिवलगञ्ज, जि० छपरा (सारन)—३० दिसम्बर, ह० १०२, श्री पं० रमेशचन्द्र उपाध्याय। १३ चन्दौसी—श्रीसनातनधर्मसभा के प्रयत्न से नगरनिवासियों की ओर से विरोधप्रस्ताव सरकार के पास भेजा गया। साथ ही चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स लिमिटेड, श्रीलक्ष्मी व्यापार कम्पनी लि०, ब्रोकर्स असोसिएशन, बजाजा कमेटी, पसर-रहा कमेटी, खल कमेटी, व्यापार सुधार कमेटी आदि विभिन्न व्यापारी संस्थाओं की ओर से भी विरोधसूचक तार भेजे गये हैं। इस के अतिरिक्त २००० के लगभग हस्ताक्षरों से विरोध प्रदर्शित किया गया है। सनातनधर्मसभा की ओर से बहनों, बिसौली, इस्लामनगर, विलारी, सहसपुर आदि ग्रामों में उपदेशकों द्वारा विरोधप्रचार हुआ, श्रीविष्णुदत्त शर्मा (मन्त्री)। १४ श्रीकृष्ण बस्त्रागार, इतवारी, नागपुर (सी० पी०)—३१ दिस०, स्थानीय 'मारवाड़ी अप्रनाल पञ्चायत' की ओर से विरोधसूचक तार भेजा गया तथा ह० २८७, श्रीबजरङ्गलालजी।

विशेष समाचार

श्रीधर्मसङ्घ-शिक्षायोजना का श्रीगणेश

'शिक्षामण्डल' द्वारा आयोजित शिक्षायोजना का परिचय दिया जा चुका है। गत चतुर्थी की रात्रि को प्रयाग से श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज का आदेश मिला कि वसन्तपञ्चमी से ही इस योजना का श्रीगणेश हो जाना चाहिए। समयाभाव के कारण किसी विशेष समारोह का आयोजन न हो सका। श्रीस्वामीजी के परमपुनीत विश्रामस्थान श्रीगङ्गावरङ्ग, नगवा में 'शिक्षा-मण्डल' के उपाध्यक्ष श्री पं० रामयशजी त्रिपाठी ने श्रीगणेश-पूजन, श्रीसत्यनागयण-पूजन, कथाश्रवण, श्रीसरस्वती-पूजन किया। उक्त अवसर पर अ० भा० धर्मसङ्घ के प्रधान मन्त्री मानसराजहंस श्री पं० विजयानन्द जी त्रिपाठी, रावलपिण्डी के श्री पं० नन्दलाल शास्त्री एम. ए., एल्. एल्. बी., व्यावर के श्री पं० चन्द्रशेखरशास्त्री, श्री पं० केशवमणि शास्त्री आदि तथा धर्मसङ्घ महाविद्यालय के आचार्य तथा छात्रगण उपस्थित थे। पूजनोपरान्त

श्री पं० रामयशजी ने छात्रों को अध्यापन का आरम्भ किया और यह विचार प्रकट किया कि जबतक स्थायी स्थान का प्रबन्ध न हो जाय, जिस के लिए प्रयत्न किया जा रहा है, वे प्रतिदिन आकर गङ्गातट में अध्यापन करते रहेंगे, इस से लोगों में बड़ा उत्साह हुआ। संयोगवशात् उसी समय यह समाचार मिला कि लखीमपुर खीरी के वैद्य श्रीगोविन्दरामजी तीन सहस्र रुपये भेज रहे हैं। इस अयाचित प्राप्ति का समाचार जानकर सब को आश्चर्य हुआ।

स्वामी करपात्रीजी महाराज की विन्ध्याचलयात्रा में तत्र-तत्र धर्मसङ्घ का प्रचार

शूलटङ्गेधर—यहाँ धर्मसङ्घ शाखा स्थापित है। श्रीस्वामीजी महाराज के आगमन का समाचार लोगों को पहले से ही मालूम था। जनता पर्याप्त संख्या में एकत्रित हो गयी थी। श्रीस्वामीजी महाराज के यहाँ पहुँचते ही जयकारों का घोष हो उठा। भगवन्नामकीर्तन के बाद श्रीस्वामीजी ने 'उपासना से ही सभी बलों की प्राप्ति होती है, लोक-परलोक दोनों बनते हैं, अन्त में परमस्वतन्त्र सच्चिदानन्दधन परमात्मा की प्राप्ति होती है' इस आशय का उपदेश दिया। चुनार (मिर्जापुर)—में भी धर्मसङ्घ शाखा स्थापित है। पं० कृपारामजी के प्रयत्न से प्रत्येक एकादशी को लोग एकत्रित होते हैं। रामायणादि की कथा भी होती है। श्री पं० कृपारामजी के यहाँ ही रात को (४ मङ्गलवार) ८ बजे से श्रीस्वामीजी महाराज के पधारने पर सभा प्रारम्भ हुई। श्रीब्रह्मचारी महावीरस्वरूपजी ने धर्मसङ्घ के सदस्यों के कर्तव्य बतलाये। श्रीमार्कण्डेयजी ने लोगों के कर्तव्यों का उपदेश किया। बाद में श्रीस्वामीजी महाराज का "प्रारम्भ्य चोत्तमजनानां परित्यजन्ति" इस आशय का उपदेश हुआ। नेवड़िया, पो० महाराजगञ्ज, जि० मिर्जापुर में गाँववालों के अत्यधिक श्रद्धा-उत्साह से वर्षा होते रहने पर भी श्रीस्वामीजी महाराज ने बहुत एकत्रित जनता को देखकर भाषण दिया। ब्रह्मचारी महावीरस्वरूपजी ने कीर्तन कराया और सभा विसर्जित हुई। श्री पं० रामकृपालुजी मास्टर धर्मसङ्घ के कार्यकर्ता नियुक्त हुए। (विशेष संवाददाता द्वारा प्राप्त)।

प्रयागयात्रा के अवसर पर मिर्जापुर की सभा में गत माघ कृ० ७ को श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज ने अपने भाषण में कहा—“साधारण व्यक्ति यही समझता है कि जिस प्रकार ग्राम का नेता ग्रामपति, प्रान्त का प्रभु प्रान्त-पति, राष्ट्र का नियन्ता राष्ट्रपति होता है, उसी प्रकार सारे विश्व, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का भी कोई न कोई स्वामी अवश्य होगा। ईश्वर की सत्ता मान लेने पर धर्म-अधर्म का भाव उठता है और इसी के तारतम्य से प्राणियों को सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। यह भाव समूहवादी सिद्धान्तों के मूल में कुठाराघात करता है, इसलिए समूहवादी ईश्वर के नाम से चिढ़ते हैं। परन्तु होता क्या है? सोवियट रूस में ईश्वर तथा धर्म की खिल्ली उड़ायी जाती है। धार्मिक भावों को दबाने के लिए तरह तरह के नियम बनाये जाते हैं और तब भी न ईश्वर मरता है और न धर्म, सर्वसाधारण के मन में उस का राज बना ही रहता है। हार मानकर सोवियट सरकार को भी धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा करनी ही पड़ी। पूर्वजों के पुण्यप्रताप से आज भी अन्य देशों की अपेक्षा भारत में ईश्वर तथा धर्म का कुछ भय बना हुआ है, सर्वसाधारण में अब भी धर्म की ओर रुचि है। परन्तु इस के साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर तथा धर्म का जो सच्चा भय है, वह लुप्त हो रहा है, तभी उस का घोर पतन भी हो रहा है। परन्तु जब ईश्वर-विमुक्तदशों में भी उस की अपेक्षा और धर्म की आवश्यकता प्रतीत हो रही है, तब क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि जिसे हम खो बैठे हैं, उसे फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करें? परम उदार, अनादि परमेश्वरीय विज्ञानमय वेदसिद्ध वैदिक धर्म की क्या हम उपेक्षा कर सकते हैं? विश्व-कल्याण को कुञ्जी उसी में है। परन्तु परिस्थिति ऐसी है कि हमें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देख पड़ रहा है, सब ओर से मार्ग बन्द से है। ऐसी दशा में यही उचित जान पड़ रहा है कि लौकिक उपायों के साथ साथ ईश्वर का सहारा पकड़ा जाय। वही ऐसा मार्ग दिखलायेगा, जिस से हम अपना तथा दूसरों का कल्याण करने में समर्थ होंगे। इसलिए इस सङ्कटकाल में प्रत्येक प्राणी का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह प्रतिदिन नियम से 'धर्मग्लान्यधर्माभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्वकं धर्मसंस्थापनार्थं' (धर्मग्लानि तथा अधर्म के अभ्युत्थान को हटाकर धर्मसंस्थापन के लिए)

प्रकाशक — श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातट, नगवा, बनारस।

इस सङ्कल्प के साथ कुछ जप, पाठ, ईश्वर-प्रार्थना आदि करता रहे। हर एक मुहूर्तों और ग्रामों में 'धर्मसङ्घ' की शाखासभाएँ स्थापित की जाय और इन में आठवें या पन्द्रहवें दिन रामायण, भारत आदि अभिमत ग्रन्थों का व्याख्यान, प्रवचन हुआ करे। आदि और अन्त में कम से कम पाँच मिनट उपयुक्त सङ्कल्पानुसार जप या पाठ करना चाहिए। सर्वशक्तिमान् का आश्रयण करके सङ्घटित होकर बलवान् होने का प्रयत्न करना चाहिए। शिक्षण, सदुपदेश आदि द्वारा बौद्धबल, नैतिक बल के साथ साथ शारीरिक बल के सम्पादन का भी प्रयत्न जितान्त आवश्यक है। मल्लशालाओं की संस्थापना कर व्यायाम, कुस्ती, लाठी चलाया आदि जिन जिन रक्षा-साधनों के मिलने और उपयोग करने में बाधा न हो, उन्हें प्राप्त कर उन का अभ्यास करना चाहिए। इस में किसी सरकार को आपत्ति नहीं हो सकती। वर्णाश्रमानुसार सन्ध्यावन्दन, नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते हुए उस का प्रचार करना चाहिए। शास्त्रानुसार उपनयन, विवाहादि संस्कार करवाने का निश्चित प्रबन्ध होना चाहिए, प्राणिमात्र में परस्पर प्रेम और सेवाभाव का प्रसार होना चाहिए।”

काशी, माघ शुक्ल १ सोमवार को 'मैथिल-मण्डल धर्मसङ्घ शाखा' की पाक्षिक सभा नीलकण्ठ विद्यालय में ज्योतिषविद्वान्तकेशरी पं० श्री गेनालाल चौधरीजी की अध्यक्षता में बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुई। विशिष्ट विद्वानों के भाषण हुए। प्रत्येक प्रतिपदा को पाक्षिक सभा नीलकण्ठ विद्यालय में हुआ करेगा। मन्त्री—श्रीराजेन्द्र चौधरी।

डिगवसनरेश श्रीलालजयसिंह बहादुरसिंहजी के सान्निध्य एवं प्रयत्न से राज्य के सरियावाँ ग्राम में १० जनवरी को श्री पं० सरयूप्रसादजी तिवारी वकील की अध्यक्षता में धर्मसङ्घ की एक महती सभा हुई। सभा में कुण्डा तहसील, राज्य डिगवस, भदरी, समसपुर, बेती आदि के प्रमुख व्यक्तियों के अतिरिक्त लगभग १॥ हजार जनता उपस्थित थी। अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने धर्मसङ्घ की स्थापना पर जोर दिया। श्रीडिगवसनरेश ने सङ्घ का इतिहास बतलाते हुए अपने राज्य में इस के प्रचारकार्य की रीति का दिग्दर्शन कराते हुए निकट भविष्य में जिले के अन्यान्य तालुकेदारों से मिलकर वहाँ सङ्घ की शाखासभा स्थापित कराने का आश्वासन दिया। सभा के अन्त में स्थापित शाखासभाओं के पदाधिकारियों की एक अन्तर बैठक में शाखाओं के सञ्चालन पर विचारविमर्श हुआ। —श्री पं० नागेश-दत्त मिश्र (मन्त्री डिगवस सङ्घशाखा)।

लिखित मासिकपत्र—धर्मसङ्घ के उत्साही कार्यकर्ता श्रीगङ्गारामजी टेकडीवाला दुबराजपुर, जि० बीरभूम से सङ्घ के प्रचारार्थ 'विश्वहितैषी' नाम की एक लिखित मासिक पत्रिका निकालने का आयोजन कर रहे हैं, जिस का वा० मू० १) २० रखा गया है। पत्रिका का एक अङ्क हमें प्राप्त हुआ है।

लोकहितगोरक्षा-समिति, झुसी (प्रयाग)—२८ दिसम्बर, गो-वध तथा अनुचित पशुवध बन्दकर देश की धार्मिक एवं आर्थिक उन्नति करने के उद्देश्य से उक्त समिति की स्थापना का समाचार मिला है। इस के मन्त्री श्रीरामकृष्ण शास्त्री हैं।

रतननगर (बीकानेर)—३ जनवरी, आज धर्मसङ्घ शाखासभा का वार्षिक अधिवेशनोत्सव हुआ।—श्रीसीताराम चान्देठिया (मन्त्री)।

श्रीसनातनधर्मविद्यालय फर्रुखाबाद 'धर्मसङ्घशाखा' का तृतीयअधिवेशन गत पौ० शुक्ल १५ को पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री के सभापतित्व में हुआ।

आवश्यक सूचना

अनेक बार प्रार्थना करने पर भी कई सज्जनों ने न तो अपना वार्षिक शुल्क ही अवतक भेजने की कृपा की और न हमें पत्र न भेजने की सूचना दी। अवतक अङ्क उन को हम बराबर भेजते रहे हैं। फिर भी जब उन की सेवा में वी० पी० भेजी गयी, तब उसे उन्होंने लौटा दिया। इसतरह लगभग वर्ष भर पत्र लेकर वी० पी० लौटा देने से हमें भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ रही है। हम उन सज्जनों से पुनः निवेदन करते हैं कि कृपया सवा तीन रुपये वे भेज दें और हमें सूचित कर दें, जिस से आगामी वर्ष में पत्र उन की सेवा में न भेजा जाय।—सञ्चालक।

मुद्रक—कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

सिद्धान्त

सामाहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण ३)

विशेष ५), एक प्रति —)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं० — दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

दूसरी चाल

प्रस्तावित ‘हिन्दू-कोड’ का विरोध जोर पकड़ते देखकर अब दूसरी चाल चली जानेवाली है। अभी ‘कोड’ पर मत देने की अवधि ही बढ़ रही है, ऐसी दशा में वह असेम्बली के अगले अधिवेशन में, जो फरवरी में आरम्भ हो रहा है, ‘विल’ के रूप में पेश हो सके, इस की सम्भावना नहीं है। ‘कोड’ के विरोध का अनुमान लगाकर असेम्बली के गत अधिवेशन में ही देशमुखजी ने ‘सगोत्र-विवाह विल’ पेश कर दिया था, जिस की ओर हम गताङ्क...में ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं। अगले अधिवेशन में सम्भवतः उसी को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया जायगा। जनता इस समय ‘कोड’ के विरोध में लगी हुई है, इस विल की ओर उस का ध्यान ही नहीं है। बस, इसी से लाभ उठाकर ‘सगोत्र-विवाह विल’ को शीघ्र पास कराने का पूरा प्रयत्न किया जायगा। पहले ‘हिन्दू उत्तराधिकार’ विल पेश किया गया, फिर ‘हिन्दू विवाह’ विल पेश हुआ, तत्पश्चात् दोनों पर विचार स्थगित करके ‘हिन्दू-कोड का मसविदा’ प्रकाशित कर दिया गया। इस की आवश्यकता बतलाते हुए ‘हिन्दू कानून कमेटी’ की ओर से कहा गया कि “हिन्दू कानून में खण्डशः सुधार करने की अपेक्षा समस्त कानून को एक सुव्यवस्थित रूप में पुनः प्रथित करना अधिक उपयोगी होगा।” अब ‘कोड’ को खटाई में पड़ते देखकर कहा जायगा कि ऐसा करने के लिए कबतक बैठे रहा जाय, इस में तो बड़ा समय लगेगा, तबतक थोड़े-बहुत जो कुछ ‘सुधार’ हो सकें, उन्हीं को करा डालना चाहिए। असेम्बली के गत अधिवेशन में देश-मुखजी ने किया भी यही। उस अवसर पर उन्होंने कहा कि “कुछ बहनें चतुर वकीलों के इस भुलावे में आ जाती हैं कि ‘समस्त सुधार अधिक उपयोगी होगा’ और खण्डशः सुधार की आवश्यकता प्रतीत नहीं करती।”

‘सुधार’ के नाम से किये जानेवाले ऐसे समस्त परिवर्तनों के, चाहे वे ‘खण्डशः’ हों चाहे ‘सर्वतः’ हम सर्वथा विरोधी हैं। समय समय पर हम इस के कारण स्पष्ट करते आये हैं। हमें हर्ष है कि जनता भी इस का अनुभव करने लगी है। परन्तु मुश्किल तो यह है कि आधुनिक ‘दांव-पेंच’ उस की समझ में नहीं आते। अधिकांश जनता गांवों में रहती है, वहाँ के सीधे-सादे लोगों को ‘विल’ और ‘कानून’ में क्या भेद है, वे कैसे पास होते हैं, इन सब बातों का कुछ भी ज्ञान नहीं है। पहले ‘उत्तराधिकार’ तथा ‘विवाह’ विलों के सम्बन्ध में कुछ साहित्य तथा विरोधपत्र छपवाकर गांवों गांवों में बाँटे गये। जब जनता को कुछ पता लगा कि ये ‘विल’ क्या ‘बला’ हैं, तब यह प्रचार स्थगित करके ‘कोड’ की बात उठानी पड़ी। इस नये ‘कोड’ को वह समझ भी नहीं पायी कि अब ‘सगोत्र-विवाह’ की बात उठ खड़ी हुई। सचमुच गांववाले यही कहते होंगे कि ‘ये लोग रोज ही एक न एक विल की बला लें आते हैं।’ दूसरी बात यह भी है कि पिछले आन्दोलन के दबाने का सरकारी आतङ्क इतना फैला हुआ है कि सहसा किसी विरोध पत्र पर हस्ताक्षर करने का सहसा उन्हें साहस नहीं होता। वे यह नहीं जानते कि सरकार स्वयं उन का मत जानना चाहती है। अब किस मुँह से ‘सगोत्र-विवाह विल’ का विरोध करने के लिए कहा जाय ? यहाँ तक इस आन्दोलन पर लाखों रुपये उड़ गये, परन्तु घूम-फिरकर हम फिर उसी स्थान पर आजाते हैं। इसलिए हमें सोच-विचारकर अपना कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए।

यह प्रसन्नता की बात है कि ‘कोड विरोध’ अब सनातनी संस्थाओं, तक सीमित नहीं है। ‘हिन्दू महासभा’ ने भी, जो अबतक इस सम्बन्ध में मौन थी, बिलासपुर के गत अधिवेशन में अपना मत स्पष्ट कर दिया है। उस ने ‘कोड’ का विरोध करने का प्रस्ताव पास किया है और इस सम्बन्ध में कार्यक्रम निश्चित करने के लिए एक समिति नियुक्त की है। ‘आर्य-समाज प्रतिनिधि सभा’ ने कोई ऐसा प्रस्ताव पास किया हमें ज्ञात नहीं, पर आर्यसमाज के प्रमुख नेता भाई परमानन्द आदि ‘कोड’ का विरोध और

‘आर्यमित्र’ ऐसे पत्र भी उस की कड़ी टोका कर रहे हैं। इसतरह आर्य-समाज भी कोड का समर्थक नहीं कहा जा सकता। जैन तथा सिख केन्द्रीय संस्थाओं ने भी, जहाँतक हमें ज्ञात है, अभीतक इस सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव पास नहीं किया है, पर यदि उन से लिखा-पढ़ी की जाय, तो हमें विश्वास है कि वे भी उस के विरुद्ध ही मत देंगी।

आज कई संस्थाएँ इस कार्य में लगी हुई हैं, परन्तु कौन संस्था क्या कार्य कर रही है, इस का दूसरी को पता नहीं। इसलिए एक ‘केन्द्रीय समिति’ का होना बड़ा आवश्यक है, जो सारे आन्दोलन को सुसङ्घटित रूप से चला सके। उसे विभिन्न संस्थाओं के कार्यों की जानकारी रखनी चाहिए और उन्हें उचित परामर्श देते रहना चाहिए। काशी में जो ‘कोडविरोधी सम्मेलन’ हुआ था, उस ने एक ‘समिति’ स्थापित की थी, पर हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि वह अपना कर्तव्य पालन नहीं कर रही है। इस सम्मेलन के अध्यक्ष महागज कासिमबजार का हम इस ओर ध्यान आकर्षित करते हैं और अनुरोध करते हैं कि वे सक्रिय रूप से अग्रसर हों। एक ‘प्रति-निधिमण्डल’ को शीघ्र ही वायसराय से मिलना चाहिए और उन्हें पूरी स्थिति समझाना चाहिए। सब से अधिक जोर इस पर देना चाहिए कि युद्धकालीन समय ऐसे विवादप्रस्त प्रश्नों पर विचार करने का नहीं है। ‘सिपाही’ लाट की समझ में यह बात जल्दी आयेगी, आगे की बात फिर देखी जायगी। ‘सगोत्र-विवाहविल’ की बात को गाँवों में ले जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रमुख संस्थाओं को वायसराय को तार देना चाहिए कि इस का समावेश प्रस्तावित ‘कोड’ में हो जाता है, जिस पर विचार चल ही रहा है, अतः इस को स्थगित रखना चाहिए। ‘कोड’ के विरोध में किसी प्रकार की शिथिलता न आने देनी चाहिए। ‘हिन्दू कानून कमेटी’ ने यह घोषणा की थी कि मत देने की अवधि ३१ दिसम्बर से आगे न बढ़ायी जायगी, पर उसे अवधि बढ़ाने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। बङ्गाल और मद्रास के लिए २७ फरवरी और अन्य प्रान्तों के लिए ३१ जनवरी तक समय बढ़ाने की सूचना निकाली गयी। जबतक सभी प्रान्तीय भाषाओं में ‘कोड’ का अनुवाद होकर उस का प्रचार न किया जाय, अवधि बढ़ाने के लिए हमें बराबर तार देते रहना चाहिए। विरोधपत्रों पर हस्ताक्षर का काम तो रुकना ही न चाहिए, अधिकाधिक संख्या में प्रतिदिन विरोधपत्र ‘नयी दिल्ली’ पहुँचते रहने चाहिए। इस के लिए कोई अवधि नहीं है। कुछ दिन हुए कमेटी की एक सूचना निकली थी कि वह शीघ्र मद्रास, कलकत्ता, इलाहाबाद, बम्बई और लाहौर जायगी। पर अभीतक इस के लिए कोई तिथियाँ प्रकाशित नहीं हुई हैं। कितने ही लोगों ने कमेटी से मिलने की इच्छा प्रकट की है, फिर वह अपना दौरा पाँच ही नगरों में क्यों सीमित रखना चाहता है ? इस दौर में हिन्दूधर्म के प्रधान गढ़ काशी ऐसे स्थान को छोड़ देना आश्चर्य की बात है। कमेटी को मार्गव्यय तो सरकार से मिल जायगा, पर जो लोग कमेटी के सामने वक्तव्य देना चाहते हैं, उन्हें क्या सुविधा मिलेगी ? इसलिए कमेटी को दौर का क्रम ऐसा बनाना चाहिए कि सब को मिलने में सुविधा रहे। जिस नगर में कमेटी जाय, वहाँ जो लोग मिलना चाहें, वे तो मिलें ही, पर सर्वसाधारण भी जुलूस निकालकर और सभाएँ करके उन दिनों अपना विरोध प्रदर्शन करें। कमेटी के पास जो लिखित मत जा रहे हैं, सरकार की ओर से उन के प्रकाशित होने की सम्भावना नहीं है। ‘केन्द्रीय समिति’, जैसी हम ने बतलायी है, उस का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह इन मतों का सङ्ग्रह करके प्रकाशित करायें। यह एक स्थायी साहित्य होगा, जिस का हमें आगे चलकर बड़ी आवश्यकता होगी, क्योंकि यह मामला यहीं से समाप्त नहीं होता। यदि हो सके तो तीन चार व्यक्तियों की एक समिति को देश भर में घूमघूमकर अपनी एक रिपोर्ट अलग तैयार करने चाहिए। असेम्बली के सदस्यों पर, जहाँ के वे निवासी हैं, वहाँ के लोगों को जोर डालकर उन्हें ‘कोड’ के समर्थन से विरत करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में जनता में जो जागृति उत्पन्न हो गयी है, उस हमसे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। हमारा अपना कोई प्रेस नहीं है। दो चार साप्ताहिक पत्रों की बदौलत कुछ कार्य हो पाया है। इधर इस क्षेत्र में 'कल्याण' के उतर पढ़ने से अच्छा कार्य हुआ है। पर वह मासिक है। आजकल बिना दैनिक की सहायता के कोई आन्दोलन नहीं चल सकता। जो दैनिक है, वे सब 'सुधारवादी' हैं, अभी तक वे कोडविरोध की कोई बात ही न छापते थे, पर अब आन्दोलन के जोर ने कुछ समाचार निकालने के लिए उन्हें बाध्य किया है। पर इस के लिए हमारे निजी अङ्गरेजी तथा हिन्दी दैनिक होने चाहिए।

नवीन या प्राचीन मार्ग ?

(श्री स्वामी करपात्री जी)

कहाँ-कहाँ ऐसा भी हुआ करता है कि नये डाक्टर अपने हाथ साफ करने के लिए नयी नयी दवाओं एवं औषधियों का प्रयोग करते हैं, किन्तु यह मूल्यवान् जीवन इन औषधियों के समान अजमाने की वस्तु नहीं—अजमाना खतरे से खाली नहीं है। अपने समाज एवं राष्ट्र के उद्धार के अनेक उपाय हो सकते हैं, किन्तु शास्त्र एवं सत्पुरुष कहते हैं कि उन उपायों का प्रयोग करो, जो लाखों बार काम में लाये जा चुके हैं और सफल हो चुके हैं। जो नये उपाय शास्त्रसम्मत नहीं, तर्कसङ्गत नहीं एवं शिष्टों से अनुमोदित भी नहीं, ऐसे नवीन उपायों को अपने समाज या राष्ट्र पर अजमाने का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कहा जा सकता है कि यह बात बाबाआदम के जमाने की है, इसलिए उपेक्षणीय है। परन्तु नयी बात यदि आदर की वस्तु हो—अगर वह सचमुच लाभदायक हो, निरुपद्रव हो—तो वह भी ग्रह्य हो सकती है। 'गीता' ऐसे ग्रन्थ पर ऐसे नये विचारवालों की भी बढ़ा गर्व है। इस से स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन शास्त्रीय मार्ग, हमारे पुराणेतिहास उपेक्षणीय नहीं। अपनी आत्मा पुराणपुरुष है, पृथ्वी पुरानी है, रीति-नीति भी पुरानी है। इस प्रकार प्राचीन सनातनधर्म ही कल्याणकारक हो सकता है। उसी मार्ग का अवलम्बन करना अत्यन्त आवश्यक है। वर्णाश्रमासुरी सनातनधर्म से ही देश, समाज और राष्ट्र की रक्षा हो सकती है। यह बात स्वाभाविक है कि दुनिया से भले ही वैर हो, परन्तु अपने कल्याण—स्वार्थ—से किसी को भी मात्सर्य-विरोध नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि हमलोग जिन पाश्चात्य देशों की सभ्यता, संस्कृति और रङ्गन-सहन के लिए लालायित हैं और उन पर सट्टण दृष्टि रखते हैं, उन्हीं से अब पाश्चात्य देशों के विद्वान ऊब गये हैं। आज पाश्चात्य विद्वान भी आधुनिक वैज्ञानिक चमत्कारों को देश, समाज और राष्ट्र के लिए हानिकारक और पतन का निदान समझने लगे हैं। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कथन है कि "यदि विश्व इसी प्रकार चमत्कारपूर्ण विज्ञानों का आविष्कार करता रहा, तो एक दिन वह कण्टका-कीर्ण होकर अवनति के गर्त में गिर जायगा। अतः विज्ञान को चमत्कृति से अन्धे होकर उस के पीछे बेतहाशा दौड़ लगानेवालों को जरा ठहरना चाहिए, उन्हें पुनः धर्म और ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।" ये हैं पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्त। आज बड़े-बड़े विदेशी विद्वान भी भारतीय सनातनधर्म पर मुग्ध हैं। अन्त्यज बनकर भी यदि वे सनातनधर्मों बन सकते हैं, तो अन्त्यज बनने के लिए भी तैयार हैं। पर हमारे भारतीय अपनी गृहदेवियों को सीता, सावित्री के रूप में भी देखना पसन्द नहीं करते। हमें यह देखना चाहिए कि आज की दुनिया क्या चाहती है ? उस की गति-विधि का निर्णय कर उस के कल्याण के लिए युक्तियुक्त, बुद्धिमत्, आर्षग्रन्थों एवं मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों से राष्ट्र अपने कल्याण का मार्ग निर्णय करना चाहिए। हमारा अनन्त दृष्टिकोण भी यही है। आज हिटलर का 'नाजीवाद', लेनिन का 'धर्मवाद' तथा 'लोकतन्त्रवाद', 'साम्राज्यवाद' आदि अनेक 'वाद' हमारे सामने हैं। इन में से किसी ने भी प्राचीन वाद का अनुसरण नहीं किया। इसीलिए उक्त सभी वाद अपने अपने सिद्धान्तों के प्रचार में असफल होते जा रहे हैं। भगवान् शङ्कराचार्य अपने काल में प्रचलित वादियों के प्रवाह में बह गये होते, तो वे नास्तिकवाद का खण्डन कर उस के स्थान पर प्राचीन वैदिक आस्तिकवाद का प्रचार न कर सकते। फलतः प्राचीन वैदिक सिद्धान्त आज हमें देखने को भी न मिलते। इस तरह किसी प्रवाह में बह जाना मानवता नहीं। आजकल के व्याख्यानों में

बहुधा लोग कहते हैं—"दुनियाँ बहुत आगे बढ़ गयी है, अतः उसके बदलने के साथ साथ अपने भी बदलते चलो। ऐसा न करनेवाला समाज एवं राष्ट्र में रहने का अधिकारी नहीं," पर यह ठीक नहीं। वास्तविक पुरुषार्थ इसी में है कि मनुष्य प्रवाह में न बहे। उस मनुष्य की मनुष्यता ही नहीं, जो प्रवाह में बह गया—वह पशु से भी गयाबोता है। जो काम, क्रोध एवं लोभ के वेग को नियन्त्रित नहीं कर सकता, उस का पराभव—पतन—निश्चित है। मृत्यु, पाशविकता एवं उच्छृङ्खलता का उल्लङ्घन वैदिक ज्ञान का सहारा लेकर ही किया जा सकता है। प्रवाह में बहना मनुष्यता के विरुद्ध है। अतः भगवान् शङ्कराचार्य एवं भगवान् रामानुजाचार्य आदि प्रवाह में नहीं बहे। भले ही प्रवाह के रोकने में मर मिटना पड़े, भले ही सारा राष्ट्र उस प्रवाह को रोकने में तैयार न हो, इस की परवाह नहीं। सच्चे निर्माक, स्वार्थत्यागी दस-बीस कर्मठों के सहयोग से भी इस में सफलता प्राप्त की जा सकती है। तात्पर्य यह कि प्रवाह के विरुद्ध स्वाभाविकी रीति पर चलना ही चाहिए। प्रवाह में बहनेवालों को पहले यह जिज्ञासा होनी चाहिए कि अमुक कार्य शास्त्रसम्मत है या नहीं ? नये सुधारवादी अपनी प्राचीन एवं वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से असन्तुष्ट होकर एक 'तीसरी शिक्षा बनाने पर तुले हैं। अमूल्य मानवजीवन पर यह प्रयोग भी अजमाया जायगा। इस के दुष्परिणाम से देश और जाति जर्जरित हो जायगी, तब हमारा ध्यान दूसरी ओर जायगा। गढ़े में गिरकर फिर उस से निकलने की बात सोचना बुद्धिमानी नहीं। प्राचीन श्रौतस्मार्त-वैदिक संस्कृति का अनुसरण करने पर ही हम सच्ची स्वतन्त्रता के अधिकारी हो सकते हैं। प्रायः लोग यह भी कहा करते हैं कि जो कुछ पुराना है, वह सब अच्छा ही नहीं है—"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्", परन्तु यहाँ 'पुराण' का अर्थ त्रिकालज्ञ महर्षियों द्वारा रचे हुए शास्त्र नहीं है। यह वाक्य कहने-वाले उस पथ का "सन्तः परीक्ष्यान्यतरङ्गजन्ते" यह लंछा भूल जाते हैं, परीक्षा काने पर तो शास्त्र ही ठीक उतरेगे। आजकल मौलिक विचारों को धूम है। बहुधा लोग किसी के तर्कपूर्ण व्याख्यानों एवं लेखों को पढ़कर कह बैठते हैं कि 'वाह ! कितने सुन्दर मौलिक विचार हैं ?' पर हमारी मौलिकता तो इसी में है कि महर्षियों के वचनों, मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों एवं अन्य शास्त्रों को समझ लें। यही हमारा परम पुरुषार्थ है। 'गीता' की मौलिकता पर लोग मुग्ध हैं। ईश्वर की सर्वज्ञता एवं शक्तिमत्ता से ही 'गीता' में यह मधुर मिठास है। यह मिठास वेद-ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों से आयी है, इसलिए जो 'गीता' का कृष्ण का मौलिक विचार समझते हैं, वे वित्तकुल अन्न हैं। दुनिया के प्रायः सभी धर्म मर गये, पर हिन्दूधर्म शुद्ध सनातन होने के कारण अवतक जीवित है। 'गीता' भी यही कहती है—"स्वमन्वयः शाश्वतधर्मगोप्ता।" भगवान् ही शुद्ध सनातनधर्म के प्रवर्तक एवं रक्षक हैं। हमें चाहिए कि अपने पवित्र धर्म का अनुष्ठान करें, अपने शास्त्र को पञ्च मानकर मूठे अभिमान को छोड़कर धर्म और ईश्वर की उपासना में रत हों। अपने धर्म की सच्चा उपासना से ही आजादी, सुख एवं शान्ति मिलेगी।

धर्मसङ्घ-समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

१ विन्ध्यक्षेत्र—धर्मसङ्घ के सङ्कल्प से लक्ष्मण की निर्विघ्न सम्पन्नता के लिए गत माघ कृष्ण ८ शनिवार को श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के साधिष्ठ में अगुतचण्डी के प्रारम्भ होने का समाचार पहले प्रकाशित किया जा चुका है। पता चलता है कि वसन्तपञ्चमी तक १५० पाठ हो चुके हैं। 'लक्ष्मणजी महायज्ञ समिति' भी स्थापना हो चुकी है, जिस के मन्त्री पं० शिवशरण मिश्र हैं। समिति की २ बैठकें हो चुकी हैं। प्रतिदिन पाठ करनेवालों का नाम और पाठसंख्या लिख ली जा रही है। २ विद्यामन्दिरम्, गोला, जि० गोरखपुर—माघ शु० ११ से तीन दिन तक गायत्री के अनुष्ठान तथा धर्मसङ्घशाखा के विशेष अधिवेशन करने का समाचार प्राप्त हुआ है। —श्री केदारनाथ त्रिपाठी आचार्य वि० भू०। ३ श्रीमद्देश्वरनाथ (कुवानो नदीतट), पो० महली, तहसील खलीला-बाद, जि० बस्ती—पो० शु० १३ बुध से माघ कृष्ण ६ मुर तक १। लाख गायत्रीजप, १। लाख रामतारकमंत्रजप, देवीभागवत कथा, अखण्ड नाम-

कीर्तन आदि कार्य हुए। — श्री पं० शम्भूनाथजी। ४ सिकटाबाजार, (बलिया) — श्रीसियारामदासजी ने माघ शु० १२ गुरुवार से सङ्घ के सङ्कल्प से श्रीविष्णुयज्ञ किया। फा० कृ० १ सोम को पूर्णाहुति हुई।
नवीन शाखाएँ—

सुरैया हाट—११ जनवरी, श्रीप्रेमभिक्षुकजी ब्रह्मचारी के प्रयत्न से।
महन्त श्रीदुर्विजयदासजी, दुःखहरण गुफा, पो० हरिहरपुर (निरीक्षक), श्रीमहन्त नागानन्द, गोपालदासजी ठाकुरवाड़ी, श्री पं० शुक्रदेवजी मुनि (सभापति), श्री पं० कमलाकान्त मिश्र तथा बाबू भोलानाथजी (उप-सभापति), श्री पं० कामेश्वरप्रसादजी ठाकुर पुजारी (मन्त्री), सैनेजर श्रीहरिदासजी तथा श्रीविश्वनाथ साह (उपमन्त्री), श्रीलखीप्रसाद भगत (कोषाध्यक्ष)। प्रति बुधवार को साप्ताहिक अधिवेशन होना निश्चित हुआ। २ नौनीहाल, जि० हुसका (सं० पं०)—महन्त बाबा श्रीराम-प्रसादजी उदासीन (लिरीक्षक), श्री पं० फुलकुमार शर्मा (अध्यक्ष), श्री पं० शैलजानन्द झा (उपाध्यक्ष), श्री पं० कृष्णप्रसादजी गुरुजी (उप-मन्त्री), श्रीसेठ भोदरमलजी (कोषाध्यक्ष), सदस्य २०। ३-८ प्रयाग—माघ कृष्ण १४ शनिवार, श्री पं० रामकरणजी पाण्डेय तथा श्री पं० रमापति द्विवेदीजी के प्रयत्न तथा श्रीनिर्वाणवेद विद्यालय, दारागञ्ज के प्रधानाध्यापक श्री पं० राजारामजी मिश्र न्या० व्या० आ० के सहयोग से १३ जनवरी को प्रयाग में निम्नलिखित ६ शाखासभाएँ स्थापित हुईं—१ श्रीनिर्वाणवेद-विद्यालय—श्रीमहन्त लक्ष्मणगिरीजी महाराज (संरक्षक), श्री पं० राजा-रामजी मिश्र न्या० व्या० आ० (अध्यक्ष), श्री पं० रघुवीरप्रसादजी ज्योतिषी (उपाध्यक्ष), श्री पं० महानन्दजी (मन्त्री), श्रीस्वामी सूर्य-भारतीजी (उपमन्त्री), महाराज किशोर शुक्ल (प्रचारमन्त्री)। २ श्री-किशोरीलाल वेणीसाधव सं० पाठ०, नया वैरहना—श्री पं० देवीदत्तजी आचार्य प्र० अ० (अध्यक्ष), श्री पं० धरणीधरजी सं० अ० (उपा-ध्यक्ष), श्री पं० रामखेलावन त्रिपाठी (मन्त्री), श्रीकृष्णाकान्त त्रिपाठी (उ० मं०), श्रीशिवदत्त पाण्डेय (प्रचारमन्त्री)। ३ श्रीशिवशर्मा सं० पाठ०, दारागञ्ज—श्री पं० शेषमणि मिश्र प्र० अ० (अध्यक्ष), श्री पं० रामचन्द्रजी त्रिपाठी (उपाध्यक्ष), श्रीहरिहरप्रसाद मिश्र (मन्त्री), श्रीइन्द्र-नारायण मिश्र (उ० मं०), श्रीशिवदत्त मिश्र (प्रचा० मं०)। ४ श्री त्रिवेणी सं० पाठशाला, दारागञ्ज—श्री पं० रामानन्द मिश्र प्र० अ० (अध्यक्ष), श्री पं० रामहर्ष शुक्ल (उपाध्यक्ष), श्रीप्यारेलाल शुक्ल (मन्त्री), श्रीत्रिभुवनप्रसाद मिश्र (उ० मं०), श्रीउमादत्तजी (प्रचा० मं०)। ५ श्रीहर्षसावित्री सं० पाठ०, दारागञ्ज—श्री पं० श्यामसुन्दरजी प्र० अ० (अध्यक्ष), श्री पं० गुरुप्रसादजी (उपाध्यक्ष), श्री पं० श्याम-नारायणजी (मन्त्री), श्रीनारायणदत्तजी (प्रचा० मं०)। ६ श्रीधर्मज्ञानो-पदेशसंस्कृत पा०, अहियापुर—श्री पं० भूपेन्द्रपतिजी त्रिपाठी (अध्यक्ष), श्री पं० नृसिंहप्रसादजी (उपाध्यक्ष), श्री पं० रामपालजी (मन्त्री), श्री पं० वेणीसाधवजी (उपमन्त्री), श्री पं० रामस्वरूप पाण्डेय (प्रचार-मन्त्री)। ७ श्रीसनातनधर्म वैदिक पाठशाला, ऊनौ, पो० पश्चिमसरैया, जि० इलाहाबाद—पं० रघुवरदयालजी (मन्त्री)। १० भटनीपार, पो० शुक्रपुर, जि० गोरखपुर—श्री पं० रङ्गनाथ मिश्र (मन्त्री)। ११ कनैल, पो० मलान्व, जि० गोरखपुर—श्रीहनुमानदत्त शुक्ल (मन्त्री)। १२ सु० पो० महसों, जि० बस्ती—श्रीचन्द्रकृपालु शुक्ल (मन्त्री)। १३ सिंग-रामऊ, पो० सहसों, जि० इलाहाबाद—श्रीराजनारायण मिश्र (मन्त्री)। १४ वन्तरी, पो० होलागढ़, जि० इलाहाबाद—श्रीमहादेवप्रसाद शुक्ल (मन्त्री)। १५ विजहड़ी, पो० लक्ष्मीकान्तगञ्ज, जि० प्रतापगढ़—श्री पं० परमेश्वरदत्त शास्त्री (मन्त्री)। १६ ब्रह्मचर्याश्रम संस्कृत पाठ-शाला, अतरौली, पो० बांसगांव, जि० गोरखपुर—श्री पं० सतीशशङ्करजी (मन्त्री)। १७ श्री विश्वनाथाश्रम, रामपुर मन्दिर, पो० जिगिना, जि० मिर्जापुर—श्रीमौनीबाबा (मन्त्री)।

'हिन्दू-कोड'-विरोध

१ आर्वी (वर्षा)—३० दिस, ह० ६४०, श्रीबलभद्रदास द्वाका-राम अप्रवाल। २ आर्वी, जि० वर्षा—३० दिस०, ह० ११९, श्रीक्षीरसागर वकील। २ मुहम्मदाबाद (आजमगढ़)—३१ दिस०, ह० २००, श्री गोपीकृष्ण अप्रवाल। ३-२० कलकत्ता—श्रीगोविन्दभवन के प्रयत्न से

कलकत्ता के विभिन्न १८ स्थानों में विशिष्ट पुरुषों की अध्यक्षता में सभाएँ हुईं। लगभग १९४ तार और ४८११७ हस्ताक्षरों से विरोधपत्र भेजे गये। २१ जोशीमठ, बड़गाँव और पाण्डुकेरवर (गढ़वाल)—३१ दिस०, ह० १९४, श्रीरामलाल शाह, श्रीबद्रीशज्योतिर्मठ पुस्तकालय। २२ बम्बई ३—ह० १३६५, श्रीहरद्वारीमल किशोरीलाल, १४ घनजो-स्ट्रीट। २२ पठ, जि० मेरठ—ह० २५, श्री पं० ज्वालाप्रसादजी। २३ रामगढ़—ह० १३५०, श्रीसत्यनारायणजी गोयन्दका (उपमन्त्री ध० मं० शाखा)। २४ मेरठ—रा० व० केप्टन श्रीहीरालालजी जैन (इन्दौर) की अध्यक्षता में हुए अ० भा० वैश्य कान्फ्रेंस में 'हिन्दूकोड' का जोरदार विरोध हुआ। श्रीमदनगोपाल सिंहल के प्रस्ताव पर श्रीलेखावती जैन भू० पू० एम्. एल्. सी. तथा बाबू श्रीरामजी वैरिस्टर आदि ने समर्थन किया। प्रस्ताव सर्वसम्मति से पासकर सरकार के पास भेजा गया। फरवरी में एक 'हिन्दूकोड विरोधी धम्मेलन' करने की योजना हो रही है। इस में मेरठ की समस्त हिन्दूसंस्थाओं का सहयोग रहेगा। असेम्बली के कुछ सदस्यों के भी पक्षाने की आशा है। २५ सत्सङ्गभवन, गणेशवाड़ी, दादो सेठ अग्रवारी लेन, बम्बई—ह० ६६०, व्यवस्थापक। २६ वधौरा, पो० उधौली, जि० वाराणसी—२८ दिस०, ह० २३०, श्रीछोटेलाल द्विवेदी। २७ निजामत शाहबाद (कोटा राय) —३१ दिस०, ह० ८५। २८ विक्रमपुर, थाना महनार, पो० सहदेई बुजुर्ग, परगना विसारा, जि० मुजफ्फरपुर (बिहार)—ह० ५२। २९ चैनपुर बयेल, था० महनार, पो० सहदेई बुजुर्ग, पर० विसारा, जि० मुजफ्फरपुर (बिहार)—ह० ३६। ३० शेखोपुर, था० महनार, पो० सहदेई बुजुर्ग, पर० विसारा, जि० मुजफ्फरपुर (बिहार)—ह० २२। ३१ सरायघनेश, था० महनार, पो० सह० बुजु०, पर० विसारा, जि० मुजफ्फरपुर (बिहार)—ह० ७१। ३२ कैला, था० हाजीपुर, पर० जटुआ, पो० देशरी, जि० मुजफ्फरपुर (बिहार)—ह० १८। ३३ सौरी, पो० सादियाबाद (जोनपुर)—ह० ८८। ३४-४० अहमदाबाद—२८ दिस०, एलिस त्रिज संन्यासाश्रम में मण्डलेश्वर श्रीस्वामी कृष्णानन्दजी की अध्यक्षता में महती सभा हुई, जिस बड़े बड़े मिलमालिक, डाक्टर, वकील आदि उपस्थित थे। २९ दिस०, श्रीसंस्कृतपाठशाला में श्रीरतिलाल मनसुखराम पटेल की अध्यक्षता में तथा ३१ दिस० को शेट अमृतलाल कालोदास (वाइस प्रेसिडेंट बम्बई शेयर एण्ड स्टॉक एक्सचेंज) की अध्यक्षता में जैनों की महती सभा हुई, जिस में प्रमुख जैनियों ने भाग लिया। ३१ दिसम्बर को बड़े मन्दिर में गोस्वामी श्रीरणछोड़लालजी महाराज की अध्यक्षता में वैष्णवों की तथा २८ दिस० को श्रीराजाराम शास्त्री की अध्यक्षता में 'रामायण-प्रचार समिति' की ओर से सभा हुई। 'श्रीसनातन समस्त हिन्दूधर्मसभा' की आर से उस के मन्त्री श्रीरतिलाल मनसुखराम पटेल ने सेमिनारियल भेजा। ३० दिस० को उमरेठ में सभा हुई। इस के अतिरिक्त लाखों की संख्या में हस्ताक्षर करवाकर विरोधपत्र और तार भेजे गये। ४१ प्रयाग—माघ शु० ५ (वसन्तपञ्चमी) को एक सभा 'धर्मसङ्घ' के पण्डाल में त्रिवेणीसङ्गम पर हुई, जिस में डाक्टर पन्नालाल, श्रीमती पवैया, श्री पं० शिवनाथ काटजू आदि नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित थे। इस में प्रत्येक स्थान से कोडविरोधी प्रस्ताव सरकार के पास भेजने का प्रस्ताव पास हुआ। यह सभा श्री पं० नर्मदेश्वरप्रसाद उपाध्याय के सभापतित्व में हुई। इस के निश्चयानुसार एक बहुत प्रभावशाली कमेटी बनायी गयी, जिस के सभापति श्री पं० कैलासनाथ काटजू, उपसभापति श्री पं० गोपीनाथ कुञ्जरू (अध्यक्ष हिन्दूमभा), मन्त्री पं० शिवनाथ काटजू तथा श्री पं० नर्मदेश्वरप्रसाद उपाध्याय एडवोकेट, पं० मूलचन्द मालवीय आदि अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति इस में सम्मिलित हैं। मा० शु० ६ को शहर में श्रीहरिरामजी की कोठी में एक महती सभा हुई, जिस में भी शहर के बड़े बड़े प्रतिष्ठित लोग उपस्थित थे। श्रीस्वामीजी महाराज ने 'हिन्दू कोड' की मौलिक सिद्धान्तों, शास्त्रों और अनेक युक्तियों से घातकता सिद्ध की। इस सभा में भी प्रत्येक स्थानों से कोडविरोध का प्रस्ताव पं० गोपीनाथ कुञ्जरू ने प्रस्तावित किया। अनेक विद्वानों के द्वारा समर्थन, अनुमोदन, प्रत्यनुमोदनपूर्वक यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। ४२ बेहारीपुर, बरेली—ह० १०६, श्रीरामचन्द्र अप्रवाल वैद्य। ४३ श्रीदत्तमन्दिर संस्थान, उमरावती (वडाह)—२४ दिस०, श्रीलक्ष्मण

तुलसीदास गायकवाड (अध्यक्ष) के द्वारा संस्थान की ओर से विरोधपत्र । ४४-४५ श्रीसनातनधर्म प्रतिनिधि सभा, लाहौर तथा हिन्दूसभा स्यालकोट की ओर से विरोधपत्र भेजे गये । ४६ स्यालकोट—२६ दिस०, लगभग १६००० स्त्री-पुरुषों की ओर से विरोध किया गया । ४७ शुजाबाद (पंजाब)—३० दिस०, ४० ११३ तथा स० ध० सभा के अध्यक्ष रा० सा० भगवानसिंह चौधरी जागीरदार के सभापतित्व में सार्वजनिक सभा द्वारा विरोध-प्रस्ताव । श्रीजगन्नाथ वैद्य वाचस्पति (मन्त्री शिक्षाविभाग स० ध० सभा) । ४८ सरदारशहर, जि० बीकानेर—२९ दिस०, ४० २४००, श्री गोविन्दभवन । ४९ मोतीदारी—४० २३५, श्रीरामानन्दप्रसाद । ५० सनातन-विद्या आवास, पीपलरावा (उज्जैन)—२७ दिस०, ४० १०२१, श्री पं० शंभुलाल जी द्विवेदी साहू । ५१ अदलपुरा, जि० मिर्जापुर—४० ३००, ठा० शिव-प्रसादसिंह । ५२ एक अज्ञातस्थान—२८ दिस०, ४० ६६, श्रीधनुषधारी पाण्डेय । ५३ घोड़ारी—३० दिस०, ४० ५५, श्रीनयनन्दनलाल मालगुजार । ५४ सत्सङ्गभवन, दादीसेठ अग्यारीलेन, न्यूबाडी, गणेशवाग, बम्बई—४० ६९६ । ५५ इन्दौर—३१ दिस०, ४० २२५, श्रीमानकचन्द गर्ग, बगनावरपत अकार, २९१ मल्हारगञ्ज । ५६ पीलीभीत—१ जनवरी, ४० २९, श्रीधुवरशरण परशादीलाल अग्रवाल, साहूकाग स्ट्रीट । ५७ निमाड (होलकर राज्य)—३१ दिस०, ४० ६७, श्रीरघुनाथसिंह मोहनसिंह मण्डलोई कलाथ मचैण्ट्स । ५८ नगराम, जि० लखनऊ—४० १०३, श्रीवजरसहाय नेत्रवैद्य । ५९ निरपुडा—३० दिस०, ४० २००, पं० खजानदत्तजी श्रोत्रिय । ६० सत्सङ्गभवन, दादीसेठ अग्यारीलेन, बम्बई—४० ३२५, श्रीवासुदेवजी । ६१ बैसलिया (भोपाल राज्य)—३० दिस०, ४० १५३ और दो तार, सेठ शिवकिशन रतनलाल जी गहानी, कलाथ मचैण्ट । ६२ बस्ती, शूगर फैक्टरी—३० दिस०, ४० २३५, श्रीरामराज पाण्डेय । ६३ लाहौर—२८ दिस०, हरिकीर्तन-मण्डल, अ० भा० धर्मसङ्घ, स० ध० प्रतिनिधिसभा, श्री स० ध० प्रचारिणी सभा बच्छोवाली आदि की ओर से आ० रायबहादुर ला० रामशरणदासजी के सभापतित्व में 'कोड' का घोर विरोध किया गया । सभा में लगभग २० हजार जनता उपस्थित थी । —श्रीरुडीलाल शर्मा । ६४ राजिग—३० दिस० १७८, ठा० कटरसिंह जी । ६५ कतरासगढ़—२३ दिस०, ४० ७२, ला० श्यामचरणजी अम्बष्ठ । ६६ गीताप्रेस, गोरखपुर—१८ दिस०, ४० २७६, मैनेजर । ६७ बिहिया, जि० शाहाबाद (आरा)—४० १८६, श्रीमुनीश्वरसिंह, मार्फत श्रीहीरालालसिंहजी । ६८ अमृतसर—४० २२८, मन्त्री धर्मसङ्घ ।

विशेष समाचार

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज माघ कृष्ण १० मङ्गलवार को प्रयाग पहुँच गये थे । ११ बुधवार से धर्मसङ्घ के पण्डाल (गङ्गापट्टी) में सङ्घप्रचारार्थ आप का भाषण प्रारम्भ हुआ । प्रतिदिन अपराह्न २ बजे से १५ का भाषण होता था । श्री पं० वेणीमाधवजी शास्त्री काशी, श्री पं० नन्दलालजी शास्त्री एम्. ए., एल. एल. बी. रावलपिण्डा, श्री पं० चन्द्रशेखरजी शास्त्री (व्यावर), श्री पं० वीरमणिजी उपाध्याय (प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालय काशी), डाक्टर हरिप्रसाद तिवारी गाजीपुर, पं० रामकरणजी अध्यापक धर्मसङ्घ महाविद्यालय काशी आदि बाहर के विद्वान् भी पधारे थे । माघ कृष्ण ३० रविवार के दिन बड़े समारोह से 'धर्मसङ्घ' का विशेषाधिवेशन हुआ । अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीब्रह्मानन्दसरस्वतीजी महाराज ने पवारकर सामा-पत्यपद सुशोभित किया था । सङ्घटन, हिन्दूकोड-विरोध, गोरक्षा, सन्ध्या-वन्दनादि का प्रचार, पाकिस्तान-विरोध, अशिक्षित हिन्दुओं को ईसाई बनाने का विरोध, संस्कृत शिक्षा का प्रसार आदि के प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुए । श्री पं० रामकरणजी, पं० रमापतिजी आदि के प्रयत्न से शहर की प्रति पाठशालाओं में धर्मसङ्घशाखासभाएं स्थापित हुईं । श्री पं० महावीरस्वरूप ब्रह्मचारी, श्री पं० तिलकानन्द चैतन्य ब्रह्मचारी अहर्निश सङ्घ के सदस्य बनाने में लगे रहे । एक महती सभा कल रविवार को शहर में रामबाग में होनेवाली है । नागरिक सङ्घटन के रूप में 'धर्मसङ्घ' की वहाँ स्थापना की जायगी ।

१ अखिल भारतीय धर्मसङ्घ विशेषाधिवेशन, त्रिवेणीसङ्गम, प्रयाग—
गत माघ कृष्ण ३० को त्रिवेणी के तट पर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु ज्योतिष्पीठाधीश्वर शङ्कराचार्य श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी की अध्यक्षता में अ० भा० धर्मसङ्घ का एक विशेषाधिवेशन हुआ । आरम्भ में श्री पं० वेणीमाधव शास्त्री ने मङ्गलाचरणपूर्वक सभापति के निर्वाचन का प्रस्ताव किया, जिसका डा० हरिप्रसाद तिवारी जौनपुर तथा पं० वीरमणि उपाध्याय काशी ने क्रमशः समर्थन-अनुमोदन किया । सभापति के आसनग्रहण के बाद नमनलिखित ४ प्रस्ताव उपास्थित किये गये, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुए—प्रस्ताव १—“यह अधिवेशन जनता से अनुरोध करता है कि उपनय-नादि संस्कारों का पूर्णतया प्रसार किया जाय तथा सभी सपनीत त्रैवर्णिकों को सन्ध्यावन्दन, बलि-वैश्वदेव, अतिथि-सत्कारादि नित्य कर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रोत्साहित किया जाय । प्रत्येक अधिकारी को संस्कृत पढ़ने के लिए भी जोर दिया जाय, जिस से आस्तिकों के श्राद्ध-तर्पणादि कर्म ठीक-ठीक हो सकें । साथ ही साथ गोवंश की सेवा, रक्षा करनेवाला हिन्दू गृहस्थ कम से कम एक गौ अपने घर पर अवश्य रखे तथा प्रतिदिन गोप्रास अवश्य निकाले ।” प्रस्तावक—पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, समर्थक—पं० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय । प्रस्ताव २—“यह अधिवेशन 'पाकिस्तान-योजना' को बहुत घृणा की दृष्टि से देखता है । इस की यह दृढ़ धारणा है कि आर्यों का आदि निवासस्थान यही भारत देश है । आर्य कहीं बाहर से आकर यहाँ नहीं नसे । अतः जैन अरबस्थान में हिन्दुस्तान, इङ्ग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि में हिन्दुस्तान या पाकिस्तान नहीं बन सकता, वैसे ही हिन्दुस्तान में भी 'पाकिस्तान' नहीं बन सकता ।” प्रस्तावक—श्रीस्वामी चिद्बन्धनानन्दजी तीर्थ, समर्थक—पं० नन्दलाल शास्त्री, एम्. ए., एल्. एल्. बी. रावलपण्डा । प्रस्ताव ३—“यह अधिवेशन 'अखिल-भारतवर्षीय धर्मसङ्घ' के चतुर्थवार्षिक महाधिवेशन में सर्वसम्मति से स्वीकृत 'हिन्दू कोड' विरोधी प्रस्ताव को फिर्से दुहराता हुआ भारतसरकार से अनुरोध करता है कि सरकार 'राव कमेटी' को तोड़ दे, क्योंकि हिन्दू-शास्त्रों में संशोधन हो ही नहीं सकता ।” प्रस्तावक—पं० हरिप्रसाद तिवारी, जौनपुर, समर्थक—पं० चन्द्रशेखरजी शास्त्री, (व्यावर) । प्रस्ताव ४—“यह अधिवेशन साधु, सन्त, महन्त, विद्वान्, राजा, रईस, जमीन्दार सद्गृहस्थवृन्द से अनुरोध करता है कि हिन्दूसमाज में सङ्घटन के बिना बहुत हानि हो रही है, सङ्घटित समाज को छिन्न-भिन्न करने के लिए मनमाने कानून बनाये जा रहे हैं, अतः शास्त्रों को मध्यस्थ मानकर सनातन धर्म का प्रचार तथा धार्मिकों का सङ्घटन हो और ग्रामों, नगरों सर्वत्र 'सङ्घ' की शाखासभाएं स्थापित की जाय तथा विधर्मियों के धर्मविरुद्ध प्रचारों के शिकार बनने से भोलीभाली जनता को बचाये । उदाहरणार्थ, जिन जङ्गली हिन्दुओं को ईसाई बनाने का प्रयत्न हो रहा है । उन की हिन्दू-धर्म में श्रद्धा सभी धर्मप्रचारक कराये और धर्मान्तरग्रहण से उन्हें बचाये ।” प्रस्तावक—पं० राजारामजी व्याकरणाचार्य, समर्थक—पं० महावीरस्वरूप ब्रह्मचारी । अन्त में सभापतिजी के अभिभाषण के उपरान्त श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज का प्रस्तावों के महत्व पर प्रभाव-शाली भाषण हुआ । उसी दिन सङ्घ की 'कार्यकारिणी समिति' की एक महत्वपूर्ण बैठक हुई, जिस में कई आवश्यक विषयों पर विचार किया गया (विशेष संवाददाता) । २ मङ्ग—पौ० शु० १३ बुध को श्री पं० फणीशमणिजी की अध्यक्षता में ध० सं० शाखासभा अकोदही का द्वितीय वार्षिकोत्सव हुआ । —श्री पं० यदुनन्दनजी दीक्षित ज्यो० आ० ।

अखिलभारतवर्षीय तीर्थपुरोहित सम्मेलन

भारत के तीर्थों की व्यवस्था में सुधार की योजना

हरिद्वार की 'श्रीगङ्गासभा' एक अखिल भारतवर्षीय तीर्थपुरोहित-सम्मेलन बुलाने का आयोजन कर रही है, इस में भारतवर्ष के समस्त तीर्थों के प्रतिनिधि भाग लेंगे और तीर्थ की वर्तमान व्यवस्था तथा तीर्थपुरोहितों के कर्तव्य पर 'श्रीगङ्गासभा' द्वारा प्रस्तुत एक विस्तृत कार्यक्रम पर विचार किया जायगा । सम्मेलन की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गयी हैं और शीघ्र ही इस सम्बन्ध में विस्तृत योजना प्रकाशित की जायगी । —श्रीश्यामलाल शर्मा ।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

‘स्वतन्त्र भारत-शासन-विधान’

१

‘हिन्दूमहासभा’ ने लगभग दो वर्ष पहले भारत के लिए एक शासन-विधान तैयार करने की घोषणा की थी, वह विधान उस के गत अधिवेशन में स्वीकृत हो गया। आरम्भ में ही कहा गया है कि भारत (जिस को ‘हिन्दुस्थान’ कहना चाहिए) स्वतन्त्र घोषित कर दिया जाय और युद्ध के शान्त होते ही ‘हिन्दुस्थान के स्वतन्त्र राज्य’ की स्थापना हो जानी चाहिए। विधान के निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्त होने चाहिए—“(क) हिन्दूजनता का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह स्वतन्त्र रहे। (ख) ऐतिहासिक, राजनीतिक, भाषासम्बन्धी तथा सांस्कृतिक हिन्दुस्थान एक तथा अखण्ड है और भविष्य में भी रहेगा। (ग) विधान प्रजातन्त्रवादी हो और उस की सत्ता केन्द्र में रहे। (घ) केन्द्रीय सभा दोहरी हो। (ङ) सभाओं का चुनाव बालिगों के मत पर हो, प्रत्येक बालिग एक वोट दे सके। चुनाव सम्मिलित हो और अल्पसंख्यकों के लिए उन की संख्या के अनुसार कुछ स्थान सुरक्षित रहना चाहिए। (च) केन्द्रीय सरकार को ही समस्त अधिकार रहें। (छ) सरकार के अधिकार—शासन और न्याय—इन दो विभागों में बँटना चाहिए और न्याय-विभाग को शासन-विभाग से सर्वथा स्वतन्त्र रखना चाहिए। (ज) लड़ाकू और गैरलड़ाकू जातियों में कोई भेदभाव नहीं माना जायगा। (झ) हिन्दुस्थान के फेडरेशन (सङ्घ) में देशी रियासतें भी सम्मिलित रहेंगी और वे उस का एक अङ्ग ही मानी जायेंगी। उन में भी इसी प्रकार के उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जायगी। (ञ) यदि आवश्यकता हो, तो भाषा के अनुसार प्रान्तीय सीमाओं में परिवर्तन किया जा सकता है। (ट) सरकार का यह कर्तव्य होगा कि वह सब की, जिस में अल्पसंख्यक सम्प्रदाय भी हैं, धर्म, भाषा और संस्कृति की रक्षा करे।” आगे चलकर मौलिक अधिकारों का विवेचन किया गया है, जो इस प्रकार हैं—“(क) कानून के आगे समस्त मनुष्य बराबर हैं। (ख) समस्त मनुष्य अपने परिश्रम की कमायी को भली प्रकार भोग सकेंगे। (ग) जनता के स्वास्थ्य और उसे काम करने योग्य बनाने के लिए राज्य नियम बनायेगी। (घ) प्रत्येक मनुष्य को निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा दी जायगी। (ङ) प्रत्येक मनुष्य आवश्यक अन्न रख सकेगा। (च) कोई भी मनुष्य केवल जाति, रङ्ग तथा धर्म के कारण किसी भी नौकरी तथा किसी प्रकार के व्यापार से वञ्चित न रखा जायगा। (छ) कोई भी मनुष्य बिना कानूनी कार्यवाही के निर्वासित न किया जा सकेगा। (ज) कोई भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार से बिना किसी कानून के वञ्चित न किया जा सकेगा, (झ) कोई भी मनुष्य अपनी सम्मति स्वतन्त्रता से दे सकेगा। उसे अधिकार होगा कि वह शान्तिपूर्वक इकट्ठा हो या अपनी कोई संस्था बना ले, किन्तु ऐसी संस्था शान्ति अथवा सदाचार में बाधक न हो। (ञ) प्रत्येक मनुष्य जनता की शान्ति तथा सदाचार को दृष्टि में रखते हुए कोई भी धर्म मान सकता है। सब को धार्मिक स्वतन्त्रता रहेगी और किसी प्रकार हस्तक्षेप न किया जायगा। (ट) प्रेस स्वतन्त्र होगा।” इस के साथ ही एक आर्थिक योजना भी जोड़ी गयी है। उस में बतलाया गया है कि “वह ऐसी होने चाहिए, जिस में पूँजीवाद का कोई दोष न हो और समाजवाद के समस्त गुण हों।” इस के लिए देश के विशेष उद्योग सरकार के अधीन होना चाहिए। विदेशियों को राज्य की अनुमति और बतायी हुई शर्तों पर ही व्यापार करने का अधिकार होना चाहिए। प्राचीन उद्योगों की रक्षा करनी चाहिए। मजदूरों का वेतन और काम करने के घण्टे निश्चित रहने चाहिए। शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक उन्नति करने के लिए उन्हें पर्याप्त समय देना चाहिए। अपने सङ्घ स्थापित करने और उचित अधिकारों की रक्षा के लिए हड़ताल करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। कृषि की उन्नति और

किसान तथा खेतों में मजदूरी करनेवालों की रक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। जमींदारों के लिए उन की भूमि का उचित किराया नियत कर देना चाहिए और उन को स्वयं भी कृषि करने का अधिकार देना चाहिए। भूमि के और अधिक टुकड़े नहीं किया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो एक अविभक्त कृषि करनी चाहिए। “वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन होना चाहिए कि जिस से नवयुवकों का दृष्टिकोण राष्ट्रीय बन जाय और उन को व्यापारिक, वैज्ञानिक तथा प्रत्येक प्रकार का उपयोगी ज्ञान सिखाया जा सके और उन में बड़े पैमाने पर औद्योगिक तथा कृषिकार्यों में आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाय।”

‘हिन्दूमहासभा’ द्वारा प्रस्तावित भावी शासन-विधान की यह रूपरेखा है। इस पर हम अगले अङ्क में विचार करेंगे।

हिन्दूमहासभा और ‘हिन्दूकोड’

महासभा ने अपने गत विलासपुर के अधिवेशन में ‘हिन्दूकोड’ पर जो प्रस्ताव पास किया है, वह इस प्रकार है—“महासभा का यह अधिवेशन प्रस्तावित ‘हिन्दूकोड’ का, जो कि अभी भारत के बहुत से विभिन्न भागों में विचार-विनिमय के लिए वितरित भी नहीं हुआ है और लाखों हिन्दु, जिन पर उस का प्रभाव पड़नेवाला है, उस से अनभिज्ञ हैं, विरोध करता है। वर्तमान केन्द्रीय असेम्बली, जो कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा दस वर्ष से निरन्तर अविच्छिन्न है, हिन्दुओं का कदापि प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती और इस कारण यह असेम्बली ऐसे विधानों पर जैसा कि ‘हिन्दूकोड’ है, जो कि हिन्दूकानून के मौलिक सिद्धान्तों में परिवर्तन करना चाहता है और और जिस का हिन्दूसमाज के जीवन पर गहराप्रभाव पड़ेगा, विचार करने के अयोग्य है। हिन्दूमहासभा अपनी स्थिति कायम रखने के लिए या प्रचलित कानूनों तथा परम्परागत सिद्धान्तों में अन्धविश्वास के कारण ऐसा नहीं कह रही है, अपितु वह ऐसे उचित परिवर्तनों का स्वागत करेगी, जिन से हिन्दुओं की दशा सुधर सके। किन्तु महासभा की सम्मति है कि ऐसे मौलिक कानून जैसे कि उत्तराधिकार, विवाह, गोद लेना आदि पर उसी समय विचार करना चाहिए। जब कि वर्तमान विधान रद्द कर दिया जाय और नया विधान ऐसे सिद्धान्तों पर आश्रित हो, जिस को कि हिन्दू मान सके और एक ऐसी असेम्बली की स्थापना की जाय, जो कि वास्तव में हिन्दूजनता की प्रतिनिधि हो और जो एक विचारित हिन्दूकोड हिन्दूकानूनवेत्ता हिन्दूनेताओं की सम्मति से बनाये और उस के सदस्यों को हिन्दूजनता कानून-परिवर्तन करने का अधिकार दे, तभी ऐसा हो सकता है।”

यद्यपि हम इस प्रस्ताव के कई अंशों से सहमत नहीं हैं, पर हमें प्रसन्नता है कि महासभा ने अन्ततोगत्वा इस महत्वपूर्ण विषय पर अपना मौन तो भङ्ग किया। महासभा के अध्यक्ष डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने हाल ही में बतलाया कि महासभा की कार्यसमिति ने कोडविरोध का कार्यक्रम निर्धारण करने के लिए एक समिति नियुक्त की है। इस समिति को शीघ्र ही अपना कार्यक्रम जनता के सामने रखना चाहिए।

‘रावकमेटी’ का दौरा

गत १९ जनवरी तक के अपने एक पत्र में ‘हिन्दू कानून कमेटी’ के मन्त्री ने लिखा था कि ‘कमेटी के दौर का कोई क्रम अभी तक निश्चित नहीं हुआ।’ पर अब पता लगता है कि कमेटी गत २७ तारीख को ही बम्बई पहुँच गयी और गवाहियां लेना आरम्भ कर दिया। क्या दौरा का क्रम गुप्त रखा जायगा? यदि नहीं, तो विभिन्न स्थानों के लिए तिथियां पहले से प्रकाशित हो जानी चाहिए थी। जान पड़ता है कि दो चार स्थानों में जाकर कमेटी शीघ्र ही अपनी रिपोर्ट सरकार को मेज देगी, जिस में असेम्बली के इसी अधिवेशन में ‘हिन्दूकोड बिल’ पेश

जाय, अन्यथा इस उतावली का कोई कारण नहीं है। अभी तक विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित नहीं हो पाये हैं। युक्तप्रान्तीय सरकार ने हिन्दी अनुवाद की कुल ३०० प्रतियां निकाली हैं। क्या इतने ही से प्रचार हो जायगा? गताङ्क में भावी कार्यक्रम के लिए हम कुछ सुझाव रख चुके हैं। विभिन्न संस्थाओं की ओर से एक प्रतिनिधि-मण्डल गीघ्र दिल्ली पहुंचना चाहिए और 'असेम्बली' तथा 'कौंसिल आफ स्टेट' के सभी सदस्यों से मिलकर उन्हें अपनी बात अच्छी तरह समझाना चाहिए और विभिन्न दलों के नेताओं से अनुगोच करना चाहिए कि वे बिल का समर्थन न करें। कम से कम युद्ध के समय तक और जबतक नया निर्वाचन न हो, इस को स्थगित रखना चाहिए। असेम्बली का अधिवेशन ११ फरवरी से आरम्भ हो रहा है। इसलिए शीघ्रता करनी चाहिए। बम्बई से कमेटी कलकत्ता, इलाहाबाद, लाहौर आदि को जायगी। उन स्थानों में विरोध प्रदर्शन का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। बम्बई में कमेटी के सामने गवाही देते हुए सर चिमनलाल सीतलवाड ने कहा कि "इस से सम्मिलित कुटुम्ब की संस्था और सम्मिलित पैतृक सम्पत्ति नष्ट हो जायगी। नियमों में एकता लाने की आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जा रहा है। भारत ऐसे बड़े देश में कई बातों में न एकता हो सकती है न आवश्यक है।" लखनऊ विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए 'फेडरल कोर्ट' (सङ्घन्यायालय) के जज सर वरदाचार्य ने भी कहा कि "कोड द्वारा जो परिवर्तन किये जा रहे हैं, उन के लिए वर्तमान समाज अभी तैयार नहीं है। युवक सुधारकों की मांग पूरी करने के लिए कई सुधार किये गये। विधवाविवाह के लिए कानून बनाया गया, पर न इससे विधवाविवाहों में ही वृद्धि हुई, न उन के आचरणों में ही कोई उन्नति हुई।" क्या इन लोगों के मतों की भी कमेटी उपेक्षा करेगी?

'हिन्दू-कोड' का विरोध आवश्यक

(श्री स्वामी करपात्री जी)

हिन्दूधर्म की मर्यादाएँ शास्त्राधीन हैं। वे आज की बनी हुई नहीं हैं। कुछ लोगों का कहना है कि विद्वान् एवं ऋषि-मुनि धर्म में कुछ हेरफेर कर सकते हैं, परन्तु विजातीय अङ्गरेजों को इस में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है। इसतरह एक अर्थ में यह सिद्ध हो गया कि विजातीय शासकों को हमारे धर्म में परिवर्तन करने का कोई हक नहीं है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करने पर ज्ञात होगा कि ऋषि-मुनियों ने वेद-शास्त्रों के आधार पर ही स्मृतियों का प्रणयन किया है। वे भी वेद-शास्त्र के विरुद्ध नहीं लिख सकते थे। यही तर्क कि अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-नायक भगवान् भी जब हिन्दू धर्मशास्त्रों के एक अक्षर का भी अदल-बदल नहीं कर सकते, तब फिर जीव को तो बात ही क्या? यह बात अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, वैशेषिक, न्याय आदि शास्त्रों के विवेचन से यह सिद्ध है कि वेद ईश्वरनिर्मित ही नहीं, प्रत्युत स्वयं अनादि, अपौरुषेय हैं। जिसतरह एक विद्यार्थी अपने पाठ को कण्ठ करके सो जाता है और प्रातःकाल उठकर फिर उसी का पाठ कर लेता है, उसीतरह ईश्वर महाप्रलय में वेद को अपने में रखते हैं और सृष्टि के आरम्भ में पुनः प्रकट करते हैं। इसतरह वेदों का आविर्भाव ईश्वर करते हैं, किन्तु वे उस के एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं कर सकते। संसार में अन्य ग्रन्थों के प्रणेताओं, धर्म एवं सम्प्रदाय-प्रवर्तकों का पता है, कोई दो हजार वर्ष, कोई पाँच हजार वर्ष के पुराने हैं। किन्तु हिन्दूधर्म के मूल प्रतिपादक इन वेदों के कर्ता का कोई पता नहीं है। बड़े दुःख की बात है कि आजकल के स्त्री-पुरुष यह कहते हैं कि प्राचीन हिन्दू सिद्धान्तों में स्त्रियों के अधिकार की उपेक्षा की गयी है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। "पितारक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" के अनुसार बालपन से लेकर वृद्धावस्थापर्यन्त पुरुष के नियन्त्रण में रहने पर ही स्त्रीजाति का कल्याण हो सकता है। उनके स्वतन्त्र अधिकार की अपेक्षा नहीं है। पुरुषों के अधिकार में ही स्त्रियों का अधिकार निहित है। इसलिए वे पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी कहलाती हैं। आज भी गाँवों में, जहाँ आधुनिक सिद्धान्त एवं गंदे साहित्य का प्रचार नहीं है, ८० प्रतिशत लोग सच्चरित्र हैं। प्राचीन नियमों को विकृत करने

के लिए ही ऐसे टेढ़े-मेढ़े विवाहों, तलाकप्रथाओं को जन्म देने का प्रयास किया जा रहा है। यह भी वर्तमान शासकों की एक विचित्र कूटनीति है, हमें सदा पराधीन बनाये रखने की नयी चाल है। केवल भौतिक उन्नति से या उस की रक्षा से हमारा सर्वाङ्गीण उत्कर्ष नहीं हो सकता। मनोमय, विज्ञानमय शरीर की रक्षा से ही देश परतन्त्रतापाश से मुक्त हो सकता है। यह शासकों की बदनीयत है कि बिना हिन्दुओं का मत लिये ही जवर्दस्ती कानून बनाकर उन के धर्म कार्यों में हस्तक्षेप किया जा रहा है। हमारे देश के भी वे ही लोग इस में सहयोग दे रहे हैं, जिन्हें अपने धर्म या धर्मशास्त्रों में आस्था नहीं है। उपनिषदों में लिखा है कि राजा पर भी नियन्त्रण करने के लिए धर्म है। इस प्रकार जो धर्म-राजा पर भी शासक है, उस पर राजा का नियन्त्रण कैसे हो सकता है? इसलिए राजा को चाहिए कि वह धर्म के गुरुओं, आचार्यों की आज्ञा से ही धर्मानुशासन करे। अन्य धर्मों—मुसलमानों एवं ईसाई धर्मों—पर क्रमशः काजो और पादरियों का नियन्त्रण होना चाहिए। तत्त्वपूर्णवल्मी शासक को भी जब धर्म में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है, तब एक विधर्मी शासक हमारे धर्म पर नियन्त्रण कैसे कर सकते हैं? अतः लोगों को प्रस्तावित 'हिन्दूकोड' का पूरे जोर से विरोध करना चाहिए।

'सार्वभौम धर्म'

(श्रीराजारामशरणजी)

सर्वदेश, जाति, समाज का महासम्राट् अनेक नामों से विख्यात परमात्मा एक ही है। अनन्त जगत् उसी का अखण्ड साम्राज्य है। जड़-चेतन वस्तुमात्र पर उस का अखण्ड शासन है। वही जीवमात्र का जीवनदाता परमपिता पूज्य देवता है। एक ही महाशासक की प्रजा एक ही परम देवता की सन्तान होने के नाते अनन्त जीव वस्तुतः परस्पर मित्र हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य-चन्द्रादि ग्रह, विद्युत्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि राज्य की अनेक आवश्यक वस्तुएं समान रूप से जीवमात्र की एक होने से साम्राज्य एक अखण्ड है। जन्म, वृद्धि, जीर्णता, विनाश आदि अटूट नियम विधान समानरूप से सब पर लागू होने से एक ही महाराज का शासन है। अनन्त आश्चर्यपूर्ण विचित्र रचना, पालन, प्रलय, अनन्त परमाणुओं का सङ्घटन, विघटन, अनन्त चेतनों पर नियन्त्रण आदि अमित क्रियाएं केवल अपने असीम मनोबल से ही सर्वदा सर्वत्र करने से वह अखण्डाकार मूल तत्व वस्तु-मात्र का अन्तरात्मा सर्वदा सर्वत्र पूर्ण है। सुख ही जीवमात्र का एक जीवनतत्व है, एकमात्र सुख ही अतिमधुर क्षीर प्राणिमात्र का स्वाभाविक इष्ट ध्येयपेय है। सुख उसी अन्तरात्मा परम देवता का अनन्त प्रकाश है, जो यथाभाग अनन्त मात्राओं में विभक्त अनन्त चेतनाओं में भास रहा है। अतएव जीवमात्र का जीवन आनन्ददुग्ध एक होने से सब जीव उसी एकपरदेवता के अनन्त सन्तान हैं। वह एक ही महादेवता माता-पिता, सम्राट् सब कुछ है, अतएव जीवमात्र एक ही देवता के सन्तान, एक ही राजा की प्रजा, एक ही महादेवता के उपासक, एक ही जीवनदाता के उपजीवी होने से वस्तुतः परस्पर मित्र हैं। हम अनन्त मित्रों का बाह्य भेद देश, वेष, भाषा, भाव, वृत्ति, प्रवृत्ति, आचार, व्यवहार अनन्त होने पर भी हम अनन्त चेतनों का यह सार्वभौम मित्रमण्डल अनादि, अनन्त, अखण्ड है। हम मित्रों की मौलिक सारूप्यता, समानता एकता नित्य अखण्ड है। संदेश, जाति, समाज के महापुरुषों से की यही प्रार्थना है कि विश्वशान्ति, विश्वकल्याण के वास्ते इस मौलिक सत्य एकता, मित्रता की भावना मानवसमाज में संयुक्त शक्ति का प्रयोग करके जाग्रत करें, मानवसमाज सत्य में विश्वास करें।

"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"

(यह स्तम्भ विचार-विनिमय के लिए है)

शाङ्कर वेदान्त तथा त्रिकदर्शन

(श्री बलदेव उपाध्याय एम्. ए.)

आचार्य शाङ्कर के द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा अभिनवगुप्त आदि के द्वारा व्याख्यात ईश्वराद्वयवाद ठीक एक ही प्रकार का नहीं है। अद्वैत वेदान्त में माया की जो मीमांसा की गयी है, उस से प्रत्यभिज्ञा को सन्तोष

नहीं। अज्ञान की प्रवृत्ति कहीं से और क्यों होती है, इस का कोई उत्तर नहीं। इस अज्ञान का प्रथम आविर्भाव ही क्योंकर होता है, जिस के वश में होकर ब्रह्म जीवरूप में आविर्भूत होता है अथवा अधीश्वर होकर ईश्वर बनता है, इस प्रश्न का ठीक उत्तर वेदान्त नहीं देता, पर प्रत्यभिज्ञादर्शन देता है। ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान है, माया है, किन्तु इस की प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है, वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक, अपनी इच्छा से परिग्रहीत, रूप है। जिस प्रकार नट, जान-बूझकर नानाप्रकार का अभिनय करता है, ठीक उसीप्रकार परमेश्वर भी अपनी इच्छा से नानाप्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। वह स्वतन्त्र है, अपने स्वरूप को ढाँकने में भी समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है। परन्तु जब वह अपने रूप को ढँक लेता है, तब भी उस का आवरणहीन रूप उसीप्रकार अच्युत रूप से विद्यमान रहता है, ठीक सूर्य के समान। सूर्य अपने ही द्वारा उत्पादित मेघों के द्वारा अपने को ढँक लेता है और ढँकने के समय भी वह अनाच्छादित ही रहता है, अन्यथा मेघों को प्रकाशित कौन करता ? ठीक यही दशा परमेश्वर की भी है। अज्ञान या माया उन की स्वातन्त्र्यशक्ति का विजृम्भणमात्र है। संसार की सृष्टि करने में लीला-परायण भगवान् की लीला ही मुख्य कारण है। ईश्वरवादी कहते हैं कि वह स्वातन्त्र्यमूलक, स्वातन्त्र्यरूप तथा कर्तृस्वरूप है। ब्रह्मवादी कहते हैं—वह शुद्ध साक्षी है अर्थात् अधिष्ठानचैतन्यात्मक है, यही दोनों का अन्तर है। शाङ्करवेदान्त में 'आत्मा' विश्वोत्पीण, सच्चिदानन्द, एक, सत्य, अनन्त, सृष्टि-स्थिति-लय का कारण, भाव-अभाव-विहीन है, परन्तु उस में कर्तृत्व नहीं है। परन्तु आगमानुसारी अद्वैतवाद में यह कमी नहीं है। ज्ञान और क्रिया उस के लिए एक समान हैं। उस की क्रिया ही ज्ञान है। कर्तृत्वभाव होने के हेतु उस का ज्ञान ही क्रिया है। इस प्रकार इच्छा आदि शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर स्वातन्त्र्यमय है। 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय' में "चित्तिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" तथा "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्व-मुन्मीलयति"—इन सूत्रों का यही तात्पर्य है।

'आत्मा'—आगमसम्मत आत्मा—सदा पञ्चकृत्यकारी है। इन पञ्च-कृत्यों के नाम हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलय। परन्तु शाङ्करमत में आत्मा का यही स्वभाव नहीं है। इसतरह ब्रह्मवाद में आत्मा का स्वस्फुरण उतना नहीं है, जितना आगमों में, अतः सत्य होते हुए असत्कल्प है। अद्वैतवाद मानने पर कुछ द्वैताभास सा बना हुआ है। आगम की मीमांसा पर विचार करने से यही प्रतीत होता है। इस अद्वयवाद की यह महती विशेषता है कि यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है, न ज्ञानविहीन भक्तिमार्ग। प्रत्युत यहाँ ज्ञान और भक्ति का मञ्जुल सामञ्जस्य है। शाङ्कर अद्वैत की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शाङ्कर के मत में भक्ति द्वैतमूलक होती है, अतः ज्ञान के उदय होने पर उस की स्थिति नहीं होती। यह मत ठीक है, क्योंकि यह भक्ति साधन-रूपा अज्ञान-मूलक होती है, परन्तु जो अद्वैत भक्तिरूप पदार्थ है, वह नित्य-मिद्ध है। उस की सत्ता का पता शास्त्र के वचन तथा महात्माओं के अनुभव से चलता है। जिसे हम मोक्ष कहते हैं, वह वस्तुतः नित्य-सिद्ध ज्ञान-भक्ति का ही, आवरण-भङ्ग से उत्पन्न, उन्मेषमात्र है। त्रिकदशन में इसी को 'विदानन्दलभ' कहते हैं। अद्वैतज्ञान होने पर जो भक्ति उदित होती है, वह निर्व्याज, अहेतुकी भक्ति वास्तविक भक्ति है। इसी भक्ति को लक्षित कर 'भागवत' का कथन है—“आत्मरामा हि मुनयो निर्ग्रन्था ऊर्ज्युरुक्मे। कुर्वन्त्यहै-तुकीं भक्तिमित्यंभूतगुणो हरिः॥” 'बोधसार' में (पृ० २००-२०१) नरहरि का कथन भी यथार्थ है—“द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थे कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥ जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्। भिन्नयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः॥” तात्पर्य यह है कि ज्ञान होने के पहले द्वैत मोह उत्पन्न करता है, परन्तु ज्ञान होने पर भी उस द्वैत की कल्पना भक्ति के लिए अपनी बुद्धि के द्वारा की जाती है। यह कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर है। सामरस्य हो जाने पर यह द्वैत अमृत के समान आनन्ददायक होता है। जीवात्मा और परमात्मा का यह मधुर मिलन दम्पती के मिलन के समान होता है। लौकिक जगत् में स्त्री-पुरुष का संयोग उस अलौकिक दशा का यत्किञ्चित् परिचायक होता है। यही सामरस्यतन्त्र का सर्वस्व है। अद्वैत वेदान्त में केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन बतलाया गया है। आत्मा के स्वरूपभेद होने के कारण

ही यह साधन-भेद दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार दार्शनिक जगत् में त्रिकदशन की विशिष्टता नितान्त स्पष्ट है।

धर्मसङ्घ-समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

१ श्रीमद्भागवत पारायण—तीहामुहम्मदपुर, पो० बड़हलगञ्ज, जि० गोरखपुर) १६ जनवरी, श्री पं० रमाशङ्कर शर्मा की संरक्षता में श्री पं० कमलेश्वरदत्तजी ने सङ्घ के सङ्कल्प से श्रीमद्भागवत पारायण किया। अखण्ड हरिकीर्तन भी हुआ।—श्री पं० गिरिजादत्त द्विवेदी (मंत्री धर्मसङ्घ शाखायभा)। २ धर्मसङ्घ गोपीबाई महिलामण्डल, कचैरीघाट, आगरा—पौष शुक्ल १५ से माघ कृ० ३० तक उत्सव, इस के उपरान्त वसन्तपञ्चमी तक श्रीमद्भागवत पारायण, अखण्ड रामायण पाठ, हरिकीर्तन। माघ शु० ६ को हवनादि हुआ।—श्री पं० गणेशीलालजी वैद्य (अध्यक्ष ध० सं० शा० सं० कचैरीघाट)। ३ मन्त्रावाँ, इरदोई—वसन्त-पञ्चमी, इसरापुर, बावटमऊ, मद्रिया ग्रामों के सहयोग एवं श्रीवृद्धाली स्वामी के प्रयत्न से रामकुटी पर चलनेवाले विष्णुयाग की समाप्ति हुई। धर्मसङ्घ शाखा की स्थापना श्री पं० गजाधरप्रसाद पाण्डेय की अध्यक्षता में की गयी।—श्रीसुरेन्द्रनाथ द्विवेदी। ४ पूड़ी, त० हांसी, जि० हिसार—आश्विन तथा गत मकरसंक्रान्ति पर दुर्गापाठ, हवन, सभा आदि कार्य ३ दिन तक हुए। चैत्र में भी इसीतरह अनुष्ठान का विचार हो रहा है। इस में स्थानीय लालसमाज ने विशेष रूप से सहयोग प्रदान किया।—श्रीगोवर्धन शर्मा प्र० अ०।

नवीन शाखाएँ—

१ संस्कृत महाविद्यालय, इटारसी। विजयादशमी, श्रीशिवप्रसाद शास्त्री (अध्यक्ष), श्रीप्रेमशङ्कर मिश्र साहित्यशास्त्री (मन्त्री), श्रीमयुरा-प्रसाद दीक्षित (उपमन्त्री)। प्रत्येक प्रतिपदा को प्रभातफेरी होती है। २—अरेराजविद्यालय, सु० पो० अरेराज, जि० चम्पारन—गो० राम-नरेशजी यति (अध्यक्ष), श्री पं० दिनपति पाण्डेय विद्यालयाध्यक्ष (मन्त्री), सदस्य ९। ३ मुहल्ला कटरा, छपरा—२२ नवम्बर, श्री पं० रामदेव शुक्ल (अध्यक्ष), श्री पं० धर्मदेव पाण्डेय, श्री पं० लक्ष्मीनारायण शर्मा, श्री पं० धीरेन्द्र शास्त्री (उपाध्यक्ष), श्री पं० रामपुकार द्विवेदी (मन्त्री), श्री पं० मुक्तिनाथ मिश्र (उ० मं०), बाबू रामेश्वरप्रसादजी चौधरी (कोषाध्यक्ष)। ४ नाडौल (मारवाड़)—२० जनवरी, श्री स० ध० प्रति० सभा जोधपुर के महोपदेशक पं० दीनानाथजी शास्त्री की प्रेरणा से शाखा स्थापित हुई। श्री पं० मिश्रीलालजी और (अध्यक्ष), मास्टर गिरधारीलालजी (मन्त्री), २५ सदस्य। ५ श्रीवासुदेव संस्कृतपाठशाला, गुतवन (जौनपुर)—श्री पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र (अध्यक्ष), श्री पं० राजकिशोर द्विवेदी सुस्थां कलां (मन्त्री), श्रीविन्ध्यवासिनीप्रसाद त्रिपाठी, पंडराव (उ० मं०)। प्रतिपक्ष सभा होती है।—श्रीगामराज द्विवेदी। ६ पलिया, पो० हरपालपुर, जि० गाजीपुर—१६ जनवरी, श्रीजगदीशस्वरूपजी, श्रीमहेशसिंहजी, श्रीचन्द्र-बक्ससिंहजी, श्रीनैपालसिंहजी और श्रीगुलाबसिंहजी यादव (संस्थापक), श्रीजगदीशस्वरूपजी ब्रह्मचारी (अध्यक्ष), श्री पं० माधोरामजी (उपाध्यक्ष), पं० श्रीकृष्ण शुक्ल (मन्त्री), श्रीगुलाबसिंहजी यादव (उ० मं०), श्रीहरदयाल तिवारी (निरीक्षक), श्रीमहावीरप्रसाद तिवारी (संस्थापक तथा प्रचारक)। ७ आना (मारवाड़)—२० जनवरी, श्रीरावतसिंहजी हवलदार (अध्यक्ष), सोलहू श्रीविजयसिंहजी (मन्त्री), श्री पं० दीनानाथजी शास्त्री, महोपदेशक मारवाड़प्रान्तीय स० ध० प्र० सभा, जोधपुर (संस्थापक)। ८ प्रयाग—श्रीजगद्गुरु शङ्कराचार्य सेवक-सङ्घ—८ अक्तूबर ४४, श्रीशिव अचलदासजी, (अध्यक्ष), श्रीकामताप्रसादजी (उपाध्यक्ष), श्रीभोलानाथजी, बोर्ड ऑफ रेवेन्यू यु० प्रा० (मन्त्री), श्रीलक्ष्मणप्रसादजी, श्रीचन्द्रनारायणजी (उपमन्त्री)। ९ वैसा, पो० विलासपुर, जि० विलासपुर—माघ कृष्ण ११, श्री पं० चित्तगोविन्दजी (अध्यक्ष), श्रीसेवकरामजी (उपाध्यक्ष), श्री पं० जगन्नाथप्रसाद शास्त्री (मन्त्री), श्री पं० मयुराप्रसादजी (उपमन्त्री), श्री पं० देवनन्दन शास्त्री उर्फ किष्किन्धा पण्डित (संस्थापक)। श्री पं० देवनन्दन शास्त्री उर्फ किष्किन्धा पण्डित (संस्थापक)। १० दरौली, पो० भसुआ, जि० आरा—२५ जनवरी, श्रीबोकेलालजी मास्टर (अध्यक्ष), श्रीशिवशङ्करसिंहजी (मन्त्री), श्री पं० गुलाबजी

पाठक (संस्थापक)। ११ दुलही, पो० चौद, जि० शाहाबाद—२६ जनवरी, बाबू जगरूपसिंहजी (अध्यक्ष), बाबू सूर्यप्रसादसिंह (मन्त्री), श्री पं० गुलाबजी पाठक (संस्थापक)। १२ नवलगाडा देवादा, तं० जीयनपुर (आजमगढ़)—श्रीसन्त अहीर (अध्यक्ष), श्री साहब अहीर (उपाध्यक्ष), श्री पं० सत्यनारायण दूवे (मन्त्री), श्री पं० पवहारी शुक्ल और आकेशव अहीर (उपमन्त्री) श्री पं० कालिकाप्रसादजी दूवे (संस्थापक)। १३ भीमवरबाजार, पो० बिलरियागञ्ज, (आजमगढ़)—माधु शु० ५, बाबू मुचकुन्दसिंहजी, वरनापुर (अध्यक्ष), ठा० सरनामसिंहजी, पलिया (उपाध्यक्ष), श्री पं० सीतारामजी दूवे (मन्त्री), ठा० फागूसिंहजी, वरनापुर और ठा० बुधिरामसिंहजी (उपमन्त्री)। १४ चचाई, तह० सिरमौर, पो० बकुण्ठपुर, (रीवां राज्य)—१८ अक्तूबर ४४, श्रीस्वामी महेश्वरानन्दजी सरस्वती (संरक्षक), श्री पं० वज्राङ्गदत्तजी त्रिपाठी (अध्यक्ष), श्री पं० हनुमानप्रसादजी (मन्त्री), श्री पं० बद्रीप्रसादजी त्रिपाठी (उपमन्त्री)। १५ लरू (राज्य वेंती), जि० प्रतापगढ़ (अवध)—२० जनवरी, श्री पं० भगवतीप्रसादजी (अध्यक्ष), श्री पं० रामनिन्दजी (मन्त्री), श्रीदिग्विजयनरेश (प्रेरक)—श्रीनागेशदत्त मिश्र। १६ नगर धर्मसङ्घ शाखासभा, जूनी हनुमान गल्ली नं० २, बम्बई—१६ जनवरी, श्री प्रो० जयेन्द्राय भगवानदास दूरकाल एम्. ए. की अध्यक्षता में सभा होकर उक्त शाखासभा की स्थापना हुई। श्री पं० मुनिचन्द्रजी न्या० आ०, पो० आ०, जे. बी. एम्. संस्कृत कालेज, बम्बई (अध्यक्ष), श्री पं० शिवनाथ उपाध्याय, व्या० सा० आ० और श्री पं० रामाधार त्रिपाठी ज्यो० आ०, का० ती० (उपाध्यक्ष), श्रीप्रसाद मिश्र (मन्त्री), श्रीरामनाथ शुक्ल (उपमन्त्री), श्रीशान्तिस्वरूप शर्मा (स्वयंसेवकदल-नायक) तथा अन्य ९ सदस्य।

‘हिन्दू कानून कमेटी’ बम्बई में

काले झण्डों से स्वागत

बम्बई ३० जनवरी—(तार से प्राप्त) ‘हिन्दू कानून कमेटी’ की बैठक कल से यहाँ शुरू हुई। सनातनी हिन्दुओं के एक बड़े झुण्ड ने उस कमरे के बाहर, जिस में कमेटी की बैठक हो रही थी, काले झण्डों से विरोध-प्रदर्शन किया और सनातनी जनता ने हिन्दूशास्त्रों के तथाकथित सुधार एवं उन के प्रस्तावित विधिकरण का घोर विरोध प्रकट किया। सनातनी जनता से सहायमूर्ति प्रकट करते हुए बम्बईप्रान्तीय धर्मसङ्घ के अध्यक्ष श्रीजयेन्द्राय भगवानलाल दूरकाल ने बम्बई में उक्त कमेटी के स्थितिकाल तक उपवास तथा ईश्वरप्रार्थना की। श्रीजगद्गुरु शाङ्कराचार्यजी तथा श्रीगोस्वामी दीक्षितजी महाराज ने हिन्दूकोड के विरोध में मत प्रकट करते हुए जोरदार शब्दों में यह घोषित किया कि यदि यह कोड पास हो गया, तो अनादिसिद्ध हमारे हिन्दूधर्मशास्त्र रद्द हो जायेंगे। माधव बाग में आज कोड के विरोध में एक सभा में श्रीजगद्गुरुजी का भाषण हुआ। वर्णाश्रम स्वराज्य सङ्घ के मंत्री ने प्रस्तावित सुधारों के विरुद्ध बहुसंख्यक शास्त्रवचनों को उपस्थित किया। ‘हिन्दू कानून कमेटी’ की उपस्थिति के कारण यहाँ की सनातनी जनता में पर्याप्त विरोध दिखायी पड़ रहा है।—श्रीध्यानन्द देसाई।

‘हिन्दू-कोड’-विरोध

१ इटारसी—२५ जनवरी, ह० ७३०, श्रीरामचन्द्र त्रिपाठी, श्रीवदरी-प्रसाद मिश्र और श्रीजीवनलाल द्विवेदी। २ श्रीरामजी बाबा की समाधि, शोशुणाबाद—ह० १३०, श्रीहीरालाल मिश्र। ३ धर्मसङ्घ गोपीबाई महिला-मण्डल, कचैरीघाट, आगरा—माधु शु० ६, महिलाओं ने सामूहिक रूप से विरोध किया। श्रीगणेशीलालजी दैद्य। ४ मल्लावाँ, हरदोई—वसन्त-पञ्चमी, सार्वजनिक सभा में विरोधप्रस्ताव पासकर हस्ताक्षर कराये गये। स्त्रियों ने भी अधिक संख्या में विरोध में भाग लिया। श्रीसुरेन्द्रनाथ द्विवेदी। ५ दुलही, पो० चौद, जि० शाहाबाद—२६ जन०, ह० २१, एक सार्वजनिक सभा द्वारा भी विरोध किया गया। पं० गुलाबजी पाठक। ६ दरौकी, पो० मसुआ, जि० आरा—२५ जन०, कोडविरोध में ग्राम-वासियों की सभा हुई, ह० ९०, श्री पं० गुलाबजी पाठक। ७ लालगाड़ा,

पो० राजहरा, जि० पलामू—३० दिस०, ह० ६५, श्रीव्यासजी पाठक। ८ रमावैकुण्ठमन्दिर, पुष्कर (अजमेर)—२४ दिस०, उक्त मन्दिर के मैनेजर मोहनलाल गुप्त बी. ए., एल्. एल्. बी. के प्रयत्न से ब्रह्मामन्दिर के महन्त श्रीविभूति पुरीजी की अध्यक्षता में सभा हुई, अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के कोडविरोध में भाषण हुए। श्रीरमावैकुण्ठ संस्कृत महाविद्यालय के २० छात्र तथा अन्य १० व्यक्तियों ने दौरा करके अजमेर, नसीराबाद, केकड़ी, मसूड़ा, भिनाय, बान्दरवाड़ा, व्यावर, विजयनगर, कडैल, गोविन्दगढ़, भगवानपुरा, रामसर, टाट्टी, कंरे, बाबड़ी, जालिया, सतावडिया, सराधना, तवोजी, पीसागंन, मांगलियावास आदि स्थानों से तह० ३ जनवरी तक लगभग २५००० हस्ताक्षर करवाकर विरोधपत्र तथा १७-१८ तार भेजवाये। केवल पुष्कर से ही ४ तार भेजे गये। उक्त मन्दिर की ओर से २५ ह० का एक लम्बा तार सरकार के पास भेजा गया। अजमेर मेरवाड़ा के समस्त हिन्दूसमाज की ओर से विरोध-प्रदर्शन किया गया। अब भी विरोध जारी है। श्री पं० दामोदर शास्त्री, डाक्टर सच्चिदानन्द शुक्ल एच्. एच्. डी., श्री पं० सोहनलालजी आदि का उत्साह विशेष प्रशंसनीय है। श्रीअमरचन्दजी इनाणी एम्. ए., एल्. एल्. बी. एडवोकेट अजमेर में अच्छा विरोध-प्रचार कर रहे हैं। श्री पं० मदनमोहन शास्त्री, श्रीहिन्दूसंस्कृतिरक्षा समिति पुष्कर। ९ दारेखप, पो० रागपुर (नोखा), जि० शाहाबाद—२२ जन०, ह० १२५, श्री पं० जयराम पाण्डेय व्या० सा० आ०। १० श्रीदेवीसम्पत्पुस्तकालय, ७६ दरीबा, मैनपुरी—३१ दिस०, ह० २७४, व्यवस्थापक।

विशेष समाचार

कांडोली, तालुका मङ्गलकनाथ, जि० अकोला (वह्राड) में आगामी शिवरात्रि के अवसर पर श्रीमद्भागवत (१०म स्कन्ध) हवन, वह्राड-प्रान्तीय व० स्व० सङ्घ का चतुर्थाधिवेशन, सनातनी महिला परिषद् और विद्वत्परिषद् का आयोजन हो रहा है।—श्रीनरहर लक्ष्मण जोशी वैद्यवयं। प्रतापगढ़ (अवध) में पूज्य करपात्रीजी। २३ जनवरी, आज प्रयाग से पैदल चलकर सोराम होते हुए पूज्य स्वामीजी सदर प्रतापगढ़ पधारे। भँगवा की चुङ्गी पर गण्यमान तथा साधारण नागरिक, कतिपय अधिकारीवर्ग, विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं के अधिकारियों तथा दिग्विजय राज्य के धर्मसङ्घीय स्वयंसेवकों द्वारा आप का शानदार स्वागत किया गया। दिग्विजय-नरेश श्रीलाल जयसिंह बहादुरसिंह जू ने सर्वप्रथम पुष्प-हार समर्पित किया। तत्पश्चात् बाजार मकन्दगञ्ज में सेठ बाबूलालजी और गोपीरामजी ने आरती उतारी और श्री-स्वामीजी गोपालमन्दिर की धर्मशाला में पहुँचाये गये। सन्ध्या-समय ७॥ बजे से गोपालमन्दिर के अहाते में धर्मसङ्घ की ओर से एक महती सभा की गयी। सभा में रा० ब० पं० श्यामबिहारीजी मिश्र सभापति धर्मसङ्घ शाखा-समिति सदर, जिले के वकील अधिकारीवर्ग एवं सभी प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। श्रीदिग्विजय-नरेश द्वारा समर्पित धर्मसङ्घ की ध्वजा के नीचे सभा की कार्यवाही आरम्भ हुई। पण्डित उदयराज वैद्य मन्त्री शाखा-समिति सदर ने दिग्विजय-नरेश के सत्प्रयत्न की सराहना करते हुए कहा कि “हमारे जिले में धर्मसङ्घ स्थापित करने एवं श्रीस्वामीजी के शुभागमन कराने आदि का साग श्रेय श्रीदिग्विजय-नरेश को ही है।” जनता के अनुरोध पर श्रीदिग्विजय-नरेश ने प्रतापगढ़ जिले की ओर से श्रीस्वामीजी का स्वागत किया। धर्मसङ्घ का इतिहास बतलाते हुए आप ने जिले की जनता से अपील की कि “प्रत्येक गाँव तथा मुहल्लों में धर्मसङ्घ की शाखाएँ स्थापित की जाँय तथा श्रीस्वामीजी के निर्धारित मार्ग का अवलम्बन करके परम कल्याण की प्राप्ति की जाय।” तत्पश्चात् श्रीस्वामीजी का धर्मसङ्घ के उद्देश्य पर लगभग १॥ घण्टे तक सारगर्भित प्रवचन हुआ। अन्त में कीर्तन तथा जयकारों के साथ सभा विसर्जित हुई।

२४ जनवरी, आज श्रीकरपात्रीजी महाराज ने दिग्विजय राज्य को प्रस्थान किया। मार्ग में ‘प्रतापबहादुर कालेज’ के छात्रों के सदाग्रह से आप कटरा टैङ्क मये, जहाँ कालेज के छात्र-समुदाय के मध्य श्रीस्वामीजी ने प्रवचन किया। तत्पश्चात् चलते चलते चँवरूपूर में पं० देवीप्रसाद शुक्ल के यहाँ कुछ समय विश्राम करके जेठवारा के ठाकुर प्रतापबहादुरसिंहजी की वाटिका में रात्रि-निवास किया। उक्त दोनों स्थानों में श्रीस्वामीजी ने उपस्थित जनता को ‘धर्मसङ्घ’ के विस्तार एवं प्रचार का उपदेश दिया।

प्रकाशक—श्री गदाधर ब्रह्मचारी, गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

मुद्रक—कृष्ण बलवन्त पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिघनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

स्वतन्त्र भारत का शासन-विधान

‘हिन्दू महासभा’ को ‘हिन्दू’ शब्द से प्रेम होना ही चाहिए, पर साथ ही उसे ‘हिन्दुस्थान’ के प्राचीन नाम ‘भारत’ से चिढ़ भी ठीक नहीं। संस्कृत साहित्य में ‘भारत’ ही शब्द आता है, ‘हिन्दुस्थान’ का तो कहीं एकवार भी प्रयोग नहीं मिलता। ‘गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे’ इन शब्दों ‘भारत’ की ही महिमा गायी गयी है। इस के साथ अतीत की स्मृतियाँ धुलीमिली हैं। ‘हिन्दोस्तॉ के हम हैं, हिन्दोस्तॉ हमारा’ यह नया गीत है, पर ‘हिन्दोस्तॉ’ को ‘हमारा’ कहनेवाले आज कहीं बढ़क रहे हैं, यह भी छिपा नहीं है। ‘हिन्दुस्थान’ शब्द में ‘स्थान’ अवश्य संस्कृत का शब्द है, पर ‘हिन्दू’ की, जिन का वह ‘स्थान’ है ‘महासभा’ ने क्या व्याख्या की है, इस का पता नहीं। ‘हिन्दू’ किसे कहते हैं, इस को बिना जाने क्या उस के सच्चे हितों का ज्ञान हो सकता है? महासभा का यह भी दावा है कि वह ‘हिन्दुसंस्कृति’ की रक्षा करना चाहती है। परन्तु जान पड़ता है कि उस की दृष्टि में राजनीतिशास्त्र में हिन्दू संस्कृति की कुछ भी देन नहीं है, तभी तो उस ने ऐसा विधान बनाया है, जो पाश्चात्यलोकतन्त्र की पूरी नकल है। दोहरी सभाएं, बालिग-मताधिकार, निर्वाचन सब कुछ रख लिया गया पर पाश्चात्यलोक मत के दोषों के, जिन का अनुभव पाश्चात्य राजनीति के पण्डित भी कर रहे हैं, दूर करने के कोई उपाय नहीं बतलाये गये हैं। क्या वर्तमान निर्वाचन-पद्धति के अनुसार योग्यतम व्यक्तियों का निर्वाचन हो सकता है? फिर आधुनिक लोकतन्त्र में निर्णय का आधार है बहुमत, परन्तु क्या यह ठीक है? किसी विषय के विशेषज्ञों का बहुमत उस विषय-सम्बन्धी प्रश्न के निर्णय में तो महत्व रख सकता है, पर अनभिज्ञों के बहुमत का क्या मूल्य? चुनाव सम्मिलित होंगे, पर अल्प-संख्यकों के लिए उन की संख्या के अनुसार कुछ स्थान सुरक्षित रहेंगे। पर इस में कितनी संख्यावालों को अल्पसंख्यक माना जायगा, यह नहीं बतलाया गया। फिर इन विभिन्न संख्याओं का आधार क्या होगा, धर्म, वर्ण, जाति या संस्कृति? मुसलमान तो स्वतन्त्र राष्ट्र होने का दावा कर रहे हैं, बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई, सिख, हरिजन, अब्राह्मण, ब्रह्म-समाजी, बहाथी इन में किन को अल्प-संख्यकों की रियायतें दी जायंगी? देशी रियासतों का सङ्घ में क्या वही पद होगा, जो विभिन्न प्रान्तों का? उत्तरदायीशासन का क्या केवल यही प्रकार है, जो इस विधान में बतलाया गया है? भारत के प्राचीन शासन-विधान में क्या किसी प्रकार का उत्तरदायित्व है ही नहीं? हम मानते हैं कि आजकल कई देशी-राज्यों में बड़ा अत्याचार हो रहा है, ब्रिटिश शक्ति के संरक्षण में देशी नरेश भोग-विलास में पड़े हुए हैं। पर क्या उन को सुधारने का उपाय पाश्चात्य लोकतन्त्र है? ब्रिटिश सरकार के साथ जो उन की सन्धियाँ हैं, उन का क्या होगा? केन्द्रीय सरकार किस रूप में कैसे सङ्घटित होगी और वर्तमान सरकार अपने अधिकार उस को कैसे सौपेगी, इस पर इस विधान में कोई प्रकाश नहीं डाला गया है।

मौलिक अधिकारों में कानून के सामने सब की समानता मान ली गयी है, पर जिस तरह आधुनिक लोकतन्त्र केवल नाम का है, उसी तरह सब की समानता भ्रममात्र है। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी समानता कभी बन ही नहीं सकती। इस विधान में ‘शान्ति और सदाचार’ से ‘स्वतन्त्रता’ को सीमित अवश्य किया गया है, पर ‘सदाचार’ की परिभाषा नहीं की गयी है। धार्मिक या नैतिक किस दृष्टि से ‘आचार’ को ‘सदाचार’ कहा जायगा? आर्थिक योजना ऐसी होनी चाहिए, “जिस में पूंजीवाद के दोष न हों और समाजवाद के समस्त गुण हों”, पर क्या विशेष उद्योग सरकार के अधीन कर देने से ही ऐसा हो जायगा? जिस प्रकार की सरकार इस विधान में रखी गयी है, क्या वह सचमुच लोकतन्त्र? यदि नहीं तो फिर उस को अधिकार सौंप देने से क्या भ्रम होगा? व्यक्तिगत पूंजीवाद न होकर दल-गत पूंजीवाद होगा। ब्रिटिश पार्लियामेंट और संयुक्तराष्ट्र अमरीका की कांग्रेस

में पूंजीवादियों की कितनी दलबन्धियाँ हैं, और वे किस तरह सर्व-साधारण को चूसा करते हैं, क्या इस विधान के निर्माताओं ने इस ओर भी कुछ ध्यान दिया है? सरकारी कारखानों के लाभ में मजदूरों को सर्वसाधारण के अतिरिक्त क्या हिस्सा मिलेगा? बिना इस के समाजवाद कहाँ रहा? आजकल की जटिल आर्थिक समस्या का एक मुख्य कारण है कर्मसाङ्घर्ष, जिस की बहुत कुछ जिम्मेदारी है ‘स्वतन्त्रता’ तथा ‘समानता’ के भ्रमात्मक भावों पर। इन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जो चाहे व्यवसाय करने का अधिकार है। इस से सफलता भी नहीं मिलती, क्योंकि सब लोग स्वभावतः एक ही कार्य करने के योग्य नहीं होते, दूसरे बढ़ता है परस्पर का सङ्घर्ष। अपने यहाँ की प्राचीन आर्थिक योजना है वर्णव्यवस्था, जिस में प्रत्येक व्यक्ति का जन्म से ही व्यवसाय निश्चित है। उस में उस की स्वतः शिक्षा होती है और उस के व्यवसायक्षेत्र में दूसरों को घुसने का अधिकार नहीं होता। परन्तु इस विधान में सब की समानता तथा स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गयी है और वर्ण, जाति, रङ्ग, धर्म किसी प्रकार का भेद नहीं माना गया है। महासभा के अध्यक्ष डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने गत अधिवेशन के भाषण में सभी प्रकार के भेद मिटाने का अनुरोध किया है। हाल ही के एक भाषण में डाक्टर मुखर्जी ने कहा है कि ‘देश भर में एक ही वर्ण होना चाहिए।’ पर क्या ऐसा सम्भव या वाञ्छनीय है? आर्थिक योजना में जहाँ तक व्यवसाय तथा व्यापार का सम्बन्ध है, साम्यवाद का सिद्धान्त मान लिया गया है, पर जमीन के सम्बन्ध में ऐसा नहीं किया गया है। उस में जमीन्दारों का अस्तित्व मानकर उन के लिए उन की ‘भूमि का उचित किराया’ नियत कर देने की व्यवस्था की गयी है। यह भेद क्यों रखा गया? साम्यवाद के सिद्धान्तानुसार तो जमीन्दार निरर्थक ही हैं? जमीन पर उन का स्वत्व भी नहीं है, फिर उन्हें नियत किराया क्यों दिया जाय? क्या यह धारा जमीन्दारों को सन्तुष्ट रखने के लिए जोड़ी गयी है? निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य रखी गयी है, यहाँ ‘शिक्षा’ का अर्थ केवल ‘साक्षरता’ है या परम्पराप्राप्त व्यवसाय की शिक्षा? यदि साक्षरतामात्र तो उस की विशेष उपयोगिता नहीं है। वर्तमान शिक्षापद्धति में महासभा को केवल इतना ही परिवर्तन चाहिए कि “जिससे नवयुवकों का दृष्टिकोण राष्ट्रीय बन जाय और उन को व्यापारिक, वैज्ञानिक तथा प्रत्येक प्रकार का उपयोगी ज्ञान सिखाया जा सके और उन में बड़े पैमाने पर औद्योगिक तथा कृषि-कार्यों में आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाय।” जबतक ‘हिन्दूराष्ट्र’ क्या है यह निश्चय न हो, तबतक ‘राष्ट्रीय’ का क्या अर्थ? जिस बात को गांधीजी या राजाजी ‘राष्ट्रीय’ कहते हैं, क्या उसी को वीरसावरकर या डाक्टर मुखर्जी भी ‘राष्ट्रीय’ कहेंगे? फिर इस वैज्ञानिक ज्ञान का वैसा ही उपयोग हुआ, जैसा पाश्चात्य देशों में हो रहा है, तो उस से हिन्दू जाति या किसी का क्या लाभ?

हमें बहुत आशा थी कि ‘हिन्दूमहासभा’ देश के सामने कोई ऐसा विधान रखेगी, जिस में ‘हिन्दुत्व’ की झलक हो, पर वह पाश्चात्य शासन-विधानों की नकलमात्र ही निकला। शासन हो चाहे शिक्षा, उस से स्थायी हित कभी नहीं हो सकता, जब तक उस का आधार धर्म न हो। परन्तु इस विधान में ‘धर्म’ को दूर ही रखा गया है। आजकल राजनीति को धर्म से अलग रखने की चाल पड़ गयी है। धर्म कुछ पूजन-भजन कर लेना मात्र माना जाता है। पर हमारे यहाँ तो उस से अलग कुछ है ही नहीं। राजनीति भी राजधर्म है। मालिक-मजदूर, जमींदार-किसान, अमीर-गरीब, राज-प्रजा का परस्पर सङ्घर्ष तबतक कभी न मिटेगा, जबतक दोनों में धर्मभावना न होगी। परन्तु महासभा के कर्णधार वे ही लोग हैं, जिन पर पाश्चात्य शिक्षा का रङ्ग चढ़ा हुआ है, वे डींग हाँकते हैं राष्ट्रीयता की, पर जीवन बनाना चाहते हैं पाश्चात्य ढङ्ग का। इस में क्या हिन्दुत्व रहा?

हरिद्वार अर्द्धकुम्भ मेला और टीका

आजकल धार्मिक मेलों में रेल से जाने के लिए सरकार की ओर से रुकावटें डाली जाती हैं और वहाँ के लिए टिकट बन्द कर दिये जाते हैं, पर अर्द्धकुम्भ लोग पैदल या दूसरी सवारियों से किसी न किसी तरह पहुँच ही जाते हैं और उन में पूरी भीड़ हो जाती है। अगले वैशाख में हरिद्वार का अर्द्धकुम्भ है। वहाँ जाने के लिए टिकट बन्द करने की घोषणा तो हो ही गयी है, साथ ही एक ओर अड़झा लगाया गया है। युक्तप्रान्तीय सरकार की एक विज्ञप्ति में कहा गया है कि “कुम्भमेले के अवसरों पर हरिद्वार में हैजा बहुत फैलता है। आजकल युद्ध के दिनों में पर्याप्त चिकित्सकों, औषधों तथा उपचार के अन्य साधनों का प्रबन्ध नहीं हो सकता, इसलिए मेले में जानेवाले सभी लोगों को हैजा का टीका लगवाना होगा। जो ऐसा नहीं करेंगे, उन्हें रेल, पैदल, गाड़ी या अन्य किसी तरह मेले के १० मील क्षेत्र में घुसने नहीं दिया जायगा। जिन को टीका लगेगा, उन्हें एक प्रमाणपत्र मिलेगा, जिस के दिखलाने पर ही वे मेलाक्षेत्र में रहने के अधिकारी होंगे। ३० अप्रैल से ६ महीने पूर्व तक टीका लगा होने से काम चल जायगा। जिन को नहीं लगा है, वे वहीं लगवा सकते हैं। सैनिकों तथा तीन वर्ष तक के बच्चों पर यह नियम लागू न होगा।” क्या सैनिकों से हैजा भी डरता है, जो उन के लिए यह नियम नहीं रखा गया? उन की रक्षा की तो और भी आवश्यकता है। इन मेलों में कितने साधू, संन्यासी, महात्मा जाते हैं, क्या वे टीका लगवाना स्वीकार करेंगे? इन मेलों में एक भारी संख्या बच्चों की होती है, उन की क्या दशा होगी? कुछ लोग किसी प्रकार का टीका लगवाना पसन्द नहीं करते। टीका हैजे की अमोघ चिकित्सा है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। फिर लोगों को बेकार तङ्ग करने का यह उपाय क्यों सोचा गया? यदि स्थान, खान-पान, सामग्री की शुद्धता का ध्यान रखा जाय, तो हैजे का प्रकोप न होगा। पर सरकार को अपना यह कर्तव्य तो सुझता नहीं, उपाय ऐसा मिलता है, जिस से साधारण लोग परेशान होंगे और स्वास्थ्यविभाग के कर्मचारियों की जेबें घूस से भरेंगी। क्या गवर्नर के सरकारी सलाहकार उन्हें यह बात भी नहीं समझा सकते? धार्मिक जनता को भी इस का विरोध करना चाहिए, नहीं तो उसी को भुगतना पड़ेगा।

सुधारक भी विरोधी

‘हिन्दू कोड’ का विरोध अब ऐसे लोग भी कर रहे हैं, जिन की गणना सुधारकों में है। गताङ्क में हम सर चिमनलाल शीतलवाड़ तथा सर वरदा-चारी का मत दे चुके हैं। ‘रावकुमेटी’ के सामने बम्बई के भूतपूर्व मन्त्री तथा कांग्रेसी नेता श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने भी कोड का विरोध किया। यद्यपि आप एकविवाह तथा तलाक के किसी विशेष कारणवश पक्ष में हैं, तथापि आप का कहना है कि “स्मृति और शास्त्रों का विधान बदलकर सुविचारित हिन्दू कोड बनाने नये के लिए यह उपयुक्त समय नहीं है। प्रस्तावित कानून द्वारा हिन्दूकानून के आधारभूत सिद्धान्त का हनन हो जायगा। उत्तराधिकार, संयुक्त परिवार में संयुक्त अधिकार और पति के परिवार में पत्नी के पूर्णतः मिल जाने की प्रणाली का अन्त हो जायगा।” युक्तप्रान्त के ऐडवोकेट जनरल श्रीनारायणप्रसाद अष्टाना ने बरेली के एक वक्तव्य में कोड पर अपना बड़ा क्षोभ प्रकट किया। आप ने कहा कि यदि यह पास हो गया, तो हिन्दूसमाज नष्ट हो जायगा और यह आशा प्रकट की कि देशभर में इस का घोर विरोध किया जायगा। क्या इन मतों से भी कुमेटी की आँखें न खुलेंगी? पर वह तो अब जान-बूझकर अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रही है। अपने दौरे का क्रम प्रकाशित करने तक का उसे साहस नहीं हो रहा है। पत्रों में प्रकाशित किया गया था कि वह अभी मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, इलाहाबाद तथा लाहौर केवल इन पाँच स्थानों को जायगी। पर अब पता लगा है कि वह बम्बई से पूने पहुँच गयी। इस की सूचना क्यों नहीं प्रकाशित की गयी?

श्रीभगवतीतत्त्व

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

१

चिति और उस का प्राकट्य

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक प्रपञ्च की अधिष्ठानभूता सच्चिदानन्दरूपा भगवती ही सम्पूर्ण विश्व को सत्ता, स्फूर्ति तथा सरसता प्रदान करती है। विश्व प्रपञ्च उन्हीं में उत्पन्न होता है, स्थित होता है, अन्त में उन्हीं में लीन हो जाता है। जैसे दर्पण में आकाश-मण्डल, मेघमण्डल, सूर्य-चन्द्र-मण्डल, नक्षत्र-मण्डल, मूषर, सागरादि प्रपञ्च प्रतीत होता है, दर्पण को स्पर्श करके देखा जाय, तो वास्तव में कुछ भी नहीं उपलब्ध होता, वैसे ही सदानन्दस्वरूपा महाचिति भगवती में सम्पूर्ण विश्व भासित होता है। जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब का भान नहीं होता, दर्पण के उपलम्भ में ही प्रतिबिम्ब का उपलम्भ होता है, वैसे ही अखण्ड, नित्य, निर्विकार महाचिति में ही, उस के अस्तित्व में ही, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयादि विश्व उपलब्ध होता है। भान न होने पर भास्य के उपलम्भ की आशा ही नहीं की जा सकती। सामान्य रूप से तो यह बात सर्वमान्य है कि प्रमाणाधीन ही किसी भी प्रमेय की मिथि होती है, अतः सम्पूर्ण प्रमेय प्रमाणकबलित ही उपलब्ध होता है। प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय ये अन्योन्य की अपेक्षा रखते हैं। प्रमाण का विषय होने से ही कोई वस्तु प्रमेय हो सकती है। प्रमेय को विषय करनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति प्रमाण कहला सकती है। प्रमेयविषयक प्रमाण का आश्रय अन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता कहलाता है। प्रमात्राश्रित प्रमेयाकार वृत्ति ही प्रमाण कहा जाता है। परन्तु इन सब की उत्पत्ति, स्थिति, गति का भासक नित्य बोध आत्मा है। वही साक्षी एवं वही ब्रह्म कहलाता है। यद्यपि वह स्त्री, पुमान् अथवा नपुंसक नहीं है, तथापि चिति, भगवती आदि स्त्रीवाचक शब्दों से, आत्मा, पुरुष आदि पुम्बोधक शब्दों से, ब्रह्म, ज्ञान आदि नपुंसक शब्दों से व्यवहृत होता है। वस्तुतः स्त्री, पुमान्, नपुंसक इन सब से पृथक् होने पर भी तात्क तात्क शरीरसम्बन्ध से या वस्तुसम्बन्ध से वही अचिन्त्य, अव्यक्त, स्व-प्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूपा महाचिति भगवती ही आत्मा, पुरुष, ब्रह्म आदि शब्दों से भी व्यवहृत होती है। मायाशक्ति का आश्रयण करके वही त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम, गणपति, सूर्य आदि रूप में भी प्रकट होती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण त्रिशरीररूप त्रिपुर के भीतर रहनेवाली सर्वसाक्षिणी चिति ही त्रिपुरसुन्दरी है। उसी माया-विशिष्ट तत्व के जैसे राम-कृष्णादि अन्यान्य अवतार होते हैं, वैसे ही महा-लक्ष्मी, महासास्वती, महागौरी आदि अवतार होते हैं। यद्यपि श्रीभगवती नित्य ही है, तथापि देवताओं के कार्य के लिए वह समय समय पर अनेक रूप में प्रकट होती है। वह जगन्मूर्ति भगवती नित्य ही है, उसी से चराचर प्रपञ्च व्याप्त है, तथापि उस की उत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है। देवताओं के कार्य के लिए जब वह प्रकट होती है, तब वह नित्य होने पर भी उत्पन्न हुई कही जाती है—“नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तथा सर्वमिदं ततम्। तथापि तत्समुत्पत्तिर्विदुधा श्रूयतां मम ॥ देवानां कार्यसिद्धयर्थमा-विर्भवति सा यदा। उत्पन्नेति तदा लोके सा निर्याप्यभिधीयते ॥”

माया की उपास्यता

कुछ लोगों का कहना है कि “शास्त्रों में मायारूपा भगवती की ही उपासना कही गयी है, माया वेदान्त-सिद्धान्तानुसार मिथ्याभूत है, मुक्ति में उस की अनुगति नहीं हो सकती, अतः भगवती की उपासना अभ्रक्ष्य है। ‘तापनीय’ में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि नारसिंही माया ही सब प्रपञ्च की सृष्टि करती है, वही सब की रक्षा करती है, वही सब का संहार करती है, उसी मायाशक्ति को जानना चाहिए। जो उसे जानता है, वह मृत्यु को तरता है, पाप्मा को तरता है, अमृतत्व एवं महती श्री को प्राप्त करता है—“माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति, सर्वमिदं रक्षति, सर्वमिदं संहरति, तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य एतां मायां शक्तिं वेद, स मृत्युं जयति, स पाप्मानं तरति, सोऽमृतत्वं गच्छति, महतीं श्रियमश्नुते।” आप वैष्णवी शक्ति अनन्तवीर्या एवं विश्व की बीजभूता माया है—“त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमसि माया।” इत्यादि वचनों से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मायारूपा ही भगवती है। उसी की उपासना

का तत्र तत्र स्थानों में विधान है। माया स्वयं जडा है इत्यादि-इत्यादि।" परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह सब निम्नलिखित प्रमाणों से विरुद्ध है। "सर्वे देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवी, साववीदहं ब्रह्मरूपिणी, अतः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्" (देव्ययवर्गिण) अर्थात् देवताओं ने देवी का उपस्थान करके उस से प्रश्न किया कि 'आप कौन हैं ?' देवी ने कहा—'मैं ब्रह्म हूँ, मुझ से ही प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् उत्पन्न होता है।' "अथ ह्येनां ब्रह्मरूपेण ब्रह्मरूपिणीमाप्नोति, सुवनाधीश्वरी तुष्ट्यातीता" (सुवनेश्वर्युपनिषद्), "स्वात्मैव ललिता" (भावनोपनिषद्) इत्यादि वचनों से तुष्ट्यातीत ब्रह्मात्मस्वरूपा ही भगवती है यह स्पष्ट है। 'त्रिपुरातापनीय', 'सुन्दरीतापनीयादि' उपनिषदों में 'परोरजसे' इत्यादि गायत्री के चतुर्थ चरण से प्रतिपाद्य ब्रह्म के वाचक रूप से 'ह्रीं' बीज को बतलाया है। 'काली', 'तारोपनिषदों' में भी ब्रह्मरूपिणी भगवती की ही उपासना प्रतिपादित है। "अतः संसारनाशाय साक्षिणीमात्मरूपिणीमाराधयेत् परां शक्तिं प्रपञ्चोल्लासवर्जिताम्" (सूतसंहिता) अर्थात् संसारनिवृत्ति के लिए प्रपञ्चस्फुरणशून्य, सर्वसाक्षिणी, आत्मरूपिणी, पराशक्ति की ही आराधना करनी चाहिए। "परा तु सच्चिदानन्दरूपिणी जगदम्बिका। सर्वाधिष्ठानरूपा स्याज्जगद्धान्तिश्चिदात्मनि" (स्कान्द) अर्थात् सच्चिदानन्दरूपिणी परा जगदम्बिका ही विश्व की अधिष्ठानभूता है, उन्हीं चिदात्मस्वरूपा भगवती में ही जगत् की भ्रान्ति होती है। "सर्ववेदान्तवेदेषु निश्चितं ब्रह्मावादिभिः। एकं सर्वगतं सूक्ष्मं कूटस्थमचलं ध्रुवम्। योगिनस्तत्प्रपश्यन्ति महादेव्याः परं पदम्। परात्परतरं तत्वं शाश्वतं शिवमच्युतम्। अनन्तं प्रकृतौ लीनं देव्यास्तत्परमं पदम्। शुभ्रं निरञ्जनं शुद्धं निर्गुणं दैन्यवर्जितम्। आत्मोपलब्धिषयं देव्यास्तत्परमं पदम्।" (कूर्म पुराण) इत्यादि वचनों से निर्विकार, अनन्त, अच्युत, निरञ्जन, निर्गुण ब्रह्म ही को भगवती का वास्तविक स्वरूप बतलाया गया है। 'देवी भागवत' में भी कहा है कि "निर्गुणा सगुणा चेत् द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः। सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः।" अर्थात् निर्गुणा-सगुणा दो प्रकार की भगवती हैं, रागिजनों को सगुणा सेव्या हैं, विरागियों को निर्गुणा सेव्या हैं। 'ब्रह्माण्ड पुराण' के 'ललितोपाख्यान' में भी कहा है—"चित्तिस्तत्पदलक्ष्यार्थं चिदेकर-सरूपिणी।" अर्थात् चिदेकरसरूपिणी चित् ही तत्पद की लक्ष्यार्थस्वरूपा है। कहा जा सकता है कि "फिर तो ब्रह्मस्वरूपताबोधक वचनों से भगवती के मायात्वबोधक वचनों का विरोध अवश्य होगा।" परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वेदान्त में माया को मिथ्या कहा गया है। मिथ्या पदार्थ अधिष्ठान में कल्पित होता है। अधिष्ठानसत्ता से अतिरिक्त कल्पित की सत्ता नहीं हुआ करती। माया में अधिष्ठान की ही सत्ता का प्रवेश रहता है, अतः मायास्वरूप की उपासना से भी सत्तास्वरूप ब्रह्म की ही उपासना होगी। इस आशय से मायास्वरूपत्वबोधक वचनों का भी कोई विरोध नहीं है। जैसे ब्रह्म की उपासना में भी केवल ब्रह्म की उपासना नहीं होती, किन्तु शक्तिविशिष्ट ही ब्रह्म की उपासना होती है, क्योंकि ब्रह्म से पृथक् होकर शक्ति नहीं रह सकती और केवल ब्रह्म की उपासना हो नहीं सकती, वैसे ही केवल माया की भी उपासना सम्भव नहीं हो सकती। केवल माया की स्थिति ही नहीं बन सकती, फिर उपासना तो दूर रही। अधिष्ठानभूत ब्रह्म से युक्त होकर ही माया रहती है, अतः भगवती की मायारूपता वर्णन करने पर भी फलतः ब्रह्मरूपता ही सिद्ध होती है। "पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः। चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा भ्रुवा ॥" अर्थात् जैसे पावक में उष्णता रहती है, सूर्य में किरण रहती है, चन्द्रमा में चन्द्रिका रहती है, वैसे ही शिव में उस की सहजा शक्ति रहती है। इस तरह शिवस्वरूपभूता शक्ति के रूप में भगवती का वर्णन मिलता है। जैसे अग्नि में होम करने पर भी अग्नि-शक्ति में होम समझा जाता है, वैसे ही अग्निशक्ति में होम करने से भी अग्नि में होम समझा जाता है। इसी तरह माया को भगवती कहने पर भी ब्रह्म को भगवती समझा जा सकता है, अतः ब्रह्म की ही उपासना समझनी चाहिए। जो वाक्य माया को मिथ्या प्रतिपादन करते हैं, उन में तो केवल माया का ही ग्रहण होता है, क्योंकि ब्रह्म का मिथ्यात्व नहीं है, वह तो त्रिकालाबाध्य, सत्स्वरूप अधिष्ठान है। उपास्य मायापदार्थान्तर्गत ब्रह्मांश मोक्षदशा में भी अस्तित्व में रहेगा, अतः मुक्ति में उपास्यस्वरूप का त्याग भी नहीं होगा। 'अन्तर्यामिब्राह्मण' में प्रतीति से लेकर मायापर्यन्त

सभी पदार्थों को चेतनसम्बन्ध से देवता बतलाया गया है, "सर्वे खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति के अनुसार भी सब कुछ ब्रह्म ही है ऐसा कहा गया है। 'सूतसंहिता' में कहा है—"चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः। अनुप्रविष्टा या संवित्त्रिविकल्पा स्वयंप्रभा ॥ सदाकारा सदानन्दा संसारोच्छेदकारिणी। सशिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिव-ह्वरी ॥" अर्थात् चिन्मात्र परब्रह्म के आश्रित रहनेवाली माया के शक्त्याकार में अनुप्रविष्ट स्वयंप्रभा, निर्विकल्पा, सदाकारा, सदानन्दा, संविद ही शिवाभिन्न शिवस्वरूपा परमा देवी है अथवा भगवतीस्वरूपप्रतिपादक वाक्यों में जो माया, शक्ति, कला आदि शब्द हैं, वे सब लक्षणा से मायाविशिष्ट, कलाविशिष्ट ब्रह्म के बोधक समझने चाहिए। तथान्व मायाविशिष्ट ब्रह्म ही 'भगवती' शब्द का अर्थ है। यही बात शिव ने कही थी—"नाहं सुसुखि मायाया उपास्यत्वं ब्रुवे क्वचित्। मायाधिष्ठानचैतन्यमुपास्यत्वेन कीर्तितम्। मायाशक्त्यादिशब्दाश्च विशिष्टस्यैव लक्षकाः। तस्मान्माया-दिशब्दैस्तद्ब्रह्मैवोपास्यमुच्यते ॥" यहाँ एक पक्ष में केवल चैतन्य ही मायादि शब्दों से उपास्य कहा गया है, द्वितीय पक्ष में मायाविशिष्ट ब्रह्म मायादि शब्द से कहा गया है। साकार देवताविग्रह सर्वत्र ही शक्तिविशिष्ट ब्रह्मरूप से ही उपास्य होता है। भगवतीविग्रह में भी भाषण, दर्शन, अनुकम्पा आदि व्यवहार रेखा हो जाता है, फिर उस में जडत्व की कल्पना किस तरह की जा सकती है ?

धर्मसङ्घ समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

१ रुद्रमहायज्ञ—ग्राम खिरिया, जि० फर्रुखाबाद में श्रीसनातनधर्म विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री 'विद्यारत्न' के तत्वावधान में माघ शुक्ल ९ से उक्त यज्ञ हुआ। माघी पूर्णिमा को पूर्णाहुति हुई।—श्रीजुगलाल व्यास। २ अखण्ड सङ्कीर्तन—देवसदन, रामपुर-बाजार, जौनपुर—श्रीगदाधर संस्कृत विद्यालय के अध्यक्ष सूचित करते हैं कि श्रीशीतलाप्रसाद साहु के प्रयत्न से गत माघ शुक्ल ११ को अखण्ड सङ्कीर्तन सम्मेलन बड़े समारोह से हुआ। ३ विन्ध्यक्षेत्र—माघ शुक्ल १५, आज लक्षवण्डी महायज्ञसमिति की विशेष बैठक हुई। माघ माघ में ३०६ पाठ हुए।—श्री पं० शिवशरण मिश्र (मन्त्री)।

नवीन शाखाएँ—

१ नया भोजपुर (आरा)—३१ जनवरी, ब्रह्मचारी श्रीविजयानन्द जी पर्वत (अध्यक्ष), श्री पं० भगवती पाण्डेय वैद्य (उपाध्यक्ष), डाक्टर श्रीनन्दजीप्रसाद गुप्त एम्. डी. (मन्त्री), पं० श्रीनारायण पाण्डेय (उपमन्त्री), श्रीजगदानन्द पाण्डेय (प्रचारमन्त्री), श्रीशम्भुनाथ 'आर्य' (कोषाध्यक्ष)। २ प्रतापगढ़ सदर (अवध)—२२ जनवरी, रा० व० पं० श्यामबिहारी मिश्र (अध्यक्ष), श्री पं० उदयराजजी वैद्य (मन्त्री), श्रीनागेशदत्त मिश्र (संस्थापक)। ३ बाबूपुर, (इलाहाबाद)—श्रीमद्विहारी तिवारी (अध्यक्ष), श्री पं० गयाप्रसादजी शुक्ल (मन्त्री)। ४ गोसाईं का पुरवा (मदरी राज्य), पो० डिगवस, जि० प्रतापगढ़ (अवध)—श्रीमाधवप्रसाद त्रिपाठी (अध्यक्ष), श्री पं० विद्वनाथ मिश्र (मन्त्री)। ५ बेल्हा (कालाकांकर राज्य), पो० जालगञ्ज, जि० प्रतापगढ़ (अवध)—श्रीशमशेरबहादुरसिंहजी (अध्यक्ष), श्रीपरमेश्वरदयालजी (मन्त्री)। ६ पूरे बीरवल (डिगवस राज्य), पो० डिगवस, जि० प्रतापगढ़ (अवध)—श्री पं० अनन्तराम शुक्ल शास्त्री (अध्यक्ष), श्री पं० वासुदेव मिश्र (मन्त्री)।

'हिन्दू-कोड'-विरोध

१ बेसवा (अलीगढ़)—२२ दिसम्बर को शहर में विरोध-प्रदर्शन किया गया। २३ दिसम्बर को श्रीगोकुलचन्द्रमाजी के मन्दिर में पं० दुर्गाप्रसादजी की अध्यक्षता में सभा की गयी। ह० १६६। २ तरसारा (अलीगढ़)—ह० १५। ३ ठूकनी तथा सुहरिया (अलीगढ़)—ह० १५, श्रीविश्वदेव उपाध्याय। ४ बेसवाँ (अलीगढ़)—३१ दिस०, ह० १२५, श्रीविश्वदेव उपाध्याय। ५ कसडोल, जि० रायपुर (मध्यप्रान्त)—३१ दिस०, ह० १००० से अधिक, श्रीधुनन्दनप्रसाद मिश्र मालगुजार। ६ चौबारा, तह० लैरिया, जि० मुजफ्फरगढ़—ह० १०१, श्रीमहेश्वरदास।

शास्त्री । ७ श्रीसनातनधर्मसभा तथा कन्या विद्यालय, रामबाग गाड़ी-काता, करांची—२७ जन०, तार तथा विरोध-प्रस्ताव भेजे गये।—प्रधान मन्त्री । ८ बम्बई—विगत मङ्गलवार को कोड के विरोध में माधवबाग में हुई एक विराट् सभा में जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीअभिनवसत्त्वदानन्द तीर्थजी ने अपने भाषण में कहा कि “सनातनधर्म तथा उस के शास्त्र किसी मनुष्य की रचना नहीं है और उन में परिवर्तन करने का अधिकार साधारण मनुष्यों एवं राज्य को भी नहीं है। वेद अपौरुषेय हैं और उन्हीं के आधार पर दिव्यदृष्टिसम्पन्न ऋषि-मुनियों द्वारा निर्मित स्मृति आदि शास्त्र ही हिन्दुओं को मान्य हैं। नये कोड से हिन्दूसमाज की एकता होने की नहीं, किन्तु उस के छिन्न-भिन्न हो जाने की ही सम्भावना है, अतः उस का विरोध किया जाना उचित है।” कोड के विरोध में श्रीदूरकालजी के द्वारा किये जाते उपवास के सम्बन्ध में आप ने कहा—“इस से दैवी उपचार करने की आवश्यकता की सूचना भी समाज को मिल गयी है। हिन्दू भाई ही ऐसे कानून की हिमायत करें, यह शोचनीय परिस्थिति पाश्चात्य शिक्षा के कारण उपस्थित हुई है। इस का हिन्दूसमाज को पूर्णरूप से सामना करना पड़ेगा।” ‘रावकमेटी’ के सामने गवाही देते हुए बम्बई में प्रा० व० स्व० सं० के मन्त्री श्रीमनुभाई पण्ड्या ने समूचे कोड का विरोध करते हुए कहा—“हमारे धार्मिक नियमों में परिवर्तन करने का राजा को भी अधिकार नहीं है। हम सनातनी हिन्दुओं ने इस नये कोड की माँग कभी नहीं की है, हम इसे नहीं चाहते। चाहे जब, चाहे जिन मनुष्यों से परिवर्तन किया जा सकेवाला हिन्दूकानून बना देने से हिन्दू-समाज की एकता और परम्परा के विच्छिन्न हो जाने की सम्भावना है।” कमेटी के एक सदस्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए आप ने कहा कि “हिन्दूस्त्रियों का विधर्मी हो जाना इष्ट नहीं है, किन्तु उन के लिए धर्म के आदर्श और विवाहसम्बन्धी उच्च भावना को नष्ट कर देना हिन्दूलोग पसन्द नहीं करते।” ९ बङ्गप्रान्तीय सर्वदल-सम्मेलन, कलकत्ता—२७ जनवरी, स्थानीय सत्यनारायण पार्क में श्रीसेठ गोविन्दलाल जो बांगड़ की अध्यक्षता में ‘हिन्दूकोड’ के विरोध में उक्त सम्मेलन हुआ। बाबू रामनारायणजी ने स्वागतभाषण पढ़ा। पं० निवारणचन्द्र दत्त, श्रीईश्वर-दासजी जालान, बाबू गौरीशङ्करजी गोयनका, श्रीमती अनुरूपा देवी, श्रीमती रतनबाई जेठो, श्री पं० जीव न्यायतीर्थ एम्. ए., बाबू रामदेवजी चोखानी, पं० चन्द्रमणिजी, बाबू श्रीनिवासजी पोद्दार, म० म० पं० दुर्गाचरणजी सांख्यतीर्थ, श्रीमंगतूरामजी जैपुरिया, ‘लोकमान्य’ के सञ्चालक श्री पं० रामशङ्करजी त्रिपाठी, श्रीनन्दलाल शास्त्री एम्. ए., एल्. एल्. बी., बाबू छोटेलालजी कानोडिया आदि ने अपने भाषण में ‘कोड’ का तीव्र विरोध प्रकट किया। ‘कोड’ को रद्द कर ‘रावकमेटी’ तोड़ देने का एक प्रस्ताव द्वारा भारतसरकार से अनुरोध किया गया। अन्य दो प्रस्ताव द्वारा ‘सगोत्र विवाहविल’ का विरोध और आष्टी-चिमूर हत्याकाण्ड के अपराधियों को जीवनदान के लिए सरकार से प्रार्थना की गयी।

साधारण समाचार

१ श्रीसनातनधर्म सभा धुधली (गोरखपुर) का ७वां वार्षिकोत्सव १७ फरवरी से ३ दिन तक होगा।—श्रीबलदेवप्रसाद शर्मा (मन्त्री) । २ बङ्गप्रान्तीय धर्मसंघ चतुर्थ महाधिवेशन, कलकत्ता—२८ जनवरी। स्थानीय सत्यनारायण पार्क में एक विशाल सुसज्जित पण्डाल में श्री पं० नन्दलालजी शास्त्री एम्. ए., एल्. एल्. बी. के सभापतित्व में उक्त अधिवेशन हुआ। प्रान्तीय धर्मसंघ के प्रधान मन्त्री बाबू छोटेलालजी कानोडिया ने वार्षिक विवरण पढ़ा। सभापति के अभिभाषण के अतिरिक्त श्री० पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, श्रीजीव न्यायतीर्थ एम्. ए., श्रीगौरीशङ्कर जी गोयनका, बाबू रामरक्षपालजी झुनझुनवाला, श्रीबैजनाथजी बाजोरिया एम्. एल्. ए., श्रीहरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य, श्रीश्रीनिवासजी पोद्दार, पं० श्रीनाथजी शास्त्री, श्रीस्वामी विश्वानन्दजी आदि के प्रस्तावों पर प्रभाव-शाली भाषण हुए। विश्वकल्याणार्थ प्रतिदिन सङ्घ के सङ्कल्प से जप के लिए अनुरोध, सन्ध्यावन्दन, बलि-वैश्वदेव, अतिथि-सत्कारादि नित्य-नैमित्तिक कर्मका आचरण, संस्कार, व्यायामादि का प्रचार, बङ्गाल के प्रत्येक जिले, ग्राम आदि में सङ्घ के शाखास्थापन की आवश्यकता, पाकिस्तान-विरोध, निजामसरकार द्वारा बरार प्रान्त हस्तगत करने के प्रयत्न की निन्दा, ‘हिन्दूकोड’-विरोध, आबू पर खुलनेवाले बूढ़खाने की योजना रद्द करने के लिए सरकार से अनुरोध आदि विषयों पर सर्वसम्मति से अनेक प्रस्ताव

स्वीकृत किये गये। ३ काशी—माघ शुक्ल १५, स्थानीय अपारनाथ मठ में श्री पं० बालबोधजी मिश्र के सभापतित्व में संन्यासि संस्कृत कालेज की वाक्प्रवर्द्धिनी सभा का वार्षिकोत्सव हुआ। साथ ही लघुखण्ड, वेदपाठ, सत्यनारायण-कथा, विद्वानों के व्याख्यान, भण्डारा, पुस्तकवितरण आदि कार्य हुए।—मन्त्री । ४ धरिया साथ (आजमगढ़)—माघ पूर्णिमा, श्री पं० यदुनन्दनजी दीक्षित की अध्यक्षता में धर्मसङ्घ शाखा का वार्षिकधिवेशन हुआ। धर्मसङ्घ पर विश्वास प्रकट करते हुए उस के चतुर्थ महाधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव दुहराये गये। श्री पं० सूर्यनाथ पाण्डेय-वृकोल, श्रीकामता राय, ठा० नामवरसिंह, श्रीआत्मबोधानन्द गिरि, श्रीचिन्तामणि दीक्षित आदि के भाषण हुए। ५ नवसेमर (आजमगढ़)—फा० कृ० १ सोम, श्रीस्वामी आत्मबोधानन्द गिरि के सभापतित्व में सङ्घ की सभा हुई। पं० रामबलीजी, श्री पं० यदुनन्दनजी दीक्षित आदि के व्याख्यान हुए। ६ खरगजेपुर—माघ शुक्ल ८ रवि, स्थानीय शाखासभा का अधिवेशन पं० जोकतबन्धनजी की अध्यक्षता में हुआ। कई विद्वानों के भाषण हुए।—श्री पं० यदुनन्दनजी दीक्षित।

ढिंगवस में श्रीस्वामी करपात्रीजी—२५ जनवरी, श्रीस्वामीजी ने जेठवारा से प्रातःकाल ढिंगवस राज्य की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में श्रीढिंगवस-नरेश के अनुरोध से डेरवा बाजार में ठाकुर जगदीपसिंहजी जिलेदार के सत्प्रयत्न से खोली जानेवाली एक संस्कृत पाठशाला का आप ने उद्घाटन करके वहाँ प्रवचन भी किया। डेरवा (राज्य भदरी) की जनता ने श्रीस्वामीजी के स्वागत में फूल-पत्तियों से तीन सुन्दर द्वारों का निर्माण किया था। डेरवा से ढिंगवस जाते हुए मार्ग में श्रीलाल साहव चौरास ने श्रीस्वामीजी का स्वागत किया। तत्पश्चात् श्रीस्वामीजी ने ढिंगवस राज्य की सीमा में प्रवेश किया। लगभग दो मील के मार्ग में ढिंगवस राज्य की जनता की ओर से श्रीकृष्ण, गोविन्द आदि भगवन्नाम-सम्बन्धी ११ सुन्दर द्वारों की रचना की गयी थी। प्रत्येक द्वार पर आप का स्वागत हुआ। ढिंगवस-नरेश ने श्रीस्वामीजी का राज्य की ओर से स्वागत करते हुए पुष्पमाला पहनायी। मिडिल स्कूल के स्काउटों ने स्वामीजी का ‘गार्ड ऑफ आनर’ किया। श्रीढिंगवस-नरेश एवं लगभग पाँच छः सहस्र जनता के साथ स्वामीजी राजद्वार पर पधारे। धर्मसंघ के जयकारों से जनता ने स्वामीजी को निवास-कुञ्ज तक पहुँचाया। ३ बजे अपराह्न को राजमहल में राज-रानी महोदया के आयोजित लगभग ५०० से अधिक महिला-समाज में श्रीस्वामीजी का राज-परिवार को महिलाओं के साथ श्रीमती रानीसाहिबा ने पूजन किया। आयुष्मती राजदुलारी महोदया ने कीर्तन कराया। महिला-समाजद्वारा अनुरोध किये जाने पर श्रीस्वामीजी का लगभग १ घण्टे तक पातिव्रत धर्म, बालशिक्षण, भगवद्भजन, गार्हस्थ्य-धर्म तथा रामायण-माठ आदि पर प्रवचन हुआ। फिर महिला-सम्मेलन ने हिन्दू-कोड-विरोधी प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास करके श्रीमान् वाईसराय महोदय को सेवा में भेजने का निश्चय किया। चार बजे लगभग ३ सहस्र जनता की सुसज्जित विराट् सभा में श्रीस्वामीजी पधारे। धर्मसंघ के नियमानुसार ईशवन्दना, कीर्तन आदि के पश्चात् नागेशदत्त मन्त्री धर्मसंघ शाखा ढिंगवस ने राज्य भर में सङ्गठित धर्मसङ्घ शाखाओं का वर्णन किया। श्रीढिंगवस-नरेश ने अपने भाषण में श्रीस्वामीजी की अपार कृपा को जिले का तथा राज्य का सौभाग्य बतलाते हुए आजीवन धर्मसङ्घ की सेवा करते रहने की प्रतिज्ञा की और प्रजा से श्री अनुरोध किया। कुछ मिडिल स्कूल के प्रधानाध्यापक पं० देवीशरणजी शुक्ल तथा कुण्डा के एस्. डी. ओ. श्रीगुणदत्तसिंहजी ठाकुर का भाषण हुआ। इस के उपरान्त श्रीस्वामीजी का आशीर्वादात्मक प्रवचन हुआ, जिस में आने भगवान् रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक पर महाराज दशरथ द्वारा प्रजा से अनुमति लेने का उदाहरण देते हुए ढिंगवस राज्य के राजा-प्रजा के व्रत, सम्बन्ध और आस्तिकता को वर्तमान शासकवर्ग के लिए आदर्श बतलाया। धर्म ही परम कल्याण एवं परम स्वतन्त्रता का मार्ग है, अतएव नित्य-नैमित्तिक धर्माचरण, वर्णाश्रमधर्मानुसार संस्कारपद्धति, धर्मसंघशिक्षा-मण्डल-प्रणाली द्वारा सञ्चालित दस-दस गाँवों के मध्य संस्कृतविद्यालय के स्थापन आदि की आवश्यकता बतलाते हुए आप ने अपना प्रवचन समाप्त किया। २६ जनवरी को प्रातःकाल श्रीस्वामीजी ने यहाँ से सलबन होते हुए रायबरेली की ओर प्रस्थान किया।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

‘हिन्दूधर्मशास्त्र-सङ्ग्रह’

अभीतक ‘धर्मशास्त्र’ कहने पर हमारा ध्यान मनु, याज्ञवल्क्य आदि के ग्रन्थों की ओर जाता था, पर अब उस से ‘हिन्दू कोड’ को लेना पड़ेगा । यह हमारी कोरी कल्पना ही नहीं है, युक्तप्रान्तीय सरकार की ओर से ‘प्रस्तावित हिन्दू कोड’ का जो हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ, उस का नाम ही ‘हिन्दूधर्मशास्त्र-संग्रह’ है । इसी से निश्चित है कि अब हमें अपने मूल ‘धर्मशास्त्रों’ को रद्दी को, टोकरी में फेंककर ‘रावमण्डली रचित’ इस नवीन ‘हिन्दूधर्मशास्त्र’ का स्वाध्याय करना पड़ेगा । इस से एक बात और स्पष्ट हो जाती है । सरकार का दावा है कि वह धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती । इस धार्मिक तटस्थता-नीति की हर समय दुहाई दी जाती है । पर ‘धर्मशास्त्र’ रचकर भी क्या वह तटस्थ हो बनी रहेगी ? ऐसे कानून बनने पर प्रायः कहा जाता था कि ‘उत्तराधिकार, विवाह आदि का धर्म से क्या सम्बन्ध, वे तो ‘सामाजिक’ प्रश्न हैं । पर अब तो सरकार ने ‘कोड’ के अनुवाद का नाम ‘धर्मशास्त्र’ रखकर इन सब प्रश्नों को स्वयं ‘धर्म’ के अन्तर्गत मान लिया है । इस ‘धर्मशास्त्र-सङ्ग्रह’ की केवल ३०० प्रतियाँ छपायी गयी हैं । क्या सरकार समझती है कि इतने ही से प्रचार हो जायगा ? युद्ध-प्रचार-साहित्य छापने के लिए सरकार के पास कागज की कमी नहीं है, पर एक ऐसी चीज के, जिस का २० करोड़ हिन्दुओं के जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है, छापने के लिए उस के पास कागज का कहत पड़ गया है । इस ‘धर्मशास्त्र’ की एक एक प्रति हर एक गाँव में जानी चाहिए थी और शहरों में ऐसे विद्वानों को, जिन्हें अँगरेजी का ज्ञान नहीं है, मिलनी चाहिए थी । पर सरकार की सूचना निकल गयी है कि अब सब प्रतियाँ समाप्त हो गयी हैं । इसी से उसे सोचना चाहिए कि इस की कितनी माँग है । यह भी सूचना निकली है कि युक्तप्रान्त के मत देने की अवधि बढ़ाकर १५ फरवरी तक कर दी गयी है । पर यह सूचना प्रकाशित होती है तारीख ११ फरवरी के पत्रों में । इस से किसी को क्या लाभ होगा ? पहले ही सब कठिनाइयों को सोच-समझकर इतना समय लोगों को क्यों नहीं दिया जाता कि जिस में उन्हें अपना मत प्रकट करने में सुविधा हो ? इधर कमेटी का दौरा भी विचित्र ढङ्ग से हो रहा है । पूने से वह एकाएक दिल्ली पहुँच गयी और पत्रों में प्रकाशित सूचना के अनुसार वह तारीख १५ फरवरी को प्रयाग पहुँचने-वाली थी । इधर कमेटी की ओर से एक सज्जन को लिखा गया कि वह १५ तक दिल्ली रहेगी और बाद में प्रयाग पहुँचेगी । अब समाचार प्रकाशित हुआ है कि वह प्रयाग से पटना, वहाँ से मद्रास और मद्रास से नागपुर होते हुए लाहौर पहुँचेगी । इस में कलकत्ते का कहीं नाम ही नहीं है । क्या यह जनता को धोखा देना नहीं है ? उसे अपना विरोध-प्रदर्शन का अवसर क्यों नहीं दिया जाता ? क्या पदों में रहकर कमेटी लोकमत जानना चाहती है ? दिल्ली से लाहौर न जाकर मद्रास से फिर वहाँ दौड़ने में कितना व्यय पड़ेगा इस ओर कुछ ध्यान ही नहीं है । जहाँ तक हमें ज्ञात है युक्तप्रान्त में कमेटी केवल प्रयाग ही जायगी । दूर दूर के विभिन्न स्थानों से जिन लोगों ने कमेटी के सामने वक्तव्य देने को लिखा है, उन्हें यात्रा की कठिनाइयों को झेलते हुए प्रयाग दौड़ना पड़ेगा । कमेटी के लिए तो सरकार की ओर से ‘फर्स्ट क्लास’ का टिकट ‘रिजर्व’ होगा, गहरा भत्ता भी मिलेगा, पर गरीब विद्वानों को कहा जा रहा है कि अपनी जेब से खर्च करके आओ । यह कितना अन्याय है ? जो लोग संस्थाओं में कार्य करते हैं, उन के लिए छुट्टी का भी प्रश्न है । क्या कमेटी ने इन कठिनाइयों की ओर कुछ भी ध्यान दिया है ? वह केवल अँगरेजी में ही गवाहियाँ ले रही है या संस्कृत तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भी ? बम्बई से प्राप्त समाचार द्वारा ज्ञात होता है कि वहाँ संस्कृत या हिन्दी में गवाही लेने से उस ने इनकार कर दिया । यह भी बड़ी धींगा-

धींगी है । बनाने तो चली है वह ‘धर्मशास्त्र’, पर धर्मशास्त्रियों की ही वह बात सुनना नहीं चाहती, यदि उन्हें अँगरेजी भाषा जानने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है । यह सचमुच बड़ी उयादती है, लोकमत के समर्थन का ढोंग रचकर हमारे प्राचीन ‘धर्मशास्त्रों’ का अपमान किया जा रहा है । क्या हम इसे चुपचाप सहन कर लेंगे ? हमारा फिर हिन्दूजनता से अनुरोध है कि वह कमेटी तथा सरकार को अच्छी तरह दिखला दे कि वह इस ‘अधर्मशास्त्र’ को कभी स्वीकार न करेगी ।

वैदिक कहानियाँ

आधुनिक मनोविज्ञानसम्मत शिक्षापरिपाटी में कहानियों का स्थान महत्त्वपूर्ण समझा जाता है । उन के द्वारा जटिल व नीरस शिक्षणीय विषय को सरस और मनोरञ्जक किया जा सकता है और शिशुचित्त पर उन का स्थायी तथा प्रबल प्रभाव पड़ता है । केवल शिशुचित्त पर ही नहीं, अपितु प्राप्तवयस्कों के लिए भी वे रोचक और शिक्षाप्रद होती हैं । शिक्षा का विस्तार, नीति का प्रचार, धर्म का उपदेश प्रभृति सभी मानव-समाज-हितकर अनुष्ठान कथा-कहानियों के द्वारा होते रहते हैं । प्राचीन समय में भी समाज और देश की उन्नति के लिए कथा-कहानियों की उपयोगिता सर्वसम्मति से स्वीकृत थी । ‘पञ्चतन्त्र’, ‘हितोपदेश’ इत्यादि ग्रन्थों की रचना जन-कल्याण के उद्देश्य से ही हुई थी । हमारे इतिहास और पुराण धर्मशिक्षा-विस्तार में बड़ा भाग लेते चले आ रहे हैं । बौद्ध और जैन सम्प्रदाय में भी कथा का महत्त्व स्वीकृत है । बौद्धजातक तो कथाओं का कोष है । प्राचीन जैनो को कथाओं में बड़ी रुचि थी । कुछ विद्वानों का कथन है कि जैनलोग कहानी कहने में अप्रणो रहे हैं । वैदिक साहित्य में भी अनेक कहानियाँ यत्र-तत्र मिलती रहती हैं । परन्तु जैसा कि बौद्ध और जैनो ने कहानियों का सङ्ग्रह किया था अथवा जैसा कि उत्तरकाल में संस्कृत साहित्य में उन का सङ्ग्रह हुआ है, वैसा वैदिक कहानियों का सङ्ग्रह प्रचलित न होने से वैदिक उपाख्यानो के विषय में लोग प्रायः अनभिज्ञ रह गये । हमें हर्ष है कि ‘काशी हिन्दू विश्वविद्यालय’ संस्कृत-पाली विभाग के अध्यापक श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम. ए. साहित्याचार्य ने हाल ही में ‘वैदिक कहानियाँ’ निकालकर इस अभाव की कुछ पूर्ति की है । विद्वान् ग्रन्थकार के लेखों से हमारे पाठक परिचित ही हैं । हिन्दूजनता को ‘स्वस्थ’ रखने तथा उन्हें आत्मविस्मृति से बचाने के लिए सनातनधर्म के मूल वेदों से उन का परिचय कराना आवश्यक समझकर आप ने सरल एवं सरस भाषा में कहानियों का सङ्कलन किया है । प्रत्येक कहानी रोचक और स्फूर्तिदायक तो है ही, आप की शैली ने उसे सरस और मनोरञ्जक बनाकर उस की उपयोगितावृद्धि में अच्छी सहायता की है । लेखक की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में लोकसाहित्य का इतिहास और उस में वैदिक कथासाहित्य के स्थान के सम्बन्ध में गम्भीर आलोचना विद्यमान है, जो कि पुस्तक की उपादेयतावृद्धि करने में विशेष समर्थ है । यह पुस्तक एक ओर जैसे कथासाहित्य के प्रेमियों के लिए आदरणीय है, वैसे ही दूसरी ओर वैदिक धर्म के अनुयायियों के लिए सङ्प्राप्त है ।

श्रीभगवतीस्तव

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

२

माया की उपास्यता

विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, ब्रह्म, विष्णु, रुद्रादिकों के स्वरूप में एक एक गुणों की प्रधानता है, माया गुणत्रय की साम्यावस्थारूप है, वह केवल शुद्ध ब्रह्म के श्रान्ति है । मोयाविशिष्ट तुरीय ब्रह्म ही भगवती की उपासना में प्राप्त है, यह दिखलाने के लिए माया, प्रकृति आदि शब्दों से

कहीं कहीं भगवती को बोधित किया गया है। 'मैत्रायणी श्रुति' में कहा है—
 "तमो वा इदमेकमग्र आसीत् तत्परे स्यात्प रेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै
 रजः तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वम्।" इन वचनों से स्पष्ट कहा
 गया है कि तीनों गुणों की साम्यावस्थारूपा प्रकृति परब्रह्म में रहती है, उसी
 के अंश सत्त्वादि गुण हैं, तत्त्वगुणों से विशिष्ट ब्रह्म अंशभूत है, मूल प्रकृति-
 उपलक्षित ब्रह्म शुद्ध तुरीयस्वरूप ही है। "त्वं लौष्णवी शक्तिः" इत्यादि
 स्थलों में ब्रह्मरूपिणी भगवती का ही शक्तिरूप से वर्णन किया गया है।
 उपासनास्थल के अतिरिक्त माया आदि शब्दों से भी कहीं कहीं शक्ति का
 ही ग्रहण किया गया है अथवा यह समझना चाहिए कि जगत्कारण परब्रह्म
 माया-ब्रह्म उभयरूप है। कहीं मायोपसर्जन ब्रह्म की उपासना है। जहाँ ऐसा
 है, वहाँ शक्ति सहायभूता है—“तस्मात्सह तथा देवं हृदि पश्यन्ति ये
 शिवम्। तेषां शाश्वतिकी शान्तिर्नैतरेषां कदाचन” (शिवपु०)। कहीं
 पर ब्रह्मोपसर्जन माया की उपासना है। इसीलिए माया, प्रकृति आदि शब्दों से
 भगवती की उपासना का विधान मिलता है। यह पक्ष सर्वतन्त्रों को मान्य
 है। “शिवेन सहितार्थं देवीं भावयेद्भुवनेश्वरीम्” (भुवनेश्वरी पारिजात)।
 दोनों ही पक्ष में ब्रह्म का चिदंश ही उपासना में आता है। इसीलिए
 माया पर मुक्ति के अनन्वयी होने का या अग्रद्वेय होने का कोई भी दोष
 लागू नहीं होता।

यद्यपि “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि श्रुति के अनुसार सब कुछ
 चिन्मात्र ब्रह्म ही है, तथापि भक्तों के चित्तावलम्ब के लिए अनेक प्रकार के
 स्वरूपों का उपदेश किया गया है। मलिन, शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम आदि
 उपाधियों का उपदेश किया गया है। जैसे पात्र, मणि, कृपाण, दर्पणादि में शुद्धि
 के तारतम्य से प्रतिबिम्ब-प्रतिफलन में तारतम्य होता है, वैसे ही उपाधियों
 के तारतम्य से ब्रह्म के प्रसाद, प्राकट्य में भी तारतम्य होता है। इसी
 अभिप्राय से विभूतियों की उत्कृष्टता, उत्कृष्टतरता आदि का व्यवहार शास्त्रों
 में प्रसिद्ध है। एक एक गुणों की अपेक्षा गुणों की साम्यावस्था उत्कृष्ट है।
 इसीलिए भगवती की उपासना परमोत्कृष्ट है। इस के अतिरिक्त ब्रह्म का
 प्रथम सम्बन्ध माया के ही साथ है। गुणों का सम्बन्ध मायाद्वारा ही है।
 इसीलिए साम्यावस्था में ब्रह्म का अव्यवहित सम्बन्ध है। अतएव “सूत-
 संहिता” में कहा गया है—“परतत्त्वप्रकाशस्तु रुद्रस्यैव महत्तरः।” फिर भी
 ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र ही समान है। इसीलिए सभी में परमकारणत्व का व्यपदेश
 सर्वत्र मिलता है। कामार्थी, मोक्षार्थी सभी के लिए भगवती की उपासना
 परमावश्यक है। वही ब्रह्मविद्या है, वही जगज्जननी है, उसी से सारा
 विश्व व्यस्य है, जो उस की पूजा नहीं करता, उस के पुण्य को माता भस्म
 कर देती है—“यो न पूजयते नित्यं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्। भस्मी-
 कृत्वास्य पुण्यानि निर्देहेतमपीश्वरी॥” ‘देवीभागवत’ के प्रथम ही मन्त्र में
 भगवती के सगुण-निगुण दोनों ही रूपों का संकेत इस प्रकार मिलता है—
 “सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्याञ्च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्”
 अर्थात् वह भगवती सर्वचैतन्यरूपा अर्थात् सर्वात्मस्वरूपा है, सब का
 प्रत्यक्षचैतन्य आत्मस्वरूप ब्रह्म वही है, वह स्वतः सर्वोपाधिनिर्पेक्ष तथा
 अखण्ड बोधस्वरूप आत्मा ही है। ब्रह्मविषयक शुद्धसत्त्वान्तर्मुख वृत्ति पर
 प्रतिबिम्बित होकर वही अनादि ब्रह्मविद्या है। एक ही शक्ति अन्तर्मुख होकर
 विद्यातत्त्वरूपिणी होती है, तदुपाधिक आत्मा ‘तुरीय’ कहलाता है। बाह्यमुख
 होकर वही ‘अविद्या’ कहलाती है, तदुपाधिक आत्मा ‘प्राज्ञ’ है। मायाशबल
 ब्रह्म ही ध्यान का विषय है, वही बुद्धिप्रेरक है। शाक्तागममतानुयायियों की
 दृष्टि से अत्यन्त अन्तर्मुख होकर शक्ति शिवस्वरूप ही रहती है। वेदान्त-
 दृष्टि से सर्वोपाधिनिर्मुक्त स्वप्रकाश चित्ति ही रहती है। वही परब्रह्म, आत्मा
 आदि शब्दों से लक्षित होती है।

शक्ति का खण्डन

भगवती का ही शक्तिस्वरूप से भी आराधन होता है। हर एक
 कार्य की उत्पादनानुकूल शक्ति उस के कारण में होती है। कार्य के अनन्त
 होने से वह शक्ति भी अनन्त है—“शक्तयः सर्वभावानामचित्स्थान-
 गोचराः।” शक्ति के सम्बन्ध में तार्किकों का कहना है कि कोई प्रमाण न
 होने से स्वरूपसहकारिमेलन के अतिरिक्त ‘शक्ति’ नाम का कोई पदार्थ नहीं
 है। स्फोटादिरूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति को शक्ति में प्रमाण नहीं कहा जा
 सकता, क्योंकि जब प्रतिबन्धकाभाव आदि सहकारी से सहकृत अग्न्यादि

के स्वरूप से ही स्फोटादिरूप कार्योत्पत्ति हो जाती है, तब अतीन्द्रिय शक्ति
 की कल्पना करना व्यर्थ है। अभाव की अकारणता होने से प्रतिबन्धका-
 भाव को सहकारी मानना ठीक नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता,
 क्योंकि अभाव को कारण मानने में न तो अन्यय-व्यतिरेकत्व में कोई
 बाधा पड़ती है, न किसी अनिष्ट की प्रसक्ति ही होती है। भाव की
 तरह अभाव का भी कार्य से अन्वय-व्यतिरेक दृष्ट है और अभाव की
 प्रमिति में योग्य की अनुलब्ध एवं विभ्रम में विवेकाग्रह की हेतुता
 भी स्पष्ट ही है। यदि कहा जाय कि क्या प्रतिबन्धक का प्रागभाव
 कारण है या उस का प्रध्वंसाभाव, तो दोनों की कारणता नहीं बनती,
 क्योंकि उत्तम्भक को प्रतिबन्धक के पास ले जाने पर प्रतिबन्धक के रहने
 पर भी प्रागभाव के बिना ही कार्योत्पत्ति देखी जाती है, अतः प्रागभाव
 को कारण नहीं कहा जा सकता। एवञ्च प्रतिबन्धक की अनुदय-दशा
 में भी अर्थात् उस का प्रागभाव रहने पर भी कार्योत्पत्ति होती है, अतः प्रध्वं-
 साभाव की भी कारणता नहीं कही जा सकती। परन्तु यह ठीक नहीं है,
 क्योंकि उत्तम्भक मणि, मन्त्र आदि के अभाव से सहकृत ही प्रतिबन्धक
 वस्तुतः प्रतिबन्धक होता है, न कि केवल मणि आदि। अतः वहाँ प्रतिबन्धक
 से सहकृत की ही कारणता होने से उक्त दोष नहीं गृह्य जाता। सर्वत्र प्रति-
 बन्धक-संसर्गाभावविशिष्ट की ही कारणता मानी गयी है, अतः अनियत-
 हेतुत्व दोष भी नहीं कहा जा सकता। अन्यथा उपलब्धि में भी उपलब्धि के
 प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव के विकल्प से अभाव-प्रमिति की अनियतहेतुता
 दुष्परिहार्थ होगी। शक्तिपक्ष में भी अप्रतिबद्ध ही शक्ति को कारण मानने
 से अभावविकल्प से उत्पन्न दोष एवं उस का परिहार तुल्य है।
 ‘प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः’ इस ‘कुसुमाब्जलि’ के
 वचनानुसार सामग्री-वैकल्य प्रतिबन्ध है और उस का हेतु प्रतिबन्धक
 है। यहाँ प्रतिबन्धापेक्ष प्रतिबन्धकाभाव के कारण होने और कारणापेक्ष
 ही प्रतिबन्धकाभाव के प्रतिबन्ध होने के कारण अन्योन्याश्रयप्रसक्त होने
 में यदि कहा जाय कि प्रतिबन्धकाभाव में कारणता मानना ठीक नहीं
 है, तो यह अनुचित है, क्योंकि अभाव की कारणता मानकर ही कार्यानु-
 दयमात्र ही से मन्त्रादि में कार्यप्रतिकूलता का दोष होता है और मणि,
 मन्त्रादि में कार्य की प्रतिबन्धकता का निर्धारण किये बिना ही मन्त्रादि
 के अभाव में अन्वय-व्यतिरेक ही से कारणता का निश्चय होता है। इस के
 अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अन्योन्याश्रयत्व उत्पत्ति या क्षति में
 हुआ करता है। यहाँ मन्त्र एवं तदभाव (प्रागभाव) की परस्पर हेतुता न
 होने से और अज्ञात भी मन्त्र तथा तदभाव की कार्य के प्रति प्रतिकूलता
 एवं कारणता होने से दोनों प्रकार का अन्योन्याश्रय नहीं है। यदि कहा
 जाय कि कार्याभाव से मन्त्रादि कारणभावरूप माने जाते हैं, अतएव
 मन्त्रादि का अभाव भी कारण माना जाता है। एवञ्च मन्त्र तथा तदभाव
 में रहनेवाले प्रातिबन्धकत्व और कारणत्व के अन्योन्यानिमित्तक होने से
 उत्पत्ति या क्षति में अन्योन्याश्रयता दुबारा है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि
 अभाव की कारणता का अवगमन हुए बिना भी कार्याभावमात्र से मन्त्रादि
 की कार्यप्रतिकूलता का ज्ञान हो सकता है, अतएव तदभाव की कारणता का
 भी ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक से ही सुकरा है।

धार्मिक अनुष्ठान

१ अखण्डनाम संकीर्तन—माघ कृष्ण ६ से ११ तक बड़ौदा राज्य
 के कोईली, मालसर, डभोल ग्रामों में हुआ। २ श्रीसन्तराम मन्दिर,
 नवियाद (गुजरात)—माघ पूर्णिमा। ‘महाभारत’ की त्रवार्षिक समाप्ति
 के उपलक्ष्य में ‘स्थाने हृषीकेश’ आदि ११ मंत्रों का १ लाख जप और
 विष्णुसहस्रनाम के १०८ पाठ धर्मसङ्घ के सङ्कल्प से किये गये।—श्री
 हरिदेवदत्त शर्मा ब्रह्मचारी।

नवीन शाखाएँ—

डिगवस राज्य के निम्नलिखित ९ ग्रामों—पो० मलावां छेजईपुर, जि०
 प्रतापगढ़ (अवध)—में श्रीमान् डिगवसनरेश के प्रयत्न से शाखासभाएँ
 स्थापित हुईं—१ पुंवासी—श्री पं० रामकुमार पाण्डेय (अध्यक्ष), श्री
 पं० बद्रोप्रसाद दुवे (मन्त्री), श्रीमुंशां वृजलालजी (उपमन्त्री)।

२ खरैला—श्रीपं०, बाबूरामजी मिश्र (अध्यक्ष), श्रीपं० जगतनारायण शुक्ल (मन्त्री), श्रीपं० बन्नीप्रसाद मिश्र (उपमन्त्री)। ३ कुसहा—श्रीपं० हरभजन मिश्र (अध्यक्ष), श्रीपं० दसराग शुक्ल (मन्त्री), श्रीपं० रामदेव मिश्र (उ० मं०)। ४ बारों—श्रीपं० श्रीनाथ मिश्र (अ०), श्रीपं० रामफल तिवारी (मं०), श्रीपं० केदारनाथ तिवारी (उ० मं०)। ५ उमरापट्टी—श्रीठाकुर शीतलबक्षसिंहजी (अ०), श्रीपं० देवतादीन तिवारी (मं०), श्रीठाकुर गिरजाशङ्करसिंहजी (उ० मं०)। ६ मलवा क्षेत्र—श्रीपं० जगतनारायण शुक्ल (अ०), श्रीपं० सूर्यनारायण शुक्ल (मं०)। ७ पूरे खाण्डे—श्रीपं० रामअनन्द पाण्डे (अ०), श्रीपं० दुर्गादीन मिश्र (मं०)। ८ रोह—श्रीपं० कदेदीन शुक्ल (अ०), श्रीपं० ओझारनाथ शुक्ल (मं०)। ९ छतार—श्रीपं० दुर्गादीन शुक्ल (अ०), श्रीपं० सीतलदीन मिश्र (मं०)। इन के अतिरिक्त निम्नलिखित ३ शाखाएँ (१०-१२) भी श्रीद्विगवसनरेश के ही प्रयत्न से राज्य के ३ ग्रामों— (पो० संग्रामगढ़, जि० प्रतापगढ़ (अवध)—में स्थापित हुईं—१० साँडा हरषपुर—श्रीपं० भद्रकालदीनजी शुक्ल (अ०), श्रीपं० अनन्तरामजी (मं०)। ११ नेवादा खुर्द—श्रीपं० शिवकुमार तिवारी (अ०), श्रीपं० हरभजन तिवारी (मं०)। १२ कुटिलावादे—श्रीपं० शिवनारायण शुक्ल (अ०), श्रीपं० हरिगोविन्द तिवारी (मं०)। निम्नलिखित ४ शाखाएँ (१३-१६) कालाकाँकर राज्य के पो० जलेशगञ्ज, जि० प्रतापगढ़ (अवध) के ४ ग्रामों में स्थापित की गयीं—१३ जसमेड़ा—श्रीपं० रामदुर्ष मिश्र (अ०), मुंशी जयनारायणलालजी (मं०)। १४ पूरे रामचन्द्र—श्री ठाकुर रामप्रतापसिंहजी (अ०), श्रीठाकुर हनुमानबक्षसिंहजी (मं०)। १५ अनेहरा—श्रीपं० देवदत्त तिवारी (अ०), श्रीपं० शिवपूजन सुकुल (मं०)। १६ जूड़ापुर—श्रीपं० रामप्रकाश मिश्र (अ०), श्रीराम सुकुल (मं०)।—श्रीनागेशदत्त मिश्र मंत्री शाखा ३७। १७ बछाड़ी, पो० तियरा, जि० जौनपुर—(शा० सं० ७९।२)—स्थान—श्रीरामजानकी संस्कृत पाठशाला, श्रीपं० बदरीनारायण वैद्य (अ०), श्रीपं० रामदुलारजी उपाध्याय (उपा०), श्रीपं० रामआधारजी द्विवेदी (मं०), श्रीपं० हरिहरदत्तजी द्विवेदी (उ० मं०), ठाकुर सरयूसिंहजी तथा ठाकुर नसीबसिंहजी (निरीक्षक)। (यह शाखा वि० सं० १९९९ से ही स्थापित है, पर इस की सूचना मंत्री द्वारा फा० क्र० ११ सं० २००१ को प्राप्त हुई)। १८ फरीदपुर, पो० जवाँ, जि० अलीगढ़—माघ पूर्णिमा। श्रीपं० लक्ष्मीनारायणजी व्या० आ० (अ०), श्रीपं० दुर्गाप्रसादजी बौहरे (उपा०), श्रीचरित्रसिंहजी वर्मा आयु० आचा० (मं०), श्री नहपालसिंहजी वर्मा (उ० मं०)।—श्री वाकेलालजी त्रिवेदी (मंत्री ध० सं० शा० नरवर)। १९ मु० पो० अतर्रा, जि० बान्दा (शा० सं० ८०।२)—श्रीपं० मुन्नीलालजी अवस्थी (अ०), श्रीपं० बच्चूलालजी पाण्डेय (मं०)। २० बाबूपुर (करतल), पो० कालिञ्जर, जि० बाँदा (शा० सं० ८१।३)—श्रीपं० प्यांगलाल जाँ पाण्डेय (अ०), श्रीपं० रामकृपालुजी वैद्य (मं०)। उक्त दोनों शाखाओं (१९-२०) की सूचना पं० रामआधारजी द्विवेदी द्वारा फा० क्र० १२ वि० सं०—२००१ को प्राप्त हुई। २० माफागौरा, पो० अमरगढ़, जि० प्रतापगढ़ (शा० सं० ७८।१०)—माघ शुक्ल। श्रीपं० ठाकुरदीन पाण्डेय (अ०), श्री सुनीश्वर पाण्डेय (उपा०), श्रीपं० दीपनारायण शास्त्री (मं०), श्रीपं० रामाधारजी द्विवेदी (संस्थापक)। २१ मु० पो० महाराजगञ्ज, जि० रायबरेली—फा० कृष्ण ५। श्रीपं० रामगोपालजी वैद्य (अ०), बा० सूर्यप्रसादजी वकील (उपा०), श्रीभगूलालजी (मं०), श्रीछोटेलालजी (उ० मं०), श्री नैठ जगपालजी (कोषाध्यक्ष)।

‘हिन्दू-कोड’-विरोध

१० श्रीहरिकीर्तन आश्रम, चुरू (बीकानेर)—२ नवम्बर, ह० ७०००, सभाद्वारा स्वीकृत प्रस्ताव तथा तार, श्रीमुरलीधर सारस्वत (मन्त्री)। ११ रेवासा—२० जन०, तार १ तथा ह० ४ से विरोधपत्र। १२ शामली, जि० मुजफ्फरनगर—ह० ७२, पं० पुष्पलालमदत्त शास्त्री। १३ ईलली (सुरत)—३० दिस०, ह० ७४, श्रीजयकिशनदासजी। १४ भिवानी—ह० २१५३, श्री धालूगम भोलाराम, दालूबाजार। १५ गाजीकर धाना, जि० अलवर—३० दिस०, ह० २७३, रामदयाल

भीरेलाल मानकोठिया तथा गोपालप्रदाय जगन्नाथ, महाजन। १६ धर्मसङ्घ खुटहरी शाखा, पो० नौनीहाट, जि० दुमका (सन्ध्यालपरगना)—ह० ७१, श्रीवासुदेव दुवे। १७ कोटमी, पो० अकलतरा, जि० बिलासपुर (मध्यप्रान्त)—२५ दिस०, ह० १११, श्रीदेकरामजी स्वर्णकार, मालगुजार। १८ बम्बई—ह० २३८, श्रीहरिद्वारीमल किशोरीलाल, १२-१४ धनजी स्ट्रीट। १९ बङ्गावाँ—माघ कृष्ण २। ह० ३४३। २० बाँकानेर (काठियावाड़)—३१ दिस०, ह० ५८८, श्री भगवान् दास नकाभाई वारभाया, ह० ११२, श्रीहंमराज कुशलचन्द मोदी। २१ कंजरी, जि० पञ्चमहल—३० दिस०, ह० २९८, महन्त श्रीरामकृष्णदासजी, श्रीरामजी का मन्दिर। २२ हालोल, जि० पञ्चमहल—ह० ७८, ला० मनसुखारामजी (श्रीसीताराम सप्तममण्डल)। २३ राखौली (जयपुर) श्रीसनातनधर्मसभा—३० दिस०, ह० ४५३, तार २, श्रीपं० पूर्णानन्द शास्त्री २४ सीसूँ (जयपुर)—३१ दिस०, ह० ६१। २५ मानपुर, जि० झ्योपुर, (गवालियर)—३१ दिस०, ह० ३६। २६ कुडला, पो० मटौलिया, जि० मुजफ्फरपुर—२६ दिस०, बाबू नन्दकिशोरसिंहजी गिठायर्ड स्टेशनमास्टर के सभापतित्व में महती सभा करके विरोध प्रकट किया गया, ह० १३१। २७ बावा ठाकुरवाड़ी, कटिम्बा धर्मसङ्घ शाखा, पो० नौनीहाट, जि० दुमका (सन्ध्याल परगना)—ह० ७४, श्रीकमलकान्त तिवारी। २८ श्रीआदर्श विद्यामन्दिर, उदयपुर—२६ दिस०, ह० ५००, श्रीभीमशङ्कर द्विवेदी। २९ बावा वासुकीनाथ धाम, पो० जरमुण्डी, जि० दुमका (स० प०) ह० ६१, श्रीविष्णुकान्त झा। ३० पिडारी, पो० पट, जि० जालौन—ह० १२६, श्रीद्विजेंद्रभूषण राय। ३१ श्रीसिद्धेश्वर विद्यालय, कलयावाजार, वीरगञ्ज, पो० रक्सौल, जि० चम्पारन, (नेपाल)—पौ० शु० १३, ह० ३५५, श्रीकृष्णमणि शास्त्री (मन्त्री धर्मसङ्घ शाखासभा)। ३२ चैनपुर, पो० भीकनगाँव (होलकर राज्य)—२५ दिस०, ह० ६५, श्रीपं० नानूराम शास्त्री आयु० आ०। ३३ अकोला—विरोध-प्रस्ताव दिल्ली तथा मद्रास भेजा गया। श्रीजगन्नाथ छावपरिया (अध्यक्ष व० स्व० सङ्घ, अकोला)। ३४ हिन्दूसभा, सुनाम (पटियाला)—२९ दिस०, ह० ६३, श्रीवासुदेवजी। ३५ हसनपुर, जि० गुडगाँवाँ—३० दिस०, ह० ५१७, श्रीमुरलीधर शर्मा हेडमास्टर मिडिल स्कूल। ३६ बौन्द (झीन्ड राज्य)—२८ दिस०, ह० ३६४, पं० बलदेवसहाय शर्मा। ३७ तलवण्डी मण्डी, जि० फीरोजपुर (पञ्जाब)—३० दिस०, ह० १६१, श्रीप्यारेलाल अग्रवाल। ३८ श्रीसनातनधर्म सभा, विश, जि० शाहपुर (सरगोधा)—२७ दिस०, ह० २२६, श्रीदेशराज चानणा (मैनेजर)। ३९ सागर—ह० ६५०, श्री ग० वाखले, लक्ष्मीपुरा। ४० जैसोनगर, तह, जि० सागर—३० दिस०, ह० २१८, श्रीसुदामाप्रसाद दर्जी।

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज की यात्रा

श्रीस्वामीजी पैदल भ्रमण करते हुए द्विगवस से पूर्णिया को अपराह में रायबरेली पधारे। नगर के दो मील पूर्व से ही जन-समुदाय ने आप का अपूर्व स्वागत किया। मार्ग में स्थान-स्थान पर पं० चन्द्रमालजी वकील, रा० व० पं० शिवशङ्करजी त्रिपाठी मैनेजर ‘वैली संस्कृत पाठशाला’ आदि अनेक व्यक्तियों तथा संस्थाओं की ओर से आप का पूजन किया गया। तत्पश्चात् श्रीस्वामीजी शाखासभा द्वारा आयोजित शतनण्डो महायाग के मण्डप में पधारे। उसी दिन सायंकाल में धर्मसङ्घविशेषाधिवेशन का भी आरम्भ हुआ। स्वागतसमिति के अध्यक्ष राजा भगवतोबक्षसिंहजी तालुकेदार (मुरारमल) के अस्वस्थ हो जाने के कारण उन के मैनेजर पं० लक्ष्मीशङ्करजी वाजपेयी एम. एल. ए. ने समागत सज्जनों का स्वागत किया। श्रीवाणीभूषणजी, महन्त राजीतरामजी तथा अन्य विद्वानों के व्याख्यान के उपरान्त श्रीस्वामीजी का अमृतमय उपदेश हुआ। वेद तथा वेदप्रतिपाद्य धर्म की अनादिता को श्रीस्वामीजी ने सरल, सुबोध रीति से समझाया और कहा कि ‘सनातन शब्द तो धर्म के स्वरूप का ही अनुवादक है, वस्तुतः वेदप्रतिपादित धर्म ही धर्म है और उस के अनादि होने के कारण वह ‘सनातन’ शब्द के साथ व्यवहृत होता है।’ दूसरे दिन (फा० क्र० १) ५ बजे सायंकाल को स्थानीय ‘शारदासदन पुस्तकालय’ में, जहाँ धर्मसङ्घ की बैठक आदि प्रति रविवार को हुआ करती है, श्रीस्वामीजी ने धर्मसङ्घ का ध्वजोत्थान किया। तत्पश्चात्

आप का श्रीमद्भगवद्गीता के तत्त्व पर प्रभावशाली प्रवचन हुआ। रात्रि में यज्ञ की उपयोगिता पर स्वामीजी का फिर प्रभावशाली व्याख्यान हुआ और अन्त में यह भी घोषित किया गया कि यदि कोई किसी प्रकार की शङ्का किसी विषय पर करना चाहे, तो वह दूसरे दिन सभा में अथवा स्वयं श्रीस्वामीजी के पास जाकर कर सकता है, उस का समाधान किया जायगा। तीसरे दिन (द्वितीया मङ्गलवार) शिवगढ़नरेश राजा वरखंडी महेश प्रतापनारायणसिंहजी के सभापतित्व में सभा हुई। श्री पं० सत्यनारायणजी अवस्थी वकील ने 'हिन्दू कोड' विरोध का प्रस्ताव रखा, जो श्री पं० विश्वम्भरनाथजी वाजपेयी वकील के अनुमोदन तथा श्रीलाल सुरेन्द्रबहादुरसिंह एम. एल. ए. तालुकेदार सेमरी के समर्थन करने पर सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। अन्त में भगवन्नामजप का तत्त्व और तत्सम्बन्धी शङ्काओं का निराकरण करते हुए तथा 'हिन्दू कोड' की हानियाँ दिखलाते हुए श्रीस्वामीजी का अत्यन्त प्रभावशाली प्रवचन हुआ, जिस से जनता अतिसन्तुष्ट और प्रभावित हुई। चौथे दिन (तृतीया बुधवार) श्रीराय बजरङ्गबहादुरसिंहजी तालुकेदार नायन के सभापतित्व में धर्मसंस्थापन के लिए सङ्घ के सङ्कल्प से नित्य जप का प्रस्ताव श्री पं० द्वारिकाप्रसाद जी शुक्ल रिटायर्ड जज ने उपस्थित किया, जो श्री पं० दुर्गासहायजी शुक्ल तथा श्री पं० शिवदुलारेजी मिश्र वकील द्वारा अनुमोदित-समर्थित होकर सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। दूसरा प्रस्ताव सन्ध्यावन्दन, बलि-वैश्व-देव आदि नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान और उपनयनादि संस्कारों को यथाविधि, यथाकाल सब को अधिकारानुसार करने का श्री पं० विश्वम्भरनाथ वाजपेयीजी ने उपस्थित किया, जो श्री पं० मार्तण्डदत्तजी वैद्य, श्री पं० नन्दकिशोरजी वाणीभूषण द्वारा अनुमोदित-समर्थित होकर सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। अनन्तर श्रीस्वामीजी महाराज का धर्म और राजनीति का परस्पर सामञ्जस्य दिखलाते हुए तथा दार्शनिक दृष्टि से शङ्काओं का समाधान करते हुए अत्यन्त प्रभावशाली व्याख्यान हुआ। पाँचवें दिन (चतुर्थी गुधवार) श्रीस्वामीजी की उपस्थिति में श्रीशतचण्डो महायाग की पूर्णाहुति, श्रीसत्यनारायणजी की कथा आदि कार्य हुए तथा जनता की विशेष प्रार्थना पर 'ईश्वर के अस्तित्व तथा सनातनधर्म तथा अन्य धर्मों की तुलनात्मक विवेचना' पर श्रीस्वामीजी का सारगर्भित, प्रभावशाली प्रवचन हुआ। अन्त में पं० लक्ष्मीशङ्करजी वाजपेयी ने समागत सज्जनों तथा इस आयोजन में सहायता करनेवाले सभी व्यक्तियों को धन्यवाद दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीस्वामीजी ने यहाँ से प्रस्थान किया।

फाल्गुन कृष्ण ५ शुक्ल की प्रातः रायबरेली से पैदल रवाना होकर श्रीस्वामीजी उसी दिन अपराह्न के समय महाराजगञ्ज पहुँचे। जनता स्वागतार्थ-पहले से ही उत्सुक थी। श्रीस्वामी चिद्घनानन्दजी भी अकस्मात् यहाँ पहुँच गये थे। सार्वजनिक सभा में आप लोगों के प्रवचन हुए और सङ्घ की स्थापना हुई। वहाँ से ६ शनिवार को प्रातः चलकर पन्हीना पहुँचे। यहाँ के राव श्रीशिव-प्रतापसिंहजी भी रायबरेली से ही साथ में पैदल यात्रा कर रहे थे। मार्ग में श्रीस्वामीजी की दर्शनार्थी ग्रामीण जनता की भीड़ लग जाती थी। सोमरौता की जनता ने श्रीस्वामीजी का पूजन किया। पन्हीना में जनता द्वारा अपूर्व स्वागत हुआ। सायंकाल ४ बजे सभा हुई। यहाँ भी श्रीस्वामी चिद्घनानन्दजी का भाषण हुआ। अनेक ग्राम के लोगों ने अपने ग्रामों में सङ्घ की शाखा स्थापित करने की उत्सुकता प्रकट की। दूसरे दिन (७ रविवार) को प्रातः पन्हीना से चलकर दो बजे अपराह्न में शिवगढ़ पहुँचे। शिवगढ़ तक पहुँचाने के लिए राव शिवप्रतापसिंहजी तथा अनेक सज्जन पैदल साथ आये। मार्ग में स्थान स्थान पर ग्रामीणों ने उत्साहपूर्वक श्रीस्वामीजी का स्वागत किया। मार्ग में उसरहा के श्रीकाशीप्रसादजी अवस्थी ने धर्मसङ्घ को एक सौ रुपये प्रदान किया, जो श्रीस्वामीजी की आज्ञा से इसी प्रान्त में सङ्घ के प्रचारार्थ रख दिया गया। शिवगढ़नरेश श्रीवरखंडी महेश प्रतापनारायण-सिंहजी ने प्रजा के साथ श्रीस्वामीजी का स्वागत किया। सायंकाल को सभ में श्रीस्वामीजी का उपदेश हुआ। राजासाहब ने अपने राज्य में सङ्घ के प्रचार का वचन दिया और महल पर स्वस्तिकाङ्कित सङ्घ का ध्वज लगवाया। दूसरे दिन (८ सोमवार) को पैर में अत्यन्त पीड़ा रहते हुए भी श्रीस्वामीजी शिवगढ़ से प्रातःकाल पैदल प्रस्थानकर दोपहर को यहाँ से १० मील पर स्थित

करदहा पहुँचे। यह स्थान सई नदी के तट पर है और यहाँ से जिला उन्नाव का प्रारम्भ होता है। यहाँ की रानी साहिबा तथा पं० विश्वम्भरनाथजी वाजपेयी वकील के प्रयत्न से सभा का प्रबन्ध पहले ही से था। श्रीस्वामीजी के व्याख्यान से जनता को अति उत्साह और हर्ष हुआ। उत्साही कार्यकर्ता श्रीशिवशङ्करजी त्रिवेदी ने आसपास के ग्रामों में सङ्घ की शाखा स्थापित करने के लिए उत्सुक व्यक्तियों का नाम लिखा। यहाँ से पाटन, बिगहपुर, वेथर होते हुए फा० क्र० १३ शनिवार को कानपुर पहुँच गये। मार्ग में स्थान-स्थान पर श्रीस्वामीजी के प्रवचन हुए और अनेक शाखासभाएँ स्थापित हुईं। कानपुर का पता—'मार्फत पं० सुदर्शनलाल वाजपेयी, गङ्गा-तरङ्ग, शङ्करगञ्ज' है।

विशेष समाचार

श्रीद्विगवसनरेश की घोषणा—३१ जनवरी को राज्य द्विगवस के पुंवासी हस्का में श्रीठाकुर शोतलावक्षसिंहजी रिटायर्ड सच इन्सपेक्टर पुलिस की अध्यक्षता में तथा श्रीद्विगवसनरेश के सान्निध्य में एक सार्व-जनिक सभा हुई। राजा साहब ने राज्य के जिम्मे ग्रामों में अवतक धर्म-सङ्घ-शाखा स्थापित नहीं हो सकी है, वहाँ स्थापित करने का जनता से अनुरोध किया और यह घोषणा की कि राज्य का जो भी व्यक्ति 'धर्मसङ्घ महाविद्यालय, काशी' में शिक्षा प्राप्त करना चाहे, उस का पूरा व्यय राज्य की ओर से दिया जायगा, किन्तु शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उस व्यक्ति को निकटभविष्य में स्थापित होनेवाले राजकीय धर्मसङ्घ विद्यालय में अध्यापन करना होगा। फरीदपुर, पो० जवां, जि० अलीगढ़—माघी पूर्णिमा। श्री पं० विजयप्रकाशजी मिश्र (प्रधानाचार्य श्रीसाङ्गवेद महाविद्यालय, नरवर) के सभापतित्व में स्थानीय सनातनधर्मसभा का वार्षिकोत्सव हुआ। उपस्थित व्यक्तियों में कविरत्न श्री पं० अखिलानन्दजी, शास्त्रार्थमहारथी श्री पं० माधवाचार्यजी शास्त्री, श्री पं० वीरलालजी त्रिवेदी, श्रीपं० हरदत्तजी शास्त्री आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सभा में आर्यसमाज के विविध प्रश्नों का समाधान किया गया और धर्मसङ्घ की शाखा स्थापित की गयी। थानाभवन (मुजफ्फरनगर)—सङ्घ के सङ्कल्प से स्थानीय ठाकुरद्वारे में माघ शुक्ल ७ से फा० क्र० ४ पर्यन्त श्री पं० रामधनाचार्यजी आश्रय का भागवत, रामायण तथा माघमाहात्म्य पर प्रवचन हुआ। अन्त में श्रीदेवकीनन्दनजी के सभापतित्व में सभा हुई।—श्री पं० श्यामविहारीजी (प्रधान महावीरदल)। पुरवा अत्ता, पो० हरिपालपुर, जि० हरदोई—अखण्ड नामसङ्कीर्तन की समाप्ति के उपलक्ष्य में उत्सव मनाया गया, भोजन कराकर २०० ब्राह्मणों को १-१ रु० तथा महात्माओं को वस्त्र दिये गये। इस में श्री पं० जीवालाल जी तथा श्री पं० वनवारीलालजी का पूर्ण सहयोग रहा। श्री पं० रामशङ्करजी अग्निहोत्री ने स्थानीय शाखासभा को धर्म-कार्य के लिए पाँच सौ रुपये प्रदान किये।—श्री पं० श्याममनोहर मिश्र (अध्यक्ष ध० सं० शाखासभा)। श्रीसनातनधर्म संस्कृत विद्यालय दोघट, जि० मेरठ—का वार्षिकोत्सव फा० शु० ३ को श्रीस्वामी कृष्णबोधभ्रमजी महाराज की अध्यक्षता में हुआ और श्रीसेठ रामस्वरूपजी द्वारा विद्यालय को प्रदत्त बाग में श्रीस्वामी जी के कार्यक्रमों से विद्यालय-भवन का शिलान्यास हुआ।—श्रीहरिकृष्ण शास्त्री 'मेत्रेय'।

आवश्यक सूचना

होलिकोत्सव के उपलक्ष्य में आगामी सप्ताह हमारा अवकाश और पाठकों को बधाई। अगले दो अङ्क चैत्र कृष्ण ७ मङ्गलवार को एक साथ प्रकाशित होंगे।

—सञ्चालक

सिद्धान्त

साप्ताहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण ३)

विशेष ५), इस प्रति का =)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं० — दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

प्रयाग में ‘राव कमेटी’

‘बिना दूल्हे की वारीत’ की तरह, क्योंकि अर्धचंद्र सर वी. एन. राव बीमार होकर दिल्ली ही में पड़े रह गये, ‘हिन्दूकानून कमेटी’ अपने केवल एक सदस्य श्रीवेङ्कटराम शास्त्री के रूप में ता० १७ को सवेरे प्रयाग पहुँची । नगर की हिन्दू जनता की ओर से ‘स्टेशन’ पर आप का काले झण्डों और ‘रावकमेटी लौट जाओ’ के घोष से स्वागत किया गया । विरोधप्रद-श्रुतियों का व्यवहार शिष्ट रहा, यह ‘सुधारवादी’ स्थानीय दैनिक ‘लीडर’ को भी मानना पड़ा । प्रथम दिन ९ व्यक्तियों की गवाहियाँ होने की थीं, परन्तु केवल ३ पहुँचे, जिन में दो तो वहीं के थे, बाहर से केवल ‘गीता प्रेस’ के मैनेजर वजरलालजी पहुँचे थे । दूसरे दिन ‘अखिलभारतीय धर्मसंघ’ के प्रतिनिधियों की गवाहियाँ हुईं । उस के प्रतिनिधि-मण्डल से लगभग तीन घण्टे वादविवाद चलता रहा । सङ्घ की ओर से यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया कि उत्तराधिकार, विवाह आदि धार्मिक विषय हैं, इन में हस्तक्षेप करने का सरकार को कोई अधिकार नहीं है । भारत के सारे हिन्दुओं के लिए एक ही प्रकार के कानून नहीं बन सकते । हाईकोर्टों के निर्णयों के आधार पर जो कानून बने हैं, वे भ्रमात्मक हैं । ‘कोड’ के लिए हिन्दुओं की ओर से कोई माँग नहीं है । इस के पास हो जाने से हिन्दू-समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा । कमेटी की ओर से विधवा-विवाह के सम्बन्ध में ‘नष्टे मृते प्रव्रजिते क्वांवे च पतिते पतौ । पञ्चस्वापस्तु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।’ पराशर का यह वाक्य रखा गया । इस पर बतलाया गया कि व्याकरणदृष्ट्या उक्त वचन में ‘पतौ’ ऐसा नहीं बन सकता, किन्तु ‘अपतौ’ यह शुद्ध स्वरूप है, अतः यह वचन वाग्दत्ताविषयक है । एक सदस्य ने कहा कि दमयन्ती का नल के साथ विवाह हो जाने के बाद भी उस का दूसरा स्वयंवर किया गया, जिस से ज्ञात होता है कि दूसरे विवाह की प्रथा थी । इस पर उत्तर दिया गया कि राजा ऋतुपर्ण के यहाँ नल के होने का सन्देह था, इस के निश्चयार्थ नल की परीक्षा के लिए स्वयंवर का स्वाङ्ग रचा गया था और उस में किसी भी अन्य राजा को निमन्त्रण न भेजकर केवल ऋतुपर्ण को ही, जहाँ राजा नल थे, निमन्त्रित किया गया था ।

यह भी कहा गया है कि उदाहरणों से विधि नहीं होती, उस के लिए प्रत्यक्ष वचन होना चाहिए । द्रौपदी के पाँच पति होने से अनेक पतियों की प्रथा नहीं मान ली जायगी । बहुस्त्रीविवाहप्रसङ्ग में एक स्त्री से पुत्र न होने पर या केवल कन्या होने पर दूसरी स्त्री से विवाह करने के सम्बन्ध में कमेटी की ओर से कहा गया कि लड़की का पुत्र दोहित्र तो पिण्डदान कर सकता है, फिर पुत्र के लिए दूसरी स्त्री से विवाह की क्या आवश्यकता है ? उत्तर दिया गया कि दोहित्र तो अपने नाना के लिए पिण्डदान करेगा, पर उस का लड़का तो अपना दादा के पिता को पिण्डदान नहीं कर सकता । ऐसी स्थिति में केवल कन्या के होने से आगे चलकर पूर्वज पिण्डदान से वञ्चित रह जाते हैं, अतः पुत्र के लिए एक स्त्री के रहते हुए भी दूसरी से विवाह आवश्यक हो जाता है । अन्त में सङ्घ की ओर से जोरदार शब्दों में कहा गया कि “यह ‘कोड’ हिन्दुओं पर जबरदस्ती न लादा जाय ।”

‘सनातनधर्म महासभा’ की ओर से भी ‘कोड’ का विरोध किया गया और कहा गया कि सम्पत्ति में स्त्रियों को अधिकार देने से सम्पत्ति नष्ट हो जायगी, मुकुन्दमेवाजी चलेगी और दरिद्रता बढ़ेगी । विवाह नष्ट हो जायगी, मुकुन्दमेवाजी चलेगी और दरिद्रता बढ़ेगी । विवाह के विच्छेद सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है । ‘वर्णाश्रमस्वराज्य सङ्घ’ की ओर से प्रोफेसर विष्णुविनायक देशपाण्डे ने कमेटी को आड़ेहाथों लिया । आप ने कहा कि कोड में ‘हिन्दू’ की जो परिभाषा की गयी है, वह ठीक नहीं है, दूसरे मतानुसार कभी हिन्दू नहीं बन सकते । ‘कोड’ में दी हुई ‘स्त्रीधन’ की परिभाषा की भी आप ने कड़ी आलोचना की और यह सप्रमाण दिखलाया कि वह शास्त्रानुमोदित नहीं है । तीसरे दिन ‘आर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्, काशी’ की ओर से श्रीमती

विद्यादेवी तथा सुन्दरीबाई की गवाहियाँ हुईं । कट्टर सनातनीपक्ष का पूर्ण समर्थन करते देखकर सुधारवादी ‘लीडर’ को इन की गवाहियाँ ‘सनसनीदार’ प्रतीत हुईं । इन के अतिरिक्त ‘काशी पण्डित-समाज’ की ओर से श्रीसुबोधचन्द्र लाहिड़ी तथा मिर्जापुर से श्रीसदायतन पाण्डेयजी की गवाहियाँ हुईं और आप दोनों ने भी ‘कोड’ का पूरा विरोध किया । इसी दिन सन्ध्या समय ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज की ओर से कमेटी के पास एक ‘आदेश’ आया, जिस में लिखा था कि “हम ने आप का ‘हिन्दू कोड’ देखा, ऊपर तो ‘हिन्दू धर्मशास्त्र’ नाम दिया हुआ है, पर भीतर उस के सब विपरीत है । हिन्दूधर्म तथा संस्कृति के लिए ऐसा भय इतिहास में कभी भी उपस्थित नहीं हुआ था और न कभी आगे होने की सम्भावना है, जैसा कि वर्तमान में है, जब दुर्भाग्यवश हमारे ही लोग ‘काली भेड़ों’ का दल बनाने की चाल चल रहे हैं । ‘कोड’ पर एक सरसरी दृष्टि डालने से ही उस में ऐसी कहानियाँ मिलती हैं, जिन पर विश्वास नहीं होता और जिन्हें सुनकर आश्चर्य होता है ।”

प्रयाग में कमेटी के सामने कुल १९ गवाहियाँ हुईं, जिन में से ‘प्रयाग विश्वविद्यालय’ कानून-विभाग के अध्यापक श्रीशास्त्री को छोड़कर बाकी सब ने कोड का पूरा विरोध किया । इस पर ‘अमृतवाजारपत्रिका’ ने ठीक ही लिखा कि “कमेटी ने बम्बई की अपेक्षा प्रयाग को पक्का सनातनी पाया ।” होना ही चाहिए, वह तो ‘तीर्थराज’ है, यदि वहीं हिन्दू-धर्म की रक्षा नहीं होगी, तो फिर और कहाँ होगी ? पर साथ ही हमें खेद है कि स्थानीय ‘हिन्दू महासभा’ ने कमेटी का पूर्ण बहिष्कार करना निश्चय किया । ‘बहिष्कार और विरोध’ पर हम अपने विचार गताङ्क २२ में प्रकट कर चुके हैं । इस में सन्देह नहीं कि ‘बहिष्कार’ सब से प्रबल विरोध है, पर साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि तर्कों से कमेटी को परास्त किया जाय । ‘पूर्ण बहिष्कार’ में इस के लिए अवसर न मिला । काशी के लोगों ही ने जाकर कई विषयों पर उस की आखें खोलीं । यदि प्रयाग के विद्वानों ने भी इस में साथ दिया होता, तो बहुत कुछ काम बनता । प्रसङ्गवश कमेटी को कहना पड़ा कि ‘हिन्दू जनता के समर्थन बिना ‘कोड’ नहीं बन सकता । गवाहियों, लिखित वक्तव्यों तथा विरोध में हस्ताक्षरों से जनमत का पता लगेगा । ऐसी दशा में अधिकाधिक संख्या में लोगों को कमेटी के सामने जाकर अपना मत स्पष्ट करना चाहिए । हमें आशा है कि अगले स्थानों में इस का ध्यान रखा जायगा और कमेटी का कोरा कोरा बहिष्कार न किया जायगा ।

कहा जाता है कि कमेटी लोकमत जानने के लिए दौरा कर रही है, पर वास्तव में उस का ध्येय जान पड़ता है ‘कोड’ के लिए समर्थन प्राप्त करना । गवाहों से अदालती ढङ्ग की जिरह की जाती है और उन से वही कहलाने का प्रयत्न किया जाता है, जो कमेटी को अभीष्ट है । सरल स्वभाव के पण्डितों को इस में कठिनाई पड़ जाती है । कमेटी के चारों सदस्य नयी विचारशैली के हैं । बम्बई में उस ने श्रोजयकर आदि तीन सदस्यों को वहाँ के लिए और बढ़ा लिया था । ये सब भी उसी के विचाराडुयायी थे । परन्तु अन्य स्थानों में ऐसा नहीं किया गया । उसे चाहिए था कि वह प्रत्येक स्थान में कम से कम एक ऐसा सदस्य अवश्य बढ़ाती, जो सनातनी विचारों का होता और जो सुधारवादी गवाहों से जिरह कर सकता । ‘धर्मसङ्घ’ ने इस के लिए बहुत पहले ही कमेटी को लिखा था और तब उस की ओर से यह आश्वासन भी दिया गया था कि इस पर विचार किया जायगा, पर अन्ततः किया कुछ भी नहीं गया । युक्तप्रान्त में गवाहियों के लिए सब से अधिक नाम काशी से गये, तब भी कमेटी ने अपनी बैठक के लिए प्रयाग चुना, जहाँ से केवल दो व्यक्तियों की गवाही हुई । काशी के कितने ही लोगों को यात्रा का कष्ट सहकर प्रयाग दौड़ना पड़ा और प्रसिद्ध विद्वान् अपना मत प्रकट करने से वञ्चित रहे । बम्बई में कमेटी ने सर चिमनलाल, श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी आदि को गवाही देने के लिए स्वयं आमन्त्रित किया, पर युक्तप्रान्त में, विशेषकर काशी में, उस को ऐसा कोई

व्यक्ति न जँचा, जिस को वह स्वयं आमन्त्रित करती। जिस ढङ्ग से कमेटी मत जानने का प्रयत्न कर रही है, उस का पूना की एक सार्वजनिक सभा में विरोध किया गया और काशी की जनता ने भी वैसा ही किया है। यह विरोध 'कानून सदस्य' सर अशोक राय को मेजा गया है। कमेटी के सामने जो गवाहियाँ होती हैं, उन का भी पूरा विवरण प्रकाशित नहीं किया जाता, जिस से लोगों को कुछ पता ही नहीं लगता। कमेटी के साथ एक अपना संवाददाता रखने की बड़ी आवश्यकता है। हमें अपना प्रयत्न शिथिल कदापि न होने देना चाहिए, विरोध में भारतसरकार के पास बराबर हस्ताक्षर पहुँचते रहने चाहिए, जहाँ जहाँ कमेटी जाय, जुलूस निकाल कर, सभाएँ करके अपना विरोध प्रकट करना चाहिए और सम्मानित व्यक्तियों को अधिकाधिक संख्या में कमेटी के सामने जाकर अपना मत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करना चाहिए।

‘घरेलू दासत्व’

‘कस्तूर बा कोष’ के खर्च की योजना समझाते हुए गान्धीजी ने अपने हाल ही के एक भाषण में कहा कि “बच्चे-बच्चियों का भार वहन करना, पतिसेवा में लगे रहना और घर के कामकाज संभालना ही महिलाओं का कर्तव्य माना गया है। यह बड़ी लज्जा की बात है। केवल घरेलू दासत्व में ही महिलाएँ नहीं रखी गयी हैं। परिश्रम द्वारा अर्थ अर्जन करने में पुरुषों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करने पर भी उन्हें कम वेतन मिलता है।” क्या गान्धी जी ‘घरेलू दासत्व’ से ‘बाहरी दासत्व’ अच्छा समझते हैं? यदि किसी स्त्री ने बच्चे-बच्चियों का भार वहन कर लिया, अपनी सेवा से पति को गृहस्थी की झंझटों से निश्चिन्त करके अर्थोपार्जन के लिए बाहर काम करने योग्य बना दिया और अपने घर की संभाल लिया, तो इस से बढ़कर वह समाज की सेवा और क्या कर सकती है? यदि वह इन कार्यों को छोड़कर बाहर पैसा कमाने जाती है, तो उसे इन के लिए किसी दूसरे को रखना पड़ेगा, जिस में पैसा भी खर्च होगा, बाल-बच्चे तथा घर चौपट होगा और पति की भी दुर्दशा होगी। किसी बाहरी आदमी की फिटङ्की सहने की अपेक्षा मानसहित अपना घर संभालना कहीं अच्छा। रही आर्थिक कष्ट की बात, सो गान्धी जी का खर्चा स्त्रियों घर पर भी चला सकती हैं, या अन्य कोई घरेलू उद्योग-धन्धा कर सकती है। जिस देवी की पुण्य स्मृति में यह कोष स्थापित किया गया है, जहाँतक हम समझते हैं, वह जीवन भर वे ही कार्य करती रहें, जिन्हें आज उस के पतिदेव एक ‘लज्जा’ की बात बतला रहे हैं। अपने इसी भाषण के आरम्भ में ही उन्होंने ने स्वयं ही कहा है कि यह कोष उस महिला की स्मृति में है, जो ‘निरक्षर तथा सरल स्वभाव’ की थी। क्या यह धन उस देवी के प्रधान कार्यक्षेत्र—घर के कारागार को नष्ट करने के लिए ही व्यय किया जायगा? सम्भव है हम गान्धी जी के अभिप्राय को न समझ सकें हों या पत्रों में उन के भाषण का सार ठीक न छपा हो, ऐसी दशा में क्या वे अपने भावों को स्पष्ट करने की कृपा करेंगे?

ब्रिटेन में वेदान्त

‘अमृतवाजारपत्रिका’ में समाचार छपा है कि “ब्रिटेन के कई लोगों के विचारों में विचित्र परिवर्तन हो रहा है। पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध का प्रभाव उन पर से हटता जा रहा है। वे अब भारतीय दर्शन की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। वेदान्त का उन पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है। आजकल ये लोग हिन्दूधर्म का गम्भीर अध्ययन कर रहे हैं। इन में प्रमुख हैं अङ्गरेजी के प्रसिद्ध लेखक तथा विचारक आल्डस हक्सले, दूसरे ईशर बुड, जिन की वर्तमान युग के इङ्ग्लैण्ड के अग्रगण्य कवि होने की सम्भावना थी, आजकल लास एंजल्स के मन्दिर में पद्यासन पर आसीन ध्यान-मग्न पाये जाते हैं या स्वामी प्रभवानन्द—एक स्थानीय प्रमुख धर्मोपदेशक—से चर्चा करते देखे जाते हैं। इन के साथ ही जान बूटन भी हिन्दूधर्म के अभिभूत हैं। इसी प्रकार जेरल्ड हर्ड और सामरसेट भी वेदान्तदर्शन से आकृष्ट हो रहे हैं।” यह प्रसन्नता की बात है। हमारे यहाँ के तो कई आधुनिक विद्वान् वेदान्त को भारत के पढ़न का एक मुख्य कारण मानते हैं। उन का कहना है कि वेदान्त के प्रायावाद ने भारतीयों को आलसी तथा निकम्मा बना दिया। अपने विदेशी गुर्गों का वेदान्त की ओर आकर्षण

देखकर क्या वे अब अपना मत बदलेंगे? विदेशी विद्वानों पर वेदान्त के गहरे प्रभाव का हम स्वागत करते हैं, पर साथ ही हम उन्हें एक चेतावनी देना भी अपना कर्तव्य समझते हैं। आजकल कुछ पाश्चात्यदेशों में और विशेषकर अमरीका में भारत से जाकर कई लोग ‘परमहंस’ बन गये हैं, योगी, संन्यासी बन जाना तो साधारण बात है। अङ्गरेजी भाषा खूब बोलने और लिख लेने का अभ्यास होने से इन ‘स्वामियों’ का कई जगह खूब रङ्ग जमा है। आश्रम खुले हैं और उन में योग का अभ्यास तथा वेदान्त का अध्ययन चल रहा है। हिन्दूधर्म तथा दर्शन पर विदेशी तथा अङ्गरेजी शिक्षाप्राप्त देशी विद्वानों के ग्रन्थ भी खूब निकल रहे हैं। इन लोगों की कृपा से हिन्दूधर्म तथा दर्शनों का एक ‘विलायती संस्करण’ चल पड़ा है। यदि इसी का अध्ययन होने जा रहा है, तो फिर न अध्ययनकर्ताओं को ही शान्ति मिलेगी और न दूसरों का ही उपकार होगा—‘नीम हकीम खतरे जान।’ अपने यहाँ के दर्शनों का रहस्य समझने के लिए यह आवश्यक है कि उन का अध्ययन अधिकारानुसार तथा परम्पराया किया जाय। बिना इसके मुख्य तत्व कभी हाथ न लगेगा, इधर-उधर की बातों ही में भटकना पड़ेगा। यदि विदेशी विचारक वास्तव में हिन्दूधर्म के अध्ययन से कुछ लाभ उठाना चाहते हैं, तो उन्हें भारत आकर उन महात्माओं तथा विद्वानों को ढूँढना चाहिए, जो विदेशी शिक्षा के विषाक्त प्रभावों से मुक्त हैं और उन के चरणों में बैठकर श्रद्धापूर्वक अधिकारानुसार शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। तभी वे अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकेंगे। हिन्दूधर्म तथा दर्शन में विदेशी विद्वानों तथा विचारकों की अभिरुचि देखकर हमें भी इस अवसर पर ऐसे ग्रन्थ विदेशी भाषाओं में निकालने चाहिए, जो वास्तव में उन का दिग्दर्शन करा सकें और सच्चे साधक के लिए पथप्रदर्शक हों।

श्रीभगवतीतत्त्व

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

३

शक्ति का खण्डन

यदि कहा जाय कि मणि, मन्त्रादि के साक्षात् या अमानिष्य में, उभयथापि अग्न्यादि के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता, फिर भी दाहादि का प्रतिबन्ध होता ही है, अतः यदि स्वरूपातिरिक्त शक्ति न माने, तो प्रतिबन्ध असम्भव हो जायगा, इसलिए शक्ति मानना चाहिए, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धशब्द से बोधित होनेवाला दाहादि कार्य के प्रति औदासीन्य ही अग्न्यादि में विशेष रूप से उपलब्ध होता है। यदि ऐसा न मानें, तो शक्ति मानने पर भी प्रतिबन्ध का विवेक कठिन हो जायगा। शक्ति का नाश प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता, अन्यथा प्रतिबन्ध हट जाने पर कार्याभाव की प्रसक्ति होगी। स्फोटरूप कार्य की उत्पत्ति के लिए वहाँ शक्त्यन्तर की उत्पत्ति मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि उस के किसी कारण का वहाँ निरूपण नहीं किया जा सकता। अग्निसामग्री से वहाँ कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह तो नष्ट ही हो चुकी है। अशक्त अग्नि उत्पादक न होने से उस आश्रयभूत अग्नि से भी कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती। यदि उत्पादकत्व मानें, तो कार्य में भी वह वैसे ही विद्यमान होने से शक्ति को मानना निरूप्योजन है। यदि वह शक्त है, तो उस शक्ति को कार्य के विषय में भी मान लेने से काम चल जाता है। ऐसी स्थिति में कारणान्तर का निरूपण न होने से शक्त्यन्तर की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। प्रतिबन्धाभाव को भी कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभावे की कारणता अस्वीकृत है। यदि अभाव को कारण माना जाय, तो उसी से स्फोटादि कार्यो की उत्पत्ति हो जायगी, फिर अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना से क्या लाभ? एक शक्ति से दूसरी शक्ति का प्रतिबन्ध मानने से अनवस्था-प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि उस में भी उक्त दूषण के परिहारार्थ शक्ति-प्रतिबन्ध कहना पड़ेगा। अतः शक्ति के बिना भी कार्य के अन्यथापि उपपन्न हो जाने से अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना का कोई अवकाश नहीं है।

उपादानोपादेयभावरूप नियम की अनुपपत्ति भी शक्ति में प्रमाण नहीं कही जा सकती अर्थात् दुग्धादि जैसे दध्यादि का रूपीदान है, न कि तिलादि, एवञ्च तिलादि ही तैलादि का उपादान है, न कि दुग्धादि, ऐसा जो नियम

है, उस की बिना शक्ति को स्वीकार किये उपपत्ति न होने के कारण शक्ति मानना आवश्यक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शक्ति के बिना माने ही अनादिसिद्ध ब्रह्मव्यवहार से निर्णीत तत्त्वकार्यानुकूल स्वभाव की विशेषता से ही उपादानोपादेय-नियम की सिद्धि हो जाती है। यदि स्वभाव शक्ति यहीं क्यों है, अन्यत्र क्यों नहीं है, इस का समाधान स्वभावभेद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? अतः कहना होगा कि दोनों प्रकार की अर्थोपत्तियों को उपर्युक्त रीति से शक्ति में प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

यदि 'विमतं (अभ्यादि) अजनकदशातो जनकदशायामतिशय-योगि, कारकत्वात् कुण्डकुटारवत्' इस अनुमान को शक्तिसाधक कहें, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सहकारिसमवधान के अतिशय से ही सिद्धसाधनता है। यदि 'अग्निः अतीन्द्रियसामान्यवन्निक्रियाश्रयः, कारणत्वात्, गुस्त्वश्रयवत्' इस अनुमान द्वारा शक्ति को सिद्ध करें, तो भी जो योगी को मानता है, उस के मत में किसी वस्तु के अतीन्द्रिय न होने से उक्त अनुमान में दिया हुआ 'अतीन्द्रिय' विशेषण सिद्ध नहीं होता, अतः वैसे विशेषण से गर्भित अनुमान से शक्ति की सिद्धि कैसे हो सकती है? यदि कहा जाय कि 'जैसे हमारा चक्षु इन्द्रिय होने के कारण गुस्त्वजाति-विषय नहीं है, वैसे ही योगी का इन्द्रिय भी इन्द्रिय होने के कारण गुस्त्वजाति-विषय न होगा' इस अनुमान से अतीन्द्रिय की सिद्धि करके पूर्वोक्त अतीन्द्रियसामान्यगर्भित अनुमान द्वारा शक्तिसिद्धि हो जायगी, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि वहाँ यह शङ्का होगी कि ऐसा अनुमान करनेवाले की दृष्टि में योगीन्द्रिय प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध? यदि अप्रसिद्ध है, तो योगी को न माननेवाले मीमांसक की दृष्टि में आश्रयासिद्ध होगी। यदि प्रसिद्ध है, तो धर्मिप्राहक प्रमाण का बाध होगा अर्थात् अस्मदादिकों के इन्द्रिय से विलक्षण योगीन्द्रिय को ग्रहण करता हुआ प्रमाण ऐन्द्रियक-अतीन्द्रिय-साधारण ही उस का ग्रहण करायेंगा, अतः उस प्रमाण से गुस्त्वजाति-विषयत्वाभाव रूप साध्य का बाध हो जायगा। यदि उस अतीन्द्रिय विशेषण को अस्मदादि के अभिप्राय से मानें, तो भी काम न चलेगा, क्योंकि जब 'परमाणु को जानता हूँ, आकाश को जानता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होता है, तब परमाणु और उस का ज्ञान मानसप्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय का विषय होता है। इस तरह सभी वस्तु ऐन्द्रियक ज्ञान का विषय बन जाने से अस्मदादि की दृष्टि से भी अतीन्द्रियत्व अप्रसिद्ध हो रहता है और इस तरह पूर्वोक्त दोष ज्यों का त्यों रहने से उक्त अनुमान से शक्तिसिद्धि नहीं हो सकती। यदि उस अनुमान में 'अनुव्यवसायतिरिक्त अस्मदादि ऐन्द्रियक बुद्धि के अगोचर होने' के आशय से वह अतीन्द्रियत्वरूप विशेषण है, ऐसा कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्य प्रमाण से उपनीत विशेषणावगाहि विशिष्ट ज्ञान माननेवाले के मत में सभी पदार्थों की ऐन्द्रियकता सम्भव होने से पूर्वोक्त दोष ज्यों का त्यों रह जाता है अर्थात् जिन के मत में 'सुरभि चन्दनम्' इत्यादि विशिष्ट ज्ञान प्रमाणान्तर घ्राण आदि से उपनीत गन्धादि को भी विषय करते हैं, उन के मत में यत्किञ्चित् प्रत्यक्षार्थ विशेषण होने से सभी पदार्थ ऐन्द्रियकबुद्धिबाध्य हो सकते हैं, अतः अप्रसिद्धविशेषणता उक्त अनुमान में तदवस्थ ही है।

यदि पूर्वोक्त 'अग्निः अतीन्द्रियसामान्यवन्निक्रियाश्रयः कारणत्वात् गुस्त्वश्रयवत्' इस अनुमान में विशिष्टज्ञान एवं अनुव्यवसाय के अतिरिक्त अस्मदादि ऐन्द्रियक बुद्धि का अविषयत्व ही अतीन्द्रियत्व माना जाय, तो वहाँ फिर यह शङ्का हो सकती है कि इस अनुमान में 'आश्रय' पद से जो आधाराधेयभाव विवक्षित है, वह संयोगिरूप से विवक्षित है या समवायरूप से? यदि संयोगिरूप से, तो गुस्त्वश्रय के दृष्टान्त में साध्यैकत्व होता है। यदि 'आश्रय' पद का अर्थ समवायी मानें, तो समवाय को न माननेवाले मीमांसक आदि के मत में उक्त विशेषण ही अप्रसिद्ध होने से वह अनुमान नहीं बन सकेगा और बान्ह में स्थितिस्थापक संस्कार सिद्ध होने से सिद्धसाधनता भी होती है। यदि कहा जाय कि सिद्धसाधनता के अस्तित्व में कोई प्रमाण न होने से उसे क्यों मानें? तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस के अस्तित्व में 'विमतः स्थितिस्थापक-संस्कारवान् रूपवत्त्वात्, केटवत्' यह अनुमान विद्यमान है। इस अनुमान को स्थितिस्थापककार्यवत्वरूप उपाधि से दूषित भी नहीं कहा जा

सकता, क्योंकि उपाधि की साध्यव्यापकता होनी आवश्यक है, किन्तु उत्पन्न होते ही नष्ट हो गये कटादि में स्थितिस्थापकरूप कार्य का उपलब्ध न होने पर भी यहाँ तथाविध संस्कार का अभ्युपगम होने से साध्यव्याप्ति रहती है। अपिच जो मीमांसक अपने सिद्धान्तानुसार सिद्धसाधनता कह रहा है, उस को सैकड़ों अनुमानों से भी स्वसिद्धान्त से किस तरह प्रच्युत किया जा सकता है और कैसे उस के सिद्धसाधनता इस अभिधान को प्रत्युद्भूत किया जा सकता है? यदि इस प्रकार स्वसिद्धान्त के अनुरोध से सिद्धसाधनता माननेवाले की अनुमानों द्वारा तदीय सिद्धान्त से प्रच्युति अशक्य होने और सिद्धसाधनता के अपरिहार्य होने से स्वाभिप्रायसिद्ध्यर्थ पूर्वोक्त अनुमानगत 'अतीन्द्रियसामान्यवन्निक्रियाश्रय' में 'स्थितिस्थापक' यह विशेषण जोड़कर दूषण का परिहार किया जाय, तो भी प्राभाकर के मत में—जो कि कर्म को अप्रत्यक्षता मानते हैं—कर्म से अर्थान्तरता-पत्ति होगी, क्योंकि उन के मत में अप्रत्यक्ष एवं निष्क्रिय कर्म में अतीन्द्रिय सामान्यवत्त्वादिरूप साध्य विद्यमान ही है। किन्तु यह ठीक नहीं है, फिर जो भी कादाचित्क होता है, वह स्वाश्रयातिशयपुरःसर देखा गया है, जैसे संयोग-विभागजन्य कार्य संयोग-विभागरूप स्वाश्रयातिशयपुरःसर होता है। इस व्याप्ति से कादाचित्क होने के कारण संयोग-विभाग में भी स्वाश्रयातिशय-पुरःसरत्व का अनुमान किया जाता है। जो यह अतिशय है, वह कर्म है ऐसा माननेवाले प्राभाकर के मत में कर्म से अर्थान्तरता होती ही है और बान्ह भी अतीन्द्रियसामान्यवन्निक्रियकर्मप्रय है ही। अनुमान का 'कारणत्वात्' यह हेतु शक्ति से अनेकान्त है। यदि कहा जाय कि नहीं, शक्ति भी साध्यवान् हान के कारण सपक्ष होने से उस से अनेकान्तता नहीं है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि शक्ति में भी यदि शक्त्यन्तर मानें, तो अनवस्था की प्रसक्ति होगी। यदि कहा जाय कि जनकशक्तियुक्त ही अर्थात् शक्तिमान् ही यहाँ कारणत्वेन विवक्षित है, अतः शक्ति में अनेकान्तकता नहीं है, तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि विशेषणोभूत शक्ति के बिना सिद्ध हुए शक्तियुक्तरूप कारणत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। यदि प्रमाणान्तर से विशेषणोभूत शक्ति की सिद्धि करना हो, तो फिर इस के लिए इतने प्रपञ्च की क्या आवश्यकता थी? साथ ही गुण आदि में अनेकान्तता भी आती है। जैसे कि—द्रव्य, गुण और कर्म में ही सामान्य रहता है। वहाँ निष्क्रियत्वरूप विशेषण होने से यद्यपि द्रव्याश्रयत्व नहीं आता, क्योंकि सावयव हानि के कारण आश्रित द्रव्य सक्रिय है, तथापि गुण और कर्म, इन दोनों की अन्यताश्रयता तो होगी ही और वे दोनों भी द्रव्यलक्षण या द्रव्यत्व-व्याप्त हैं, अतः गुणादि में भी द्रव्यत्व की प्रसक्ति होगी ही। ऐसा न हो, इसलिए वहाँ तद्रहितत्व कहना पड़ेगा। तथाच उस में कारणत्व होने से वह अनेकान्तक है अर्थात् गुणादि में यथोक्त शक्त्याश्रयत्व उपपन्न नहीं होता।

यदि उपर्युक्त अनुमान को त्यागकर शक्तिमिद्ध्यर्थ 'विवादाध्यासितः स्फोटः उभयवादिसम्प्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्यः कार्यत्वात् घटवत्' ऐसे अनुमानान्तर का स्वीकार करें, क्योंकि प्रतिवादी से विप्रतिपन्न होने के कारण उभयवादिसम्प्रतिपन्न कारण से अतिरिक्त कारण तो प्रतिबन्धकाभाव होता है, अतः उस से अर्थान्तरता होती है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिवादि द्वारा असम्प्रतिपन्न प्रतिबन्धकाभावरूप कारण ने सिद्धसाधनता होता है। यदि कहा जाय कि वहाँ भावजन्यरूप विशेषण के न होने से अर्थान्तरता नहीं है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भावजन्यरूप विशेषण होने पर भी ईश्वर से सिद्धसाधनता होगी, क्योंकि शक्तिवादी मीमांसक ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। इस तरह यद्यपि सहजशक्ति में न तो अर्थोपत्ति और न अनुमान ही प्रमाण हो सकता है, तथापि आधेय शक्ति में 'ब्रीहीन् प्रोक्षति, यूपं तक्षति, अग्नीनादधीत' इत्यादि आगम प्रमाण होने से तद्वलात् सहज शक्ति को भी सिद्धि हो सकती है। 'ब्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादि वाक्यों में 'ब्रीहीन्' इस द्वितीया श्रुति से—'ग्रामं गच्छति' इत्यादि वाक्यों में जैसे 'ग्राम' इस द्वितीयाश्रुति से ग्राम की कर्मता अवगत होती है, वैसे ही—ब्रीहि आदि की कर्मता ज्ञात होने से यह निश्चित होता है कि उन ब्रीहादिकों में प्रोक्षणादिजन्य कोई अतिशय है, क्योंकि वहाँ कोई अन्य दृष्ट फल दिखलायी नहीं पड़ता। शक्तिवादी उसी अतिशय को शक्ति मानते हैं। किन्तु संस्कारसंज्ञक चेतन-गत अदृष्ट का अचेतन ब्रीहि आदि में समवाय नहीं हो सकता अर्थात् आत्म-

गुण अदृष्ट अनात्मभूत ब्रह्मादि में नहीं हो सकता। कदाचित् यह कहा जाय कि 'ब्रहीन्' इस द्वितीयाश्रुति से एक तो ब्रह्म की संस्कार्यता बोधित होती है, दूसरे 'ब्रह्मिप्रोक्षण' से संस्कृत हुए' ऐसी प्रसिद्धि भी है, अतः ब्रह्मिगत संस्कार को चेतनगत मानना विरुद्ध है, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटविषय ज्ञान से उत्पन्न संस्कार जैसे घटविषयक होने से, न कि घटाधार होने से घटसंस्कार कहा जाता है, वैसे यहाँ भी ब्रह्मिप्रोक्षणदि से उद्भूत संस्कार की भी ब्रह्मिप्रोक्षण प्रोक्षणादि क्रिया से उत्पन्न होनेमात्र से तदीयत्व-प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है, अतः द्वितीयाश्रुति या प्रसिद्धि ब्रह्मादिगत शक्ति की साधिका न होने से कहना होगा कि शक्ति की कल्पना में कोई भी प्रमाण नहीं है। अतएव लीलावतीकार ने भी कहा है कि विवादाध्यासित अग्न्यादि निजरूपमात्र से सम्बद्ध अतोन्द्रियसापेक्ष नहीं है, क्योंकि प्रमाण द्वारा वैसा उपलब्धमान नहीं होता। प्रमाण से जो जैसा उपलब्ध नहीं होता, वह वैसा नहीं होता, जैसे नील पीतरूप में उपलब्ध न होने से पीत नहीं होता। इस से सिद्ध होता है कि शक्ति का साधक कोई प्रमाण नहीं है।

शक्ति-समर्थन

परन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि शक्ति के अस्तित्व में "परास्य शक्तिर्विविधा सर्गाद्या भावशक्तयः। इति श्रुतिस्मृतिमिता शक्तिः केन निवार्यते", "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च विद्यते। परास्य शक्तिर्विविधं श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥", "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निर्गूढाम्", "य एकोऽवयवो बहुधा शक्तियोगात्", "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥", "सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः। अचिन्त्यशक्तिश्च विभोविधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य" इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियों से गीयमान शक्ति का अपन्हव किस तरह किया जा सकता है? उक्त वचनों में कार्य-करणादि सहकारियों के निरासपूर्वक शक्ति का प्रतिपादन है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये वचन स्वरूप-सहकारिमात्र के प्रतिपादक हैं। शक्ति की स्वरूपमात्रता भी नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ 'परा अस्य' इत्यादि षष्ठ्यन्त पद से स्वरूपातिरिक्तता का प्रतिपादन किया गया है। "अस्य शक्तिर्विविधाः", "तास्तु शक्तयः" इत्यादि वचनों से उस शक्ति की अनेकता भी श्रुत होने से उसे एकरूप ब्रह्म भी कहना ठीक नहीं है। उपक्रम, उपसंहार आदि लङ्ग से ईश्वरस्वरूप की निश्चायिका होने से उक्त श्रुति-स्मृतियों को अर्थवाद भी नहीं कहा जा सकता। साथ ही नैयायिक आदिको ने भी इन वचनों को ईश्वरस्वरूपपरक माना है, अतः इन्हें अर्थवाद बतलाना उचित नहीं है। फिर भी यदि किन्ही तार्किकमन्य को शक्ति के अस्तित्व में उक्त आगम-वचनों से ही सन्तोष न होकर वे अर्थापत्ति और अनुमान की ही अपेक्षा रखते हों, तो उन को अग्रिम अर्थापत्ति और अनुमान से भी सन्तुष्ट किया जा सकता है।

पीछे स्फोटदि कार्य की अन्यथानुपपत्ति से प्रथम अर्थापत्ति को दिखलाया ही जा चुका है। यदि उस सम्बन्ध में यह कहा जाय कि वहाँ पर भी यह कहा गया था कि प्रतिबन्धक के अभाव से सहकृत ही अग्नि-स्वरूप से कार्य की उत्पत्ति होने से अन्यथा भी उपपत्ति होती है और प्रागभाव-प्रध्वंसाभावाद विकल्प से अभाव की अकारणता भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि अप्रतिबद्ध ही शक्ति में भी कारणता बन सकने से उस में भी उक्त प्रसङ्ग समान ही है। परन्तु उस पर यह कहना है कि क्या इस प्रकार का यह एक प्रतिकूल तर्कमात्र है कि यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न हो, तो शक्ति भी कारण न होगी अथवा शक्ति कारण है, अतः प्रतिबन्धकाभाव भी कारण है, इस तरह विपर्यय में पर्यवसान होने से अभाव का कारणत्व सिद्ध किया जा रहा है? पहली बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि केवल तर्क से उपालम्भ नहीं किया जा सकता, उस का विपर्यय में भी पर्यवसान होना चाहिए, अन्यथा वह तर्कभासु हो जाता है और ऐसे तर्कभासु द्वारा प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं किया जा सकता। दूसरी बात भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि जो शक्ति का अङ्गीकार नहीं करता, वह उक्त रीति से प्रतिबन्धाभाव में कारणता दिखलाने हुए विपर्यय में पर्यवसान कैसे कर सकता है? तर्क दो प्रकार का होता है—एक स्वपक्षसाधकानुकूल और दूसरा प्रतिपक्षदूषक। पहले में विपर्यय

में पर्यवसान की अपेक्षा हुआ करती है, अन्यथा साधकानुकूल स्व सिद्ध नहीं होता। दूसरे में उस की अपेक्षा नहीं होती, वहाँ परमतसिद्ध व्याप्ति से ही परपक्ष की अनिष्टसिद्धि की जा सकती है। यहाँ भी यही स्थिति मानकर यदि यह कहा जाय कि परसिद्ध शक्ति से परपक्ष का अनिष्टसाधन किया जा रहा है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ऐसा मानता है कि प्रमित में अर्थात् अधिकरण में प्रमितप्रतियोगिक ही निषेध होता है, न कि अप्रमितप्रतियोगिक, वह—'यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न हो, तो शक्ति भी कारण न होगी' इस तरह शक्ति की कारणता का निषेध नहीं कर सकता—, क्योंकि शक्ति और उस की कारणता, दोनों अप्रमित हैं। यदि उन्हें प्रमित कहें, तो स्वरूप से उन का निषेध नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि भले ही यहाँ तर्क का भी पर्यवसान विपर्यय में न हो, पर शक्ति-कारणत्व का निषेध ही नहीं सिद्ध किया जा सकता। फिर भी जतपक्षों को छोड़कर यदि सुहृद्भाव से कोई यह पूछे कि प्रतिबन्धाभाव यदि कारण न हो, तो प्रतिबन्ध रहने पर भी शक्ति कार्य को क्यों न उत्पन्न करेगी? तो इस का उत्तर यह है कि शक्तिवादी के मतानुसार प्रतिबन्धक वह कहा जाता है, जो पुष्कल कारण रहते हुए भी कार्योत्पत्ति का विरोधी हो। अतः वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि सामग्रीवैकल्य से कार्य का उदय नहीं हुआ, अपितु यही कहना होगा कि विरोधी रहने से ही कार्योदय नहीं हुआ। लोकप्रसिद्ध विरुद्ध होने से सामग्रीवैकल्य को ही प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। कोई भी लौकिक पुरुष भूमि, वायु, जल एवं तेज के संसर्ग से विरहित कोठी में भरे हुए बीजों को या तुरी, वेमा, कुविन्द आदि से विरहित पेटी में रखे हुए तन्तुओं को प्रतिबद्ध नहीं समझता। सामग्रीराहित्यमात्र को यदि प्रतिबन्ध कहा जाय, तो समस्त कारणों की केवल प्रतिबन्धाभाव में ही उपक्षीणता हो जाने से—यह इस का कारण है, यह प्रतिबन्धाभाव है,—इस तरह परीक्षकों को विभक्तरूप से दोनों का विशेषावधारण ही न होना चाहिए। अभाव को कारण न मानने पर कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक-विरोध होगा, यह कथन भी असङ्गत होगा, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक कार्य-प्रतिबन्धकाभाव के विषय होने से प्रतिबन्धकाभाव अन्यथासिद्ध है। यहाँ यदि यह कहा जाय कि तो फिर अनुपलब्धि भी अभाव के उपलम्भ की हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधिनी भावोपलब्धि का अभाव होने से उन के अन्वय-व्यतिरेक को भी अन्यथासिद्ध कहना सहज है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ कारणान्तर न होने से अगत्या अनन्यथासिद्ध अनुपलब्धि को कारण मानना पड़ा है, किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ उस के बिना अभावोपलम्भ के कारण का निरूपण नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय को ही यदि अभावोपलम्भ का कारण कहें, तो भी ठीक नहीं क्योंकि उस के अभाव में सन्निकर्ष न होगा। वहाँ संयोग तथा समवाय का अभाव होने और सम्बन्धान्तरगर्भ ही विशेषण-विशेष्यभाव के प्रत्यक्षाङ्ग होने से वहाँ अभाव प्रत्यक्षगम्य नहीं, अपितु अनुपलब्धिगम्य ही है। अन्यथा 'पर्वतो वह्निमान्' यहाँ संयुक्त विशेषण होने के कारण अग्नि का भी प्रत्यक्षत्व होने लगेगा।

यदि यह कहा जाय कि असम्बद्ध ही अभाव इन्द्रियग्राह्य हो तो क्या हानि है, क्योंकि उस की प्रतीति इन्द्रियान्वय-व्यतिरेक की अनुविधायिनी होने से अपरोक्ष है और इस के अतिरिक्त दूसरी गति भी नहीं है, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि अयोगिप्रत्यक्ष की प्रतीति में इन्द्रियों के सम्बद्ध अर्थग्राहकत्व-नियम का निराकरण नहीं किया जा सकता और अभाव की प्रतीति का अपरोक्षत्व सिद्ध न होने से इन्द्रियान्वय और व्यतिरेक अधिकरण के ग्रहणमात्र में उपक्षीण हो जाने से अन्यथासिद्ध भी हो जाते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि नहीं, अन्वय-व्यतिरेक की अधिकरण के ग्रहणमात्र में उपक्षीणता कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव को इन्द्रिय-ग्राह्य न माना जायगा, तो अन्वय द्वारा त्वगादि से घटादिरूप अधिकरण के गृहीत होने पर उस को रूपाभाव की प्रतीति मान लेना पड़ेगा, क्योंकि अधिकरण तो उस अन्वय से गृहीत ही है। यदि कहें कि चक्षुरिन्द्रिय के न होने से वहाँ अन्वय को रूपाभाव का प्रत्यक्ष न होगा, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रिय अभाव का ग्राहक है ही नहीं, अतएव यह कहा जाय कि अन्वय को प्रतियोगिग्राहक इन्द्रिय न होने से ही रूपाभाव की प्रतीति न होगी। तथाच अभाव की ऐन्द्रियकत्व-सिद्धि हो जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि फिर अभाव को प्रतियोगिग्राहक इन्द्रियग्राह्य मानने-

बाले के मत में भी अन्वय को भी असिद्धिहित मेरु आदि में घट एवं उस के रूपों के अभाव की चाक्षुषता क्यों न होगी ? यदि कहा जाय कि वहाँ प्रतियोगी के चाक्षुष होने पर भी अधिकारण के चाक्षुष न होने से रूपाभाव चाक्षुषत्व नहीं होता, तो इधर से भी कहा जा सकता है कि इसीलिए त्वग्निन्द्रिय से गृहीत घटादि में अन्व को रूपाभाव की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि प्रतियोगिग्राहक इन्द्रिय द्वारा घटादिरूप अधिकारण का वहाँ ग्रहण नहीं होता। यदि कहा जाय कि तब तो घ्राणेन्द्रिय के अगोचर कुसुमादि या चक्षुरिन्द्रियाग्राह्य वायु में गन्ध या रूप के अभाव का प्रत्यक्ष न होगा, तो इस पर यही कहना होगा कि भले न हो, वहाँ वायु आदि में रूपादि का अभाव चाक्षुष न होने पर भी उन में रूपाभावज्ञानरूप व्यवहार में कोई बाधा नहीं पड़ती। षष्ठप्रमाणवादियों के यहाँ सर्वत्र यह नियम नहीं है कि अभाव अनुपलब्धिगम्य ही है, क्योंकि व्यापकाभाव से व्याप्य के अभाव को और कारणाभाव से कार्याभाव को अनुमेय मान लिया गया है अर्थात् यदि वक्ष्यमाण तत्तत् भट्टपादादि वृत्तों की सम्मति से अभाव की प्रमाणान्तर-गम्यता भी है, तो योग्यानुपलब्धिगम्य स्थल में ही प्रतियोगिग्राहक द्वारा अधिकारण के ग्रहण का नियम है, क्योंकि अभाव की उपलब्धि का व्यापकी-भूत जो अनुपलब्धि आदि कारण है, उस के अतिरिक्त इन्द्रियादिरूप कारण की पुष्कलता ही योग्यता है और इन्द्रिय उस का अन्तःपाती होने के कारण उस के अभाव में भी योग्यता न बनेगी। जहाँ प्रमाणान्तरगम्यता होती है, वहाँ उस के बिना भी अभाव का ग्रहण हो सकता है, जैसे व्यापकाभाव से व्याप्याभाव का अनुमान। इस विषय में भट्टपाद लिखते हैं कि अग्नि और धूमरूप भाव के नियम्यत्व-नियन्तृत्व जैसे माने जाते हैं, वे ही नियम्यत्व और नियन्तृत्व अग्नि-धूमसम्बन्धी अभाव के विपरीत प्रतीत होते हैं। भावावस्था में धूम नियन्ता और अग्नि नियम्य होता है और अभाव में इसके विपरीत स्थिति होती है अर्थात् तब धूमाभाव नियम्य और अग्नि का अभाव नियन्ता होता है—“नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्बाह्यी मते। विपरीते प्रतीयेते त एव तदभावयोः॥” कारणभाव से कार्याभाव के अनुमान के विषय में श्रीमण्डनमिश्र ने ‘ब्रह्मसिद्धि’ में बतलाया है कि हेतु के अभाव से फलाभाव का नियम होने से दोषाभाव से विपर्ययाभाव का अनुमान किया जा सकता है—“विपर्ययाभावस्तु युक्तोऽनुमातुं हेत्वभावे फलाभाव इति।” अतएव स्थलविशेष में अनन्यथासिद्ध अन्वय-व्यतिरेक-बल से अनुपलब्धि की अभावप्रतीति में कारणता निश्चित होती है। प्रकृत में स्वपुष्कल कारण से कार्योत्पत्ति हो सकती है, तब प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानना आवश्यक नहीं है और इस मत में अन्योन्याश्रयता का वारण करना भी कठिन होगा। यद्यपि मण्यादि की कार्यप्रतिकूलता का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक से हो सकता है, तथापि विसामग्रीरूपतालक्षण प्रतिबन्धत्व तदीय अभाव की सामग्री के अन्तर्भावज्ञान के सापेक्ष है, क्योंकि विसामग्री प्रतिबन्ध है, यह मान्य है। अतः प्रतिबन्धत्व और सामग्रीत्व का ज्ञान परस्परसापेक्ष होने से अन्योन्याश्रयता दुर्निवार होगी अर्थात् विसामग्र्य ही प्रतिबन्ध है और प्रतिबन्धाभावरूप कारणवैकल्य ही विसामग्र्य है। ऐसी स्थिति में मणि आदि के विसामग्र्यरूप प्रतिबन्धत्व का ज्ञान मन्त्रादि-सम्बन्धी अभावसामग्री के अन्तर्भावज्ञान सापेक्ष है और मन्त्रादि के अभाव का सामग्र्यन्तर्भावज्ञान मणि आदि के प्रतिबन्धत्वज्ञान के अधीन है, क्योंकि प्रतिबन्धाभावरूप कारणवैकल्य से विसामग्र्य का उपपादन होगा, अतएव अन्योन्याश्रयता सुतरां सिद्ध है।

यदि कहा जाय कि मण्यादि के विसामग्रीत्व का ज्ञान भले ही मण्याद्य-भावसम्बन्धी सामग्री के अन्तर्भावज्ञान के सापेक्ष रहो, पर बन्धस्वरूप की तरह अन्वय-व्यतिरेक से ही मण्यादि के अभाव की सामग्र्यन्तर्भाव-सम्बन्धी अवगति हो सकती है, अतः अन्योन्याश्रयता न होगी, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ यह शङ्का होगी कि क्या प्रत्येक मण्याद्यभाव अन्वयव्यतिरेक द्वारा कारणरूप से निश्चित किये जाते हैं या प्रतिबन्धाभावरूप उपाधि से क्रोडीकृत होकर ? पहली बात हो नहीं सकती, क्योंकि मण्याद्यभाव अन्तर्गत हैं, उन के उपसङ्ग्राहक के बिना प्रत्येक के अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय सौ वर्षों में भी नहीं किया जा सकता। दूसरा पक्ष मानें, तो विसामग्रीरूप प्रतिबन्धज्ञान के अधीन प्रतिबन्धाभावत्वरूप उपाधि का ज्ञान हुए बिना मण्याद्यभावसम्बन्धी सामग्र्यन्तर्भाव का ज्ञान होना कठिन है, अतः अन्योन्याश्रयता का निराकरण फिर भी बना ही रहेगा,

इसलिए द्वितीय पक्ष भी अस्वीकार्य है। शक्तिपक्ष में प्रतिबन्ध की जो असम्भवता पीछे कही गयी, वह भी ठीक नहीं है, अन्यथा शक्ति को न माननेवालों के समान उसे माननेवालों को भी कारणों के कार्योदासीन्य को ही प्रतिबन्ध मान लेना पड़ेगा, क्योंकि विसामग्र्यरूप प्रतिबन्ध का तो उपयुक्त अन्योन्याश्रयदोषरूप रीति से खण्डन किया ही जा चुका है। अतः प्रतिबन्धाभाव के कारण न बनने से कार्योत्पत्ति की, बिना शक्ति को स्वीकृत किये, अन्यथा उपपत्ति हो ही नहीं सकती।

शक्ति का स्वीकार किये बिना उपादानोपादेयभाव-नियम की उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः उसे भी शक्ति में प्रमाण मानना ही चाहिए। वहाँ स्वभावभेद से ही उपपत्ति करके जो पहले अन्यथा उपपत्ति कही गयी थी, उस का अभिप्राय क्या है ? क्या शक्तिवादी को भी अन्तर्तो-गत्वा जब स्वभाव की शरण लेनी ही पड़ती है, तब अच्छा है कि पहले से ही स्वभाव मान लिया जाय, यह, अथवा स्वभावातिरिक्त शक्ति में प्रमाण का न होना। यदि प्रथम पक्ष, तो विसा मानने से सर्वत्र स्वभाववाद का पाद-प्रसार होने से सामान्य, समवाय एवं विशेष आदि का भी पराकरण प्रसक्त हो जायगा। अनवस्थाभय से सत्ता में जैसे सत्तान्तर माने बिना ही स्वभाव-विशेषवश सद्बन्धव्यवहारहेतुत्व मान लिया जाता है, वैसे ही अन्यत्र द्रव्यादि में भी स्वभावविशेष से सद्बन्धव्यवहार उपपन्न हो जाने से सत्तासामान्य का अपलाप हो जायगा। इसीतरह “समवायवान् अयं घटः” यहाँ अनवस्था-भय से जैसे समवायान्तर माने बिना ही समवाय की घट के प्रति विशेष-णता मान ली जाती है, वैसे ही “शुक्लः पटः, चञ्जति चैवाञ्जलम्” यहाँ भी गुण-कर्म में स्वभावभेद से ही विशेषणविशेष्यभाव होकर समवाय का अपलाप हो जायगा। इसी प्रकार जैसे अन्त्यविशेषों में स्वभाववशात् परस्परव्यावृत्ति मानी जाती है, क्योंकि विशेषों में विशेषान्तर मानने से उन की भी, अनुगतरूपवत्ता से रूपादि की तरह, एक तो अन्त्यविशेषत्व की हानि होगी और दूसरे अनवस्था प्रसक्त होगी। अगत्या किन्हीं विशेषों को निर्विशेष मानने पर उन्हीं को अन्त्यविशेष मानना पड़ता है, वैसे ही नित्य द्रव्यों को भी स्वभाववशात् व्यावृत्तिबुद्धिजनकत्व होने से अन्त्यविशेष का अपलाप हो जायगा। इसीतरह कालादि का भी अपलाप प्रसक्त होगा। अतः स्वभावाश्रयण से काम नहीं चल सकता। यदि स्वभावातिरिक्त शक्ति में कहीं भी प्रमाण नहीं है, यह कहा जाय, तो यह भी ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि जहाँ जहाँ प्रमाण है, वहाँ वहाँ वस्त्वन्तराधीन ही प्रमाण-व्यवहार हुआ करता है और जहाँ वह नहीं है, वहाँ उस के स्वभावभेद से ही व्यवहार होता है, ऐसी व्यवस्था है, तो यहाँ भी प्रमाण होने से ही स्वरूप से अतिरिक्त शक्ति का अङ्गीकार कर लेना चाहिए, ऐसी स्थिति में स्वभाववाद का अवलम्बन अनावश्यक है।

‘हिन्दूकोड’

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

आजकल कुछ लोग ‘हिन्दूकोड’ द्वारा हिन्दूधर्मशास्त्रों में उलट-फेर करना चाहते हैं। उन का मत है कि अबतक हिन्दूधर्मशास्त्र अव्यवस्थित हैं, अतः आज आवश्यक है कि श्रुति, स्मृति और उस की टीकाओं और व्यवस्थाओं को तथा रीतियों, परिपाटियों को वैज्ञानिक रूप से सुव्यवस्थित कर दिया जाय। ऐसे सज्जन यह मानकर ही चलते हैं कि विभिन्न परिस्थितियों में धर्मशास्त्रों में काटछोट होता रहा है, उन का घटाया-बढ़ाया जाना अव्याजनीय नहीं है। इसीलिए ‘हिन्दू ला कमेटी’ का कुछ लोग समर्थन करते हैं। यद्यपि सनातनधर्म, आर्यसमाज, हिन्दूसभा एवं अनेकों कांग्रेसियों ने तथा कई प्रसिद्ध नेताओं ने भी इस का विरोध किया है, चारों ओर जोरशोर से इस का विरोध हो रहा है, तथापि ऐसे कुछ लोग, जिन के लिए शास्त्रीय नियमों के पालन में ही अड़चन मालूम पड़ती है, जिन की स्वेच्छाचारिता में शास्त्र बाधक है, इस ‘कोड’ के समर्थक हैं। दुरदृष्टवश वर्तमान शिक्षा के प्रभाव से आजकल ऐसे ही लोग असेम्बलियों में पहुँच गये हैं। ‘रावजमेटी’ में भी ऐसे ही लोगों की नियुक्ति की गयी है। वे लोग कोड के पक्ष में आकाश-पाताल के कुलावे मिड़ाया करते हैं। वास्तव में कोई भी संस्था तब ही तक अपना महत्व कायम

रख सकती है, जबतक कि उस के नियम दृढ़ रहते हैं। जो अवसरवादिता को प्रश्रय देकर, सदस्यों के प्रलोभन या प्रवाह से बहकर अपने नियमों को रबड़ छन्द की तरह बढ़ाया-घटाया करती है, वह अपना महत्व खो बैठती है। मुसलमान, ईसाई आज भी अपने धर्मग्रन्थ में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं महसूस करते, कोई भी फिरका अपने धर्मग्रन्थ का एक अंश भी निकालने को तैयार नहीं है, एक पन्ने के अपमानित होने पर दफ्ता, लड़ाई तथा मुकदमेबाजी तक की नौबत आ जाती है, परन्तु कुछ हतभाग्य हिन्दू आज अपने धर्मग्रन्थों का जनजा निकालकर उन्हें जलाने तक में नहीं हिचकते, वे अपने शास्त्र का आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं। वस्तुतः इस का एकमात्र कारण है विलासिता की वृद्धि और आत्मसंयम की ग्यूनता। सर्वदा ही पान, भोजन, व्यवाय में आसक्त प्राणी तत्सम्बन्धी नियमों को तोड़ना चाहता है, परन्तु धार्मिक समाज उस को वाञ्छा पूरी नहीं होने देता। वरु उसी का परिणाम है यह सरकारी कानून का शरण लेना। एक तरफ कानूनों को तोड़कर आजादी की चर्चा की जाती है, दूसरी तरफ रही-सही स्वतन्त्रता को भी सरकारी कानूनों के शिकंजे में बाँधने का उपहासास्पद प्रयत्न किया जा रहा है। यही है गुलामी मनोवृत्ति का जोता-जागता उदाहरण! वस्तुतः, हमारे वेद अनादि, अपौरुषेय है, उन में मनुष्य की तो बात ही क्या, ईश्वर भी परिवर्तन करने का अधिकार नहीं रखते। वे भी सुसप्रतिबुद्धन्याय से पूर्वकल्प के वेद का ही स्मरण करके उत्तर कल्प में उपदेश करते हैं। उन में मात्रा, स्वर तक का भी कभी हेर-फेर नहीं होता। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि भी किसी नवीन धर्म का निर्माण नहीं करते, अपितु सनातन से ही विद्यमान धर्म का श्रुतियों के आधार पर उल्लेख करते हैं। उन सब में एकवाक्यता है, विशुद्धता नहीं है। जिस को आजकल के सज्जन उन का मतभेद कहते हैं, वह मतभेद नहीं, अपितु शाखाभेद, सम्प्रदाय-भेद, युगभेद से व्यवस्थित हैं। कुछ ही दूर का जल दूसरी जगह की व्यक्ति को हानिकारक सिद्ध होता है, इसीलिए एक जगह का नियम दूसरी जगह लाभदायक न होकर हानिकारक ही सिद्ध होता है। अतएव जाति, सम्प्रदाय, कुल एवं देश के आचार पृथक्-पृथक् होते हैं। 'गीता' ने भी "उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः" इत्यादि वचनों से कुलधर्म और जातिधर्म को शाश्वत और संरक्षणयोग्य बतलाया है। अतः सब को एक कर देना साङ्ख्यिक सम्पादन करना है। जैसे कई लोग एक वर्ण बनाना चाहते हैं, वैसे ही सब का एक धर्म बनाना है। प्रस्तुत कोड में धर्मशास्त्र का नाम लेकर केवल धोखा दिया गया है। इस कोड के बन जाने पर हिन्दूधर्मशास्त्र मंसूख हो जायेंगे, उन के पठन-पाठन, रक्षण आदिकों की उपेक्षा हो जायगी, जिस से हिन्दूसंस्कृति सर्वदा के लिए नष्ट हो जायगी। शास्त्रों के सभी विधानों में धर्म और अदृष्ट का सम्बन्ध है, जिस का इहलोक-परलोक दोनों ही से सम्बन्ध है। किसी मनुष्य के बनाये नियमों का प्रचारवल से भले ही कुछ लोगों में पालन होने लगे, परन्तु वे फलदाता ईश्वर को भी स्वीकृत है या नहीं इस में क्या प्रमाण होगा? धर्म और उस का फल किसी व्यक्ति, समाज या सरकार के हाथ में नहीं है। मरने के बाद कौन कहाँ जाय, किसे क्या कैसे मिले, इसपर किसी भी सरकार का अधिकार नहीं है। यह ईश्वर का कार्य है, इस का ज्ञान ईश्वरीय वेद और वेदार्थभूत आर्ष ग्रन्थों से ही हो सकता है। कोड से अगर अन्य कोई सामाजिक अङ्गन न भी पड़े, तो भी अदृष्ट और परलोकसम्बन्ध की हानि तो अनिवार्य है। किन्हीं मनुष्यों द्वारा बनाये गये अंग्रेजी आदि के वाक्यों में धर्मशास्त्रों के भावों का पूरा अनुवाद करने तक की ताकत नहीं, फिर उस के प्रतिनिधित्व करने की ताकत तो ही कैसे सकती है? सापिण्ड्य शब्द के पिण्ड शब्द का संस्कारसंवलित जो वैध वस्तु अर्थ है, वह अर्थ- 'राइस बोल' शब्द से निकल ही नहीं सकता। कोड के स्वरूप पर विचार करें, तो वह शास्त्र के विरुद्ध भी है, शास्त्रीय धार्मिक भावनाओं का अपमान करनेवाला है, साथ ही इस से सामाजिक विशुद्धता भी फेंकेगी। विवाह, गोद तथा उत्तराधिकारसम्बन्धी ऐम नियम हैं, जिन में सगोत्रविवाह, पुनर्विवाह, असवर्णविवाह तक का समर्थन हो जाता है।

कन्याओं का उत्तराधिकार शास्त्रविरुद्ध तो है ही, साथ ही भाई-बहन के विधतन का भी कारण होगा, कन्यावध को प्रश्रय मिलेगा, हर कन्याएँ अपने हिस्से के घर को किसी के हाथ बेचेंगी, इस तरह कुछ दिनों में सब

घर गैरों के हाथ बिक जायेंगे। या तो फिर मुसलमानों के समान भाई-बहन के विवाह की प्रथा चलेगी, सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा नष्ट होगी। लाभ कुछ न होगा। यदि भावज पति के घर से सम्पत्ति लायेगी, तो नन्द उस के घर से सम्पत्ति ले जायगी। अगर बहन के हिस्से में कर्ज भी आया, तो उस से विवाह भी कोई न करना चाहेगा, इत्यादि। धर्मसङ्घ, व० स्वराज्यसङ्घ, महामण्डल, गोताप्रेस आदि ने कोड पर विस्तृत विचार किया है। यह बिल्कुल ठीक है कि किसी भी शासकों को धार्मिक, सामाजिक मामलों में दखल देने का हक नहीं प्राप्त है। शास्त्रों में बतलाया गया है कि राजा पर धर्म का शासन होता है, धर्म पर राजा का शासन नहीं है। जो अधिकार पूर्वशासकों को नहीं था, वह उन के उत्तराधिकारियों को भी नहीं प्राप्त हो सकता। जो कतिपय परिवर्तनों का उदाहरण सामने रखा जाता है, वह भी इसी अन्याय में शामिल समझना चाहिए। सर्वथा शास्त्र के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था चलनी समुचित है। हाईकोर्टों और प्रीवी कौन्सिलों की व्यवस्था यदि मूल धर्मशास्त्र के विरुद्ध जाती है, तो उन्हीं का संशोधन और सुधार होना चाहिए। जो कहा जाता है कि न्यायाधीश के सामने सर्वमान्य धर्मशास्त्रों का सङ्कलन न होने से दिक्कत होती है, अतः लिखित प्रामाणिक धर्मशास्त्रसंग्रह तैयार हो जाय तो क्या हानि है? उस पर कहना यही है कि जो धर्मशास्त्र के पण्डित न हों, उन को न्यायाधीश बनने का अधिकार ही नहीं है। धर्मशास्त्रों के लिए सब सङ्ग्रह तैयार ही हैं। मिताक्षरा, दायभाग, हेमाद्रि, पराशर माधव, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि धर्मशास्त्रों का प्रत्यक्ष स्वरूप है ही, उन का अध्ययन करने से किसी तरह की शङ्का को अवकाश ही नहीं रहता। मोमांसादृष्टि से ही शास्त्रों का अभिप्राय समझ में आता है, अनुवादों से नहीं।

कहा जाता है कि आज देश में ऐसी कानूनी विभूतियाँ उपस्थित हैं कि जो किसी देश के कानूनी पण्डितों के सामने अपनी विद्वत्ता की धाक जमा सकती हैं, उन के देशप्रेम और संस्कृतिप्रेम के प्रति किसी को शङ्का नहीं हो सकती। ऐसा करनेवाले जनता की आँखों में प्रत्यक्ष धूल झोंकते हैं। जिन लोगों ने भारतीय संस्कारों एवं शिक्षणों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखा है, पाश्चात्य आदर्शों के ही आधार पर जिन की शिक्षा हुई है, आचार-विचार में जो बिल्कुल अंग्रेज हैं, पान, भोजन, व्यवाय पर जिन्होंने कभी किसी ढङ्ग का नियन्त्रण नहीं रखा है, सन्ध्या, जप, ध्यान, वैदिक आधार का जिन्हें कभी दर्शन भी नहीं हुआ, ऐसी 'कानूनी विभूतियाँ' भले ही सारे विद्वत् पर धाक जमायें रहें, परन्तु वे वस्तुतः हमारे धर्मशास्त्र को स्पर्श करने के अधिकारी नहीं हैं। जैन परम चतुर भी वैरिस्टर घड़ी के पुर्जों में रद्दोददल करने का अधिकारी नहीं होता, वैसे ही शास्त्रीय ढङ्ग से जिन का अध्ययन नहीं है, आचार-विचार नहीं है, वे लोग धर्मशास्त्र पर मत देने के अधिकारी नहीं हो सकते। कहा जाता है कि अन्त में ऐसा शासन-विधान होनेवाला है कि सारी सम्पत्ति सरकारी हो जायगी, तब फिर स्त्रियों के अधिकार का विरोध क्यों किया जाय? परन्तु उन को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि यही स्थिति रही, ऐसे ही संस्कृतिप्रेमी रहे, तो ईश्वरवाद और धर्मवाद पर भी रुकावट पड़ सकती है, फिर तब के लिए तो कहना ही क्या है? आस्तिक लोग तो उस स्थिति का भी सामना करने के लिए कटिबद्ध होंगे। रही बात क्षेपकों की, सो तो ऐसी शङ्का कहीं भी की जा सकती है। आस्तिक लोग मीमांसादृष्टि से उस का भी विवेचन कर ही लेते हैं। कोई भी नास्तिक अपने मन्तव्य के विपरीत वचन को क्षेपक कहने को प्रस्तुत हो जाता है।

धर्मसङ्घ समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

१ टेला, पो० बरौत, जि० इलाहाबाद—गत महाशिवरात्रि के दिन स्थानीय श्रीअष्टभुजो देवी के मन्दिर में बाबू लालबहादुरसिंहजी जिलेदार के प्रयत्न से अखण्ड नामसंकीर्तन आदि कार्य हुए। विराट् सभा में 'हिन्दू-कोड' का विरोध भी किया गया। सङ्घ के सदस्य बनाये जा रहे हैं।—(श्रीदादीबाबा)। २ श्रीविष्णुमहायज्ञ—शेवरीनारायण जानेवाली सड़क पर विलासपुर से १५ मील की दूरी पर लीलागर नदी के तटपर नवकुण्डी श्रीविष्णुमहायज्ञ गत फा० शु० २ बुधवार से १२ शुक्रवार तक बड़े

समारोह से हुआ।—श्रीराघवेन्द्र रामाजुजदास, हनुमान धारा, पो० मस्तूरी।
३ श्रीक्षारखण्डी महादेव पञ्चायती हनुमान कुटी भगतपुर, वडिहारी,
पातालनाथ महादेव ग्राम ब्रह्मौली रामगढ़, चौमुखी महादेव चकलाल राम-
शाला (जि० आजमगढ़) आदि स्थानों पर महाशिवरात्रि के उपलक्ष्य में
पं० रामनरेशजी दुवे तथा पं० कालिकाप्रसादजी के प्रयत्न से बड़े उत्साह से
उत्सव मनाया गया। ४ ग्राम परनापुर, गोकुल स्मारक, चौबेपुर, बनारस
शाखा में श्री पं० गोपीनाथजी तिवारी सङ्घ के सङ्कल्प से गायत्री पुरश्चरण
कर रहे हैं, जिस की समाप्ति आगामी चैत्रमास में हो जायगी।—श्री तुरन्ता
देवी। ५ लखनऊ में लक्ष्मणजी—चैत्र कृष्ण ५ रविवार से कूड़ियाघाट
गोमतीतट पर धर्मसङ्घ के सङ्कल्प से लक्ष्मणजी महायज्ञ होना निश्चित हुआ है,
जिसमें २००० ब्राह्मण भाग लेंगे। साथ ही अखण्डकीर्तन, रामायण, गीता,
पुराणादि पाठ भी चलते रहेंगे। इसी अवसर पर युक्तप्रान्तीय धर्मसङ्घ का
विशेषाधिवेशन करने का भी आयोजन किया गया है। १० शुक्रवार को अखण्ड-
भारत सम्मेलन, ११ शनिवार को हिन्दूकोडविरोधी सम्मेलन और १२ रवि-
वार से १४ मंगल तक यु० प्रा० ध० सं० का विशेषाधिवेशन होगा। पाठ
की नियत संख्या यदि पूर्ण हो गयी, तो बुधवार अमावास्या को पूर्णाहुति
होगी। ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी तथा श्रीस्वामी करपात्री
जी महाराज भी पधार गये हैं।—राजा युवराजदत्तसिंह (ओयल कैमहरा
नरेश) स्वागताध्यक्ष। ६ श्रीअत्यतिरुद्र महायज्ञ—अधिक चैत्र शुक्ल ३
शुक्रवार से श्रीओङ्कार (मान्धाता) क्षेत्र में श्रीनर्मदातट पर उक्त महा-
यज्ञ होगा, जिस में प्रायः ७०० विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा ११ कुण्डों में ढाई
करोड़ आहुतियाँ दी जायँगी। चैत्र शुक्ल १५ बुधवार को समाप्ति होगी।
इसी अवसर पर धार्मिक सम्मेलनादि भी होंगे।—श्रीसिद्धनाथ शुक्ल (मंत्री)।
नवीन शाखाएँ—

१ कल्लपुरा, पो० जोनजाना (बुलन्दशहर)—फा० कृ० १०।
श्रीपूरनदत्त शर्मा (मन्त्री), श्रीशिवदानसिंह सैलानी (संस्था०)। २ श्रीसती-
शङ्कर ब्रह्मचर्याश्रमसंस्कृत पाठशाला, अतरौली, पो० वासगाँव, जि० गोरख-
पुर—माघशुक्ल ८। श्री पं० सन्तप्रसादजी द्विवेदी एम्. ए., एल्. एल्.
बी. (अध्यक्ष), श्री पं० शिवाकान्तजी त्रिपाठी एम्. ए., एल्. एल्.
बी. (मन्त्री), श्रीठाकुर सत्यदेवसिंहजी एम्. ए., एल्. एल्. बी.
(सहायक मन्त्री), श्री पं० रामरेखा राय एम्. ए., एल्. एल्. बी.
ग्राम धनौड़ा (उपमन्त्री),—श्री पं० सोमनाथ शास्त्री त्रिपाठी। ३ नैफामऊ
पो० भगवन्तनगर, जि० उन्नाव—श्री डाक्टर वैजनाथ तिवारी (अ०)।
४ विगहपुर (उन्नाव)—श्रीश्याममनोहरजी अग्निहोत्री (अ०),
श्री विश्वम्भरनाथ वर्मा (मं०)—(श्री प्रेमप्रकाशजी)। ५ श्रीसरस्वती विद्या-
लय, भुमुआ, आरा (बिहार)—रा० व० श्री हरिनन्दनजी द्विवेदी
(आनरेरी मांजस्ट्रेट) (अध्यक्ष), श्री बाबू मथुराप्रसादजी (मुखतार)
(उपा०)। ६ विद्यामन्दिरम्, पो० गोला, जि० गोरखपुर (शाखा सं०
९१११०—श्री पं० केदारनाथजी त्रिपाठी आचार्य विद्याभूषण (अ०),
श्री पं० वक्रतुण्डजी आयुर्वेदाचार्य (मन्त्री), डॉ० श्री हरेन्द्रनाथ सेनगुप्त
(उ० मं०)। ७ श्रीसंस्कृत महाविद्यालय, इटारसी—इस पूर्वस्थापित
शाखा के पदाधिकारियों में इस प्रकार संशोधन की सूचना प्राप्त हुई है—
फा० कृ० ११। श्री पं० शिवप्रसाद शास्त्री वेदान्ताचार्य (संरक्षक), श्री पं०
शिवकुमार शास्त्री व्याकरणाचार्य (अ०), श्री पं० प्रेमशङ्कर मिश्र साहित्यशास्त्री
(मं०), श्रीमथुराप्रसादजी दीक्षित (उ० मं०), श्रीरामचन्द्र त्रिपाठी
(संयोजक)। ८ धमना, पो० जरमुण्डी, जि० दुमका (सं० पं०)—
फा० कृ० ८। श्रीमोहनलालजी पञ्जियार (अ०), श्रीमुवनेश्वरप्रसादजी
(मं०), श्रीयदुनाथ पैकरा थ० पं० (उ० मं०), श्रीमहावीरप्रसादजी
राउत (कोषा०), श्री पं० शैलजानन्दजी अध्यक्ष श्रीनौनिहाट शाखा तथा
श्री पं० वासुदेवजी उपाध्यक्ष श्रीनौनिहाट शाखा (निरीक्षक) ब्रह्मचारी
श्रीगोखलेजी (संरक्षक)। ९ टेला, पो० बरौत, जि० इलाहाबाद (सं०
११६१११),—श्री पं० तुलसीरामजी (अ०), श्रीरामप्रतापजी (उपा०),
श्री पं० रामनाथजी (मं०), श्री पं० चन्द्रिकाप्रसादजी (उ० मं०),
श्रीबाबू लालबहादुरसिंहजी (प्रचारमन्त्री)।—(श्रीदादोबाबा)। १० कटरा,
पो० ऊज, बनारस स्टेट (सं० ११७११०)—श्री पं० देवनारायणजी
(अ०), श्रीमहादेवप्रसादजी (उपा०), श्रीद्वीप्रसादजी (मं०),
श्रीप्रेमनाथजी दुवे (उ० मं०), श्रीवैजनाथजी चौधरी (कोषाध्यक्ष)।

११ सुरैन्वा, पो० बरुना, जि० आरा शाहाबाद (१३१५)—२ फरवरी।
श्री पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी (अ०), श्री पं० जगदीपजी पाठक (उपा०),
श्री पं० मुनिनाथजी शास्त्री (मं०)। पाक्षिक सभा करने का निश्चय हुआ।
१२ श्रीसंस्कृत महाविद्यालय, डुमराँव (सं० १३२१६) ३१ जन०।
बक्सर सब डिविजनल धर्मसङ्घ की स्थापना महाविद्यालय के अध्यक्ष श्री पं०
श्रीनाथजी त्रिपाठी के सभापतित्व में होकर निम्नलिखित पदाधिकारियों का
निर्वाचन हुआ—श्री पं० अम्बिकादत्त शर्मा (अ०), श्रीस्वामी रामनारायणजी
गिरिवोक्सा (उपा०), श्रीजनार्दन मिश्र वेदाध्यापक सं० मं० विद्या० (मं०),
श्रीविद्वनाथ मिश्र (उ० मं०), श्रीमुनिनाथ त्रिपाठी (प्रचा० मं०), श्रीधनुष-
धारी राय चौधरी (कोषाध्यक्ष)। १३ सण्डौला, जि० हरदोई—
महाशिवरात्रि। स्थान—श्रीशीतलदेवी का मन्दिर। बाबा श्रीसेवादासजी
निर्मोही (अ०), डाक्टर डी. एन्. मिश्र (उपा०), श्रीबाबूलाल गुप्त
'श्याम' (मं०), श्री पं० गिरिजाशङ्करजी दीक्षित वकील (उ० मं०)।
१४ श्रीश्रीनिवासधाम, पो० जिगना, जि० मिर्जापुर (सं० ११५१३)—
श्रीमौनी स्वामीजी (अ०), श्रीस्वामी केवलानन्दजी सरस्वती (उपा०),
श्रीशीतलप्रसादजी पाठक (मं०)—श्री अवधविहारीशरण त्रिपाठी।
१५ सु० पो० बेथर जि० उन्नाव (शा० सं० ११८५)—श्री पं०
श्रीनयनजी (अ०), श्रीरामकिङ्करजी (मं०)। १६ सु० पो० अचलगञ्ज,
जि० उन्नाव (शा० सं० ११९१६)—श्री पं० गुरुनारायण मिश्र (अ०), श्री
सिद्धनाथजी अवस्थी (मं०)। १७ सु० रावतपुर, पो० सिकन्दरपुरकरन,
जि० उन्नाव (शा० सं० १२०१७)—श्री पं० चन्द्रिकाप्रसादजी (अ०),
श्री पं० कृष्णकुमारजी (मं०)। १८ रितनई, पो० सिकन्दरपुरकरन,
जि० उन्नाव (शा० सं० १२११८)—श्री पं० उमाशङ्करजी (अ०),
श्री पं० शिवनारायणजी (मं०)। १९ मैसईनवस्ता, पो० बेथर, जि०
उन्नाव (शा० सं० १२२१९)—श्री पं० शिवनारायणजी (अ०), श्री
पं० देवीसहायजी (मं०)। २० गौरीबिमानपुर, पो० बेथर, जि० उन्नाव
(शा० सं० १२३१०)—श्री पं० चन्द्रनारायण त्रिवेदी (अ०), श्रीमाखन
अहीर (मं०)। २१ मवइया माफो, पो० बेथर, जि० उन्नाव (शा०
सं० १२४११) श्रीडाक्टर रमाशङ्करजी (अ०), श्रीमदनमोहनजी (मं०)।
२२ बण्डहमीरपुर, पो० बेथर, जि० उन्नाव (शा० सं० १२५१२)—
श्रीपं० हनुमानजी (अ०), श्रीशिवरामजी (मं०)। २३ मोहदीपुर, पो०
बेथर, जि० उन्नाव (शा० सं० १२६१३)—श्रीरामशङ्करजी (अ०),
श्रीपं० हरिहरप्रसादजी (मं०)। २४ झडहा, पो० बेथर, जि० उन्नाव
(शा० सं० १२७१४)—श्रीश्यामकिशोरजी (अ०), श्रीराधाकृष्णजी
(मं०)। २५ बसैना, पो० बेथर, जि० उन्नाव (सं० १२८१५)—
श्रीहनुमानप्रसादजी (अ०), श्रीपुत्तिसिंहजी (मं०)। २६ मैसई, पो०
अचलगञ्ज, जि० उन्नाव (सं० १२९१६)—श्रीवैजनाथजी (अ०),
श्रीसूर्यकुमारजी (मं०)। २७ सु० पो० सिकन्दरपुरकरन, जि० उन्नाव
(सं० १३०१७)—श्रीविश्वेश्वरनाथजी (अ०), श्रीचन्द्रलालजी (मं०)।
'हिन्दू-कोड'-विरोध

१ शिराली, जि० होन्नावर (कर्णाटक)—३१ जन०। ह० २८७।
२ मुडेंश्वर, जि० होन्नावर (कर्णाटक)—ह० ६४। ३ श्रीचित्रापुर मठ,
शिराली (कर्णाटक)—ह० २७, श्रीगणेशशर्मा हलदीपुर। ४ श्रीसंस्कृत
महाविद्यालय, इटारसी—ह० ७००, श्री पं० शिवकुमार पाण्डेय।
५ दुदुली, पो० खनास्य, जि० नैनीताल—६ फरवरी। ह० ३३२, श्रीगोपाल
दत्तजी। ६ बाबई, जि० होशङ्गाबाद—५ फरवरी। श्री रामसूरतमणि
त्रिपाठी के सभापतित्व में सभा कर कोड का विरोध किया गया और
अधिकसंख्यक हस्ताक्षरों से विरोधपत्र भेजे गये।—श्री पं० मदनमोहन
भट्ट, अध्यापक गीतासंस्कृत पाठशाला, बम्बई। ७ इटारसी—३१
दिस०। श्री पं० शिवकुमारजी पाण्डेय की अध्यक्षता में सार्वजनिक सभा
हुई। २००० से भी अधिक हस्ताक्षरों से विरोधपत्र भेजे गये।
८ धर्मसङ्घशाखा धमना, पो० जरमुण्डी, जि० दुमका (सं० पं०)—
ह० २८२, श्रीयदुनाथ पैकरा। ९ श्रीगङ्गानगर (बीकानेर राज्य)—
१६ दिस०। ह० १, श्रीरामेश्वरप्रसाद शर्मा, पोस्टल क्लर्क और
सिगनलर। १० सुथलिया, (राजगढ़ राज्य)—२० दिस०, ह०
२००, श्रीकुंअर नगेन्द्रनाथसिंहजी। ११ रन्वौली (सीतापुर)—२२
दिस०, ६ महिलाओं ने विरोधपत्र भेजा, श्री कु० शारदा मिश्र। १२

कानपुर—२१ दिस०, इ० १३४, श्रीगोपालदासजी, फर्म लाला जयकिशनदास दामोदरदास, नयागञ्ज। १३ कलकत्ता—२२ जन०। श्रीमुरारीलालजी पोद्दार ने 'कोड' के विरोध में भारतसभा, भारतमन्त्री, प्रधानमन्त्री, वाइसराय आदि के पास तार भेजे। १४ कानपुर—२३ दिस०, इ० ७, श्रीमुकुटबिहारीलाल त्रिपाठी। १५ श्रीशीतलामन्दिर, सण्डीला, जि० हरदोई—२८ दिस०, इ० ६१, श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम'। १६ 'रावकमेटी' का काले झण्डों से स्वागत—ता० १७ फरवरी को प्रयाग आने पर धर्मसङ्घ, हिन्दूमहासभा, सनातनधर्मसभा, कोडविरोधिनी समिति आदि प्रमुख संस्थाओं की ओर से प्रातः ८ बजे इलाहाबाद स्टेशन पर 'रावकमेटी' का काली झण्डियों से स्वागत करते हुए विराट् विरोध प्रदर्शन किया गया।—श्रीमहेशप्रसादजी। १७ बड़ौत (मेरठ) ८ फरवरी। आज स्थानीय धर्मसङ्घ के वार्षिक अधिवेशन में श्रीयुत पं० माधवाचार्यजी शास्त्रार्थमहाराथी ने एक प्रस्ताव 'हिन्दूकोड' के विरोध में उपस्थित किया, जिस का समर्थन एवं अनुमोदन पं० चन्द्रशेखरजी शास्त्री 'द्विवेदी' एवं पं० अखिलानन्दजी 'कविरत्न' ने किया। दूसरा प्रस्ताव डा० देशमुख के 'सगोत्र विवाह बिल' के विरोध में किया गया, दोनों प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुए। १८ देहली, १२ फरवरी। देहलीनिवासी हिन्दुओं की एक विराट् सभा लक्ष्मी मार्केट में म० म० पं० गिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी के समर्पित्व में हुई। श्री बाबू बेणीप्रसादजी जयपुरिया ने कोड के विरोध में प्रस्ताव उपस्थित किया। प्रो० जे. बी. दुरकाल एम्. ए. विद्यावारिधि अहमदाबाद, सोलीसिटर कामदार बम्बई, सेठ भगवानदासजी, श्रीजयदयालजी गोयनका आदि ने उस का समर्थन किया। दूसरा प्रस्ताव श्रीचन्द्रशेखरजी शास्त्री द्विवेदी ने डा० देशमुख द्वारा उपस्थापित 'सगोत्रविवाहबिल' के विरोध में रखा, दोनों प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुए। १३ फरवरी को भी गान्धी प्राउण्ड में 'सनातनधर्म नवयुवक मण्डल' तथा 'श्रीधर्मसङ्घ' के उद्योग से देहलीनिवासी हिन्दुओं की एक विराट् सभा भारतप्रसिद्ध महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज के तत्वावधान में हुई। कोड तथा बिल का विरोध किया गया।

१९ पटना—'रावकमेटी' के पटना आने पर जनता की ओर से जुलूस निकालकर और सार्वजनिक सभा करके घोर विरोध प्रकट किया गया। कमेटी के सामने गवाही देते हुए राजा सर रघुनन्दनप्रसादसिंह मुंगेर, श्रीभवध-बिहारीशरण गवर्नमेण्ट प्लीडर आरा, श्रीप्रजनन्दनप्रसादजी रिटायर्ड सबजज भागलपुर आदि २४ व्यक्तियों ने 'कोड' के विरुद्ध मन्तव्य प्रकट किया। श्री पं० लक्ष्मीकान्त झा एडवोकेट पटना ने काफी देर तक कमेटी से बहस की।

अन्यान्य समाचार

धर्मसङ्घ शाखा कटरा (बनारस राज्य) के उपाध्यक्ष बाबू विश्वनाथ प्रसादजी का तथा प्रधानाध्यक्ष श्री पं० देवनारायणजी दुबे की पुत्रवधू का स्वर्गवास हो गया।

श्रीस्वामी करपात्रीजी की यात्रा

शिवगढ़ से बेथर—उन्नाव प्रान्त की सीमा पर शिवगढ़ से करदहा तक हजागे की जनसंख्या द्वारा स्वामीजी का स्वागत हुआ। इस अवसर पर श्रीरानी करदहा की ओर से उन के आता पं० विश्वनाथजी त्रिवेदी तालुके के प्रबन्धक एवं धर्मसंघ के प्रधान प्रचारक श्रीविश्वम्भरनाथजी वाजपेयी वकील उपस्थित थे। अपराह्न में आस-पास के २५ गाँवों की पौंच हजार जनता की उपस्थिति में स्वामीजी ने विश्वशान्ति के लिए धर्म का अवलम्बन करने का आदेश दिया। वीस प्रांतों में 'धर्मसंघ' की स्थापना हुई। श्रीरानी साहिबा ने उन्नाव में होनेवाले आगामी यज्ञ में २६ ब्राह्मणों के लिए पर्य्यन्त शाक्य, मासपर्य्यन्त भोजन तथा वरणसामग्री और २०० ब्राह्मण-भोजन कराने के लिए सङ्कल्प किया और स्वतः एक स्थान पर कात्तिक मास भर कल्पवास करने का निश्चय किया। तालुके के प्रबन्धक महोदय ने भी ऐसे ही १३ ब्राह्मणों के लिए सङ्कल्प किया। सूर्योदय के पहले ही स्वामीजी उन्नाव प्रान्तार्गत मौरावाँ पधारे। वहाँ भी आप का बड़े समारोह के साथ स्वागत किया गया। तीसरे पहर आप का प्रवचन

हुआ। कुँवर हृदयनारायण सेठ तथा लाला त्रिलोकीनाथ सेठ ने अपने हलकों के प्रत्येक ग्राम में धर्मसंघ की स्थापना करने का वचन दिया। मौरावाँ में धर्मसंघ-शाखा स्थापित हुई। ता० ७ फरवरी बुधवार को मौरावाँ से भूमना खेरा के लिए प्रस्थान किया। जब स्वामीजी ने मौजा पाटन में प्रवेश किया, तब बाजार के हलवाईयों ने अपनी दूकानों को मिठाई श्रीस्वामीजी के आगमन के उपलक्ष्य में लुटा दी। सायंकाल को सभा हुई। लाउडस्पीकर का भी प्रबन्ध किया गया था। सभा में सेमरी के श्रीवीरेन्द्रविक्रमसिंह आदि तीनों भाई, ढिंगवत्त के श्रीलालजयसिंह, बहादुरसिंह, अकबरपुर के ठाकुर जगन्नाथसिंह ताल्लुकेदार, पण्डित राजनारायण त्रिवेदी शुक्लाखेरा, पण्डित उदयशङ्करजी शुक्ल भगवन्तनगर, नाफामऊ के श्रीत्रिवेदीजी महाराज, शुक्लदेवपुर के रईस और जमींदार तथा अनेक गाँवों की लगभग दसहजार जनता उपस्थित थी। श्रीसत्यनारायणजी की कथा हुई और प्रसाद बाँटा गया। श्रीस्वामीजी का लगलग ४ घंटे तक प्रवचन हुआ। पण्डित शिवशंकरलालजी त्रिपाठी, पण्डित शिवसहायजी अवस्थी आदि का प्रबन्ध और सेवाभाव सराहनीय रहा। यहाँ भी लगभग १० कुण्डों अर्थात् १२० व्यक्तियों के लिए पर्याप्त ब्राह्मणवर्ग यज्ञ में सम्मिलित होने की प्रतिज्ञा हुई। तत्पश्चात् श्रीस्वामीजी महाराज सायंकाल ८ बजे सुमेरपुर पधारे, वहाँ पर भी संस्कृत पाठशाला के प्रधान अध्यापक पं० श्री वीरेन्द्रकुमारजी शास्त्री, पं० केशव प्रसादजी अवस्थी, पं० शिवशङ्करजी अवस्थी आदि व्यक्तियों ने स्वामीजी का स्वागत किया। 'सीताराम ऐंग्लो संस्कृत पाठशाला' में स्वामीजी का प्रवचन हुआ। धर्मसंघ शाखा स्थापित हुई। रात में स्वामीजी पुनः पाटन आ गये। दूसरे दिन प्रातःकाल वीधापुरनिवासी श्रीयदुवंशलालजी (राजा) अवस्थी तथा श्रीब्रह्मदत्तजी शुक्ल आदि के आग्रह से ग्राम वीधा में लगभग १० बजे पँदल ही श्रीगोदावलेश्वरजी महादेव के स्थान में श्रीस्वामीजी गये। मध्याह्नसमय में श्रीस्वामीजी का प्रवचन हुआ। वीधापुर के रईस और जमीन्दार श्रीभास्करदत्तजी दीक्षित ने अभिनन्दनपत्र पढ़कर सुनाया। यहाँ भी धर्मसंघशाखा स्थापित हुई तथा निकट के ग्रामों में भी बहुत सी शाखाएँ स्थापित हुईं। तारीख ९ फरवरी को स्वामीजी मौजा बेथर पहुँचे। वहाँ पर श्रीवृजकिशोरजी दीक्षित तथा अन्य लोगों ने धूमधाम से आप का स्वागत किया। पं० गिरिजाशङ्करजी मजिस्ट्रेट के भवन में आप ठहराये गये। सन्ध्यासमय स्थानीय 'बालिका विद्यालय' में श्रीवृजकिशोरजी दीक्षित की अध्यक्षता में धर्मसंघ का विशेष अधिवेशन हुआ और शाखा की स्थापना हुई और आसपास के कई एक गाँवों में शाखाएँ खोली गयीं। ता० १० को सूर्योदय के पूर्व ही श्रीस्वामीजी ने कानपुर के लिए प्रस्थान किया। (श्रीप्रेमप्रकाशजी, धर्मसंघ केन्द्रीय संख्या २६, पो० अलीपुर, प्रान्त उन्नाव)

आवश्यक सूचना

आगामी कार्तिक (सं० २००२) में ब्रह्मावर्त के सामने गङ्गातट पर दशकोटि गायत्री पुरश्चरणात्मक महायज्ञ होना निश्चित किया गया है। उसी अवसर पर धर्मसङ्घ का विशेषाधिवेशन, विद्वत्सम्मेलन आदि भी होंगे। विद्वत्सम्मेलन में दो प्रधान विषय होंगे—१ 'षोडशसंस्कार' तथा २ 'वर्तमान व्यापक धर्मग्लानि, उस के कारण, उस का इतिहास, उस से होनेवाली हानि और उस के प्रतीकार का अव्यर्थ, सर्वसम्मति, देश-कालोपयोगी सरल उपाय'। विद्वानों से अनुरोध है कि उक्त दोनों विषयों पर निबन्ध लिखकर आश्विन मास को अन्तिम तिथि के पूर्व पर्यन्त निम्नलिखित पते पर भेज देने की कृपा करें। निर्णायक समिति द्वारा जो निबन्ध सर्वोत्तम निर्णीत होगा, उस को पुस्तकरूप में प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया जायगा। अन्य निबन्ध लेखकों के पास लौटा दिये जायेंगे। पं० विश्वम्भरनाथ वाजपेयी, वकील (स्वागतमन्त्री) ज्ञानआश्रम, रौतापुर, पो० गङ्गाघाट, जिला उन्नाव।

सूचना

'सिद्धान्त' की पृष्ठसंख्या बढ़ाने के लिए अनुमति तथा कागज का कोटा मिल गया है। शीघ्र ही द्विगुणित रूप में 'सिद्धान्त' पाठकों की सेवा में उपस्थित होगा।

सञ्चालक।

सिद्धान्त

साप्ताहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण ३)

विशेष ५), एक प्रति —)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं० — दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

धर्माधिकारियों का प्रभाव

देश के युद्धोत्तर आर्थिक पुनर्निर्माण की एक योजना कुछ व्यापारियों ने बनायी है, जो ‘बम्बई योजना’ के नाम से प्रसिद्ध है । इस पर हम फिर कभी विचार करेंगे, यहाँ केवल एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना है । इस योजना की विशद आलोचना करते हुए लन्दन का प्रसिद्ध पत्र ‘टाइम्स’ अपने गत २७ फरवरी के अप्रलेख में लिखता है कि “रचयिताओं ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि ठौरठकरी समाज के अतिप्राचीन काल से चलते आये हुए रीति-रिवाजों में, जो आर्थिक उन्नति में रोड़ा अटकवा कर रहे हैं, कैसे परिवर्तन होगा ? जातिभेद के कारण ‘सम्मिलित खेती’ और सहायक उद्योग-धन्धों में अड़चन पड़ती है । सामाजिक व्यवहारों में वेद-खर्च होता है । इस का प्रतीकार कैसे किया जायगा ? प्रत्येक रीति-रिवाज को, वह परम्परा कितना ही पवित्र क्यों न माना जाता हो, पर यदि वह आर्थिक प्रगति में बाधक हो रहा है, तो उसे उखाड़ फेंकना होगा । परन्तु इस से भी अधिक सहायता न मिलेगी । केवल आर्थिक स्वार्थ की ओर ध्यान आकर्षित करने से शीघ्र परिवर्तन न होगा । योजना को सफल बनाने के लिए केवल राजनीतिज्ञों, शासकों या वैज्ञानिकों की ही नहीं, धार्मिक नेताओं की भी सहायता लेनी पड़ेगी, जिन का जनता पर सब से अधिक प्रभाव है । ‘भारत में रीति-रिवाज ही राजा है ।’ धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में रीति-रिवाज घुले-मिले हैं, जिन का पाश्चात्य भाव में राजनीति या अर्थशास्त्र से कुछ सम्बन्ध नहीं है । इन में परिवर्तन उन्हीं नेताओं द्वारा हो सकता है, जिन के पीछे जनता चलने का तैयार है, इसलिए नहीं कि वह उन के सिद्धान्तों को समझती है, बल्कि इसलिए कि वह उन का आदर करती है । यदि ऐसे नेता सामने आये, तो अवश्य भारत का एक आधुनिक राष्ट्र में परिवर्तन हो सकता है । परन्तु बिना इस के कोई भी योजना, वह कितनी ही प्रशंसनीय क्यों न हो, जैसा कि ‘बम्बई योजना’ है, कभी भी सफल नहीं हो सकती ।” हमारे धर्माधिकारियों की शक्ति की यह विदेशियों द्वारा स्वीकृति है । यद्यपि वे और उन की विचारधारा में वहनेवाले हमारे देशी विद्वान् उसे देश के लिए अनिष्टकर समझते हैं, तथापि उस से लाभ उठाकर वे अपनी नयी योजनाओं को सफल बनाना चाहते हैं । परन्तु खेद तो यह है कि हम स्वयं अपनी इस शक्ति का अनुभव नहीं करते । अपनी उदासीनता के कारण हम ने राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा आदि जीवन को प्रभावित करनेवाले क्षेत्रों से हाथ खींच लिया है । फलतः ये क्षेत्र आजकल उन लोगों के हाथ में हैं, जिन की विचारधारा भारतीय संस्कृति के सर्वथा प्रतिकूल बह रही है । हम दूसरों के हाथ का खिलौना बन रहे हैं । जिन योजनाओं में हमारा विनाश सन्निहित है, उन्हीं को सफल बनाने में हम अपना धन उड़ा रहे हैं । इस से बढ़कर हमारा और पतन क्या होगा ?

राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा सभी के लिए हमारी प्राचीन शास्त्रीय योजनाएँ हैं, जिन में किसी का उत्पीड़न नहीं, किसी का अनिष्ट नहीं, सभी का कल्याण है, पर उन को छोड़कर हम नवीन योजनाओं के चक्कर में पड़े हैं । वर्तमान महायुद्ध के कारण संसार भर में उथल-पुथल मची हुई है । जैसे जैसे युद्ध की समाप्ति निकट आती है, युद्धोत्तर संसार-निर्माण की ओर विचारकों का ध्यान बढ़ता जाता है । आजकल नवीन योजना की भरमार है । यही समय है कि हम अपनी प्राचीन योजनाओं को संसार के सामने रखें । हम जानते हैं कि उन की हँसी उड़ायी जायगी, हमें प्रतिक्रिया-वादी, देशद्रोही कहा जायगा, पर इस की पर्वाह न करनी चाहिए । ‘इश्वर-बल’ और ‘जनबल’ हमारे साथ है । ‘यतो धर्मस्ततो जयः’ यह भगवान् का वाक्य है और धर्म के नाम का आज भी भारतीय जनता पर सब से अधिक प्रभाव है । आवश्यकता है अपनी शक्ति के अनुभव करने की और उसे

व्यावहारिक जीवन में काम में लाने की । यदि इस समय भी हम न चेते, तो एक बड़ा अच्छा सुअवसर हम हाथ से खो देंगे ।

धर्मग्रन्थों की काटछांट

गान्धीजी ने आर्यसमाजियों को यह सलाह दी है कि ‘सत्यार्थप्रकाश’ का संशोधित संस्करण प्रकाशित कराना चाहिए, “जिस में उन अंशों को निकाल देना चाहिए, जिन में दूसरे मतों पर आक्षेप किया गया है ।” परन्तु “बड़े मियों तो बड़े मियों, छोटे मियों सुमान अल्लाह” डाक्टर भगवान्दास जी फरमाते हैं कि “केवल ‘सत्यार्थप्रकाश’ का ही नहीं, वेद, बाइबिल और कुरान के भी ऐसे ही संस्करण निकलने चाहिए । बहुत ही अच्छा हो यदि ऐसे संस्करण पण्डितों, पादरियों और मुखलाओं द्वारा, चाहे सम्मिलित रूप में या अलग अलग, क्रम से तैयार कराये जायें । परन्तु ये दोनों उपाय ‘आदर्श’ होते हुए भी ‘व्यवहार्य’ नहीं हैं । ऐसी दशा में यह कार्य विद्वानों की ही हाथ में लेना चाहिए । यदि आपत्तिजनक अंश निकाल दिये जाय, तो उद्देश्य, व्यवहारों और विश्वासों में आश्चर्यजनक एकता तथा समानता का पता लगेगा । इन में आपत्तिजनक अंश है यह निस्सन्देह ही सिद्ध है, क्योंकि एक दूसरे के अनुयायी इन अंशों को बराबर सामने रखते रहते हैं । ऐसे संस्करणों के निकालने का दूसरा लाभ यह होगा कि ये धर्मग्रन्थ बहुत छोटे आकार में प्राप्त होजायेंगे, जिन के पढ़ने, अध्ययन करने और कण्ठ रखने में भी सुविधा होगी । एक दूसरे से तुलना करने का अवसर मिलेगा, जिस से सहयोग बढ़ेगा और विरोध घटेगा ।” पर सब से मजेदार बात तो आगे आती है । आप लिखते हैं कि “जबतक ऐसे संस्करण नहीं निकलते, जबतक मैं लोगों का ध्यान अपनी पुस्तक ‘दि ईशेंशल यूनिटी आफ आल रेलिजन्स’ (‘सब धर्मों की तात्त्विक एकता’) की ओर आकृष्ट करता हूँ ।” यह डाक्टर साहब का ‘अपने मुँह मियाँ मिट्टू’ बनना नहीं है । आप ८० वर्ष के बुढ़े नवाब सर अहमदहुसेन आमिन जङ्ग एम, ए., एल. एल. डी., के. सी. आइ. ई., सी. एस. आई. का, जो ३० वर्ष तक निजाम, हैदराबाद के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे, प्रमाणपत्र भी देते हैं । नवाब साहब ने आप को अपने पत्र में लिखा है कि “मैं कुरान, बाइबिल और गोता के साथ ही आप की यह पुस्तक भी अपनी मेज पर रखता हूँ ।” इतने पर भी यदि लोग इस पुस्तक का आदर न करें, तो इस से बढ़कर उन की मूर्खता का प्रमाण क्या हो सकता है ? परन्तु एक बात लिखना डाक्टर साहब सम्भवतः भूल गये । यदि प्रसिद्ध धर्मग्रन्थों का कहीं एक भी पुराना संस्करण बच गया तो फिर वही ‘खुराफात’, ‘गाली-गल्लौज’ और ‘सर फुटव्वल’ । इसलिए पहले इन सब धर्मग्रन्थों को एक एक ढूँढ करके जलाने का प्रयत्न होना चाहिए । जब पुराने वेद, बाइबिल, कुरान सब जल जायेंगे, तब रह जायगी आश्चर्यजनक “सब धर्मों की तात्त्विक एकता !”

‘रावकमेटी’ का दौरा

प्रयाग से ‘रावकमेटी’ पटना पहुँचो । वहाँ एक बड़ी भारी सार्वजनिक सभा में ‘हिन्दूकोड’ का विरोध किया गया । कुल २३ गवाहियाँ हुईं, वे सब की सब ‘कोड’ के विरुद्ध थीं । श्रीलक्ष्मीकान्त झा एडवोकेट ने कानूनी तथा शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से ‘कोड’ को कड़ी आलोचना की । ‘धर्मसङ्घ’ की ओर से एक जत्था वहाँ पहले ही पहुँच गया था, स्थानीय ‘हिन्दू सभासभा’ के सहयोग से वहाँ पूरा विरोध-प्रदर्शन हुआ । पटने से ‘कमेटी’ कलकत्ते पहुँचो । वहाँ भी स्टेशन पर काले झण्डे और ‘लौट जाओ’ के घोष से उस का स्वागत हुआ । परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया कि यह केवल कमेटी के प्रति विरोध-प्रदर्शन है, सदस्यों के व्यक्तिगत रूप से उन का अपमान नहीं है । यहाँ कमेटी सब से अधिक—६ दिन तक—

कहरी । कमेटी को आशा थी कि भारत में कलकत्ता आधुनिक सभ्यता का केन्द्र है । यहाँ उसे 'कोड' का पूरा समर्थन प्राप्त होगा । परन्तु यहाँ भी उसे हताश ही होना पड़ा । नवशिक्षित महिलाओं की कई संस्थाओं के सम्मिलित प्रतिनिधिमण्डल ने 'कोड' का जोरों से समर्थन किया । इस की ओर से कहा गया कि "इन संस्थाओं ने बड़ी लोकसेवा की है, सनातनी स्त्रियों तो घर ही में बन्द रहती हैं । आजकल की सभी स्त्रियाँ 'कोड' के पक्ष में हैं । परन्तु इनमें बहुत सी अपने पतियों के भय से अपना स्पष्ट मत प्रकट नहीं करती ।" कुछ की राय में तो इस 'कोड' द्वारा बहुत थोड़े ही अधिकार स्त्रियों को दिये जा रहे हैं । कमेटी ने इन से यह पूछने की कृपा नहीं की कि जिन संस्थाओं की वे प्रतिनिधियाँ हैं, उन की सदस्य-संख्या कितनी है । इस प्रश्न के उत्तर से उन के प्रतिनिधित्व का पता लगता । परन्तु असली बात एक सदस्या के मुँह से निकल पड़ी । उस ने कहा कि विरोध को विरोधियों की संख्या से न आँकना चाहिए, बल्कि उन की योग्यता से । पक्ष में जितनी योग्य स्त्रियाँ हैं, उतनी विपक्ष में नहीं । अभिप्राय यह कि यद्यपि विरोध करनेवालों की संख्या अधिक है, पर हैं वे सब मूर्ख । यहाँ लोकतन्त्र के बहुमत का सिद्धान्त कहीं हवा हो गया ? दूसरे दिन 'हिन्दू-महिलासङ्घ' की ओर से श्रीमती स० र० चटर्जी ने इस प्रतिनिधिमण्डल द्वारा किये गये आक्षेपों की पूरी खबर ली । आप ने कहा कि यह ठीक है कि "पदान्तरिणी महिलाएँ कमेटियों में भाषण झाड़ने नहीं जातीं, सेवागृहों में अपने काम का प्रदर्शन नहीं करतीं, परन्तु घर पर रहकर वे अपने रोगी कुटुम्बियों तथा वृद्धों की कितनी सेवा करती हैं ? क्या यह लोकसेवा नहीं है ? यह कहना कि मध्य श्रेणी की स्त्रियाँ अपने पतियों के भय से अपना मत स्पष्ट प्रकट नहीं करतीं, बिल्कुल मिथ्या है, क्योंकि मध्यश्रेणी के घरों में प्रायः स्त्रियों का ही शासन चलता है, वे घर की रानी हैं और वे अपना मत स्पष्ट ही प्रकट करती हैं ।" आप ने 'कोड' की प्रत्येक धारा का विरोध किया । श्रीमती रानू मुखर्जी ने दिखलाया कि "उन का सम्बन्ध नवीन तथा प्राचीन सभी ढङ्ग की संस्थाओं से है, उन्होंने हिन्दूजीवन के दोनों पहलू देखे हैं, पर तब भी उन का स्पष्ट मत है कि इस 'कोड' से हिन्दूसमाज को कोई भी लाभ न होगा । न इस के लिए कोई माँग है और न यह वाञ्छनीय है ।" पदान्तरिणी महिलाओं की ओर से श्रीमती महारानी नाटोर, बहुरानी दीघापटिया आदि ने तीव्र शब्दों में अपना विरोध प्रकट किया । 'वक्त्रप्राप्तीय धर्मसङ्घ' की ओर से श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय तथा सेठ छोटेलालजी कानोडिया की गवाहियाँ हुईं । आप दोनों ने हिन्दूसमाज के लिए 'कोड' के घातक परिणामों को दिखलाया । तारकेश्वर 'धर्मसङ्घ' के अध्यक्ष श्रीमहन्तजी की ओर से 'कोड' का तीव्र विरोध किया गया । 'हिन्दूमहासभा', 'इण्डियन असोसियेशन', 'शास्त्रप्रचारसभा', 'हाईकोर्ट वार असोसियेशन', 'बङ्गाल लाइयर्स असोसियेशन', वक्तीय ब्राह्मणसभा आदि कई प्रमुख संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने भी विरोध किया । आसाम के 'एडवोकेट जनरल' श्रीशोम ने बड़ी कड़ी आलोचना की । म० म० श्रीअनन्त कृष्णशास्त्री ने संस्कृत में गवाही देते हुए अपना विरोध प्रकट किया । म० म० चण्डीदास न्यायतर्कतीर्थ, म० म० दुर्गाचरण सांख्यवेदान्ततीर्थ आदि संस्कृतज्ञ विद्वानों ने भी जोरदार शब्दों में 'कोड' का खण्डन किया । हमें खेद है कि स्थानाभाव के कारण हम इन लोगों की विद्वत्तापूर्ण गवाहियों का सार तक नहीं दे सकते । महाराजा बर्दवान की अध्यक्षता में एक विराट सार्वजनिक सभा में 'कोड' का प्रबल विरोध प्रदर्शित किया गया । 'साधारण ब्रह्मसमाज' की गवाही 'कोड' के पक्ष में हुई, जैसा कि हाना ही चाहिए । परन्तु, इस गवाही में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि समाज की ओर से 'ब्रह्मो' लोगों के 'हिन्दू' कहे जाने की इच्छा प्रकट की गयी । अभीतक ब्रह्मसमाजी अपने को हिन्दू कहने में सङ्कोच करते थे, परन्तु 'कोड' में जो हिन्दू की परिभाषा की गयी है, उस में अब वे भी शामिल होना चाहते हैं । 'हिन्दूमहासभा' की ओर से 'कोड' का विरोध अधिकाधिक प्रबल होता जाता है और डा० मुञ्जे विशेष रुचि दिखलाई रहे हैं, यह प्रसन्नता की बात है । कलकत्ते में 'हिन्दू कोड-विरोधी सम्मेलन' की ओर से जो कमेटी नियुक्त है, उस ने भी इस अवसर पर अच्छा कार्य किया । इस के प्रयत्न से कई संस्थाओं की एक सम्मिलित सभा हुई, जिस में आगे के लिए कार्यक्रम निश्चित किया गया । देशी राज्यों

में प्रचार का कार्य डा० मुञ्जे को सौंपा गया । यह भी निश्चित हुआ कि एक-प्रतिनिधिमण्डल (कमीशन) देश भर का दौरा करके अपनी ओर से 'कोड' पर लोकमत सङ्ग्रह करे, जैसा कि हमने अपने गताङ्क के अप्रलेख में सुझाया था । दानवीर धर्मप्रेमी श्रीगोविन्दरामजी बांगड, श्रीवैजनाथजी जालान ने कोडविरोधी आन्दोलन को चलाने के लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता देने का वचन दिया है, जिस के लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं । इस क्षेत्र में श्रीछोटेलालजी कानोडिया का सतत प्रयत्न तथा उत्साह सराहनीय है । कलकत्ते से कमेटी मद्रास के लिए रवाना हो गयी ।

'सगोत्र विवाह बिल'

'हिन्दू कानून कमेटी' की रिपोर्ट प्रकाशित होने तक डाक्टर देशमुख से नहीं रहा गया और उन्होंने अपना बिल दोनों सभाओं की एक निर्वाचित समिति को विचारार्थ सौंप देने का प्रस्ताव असेम्बली के सामने रख ही दिया । आप ने कहा कि 'हिन्दू कानून कमेटी' तो "अन्धों और कहर-पन्थियों की तरह चल रही है ।" अपने शास्त्रीय ज्ञान का परिचय देते हुए आप ने कह डाला कि 'गोत्र' का प्राचीन अर्थ 'गोचर भूमि' है । वसुदेव-देवकी, राम-सीता और अर्जुन-सुभद्रा के सगोत्र विवाह ही हुए थे । आप के समर्थन में श्रीमती राधाबाई सुन्वारायाँ ने कहा कि 'हिन्दूकोड' का कौन ठिकाना, "वह पास होगा इस में सन्देह है । ऐसी दशा में इस बिल को रोकना ठीक नहीं है ।" श्रीमती रेणुकाराय ने कहा कि "इस बिल को स्त्रियों का समर्थन प्राप्त है ।" कब और कहीं हिन्दूमहिलाओं ने आप को ऐसा कहने का अधिकार दिया यह आप ने नहीं बतलाया । आगे आप ने कहा कि "राष्ट्रीय एकता तो दूर रही, हिन्दू एकता भी तबतक स्थापित नहीं हो सकती, जबतक समाज के दोष दूर नहीं किये जाते । अब समय आ गया है कि जातिपाति के झगड़े दूर किये जाय ।" कांग्रेसदल के नेता श्रीभूलाभाई दसाई ने भी प्रस्ताव का समर्थन किया और कहा कि "हिन्दूकानूनों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता ऐसा कभी नहीं माना जा सकता । सभी हिन्दुओं में परस्पर विवाह होने चाहिए ।" पञ्जाब के लाला श्यामलाल और सेठ सुन्दरलाल डागा ने प्रस्ताव का विरोध किया और कहा कि "विवाह के नियमों में हस्तक्षेप न होना चाहिए ।" श्रीयमुनादास मेहता ने कहा कि "केवल हिन्दूसमाज के सुधार के लिए इतना जोश क्यों दिखलाया जा रहा है ? मुसलिम रीतिरिवाजों को सुधारने का प्रयत्न क्यों नहीं किया जाता ? इसीलिए न, कि साहस नहीं पड़ता, वे जानते हैं कि ऐसा करना खतरों से खाली नहीं है ।" कांग्रेसदल के सदस्य श्री लहरी-चौधरी ने कहा कि "किसी समाज के धार्मिक रीति-रिवाज में हस्तक्षेप न करना चाहिए ।" श्रीअनङ्गमोहनदास ने कहा कि "इस के लिए हिन्दुओं की ओर से कोई माँग नहीं है ।" सरकार की ओर से कानून-सदस्य सर अशोक-राय ने कहा कि "जबतक 'हिन्दूकोड' पर विचार समाप्त न हो जाय, तबतक अंशतः सुधार कानून बनाने का प्रयत्न न होना चाहिए । सनातनी हिन्दुओं ने बिल का विरोध किया है, अतः सरकारी सदस्य तटस्थ रहेंगे ।" उत्तर देते हुए डाक्टर देशमुख ने सभा को आश्वासन दिया कि "९० प्रतिशत हिन्दू बिल के पक्ष में हैं ।" २१ के विरुद्ध २२ वोट से प्रस्ताव पास हो गया और बिल विचारार्थ निर्वाचित समिति को सुपुर्द कर दिया गया । 'मुसलिमलीग' के सदस्य भी तटस्थ रहे । ९० प्रतिशत हिन्दू बिल के पक्ष में हैं यह 'सफेद झूठ' कहते हुए डाक्टर देशमुख को किञ्चित् भी सङ्कोच न हुआ । केवल एक वोट से काम बन गया । आधिकंश हिन्दुओं की बाततक न सुनी गयी । यह है बहुमत पर स्थित आधुनिक लोकतन्त्र ।

श्रीभगवतीतत्त्व

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

४

इस तरह अर्थापत्ति के अतिरिक्त "बन्धिः अद्विष्टातीन्द्रिय स्थितिस्था-पकेतरभावाश्रयः गुणवत्त्वात् घटवत्" यह अनुमान भी शक्ति के अस्तित्व में प्रमाण है । ईश्वर माननेवालों के मत में अतीन्द्रियता सिद्ध नहीं है यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि अतीन्द्रिय शब्द का अर्थ है प्रमाणान्तर से उपनीत विशेषण के अतिरिक्त और अनुव्यवसायी के व्यतिरिक्त अस्मदादि

प्रत्यक्ष का अविषय होता। वह अतीन्द्रियत्व गुणत्वादि और भावनादि में प्रसिद्ध होने से प्रशस्तपाद ने कहा है कि गुणत्व, धर्माधर्म और भावना अतीन्द्रिय हैं—“गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रियाः।” यहाँ भावना पद स्थितिस्थापक का भी उपलक्षण है। प्रश्न हो सकता है कि यहाँ आश्रय शब्द से आधारमात्र विवक्षित है या उस का समवायित्व। वन्दि कदाचित् परमाणु या वायु का आधार होकर सिद्धसाधनता होने से प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता। दूसरी बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि समवाय न माननेवाले भाट्टके मत में विशेषण अप्रसिद्ध हो जायगा। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समवाय न मानते हुए भी स्वीय रूपादि के समान अयुत सिद्ध होने के कारण अग्नि की विशिष्ट धर्माधारता ही आश्रय शब्द का अर्थ है। अतीन्द्रिय कर्माश्रय होने से मीमांसक की अर्थान्तरता कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्राभाकर की तरह शक्तिमाननेवाले भाट्ट और वेदान्ती भी कर्म की अतीन्द्रियता नहीं मानते। विपक्ष में वन्दिस्वरूप ही कारण होने से प्रतिबन्गकाभाव की कारणता का पहले ही निराकरण किया जा चुका है, अतः मन्त्रादि के रहने या न रहने पर समान रूप से कार्यजननप्रसङ्ग बाधक है। यह भी कहना ठीक नहीं कि एवंविध धर्माश्रय होने से गुण, कर्मादि भी श्रव्य कहे जायेंगे, क्योंकि वे गुण के अधिकरण नहीं हैं। यदि कहा जाय कि एतादृश धर्माश्रय होने से गुणाधिकरण भी हो जाय, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इस का विपर्यय में पर्यवसान नहीं होता। यदि कहा जाय कि जो गुण का अधिकरण नहीं है, वह एवंविध धर्म का अधिकरण नहीं होता, ऐसा प्रतिवादिसम्मत उदाहरण होने से उक्त प्रसङ्ग का विपर्यय में पर्यवसान हो जायगा, क्योंकि शक्ति के अतिरिक्त सभी पक्षकोटि में निश्चित है। इस तरह प्रथम अनुमान का समर्थन किया गया।

अब यदि दूसरे अनुमान के सम्बन्ध में कहा जाय कि वेदान्ती ईश्वर को मानते हैं, इसलिए उभयवादिसम्मत होने के कारण तदतिरिक्त न होने से ईश्वर अर्थान्तर न हो, पर ईश्वर न माननेवाले मीमांसकों की तो ईश्वर से अर्थान्तरता होती है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जन्यभाव से जन्य ऐसा दूसरा विशेषण देकर भाट्ट के मत में अर्थान्तर का परिहार किया जा सकता है। यदि कहा जाय कि ऐसी स्थिति में नित्य पदार्थों में शक्ति का समर्थन न किया जा सकेगा, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अनित्य पदार्थों में शक्ति सिद्ध हो जाने पर उसी दृष्टान्त से नित्य पदार्थों में भी शक्ति की सिद्धि हो सकती है। शक्ति एक ही नहीं, अपितु प्रत्येक पदार्थों में भिन्न भिन्न है। जैसे कि अणुवयवाण्यदि में अनित्य होने पर भी जल, तेज आदि के परमाणुओं में रूप जैसे नित्य है, वैसे ही नित्य-अनित्यरूप से शक्ति भी दो प्रकार की मानने में कोई आपत्ति नहीं है। आधेय शक्ति को भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ‘ब्रीहीन प्रोक्षति’ इत्यादि द्वितीया श्रुतियों से ब्रीहि आदि में अतीन्द्रिय शक्ति का अस्तित्व सिद्ध होता है। चेतनधर्म अदृष्ट का अचेतन ब्रीहि आदि में रहना सम्भव न होने से ब्रीह्यादिविषयक क्रियाजन्यमात्र होने से ही तदीयत्व की प्रतिपत्ति हो सकती है, अतः वहाँ द्वितीया श्रुति गौण है, ऐसा जो कहा गया था, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्मरूप अदृष्ट से अतिरिक्त ही कोई एक अतिशय मान्य है, जो तण्डुल, पिष्ट, पुरोडाशादि परम्परा से प्रधानापूर्व उत्पन्न करता है। इसे न मानें, अर्थात् ब्रीह्यादि स्वरूप से ही यदि उस प्रधानापूर्व को उत्पन्न कर सकते, तो प्रोक्षणादि विधान व्यर्थ हो जायगा। दृष्ट फल न दिखलाई पड़ने पर अदृष्ट फल की कल्पना करनी पड़ती है और मुख्य अर्थ सम्भव होने पर लक्षणा करने का अवकाश नहीं रहता।

इस प्रकार लीलीवतीकार के दिये हुए दूषण का भी निराकरण किया गया। शक्ति के अस्तित्व में उपर्युक्त रीति से आगम, अर्थापत्ति और अनुमानरूप प्रमाणों का संक्षिप्त विगदर्शन करने से यह नहीं कहा जा सकता कि किसी प्रमाण से शक्तिसिद्धि नहीं होती।

धर्मसङ्घ समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

१ चित्रकूट—आगामी शुद्ध चैत्र शुक्ल ५ मङ्गलवार (१७ अप्रैल) से १२ मङ्गलवार (२४ अप्रैल) तक ८ दिन होनेवाले महायज्ञ की तैयारी आरम्भ हो चुकी है, कुण्ड-मण्डपादि का निर्माण हो रहा है। स्वागत-

समिति का चुनाव हो गया है, अध्यक्ष रा० व० पं० मन्मथलालजी अवस्थी बांदा हैं। प्रबन्धसमिति के अध्यक्ष बा० किशोरीप्रसाद एम्. ए., एल्. एल्. बी. बांदा तथा मन्त्री बा० महेश्वरीप्रसाद कारिन्दा अवतरी हैं।—श्री पं० भैयालाल शर्मा (प्रचारमन्त्री)। २ विन्ध्यचैत्र, फा० शु० ५ शनि। अयुतचण्डी का क्रम चल रहा है। ७०० पाठ हो चुके हैं।—श्री पं० शिवशरण मिश्र। ३ रुद्रमहायज्ञ, सारनाथ (जौनपुर)—गत फा० शु० १ मङ्गल से १३ शनिवार तक उक्त महायज्ञ हुआ। नित्य पाठ, कथा, उपदेश आदि कार्य होते रहे। अन्तिम दिन अवश्य स्नान के लिए एक बड़ा लुलूस ठूठाघाट गोमतीतट तक गया। सभा में कोड, पाकिस्तान आदि के विरोध में प्रस्ताव पास हुए। ४ बावन, जि० हरदोई—आगामी अधिक चैत्र शु० ६ सोमवार से श्रीस्वामी करपात्रीजी के यहाँ पधारने पर ‘दशमुख लक्षहोम महायज्ञ’ करना निश्चित किया गया है। साथ ही सभा, कथा, सङ्कीर्तनादि कार्य भी होंगे। ५-७ दिन तक श्रीस्वामीजी उक्त अवसर पर यहाँ ठहरेंगे।—श्रीपं० शिवमूर्ति शर्मा। ५ श्रीगायत्री महायज्ञ, रावलपिण्डी—श्रीयदुकुलभूषण समिति के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में ‘श्रीसनातनधर्म प्रतिनिधि महासभा, पञ्जाब, रावलपिण्डी’ की अध्यक्षता में गत चैत्र कृष्ण १ मङ्गलवार से स्थानीय बगीचा डिङ्गीखुई के मैदान में उक्त महायज्ञ बड़े समारोह से हुआ। साथ में श्रीमद्भागवत सप्ताह, श्रीमद्भगवद्गीता अखण्ड पाठ तथा सभा आदि कार्य हुए। चैत्र कृष्ण १२ रविवार को समाप्ति हुई।—श्री भगत जमीअत मल। ६ विद्यामन्दिरम् गोला, जि० गोरखपुर—गत माघ शुक्ल ११ बुध से ३ दिन तक गायत्री अनुष्ठान तथा शाखा-सभा का अधिवेशन हुआ। प्राप्त समाचारों से ज्ञात हुआ कि सभा के लिए १०-१२ दिन पूर्व से ही पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट से रजिस्ट्री द्वारा प्रार्थना-पत्र भेजकर अनुमति माँगी गयी थी, परन्तु उस का कोई उत्तर नहीं मिला। सभा ता० २५-२६ जनवरी को करने का निश्चय किया गया था। ता० २४ की रात को ८ बजे सब इन्सपेक्टर पुलिस द्वारा ज्ञात हुआ कि बिना कलेक्टर की आज्ञा प्राप्त किये सभा नहीं की जा सकती। रातोंरात ३२ मील गोरखपुर आदमी भेजकर ए. डी. एम्. की अनुमति माँगी पड़ी।—श्रीपं० केदारनाथ त्रिपाठी। ७ मूँदकादांगी (स्वाल्थिर राज्य)—गत फा० कृ० ९ मङ्गलवार से विश्वकल्याणार्थ त्यागी श्रीसन्त महावीरदासजी के प्रयत्न से श्रीमहाविष्णु यज्ञ हुआ। साथ में अखण्ड नामसङ्कीर्तन, पुराणपारायणादि हुए। सोमवती अमावास्या को पूर्णाहुति हुई। उसी दिन यज्ञाचार्य श्रीपं० शम्भुलालजी द्विवेदी की अध्यक्षता में श्रीसनातन विद्यामहासभा का अधिवेशन हुआ, जिस में ‘हिन्दू कोड’ का तीव्र विरोध किया गया और सरकार को तार दिये गये।—श्रीपं० मगीरथ शुक्ल (मन्त्री पीपलरावा)।

नवीन शाखाएँ

१ सुदामा शडीर, पो० गणेशपुरा, जि० आजमगढ़ (सं० १७५५)—महात्मा विन्ध्याचलदासजी साधु (अ०), श्रीपं० राममनोहर दुवे (उपा०), श्रीपं० रामनरेशजी दुवे (मं०), श्रीपं० पलकधारीजी दुवे, श्रीपं० रामबलीजी त्रिपाठी, श्रीपं० बाबूनन्दन जी दुवे और श्रीपं० सीता-रामजी त्रिपाठी (उं० मं०) स्थान—श्रीराममन्दिर। २ ब्रह्मौली रामगढ़, पो० बाजार गोसाई, जि० आजमगढ़ (शा० सं० १७६६)—श्रीबाबू राजकुमार राय (अ०), श्रीसाधुलाल विहारीदासजी (उपा०), श्रीपं० रामनरेशजी पाठक (मं०), बाबू गुरुशरणसिंहजी, श्रीगजाधर राय और श्रीगोरखराय (उ० मं०), स्थान—श्रीपातालनाथ, महादेव। संस्थापक—उक्त दोनों शाखाओं के श्रीपं० कालिकाप्रसादजी दुवे तथा श्रीपं० रामनरेशजी दुवे। प्रति चतुर्दशी को सभा होना निश्चित हुआ। ३ चकलाल राम-शाला, जि० आजमगढ़ (शा० सं० १७७७)—श्रीपं० राजारामजी मिश्र शाला, जि० आजमगढ़ (मं०)। श्रीमान्दिवगवसनरेश के प्रयत्न से जि० प्रतापगढ़ (अवध) में निम्नलिखित ११ शाखाएँ (३-१४) स्थापित हुईं—४ पूरे हरदत्त (भदरी राज्य), पो० दिगावस—श्रीपं० राम-पदारथ मिश्र (अ०), श्रीपं० भगवत्प्रसाद मिश्र (मं०)। ५ रामनगर (इलाका लाल अनिरुद्रप्रतापसिंह), पो० दिगावस—श्रीपं० भोलानाथ दुवे (अ०), श्रीपं० रामसुमेर दुवे (मं०)। ६ नरियावां, (इलाका लाल अनिरुद्रप्रतापसिंह), पो० दिगावस—श्रीपं० महादेवप्रसाद शुक्ल (अ०), श्रीपं० श्याम किशोर शुक्ल (मं०)। ७ जगापुर, पो० विहार्

—श्री पं० सुखनाथ तिवारी (अ०), श्री पं० रामदुलारे पांडे (मं०) । ८ बहोरिकपुर, पो० मलावां छजईपुर—श्री पं० महादेवप्रसाद दुबे (अ०), श्री पं० माधवप्रसादजी (मं०) । ९ सरायस्वामी, पो० विहार—श्री ठा० रामप्रसादसिंहजी (अ०), श्री पं० अवधविहारी पाण्डे (मं०) । १० माघी, पो० मलावां छजईपुर—श्री पं० सूर्यनारायण ओझा (अ०), श्री पं० नकछेद रामसुख (मं०) । ११ महाराजपुर, पो० मलावां छजईपुर—श्री पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद शुक्ल (अ०), श्री ठा० अमरनाथसिंह (मं०) । १२ रायगढ़, पो० मलावां छजईपुर—मु० श्रीमोहनलालजी कायस्थ (अ०), श्रीठा० महादेवसिंह (मं०) । १३ अहलादगञ्ज, पो० मलावां छजईपुर—श्रीपं० गोकुलप्रसाद उपाध्याय (अ०), श्री पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद उपाध्याय (मं०) । १४ बाजार भगवतीगञ्ज, पो० ढिंगवस—श्रीअङ्गनराम बनिया (अ०), श्रीकेदारनाथ बनिया (मं०), श्रीशीतलादीन सोनार (उ० मं०) । १५ सारनाथ महादेव, बदलापुर रोड, (जौनपुर) श्रीपं० रामतवङ्गल त्रिपाठी भिवरहा (अ०), श्री पं० ललईराम पाण्डे हीरापुर (उपा०), श्रीपं० रामआश्वर्य द्विवेदी कटका कपूरपुर (मं०), पं० शिवमूर्ति चतुर्वेदी खालिसपुर (प्रचारक) । १६ गुप्तकाशी (गडतरा) उत्तराखण्ड, जि० गढ़वाल—फा० शु० ५ शनिवार । श्रीस्वामी हरनारायण जी की अध्यक्षता में सभा होकर शाखासभा स्थापित की गयी । उक्त स्वामीजी शाखा के अध्यक्ष तथा पं० भास्करानन्दजी व्याकरणाचार्य मन्त्री निर्वाचित हुए । १७ जवां, जि० अलीगढ़—माघ शुक्ल १५ । श्रीपं० लक्ष्मीनारायणजी व्या० आ० सुनामई (अ०), श्री पं० दुर्गाप्रसादजी बोहरे फरीदपुर (उपा०), श्रीविचित्र वर्मा आयु० आ० दवथला (मं०), ठा० नेपालसिंहजी जवां (उ० मं०) । १८ मन्थना (कानपुर)—फा० शु० ३ गुरुवार । श्रीपं० गौरीशङ्करजी रईस तथा श्रीपं० तुङ्गेश्वरजी मिश्र (संक्षक), श्रीपं० श्यामसुन्दरजी पाण्डेय (अ०), श्री पं० आनन्दीलाल जी मिश्र ज्योतिषी (उपा०), श्रीपं० दयाशङ्करजी शास्त्री व्या० आ० (मं०), कृपाशङ्करजी पाण्डेय (उ० मं०), श्रीपं० भगवतीप्रसादजी शुक्ल (कोषाध्यक्ष) । १९ बसधना, पो० गङ्गाघाट (उन्नाव)—फा० शु० ११ गुरु । पं० रामभरोसेजी (अ०), पं० तोतामहाराजजी (मं०), श्री सुन्दरलाल भट्ट (उ० मं०) । २० गङ्गौली, पो० गङ्गाघाट (उन्नाव)—फा० शु० १२ शुक्र । पं० रामआसरेजी (अ०), श्रीइन्दोरीप्रसादजी (उपा०), श्रीगङ्गासागरजी (मं०), श्रीरामदीन तिवारी (कोषा०) । २० सु० पो० सरौसी, जि० उन्नाव—फा० शु० १२ शुक्र । चौधरी श्री केवलसिंहजी (अ०), श्रीरूपनारायणजी (मं०) । २१ सु० पो० चमरौली (उन्नाव)—फा० शु० १३ शनि । ब्रह्मचारी श्रीलक्ष्मी नारायणजी (अ०), श्रीपं० रविनारायणजी मिश्र (उपा०), श्रीब्रह्मानन्दजी वाजपेयी (मं०) । २२ आशाखेड़ा, पो० जयतीपुर, जि० उन्नाव—श्रीगुरुप्रसादजी वाजपेयी (अ०), श्रीतुङ्गनाथजी वाजपेयी (उपा०), श्रीशान्तिस्वरूपजी अवस्थी (मं०) श्रीधुनाथसिंहजी (उ० मं०) । २३ सु० कुशहरी, पो० जयतीपुर (उन्नाव)—श्रीठाकुर चन्द्रपालसिंहजी (अ०) । २४ सु० पो० बन्थरा, जि० लखनऊ—फा० शु० १४ रवि । श्रीजयरामसिंहजी (अ०), श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी (मं०) । यहाँ पर ग्रामीणों को सलाह से एक दूसरी शाखा के उद्घाटन का भी समाचार प्राप्त हुआ है, जिसके पदाधिकारी ये हैं— २५ बन्थरा शाखा—श्रीरामसुख गुप्त (अ०), श्रीनत्थासिंहजी (उपा०), श्रीवासुदेवसिंहजी (मं०) ।

‘हिन्दूकोड’ विरोध

१ चाईबासा, जि० सिंहभूमि—२८ दिस० ह० ८३०, श्रीपं० बन्नीप्रसाद शर्मा, श्रीपं० गुलाबजी पाठक । २ मूँडलादांगी (गवालियर राज्य)—२८ फरवरी, ह० २६१, श्रीशम्भुलालजी द्विवेदी ।

अन्यान्य समाचार

(१) चाईबासा, जि० सिंहभूमि शाखा के मन्त्री श्री पं० बन्नीप्रसाद शर्मा का० ती० सूचित करते हैं कि राजगांगपुर राज्य, जोड़ापोखर आदि स्थानों में धर्मसङ्घ का प्रचार किया जा रहा है, प्रति रविवार का चाईबासा में शाखासभा की बैठक होती है । (२) ढिंगवस राज्य के रायगढ़ जिले

में पं० विन्ध्येश्वरीप्रसादजी शुक्ल की अध्यक्षता में सभा तथा ग्राम बाबूपुर (इलाका लाल अनिरुद्रप्रतापसिंह) में पं० जगन्नाथजी शुक्ल के यहाँ फा० शु० ४ को अखण्ड हरिसंकीर्तन हुआ । दोनों अवसर पर श्रीमान ढिंगवस-नरेश उपस्थित थे । ठा० गयावससिंहजी, श्रीढिंगवसनरेश, पं० नागेश-दत्त मिश्र, पं० शिवशङ्कर त्रिपाठी, पं० केदारनाथ तिवारी, पं० देवीशरणजी शुक्ल आदि के धर्मसङ्घ के उद्देश्य पर व्याख्यान हुए । लोगों से मादक वस्तुओं के छोड़ने की अपील की गयी । बाबूपुर में श्री पं० महादेवप्रसाद जो आचार्य की अध्यक्षता में सभा हुई । (३) ग्राम कृष्णखेड़ा, जि० उन्नाव में एक धर्मसङ्घ संस्कृत विद्यालय का उद्घाटन हुआ है, जिसके प्रधानाध्यापक तथा सञ्चालक श्री गयाप्रसादजी त्रिपाठी वैद्यशास्त्री हैं । (४) तेजसिंह खेड़ा, जिला उन्नाव में श्री प्रेमप्रकाशजी सञ्चालन में धर्मसङ्घ पुस्तकालय की स्थापना हुई है । (५) धर्मसङ्घ के सदस्य श्री पं० देवीप्रसादजी अवस्थी पण्डा श्री केदारनाथ ने श्री संस्कृत महाविद्यालय, गुप्तकाशी, गढ़वाल के छात्रों के लिए ५० प्रति सन्ध्या की पुस्तकें प्रदान कीं । —श्री पं० भास्करानन्द व्याकरणाचार्य । (६) कानपुर धर्मसङ्घ शाखा का अधिवेशन—कानपुर । श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज के सान्निध्य में गत फा० शु० ४ शुक्रवार से तीन दिन तक स्थानीय फैलाशमन्दिर में धर्मसङ्घ शाखासभा का वार्षिकोत्सव मनाया गया । प्रथम दो दिन का कार्य श्री पं० नन्दकिशोरजी वाणीभूषण के तथा अन्तिम दिन का कार्य उन्नाव के प्रसिद्ध वकील एवं सङ्घ के प्रधान कार्यकर्ता पं० विश्वम्भरनाथजी वाजपेयी की अध्यक्षता में हुआ । कविरत्न पं० अखिलानन्दजी, शास्त्रार्थ महाराथी पं० माधवाचार्यजी शास्त्री, श्री पं० चन्द्रशेखरजी शास्त्री द्विवेदी आदि ख्यातिप्राप्त विद्वानों के भाषण हुए । सभा में सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म, संस्कार, संस्कृत शिक्षा, सगोत्र विवाहविलविरोध, हिन्दूकोडविरोध, पाकिस्तानविरोध आदि पर कई आवश्यक प्रस्ताव पास हुए । प्रतिदिन श्रीस्वामी करपात्री महाराज का प्रवचन होता रहा । (७) ८८ वर्ष के मेजर बल्लबलीसिंहजी में धर्मसङ्घ की प्रेरणा से पुनः नई स्फूर्ति आ गयी और आपने झगरपुर जि० उन्नाव में श्रीधर्मसङ्घ औषधालय खोला है ।

श्री स्वामी करपात्री जी महाराज को यात्रा

श्री स्वामीजी महाराज फा० कृ० १३ शनिवार को कानपुर पहुँचे । गङ्गापार गङ्गाकुटी में आपने निवास किया । प्रतिदिन नगर के विभिन्न स्थानों में आपका प्रवचन कराया गया । ब्रह्मावर्त (बिठूर) में होनेवाले महाविष्णुयाग में सम्मिलित होने के लिए आपने गङ्गाकुटी से फा० शु० ७ सोमवार को प्रातः सूर्योदय में प्रस्थान किया । उसी दिन सत्रीसराय (उन्नाव) में आपके तत्वावधान में ‘श्रीगङ्गा धर्मसंघ विद्यालय’ का वार्षिक अधिवेशन हुआ । फा० शु० ९ मङ्गल को मन्थना (कानपुर) होते हुए शाम को आप ब्रह्मावर्त पहुँचे । दूसरे दिन वहाँ आपके करकमलों से धर्मसङ्घ महाविद्यालय का पुनरुद्घाटन तथा सङ्घ का अधिवेशन हुआ । ११ गुरुवार को मध्याह्नोत्तर आपने लखनऊ के लिए प्रस्थान किया । उस दिन बसधना, पो० गङ्गाघाट (उन्नाव) में रात्रिनिवास किया । १२ शुक्रवार को यहाँ से चलकर मार्ग में जि० उन्नाव के ग्राम सरौसी होते हुए उसी दिन सायङ्काल उन्नाव पहुँच गये । स्थानीय धर्मसङ्घ के प्रयत्न से आपका शानदार स्वागत किया गया । एक विराट् सार्वजनिक सभा में आपने जनता को उपदेश दिया । रात में श्री पं० विश्वम्भरनाथजी वाजपेयी के निवासस्थान पर विश्राम कर दूसरे दिन (१३ शनि) प्रातःकाल ही वहाँ से चल पड़े । मार्ग में जिला उन्नाव के चमरौली, नवाबगञ्ज, आशाखेड़ा होते हुए बन्थराबाजार पहुँचे । १४ रविवार को वहाँ के मिडिल स्कूल में आपका निवास और उपदेश हुआ । मार्ग के सभी ग्रामों में जनता ने आपका हृदय से स्वागत करते हुए बड़ी श्रद्धा से उपदेश श्रवण किया । सभी स्थानों में धर्मसङ्घ शाखाएँ स्थापित की गयीं । —श्री महावीरस्वरूपजी ब्रह्मचारी ।

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

निन्दनीय प्रचार

'गवकमेटी' के पास कोई 'शार्टहेण्ड रिपोर्ट' नहीं है, जो उस के सामने दी हुई गवाहियों की पूरी रिपोर्ट ले सके। न जाने क्यों सरकार ने केवल इसी बात में अपनी कंजूसी का परिचय दिया? होता यह है कि कमेटी के सदस्य स्वयं कुछ बातें, सम्भवतः अपने मतलब की, नोट करते रहते हैं। गवाही देनेवाले को यह भी पता नहीं लगता कि उस की कौनसी बात और किस रूप में नोट की गयी। समाचारपत्र भी ठीक रिपोर्ट नहीं छापते, फलतः बड़ा भ्रम फैलता है, जिस का मिथ्याप्रचार के लिए लाभ उठाया जासकता है। इस का एक उदाहरण हमारे सामने है। प्रयाग में 'अ० भा० धर्मसंघ' की ओर से गवाही देते हुए कहा गया था कि "वर्तमान 'हिन्दू-ला' में हाईकोर्टों तथा प्रिवी कौन्सिल के निर्णय भी प्रविष्ट हो गये हैं। इन के जज शास्त्रमंजरी नहीं कहे जा सकते, वे प्रायः संस्कृत तक नहीं जानते। उन के मनमाने निर्णय मान्य नहीं हो सकते। धर्मशास्त्रानुसार उन में परिवर्तन की आवश्यकता है।" इस का पत्रों में सार यह निकला है कि "हिन्दू-ला में परिवर्तन की आवश्यकता है।" अंग्रेजी पत्रों में, विशेषकर प्रयाग के दैनिक 'लीडर' में, प्रकाशित रिपोर्ट के पूर्वापर प्रसङ्ग देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा अगिप्राय कदापि नहीं है, पर कुछ हिन्दी, उर्दू पत्र सब प्रसङ्ग उड़ाकर यह वाक्य छाप रहे हैं और उस पर यह भी लिख रहे हैं कि "धर्मसंघ वर्तमान हिन्दूकानून (धर्मशास्त्र) के परिवर्तन के पक्ष में है।" ऐसा प्रचार सर्वथा निन्दनीय है। कमेटी के सामने स्पष्ट शब्दों में कहा गया था कि "वेदमूलक होने से धर्मशास्त्रों में ईश्वर तक को परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है।" इस पर कमेटी के सदस्य श्रीधरपुर ने कहा कि "वेद तो ईश्वर-रचित है, फिर ईश्वर उन में परिवर्तन क्यों नहीं कर सकता?" उत्तर दिया गया कि "सनातनी वेदों को अपौरुषेय मानते हैं न कि ईश्वररचित।" परन्तु इन सब बातों को दबा दिया गया। भ्रम फैलते देखकर श्रीस्वामी करपात्रीजी ने निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया है— "अ० भा० धर्मसंघ ने 'हिन्दू कोड' का अपने दिल्ली, कानपुर, बनारस के विशिष्ट अधिवेशनों में पूर्ण विरोध किया है। कोड को शास्त्रविरुद्ध बतलाने के अतिरिक्त उस ने स्पष्ट घोषित किया है कि हिन्दू-शास्त्रों के बदलने का अधिकार ईश्वर तक को नहीं है, फिर व्यक्तियों या समूहों की तो बात ही क्या? शास्त्रमंजरी ही मीमांसापद्धति से अर्थ को जानकर निर्णय दे सकते हैं। ऐसे ही लोगों को न्यायाध्यक्ष होने का अधिकार है। संघ के प्रतिनिधियों के वक्तव्य को ऐसे शब्दों में प्रकाशित किया गया है कि जिस से सर्वत्र भ्रम फैल रहा है। वर्तमान 'हिन्दू ला' जिस में हाईकोर्टों के फैसलों के आधार पर शास्त्रविरुद्ध बातें प्रविष्ट हो गयी हैं, उन का भी परिवर्तन करके केवल शुद्ध शास्त्रों को ही 'हिन्दू ला' का रूप मिलना चाहिए। शास्त्रविरुद्ध हाईकोर्टों के फैसलों का कुछ भी मूल्य नहीं है। इसतरह धर्मसंघ प्राचीन परिवर्तन को भी मानने के लिए तैयार नहीं, फिर नवीन परिवर्तन की तो कोई बात ही नहीं।" लखनऊ में 'लक्ष्मणजी महायज्ञ' के अवसर पर जो 'कोड-विरोधी सम्मेलन' हुआ, जिस में सहस्रों नर-नारियों की उपस्थिति थी, उस में भी यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ कि "यह सम्मेलन 'हिन्दू-ला कमेटी' द्वारा 'हिन्दू कोड' पर विभिन्न नगरों में लैजानेवाली गवाहियों के प्रकार को अनुचित समझता है और इस पर अपना परम असन्तोष तथा क्षोभ प्रकट करता है कि (१) कमेटी के सदस्य संस्कृतज्ञ पण्डितों से विचार-विनिमय में इस कारण असमर्थता प्रकट करते हैं कि पण्डित लोग अङ्ग्रेजी में बयान नहीं दे सकते। (२) कमेटी के समक्ष होनेवाले बयानों एवं प्रश्नोत्तरों को उन के सही रूप में प्रकाशित करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। (३) प्रयाग में धर्मसंघ के प्रतिनिधियों के वक्तव्यों को ऐसे शब्दों में प्रकाशित किया गया है कि जिन से भ्रम फैल रहा है। यद्यपि प्रतिनिधियों ने स्पष्ट

ही कहा कि शास्त्रों में परिवर्तन का अधिकार किसी को नहीं है, बल्कि यहाँ तक कहा कि आधुनिक न्यायालयों के निर्णयों से जो धार्मिक शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन में त्रुटि हो रही है, उस का संशोधन शास्त्रों के अनुसार शास्त्रज्ञों द्वारा ही होना चाहिए।" धर्मसंघ के युक्तप्रांतीय अधिवेशन में भी इस आशय का प्रस्ताव पास किया गया। दैनिक पत्र 'लीडर' को भी संशोधन प्रकाशित करने के लिए लिखा गया है और कमेटी का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया गया है। अन्य लोगों के प्रकाशित वक्तव्यों में भी ऐसी ही असावधानियाँ पायी गयी हैं, जिन का प्रभाव उलटा पड़ सकता है। जनता को प्रचार के हतकण्डों से सावधान रहना चाहिए।

केवल धर्मप्रचार के लिए

श्रीस्वामी करपात्रीजी अभी तक पैदल ही यात्रा किया करते थे। गङ्गा-सागर से अमरनाथ तक आप पैदल ही गये। रुग्णावस्था में लोगों के बहुत आग्रह करने पर भी आप ने किसी सवारी पर चलना स्वीकार न किया। राजपूताना, पञ्जाब, सिन्ध, बम्बई, मद्रास आदि प्रान्तों में पधारने के लिए वहाँ के निवासी बराबर आग्रह कर रहे थे। कुछ लोग तो हवाई जहाज तक का प्रबन्ध करने के लिए तैयार थे और इस के लिए उन के तार पर तार आते थे। परन्तु श्रीस्वामीजी बराबर इनकार ही करते रहे। इधर लखनऊ में प्रांतीय अधिवेशन के अवसर पर श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी ने आप को बहुत समझाया कि धर्मप्रचार की दृष्टि से पैदल यात्रा के नियम को कुछ शिथिल कर देना चाहिए। और बहुत से लोगों ने भी इस के लिए प्रार्थना की। परिस्थितियों से बाध्य होकर इच्छा न होते हुए भी केवल धर्मप्रचार के लिए आवश्यकता पड़ने पर मोटर द्वारा जाने की स्वीकृति आप ने प्रदान करने की कृपा की है। हमें आशा है कि इस से धर्मसंघ के प्रचार में बड़ी सहायता मिलेगी और देश भर में आप के प्रभाव से एक नवीन जागृति उत्पन्न होगी।

शुभ समाचार

दर्ष है कि अब हमें 'अखबारी कागज' [न्यूजप्रिण्ट] पर्याप्त मात्रा में मिलने लगेगा और 'सिद्धान्त' पूर्ववत् आठ पृष्ठों में निकलने लगेगा। परन्तु आकार में कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा, इसलिए हमने निश्चित किया है कि अखबारी कागज पर 'सिद्धान्त' छापना हम अपने नवीन वर्ष से ही, जो श्रीरामनवमी से चलता है, आरम्भ करेंगे। इस वर्ष हमने एक अङ्क भी बन्द नहीं रखा, अधिकमास पड़ जाने के कारण हम चार अङ्क और दे रहे हैं। इस तरह पृष्ठों की कमी को पूरा करने का हमने प्रयत्न किया है। श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज का 'भगवतीतत्त्व' शीर्षक लेख कुछ लम्बा है। हम चाहते हैं कि वह इसी वर्ष के शेष अङ्कों में निकल जाय, क्योंकि धारावाहिक लेखों का दूसरे वर्ष में लेजाना ठीक नहीं जान पड़ता। इसलिए अगले अङ्क में टिप्पणियाँ को भी कम करके इसी लेख को समाप्त करने का प्रयत्न किया जायगा। छठे वर्ष से पृष्ठसंख्या पूरी हो जाने पर हम पर्याप्त पाठ्यसामग्री दे सकेंगे। अपने सभी लेखकों से, जिन के लेख स्थानाभाव के कारण छापने में हम असमर्थ रहे, प्रार्थना है कि वे अपने लेख पूर्ववत् भेजने की कृपा करें। दो पृष्ठों में हम 'सङ्क्ष-समाचार' भी देते रहेंगे। हमें खेद है कि इस वर्ष भी हमारे कुछ ग्राहकों ने इतने दिनों तक अङ्क लेकर अन्त में बी. पी. लौटा देने की उदारता दिखलायी। 'सिद्धान्त' ऐसे पत्र के ग्राहकों में भी कुछ लोगों की यह मनोवृत्ति बहुत खटकती है। किसी कारणवश जो लोग अगले वर्ष हमें अपना सहयोग प्रदान करने में असमर्थ हों, वे हमें अभी से सूचित करने की कृपा करें, जिस में अगले अङ्क उन की सेवा में न भेजे जाय। साथ ही ऐसे भी

प्राहक हैं, जो अगले वर्ष का मुख्य पहले ही से भेज रहे हैं। हम उन के कृतज्ञ हैं और आशा करते हैं कि वे अगले वर्ष 'सिद्धान्त' की प्राहकसंख्या बढ़ाने का भी प्रयत्न करेंगे।

श्रीभगवतीतत्त्व

(श्रीस्वामी करंपात्रीजी)

५

मायारूपिणी भगवती

मायारूप में भी उसी भगवती के ही एक स्वरूप का वर्णन होता है। "मायान्तु प्रकृति विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।" अर्थात् माया को ही विश्व की प्रकृति समझना चाहिए और मायाविशिष्ट ब्रह्म को ही परमेश्वर समझना चाहिए। उसी को अन्यत्र 'अज्ञा' शब्द से निरूपण किया गया है—“अज्ञामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां सुकभोगामजोऽन्यः” अर्थात् जैसे कोई लोहित-शुक्ल-कृष्ण रङ्ग की कवरी बकरी अपने समान ही बहुत बच्चों को उत्पन्न करती है, वैसे ही सत्व, रज, तम तीनों गुणोंवाली प्रकृति भी अपने समान ही त्रिगुण महदादि प्रपञ्च का निर्माण करती है। आवरणात्मक होने से उस का तमोगुण ही कृष्णरूप है, प्रकाशात्मक होने से सत्वगुण ही शुक्ल रङ्ग है, रज्जनात्मक होने से रजोगुण ही लोहित रङ्ग है। जैसे कवरे बच्चों-वाली कवरी बकरी का उपभोग करते हुए कोई बकरे उस का अनुगमन करते हैं, कोई उस से भोग प्राप्त कर विरक्त होकर उसे त्याग देते हैं, वैसे ही कोई जीव महदादि प्रपञ्चवती त्रिगुणा प्रकृति का उपभोग करते हुए उस का अनुगमन करते हैं, कोई उस से भोगापवर्ग प्राप्त करके उस को त्याग देते हैं। यह अज्ञा भी माया ही है। ईश्वर को किसी भी कार्य करने के लिए प्रकृति की अपेक्षा होती है। “प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाभ्यात्म-साधया” अर्थात् ईश्वर अपनी प्रकृति का ही सहारा लेकर अवतीर्ण होते हैं। ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति ही चराचर प्रपञ्च का निर्माण करती है—“मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृजते सचराचरम् ।” भगवान् स्वयं कहते हैं प्रकृति मेरी योनि है, उसी में मैं गर्भाधान करके विश्व का निर्माण करता हूँ—“मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्नामं दधाम्यहम् । सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।” सम्पूर्ण प्राणियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सब की प्रकृति ही जननी है और मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ—“सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्यः सम्भवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥” गुणमयी प्रकृति का अतिक्रमण बहुत ही कठिन है। अधिष्ठानब्रह्म के साक्षात्कार से ही उस का अतिक्रमण हो सकता है, अन्यथा नहीं—“दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।” भूतप्रकृति को बाधित करके ही परप्राप्ति होती है—“भूतप्रकृतिसोऽन्वये विदुर्यान्ति ते परम् ।” कहीं कहीं अविद्या को 'क्षर' और विद्या को 'अमृत' कहा है—“खरन्स्वविद्याऽमृतं तु विद्या विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्वः ।” पुराणों में जो सृष्टि में परमा है, वही प्रकृति है ऐसा प्रकृति का अर्थ किया गया है—“प्रकृष्टवाचकः प्रश्न कृतिश्च सृष्टिवाचकः । सृष्टौ या परमा देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता ॥” “चतुष्कपदा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते । तस्यां सुपणां वृषणा निषेदतुयत्र देवा दधिरे मागधेयम् ।” इस मन्त्र में उसी भगवती के अविद्यारूप का वर्णन है। माया स्थूल, सूक्ष्म, कारण और समाधि इन चार रूपों में प्रकट होती है, युवति रहती है, सुपेशा, सुन्दर रूपवाली, घृत के समान प्रतीत होती है, ज्ञानों को ढँकनेवाली है, जीव-ईश्वर दोनों ही उस से सम्बन्ध रखते हैं। “तम आसीत्तमसा गूढमग्रे-ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । लुच्छयेनाम्बपिहितं यदासीत्तपसस्त-न्महिम्ना जायतैकम्” इस वचन से भी एक तत्त्वावरक तम के अस्तित्व का पता लगता है। “सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी । यथात्मा च तथा शक्तियथाप्रौ दाहिका स्थिता ॥ अतएव च योगीन्द्रैः स्त्रीपुष्पेन्द्रो न मन्यते ॥”, “सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् ।”, “अहमेवास पूर्वन्तु नान्य-क्लिष्टिगगाधिप । तदात्मरूपं चित्संवित् परब्रह्मैकनामकम् ॥”, “आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः” आदि वचनों से भी उसी तत्त्व की सिद्धि होती है।

माया और अविद्या

माया को ही कहीं कहीं अविद्या और अज्ञान शब्द से भी कहा गया है। यहाँ अज्ञान ज्ञान का अभावरूप नहीं, किन्तु ज्ञाननिवर्त्य, भावरूप, अनिवर्चनीय पदार्थ ही है। तभी उस में आवरणहेतुता बन सकती है। “अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्” इस वचन में अज्ञान को ब्रह्मस्वरूप ज्ञान का आवरक कहा गया है। यह तभी बन सकता है, जब अज्ञान भी भावरूप हो, क्योंकि अभाव किसी का आवरक नहीं हो सकता। जैसे अज्ञान को आवरक कहा गया है, वैसे ही माया को भी आवरक कहा गया है—“नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः” (मैं अर्थात् अस्मत्पदलक्ष्य परब्रह्म योगमाया से आवृत है, इसीलिए स्वप्रकाश होने पर भी उसे लोग नहीं जानते)। ‘अहमज्ञः’, ‘मामहं न जानामि’ इस रूप से अज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। “त्वामहं न जानामि” इस रूप से भी अज्ञान का अनुभव होता है। यदि अज्ञान ज्ञानाभाव ही हो, तब तो उस का ऐसा अनुभव ही न बन सकेगा, क्योंकि अभाव के ग्रहण में अनुयोगि-प्रतियोगि दोनों के ग्रहण की अपेक्षा होती है। जैसे घट और भूतल के ज्ञान के बिना भूतलनिष्ठ घटाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा और ज्ञानरूप अनुयोगि-प्रतियोगि के ज्ञान के बिना ज्ञानाभाव का बोध भी न हो सकेगा। यदि अनुयोगि-प्रतियोगि का ज्ञान स्वीकार न किया जाय, तो भी ज्ञानाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता और यदि स्वीकार कर लिया जाय, तो भी ज्ञानाभाव का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे भूतल में एक भी घट होने पर घटाभाव नहीं कहा जा सकता, वैसे ही एक भी ज्ञान रहे, तो ज्ञानाभाव का अनुभव नहीं कहा जा सकता। परन्तु जब भावरूप अज्ञान मानते हैं, तब तो साक्षी से उस का बोध हो जाता है। फिर अनुयोगि-प्रतियोगि के ग्रहणाग्रहण का कोई भी विकल्प नहीं उठता, क्योंकि भावरूप अज्ञान साक्षी के द्वारा प्रकाशित हो सकता है। यद्यपि भावरूप अज्ञान के प्रत्यक्ष में भी विशेषण या निरूपकरूप से घटादि विषय का भान होना आवश्यक होता है, फिर तो उस के भी ज्ञान रहने पर उस का अज्ञान नहीं कहा जा सकता और उस के ज्ञान न रहने से विशेषणज्ञान के बिना विशिष्ट अज्ञान का अनुभव भी नहीं हो सकेगा, तथापि साक्षी के द्वारा ही अज्ञान और उस के विशेषण घटादि का भी भान होने से किसी भी दोष की प्रसक्ति नहीं होती। ज्ञानरूप या अज्ञानरूप से सर्ववस्तु साक्षिभास्य होती है यह निग-मान्तविदों का रास्त्रान्त है—“ज्ञानतया अज्ञानतया वा सर्वे वस्तु साक्षि-भास्यम्”। ‘घटो ज्ञातः’ यहाँ जैसे ज्ञान का विषय होकर साक्षी द्वारा घट भासित होता है, वैसे ही “घटो न ज्ञायते” यहाँ भी अज्ञान के विषयरूप से घट साक्षी से भासित होता है। योगनिद्रा, जड़शक्ति, अचित्, अज्ञान, अविद्या, माया, प्रकृति इत्यादि सभी शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। “परास्य शक्तिर्विविधैव भ्रूयते” (परमात्मा की पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है) इत्यादि स्थलों की शक्ति भी तद्रूप ही है।

शक्ति की अन्तरङ्गता-बहिरङ्गता

कुछ लोग इस शक्ति को अन्तरङ्गा और माया, प्रकृति आदि को बहिरङ्गा शक्ति कहते हैं। भगवत्लोक, भगवद्विग्रहादि में अन्तरङ्गा दिव्य शक्ति का उपयोग मानते हैं। जगन्निर्माण में माया, अविद्यादि बहिरङ्ग शक्ति का उपयोग मानते हैं। कुछ लोग अचित् को प्राकृत-अप्राकृत भेद से दो प्रकार का मानते हैं। प्राकृत अचित् से जगत् की और अप्राकृत अचित् से भगवत्लोकादि की रचना मानते हैं। कुछ लोग जगन्निर्माण अथवा लीलामय के लीलोपयोगी पदार्थों की सृष्टि के लिए भगवत्स्वरूपभूत ही अघटितघटनापटीयान् भगवदीय स्वात्मवैभव स्वीकार करते हैं। वही परमात्मा अविष्कृत परिणाम द्वारा सर्वरूप में व्यक्त होता है। जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदि से तत्तत् अभीष्ट पदार्थ की सृष्टि होने पर भी वे निर्विकार रहते हैं, वैसे ही परमात्मा से भी विविध विश्व बनने पर भी परमेश्वर निर्विकार ही रहता है। विचार करने से मालूम होगा कि यह स्वात्मवैभव यदि भगवत्स्वरूप ही है, तब तो फिर पृथक् नाम-रूपकल्पना की अपेक्षा नहीं हो सकती। तब कृत्स्नप्रसक्ति, निरव-यवत्वव्याकोपादि शङ्काओं का समाधान भी न हो सकेगा। सम्पूर्ण ब्रह्म यदि प्रपञ्च बन जायगा, तब तो मुक्तोपास्थ ब्रह्म अवशिष्ट न रहेगा। यदि एकदेशेन ब्रह्म विश्व बनेगा, तब तो सीवयवत्व, विकारित्व आदि

दोष अनिवार्य ही होंगे। कल्पवृक्षादिकों की विलक्षण शक्ति की महिमा से ही तादृक् विलक्षण कार्यकारिता सिद्ध होती है।

माया की अनिर्वचनीयता

इसतरह स्वात्मवैभव अथवा अचित् किंवा अन्तरङ्गा शक्ति यदि अधिष्ठान से पृथक् होकर सत् है, तब तो श्रुतिसिद्धान्त बाधित होगा। यदि अत्यन्त असत् है, तो कार्यकारिता न बन सकेगी। विरुद्ध होने से सदसद्रूपता भी नहीं कही जा सकती। फिर तो पारिशेष्यात् अनिर्वचनीय मानना होगा। इसतरह अवान्तर चाहे कितने भी भेद मान लिये जाय, परन्तु अनिर्वचनीयत्वेन रूपेण उन सब को एकता ही है। “देवदत्तनिष्ठ-प्रमा तन्निष्ठप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिप्रध्वंसिनी प्रमात्वात्, यज्ञदत्त-निष्ठप्रमावत्” अर्थात् देवदत्तान्ध प्रमा अपने प्रमा के प्रागभाव से अतिरिक्त किसी अनादि की प्रध्वंसिनी है, प्रागभाव से अतिरिक्त अनादि भावरूप अज्ञान ही हो सकता है, इस अनुमान से भी अनादि अज्ञान सिद्ध होता है। इसी को “तम आसीत्” इत्यादि श्रुतियों में तमोरूप भी माना गया है। इस तम को कण्ठतः अनिर्वचनीय कहा गया है “नासदासीन्नो सदासीत्तम एवासीत्” (न सत् था, न असत् था, किन्तु तम ही था) यह सदसद्विलक्षणता ही अनिर्वचनीयता है। “अनृतेन हि प्रत्यूढा” इत्यादि वचनों से तो इस आवरणक तम को प्रत्यक्ष ही अनृत कहा है। “ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।” “मायामेतां तरन्ति ते” इत्यादि वचनों से माया, अज्ञान आदिकों की निवर्त्यता कहने से ही अनिर्वचनीयता का बोधन होता है। सत् की शक्तिरूप होने से भी इस की अनिर्वचनीयता बोधित होती है, क्योंकि जैसे वह्नि की शक्ति वह्निरूप नहीं होती, किन्तु वह्नि से विलक्षण होती है, वैसे ही सत् की शक्ति सद्रूप न होकर सत् से विलक्षण ही होती है। वह सद्विलक्षणता भी अनिर्वचनीयता है। इस प्रकार माया की अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है।

तान्त्रिक दृष्टि में शक्ति

तन्त्रों के अनुसार प्रकाश ही शिव और विमर्श ही शक्ति है। संहार में शिव का प्राधान्य रहता है, सृष्टि में शक्ति का प्राधान्य रहता है। प्रमा में इदमंश प्राह्य होता है, अहमंश प्राह्य होता है। माना यह जाता है कि भीतर वर्तमान पदार्थों का ही बाह्य रूप में अवभास होता है—“वर्तमानाव-भासानां भावानामवभासनम्। अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।” प्रकृति में ही सूक्ष्म रूप से सब वस्तु स्थित है। परम शिव और शक्ति दोनों ही श्लिष्ट होकर रहते हैं। निस्पन्द परम शिवतत्त्व और निषेधात्मक तत्त्व ही शक्तितत्त्व है। “आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थः एकमेवाविकल्पितः” अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों ही अविकल्पित होकर एक में रहते हैं, तब साम्यावस्था सम्पन्नी जाती है।

प्रकृति की सत्ता

ज्ञानस्वरूप पुरुष की सत्ता पारमार्थिक है, अर्थरूप प्रकृति की सत्ता अवास्तविक है। उस की अविद्यमानता का वर्णन बहुत स्थानों में मिलता है। “अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते। ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्था-गमो यथा।” अर्थ के न रहने पर भी संसृति की निवृत्ति नहीं होती, जैसे स्वप्न में अर्थ न रहने पर भी वह भासमान होता है, वही स्थिति अर्थ की है। विशेषतः माया का यही लक्षण ‘श्रीभागवत’ में किया गया है कि जिस के कारण कोई वस्तु न होने पर भी प्रतीत हो, वस्तु होती हुई भी न प्रतीत हो, वही माया है, जैसे स्वाप्ति प्रपञ्च, शुक्तिरूप्य, रज्जुसर्पादि पदार्थ न होने पर भी भासमान होते हैं, तम-राहु आकाश में विद्यमान रहने पर भी नहीं भासित होते—“ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि। तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः।”

भगवती और माया का वैलक्षण्य

शक्ति शब्द से जैसे अचित् प्रकृति के अतिरिक्त परा प्रकृति, जीव आदि का भी ग्रहण होता है, वैसे ही भगवती शब्द से शुद्ध निर्गुण चिच्छक्ति का भी बोध होता है। इसीलिए उपासकों की उपास्य शक्ति या भगवती को केवल प्रकृति या माया न समझना चाहिए, किन्तु सच्चिदानन्दात्मिका भगवती ही उपास्य होती है।

रात्रिरूपिणी

रात्रिसूक्त रात्रिदेवता का प्रतिपादन करता है। रात्रिदेवता दो है, एक जीवसम्बन्धिनी, दूसरी ईश्वरसम्बन्धिनी। प्रथम का अनुभव सभी लोग

करते हैं, जिस के सम्बन्ध से प्रतिदिन समस्त व्यवहार लुप्त हुआ करता है। ईश्वररात्रि वह है, जिस में ईश्वर का व्यवहार भी लुप्त होता है, उसी को महाप्रलय कालस्वरूप कहा जाता है। उस समय दूसरा कोई भी वस्तु नहीं रहती, केवल मायाशबलित ब्रह्म ही रहता है, उसे ही अव्यक्त भी कहा जाता है। “ब्रह्ममायात्मिका रात्रिः परमेशलयात्मिका। तदधिष्ठानदेवो तु भुवनेशी प्रकीर्तिता।” (देवीपुराण) ब्रह्ममायात्मिका रात्रि की अधिष्ठात्री देवता ही भगवती भुवनेश्वरी है। “रात्री बन्धप्रदायती पुरुषा दम्बधमिः विश्वा” इत्यादि का सारांश यह है कि “सर्वकारणभूता चिच्छक्ति भगवती पूर्वकल्पीय अनन्त जीवों के अपरिपक्व अतएव फलानभिमुख सत्-असत् कर्मों को देखकर फलप्रदान का समय न होने से ऐश्वर्यप्रपञ्च को अपने में ही प्रलीन कर लेती है। पश्चात् वही रात्रिरूपा चिच्छक्ति फलप्रदान का समय आने पर महादादि द्वाग प्रपञ्च का निर्माण करके असाङ्ख्येय तत्तत्प्राणियों के कर्मों को देखती है। फिर उन कर्मों का फल प्रदान करती है। इस से रात्रिरूपा भगवती की सर्वज्ञता स्पष्ट है। वह अमर्त्या देवी अन्तर्लक्ष्योप-लक्षित समस्त विश्व को अपने स्वरूप से पूरित कर देती है। नीची वस्तु लता-गुल्मादि और उच्छिष्ट वृक्षादि को भी अधिष्ठानचैतन्य से पूरित कर देती है और वही परा चिद्रूपा देवी स्वाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितस्वरूप चैतन्य-उद्योति से तमउपलक्षित सम्पूर्ण प्रपञ्च को बाधित कर देती है। आती हुई देवतशील रात्रि चिच्छक्तिप्रकाशस्वरूपा उषा (प्रातःकाल) को अर्थात् अविद्या की आवरणशक्ति को तिरस्कृत करती है। यद्यपि रात्रि द्वारा प्रकाश-स्वरूपा उषा का निराकरण असम्भव मालूम पड़ता है, तथापि यहाँ चिद्रूपा-रात्रि ही परमप्रकाशरूपा है, तदपेक्षया सन्ध्या या उषा अन्धकाररूप ही है। जैसे सूर्य के प्रकट होने पर सन्ध्या मिट जाती है, वैसे ही चिच्छक्ति के स्वाकार वृत्ति पर प्रतिबिम्बित होने पर अविद्या की आवरणशक्ति मिट जाती है। आवरणशक्ति के दग्धबीज होजाने पर प्रारब्धचय के अनन्तर मूलाज्ञानरूप तम सर्वथा नष्ट हो जाता है। दोनों शक्तियों के नष्ट होजाने पर मूलाज्ञान का भी अवशेष नहीं रहता। वह रात्रिदेवता परा चिच्छक्ति हम सब पर प्रसन्न रहे, जिस की प्राप्ति में हम सब सुखस्वरूप में वैसे स्थित होते हैं, जैसे अपने घोसे में पक्षी रात्रिवास करता है। ग्राम के आपामर सभी लोग तथा गवाश्वदि, पक्षी तथा भिन्न प्रयोजन से चलनेवाले पथिक एवं श्येन आदि उस रात्रि में प्रविष्ट होकर सुख से स्थित होते हैं। दिन के सञ्चार से भ्रान्त प्राणियों को यह रात्रि ही सुख पहुँचाती है, उस समय सब लोग विश्राम करने लगते हैं। सारांश यह है कि जो प्राणी भुवनेश्वरी के नाम तक से भी परिचित नहीं है, वे भी करुणामयी परा चिच्छक्ति अम्बा की करुणा से ही उस के अङ्ग में जाकर सुख से उसी तरह सोते हैं, जिसतरह मूढ़ बालक माता की करुणा से स्वस्थ सोते हैं। ऐसी करुणामयी यह चिच्छक्ति है। हे ऊर्ध्वे! रात्रिदेवते! चिच्छक्ते! आप परम दयामयी है, अतः हमारे कृत्यों को और न देखकर क्षमा करनेवाले मारक पापरूप वृक (मेड़िया) और नानावासनारूपी वृकी को हम से पृथक् कर दो और चित्तवित्त के अपहारक कामादि दोषों को भी हम से हटा दो और हमारे लिए आप सुखेन तरणी या और क्षेमकरी हो। सम्पूर्ण वस्तुओं में फैले हुए कृष्णवर्ण स्पष्ट अज्ञान हम को घेरे हुए हैं। हे उषोदेवते! आप ऋण के समान उस अज्ञान को दूर कर दो। जैसे अपने स्तोताओं का ऋण आप दूर करती हैं, वैसे ही हमारे अज्ञान को दूर करें। हे रात्रिदेवते! चिच्छक्ते! कामधेनु के समान सर्वाभीष्टदायिनी आप को प्राप्त करके स्तुति-जपादि से अभिमुख करता हूँ। आप प्रकाशरूप परमात्मा की पुत्री हैं।” परमात्मा से ही अन्यत्र चैतन्यशक्ति की अभिव्यक्ति होती है, इस निश्चय से भगवती को दिवोदहिता कहा गया है।

चण्डी

एक दृष्टि से भगवती को परब्रह्म की महिषी कहा जाता है—“त्वमसि परमब्रह्ममहिषी।” उसी दृष्टि से उन का नाम ‘चण्डिका’ है। ‘चण्डिभातः चण्डवातः’ इत्यादि स्थानों में इयत्तानवच्छिन्न असाधारणगुणशाली वस्तु में ‘चण्ड’ शब्द का प्रयोग होता है। देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्य वस्तु परमात्मा ही है। भात, वात आदि का विशेषण होने से वह सकृच्चितवृत्ति हो जाता है। ‘चण्डि कोपे’ धातु से ‘चण्ड’ शब्द की निष्पत्ति है। ‘कस्य बिभ्यति देवाश्च कृतरोषस्य संयुगे?’ किस के रोष उत्पन्न होने से देवताओं को भी डर होता है? “प्रसादो निष्कलो यस्य कोपोऽपि च निरर्थकः। न तं

भर्तारमिच्छन्ति षण्डं पतिमिव प्रजाः ॥" अर्थात् जिस का क्रोध और प्रसाद निष्फल होता है, उसे प्रजा उसी तरह स्वामी नहीं मानती, जिस तरह षण्ड पुरुषों को स्त्रियों पति नहीं बनाती। इसलिए सफल उग्र क्रोध या उग्र क्रोधवाला पुरुष भी 'चण्ड' कहलाता है। महाभयजनक कोप ही चण्ड कहा जाता है और वह भयजनक कोप परमेश्वर का ही है। "नमस्ते रुद्र मन्यवे" इस वचन में रुद्र के मन्यु—कोप—को प्रणाम किया गया है। संसार में चण्ड से ही सब डरते हैं। स्पष्ट है कि जिस का दण्ड प्रबल होता है, उसी का शासन चलता है। सर्वसंहारक से सब डरते हैं, सर्वसंहारक मृत्यु से भी सब डरते हैं, मृत्यु भी चण्ड है। "भीषास्माद्वातः पवते भीषो-देति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।" अर्थात् परमेश्वर की डर से वायु चलता है, भय से सूर्य उदित होता है, भय से अग्नि और इन्द्र भी अपना-अपना काम करते हैं। सर्वभयकारण मृत्यु भी जिस से डरता है, वही भगवान् परमात्मा है। उस को मृत्यु का भी मृत्यु काल का भी काल या महाकाल किंवा चण्ड कहा जा सकता है, वही सर्वसंहारक है। उस से भिन्न सब संहार्यकोटि में आ जाता है। उत्पादक, पालक ब्रह्म-विष्णु आदि उस के स्वरूप ही हैं, इसीलिए वे भी असंहार्य हैं। यदि भिन्न होते, तो अवश्य संहार्य होते, अन्यथा इसी को एकोनसर्वसंहारक कहना पड़ेगा। इसीलिए जिस का विश्व, वही उस का उत्पादक, वही पालक और वही संहारक है। एकेश्वरवाद सर्वत्र मान्य है ही, उसी को महद्भय वज्र-रूप भी कहा गया है। "महद्भयं वज्रमुद्यतम्" जैसे उद्यत वज्र के डर से मृत्यु लोग तत्परता से काम करते हैं, वैसे ही परमात्मा के डर से सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि सावधानी से अपने-अपने कार्य में संलग्न होते हैं। उसी चण्ड की स्वरूपभूता शक्ति पत्नी चण्डिका है। जैसे परमेश्वर के ही घोर रूप से पृथक् शान्त रूप भी है "घोरान्या च शिवान्या" वैसे ही भगवती के भी उग्र और शान्त दोनों ही रूप हैं। कुछ लोगों का कहना है कि एक ही परब्रह्म माया से धर्म और धर्म दो रूप में प्रकट होता है। सृष्टि के आरम्भ में जो "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय", "सोऽकामयत", "तत्तपोऽकुरुत" इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान, इच्छा और क्रिया का भ्रवण है, यही तीनों ब्रह्म के धर्म हैं। यह सब धर्मरूप ब्रह्म से अभिन्न ही हैं, क्योंकि श्रुति ने ही इन्हें स्वाभाविकी कहा है। "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" यहाँ 'बल' से इच्छा का ग्रहण समझना चाहिए। इस धर्म को ही शक्ति कहा जाता है। तथाच समष्टि ज्ञानेच्छाक्रियारूपा ब्रह्मधर्मरूपा शक्ति ही चण्डी है, यही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती हैं। कार्यवशात् इसी का अनेक रूप में प्राकट्य होता है। वस्तुतस्तु उसी चण्डरूप परमात्मा में ही पुंस्त्व, स्त्रीत्व भक्तभावना के अनुसार है। पुंस्त्वविवक्षा से वही महारुद्र आदि शब्दों से, स्त्रीत्वविवक्षा से वही चण्डी, दुर्गा आदि शब्दों से व्यवहृत होता है।

धर्मसङ्घ समाचार

धार्मिक समाचार

(१) श्रीमहाविष्णुयज्ञ—पटना। शुद्ध चैत्र कृष्ण ५ रविवार से गङ्गागर्म से श्रीकरपात्रीजी मौनीबाबा, जनकपुर धाम के तत्त्वावधान में उक्त महायज्ञ हुआ। साथ ही श्रीरामपदारथदासजी महाराज, श्रीजानकीघाट, अयोध्या की अध्यक्षता में अ० भा० श्रीरूपकला हरिनामयश सङ्कीर्तन सम्मेलन भी हुआ। १२ रविवार को पूर्णाहुति हुई।—रा० सा० श्रीबालगोविन्द मालवीय। (२) श्रीमन्नागवत सप्ताह—मु० जोरावरनगर, पो० पन्हेटो, जि० अल.गढ़। गत फा० कृ० ५ श्रुगवार से उक्त सप्ताह यज्ञ तथा धर्मसङ्घ का उत्सव मनाया गया।—पं० भूदेवप्रसाद शर्मा आ० शा०। (३) विष्णुमहायज्ञ—महन्थ श्रीसरयूदासजी के प्रयत्न से रामघाट टप्पावेल्हा, पो० बांसगाँव, जि० आजमगढ़ में गत फा० कृ० ५ शुक्र से उक्त महायज्ञ हुआ, जिस की समाप्ति फा० कृ० १० बुध को हुई।—श्री पं० शान्तनु पाण्डेय।

'हिन्दू कोड' विरोध

१ शाहाबाद आरा—श्रीस्वामी सर्वज्ञानन्दजी की अध्यक्षता में सभा करके विरोध किया गया।—श्री दिलीपसिंह। २ आदर्श पुस्तकालय, पिपराटो, थाना—शिवहर (सीतामढ़ी), जि० मुजफ्फरपुर (बिहार)—१२ फावरी। ह० ५२५, श्री पं० त्रिभुवन पाठक 'शास्त्री'। ३ वामनवास, पो० गङ्गापुर सीटी (सवाई जयपुर)—२१ फरवरी, ह० ११५, पं० रामानुज शर्मा मालदेव।

अन्यान्य समाचार

(१) कर्णपुरदत्त, जि० फर्रुखाबाद में गत चैत्र कृष्ण १-२ को श्रीस्वामी रामदेवजी की अध्यक्षता में सनातनधर्म महोत्सव मनाया गया। श्री पं० लक्ष्मीनारायणजी शास्त्री आदि के उपदेश हुए। 'हिन्दू कोड' का घोर विरोध किया गया।—श्री पं० जुगगीलाल शास्त्री, फलकपुर। (२) कोटगाँव, जि० जौनपुर में महन्थ श्रीदेवनारायणजी तथा पं० गयादीन पाण्डेय जी की अध्यक्षता में सङ्घ के सङ्कल्प से गत चैत्र कृष्ण ५ रविवार को अखण्ड सङ्कीर्तन तथा सङ्घ का अधिवेशन हुआ।—श्री पं० गदाधरजी मिश्र अध्यक्ष श्री गदाधर धर्मसङ्घ संस्कृत विश्वविद्यालय।

लक्षचण्डी और धर्मसङ्घ का विशेषाधिवेशन

लखनऊ—१६ मार्च। स्थानीय कूड़ियाघाट पर विशाल मण्डप में गत चैत्र कृष्ण ५ को महायज्ञ आरम्भ होकर अ० चैत्र शुक्ल ३ शुक्रवार को बड़े समारोह से इस की पूर्णाहुति हुई। अत्यन्त निःस्पृह भाव से लगभग ८०० ब्राह्मणों ने इसे में भाग लिया और बड़े उत्साह एवं परिश्रम से इस महान् कार्य को सम्पन्न किया। महायज्ञ की समाप्ति अमावास्या बुधवार को करने का विचार था, किन्तु नियत पाठसंख्या की पूर्ति न होने के कारण कार्यक्रम २ दिन और बढ़ाया गया। ९ शुक्रवार को 'अखण्ड भारत-सम्मेलन' और १० शुक्र को 'हिन्दूकोड विरोधी सम्मेलन' हुआ। ११ शनिवार को 'गोरक्षा सम्मेलन' हुआ। १२ रविवार से ४ दिन तक 'विराट संस्कृत महाविद्यालय, काशी' के प्रधानाध्यापक श्री पं० सभापतिजी उपाध्याय के सभापतित्व में संयुक्तप्रान्तीय धर्मसङ्घ का विशेषाधिवेशन हुआ। अधिवेशन में पाकिस्तान-विरोध, हिन्दूकोडविरोध, सगोत्र विवाह विल-विरोध, वर्णाश्रमानुसार नित्यनैमित्तिक कर्म तथा संस्कारों की समुचित व्यवस्था के लिए धार्मिक कर्णधारों को उद्बोधन, विधर्मियों द्वारा हिन्दुओं को धर्मभ्रष्ट किये जाने के विरोध, सर्वत्र धर्मसङ्घ-शाखा की स्थापना, धार्मिक कथा के प्रसार की आवश्यकता, सङ्घ के सङ्कल्पानुसार जपादि द्वारा ईश्वर-प्रार्थना, धार्मिक शिक्षा के लिए सङ्घ के शिक्षामण्डल द्वारा आयोजित शिक्षापद्धति के प्रसार आदि पर अनेक प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। 'हिन्दू कोड' को रद्द कराने के लिए श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज ने अन्यान्य लौकिक प्रयत्नों के साथ आगामी चैत्र नवरात्र में भगवती की प्रार्थना करते हुए अष्टमी के दिन उपवास रखने का हिन्दू जनता से अनुरोध किया। साथ ही आप ने यह घोषणा करते हुए कि "यदि दुर्दैव से प्रस्तुत कोड पास होने का अवसर आ ही जाय, तो दिल्ली पहुँचकर समस्त वैध उपायों द्वारा इस का घोर विरोध करते हुए सरकार को कोड रद्द करने के लिए बाध्य किया जाय" समस्त सनातनी जनता को इस के लिए कटिबद्ध होकर तैयार होजाने का आदेश दिया और सरकार की शुभकामना की दृष्टि से उसे भी यह चेतावनी दी कि "वह अब भी संभलकर इस प्रबल विरोध का आदर करते हुए प्रस्तुत 'कोड' को रद्द कर दे। जान-बूझकर बर्रे के छत्ते को छेड़ने का प्रयास न करे, अन्यथा इस का दुष्परिणाम अनिवार्य है।" जनता ने इस आदेश का सहर्ष अनुमोदन किया और उसी समय लखनऊ के ५० सज्जनों ने कोडविरोध में हरएक आज्ञा का पालन करने के लिए अपने को अर्पित करने की लिखित प्रतिज्ञा श्रीस्वामीजी को प्रदान की। प्रसिद्ध काङ्ग्रेस कार्यकर्ता श्रीबालमुकुन्दजी वाजपेयी द्वारा अधिवेशन में अनेक शङ्कएँ उपस्थित की गयीं, जिन का सन्तोषजनक समाधान किया गया। श्रीजगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिषपीठाधीश्वरजी महाराज की संरक्षकता में और श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के तत्त्वावधान में सब कार्य हुआ। सभा में म० म० श्री पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, कविरत्न श्री पं० आखिलानन्दजी, श्री पं० नन्दकिशोरजी वाणीभूषण, शास्त्रार्थमहारथी श्री पं० माधवाचार्यजी शास्त्री, श्री पं० वेणीमाधव शास्त्री आदि विद्वानों के प्रतिदिन सारगर्भित प्रभावशाली भाषण होते रहे। प्रतिदिन पचास-साठ हजार की संख्या में नरनारियों ने ३ बजे से रात्रि के ११-१२ बजे तक शान्तिपूर्वक सभा के कार्य में सहयोग दिया। इस समस्त योजना के संयोजक श्रीस्वामी चिद्धानन्दजी का परिश्रम अवर्णनीय रहा। सोमवार चतुर्थी के दिन श्रीस्वामी करपात्रीजी ने मोटर द्वारा हरदोई के लिए प्रस्थान किया। (विशेष संवाददाता द्वारा प्राप्त)

सिद्धान्त

सामाहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण १)

विशेष ५), एक प्रति —)

सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,

सं० सं० — दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

श्रीभगवतीतत्त्व

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

६

नवार्णमन्त्रार्थ

नवार्णमन्त्र का भी अभिप्राय यही है। 'डामरतन्त्र' में उस का अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है। "निर्धूतनिखिलाध्वान्ते नित्यमुक्ते परात्परे। अखण्ड-ब्रह्मविद्यायै चित्सदानन्दरूपिणि। अनुसन्धमहे नित्यं वयं त्वां हृदयाम्बुजे।" अर्थात् हे निर्धूतनिखिलाध्वान्ते ! हे नित्यमुक्ते ! हे परात्परतरे ! हे चित्सदानन्दरूपिणि मां। मैं, अखण्ड ब्रह्मविद्या के लिए आप का अपने हृदयकमल में अनुसन्धाभ करता हूँ। 'ऐ' इस वाग्वीज से चित्सवरूपा सरस्वती बोधित होती है, क्योंकि ज्ञान में ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारा वृत्ति पर प्रतिविम्बित होकर वही चिद्रूप भगवती अज्ञान को मिटाती है। 'ही' इस मायावीज से सद्रूपा महालक्ष्मी विवक्षित है। त्रिकालाबाध्य वस्तु ही नित्य है। कल्पित आकाशादि प्रपञ्च के अपवाद का अधिष्ठान होने से सद्रूपा भगवती ही नित्यमुक्ता है। 'वली' इस कामवीज से परमानन्दस्वरूपा महाकाली विवक्षित है, सर्वानुभवसर्वेश्वर आनन्द ही परम पुरुषार्थ है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इस श्रुति से सिद्ध है कि सब कुछ आत्मा के लिए ही प्रिय होता है, इसलिए आत्मस्वरूप आनन्द ही शेषी है, तदितर सब शेष है।

मानुषानन्द से लेकर गन्धर्व, देवगन्धर्व, आजानज देव, श्रौतदेव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मान्त उत्तरोत्तर शतगुणित आनन्द जिस का बिन्दुमात्र है, वह परमातिशायी ब्रह्मरूप आनन्द कहा गया है। वही परात्पर आनन्द महाकालीरूप है। 'चामुण्डायै' शब्द से मोक्षकारणीभूत निर्विकल्पक ब्रह्माकार वृत्ति विवक्षित है। विपदादिरूप चमू को जो नष्ट करके आत्मरूप कर लेती है, वही 'चामुण्डा' ब्रह्मविद्या है। अधिदैव के

मूलाज्ञान और तूलाज्ञानरूप चण्ड-मुण्ड की वश करनेवाली भगवती भी चामुण्डा कही गयी है—“यस्माच्चण्डञ्च मुण्डञ्च गृहीत्वा त्वमुपागता। चामुण्डेति ततो लोके खयाता देवि भविष्यसि ॥” 'विच्चे' में 'वित्', 'व', 'इ' ये तीन पद क्रमेण चित्, सत्, आनन्द के वाचक हैं। 'वित्' का ज्ञान अर्थ स्पष्ट ही है, 'व' नपुंसक लिङ्ग 'सत्' का बोधक है, 'इ' आनन्द ब्रह्म-महिषी का बोधक है। इस का सारांश यही है कि हे चित्-सत्-परमानन्द-रूपे ! निर्धूतनिखिलाध्वान्ते ! नित्यमुक्ते ! परात्पर महासरस्वति ! महालक्ष्मी ! महाकालि ! हम आप के तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए आप का हृदयकमल में ध्यान करते हैं।

प्रथम चरित्र

'दुर्गासप्तशती' में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि भगवती की कृपा से ही सम्यक् तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान की प्रशंसा सर्वत्र है, ज्ञान के होने से अज्ञान, मोहादि मिट जाते हैं। ज्ञानसम्पादन के लिए ही श्रवणादि किये जाते हैं। जप, तप, यज्ञादि सब का परम उपयोग ज्ञान में ही है। परन्तु वह ज्ञान साधारण ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्दादि विषयों का ज्ञान तो प्राणिमात्र को होता ही है। उलूकादि दिन में अन्धे होते हैं, रात्रि में नहीं। काकादि रात्रि में अन्धे होते हैं, दिन में नहीं। लता, जलजन्तु आदि दिन-रात समान रूप से अन्धे ही रहते हैं। राक्षस, मार्जार, तुरगादि दिन-रात समान चाक्षुष ज्ञानवाले होते हैं और सब की अपेक्षा मनुष्यों में अधिक

ज्ञान होता है, परन्तु अज्ञान उन में भी होता है। पशु, पक्षी आदि कभी बहुत ज्ञानवाले होते हैं। व्यवहारज्ञान मनुष्यों जैसा ही पशु-पक्षियों में भी दिखायी देता है। पक्षिगण स्वयं भूखे रहकर भी इतस्ततः से कणों को लाकर अपने बच्चों के मुँह में छोड़ते हैं। मनुष्य भी प्रत्युपकार की आशा से बच्चों के भरण-पोषण में तल्लीन रहते हैं, यह सब ज्ञान सामान्य ज्ञान है। इन से संसार के मूलभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। यही महामाया का प्रभाव है, जिस से सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्म का बोध नहीं होता। वही उपनिषद्ज्ञाननिष्ठ वशिष्ठ, भरत, विश्वामित्रादिकों के भी चित्त को बलात् मोहित कर देती है। वही चराचर प्रपञ्च का निर्माण करती है, वही प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करती है, विद्यारूपा होकर वही मुक्तिप्रदा है, अविद्यारूप से वही संसारबन्ध का हेतु है, वही भगवान् विष्णु की योगनिद्रा कहलाती है। जिस समय भगवान् शेष पर कल्पान्त में विराजमान थे, उस समय कूर्मपृष्ठ पर जल में विलीन होने के कारण पृथ्वी नवनीत के समान कोमल हो गयी। सृष्टिकाल में यह प्राणियों को किस तरह धारण कर सकेगी, यह सोचकर भगवती ने विष्णु को अपनी योगनिद्राशक्ति से प्रसन्न करके अपने वामहस्त की कनिष्ठिका के नखाग्रभाग से कर्णमल निकालकर उसी से मधु नामक दैत्य को और दक्षिण कर्णस्थ मल से कैटभ को बनाया। उत्पन्न होकर वे दोनों दैत्य पहले कीट के समान ही प्रतीत हुए, पश्चात् महाबलवान् हो गये। वरदान देकर देवी के अन्तर्हित होने पर

आवश्यक सूचना

अगले वर्ष से, जो श्रीरामनवमी से आरम्भ होता है, 'सिद्धान्त' फिर आठ पृष्ठों में निकलने लगेगा। आशा है कि हमें सभी ग्राहकों का सहयोग प्राप्त रहेगा। यदि कोई सज्जन किसी कारणवश ग्राहक न रहना चाहें, तो उस की सूचना हमें अभी से देने की कृपा करें, जिस से अगले अङ्क उन की सेवा में न भेजे जाय। जिन लोगों का इस वर्ष का चन्दा अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, उन के पास बी० पी० जा रही है, उन्हें छुड़ाने की अवश्य उदारता दिखलायें। अगले पते छपवाये जा रहे हैं, यदि कोई अशुद्धि हो, तो सूचित कर दें। —सञ्चालक।

विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल में उन दोनों ने ब्रह्मा को देखा। ब्रह्मा को देखकर उन्होंने कहा—“हम तुम्हें मारेंगे। अगर तुम जीना चाहते हो, तो विष्णु को जगाओ।” यह सुनकर ब्रह्मा ने जगत्प्रसूयोगनिद्रा को अनेक स्तुतिार्थ से प्रार्थना की। भगवती ने प्रसन्न होकर ब्रह्मा से वरदान माँगने को कहा। ब्रह्मा ने भगवान् का जागना और दोनों असुरों को मोड़ होना माँगा। माता ने विष्णु को जगा दिया। विष्णु से उन दैत्यों का पौच हजार वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। महाप्रसन्न उन

दैत्यों ने महामाया में मोहित होकर विष्णु से वर माँगने को कहा। विष्णु ने कहा—“तुम दोनों हमारे वध हो, हम यही वर मांगते हैं।” उन्होंने कहा—“अच्छा, जहाँ सलिल से व्याप्त पृथ्वी न हो, वहाँ हमें मारो।” विष्णु ने अपने जघनप्रदेश पर उन का शिर रखकर चक्र से उन्हें मार दिया, पश्चात् उन्हीं के मेद का विलेपन कर पृथ्वी को हड़ किया गया, इसीलिए पृथ्वी को 'मेदिनी' भी कहा जाता है। इसतरह भगवती ही अनेक रूप में प्रकट होकर जगत् को धारण करती है। यही सृष्टि, स्थिति, संहार करती है, यही योगनिद्रा होकर विष्णु को विश्राम देती है, यही स्वाहारूप से देवताओं को, स्वधारूप से पितरों को, वषट्कारूप से श्रौतदेवताओं को तृप्त करती है। यही उदात्तादि स्वरो और सुधारूप से विराजमान होती है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतरूप में किंवा अ, उ, ए इन तीनों वर्णों यही अक्षररूपा भगवती विराजमान होती है। अ, उ, ए इन तीनों वर्णों एवं तद्वाच्य विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि के रूप में भी वही भगवती स्थित है और वाच्य-वाचक के अधिष्ठानरूप अर्धमात्रास्वरूप से भी भगवती ही विराजमान है। “अकारश्च तथोक्तो मकारश्चाक्षरत्रयम् । एता एव त्रयो मात्रा सत्त्वरजस्तामसाः ॥ निर्गुणा योगिगम्याऽन्या चार्धमात्रात्र संस्थिता” (दत्तात्रेय संहिता) । प्रथम मात्रा व्यक्त है, द्वितीय मात्रा अव्यक्त है, तृतीय मात्रा चिच्छक्ति है, अर्धमात्रा परमपद है, वही कूटस्थ सर्वाधिष्ठान है, सर्वरूप से भगवती ही विराजमान है। सन्ध्या, सावित्री तथा जगज्जननी

मूल प्रकृतिरूप से भी माता की ही स्थिति है। सृष्टिकाल में वही सृष्टिरूप में, पालनकाल में स्थितिरूप से तथा अन्त में संहतिरूप से भगवती ही व्यक्त होती है। वही महाविद्या अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से व्यक्त होती है, वही देहात्मबुद्धिरूपा माया भी है, सर्वार्थविधारणरूपा मेधा, महास्मृतिरूपा भी वही है, उसी से अतीत अनेक कल्पों का स्मरण तथा तदनुकूल सृष्टिनिर्माण सम्भव होता है, प्राण्यसुखभोगैषणारूप महामोह भी वही है, महादेवी इन्द्रादिदेवशक्ति, हिरण्यक्ष प्रभृति असुरों की शक्तिरूपा भी वही है। सत्त्वादि गुणत्रयविभाविनी मूल प्रकृति, वही कालरात्रि, मरणरात्रि या शिवरात्रिरूपा है और वही महारात्रि अर्थात् प्रलयरात्रि भी है, मोहरात्रि भी भगवती है। कृष्णजन्माष्टमी को अवतीर्ण होकर भगवती ही कंसादि को मोहित करके कृष्ण को नन्दगृह पहुँचाने में सहायक हुई है। वही श्री, वही ईश्वरी, वही लज्जा, वही बोधलक्षणा बुद्धि है। पुष्टि, तृष्टि, शान्ति, क्षान्ति भी वही है। खड्ग, शूल, गदा, चक्र, शङ्ख, चाप, बाण, भुशुण्डी, परिघ आदि आयुधों को धारण करनेवाली महाधोरा है, वही परमप्रशान्तरूपा भी है, वही सेन्यतरा एवं अशेष सौम्यो से भी अति सुन्दरी है अथवा भक्तों के लिए सौम्या और दैत्यों के लिए अत्यन्त असौम्या अर्थात् क्रूरतरा है। सब आह्लादहेतुओं से अत्यन्त सुन्दरी है, ब्रह्मादि सम्पूर्ण देवताओं से वही परमोत्कृष्टा है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के मध्य में परावाम्बररूपा वही है। वस्तुतस्तु संसार में सत्-असत्, कार्य-कारण, चेतन-अचेतन, जहाँ भी, जो भी कोई वस्तु है, उस सब की जो शक्ति है, वह भगवती ही है—“यच्च किञ्चित्त्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके। सत्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥” जो परमेश्वर महाशक्ति द्वारा ही जगत् का उत्पादन, पालन, संहरण करता है, जब स्वयं वही भगवती की योगनिद्राशक्ति के वश होते हैं, तब फिर कौन भगवती के गुणों का वर्णन कर सकता है? विष्णु आदि भी शक्ति की महिमा से ही देहवान् होते हैं। अनन्तानन्त शक्तियों से सम्पन्न आनन्दप्रधाना भगवती महा-काली रूप से ‘सप्तशती’ के प्रथम चरित्र में वर्णित है।

मध्यम चरित्र

किसी समय वही महालक्ष्मी के रूप में प्रकट होती है। कभी पूरे सौ वर्ष तक देवताओं और असुरों का भयानक सङ्ग्राम चल रहा था। असुरों का राजा महिषासुर और देवताओं का इन्द्र था। महिषासुर सब देवताओं को जीतकर स्वयं इन्द्र हो गया। देवता लोग पराजित होकर ब्रह्मा को लेकर शिव और विष्णु के पास गये और विस्तार से महिषासुर का विजय और देवताओं का पराजय बतलाया। देवताओं की बात सुनकर मधुसूदन और शङ्कर दोनों ने कोप किया और उन के मुख से एक महातेज प्रकट हुआ। ब्रह्मा के भी मुख से वैसा ही तेज निकला। इन्द्र, वरुणादि देवताओं के भी देह से दिव्य तेज प्रकट हुआ। इसतरह सब देवताओं के देह से निकलकर वही महातेज पर्वत के समान दिखलानी पड़ने लगा और उस की ज्वाला से दिशाएँ-विदिशाएँ सब व्याप्त हो गयीं। वही अतुल तेज एकत्रित होकर एक स्त्री के रूप में परिणत होगया। उस तेज की दिव्य दीप्ति तीनों लोक में फैल गयी। समस्त देवताओं के तेज से उस तेज के अन्यान्य अङ्ग उत्पन्न हुए। समस्त देवताओं की तेजोराशि से अद्भुत भगवती को देखकर प्रसन्न हुए। सब देवों ने विभिन्न आयुध तथा आभूषण उसे प्रदान किया। सब ने माता का सम्मान किया। मां प्रसन्न होकर सिंहनाद करने लगी। उस के घोर नाद से सम्पूर्ण नभ पूर्ण हो गया और उस की प्रतिध्वनि से सब लोक क्षुब्ध हो गये और समुद्र कांप उठे। देवता प्रसन्नता से जयजयाराव करने लगे, मुनिलोग स्तुति करने लगे। ऐसी स्थिति देखकर असुरलोग अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध के लिए तत्पर होगये। अनेक असुरों से समावृत महिषासुर ने देखा कि तीनों लोकों को अपने महातेज से व्याप्त करके पादाक्रमण से पृथ्वी को विनत करती हुई, अपने किरिट से नभोमण्डल को खचित करती हुई, धनुष के दृक् से पाताल तक को क्षुब्ध करनेवाली सहस्रों भुजाओं से दिशाओं को व्याप्त करके देवी स्थित है। तब फिर क्या था? असुरों ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। भयानक सङ्ग्राम हुआ, गिरे हुए हस्ति, अश्व, रथ एवं असुरों से वह भूमि अगम्य हो गयी। शोणित की भयानक नदी बहने लगी। अन्त में बड़े बड़े अस्त्र, शस्त्र, शक्ति आदि के प्रयोग हुए। बहुतों को अस्त्र से, बहुतों को दुश्कारमात्र ही भगवती नष्ट कर देती थी। देवी के

सिंह ने विचित्र युद्ध करके चामर प्रभृति दैत्यों को मारा। बहुत दैत्यों के मारे जाने पर स्वयं महिषासुर ने महिषरूप से अद्भुत पराक्रम दिखलाया। चण्डिका ने उसे पाश से बांधा, तो वह सिंह होगया। जब तक सिंह का शिर काटने का चण्डिका प्रयत्न करती है, तबतक वह खड्गपाणि पुरुष हो गया। जबतक पुरुष पर अम्बा प्रहार करती, तबतक वह गज होगया। गज होकर सिंह को शृण्डा से आकृष्ट करने लगा। देवी ने तलवार से शृण्डा काट दी। पश्चात् वह फिर महिष बनकर त्रैलोक्य को त्रस्त करने लगा। अन्त में देवी ने उल्लङ्घनरूप के ऊपर आलू होकर उसे चरण से आक्रान्त कर शूल से ताडन किया। इतने में वह महिष के मुख से अर्धनिष्क्रान्त असुर के रूप में लड़ने लगा। अन्त में अम्बा ने विशाल खड्ग से उस का शिर काट दिया। असुरसैन्य में हाहाकार मच गया। देवतागण बड़े प्रसन्न हुए। देवताओं ने वही ब्रह्मा से नम्र होकर इसतरह स्तुति की—हे मां! आप जगदात्मशक्ति हैं, आप से सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है, आप सब देवगणों की शक्तिसमूहमूर्ति हैं। आप के प्रभाव को विष्णु, ब्रह्मा तथा हर भी नहीं कह सकते, फिर और की तो बात ही क्या? आप ही सृष्टियों के घरों में लक्ष्मी तथा पापियों के घर में दरिद्ररूप से रहती हैं। कृतबुद्धियों के हृदय में सुबुद्धि एवं कुलङ्कनाओं की लज्जा भी आप ही है, आप ही अव्याकृताख्या प्रकृति हैं, आप ही स्वाहा, स्वधारूप से देव, पितर आदि को तप्त करती हैं। मोक्षार्थी यतिलोग भी ब्रह्मविद्यारूप से आप का ही सेवन करते हैं। विश्व को अभ्युदय-निःश्रेयस प्राप्त कराने के लिए आप ही वेदत्रयी के रूप में प्रकट होती हैं। विष्णु के हृदय में महालक्ष्मीरूप से शशिमौलि के यहाँ गौरीरूप से आप ही प्रतिष्ठित हैं। बहुत स्तुति करके देवताओं ने देवी से अनेक वर की प्रार्थना की। माता ‘तथास्तु’ कहकर अन्तर्हित होगयीं।

उत्तर चरित्र

इसीतरह जब शुम्भ और निशुम्भ ने पराक्रम से इन्द्र से त्रैलोक्य छीन लिया, यज्ञभाग भी स्वयं लेना प्रारम्भ कर दिया। सूर्य, चन्द्र तथा कुबेर, वरुण का पद स्वयं ले लिया, तब सब देवता पराजित और भ्रष्ट-राज्य होकर अपराजिता भगवती का स्मरण करने लगे। माता ने वरदान दिया है कि आपत्ति में जब भी आपलोग हमारा स्मरण करोगे, मैं तत्क्षण आप सब की आपत्तियों को दूर करूँगी, यह सोचकर सब हिमाचल पर जाकर विष्णुमाया की स्तुति करने लगे। वहाँ उन्होंने देवी, महादेवी, शिवा, प्रकृति, भद्रा, रौद्रा, नित्या, गौरी, धात्री, ज्योत्स्ना, इन्दुरूपिणी, सुखा, कल्याणी, वृद्धि, सिद्धि, नैर्ऋति, शर्वाणी, दुर्गा, दुर्गपारा, सारा, सर्वकारिणी, ख्याति, कृष्णा, धूम्रा, अतिशौम्या, अतिरौद्रा, जगत्प्रतिष्ठा, कृति, विष्णुमाया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, ब्रह्मा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, पुष्टि, माता, भ्रान्ति, व्याप्ति, चित्तिरूप से भगवती की प्रणाम किया। निशुम्भ, सगुणा तथा सगुणा में भी सात्विकी, राजसी, तामसीभेद से सब शक्तियों भगवती में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। देवता स्तुति कर ही रहे थे कि हिमाद्रिकन्या पार्वती जाङ्गली में स्नान करने आयीं। देवताओं से उन्होंने प्रश्न किया कि “आप किस देवता की स्तुति कर रहे हैं?” देवताओं का उत्तर देना ही था कि तबतक पार्वती के ही शरीर से प्रकट होकर शिवा भगवती ने पार्वती से कहा कि “शुम्भ से निराकृत होकर ये सब हमारी ही स्तुति कर रहे हैं।” पार्वती के शरीरकोश से निकली हुई अम्बिका लोक में ‘कौशिकी’ नाम से प्रसिद्ध हुई। कौशिकी के निकलने पर पार्वती कृष्णवर्ण की हो गयी। तभी से वह ‘कालिका’ कहलाने लगी। परमरूपवती कौशिकी अम्बिका को कभी शुम्भ-निशुम्भ के सेवक चण्ड-भुण्ड ने देखा और जाकर अपने स्वामी से उस के रूप की प्रशंसा की और उसे स्वाधीन बनाने की सलाह दी। शुम्भ-निशुम्भ ने दूत भेजकर कहलाया कि “हमारी आज्ञा सर्वत्र अप्रतिहत है, संसार के सब रत्न, ऐरावत, उच्चैःश्रवा आदि हमारे पास हैं, तुम भी जी-रत्न हो, हम रत्नमुक्त हैं, अतः तुम भी हमारे पास आओ, हमारे पास आने से तुम्हें परमैश्वर्य प्राप्त होगा।” भगवती ने गम्भीर स्मित के साथ कहा—“ठीक है, परन्तु मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे संग्राम में जीत लेगा, मेरा दपं दूर करेगा, मेरे समान बलवान् होगा, वही मेरा भर्ता होगा। अतः शुम्भ या निशुम्भ कोई भी आकर मुझे जीतकर पाणि-

ग्रहण कर ले—“यो मां जयति संग्रामे यो मे दपं व्यपोहति । यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति । तदागच्छतु शुम्भोऽत्र निशुम्भो वा महासुरः । मां जित्वा किं चिरेणात्र पाणिं गृह्णातु मे लघु ॥” दूत ने बहुत कुछ समझाया, परन्तु देवी ने कहा—“क्या कहूँ, मेरी ऐसी प्रतिज्ञा ही है ।” दूत ने जाकर सब बात सुना दी । इस पर धूम्रलोचन मेजा गया, घोर युद्ध के बाद वह मारा गया । उस के पश्चात् शुम्भ ने चण्ड-मुण्ड को मेजा । महासंग्राम हुआ, अम्बिका ने जब कोप किया, तब उस के ललाट से काल-वदना कालिका प्रकट हुई । उस ने असुरों के बल (सैन्य) को भक्षण करना आरम्भ कर दिया । उस ने बड़े बड़े गज, तुरङ्ग, रथ, घोड़ों को मुँह में डालकर चबाना प्रारम्भ किया । सर्वनाश होते देखकर चण्ड आया और अनेक चक्रों से काली को आच्छादित कर दिया । देवी के मुँह में वे चक्र लीन होगये । महातलवार से देवी ने चण्ड का शिर काट डाला । इस के बाद मुण्ड लड़ने आया । उस की भी वही गति हुई । चण्ड-मुण्ड, दोनों का शिर लेकर काली ने जाकर कौशिकी को दिया । कौशिकी ने चण्ड-मुण्ड का शिर लाने के कारण काली का ‘चामुण्डा’ नामकरण किया । चण्ड-मुण्ड का वध सुनकर शुम्भ ने अपनी सब सेना को आज्ञा दिया । महामहाकुल के भयानक-भयानक दैत्य आये, भयङ्कर युद्ध होने लगा । देवी ने धनुष के टङ्कार से धरणी और गगन को पूरित कर दिया । सिंह-नाद और घण्टानाद भी सर्वत्र फैल गया, महाकाली ने भी मुख फौलाकर भीषण नाद किया । उस नाद को सुनकर दैत्यसेना ने चारों ओर से देवी को घेर लिया । इसी समय दैत्यों के नाश और देवताओं के अभ्युदय के लिए ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओं के शरीरों से उन की शक्तियों उसी-उसी रूप में प्रकट होकर देवी की सहायता के लिए आयीं । उन शक्तियों से परिवृत होकर रुद्र भगवान् आये और चण्डिका से कहा कि “हमारी प्रसन्नता के लिए शीघ्र ही इन दैत्यों को मारो ।” यह सुनते ही देवी के शरीर से एक अतिभीषण शक्ति प्रकट हुई और उस ने रुद्र से कहा—“आप हमारे दूत बनकर जाओ और शुम्भ-निशुम्भ से कहो कि त्रैलोक्य इन्द्र को दे दो, देवता हविभुक् हों और तुमलोग यदि जीना चाहते हो, तो पाताल चले जाओ । यदि बल के घमण्ड से लड़ना चाहते हो, तो आओ, तुम्हारे मांस से हमारे शुगाल तप्त हों ।” देवी ने शिव को दूत बनाया, अतः उस का नाम ‘शिवदूत’ प्रसिद्ध हुआ । दैत्य शिव के द्वारा देवी का सन्देश सुनकर क्रुद्ध होकर वहाँ आये, जहाँ देवी स्थित थी और अस्त्र-शस्त्र से देवी के ऊपर खूब प्रहार किया । देवी ने लोलामात्र से सब को नष्ट कर डाला । कौशिकी के आगे-आगे काली शूल और खट्वाङ्ग से शत्रुओं को नष्ट करती चलती थी । ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, कौमारी, ऐन्द्री आदि अपने शस्त्रास्त्रों से सहस्रों दैत्यों को मारती थीं । असुरों का संहार करती हुई नाद से दिशाओं को पूर्णकर रही थीं । जब मातृगणों से पीड़ित होकर असुर भाग चले, तब रक्तबीज नाम का एक महान् असुर आया । रक्तबीज के शरीर से जितने बिन्दु रक्त भूमि पर गिरते थे, उतनी ही संख्या में वैसे ही रक्तबीज उत्पन्न होते थे । वह रक्तबीज गदा लेकर इन्द्रशक्ति से युद्ध करने लगा । उस से महाभयङ्कर संग्राम हुआ । असंख्य रक्तबीजों से संसार व्याप्त हो गया । देवी ने अपनी जिह्वा भूमि पर फैला दी और सब रक्त पान करने लगी । अन्त में वह दैत्य क्षीणरक्त होकर मर गया ।

फिर शुम्भ-निशुम्भ का भी देवी से घोर युद्ध हुआ । महायुद्ध के बाद निशुम्भ मारा गया । उस समय शुम्भ ने आकर देवी से डौटकर कहा—“हे दुर्गे ! तू घमण्ड न कर, दूसरों का बल लेकर तू लड़ती है ।” इस पर देवी ने कहा—“इस जगत् में मैं ही एक हूँ, दूसरा कोई नहीं । देख, ये सब मेरी विभूति हैं, मुझ में प्रविष्ट हो रही हैं ।” यह कहते ही ब्रह्माणी-प्रमुखा देवी उस में लीन हो गयीं, वह अकेली रह गयी—“एकैवाहं जगत्पञ्च द्वितीया का ममापरा । पश्यैतां द्रष्टुं मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ॥ ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखा लयम् । तस्या देव्यास्तनौ जग्मुर्देवासी-पदाम्बिका ॥” देवी ने कहा—“मैं ही अपनी विभूति से अनेक रूपों में स्थित थी । अब उन सब का उपसंहार करके अकेली ही संग्राम में स्थित हूँ । तू सावधान स्थिर हो ।” अनन्तर देवी और शुम्भ का देवताओं के समक्ष महाघोर युद्ध हुआ । बड़े बड़े दिव्यातिदिव्य शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ । कभी गगन में, कभी भू पर, महान् आश्चर्यकर युद्ध हुआ । उस

महासंग्राम के बाद भगवती ने उस के हृदय को विशाल शूल से विदीर्ण कर भूमि पर मार गिराया । देवता तथा ऋषियों ने देवी की इस प्रकार स्तुति की । देवताओं ने कहा—“हे मातः ! आप प्रपन्न प्राणियों की अर्ति दूर करने-वाली हैं, आप अखिल ब्रह्माण्ड की माता हैं, आप ही चराचर विश्व की ईश्वरी हैं, आप ही पृथ्वीरूप में स्थित होकर सब की आधारभूत हैं, जलरूप से भी स्थित होकर सम्पूर्ण विश्व का आप्यायन करती हैं, आप अनन्तवीर्यवाली वैष्णवी शक्ति हैं, आप ही विश्व की बीजभूता माया हैं, सम्पूर्ण विश्व आप से ही मोहित है, प्रसन्न होकर आप ही मुक्ति की देवु बन जाती हैं, संसार की समस्त विद्याएँ आप के ही अंश हैं, समस्त स्त्रियाँ भी आप के ही अंश हैं, एक आप से ही सारा विश्व पूरित है, फिर आप की क्या स्तुति की जाय ? स्तुतिसाधन परा, अपरा वाक् भी तो आप ही हैं, स्पष्टोच्चरित वाक् ‘वैखरी’ है, स्मृतिगोचर वाक् ‘मध्यमा’ है, अर्थ की शोतिका ‘पश्यन्ती’ है, ब्रह्मा ही ‘परा’ वाक् है—“वैखरी शब्द-निष्पत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा । शोतिकायस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम् ॥” स्थान, करण, प्रयत्न तथा वर्णविभागशून्य, स्वयंप्रकाश ज्योति ‘परा’ वाक् है । सूक्ष्म बीज से उत्पन्न अङ्कुर के समान किञ्चित् विकसित शक्ति ही ‘पश्यन्ती’ है । अन्तःसङ्कल्परूपा वाक् ‘मध्यमा’ है, व्यक्त वर्णादिरूप ‘वैखरी’ है । स्वर्ग-मुक्तिदायिनी आप ही हैं । बुद्धि-रूप से पुरुषार्थप्रदा, कालरूप से परिणामप्रदायिनी, अवसानसमय में कालगत्रिरूप से आप ही विराजती हैं । सर्वमङ्गलदायी, सर्वार्थसाधिका, शरणागतवत्सला, सद्योदिकारिणी, सनातनी, गुणाश्रया, गुणमया, शरणागतदीनार्त-परित्राणपरायणा, अर्तिहरा, ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा, लक्ष्मी, लज्जा, विद्या, श्रद्धा, पुष्टि, स्वधा, महारात्रि, महाविद्या, मेधा, ध्रुवा, सरस्वती, वरा, भूति, बाव्रि (राजघी), तामसी, नियन्ता आप ही हैं । कहाँ तक कहा जाय, आप ही सर्वस्वरूपा हैं, आप ही सर्वशक्तिसमन्विता हैं । आप और आप के आयुध हमें सब भीति से बचायें । आप सर्वानर्थनिवारणी, सर्वाभीष्टदायिनी हैं, सर्वस्तुत्य हैं । आप के आश्रितों को विपत्ति नहीं आती, आप के आश्रित दूसरों के आश्रय होते हैं । आप विश्वेश्वरी, विश्वपालिनी एवं विश्वरूपा हैं, विश्वेशवन्द्या हैं । जो आप को प्रणाम करते हैं, वे विश्व के आश्रय बनते हैं । देवी ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा । देवताओं ने यह वर माँगा कि “हे अखिलेश्वरि ! आप सर्वदा त्रैलोक्य की सर्वबाधाओं का प्रशमन करें और समय समय पर इसीतरह असुरों का संहार करें ।” देवी ने कहा—“यह शुम्भ-निशुम्भ आदि दैत्य फिर अट्टाईसवीं चतुर्गुणी में उत्पन्न होंगे, वहाँ भी नन्द गोप के गृह में यशोदा से उत्पन्न हो विन्ध्यवासिनी रूप से मैं उन का संहार करूँगी । उसी रूप से वैप्रचित्त दानवों को मारकर उन का भक्षण करूँगी । दन्तों के रक्त होने से उस समय मेरा ‘रक्तदन्तिका’ नाम प्रसिद्ध होगा । पुनश्च शतवार्षिकी अनावृष्टि होने पर ‘शताक्षी’ रूप से प्रकट होकर मुनियों पर अनुग्रह करूँगी । अपने देह से उद्भूत प्राणधारक शाकों द्वारा लोक का रक्षण करूँगी, इसीलिए मेरा ‘शाकम्भरी’ नाम होगा । उसी अवतार में दुर्गम दैत्य को मारने से मेरा ‘दुर्गा’ भी नाम पड़ेगा । भीमरूप धारण करके हिमाचल के राक्षसों को भक्षण करूँगी, तब मेरा ‘भीमा’ नाम पड़ेगा । भ्रमररूप धारणकर अरुणासुर को मारने से मेरा ‘आमरी’ नाम होगा । इसतरह जब जब दानवों की बाधा फैलेगी, तब तब मैं अवतार लेकर धर्म और देवताओं के शत्रुओं का क्षय करूँगी । जो इन स्तुतियों से मेरा स्तवन और श्रद्धा-भक्ति से पूजन करेगा, उस को सब विपत्तियों को दूर कर सर्वाभीष्ट सम्पादन करूँगी ।” ‘सप्तशती’ के चरित्रों से विविध शिक्षाएँ मिलती हैं । मधु-कैटभ बड़े बलवान् थे, परन्तु बुद्धिबल से विष्णु ने उन का वध किया, इस से यह स्पष्ट होगया कि पशु-बल पर सर्वदा बौद्ध-बल का विजय होता है । महिषासुर के वध में देवताओं के सङ्घ से उद्भूत तेजःसमूह से भगवती का आविर्भाव हुआ । तृतीय चरित्र से यह भी व्यक्त होता है कि एक शक्ति के अपसर होने पर सभी शक्तियाँ उस में जग जाती हैं, इत्यादि इत्यादि बहुत सी शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं ।

धर्मसङ्घ समाचार

धार्मिक अनुष्ठान

(१) नवकुण्डी महाविष्णु यज्ञ—अगामी रामनवमी से पूर्णिमा पर्यन्त कलवाहा घाट महदवा जिला मियद, पो० मिहोना (ग्वालियर) में

श्रीपरशुरामदासजी के तत्वावधान में सङ्घ के सङ्ग्रह से त्रिलक्षहोमात्मक उक्त यज्ञ होने जा रहा है।—पं० माताचरण शास्त्री मन्त्री प्रबन्धमिति। (२) महायज्ञ तथा अ० भा० धर्मसङ्घ विशेषाधिवेशन—आगामी अर्द्ध-कुम्भी पर्व के अवसर पर हरिद्वार में एक महायज्ञ तथा अ० भा० धर्मसङ्घ का विशेषाधिवेशन करना निश्चित हुआ है। ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी, वैष्णवाचार्य श्रीवीरराघवाचार्यजी, श्रीस्वामी करपात्री जी, श्रीस्वामी कृष्णबोधप्रमजो, ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी प्रभृति महात्मा-गण तथा अन्य अनेक विद्वान् पधारेंगे। अधिक चैत्र कृष्ण ७ गुरुवार से महायज्ञ का आरम्भ और शुद्ध चैत्र शुक्ल १ शुक्रवार को पूर्णाहुति होगी। इसी के मध्य में चैत्र कृष्ण ११ से १४ तक विशेषाधिवेशन होगा। धर्मविरोधियों को शङ्का-समाधान के लिए भी अवसर दिया जायगा। इसके लिए उन्हें लिखा-पढ़ी करके पहले से ही समय निश्चित कर लेना चाहिए।—श्रीदेवेन्द्रस्वरूप ब्रह्मचारी (स्वागताध्यक्ष)। (३) विन्ध्यक्षेत्र—श्री पं० शिवशरण मिश्र सूचित करते हैं कि अयुतचण्डी का कार्य चल रहा है, फा० शु० १५ तक १००० पाठ हो चुके हैं।

नवीन शाखाएँ

१ सुसकाबाद, पो० हनुमानगञ्ज, जि० इलाहाबाद (सं० १७९।१२)
—स्थान—धर्मकुटीर। श्री पं० मुखदेवप्रसाद चतुर्वेदी (अ०), श्रीमहा-
नारायण शुक्ल (उपा०), श्रीअमरनाथ शुक्ल (मं०), श्रीशम्भुनाथ शुक्ल
(उ० मं०), श्रीवृज्जनारायण शुक्ल (प्रचार मं०)। २ गोपदवनास,
पो० सीचढ़ी (सं० १८०।३)—श्री पं० शेषमणिजी (अ०), श्रीसन्त
सीतलदासजी (मं०)। ३ तहसील ब्योहारी (कृपालपुर) (सं० १८२।५)
—श्री पं० रामसनेही जी (अ०), श्रीभगवतीप्रसादजी पटवारी (मं०)।
४ तहसील सोहागपुर, पञ्चायती मन्दिर, पो० सु० शहडोल (सं० १८१।४)
—श्रीहीरालालजी (अ०), श्रीमणिरामजी गोस्वामी (मं०)।
५ देवराजनगर (सं० १८३।६)—बाबू लक्ष्मीनारायणसिंहजी (अ०),
पुजारी मन्दिर देवराजनगर (मं०)। ६ मौरावां (सं० १७२।२९)—
कुँवर श्रीहृदयनारायण सेठ बी. ए. (अ०), लाला त्रिलोकीनाथ सेठ
(संरक्षक), श्री पं० रामभवतारजी (मं०)। ७ मगहापुर (सं० १६६।३३)
—श्री पं० शिवकिशोरजी (अ०), श्री पं० रामकृष्णजी (मं०)।
८ ओसिया, इन्दास (सं० १६७।३४)—श्रीलालबहादुरसिंहजी (अ०),
श्रीलालमनजी (मं०)। ९ दादामऊ, बीघापुर (१६८।३५)—
श्री पं० सज्जुप्रसादजी (अ०), श्रीअम्बिकाप्रसादजी (मं०)।
१० जानापुर, टेढ़ा (१६९।३६)—श्री पं० गिरिजाशङ्करजी (अ०),
श्रीप्रयागनारायणजी (मं०)। ११ उझपै, बीघापुर (१७१।३७)।
श्रीहरिवंशकुमार (अ०), श्रीअयोध्याप्रसादजी (मं०)। १२ परौनी,
बारा (१७०।३७)—श्री पं० उमाशङ्करजी शुक्ल (अ०), श्री पं०
शीतलाप्रसाद द्विवेदी (मं०)। १३ सु० पो० बीघापुर (१९९।४०)—
श्री पं० गोविन्दप्रसादजी वाजपेयी (अ०), श्री पं० द्वारिकाप्रसादजी
(मं०)। १४ सु० बहुराजमऊ, सिकन्दरपुर (१६३।३०)—श्री पं०
शिवभजनजी दीक्षित (अ०), श्रीठाकुर जगदेवसिंहजी (मं०)।
१५ सु० पो० घाटमपुर (१६२।२९)—श्री पं० शिवबालकजी (अ०),
श्री पं० सूर्यप्रसादजी अवस्थी (मं०)। १६ आँव, मगरामऊ (१६४।३१)
—श्री पं० चन्द्रशेखरजी (अ०), श्री पं० शिवशङ्करजी (मं०)। १७
बेहटा सुसाम (१६५।३२)—श्री पं० दुर्गाप्रसादजी (अ०), श्री पं०
कालीशङ्करजी वैद्य (मं०)। १८ सु० पो० भगवन्तनगर (१५९।२६)—
श्री पं० उदयशङ्कर शुक्ल (अ०), श्रीमनबोधनलालजी (मं०)। १९
अकबरापुर, पो० पाटन (१६०।२७)—श्री ठाकुर जगन्नाथसिंहजी
(अ०), श्रीबोधसिंहजी (मं०)। २० सु० पो० ईदामऊ (१६१।२८)—
श्री पं० गङ्गाचरणजी (अ०), श्री पं० प्रयागनारायणजी (मं०)।
२१ नेफामऊ, पो० भगवन्तनगर (११०।४)—श्री पं० वैजनाथजी
तिवारी (अ०), श्रीबाबूलालजी त्रिवेदी (मं०)। २२ सु० पो०
शुक्लालेड़ा (१५१।१८)—श्री पं० राजनारायणजी त्रिवेदी (अ०)।
२३ धमनीखेड़ा, पो० पाटन (१५३।१९)—श्री पं० वृन्दावन शुक्ल
(अ०), श्री पं० दुर्गादीन मिश्र (मं०)। २४ पृथ्वीखेड़ा, पो० बारा
(१५३।२०)—श्री पं० चन्द्रशेखरजी वाजपेयी (अ०), श्रीजगदीश-

नारायणजी (मं०)। २५ बरगदहा, पो० पाटन (१५४।२१)
—श्रीशिवनारायणसिंहजी (अ०), श्रीभैरवसिंहजी (मं०)। २६
सु० पो० पाटन (१५५।२२)—श्री पं० शिवसहायजी अवस्थी (अ०),
श्रीरामप्यारेजी त्रिवेदी (मं०)। २७ सु० पो० सुमेरपुर (१५६।२३)
—श्री पं० ब्रह्मदत्तजी पाण्डेय (अ०), श्रीकेशवप्रसादजी अवस्थी
(मं०)। २८ कुम्भी, पो० इन्दास (१५९।२४)—श्रीरामगुलामजी (अ०),
श्रीसुन्दरलाल जी (मं०)। २९ खरझारा, पो० नगर (१५८।२५)—
श्रीचन्द्रिकाप्रसादजी (अ०), श्रीजगदम्बाप्रसादजी (मं०)। ३० प्राइमरी
स्कूल, सीटिकरवाजार, पो० बखिरा, जि० बस्ती (२११।१३)—फा० कृ०
१० बु०। श्रीबुद्धिगम मुंशी प्रधानाध्यापक (अ०), मुंशी जमुनाप्रसादजी
(मं०)। ३१ प्राइमरी स्कूल, बभनिया, पो० नगर, जि० बस्ती (२१२।१४)—
श्रीस्वामी मौनीबाबा (अ०), श्री बाबू रामहरहरतसिंहजी प्रधानाध्यापक
(मं०)। ३२ बाहिलपार, पो० खलीलाबाद, जि० बस्ती (२०८।१०)—
श्री बाबू रामलखनरायजी (अ०), श्रीहृदीप्रसादलालजी (मं०)।
३२ बौर विपास, पो० बाखिरा, जि० बस्ती (२०९।११)—श्रीवंशगोपाल-
रायजी (अ०), श्रीरामआश्वयं राय (मं०), श्रीपरमेश्वर राय (उ०
मं०), श्रीदीनानाथ राय (निरीक्षक), श्रीशिवकुमार पाण्डेय तथा
श्रीरामलखनराय (प्रबन्धक)। ३३ उत्तरावल, पो० खलीलाबाद, जि०
बस्ती (२१०।१२)—फा० कृ० ३ बुधवार। श्रीचिखुरीराय (अ०), श्री
बाबू बैलाशराय (मं०)। ३४ करीमें, पो० हरिहरपुर, जि० बस्ती (२०६।८)—
माध शुक्ल ९ सोम। श्री पं० रामराज शर्मा प्रधानाध्यापक प्राइमरी
स्कूल (अ०)। ३५ घटरह्या, पो० खलीलाबाद, जि० बस्ती (२०७।९)—
माध शु० ११ बु०। श्री बाबू बुद्धिसिंहजी प्रधानाध्यापक प्राइमरी स्कूल (मं०)।
३६ एकमा, पो० खलीलाबाद, जि० बस्ती (२०५।७)—श्री बाबू मोहरप्रसाद
राय, (अ०), श्री बाबू भगवतीप्रसादलाल (मं०)। ३७ कसौधन स्कूल,
सु० पो० बस्ती (२००।२)—माध शु० ७ शनि। श्री धर्मराजलालजी प्रधाना-
ध्यापक (अ०), श्रीगणेशप्रसादलालजी (मं०)।

‘हिन्दू कोड’ विरोध

(१) कन्नौज—३० दिसम्बर, ह० ३९७ श्रीगोपीनाथ टण्डन
सर्राफ। (२) दुधुही, पो० खतलू (नैनीताल)—ह० १३०, श्रीगोपाल-
दत्त जोशी।

श्रीस्वामी करपात्रीजी की यात्रा का कार्यक्रम

अधिक चैत्र शुक्ल १५ बुध—बरेली
“ ” कृष्ण १ गुरु—चन्दौसी
“ ” “ ३ शनि—मुगादाबाद (मध्यान्ह तक)
“ ” “ “ —मेरठ (सायंकाल)
“ ” “ ४ रवि—मुजफ्फरनगर
“ ” “ ५ सोम—रूढ़की
“ ” “ ६ मङ्गल—हरिद्वार

इस कार्यक्रम में कहीं एक दिन आगे-पीछे हो सकता है। परन्तु
पत्रव्यवहार इसी के अनुसार किया जाना चाहिए।—श्रीमार्कण्डेय ब्रह्मचारी।

अन्यान्य समाचार

(१) नव वर्ष के उपलक्ष्य में बाजार सिकन्दरपुर (चकिया) में श्री
पं० परशुराम शर्मा की अध्यक्षता में सङ्घ की शखासभा का अधिवेशन
हुआ। सदस्यों से प्रतिज्ञा दुहराने की प्रार्थना की गयी और एक संस्कृत
विद्यालय खोलने के लिए जनता से अनुरोध किया गया। एक प्रस्ताव द्वारा
‘हिन्दू कोड’ का घोर विरोध प्रकट किया गया। (२) सगोत्र विवाह बिल
विरोध—पं० राधागोपाल शास्त्री अध्यक्ष ध० सं० शाखा विश्वासिमपुरी
(बेसवां) अलेगढ़ ने गत १० फरवरी को बाइसराय के पास १ तार
भेजकर उक्त बिल का विरोध किया। (३) चन्दौली—श्रीसनातनधर्म
सभा का स्वर्णजयन्ती उत्सव आगामी ता० २६ से ३० मार्च तक श्रीज्यो-
तिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी की अध्यक्षता में होगा। श्रीस्वामी
करपात्रीजी महाराज के भी पधारने की आशा की जाती है—श्रीओङ्कार-
शङ्कर बी. ए. (स्वागतमन्त्री)।

सिद्धान्त

सामाहिक

वार्षिक मूल्य — साधारण २)
विशेष ५), एक प्रति —)सम्पादक — गङ्गाशङ्कर मिश्र,
सं० सं० — दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

श्रीभगवतीतत्त्व

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

७

'देवी सूक्त' में भगवती का स्वरूप

'देवीसूक्त' से विदित होता है कि साक्षात् परब्रह्म ही देवी आदि नामों से प्रख्यात है । स्वयं देवी कहती है—“अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुतविश्वदेवैः ।” अर्थात् मैं ही रुद्र, वसु, आदित्यादि रूप से विहरण करती हूँ । इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनीकुमारों को मैं ही धारण करती हूँ । सोम, त्वष्टा, पूषा, भग आदि को भी मैं ही धारण करती हूँ । देवताओं को हविःप्रदान करनेवाले यज्ञमान को फलप्रदान भी मैं ही करती हूँ । “अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसुनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् । तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्राभूरिस्पात्रां सूर्यां वेशयन्तीम् ।” अर्थात् सब जगत् की ईश्वरी, धन प्राप्त करनेवाली, तत्त्वज्ञानिनी एवं यज्ञाहों में मैं ही मुख्य हूँ, मैं ही प्रपञ्चरूप से स्थित हूँ । अतएव देवताओं ने अनेक स्थानों में अनेक रूप से मेरा ही विधान किया है, विश्वरूप से मैं ही स्थित हूँ । जहाँ भी, जो भी किया जाता है, सब मेरी ही तत्र तत्र, तेनतेन रूपेण सम्पत्ति है । खाना, देखना, प्राणन करना, स्वासोच्छ्वासादि व्यापार करना सब मेरी ही शक्ति से सम्भव है । जो मुझ अन्तर्ग्यामिणी को नहीं जानते, वे उपक्षीण हो जाते हैं । हे विश्रुत !

श्रद्धायुक्त होकर सुनो, यह ब्रह्म-वस्तु तुम्हें बतला रही हूँ—“मया सोऽन्नमत्ति यो विप्रश्यति यः प्राणिति य इं शृणोत्युक्तम् । अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ।” मैं ही देव-मनुष्यसेवित ब्रह्म का उपदेश करती हूँ । मैं ही जिस को चाहती हूँ, उग्र—अधिक—बनाती हूँ । ब्रह्मा (स्रष्टा), ऋषि (ज्ञानवान्) तथा शोभनप्रज्ञ बनाती हूँ । त्रिपुरविजय के समय हिंसक, ब्रह्मद्विट् असुर के लिए रुद्र के

धनुष को मैं ही विस्तृत करती हूँ, स्तोता जनों के सुखार्थ मैं ही शत्रुओं से संग्राम करती हूँ, मैं ही परमात्मा के सर्वोपरि स्वरूप में आकाश को बनाती हूँ । जैसे तन्दु में पट होता है, वैसे ही आकाशादि कार्य जगत् परमात्मा ही से उत्पन्न होता है । समुद्र (समुद्रवन्ति प्राणिनोऽस्मादिति समुद्रः परमात्मा) परमात्मा में जो व्याप्त हृदिवृत्तिरूप आप है, उन के भीतर, बाहर, मध्य में फैला हुआ जो अनन्त चैतन्य है, वही मुझ भगवती का विश्वकारणभूत रूप है । अतएव मैं समस्त प्राणियों में व्याप्त होकर का विश्वकारणभूत रूप है । कारणभूत मायामय निज देह से शुलोकादि को स्पर्शकर मैं स्थित हूँ । कारणभूत मायामय निज देह से शुलोकादि को स्पर्शकर मैं स्थित हूँ । अथवा भूलोक के ऊपर पितर अर्थात् आकाश की मैं रचना करती हूँ । समुद्र में जल के भीतर मेरे कारणभूत अमय ऋषि हैं, उन्हीं महर्षि की पुत्री होकर मैं देवीसूक्त का दर्शन करती हूँ । अथवा समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में अपने अर्थात् अमय देवशरीरों में मेरा कारणभूत ब्रह्म-चैतन्य रहता है, अतः मैं कारणभूत होकर सर्वत्र व्याप्त हूँ । मैं ही सम्पूर्ण भूतों और सभी कार्यों का आरम्भ करती हूँ । जैसे वात बिना अन्य प्रेरणा के ही स्वयं कार्य करता है, वैसे ही परशक्तिरूपा मैं स्वेच्छा से ही सब काम करती हूँ । आकाश और-पृथ्वी से पर मैं हूँ । असङ्ग, उदासीन ब्रह्मचैतन्यरूपा मैं हूँ ।

भगवती की विविध विभूतियां

सर्व प्रपञ्च एवं अवतारों की मूलभूता प्रथमा महालक्ष्मी है । तीनों

गुणों की साम्यावस्थारूपा त्रिगुणा वही भगवती परमेश्वरी है । वह लक्ष्य-अलक्ष्य दो रूप की है । मायारूप लक्ष्य है, ब्रह्मरूप अलक्ष्य है । माया-शबल ब्रह्मरूपा भगवती ही त्रिगुणा परमेश्वरी है । जैसे घटादि कार्य में कारणभूत मृत्तिका व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व में वह व्याप्त है । हर-एक पदार्थ में अस्ति, भाति, प्रिय यह तीन ब्रह्म के और नाम, रूप यह दो माया के रूप हैं । उपर्युक्त सूक्ष्मरूप के अतिरिक्त उपाधकों के अनुग्रहार्थ भगवती के अवतारस्वरूप स्पूलरूप भी प्रकट होते हैं । दक्षिण भाग के नीचे के हाथ में पानपात्र, ऊपर के हाथ में गदा, वामभाग के ऊपर के हाथ में खेटक, नीचे के हाथ में श्रीफल तथा नाग, लिङ्ग एवं योनि को शिर में धारण किये हुए, तप्त काञ्चन के समान दिव्य वर्णवाली, तप्त काञ्चनमय भूषण को धारण की हुई भगवती अपने दिव्य तेज से सम्पूर्ण विश्व को पूर्ण करती है । कर्मवृन्द ही भगवती के हाथ का फल है, क्रियाशक्ति ही गदा है, ज्ञान-शक्ति खेटक है, त्र्याम्बुति (समाधि) पानपात्र है, लिङ्ग पुरुषतत्त्व है, योनि प्रकृतितत्त्व है, नाग काल है । मातुलिङ्ग (फल) प्रदण से भगवती यह सूचित करती है कि मैं ही सर्वकर्मफलदात्री हूँ । गदाधारण से क्रिया-स्वरूप विशेषशक्ति और खेटधारण से ज्ञानशक्ति का अधिष्ठात्रित्व ही बोधित किया गया है । पानपात्रप्रदण से यह दिखलाया गया है कि स्थिति में स्वात्मानन्द रस का मैं ही दान करती रहती हूँ । नाग, लिङ्ग, योनि धारण से यह सूचित किया गया है कि प्रकृति, पुरुष और काल तीनों का

अधिष्ठान परब्रह्मरूपा मैं ही हूँ । ‘ही’ बीज का अभिप्राय भी यही है । यही भुवनेश्वरी है । सूक्तरूप भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी दोनों एक ही हैं, तथापि पाश, अङ्कुश, अमय, वरादि आयुध-धारण में भेद है ।

भगवती और सृष्टि

प्राणियों के परिपक्व कर्मों का भोग-द्वारा क्षय हो जाने पर प्रलय होता है । उस समय सब प्रपञ्च माया के ही उदर में लीन रहता है । माया भी स्वप्रतिष्ठ निर्गुण ब्रह्म में लीन रहती है । “अव्यक्तं निर्गुणं ब्रह्मन् निर्गुणे सम्प्रलीयते” । पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे

‘विष्णुपुराण’ के इन वचनों से अव्यक्त का भी ब्रह्म में लय स्पष्ट है । अव्यक्त का माया ही अर्थ है, प्राणियों के कर्मफलभोग का जब समय आता है, तब चिदात्मिका भगवती में सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) उत्पन्न होती है । माया की उसी अवस्था को विचिकीर्षा आदि शब्दों से कहा जाता है । कर्मपरिपाक का विनश्यद्-अवस्थावाला प्रागभाव ही विचिकीर्षा है । यद्यपि गुणसाम्य दशा में कर्मपरिपाकादि के अनुकूल कोई भी व्यापार नहीं होते, अतः साम्यावस्थाभङ्ग का क्या कारण है यह जानना बहुत कठिन है, तथापि जैसे निद्रा के अव्यवहित प्राक्काल के प्रबोधानुकूल दृढ़ सङ्कल्प की महिमा से ही नियत समय पर निद्रा भङ्ग होता है, वैसे ही प्रलय के अव्यवहित प्राक्कालिक ईश्वरीय सङ्कल्प से ही नियत समय पर साम्यावस्था भङ्ग होती है और उसी सङ्कल्प से कर्मों का परिपाक, प्रागभाव की विनश्यदवस्था आदि सम्पन्न होते हैं । फिर परिपक्व कर्म होने पर मायावृत्ति उत्पन्न होती है । इसी परिपक्व कर्मकार से परिणत माया से विशिष्ट ब्रह्म को ‘बिन्दु’ भी कहा जाता है । विभाग को न प्राप्त हुआ यह बिन्दु ही ‘अव्यक्त’ कहलाता है । यह माया की ही अवस्था है, अतः यह मायापदविनश्ये होता है । यद्यपि यह महदादि के समान तत्त्वान्तर रूप से उत्पन्न नहीं होता है, अतएव माया ही है, तथापि माया की एक विशिष्टाकार से उत्पत्ति हुई है, अतः “तस्मादव्यक्तपुरुषं त्रिविधं द्विजसत्तमम्” इत्यादि वचनों से उस की उत्पत्ति भी कही गयी है । केवल ब्रह्म में कारणता नहीं बन सकती,

अतएव उस से भी सूक्ष्मावस्थाविशिष्ट माया से युक्त ब्रह्म में ही कारणता समझनी चाहिए। बीज और अहङ्कार के बीच की उच्छ्वनावस्था को ही, जिस में बीज, धारिण, अनिल, जल के सम्पर्क से क्लृप्त होकर कुछ फूलता है, अव्यक्तावस्था समझनी चाहिए। गुणसाम्य बीजावस्था है, वही शुद्ध माया है। बीज का अहङ्कुरित होना कार्यावस्था है। स्पष्ट ईक्षण और अहङ्कार आदि ही महत्त्व, अहन्त आदि हैं। व्यष्टिजगत् में समझ सकते हैं कि निद्रावस्था बीजावस्था है, निद्रा का प्रबोधोन्मुख होना अव्यक्तावस्था है, विकल्पविशेषविरहित प्रबोध महत्त्व की अवस्था है, अहङ्कार का उल्लेख होना ही अहन्तत्व की अवस्था है, तदनन्तर स्थूल कार्यादि सम्पत्ति होती है। अन्तर्मुख अव्यक्त की 'तुरीय' संज्ञा है, बहिर्मुख अव्यक्त की 'कारणदेह' संज्ञा है। बहिर्मुख अव्यक्त से सूक्ष्म-स्थूल देह को उत्पत्ति होती है, इसी में सम्पूर्ण विश्व आ जाता है। समष्टिव्यष्टि स्थूल देह और ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण के अधिपति सरस्वतीसहित ब्रह्मा हैं। क्रियाशक्त्यात्मक लिङ्गदेह के अधिपति लक्ष्मी-सहित विष्णु हैं। कारणदेह के अधिपति गौरीसहित रुद्र हैं। तुरीय देह की अभिमानिनी भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी हैं।

मूर्तिरहस्य

प्रथम महालक्ष्मी भगवती ने सम्पूर्ण जगत् को अधिष्ठाता से रहित देखकर केवल तमोगुणरूप उपाधि का आश्रय कर बड़ा सुन्दर एक दूसरा रूप धारण किया। सामयावस्थाभिमानिनी महालक्ष्मी हैं। किञ्चिच्चलित सदृश तमोगुणविशिष्ट अव्यक्त में अभिमानकर के उसी ने महाकाली रूप धारण कर लिया। यद्यपि वह मूल देवी से अभिन्न ही हैं, तथापि रूप में भेद है। कज्जल के समान नीलवर्णवाली सुन्दर दंष्ट्रा में युक्त मनोहर आननवाली, विशाल लोचन, सूक्ष्म कटिवाली वह देवी खड्ग, पात्र, शिरः-खेट को धारण किए कबन्ध, हार और मुण्ड की माला अथवा सर्व शिरो को माला पहने थी। उस महाकाली ने महालक्ष्मी से कहा कि—“मेरे लिए नाम और कर्म बतलाओ।” महालक्ष्मी ने ब्रह्मादिमोहिका होने से, ‘महामाया’ उन सब का संख्यान और संहार करने से ‘महाकाली’ और सर्वविधभक्षण की इच्छावाली होने से ‘भुधा’, सभी विद्या-पान की इच्छावाली होने से ‘तृष्णा’, योग की अधिष्ठात्री होने से ‘योगनिद्रा’, भक्तकृत भक्ति की इच्छावाली होने से ‘तृष्णा’, महापराक्रमवती होने से ‘एक-वीरा’ इत्यादि नाम और नामानुरूप ही कर्म बतलाये गये हैं। अनन्तर महालक्ष्मी ने अतिशुद्ध सत्व के द्वारा चन्द्रप्रभा के समान अति सुन्दर और रूप धारण किया। अक्षमाला, अङ्कुर, वीणा, पुस्तक धारण किये हुए वह बड़ी सुन्दरी देवी प्रकट हुई। उस के लिए भी महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, कामधेनु, बीज-गर्भा, धनेश्वरी नाम और नामानुरूप ही कर्म बतलाये गये हैं। महालक्ष्मी स्वयं ही ग्राम्यावस्था की अभिमानिनी होते हुए रजोगुण की भी अभिमानिनी हुई, अतएव महालक्ष्मी का रक्त-रूप वर्णन मिलता है। अन्त में महालक्ष्मी ने महाकाली और महा-सरस्वती से कहा कि “आप दोनों अपने अनुरूप स्त्री-पुरुष रूपमिथुन उत्पन्न करो।” ऐसा कहकर स्वयं महालक्ष्मी ने निर्मल ज्ञानमय कमलपर विराजमान एक स्त्री, एक पुरुष का मिथुन बनाया। ब्रह्मा, धाता आदि पुरुष के नाम, श्री, पद्मा, कमला, लक्ष्मी आदि स्त्री के नाम हुए। महाकाली ने भी एक मिथुन बनाया, उस में नीलकण्ठ, रक्तबाहु, श्वेताङ्ग, चन्द्रशेखर पुरुष हुआ और शुक्ल वर्ण की ही सुन्दरी स्त्री हुई। पुरुष के रुद्र, शङ्कर, स्थाणु, कपर्दी, त्रिलोचन नाम हुए, स्त्री के त्रयो, विद्या, काम-धेनु, भाषा, अक्षरा, स्वरा आदि नाम हुए। सरस्वती से भी उत्पन्न मिथुन में विष्णु, कृष्ण, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन पुरुष के और उमा, गौरी, सती, चण्डी, सुन्दरी, सुभगा, शिवा स्त्री के नाम हुए। इसतरह बिना पुरुष के ही युवतियाँ ही पुरुष बन गईं। साधारण लोग इसे असम्भव समझते हैं, परन्तु अचिन्त्य मायाशक्ति की महिमा जाननेवालों के लिए यह असम्भव नहीं। महालक्ष्मी ने ब्रह्मा का सरस्वती से, रुद्र का गौरी से, वासुदेव का लक्ष्मी से विवाह कर दिया। ब्रह्मा ने सरस्वती के साथ ब्रह्माण्ड बनाया, रुद्र ने गौरी के साथ संहार का काम किया और विष्णु ने लक्ष्मी के साथ पालन किया। ब्रह्मा दृष्टि से चैतन्यरूपा सरस्वती, सत्तारूपा लक्ष्मी, आनन्दरूप काली है, अतः चैतन्य का अभिव्यञ्जक सत्व, सत्ताव्यञ्जक रज और आनन्दव्यञ्जक तम है। सुषुप्ति में तम की बहुलता से आनन्दमय की

व्यक्ति होती है। आनन्दभोक्ता सत्व का पर्यायसान तमोरूपा निद्रा में होता है, इसलिए रुद्र में तम का व्यवहार होता है। सत्ताव्यञ्जक रज का पर्यायसान सत्वात्मक ज्ञान में होता है, इसलिए विष्णु को सत्व कहा है। चैतन्यव्यञ्जक रज अपने ही रूप में रहता है, इसलिए ब्रह्मा में कहा जाता है। इतिहास की दृष्टि से पहले उत्पत्ति, फिर स्थिति, फिर संहार होता है। साधना में संहार, पालन और उत्पादन यह क्रम मान्य होता है। स्थितिकाल में भी उन्नति के लिए तीनों शक्तियों की अपेक्षा है। दोषों का संहार, रक्षणीय गुणों का पालन और फिर अविद्यमान गुणादिकों का उत्पादन अभीष्ट होता है। रोगों का नाश, प्राणों का रक्षण और क्लृप्ति का उत्पादन यह शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा का काम है। वैसे यह सब के सब विशुद्ध सत्वमय है, इसीलिए शैवपुराणों में शिव को भी सत्वमय कहा गया है। शैव, वैष्णव, शाक्त सब के यहाँ अपने इष्टदेव को ही मूलतत्त्व माना जाता है। मूलतत्त्व में ही पूर्ण सर्वज्ञता आदि की विवक्षा से सत्वमय कहा जाता है। गुणकृत आवरण एवं तत्प्रभाव से रहित होने के कारण उसे ही निर्गुण भी कहा जाता है। जिस तरह मेघादि सूर्य के आवरक होते हैं, उपनेत्रादि नहीं, उसीतरह अस्वच्छ उपाधि सच्चिदानन्द की आवरक होती है, स्वच्छ नहीं। इसीलिए शिव की शक्ति, काली से संहार होता है। केवल प्रकाश सृष्टि नहीं हो सकती, इसीलिए सरस्वती को रज के अधिष्ठाता ब्रह्मा का सहारा लेना पड़ता है। रज से कार्य बनता चलता है, परन्तु यदि उस में टिकाव न हो तो पालन नहीं बन सकता, अतः कार्य को टिकाऊ या स्थिर करने के लिए लक्ष्मी को तमोऽधिष्ठाता विष्णु की अपेक्षा होती है। तम के प्रावलय में अत्यन्त रुकावट होने पर पालन न होकर संहार होता है। परन्तु संहार में भी किस का, कब, कितने दिन तक संहार हो, इस के ज्ञान के लिए सत्व की अपेक्षा है, इसीलिए काली शिव का सहारा लेती है। अन्यत्र ब्रह्मा को रज, रुद्र को तम और विष्णु को सत्व का अधिष्ठाता कहा जाता है। ब्रह्मा का रज तो उन के गुण रज के अनुसार रक्त है, परन्तु शिव, विष्णु में यह नहीं घटता। सत्वगुण के अनुसार शिव शुक्ल और तम के अनुसार विष्णु कृष्ण है।

कुछ लोग कहते हैं शिव, विष्णु के परस्पर ध्यान से रूप में परिवर्तन हो गया। स्थिर रखना तम का कार्य है, अतः पालक में तम की परमा-पेक्षा है। अन्यत्र संहारक होने से रुद्र में तम, पालक होने से विष्णु को सत्वमय कहा गया है, कहीं कहीं निराकार और अव्यक्त को आकाशादि के समान श्याम रङ्ग का व्यञ्जक माना जाता है परन्तु त्रिदेवियों की रूपव्यवस्था तो सर्वथा गुणों के अनुसार है। त्रिदेवों में उत्पादक, पालक, संहारक को क्रमेण राजस, सात्विक, तामस कहा है। इन गुणों के वश होने से जीव बद्ध होता है, उपयुक्त त्रिदेव एवं त्रिदेवियाँ गुणों के वश नहीं, किन्तु गुणों की नियन्त्री हैं, अतः वे स्वतन्त्र हैं। इस के अतिरिक्त एक विशेषता और है, वह यह कि गुणों का विमर्दवैचित्र्य होने से एक गुण के भीतर भी सब गुणों का अस्तित्व होता है। जैसे तामसीप्रकृति जगत् का उपादान है, फिर भी उस के भीतर राजस और सात्विक अन्तःकरणादि होते हैं, तमो-लेशानुबद्ध सत्वप्रधाना अविद्या में भी तमोरज आदि के तारतम्य से उत्कर्षापकर्ष होता है, वैसे ही विशुद्ध सत्वप्रधाना विद्या या माया में भी सात्विक, राजस, तामस भेद होते हैं। उसी भेद से ब्रह्मा, विष्णु आदि बनते हैं। यह ईश्वरकोटि है, इन की उपाधि माया है, वह विशुद्ध सत्व-प्रधाना होती है, फिर भी उत्पादक में रज, पालक में सत्व और संहारक में तम का अंश रहता है। पूर्वोक्त रीति से भगवती के महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ये तीन रूपप्रधान हैं। उपनिषदों में प्रकृति को ‘लोहित-शुक्लकृष्णा’ कहा गया है, क्योंकि उस में रजः, सत्व और तम यह तीन गुण होते हैं। किसी भी कार्य का सम्पादन करने के लिए हलचल, प्रकाश और अवष्टम्भ अर्थात् रुकावट इन तीनों की अपेक्षा हुआ करती है। इन में से एक के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता, इसीलिए सृष्टि को त्रिगुणात्मिका कहा जाता है। प्रकाश सत्व है, हलचल रज और अवष्टम्भ तम है। रज रक्त है, सत्व शुक्ल है, तम कृष्ण है। केवल निर्विकार, कूटस्थ, चैतन्य कुछ कर नहीं सकता, गुणयोग से ही कुछ कार्य हो सकता है, अतएव गुणों का आश्रयण करने से ही त्रिदेवी एवं त्रिदेव भी तीन रङ्ग के ही हैं। शङ्कर-सरस्वती ये दोनों भाई-बहन शुक्ल रूप के हैं। ब्रह्मा-लक्ष्मी दोनों भाई-बहन रक्त वर्ण के हैं। विष्णु-गौरी ये दोनों भाई-बहन कृष्ण

रत्न के हैं। भाई-बहन ही प्रायः एक रत्न के होते हैं, पति-पत्नी के एक रत्न होने का नियम नहीं होता। इसीलिए शिव-गौरी, विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्मा-सरस्वती ये दम्पती एक रत्न के नहीं हैं। गौरी की सरस्वती ननन्दा है, स्वयं उस की भ्रातृजाया (भावज) है, सरस्वती लक्ष्मी की भावज है, लक्ष्मी उस की ननद है, लक्ष्मी गौरी की भावज है और गौरी लक्ष्मी की ननद है। इसीलिए शिव, विष्णु, ब्रह्मा में भी श्यालक एवं भगिनीपति का सम्बन्ध है। सृष्टि में हलचल और ज्ञानशक्ति दोनों की अपेक्षा होती है। रज की हलचल और सत्व की ज्ञानशक्ति ही सृष्टि कर सकती है, इसीलिए ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती से सृष्टि होती है। तम की रुकावट से और रज की हलचल से पालन होता है, अतएव विष्णुपत्नी लक्ष्मी से पालन होता है। सत्व के प्रकाश एवं तम के अवष्टम्भ से संहार होता है, अतः शिवपत्नी गौरी से संहार होता है। सर्वसत्वमयी भगवती साकारा होकर अनेक नामों वाली होती है, निराकारा रूप से तो किसी का भी शब्द से वाच्य नहीं है। “ज्ञानानां चिन्मयानीता शून्यानां शून्यरूपिणी। यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता ॥ यतोवाचोनिवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥” त्रिगुणा तामसी महाकाली है, वही हरि की योगनिद्रा है, उसकी ही विष्णु को जगाने के लिए ब्रह्मा ने स्तुति की है। वह दशमुख, दशभुज, दशचरण और तैत्तिरीय विशाल नेत्रवाली है। यद्यपि शत्रुओं को उस का रूप बढ़ा ही भयावना लगता है, तथापि भक्तों के लिए तो वह रूप सौभाग्य और कान्ति की एकमात्र प्रतिष्ठा है। खड्ग, बाण, गदा, शूल, चक्र, पाश, मुशुण्डि, परिध, कार्मुक और सद्यःकृतः शिर उस के हाथ में हैं। इस की विधिपूर्वक पूजा करने से साधक चराचा विश्व को स्वाधीन कर लेता है। जो देवी सर्वदेव शरीरों से उत्पन्न हुई वह महालक्ष्मी है। यद्यपि वह सहस्रभुज या अनन्त भुजवाली है, तथापि साधक अष्टादशभुजा रूप से उस को पूजते हैं। उस का मुख शिव-समुद्रभूत तेज बना है, अतः श्वेत है। भुजा विष्णु के अंश से हुई हैं, अतः नील हैं। स्तनमण्डल सौम्यांश से बने हैं, अतः सुश्वेत हैं। कटि इन्द्रांश से हुई है, अतः रक्त है। चरण ब्रह्मांशजन्य होने से रक्त, जङ्घा और ऊरु वरुणांशजन्य हैं, अतः नील हैं। सुचित्र जघना, चित्र मातङ्ग और अम्बर को धारण किये हैं। दहिने भाग के नीचे के क्रम से उस के निम्नलिखित आयुध हैं—अक्षमाला, कमल, बाण, अक्षि, कुलिश, गदा, चक्र, परशु, त्रिशूल, शङ्ख, घण्टा, पाश, शक्ति, दण्ड, चर्म, चाप, पानपात्र और कमण्डलु। इस महालक्ष्मी के पूजन से सर्वलोकाधिपत्य मिलता है। सरस्वती आठ भुजा की है। बाण, मुशल, शूल, चक्र, शङ्ख, घण्टा, लाङ्गूल और कार्मुक, उस के आयुध हैं। इस की उपासना से सर्वज्ञता मिलती है।

दशमहाविद्या

महाकाली

पूर्वोक्त भगवती के ही दशमेद और होते हैं। इसमें प्रथम महाकाली है। महाकाली प्रलयकाल से सम्बन्ध रखती है, अतएव वह कृष्णवर्ण की है। वह शव पर इसलिए आरुढ़ है कि शक्तिविहीन मृत विश्व के ऊपर विराजमान है। शत्रुसंहारक की शक्ति भयावह होती है, इसीलिए काली की मूर्ति भी भयावह है। शत्रुसंहार के बाद योद्धा का अट्टहास भीषणता के लिए होता है, इसीलिए महाकाली हँसती रहती है। निर्बल के आक्रमण को विफल कर उस की दुर्बलता पर हँसा जाता है, इसीतरह निर्बल विश्व के षमण्ड को चूरकर भगवती हँसती है। पूर्ण वस्तु को चतुरस्र कहा जाता है, इसीलिए पूर्णतत्त्व चार भुजा से प्रकट हुआ करता है। इसी से माँ काली की चार भुजाएँ हैं। वह स्वयं निर्भय है, उस का आश्रयण करनेवाले निर्भय होते हैं, इसीलिए भगवती ने अभयमुद्रा धारण की है। सांसारिक सुख क्षणभङ्गुर हैं, परमसुख भगवती ही है, जीवितविश्व का एवं मृतविश्व का भी आधार वही है, मृतप्राणियों का भी एकमात्र ही सहारा है, यही श्रोतन करने के लिए देवी ने मुण्डमाला पहनी है। विश्व ही ब्रह्मरूपा भगवती का आवरण है, प्रलय में सब के लीन होने पर भगवती नम हो रहती है। सारे विश्व के श्मशान के तरने पर उस तमोमयी का विकास होता है, इसीलिए वह श्मशानवासिनी है—“शवाकुण्डं महाभीमां घोरदंष्ट्रं हस्तमुखीम्। चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ॥ मुण्डमालाधरां देवीं ललजिह्वां विगम्भराम्। एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥”

तारा

हिरण्यगर्भावस्था में कुछ प्रकाश होता है, प्रलयरूपी कालरात्रि में ताराओं के समान सूक्ष्म जगत् के ज्ञान एवं तत्साधनों का प्राकट्य होता है, उसी हिरण्यगर्भ की शक्ति 'तारा' है। सूर्य को भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है सूर्य रश्मि भी कहे जाते हैं। उन का शान्त और घोर दो रूप होता है। हिरण्यगर्भ पहले क्षुधा से उग्र था। जब उसे अन्न मिलने लगा, तब शान्त हुआ। उसी उग्र हिरण्यगर्भ की शक्ति उग्र तारा है। “प्रत्यालीढ पदार्पितात्रि-सवदृष्टं घोराट्टहासा परा खड्गेन्दीवरकंचिचखर्परमुजा हुङ्कारबोज्ज्वला। सर्वा नीलविशालपिङ्गसजटाजूटेकनारैर्युता जाडयं न्यस्य कपालकर्तुं जगतां हन्युप्रतागास्वयम् ॥” क्षुधातुर हिरण्यगर्भ भी संहारक होता है, अतः उस की शक्ति तारा भी संहारिणी है। उस के चारो हाथों में जहरीले सर्प लिपटे हैं। सर्प भी संहार का सूचक है। यह भी शव पर प्रतिष्ठित है। मुण्ड और खप्पर से यह सूचित होता है कि वह भयानक होकर खप्पर द्वारा विश्व का रसपान करती है। उस की जहरीली रश्मियों की भयानकता दिखलाने के लिए जटाजूट नाग का वर्णन है। “प्रकृतिः पुरुषां सृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुष्मति। तदन्तस्त्वेकतां गत्वा नदीरूपमिवायुः ॥” पुरुष का स्पर्श करते ही प्रकृति प्रकृतित्व को छोड़कर पुरुष के साथ इसतरह मिल जाती है, जैसे नदी समुद्र में मिल जाती है। “अतस्त्वामाराध्या हरिहर-विरिञ्चादिभिरपि प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्या प्रभवति।” हरि, हर, विरिञ्चि प्रभृतियों से परमपूज्या अम्बा को प्रणाम या उन का स्तवन किसी अकृतपुण्य प्राणी द्वारा नहीं हो सकता। भगवती की पूजा जैन-बौद्धों में भी होती रही है, विशेषतः तारा की पूजा का रहस्य बुद्ध ही जानते थे। तारा ही द्वितीया रूप से प्रसिद्ध है, सुतारा रूप से वही जैनो में भी पूज्य है अक्षोभ्य ही वहाँ अवलोकितेश्वर रूप में प्रसिद्ध है। “जोभादि-रहितं यस्मात् पोटं डालाहलं विषम्। अतएव अहेशानि अक्षोभ्यः परिकीर्तितः ॥ तेन सार्धं महामाया तरिणी रमते सदा।” हलाहल विष पीने पर भी जो क्षोभरहित रहे वही शिव अक्षोभ्य है, उन के साथ रमण करनेवाली तारा है। “मदीयाराधनाचारं बौद्धरूपी जनार्दन। एक एव विज्ञानाति नान्यः कश्चन तत्त्वतः ॥” (ललितोपाख्यान)। तारा की ही उक्ति है कि बौद्धाचार से ही उन का पूजन श्रेष्ठ है। तारिणी शक्तियों से विशिष्ट महाशक्ति तारा है। “अर्वाची सुमगे सीते वन्दामहे त्वा यथा नः सुभगा ससि यथा नः सुफला ससि।”, “जनकस्य राज्ञः सन्ननिसीतोत्पन्ना सा सर्वपरानन्दमूर्तिर्गायन्तिमुनयोऽपि देवाश्च ॥” “अनन्या एकवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा ॥” “प्रेस्वर्वाचनः शक्तिः सा पराक्रम एव च। तत्स्वरूपा तयोर्दात्री सा शक्तिः परिकीर्तिता ॥”

धर्मसङ्घ समाचार

नवीन शाखाएँ

१ तेनुहारी, पो० मुण्डेरवा, जि० बस्ती (२०१३)—श्री पं० गुरुप्रसाद जी दीक्षित (अ०), श्री पं० शिवमूर्ति पाण्डेय (मं०), श्रीरामबालकजी तथा पं० रणजीतजी दीक्षित (निरीक्षक), श्रीरामनरेश पाण्डेय (प्रबन्धक)।
२ सरीली, पो० मुण्डेरवा, जि० बस्ती (२०३५)—माध शु० ५ गुरु। श्री काशू पाण्डे (अ०), श्री गुरई पाण्डेय (मं०)। ३ मखनियाँ, पो० मुण्डेरवा, जि० बस्ती (२०४६)—श्रीहरिहरप्रसाद पाण्डे (अ०), श्रीत्रिलोकी पाण्डे (मं०)। ४ मंथौली, पो० लाखराज, जि० बस्ती (२०२४)—माध शु० २ सोम। श्री कोरई पाण्डे (अ०), श्रीरामानन्द पाण्डे (मं०)। ५ रोहनागम, पो० बरईपार पाली, जि० गोरखपुर (२१२१२)—श्री स्वामी रामगोपालदासजी (अ०), श्रीराजमणि त्रिपाठी (मं०)। ६ भरवलिया, पो० नगर, जि० बस्ती (२१३१५)—श्री गोमतीप्रसाद पाण्डे (अ०), श्री शारदाप्रसाद त्रिपाठी (मं०), श्रीरामचन्द्र साहु (उ० मं०)। ८ पल्लवार, पो० बहरियाबाद, जि० गाजीपुर धर्मसङ्घ का नवनिर्वाचन—उपसमापति श्री पं० सत्यनारायण जी मिश्र व्या० आ० के लायलपुर (पञ्जाब) चले जाने से उन के स्थान पर अध्यक्ष श्री पं० बुद्धिसागरजी की आज्ञा से श्री बाबा जनार्दनदासजी बहोरिकपुर निर्वाचित किये गये।—मन्त्री श्री पं०

शान्तनु पाण्डेय । ९ बारा, जि० उन्नाव (२३६।५०)—श्रीशिवकुमारजी अवस्थी (अ०), श्रीप्रेमवासीजी पोस्टमास्टर (मं०), ठाकुर अयोध्या-सिंहजी (सञ्चालक) । १० श्रीगौरीशङ्कर महादेव, सु० पो० धनश्यामपुर, जि० जौनपुर (२३४)—श्री पं० विपत त्रिपाठी (अ०), पं० बलि-करणजी त्रिपाठी (उपा०), श्रीकमलकान्त पटवारी (मं०), श्रीमितइ साहु (उ० मं०), श्री पं० रमाशङ्कर त्रिपाठी, पं० जगन्नाथ त्रिपाठी, पं० रामप्रताप द्विवे, पं० राजारामत्रिपाठी (प्रचा०) । ११ टेढ़ा, जि० उन्नाव (२३५।४९)—श्री डाक्टर लालमाधवजी द्विवेदी (अ०), श्रीराम-खेलावनजी शुक्ल (मं०), श्रीकैलाशनाथजी शुक्ल (सञ्चालक) ।

‘हिन्दू कोड’ विरोध

रावकमेटी का दौरा—(१) नागपुर—मद्रास से ‘रावकमेटी’ ता० १२ मार्च को नागपुर पहुँची, यहाँ कलकत्ते से उत्साही कार्यकर्ता श्रीउपाध्यायजी पहले से पहुँच गये थे । ता० १० को टाउनहाल में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिस में कोड-विरोध का प्रस्ताव पास किया गया और कमेटी का ‘कालेजण्डो’ से स्वागत करना निश्चित हुआ । स्टेशन पर से कमेटी के लिए आगे बढ़ना मुश्किल हो गया । पुलिस ने कुछ लोगों को गिरफ्तार भी किया, जिन में उपाध्याय जी भी थे, पर थोड़ी देर बाद सब को छोड़ दिया । कमेटी के सामने कुल १६ गवाहियाँ हुईं, जिन में १० कोड के पक्ष में और बाकी विपक्ष में हुईं । डाक्टर कठाले ने बात बात पर कमेटी को मुँहतोड़ जवाब दिया । ‘महिला हिन्दू महा-सभा’ की ओर से श्रीमती शान्ता गवान्दे ने घोर विरोध प्रकट किया । ‘वर्णाश्रम स्वराज्य सङ्घ’ की ओर से श्री गोरें, कुमारी विमला ठाकुर आदि ने कोड का विरोध करते हुए कमेटी को स्पष्ट शब्दों से सचेत किया कि धर्म में हस्तक्षेप करना ठीक नहीं । डाक्टर मुन्जे ने बड़ा उत्साह दिखाया । श्री बाबा साहब खापड़ें, श्री म० ग० चितनवीस, सेठ विहारी-लाल झुंझुनवाला, सेठ वृद्धिचन्द पोद्दार, रायबहादुर सदाशिवमाधव पराडे आदि ने विरोध को सफल बनाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया । आगे भी विरोध का कार्य जारी रखने के लिए एक समिति बनायी गयी है ।

२ अमृतसर—‘कोड’ तथा ‘राव कमेटी’ का विरोध करने के लिए हिन्दू-महासभा, आर्यसमाज लरिसरोड, आर्यसमाज लोहगढ़, आर्यसमाज बाजार अद्वानन्द, आर्यसमाज लछमनसर, सनातनधर्म सभा चौरस्ती अटारी, सना-तनधर्म सभा लछमनसर, सनातनधर्म सभा नमकमण्डो, हरिनामप्रचारक मण्डल, कृष्णकीर्तनमण्डल सुलतानविण्ड, वैष्णवमण्डल, दुर्गाना सेवादल, महावीर सेवादल, धर्मरक्षक मण्डल, धर्मसङ्घ आदि स्थानीय अनेक संस्थाओं के सहयोग से एक ‘विरोधसमिति’ का निर्वाचन किया गया है, जिस के मन्त्री पं० प्रेमप्रकाशजी दिवेसर तथा पं० विश्वनाथजी बी० ए० हैं । गत ता० ११ मार्च को दुर्गाना पर एक विराट् सभा हुई । कप्तान श्रीकेशवचन्द्रजी मन्त्रो अ०भा० हिन्दूमहासभा, पं० तुलसीरामजी, पं० विश्वनाथजी बी० ए०, भक्त मूलराजजी कपूर आदि के प्रभावशाली व्याख्यान हुए । उसीदिन महिलाओं की भी एक विराट् सभा हुई । १५ मार्च को आर्यसमाज अद्वान-न्द बाजार में महिलाओं की विराट् सभा हुई । जिस में काली ऋषिद्वियों से ‘रावकमेटी’ का स्वागत करना निश्चित किया गया । ता० १६ मार्च को स्टेशन पर ‘हिन्दूला कमेटी’ के मन्त्री श्री के० बी० राजगोपालन का लाहौर जाते हुए अपार जनता ने काले झण्डे और कोडविरोधी नारों से स्वागत करते हुए अपना घोर विरोध प्रकट किया । ‘धर्मसङ्घ’ के मन्त्री श्री बाबू-देवकीनन्दनजी, ‘कोडविरोध समिति’ के मन्त्री श्री पं० विश्वनाथजी बी० ए०, ‘हिन्दू महासभा’ के मन्त्री श्री केशवचन्द्रजी ने स्टेशन पर उन से भेंट की और सारे पञ्जाब की ओर से कोड का विरोध प्रकट किया । कुछ महिलाओं ने काले सूत की मालाएँ पहना कर विरोध प्रकट किया ।—श्रीमूलराज कपूर ।

३ लाहौर—‘हिन्दूकोड’ के विरोध में गत १५-१६ मार्च को कुल्लू के राजा श्री रावभगवन्तसिंहजी की अध्यक्षता में एक बड़ी सभा की गयी । १६ ता० को गुल्लेर के राजासाहब भी कानफ्रेंस में उपस्थित हुए । स्वागताध्यक्ष रा० ब० लाला गोपालदासजी एम्० एल्० ए० थे । कानफ्रेंस में दीवान बहादुर, रायबहादुर, पञ्जाब कौंसिल के सदस्य, प्रतिष्ठित विद्वान्, रईस, हाईकोर्ट के एडवोकेट आदि सभी श्रेणी के लोग बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे । ऑनररेबल चौधरा श्री टीकागम् साहब ‘रेवेन्यू मिनिस्टर’ पञ्जाब सरकार

ने कोडविरोधी प्रस्ताव उपस्थित किया, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ । हजारों की संख्या में जनता एकत्रित हुई थी, लोगों में बड़ा जोश दिखाई पड़ रहा था । म० म० पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, श्री पं० लक्ष्मीनारायणजी सूदन एडवोकेट अध्यक्ष ‘पञ्जाबप्रान्तीय धर्मसङ्घ’ श्री पं० नन्दलाल शास्त्री, एम्० ए०, एल० एल्० बी०, वेदान्तशास्त्री, श्रीमती कृष्णादेवी आदि ने प्रभाव-शाली शब्दों में ‘कोड’ की हानियाँ दिखाते हुए जनता से उस का विरोध करने की अपील की । सभा में श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज की कोड-विरोधी घोषणा पढ़कर सुनायी गयी, जिस से जनता अत्यन्त प्रभावित हुई । ‘हिन्दू ला कमेटी’ ता० १६ मार्च को प्रातः ९ बजे लाहौर पहुँची । स्टेशन पर अपार जनसमूह ने काले झण्डे दिखाकर और कोडविरोधी नारे लगा-कर अपना विरोध प्रकट किया । भीड़ को नियन्त्रित करने के लिए फौज और पुलिसवालों को कड़ी मेहनत करनी पड़ी । कुछ स्त्रियाँ भी, जो अपने को ‘कम्यूनिस्ट’ घोषित कर रही थीं और जिन की संख्या ८—१० के लगभग थी, कोडसमर्थक झण्डियाँ लिये हुए दिखायी पड़ी । १६ मार्च से ही कमेटी ने गवाहियाँ लेनी शुरू कर दीं । पहले दिन चार गवाहियाँ हुईं, जिन में पञ्जाबप्रान्तीय धर्मसङ्घ, स० ध० प्रतिनिधि महासभा, रावलपिण्डो आदि संस्थाओं की ओर से श्री पं० लक्ष्मीनारायणजी सूदन तथा सनातन-धर्म सभा, होशियारपुर के प्रतिनिधि की कोड के विपक्ष में और ‘जातपात-तोड़क मण्डल के प्रतिनिधि एव ‘लौकालेज, लाहौर के प्रिन्सिपल की पक्ष में हुईं । दूसरे दिन (१७ मार्च को) म० म० पं० परमेश्वरानन्दजी वन्धु, पं० रघुनाथदत्तजी डाक्टर परशुरामजी, डाक्टर प्रभुदत्तजी तथा ‘पञ्जाबप्रान्तीय हिन्दू-सभा’ के प्रधान मन्त्री की गवाहियाँ कोड के विरोध में हुईं । डाक्टर प्रभुदत्तजी ने व्यक्तिगत रूप से कोड की कुछ धाराओं का समर्थन व्यक्त किया । कुछ कम्यूनिस्ट स्त्रियों ने, जो अपने को पञ्जाब को ९० प्रतिशत स्त्रियों के प्रतिनिधि होने का असत्य दावा कर रही थीं, कोड के पक्ष में गवाहियाँ दीं । तीसरे दिन (१८ मार्च) म० म० पं० गिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी, सरदारसाहब सर इकबालसिंह एडवोकेट, सरदार निहालसिंह एडवोकेट, श्रीपं० नन्दलालजी शास्त्री आदि ने विपक्ष में गवाही देते हुए कोड की खूब खबर ली । इसी समय लगभग १७ हजार महिलाओं ने आकर अजायबघर को जहाँ कमेटी की बैठकें हो रही थीं, घेर लिया । इस में श्रीमती सरला मिश्र के नेतृत्व में चार पांच सौ महिलाएँ, अमृतसर की भी थीं । लगभग ११ हजार महिलाओं ने कोड के विरोध में गवाही देने का आग्रह किया । उन में से श्रीमती कृष्णादेवी आदि कुछ महिलाएँ चुन ली गयीं, जिन्होंने अपनी गवाही में बतलाया कि “कोड के पक्ष में कल गवाही देने आयी हुई स्त्रियों को हम नहीं जानती कि वे हिन्दू हैं या और कोई । वे हमारी प्रतिनिधि नहीं हैं । हम हिन्दू सभ्यता, धर्मशास्त्र की मर्यादाओं का मूलोच्छेद करनेवाले प्रस्तुत कोड को कदापि नहीं चाहती । उत्तराधिकार देकर हमें घर की रानी के पद से वञ्चित करने की चेष्टा की जा रही है । हम चाहती हैं कि कोड वापिस लिया जाय, रावकमेटी भङ्ग कर दी जाय और भविष्य में कभी हमारे धर्म में हस्ताक्षेप न किया जाय ।” चौथे दिन (१९ मार्च) श्रीपं० नन्दलालजी एम्० ए०, एल्० एल्० बी०, पं० दीनदयालुजी आचार्य, मेहता पूर्णचन्दजी ‘एडवोकेट, रघुनाथराय बैरिस्टर, लाला मोहकमचन्दजी बी० ए०, एल्० एल्० बी० एडवोकेट, पं० रघुनन्दनजी एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, प्रोफेसर ‘ओरियेंटल कालेज’, पं० परशुरामजी, श्रीपं० रुडीलाल शर्मा आदि तथा अमृतसर के पण्डितों ने कोड के विपक्ष में गवाहियाँ दीं । ‘फतेहचन्द कालेज’ की प्रिन्सिपल तथा श्रीमती लेखवती जैन ने पक्ष में गवाहियाँ दीं । जनता की ओर से बहुसंख्यक तार और हजारों हस्ताक्षरों से विरोधपत्र भेजकर असन्तोष प्रकट किया गया । कोडविरोध के कार्य में पं० दीनदयालुजी आचार्य, पं० देवेन्द्रनाथजी, पं० देवशर्माजी (प्र० मं० केन्द्रीय सनातनधर्म सभा), आचार्य महन्त श्रीदयालदासजी, मास्टर देशराजजी वाली, लाला रामरखामलजी, श्री रुडीरामजी (स० ध० प्रतिनिधि सभा), लाला गणपतरामजी, लाला तिलकरामजी (स० ध० सभा वच्छोवाली), पं० आनन्दविहारोजी आदि सज्जनों ने बहुत उत्साह दिखाया । ‘रावकमेटी’ के सदस्यों को यह कहते सुना गया कि “हमारा जैसा विरोध पञ्जाब में हुआ है, ऐसा भारत में अन्यत्र कहीं नहीं हुआ ।”

रुद्राक्ष धृतहस्ता वशनना ॥ प्रवृद्धोणा तु शृङ्गं कुटिला कुटिलेक्षणा ।
क्षुत्पिपासादितामिह भयदा कलहास्पदा ॥” विवर्णा, चञ्चला, दुष्टा एवं
दोष तथा भक्ति अम्बरवाली, खुले केशवाली, तिरलदन्तवाली, विषवारूप में
रहनेवाली, काकपञ्चवाले रथ पर आरुढ़, लम्बे पयोधरवाली, हाथ में शूर्प
लिए हुए, अत्यन्त रुक्ष नेत्रवाली, कम्पित हस्त, लम्बी नासिका, कुटिल
स्वभाव, कुटिल नेत्र-युक्त, क्षुधा-पिपासा से पीड़ित, सदा भयप्रद और
कलह का विवास-रूपिणी है ।

बगला

व्यष्टि में शत्रुसंजिहीर्षा, समष्टि में परमेश्वर की संहारोच्छ की
अधिष्ठात्री शक्ति 'बगला' है । इस का ध्यान यह है—“जिह्वाप्रमादाय करेण
देवो वामेन शत्रुपरिपीडयन्तीम् । गदाभिघातेन च दक्षिणेन पीताम्बराढ्या
हिमुजां नमामि ॥” अर्थात् शत्रु के हृदय पर आरुढ़, वामहस्त से शत्रु-
जिह्वा को खींचकर दक्षिणहस्त से गदाप्रहार करनेवाली, पीतवस्त्र धारण
की हुई बगला है । “मध्ये सुधाविमणिमण्डपरत्नवेदीसिंहासनोपरिगतां
परिपीतवर्णाम् । पीताम्बराभरणमाख्यविभूषिताङ्गो देवो नमामि घृतमुद्गर-
वैरिजिह्वाम् ॥” अर्थात् सुधासमुद्र के मध्यस्थित मणिमय मण्डप में रत्नमयी
वेदी है, उसपर रत्नमय सिंहासन पर विराजमान पीतवर्णवाली और पीतवर्ण
के ही वस्त्रभूषण, माख्य से सुशोभित अङ्गवाली भगवती बगला है, जिस के
एक हाथ में शत्रु की जिह्वा और दूसरे में किया है ।

मातङ्गी

मत्तङ्ग शिव का नाम है, उस की शक्ति मातङ्गी है । उस का ध्यान इस
प्रकार है—“श्यामां शुभ्रांशुमालां त्रिनयनकमलां रत्नसिंहासनस्थां भक्ता-
भीष्टप्रदात्रीं सुरनिकरकणसेव्यकञ्जाद्विभुगमाम् । नीलाम्भोजीशुक्रान्ति
निशिचरनिकरारण्यदावाग्निरूपां पाशं खड्गं चतुर्भुवनकमलकरैः खेट-
कञ्जाङ्कुशञ्च मातङ्गीमावहन्तीमभिमतफनदा मोदिनीं चिन्तयामि ॥”
अर्थात् श्यामवर्णा, तन्म्रा की मस्तक पर धारण किये हुए, तीन नेत्रवाली,
रत्नमय सिंहासन पर विराजमान, नीलकमल के समान कान्तिवाली, राक्षस-
रूप अण्य को दहन करने में दावानलरूपा, चार भुजाओं में पाश, खड्ग,
खेटक और अङ्कुश को धारण करनेवाली, भक्तों को अभीष्ट फल प्रदान
करनेवाली, अमृतों को मोहित करनेवाली मातङ्गी है ।

कमला

सदाशिव पुरुष की शक्ति कमला है । उस का ध्यान इस प्रकार है—
“कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रत्येक्षतुर्भुजैः हस्तोत्थिस्त्रिहिरण्यययुत
धरेरासिच्यमानां श्रियम् । विज्ञाणां वरमञ्जयुग्ममभयं हस्तेः किरीटो-
त्थवर्णां क्षौमावहन्तिमम्बुविम्बवलितां वन्देऽरविन्दस्थिताम् ॥” अर्थात्
सुवर्णवलय कान्तिमती, हिमालय के सदृश श्वेतवर्णवाले चार गजों के द्वारा
शुण्ड से पृथीत सुवर्णकलशों से स्नापित, चार भुजाओं में वर, अभय
और कमलद्वय धारण किहुये, किरीट धारण किहुये और क्षौमवस्त्र से आवृत
कमला है ।

स्वात्मा ही विश्वात्मिका लीलता है । विमर्श रक्तवर्ण है । उपाधिशून्य
स्वात्मा महावामेश्वर है । उस के अङ्क में विराजमान सदानन्दरूप उपाधि-
पूर्ण स्वात्मा ही महाशक्ति कामेश्वरी है । “शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः
प्रभवितुं न चेद्देवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।” निगुण-
पुरुषरूप शिव कामेश्वरी से युक्त होकर विश्वनिर्माणदि कार्यों में सफल हो
सकता है, उस के बिना कूटस्थ देव उस से मस नहीं हो सकता । ब्रह्मा,
विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इन्हीं की शक्तिराहित्य विवक्षा से महा-
प्रेतसंज्ञा है । इन में प्रथम चार में कामेश्वरी के पलङ्क के पाँवों की कल्पना
है, सदाशिव में फलक की कल्पना है, निर्विशेष ब्रह्म के आश्रित श्रीकामेश्वरी
के ग्रीहस्त में पाश, अङ्कुश, इल्लु, धनुष और बाण हैं । राग ही पाश है,
द्वेष ही अङ्कुश है, मन ही इल्लु-धनुष है, शब्दादि विषय पुष्पबाण है ।
कहीं इच्छाशक्ति को ही पाश, ज्ञान को ही अङ्कुश, क्रियाशक्ति को ही
धनुष-बाण माना गया है—“इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम् ।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषोर्दधदुल्लवल् ॥”

पूजारहस्य

नामरूपात्मक जगत् में सच्चिदानन्द की भावना ही अम्बा को पाश-
समर्पण है । सूक्ष्मजगत् में ब्रह्मभावना ही अर्घ्यसमर्पण है । भावनाओं में
ब्रह्मभावना ही आचमन है । सर्वज्ञ सत्त्वादि गुणों में चिदानन्दभावना ही

स्नान है । चिद्रूपा कामेश्वरी में वृत्त्यविषयता का चिन्तन करना ही प्रोक्कन
है । निरञ्जनत्व, अजरत्व, अंशोक्तत्व, अमृतत्व आदि की भावना ही विविध
आभूषणों का अर्पण है । स्वशीरोरघटक पार्थिवप्रपञ्च में चिन्मात्रभावना ही
गन्धसमर्पण है । आङ्कुश में चिन्मात्रत्व की भावना करनी पुष्पसमर्पण
है । वायु की चिन्मात्रभावना धूपसमर्पण है । तेज में चिन्मात्रत्व की
भावना दीप समर्पण है । अमृतत्वभावना नैवेद्यार्पण है । विश्व में सच्चिदा-
नन्दभावना करनी ही ताम्बूल समर्पण है । बाणियों का ब्रह्म में उपसंहार ही
स्तुति है । वृत्तिविषय के जड़त्वका निराकरण ही आरात्तिक्य है । वृत्तियों को
ब्रह्म में लय करना ही प्रणाम है ।

पुरुषरूपिणी

‘देव्यध्वशीर्ष’ में देवी ने स्वयं अपने को ब्रह्मरूपिणी कहा है और
यह भी कहा है कि प्रवृत्तिपुरुषात्मक जगत् मुक्त से आविर्भूत होता है—
“अहं ब्रह्मस्वरूपिणी मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत् शून्यञ्चाशून्यञ्च ॥”
एतावता जो कहते हैं कि प्रकृतिरूपिणी ही देवी है, उन का यह कहना ठीक
नहीं । अपनी सर्वात्मता को दिखलाते हुए अपने को ही आनन्द, अनानन्द,
विज्ञान, अविज्ञान, ब्रह्म, अब्रह्म सब कुछ बतलाया है । अजा में कहा है कि
मैं ही सब जगत् हूँ—“अहमस्मिन् जगत्” वेद-अवेद, विद्या-अविद्या,
अजा-अनजा सब कुछ भगवती ही हैं । “कालरात्रि ब्रह्मसंस्तुता वैष्णवी
स्कन्दमातरं सरस्वतीमदितिदक्षदुहितरं नमामः” पावनां शिवाम् ॥” इस
मन्त्र से भगवती के प्रसिद्ध अनेक रूपों का वर्णन करके उसे ही “एषाश्च
शक्तिः, एषा विश्वमोहिनी” इत्यादि वचनों से आत्मशक्तिरूप भी कहा है ।
यहाँ आत्मशक्ति का आत्मरूपाशक्ति भी अर्थ किया जाता है । तभी “य एवं
वेद, स शोकं तरति” इस वचन से इस के वेदन में शोकोपलक्षित संसार का
तरण कहा गया है । आगे चलकर कहा है—“यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न
जानन्ति तस्मादुच्यते अज्ञेया, यस्या अन्तो न लभ्यते तस्मादुच्यते अनन्ता
..... एकैव सर्वत्र विद्यते तस्यादुच्यते ।” भगवती अज्ञेया, अनन्ता, एका,
अनेका सब कुछ है । आचार्य भगवान् शङ्कर ने भी भगवती के सगुण-
निगुण दोनों ही रूपों को बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—हे देवि । आप के
निमेष-उन्मेष से जगत् की उत्पत्ति और प्रलय होता है । सन्त लोग कहते हैं
कि आप के निमेष से जगत् का प्रलय हो जाता है, इसीलिए मालूम पड़ता
है कि आप जगद्रक्षण के लिए ही निर्निमेष नयनों से भक्तों को देखती हैं—
“निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती तवेत्याहुः सन्तो धरणिधराजान्य-
तनये । तदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः परिजातुं शङ्के परिहृतनिमेषा-
स्तवदृशः ॥” शक्ति की दृष्टि से भी देखा जाय तो शक्ति बिना सारा प्रपञ्च
शवमात्र ठहरता है । अशक्त व्यक्ति, अशक्त समाज, अशक्त जाति, अशक्त-
देश भारभूत ही होता है, अतः शक्ति की पूजा सर्वत्र स्वाभाविक है । संसार
में प्रत्येक पदार्थ में तत्तत्कार्यसम्पादन की शक्ति है, तभी उस का मूल्य
है । अनन्तानन्त कार्योत्पादनानुकूल शक्ति से सम्पन्न ही परमेश्वर होता है ।
न्यूनशक्तिसम्पन्न ईश्वर होता है । जितना जितना शक्तिसाहित्य होता है,
उतना ही जीवत्व आता है । आधिकाधिक शक्तिसाहित्य में ईश्वरत्व आता
है । निगुण, निराकार, निर्विकार, कूटस्थ परब्रह्म अनन्त शक्तियों की केन्द्र-
भूता महाशक्ति से संवलित होने पर ही विश्व की सृष्टि, पालन, संहार
आदि में समर्थ होते हैं । यदि शक्तिसंवलन न हो, तो शिव भी सृष्ट्यादि में
असमर्थ, अशक्त, शवमात्र रह जाता है, अतएव ईश्वर का ईश्वरत्व
ही शक्तिमूलक है । जिस के सम्बन्ध से ही कूटस्थ चेतन ईश्वर बनता है,
उस के महत्व को कौन कहे ?—“शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः
प्रभवितुं न चेद्देवो.....” आचार्य तो कहते हैं कि संसार में
बहुत लोग अनेक गुणों से युक्त सपणां (पत्तोवाली) कल्पलता का
बड़े आदर से सेवन करते हैं, परन्तु मेरी तो ऐसी बुद्धि होती है कि
(बिना पत्तोवाली बेल) एक अपर्णा पार्वती का ही सेवन करना चाहिए,
क्योंकि उस के संसर्ग से पुराना स्थाणु वृद्ध (पुराणपुरुषोत्तम कूटस्थ
महादेव) भी कैवल्यरूप परमफल प्रदान करता है । सारांश यह कि सपणां
कल्पलता के सेवन से भी अपर्णा (पार्वती) का सेवन बहुत अधिक
चमत्कार पूर्ण है । कल्पलता बहुत फल प्रदान कर सकती है, परन्तु वह
मोक्ष देने में समर्थ नहीं । किन्तु अपर्णा का स्वयं तो कहना ही क्या उस के
संसर्ग से पुराना वृद्ध (पुराणपुरुष निष्क्रिय शङ्कर) भी मोक्षफल
प्रदान कर देता है—“सपणांमाकीर्णां कतिपयगुणैः सादरमिह अयन्यन्ये

बलहीन मम तु मतिरेवं विलसति । अपणैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम् ॥” आगे चलकर आचार्य
कहते हैं—भगवान् शङ्कर के पास तो वृक्षवृषभ की सवारी, भौग, धतूर
आदि विषों का खाना, दिशा का वसन, श्मशान ग्रीवास्थान, भुजङ्गभूषण
आदि जो ग्रामग्रियाँ हैं, वह प्रसिद्ध ही है, फिर भी जो उन में ऐश्वर्य है,
वह केवल भगवती के पाणिग्रहण का ही फल है । भगवती के सौभाग्य से
ही शङ्कर का ऐश्वर्य है—“भवानि त्वपाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम् ॥”
इन उक्तियों का यही अभिप्राय है कि शक्ति के बिना कूटस्थ ब्रह्म अकिञ्चि-
त्कर है, उस में देवद्वन्द्व आदि कुछ भी नहीं रह सकता । “शक्तयः सर्व-
भावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः”
इत्यादि वचनों से अनन्त शक्तियों का वर्णन है । शक्ति और शक्तिमान् दोनों
का ही अमेघ सम्बन्ध रहता है । भक्त कहते हैं कि देवी की महिमा अनन्त
है, फिर भी जो वर्णन समाप्त किया जाता है, वह गुणों के समाप्त हो जाने
से नहीं, किन्तु असामर्थ्य या शकावट से ही स्तुति समाप्त की जाती है ।
“महिमानं यदुत्कीर्णं तत्रे संहियते वचः । श्रेमेण तदशक्त्या वा न गुणनामि-
यत्तया ॥” प्राणियों की अभीष्ट वस्तुओं में रूप, जय, यश और शत्रुपराभव
अभीष्ट होती है । यह सब निश्छलभाव से माता से ही माँगा जाता है—
माता ही देती है—“रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ।” इसीलिए
सुरासुर सभी अपने मुकुट-शिरीष के रत्नों से माता के चरणपोंठ का वन्दन
करते हैं—“सुरासुर शिरोरत्ननिष्ठचरणेऽम्बिके ।” कृष्ण ने भी भक्तिपूर्वक
उन्हीं की स्तुति किया—“कृष्णेन संस्तुते देवि शश्वत्तस्या तथाम्बिके ।”

शाक्ताद्वैत में भगवती

शाक्ताद्वैत की दृष्टि यह है कि अनन्त विश्व का अधिष्ठानभूत शुद्धबोध-
स्वरूप प्रकाश ही शिवतत्त्व समझा जाता है । उस प्रकाश में जो विमर्श
है, वही शक्ति है । प्रकाश के साथ विचारात्मकशक्ति का अस्तित्व अनिवार्य
है । बिना प्रकाश के विमर्श नहीं, और बिना विमर्श के प्रकाश भी नहीं
रहता । यद्यपि वेदान्तियों की दृष्टि में बिना विमर्श के भी अनन्त, निर्विकल्प
प्रकाश रहता है, परन्तु शाक्ताद्वैतियों की दृष्टि से विमर्श हर समय रहता
है । यहाँ तक कि महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर
भी, आवरक अज्ञान के मिट जाने पर भी स्वयं वृत्तिरूप विमर्श बना ही
रहता है । वेदान्ती इस वृत्ति को स्वपरविनाशक मानते हैं । परन्तु शाक्ता-
द्वैती कहते हैं कि अपने आप में ही नाश-नाशकभाव सम्भव नहीं है ।
यदि उस वृत्ति के नाश के लिए दूसरी वृत्ति की उत्पत्ति मानेंगे, तब तो
उस के भी नाश के लिए अन्य वृत्ति मानना पड़ेगा, फिर अनवस्था की
प्रसक्ति होगी । अविद्या स्वयं नष्ट होनेवाली है, अतः उस से भी उस वृत्ति-
रूपा विद्या का नाश नहीं कहा जा सकता । विरोध न होने के कारण विद्या-
विद्या का सुन्दोपसुन्दन्याय से भी परस्पर नाश-नाशकभाव नहीं कहा जा
सकता । जो कहा जाता है कि जैसे कनकरज जल के भीतर की मिट्टी को नष्ट
करके स्वयं नष्ट हो जाता है, वैसे ही विद्यारूपावृत्ति स्वातिरिक्त अविद्या-
तत्कार्य को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है । परन्तु दृष्टान्त में कनकरज
का नाश नहीं होता, किन्तु इतर रजों को साथ लेकर कनकरज पानी के नीचे
बैठ जाता है, अतः यहाँ भी उक्त दृष्टान्तों से वृत्ति का नाश नहीं कहा जा
सकता । यही स्थिति “विषं विषान्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति, पयः पयो-
न्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति” इत्यादि उक्तियों की भी है अर्थात् वहाँ
भी विष या पय नष्ट नहीं होता, किन्तु दूसरे पय या विष की अजीर्णता को
नष्ट करके अपने आप भी पच जाता है । अतः इन दृष्टान्तों से भी वृत्ति का
नाश नहीं कहा जा सकता । इसलिए वृत्तिरूप विद्या से संश्लिष्ट होकर ही
अनन्त प्रकाशरूप शिव सदा विराजमान रहता है । इसीतरह यह भी
विचार उठता है कि अविद्यानिवृत्ति क्या है ? कोई वस्तु कहीं से निवृत्ति
होते हुए भी कहीं न कहीं रहती ही है । यदि ध्वंसरूप निवृत्ति मानी जाय,
तो भी अपने कारण में उस की स्थिति माननी पड़ेगी, क्योंकि घटादि का
ध्वंस होने पर भी अपने कारण कपाल, चूर्ण आदि कहीं न कहीं, किसी न
किसी रूप में उन की स्थिति माननी ही पड़ती है । यही स्थिति लयरूपा-
निवृत्ति की भी है । यदि निवृत्ति को सर्वथा निःस्वरूप कहें, तो उस के
लिए प्रयत्न नहीं हो सकता । सती कहें, तब तो उसी रूप से शक्ति की
स्थिति रह सकती है । अनिर्वचनीय कहें, तो उस की भी ज्ञान भिवर्णता
कहनी पड़ेगी, अतएव कुछ आचार्यों ने पञ्चमप्रकारा अविद्या-निवृत्ति मानी

है । तथा च उस रूप से भी विमर्शरूपाशक्ति का अस्तित्व रहता ही है ।
ही, उस समय अन्तर्मुख होकर शिवस्वरूप से ही शक्ति स्थित रहती है—
“मुक्तावन्तमुल्लेखं त्वं सुवनेश्वरि तिष्ठसि” (शक्तिदर्शन) । इसीलिए शक्ति
को नित्य कहा जाता है—“नित्यैव सा जगद्धात्री ।” “नहि द्रष्टुं द्रष्टव्य-
लोपोभवति” इस वचन से वृत्तिरूप दृष्टि को नित्य समझा जाता है । परन्तु
वेदान्ती दृष्टा की स्वरूपभूता दृष्टि को नित्य कहते हैं ।

शिवपरात्पर

विमर्श, प्रकाश, शक्ति का शिव में प्रवेश से बिन्दु, स्त्रीत्व, नाद की
उत्पत्ति हुई । जब दूध पानी की तरह दोनों एक हो गए, तब संयुक्त बिन्दु
हुए । वही अर्धनारीश्वर हुए । इन की परस्पर आसक्ति ही काम है ।
श्वेतबिन्दु पुंस्त्व का, रक्तबिन्दु स्त्रीत्व का परिचायक है । दोनों जब मिलते
हैं, तब कामकला की उत्पत्ति होती है । मूलबिन्दु, नाद और श्वेत तथा
रक्तबिन्दु, इन चारों के मिलने से सृष्टि होती है । किसी के मत में नाद के
साथ अर्द्धकला भी हुई । कामकलादेवी का संयुक्तबिन्दु वदन है, अग्नि
और चन्द्र वक्षःस्थल है, अर्द्धकला जननेन्द्रिय है, ‘अ’ शिव का प्रतीक है,
‘ह’ शक्ति का प्रतीक है । यह त्रिपुसुन्दरी ‘अहं’ से व्याप्त है । सम्पूर्ण
सृष्टि व्यक्तित्व और अहं से पूर्ण है । सहस्रार के चन्द्रगर्भ से स्रवित आस्रव
को पानकर ज्ञानकृपाण से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आसुरगुणों को
मारकर, वञ्चना, पिशुनता, ईर्ष्या मछलियों को पकाकर, आशा, कामना,
निन्दा, मुद्रा को धारणकर, मेरुदण्डाभ्रिता रमणियों में रमणकर सामरस्य की
प्राप्ति होती है । कुछ लोग पञ्चमकार का यही रहस्य बतलाते हैं ।

शिवशक्ति संयोग ही नाद है—“यद्यमनुचरद्विर्ति निजेच्छया विद्व-
मिदं स्रष्टुम् । परस्पन्दे सस्रन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥” शिव-
संश्लिष्ट शक्ति विश्व का बीज है । अहंप्रकाश में शिव निश्चेष्ट, शक्ति सक्रिय
रहती है, यही काली की विपरीत रति है । विमर्शात्मिका शक्ति जब शिव
में लीन होती है, तब उन्मना अवस्था होती है । उस के विकसित होने
पर समना अवस्था होती है । “सच्चिदानन्दविमवास्सङ्कषारात्परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥” विमर्श सकल से शक्ति,
उस से नाद, उस से बिन्दु, का प्राक्कथ्य होता है । नाद में जो क्रियाशक्ति है
बिन्दु की अहंनिमेषा है । सृष्टि की अन्तिम अवस्था है ‘इदं’ ‘अहं’ महाप्रलय
की पूर्ववस्था है और शक्ति की उच्छ्रान्तवस्था घनीभाव है । ज्ञानप्रधाना
शक्तिक्रियारूपेण रजःप्रधाना बिन्दुतत्त्व से तमःप्रधाना रहती है । व्यवहार में
शक्तिमान् से शक्ति का आदर अधिक है । बुद्धि बिना बुद्धिमान् का, बल बिना
बलवान् का, शिवपशक्ति बिना शिवपी का कुछ भी मूल्य नहीं रहता ।
मिठास बिना मिश्री का, सौगन्ध बिना पुष्प का, सौन्दर्य बिना सुन्दरी का,
लज्जा बिना कुलाङ्गना का कुछ भी मद्भव नहीं रह जाता । शाक्ताद्वैत दृष्टि
से शक्ति शिवस्वरूप ही है, सच्चिदानन्द में चिद्राव विमर्श है, सत् का भाव
शिव है । “रुद्रहीनं विष्णुहीनं न वदन्ति जनाः किल । शक्तिहीनं यथा सर्वे
प्रवदन्ति नराधमम् ॥” अर्थात् कोई भी प्राणी रुद्रहीन, विष्णुहीन होने से
शोचनीय नहीं होता, किन्तु शक्तिहीन होने से ही शोचनीय होता है ।
“नायमात्मा बलहं नेन लभ्यः” बलहीन प्राणी को अपनी आत्मा का भी
उपलम्भ नहीं हो सकता । “गिरामाहुर्देवीं दुहिणमागमावदो हरेः परसीं
पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम् । तुरीयाकायित्वं दुरधिगमनिःसीमसहिमे ।
महामाये विश्वं त्रयशक्ति परब्रह्मसिद्धि” परब्रह्मसिद्धिरूपा भगवती को
आचार्यों ने तुरीया चिच्छक्तिरूपा ही बतलाया है । “शङ्करः पुरुषाः सर्वे
क्षियः सर्वा महेश्वरी । विषयी भगवानीशो विषयः परमेश्वरी । मानः स
एव विश्वात्मा मन्तव्यस्तु महेश्वरी । आकाशः शङ्करो देवः पृथिवी
शङ्करप्रिया ॥” समुद्र-वेल, वृक्ष-लता, शब्द-अर्थ, पदार्थ-शक्ति, पुं-स्त्री, यज्ञ-
इत्या, क्रिया-फलभुक्, गुण-व्यक्ति, व्यञ्जक तानरूप, प्रथम नीति-जय,
बोध-बुद्धि, धर्म-सक्रिया, सन्तोष-तुष्टि, इच्छा-काम, यक्ष-दक्षिणा, आज्याहुति-
पुरोडाश, काष्ठा-निमेष, सुहृत्-कला, व्योम्ना-प्रदीप, रात्रि-दिन, ध्वज-
पताका, दण्ड-लोभ, रति-नाग, उपयुक्त भेदों से उसी तत्त्व का अनेकधा
प्राक्कथ्य होता है । शक्ति शब्द से बहुत से लोग केवल माया, अविद्या आदि
बहिरङ्ग शक्तियों को ही समझते हैं । परन्तु भगवान् की स्वरूपभूता
आत्मादिनी शक्ति, जीवभूता पराप्रकृति आदि भी शक्ति शब्द से व्यवहृत
होते हैं । जैसे सिता, शोभा, मधु आदि में मधुरिमा उन का परमान्तरूप
स्वरूप ही है, वैसे ही परमानन्दरसासृतासारसमुद्र भगवान् की परमान्तरूप

स्वरूपभूता शक्ति ही भगवती है—“विष्णुशक्तिः परा ज्ञेया क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा । अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरित्यते ।” यहाँ पर विष्णु और क्षेत्रज्ञ को भी शक्ति ही कहा गया है । यद्यपि शक्तियाँ अनेक हैं, तथापि आनन्दाश्रित आह्लादिनी, चेतनाश्रित संवित्, सदाश्रित सन्धिनी शक्ति होती है । क्षेत्रज्ञ तटस्था शक्ति है, माया बहिरङ्गा शक्ति मानी जाती है । तत्त्वविद् लोग कहते हैं कि जैसे पुष्प का सौगन्ध्य सम्यक् रूप से तब अनुभूत हो सकता है, जब पुष्प को ही प्राणशक्ति हो । अन्य लोगों को तो व्यवधान के साथ किञ्चिन्मात्र ही गन्ध का अनुभव होता है । उसी तरह भगवती के सुन्दर स्वरूप का सम्यक् अनुभव परम शिव को ही प्राप्त होता है ; वह अन्य दृष्टि का विषय ही नहीं—“धृत, चौर, द्राक्षा, मधु-मधुरिमा कैरपि परैर्विशिष्टानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः । तथा वे सौन्दर्ये परमशिवदृष्टमात्रविषयं कथञ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे ।” अर्थात् वस्तुतः निर्गुणा सत्या सनातनी सर्वस्वरूपा भगवती ही भक्तानु-ग्रहार्थं सगुण होकर प्रकट होती है । वैसे तो भगवती के अनन्त स्वरूप है, विशेषतः शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूर्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्री, महागौरी, सिद्धिदा ये नव स्वरूप प्रधान हैं—कार्यायै सगुणा त्वं च वस्तुनो निर्गुणा स्वयं । पर ब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी । सर्वस्वरूपा सर्वेशी सर्वाङ्गा परात्परा । सर्वबीजस्वरूपा च सर्वमूला निराश्रया ॥ सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला ।”

वैसे तो अनन्तशक्तियाँ हैं, फिर भी इनके अतिरिक्त और भी कुछ प्रधान शक्तियाँ हैं, जो पूज्य हैं । व्यवहार और परमार्थ में उन का परम उपयोग है ।

निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, ईश्विका, दीपिका, रोचिका, मोचिका, परा, सूक्ष्मा, सूक्ष्माभूता, ज्ञानाभूता, अमृता, आप्यायिनी, व्यापिनी, व्योमरूपा, तोक्षणा, अनन्ता, सैष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्थिति, सिद्धि, जडा, पालिनी, शान्ति, ऐश्वर्या, रति, कामिका, वरदा, आरुहादिनी, प्रीति, दीर्घा, तीक्ष्णा, गौरी, निद्रा, तन्द्रा, शुधा, क्रोधिनी, वृष्टि, पुष्टि, धृति, चन्द्रिका आदि श्रुति जिह्वनमहासमुद्र की अनन्त शक्ति-स्वामिनी ही भगवती है । ‘अगस्त्यसंहिता’ के वचनानुसार भगवान् शिव ने श्रीराम के प्रत्यक्ष साक्षात् करने के लिए बड़ी तपस्या और आराधना की । भगवान् राम ने प्रसन्न होकर कहा कि यदि मेरा तत्त्व जानना चाहते हो तो मेरी आह्लादिनी पराशक्ति का आराधन करो, उस के बिना मेरी स्थिति नहीं होती—“आह्ला-दिनीं परां शक्तिं स्तूयाः सात्वतसंमनाम् । तदाराध्यस्तदा रामस्तदधीनस्तथा-विना । तिष्ठा‘म न च्छां शंभो जवने परमं मम ॥” यह सुनकर श्रीशिवजी भगवान् की आराधना की । भगवती ने कृपाकर उन्हें दर्शन दिया । उन के अद्भुत रूप को देखकर उन्होंने ने अति भक्ति से दिव्य स्तुति की—“वन्दे विदेहतनयापदपुण्डरीकं केशोरसौरभसमाहृतयोगिचित्तम् । इन्तुं त्रितापम-निशं मुनिहंसैव्यं सन्मानसालिपरीपितपरगपुञ्जम् ॥” करुणा तो शिव, विष्णु आदि सभी देवों में होती है, परन्तु परम करुणामयी, करुणामयी तो श्री अम्बा ही है । कुपुत्र पर भी अम्बा की करुणा ही रहती है—“कुपुत्रो जायेत कचिदपि कुमाता न भवति ।”

धर्मसङ्घ समाचार

नवीन शाखाएँ—

१ रजिआ, श्रीराधामाधव आश्रम, क्यूम्बर स्टेट, उड़ीसा (२३३१)— श्रीकरुणाकर गिरि (अ०), श्रीपद्मचरणदास (मं०), श्रीपीताम्बरगिरि (उ० मं०) । २ पुरवाभता, पो० हरिपालपुर, जि० हरदोई (१७३३)—पं० रामस्वरूपजी (अ०), पं० रामचरणलालजी (उपा०), श्री पं० श्यामभोहर मिश्र (मं०), पं० युगलकिशोरजी (उ० मं०) । ३ पिहोवा, जि० करनाल (२२०११)—श्री पं० गजाननजी (अ०), श्री पं० रामरक्षपाल शास्त्री (मं०) । ४ करंजही, मलाँव, जि० गोरख-पुर (२१६१३)—साहित्यभूषण श्रीरामसूत शुक्ल (शील) (अ०), पं० उदितनारायण त्रिपाठी कीर्तनकार (उपा०), श्री पं० जगदेवप्रसादजी शुक्ल (मं०), पं० लक्ष्मीप्रसादजी शुक्ल (उ० मं०), पं० उपेन्द्र पाण्डेय, पं० बेणीमाधव शुक्ल (प्रचा०), पं० सीतागमजी शुक्ल (निरी०),

पं० शालिग्राम शुक्ल (कार्याध्यक्ष) । ५ हुमराबा, पो० सु० पुराना भोजपुर नावाडेगा, जि० आरा (२३२७)—श्रीरामराज मिश्र (अ०), श्रीराजारामराय (उपा०), श्रीगुनाथसिंह यादव (मं०), श्रीरामसिंह कुशवंशी (उ० मं०), श्री पं० चानगोविन्द पाण्डे (कोषा०), श्रीस्वामी विजयानन्द पर्वत (प्रचार मं०) । ६ रावतपाड़ा, आगरा (२४४२)—श्रीमहन्त उमामहेश्वरपुरीजी महाराज, मन्दिर मनकामेश्वरनाथ (संयोजक), श्रीगोस्वामी पं० ब्रजवासीलासजी शास्त्री (मं०) । ७ श्री हरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचर्याश्रम, भिवानी—अधिक चैत्र शुक्ल बुध । श्री पं० राजवंशीजी द्विवेदी की अध्यक्षता में आज सभा होकर शाखा स्थापित की गयी । प्रति अमावास्या, पूर्णिमा को अधिवेशन करना निश्चित किया गया । पदाधिकारी—पं० शौनक शर्मा व्या० सा० आ० (अ०), पं० चेताराम शास्त्री (उपा०), श्रीरामस्वरूप ब्रह्मचारी (मं०), श्रीरत्नचन्द्र ब्रह्मचारी (उ० मं०) । इस के अतिरिक्त तीन समितियों का निर्वाचन हुआ, जिस में सदस्य संख्या इस प्रकार है—कार्यसमिति ५, प्रबन्धसमिति ६, और प्रचार-समिति १० । अन्तिम दो समितियों के अध्यक्ष क्रमशः पं० रामप्रसादजी प्रभाकर तथा श्रीबलवन्त ब्रह्मचारी निर्वाचित किये गये । सङ्घ के सङ्घटन से पुराणों का प्रवचन होता है, आजकल ‘स्कन्दपुराण’ का पाठ हो रहा है । ८ शाखासभा कल्याणपुर का पुनर्निर्वाचन—उक्त सभा का, जिस की संख्या ५५१२ है, स्थान अब ‘ग्राम डौडिया खेरा, पो० नारायणदास खेरा, जि० उन्नाव’ रहेगा और श्रीकामताप्रसादजी पाण्डेय के स्थान पर श्रीमुरली-धरजी त्रिपाठी अध्यक्ष और श्रीकमलकान्तजी के स्थान पर श्रीविद्याधरजी त्रिपाठी मन्त्री निर्वाचित किये गये ।—श्रीरामशङ्कर मिश्र ।

श्री स्वामी करपात्री जी की यात्रा—लखनऊ से चलकर ‘सीता-पुर’ में सभा हुई, जिस में धर्मसङ्घ की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया । पश्चात् हरदोई में बाबू मन्नीलाल वकील के पार्क में सभा हुई, जिस में ‘कोड’ का विरोध किया गया । वहाँ से चलकर श्री महाराज जी बावन पहुँचे, जहाँ ‘दशकुण्डो महाविष्णुयज्ञ’ हो रहा था । यहाँ तीन दिन रहकर शाहजहाँपुर होते आप ‘बोली’ पहुँचे । राधेदयाम प्रेस में सभा हुई, जिस में ‘कोडविरोध’ के अतिरिक्त ‘धर्मसङ्घशाखा का पुनर्निर्माण हुआ । श्री मदनमोहन शास्त्री मन्त्री नियुक्त हुए । प्रथम चैत्र पूर्णिमा की ‘मुरादा-वादवालो की प्रार्थना से वहाँ जाना पड़ा और बड़े समारोह से व्याख्यान तथा ‘कोडविरोध’ हुआ । श्री जगद्गुरु जी महाराज की अध्यक्षता में सर्वत्र यह काम हो रहा है । चन्दौषी, मेरठ, मुजफ्फरनगर होते हुए, जहाँ का विवरण में बाद में छपा जायगा—आप हरिद्वार पहुँच गये ।

बावन (हरदोई) में विष्णुमहायज्ञ—आदिनाथ मन्दिर के पास विशाल मण्डप में चैत्रशुक्ल ६ से १० तक दशकुण्डो विष्णुमहायज्ञ बड़े समारोह में सम्पन्न हुआ । लगभग बीस-पच्चीस हजार जनता ने नहर पर हाथी, घोड़े तथा बाजे-गाजे सहित अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य जी तथा श्री करपात्री जी महाराज का स्वागत किया । उत्साह का समुद्र उमड़ पड़ा । धर्मसङ्घ अधिवेशन, हिन्दूकोडविरोधी तथा गोरक्षा सम्मेलन भी हुए । प्रतिदिन तीस-चालीस हजार जनता उन में भाग लेती रही । लाउडस्पीकर का प्रबन्ध था । धर्मसङ्घ की ओर से एक वेदविद्यालय स्थापित करने का निश्चय हुआ, जिस के लिए यजुर्वेदी तथा सामवेदी दो अध्यापक काशी से बुलाए जा रहे हैं । समस्त समारोह को सफल बनाने में श्री महाराज सवायजपुर तथा बाबू मुन्नीलाल जी वकील हरदोई की सहायता परम सराहनीय रही ।—शिवशर्मा शास्त्री ।

हिन्दू कोड विरोध—

श्री महाराज पन्ना की अध्यक्षता में अलवर में ‘राजस्थान क्षत्रिय महासभा’ का अधिवेशन हुआ, जिस में ‘हिन्दूकोड’ के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ । उस पर धर्मसङ्घ के श्री चन्द्रशेखरशास्त्री का भाषण हुआ । जौनपुर में श्रीमान् गंगा रामगढ़ (पद्म) की अध्यक्षता में ‘अ० आ० क्षत्रियमहासभा’ का अधिवेशन हुआ । यहाँ भी ‘हिन्दू कोडविरोधी’ प्रस्ताव पास हुआ, जिस पर शास्त्रीजी का भाषण हुआ ।

सिद्धान्त

सामाहिक

वार्षिक मूल्य—साधारण २)

विशेष ५), एक प्रति—)

सम्पादक—गङ्गाशङ्कर मिश्र

सं० सं०—दुर्गादत्त त्रिपाठी

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः । दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

श्रीभगवतीतत्त्व

(श्रीस्वामी करपात्रीजी)

९

शत्रु से निष्ठुरतापूर्वक युद्ध करते हुए भी मां के हृदय में शत्रुओं पर भी कृपा रहती है । उन को बाणों से पवित्र कर के दिव्यलोक में भेजती है । वास्तव में सब मां के पुत्र हैं, शत्रु कौन है ?—“चिन्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टु ।” अत्याचारी रावण को भी मां सीता ने कल्याणार्थ प्रभुशरणागति का ही उपदेश किया है । अत्याचारी के

अत्याचार पर ध्यान न देकर, उस को सत्यपथ पर ही लाने का प्रयत्न मां की ओर से होना उचित है । मां ने अपने तप से हनुमान् के लिए अग्नि को ठण्डा कर दिया—“शीतो भव हनुमतः ।” जो अग्नि को ठण्डा कर सकती है, वह रावण को क्या भस्म नहीं कर सकती है ? अवश्य कर सकती है । परन्तु उस ने स्वयं कहा है—“अलम्देशात् रामस्य तपसश्चानुपालनात् । न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्मभस्माहृतैजसा ॥” माता कहती है—श्रीराम का सन्देश न होने से, तपस्या नाश के भय से हे दशग्रीव, मैं अपने उग्र तेज से तुझे भस्म नहीं करती हूँ । वही परम दयामयी है ।

लङ्काविजय के पश्चात् हनुमान् ने श्रीजानकी को विजय का शुभ सन्देश सुनाया और माता को सतानेवाली राक्षसियों को दण्ड देने की आज्ञा चाही, परन्तु मां ने कहा—“कार्थ्यं कारुण्य-मार्थेयं न कश्चिन्नापराधयति” । बेटा सज्जनों को करुणा करनी चाहिए अपराध तो सब से ही होता रहता है । जब ये रावण के बश में थीं, तब सताती थीं । अब यह सब कुछ नहीं सता रही है, फिर भी इन पर कृपा करनी चाहिए—“मातमैथिलि राक्षसीस्त्वथि तदैवाहं-पराधास्त्वया रक्षन्त्या पवनात्मजास्तु-तरा रामस्य गोष्ठी वृता काकं तच्च विभीषणं शरणमित्युक्ते क्षमौ रक्षतः सा नासान्द्रमहागणः सुखयतु क्षान्ति-स्तवाकस्मिकी ।” कोई भक्त कहता

है—हे माता आपने सदा अपराधवाली राक्षसियों की हनुमान् से रक्षा करके श्री राम की गोष्ठी छोटी कर दी, क्योंकि उन्होंने तो जयन्त और विभीषण की रक्षा शरणागत होने पर की थी, परन्तु आपने तो शरण होने ही अपेक्षा बिना ही रक्षण किया—“पितेव श्वप्रेयाज्जनि परिपूर्णागसि जने हितैस्तोतृभ्यः भवति च कदाचित्कलुषधीः । किमेतन्निदोषः क इह भगतीति स्वमुचितैरुपायैर्विज्ञापि स्वजनयसि माता तदसि नः ॥” भगवान् भी जब जीव पर कभी नाराज होते हैं, तब माता उन जीवों के अनुकूल होती है—भक्त मां से कहता है—हे मां ! जब आप के स्वामी भगवान् जीवों पर हित बुद्ध्या कुपित होते हैं, तब आप “यह क्या ? संसार में निदोष

कौन है ?” ऐसा कहकर समुचित उपायों से पिता को अनुकूल बनाती है, इसीलिए कि आप ही सच्ची मां हो । “नित्यं विश्वं वशयति हरिर्निग्रहानु-ग्रहाभ्यामाद्ये शक्तिं विवर्तयति ते हन्त कारुण्यपूरः ।” भगवान् श्रीहरि जगत् को अपने वश में रखते हैं परन्तु आप की करुणा हरि की निग्रहादि शक्तियों को भी स्वाधीन रखती है । भगवती ही सब से अन्तर और महत्वपूर्ण है, इसीलिए भक्त कहते हैं—“स्वयमेवाश्रयते दया रघुपतेर्देवस्य सत्यं यतो वैदेहि त्वदसन्निधौ भगवता वाली निराशाहतः । नित्ये कापि बभूवंधं तव तु सास्त्रिण्ये त्वदङ्गव्यथां कुर्वाणोऽप्यभितः पतञ्जशरणः काको विवेकोक्तिमतः ॥” हे वैदेहि ! आप के सास्त्रिण्य में ही रघुनाथजी की दया व्यक्त होती है, आप का

आह्वान

भारत के तपःपूत आचार्यों, महात्माओं, विद्वानों और भद्र पुरुषों तथा महिलाओं !

विदेशी शासन आप के धर्म पर तरह-तरह के अत्याचार कर रहा है । अभी तक छल-छद्म द्वारा ही उसको नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था, पर अब ‘हिन्दू कोड’ तो उस पर प्रत्यक्ष घातक प्रहार है । ‘राव कमेटी’ ने उस के रूप में ‘हिन्दू धर्मशास्त्र-संग्रह’ तैयार किया है । यदि वह कानून बन गया तो फिर हिन्दूओं के धार्मिक तथा सामाजिक व्यवहार उसी के आधार पर चलेंगे । जिस धर्म के हेर-फेर में ईश्वर का भी अधिकार नहीं, उस में कुछ अहिन्दू तथा केवल नामधारी हिन्दू तत्पर हो रहे हैं । क्या आपको यह मान्य है ? यदि नहीं, तो इस का घोर विरोध कीजिये और नवरात्र की अष्टमी को व्रत करके इस सङ्कट को टालने के लिए भगवान् से प्रार्थना कीजिए । साथ ही आवश्यकता पड़ने पर क्रियात्मक वैध विरोध में सब प्रकार के कष्ट सहने के लिए कटिबद्ध हो जाइये ।

भारत के होनहार आस्तिक नवयुवकों !

विदेशी सरकार तुम्हें राजनीतिक पराधीनता में जकड़ कर अब रही-सही तुम्हारी धार्मिक स्वतन्त्रता को भी नष्ट करने जा रही है । जिस धर्म की रक्षा के लिए भगवान् राम, भगवान् कृष्ण पधारे, जिस के लिए नल, युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र आदि ने अनेक कष्ट सहें, क्या अपने रहते तुम उसे नष्ट होने दोगे ? यदि नहीं, तो ‘हिन्दूकोड’ के विरोध में अपनी सारी शक्ति लगा दो और आवश्यकता पड़ने पर धर्मयुद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाओ । नवरात्र अष्टमी को व्रत करके क्रियात्मक वैध विरोध के लिए संघटन आरम्भ कर दो ।

कार्य की सूचना ‘धर्मसंघ कार्यालय, काशी’ को भेजो ।

(सुनिश्चित)

ब्रह्म की मधुरिमा भी भगवती ही है । भावकों की भावना है कि आनन्द रससारसरोवरसमुद्रतपस्त्रय ब्रज है, पङ्कज के केसर-व्रजाङ्गनाएँ हैं, सकरन्द कृष्ण हैं, सकरन्द का मधुपर्क, मिठास, सौगन्ध्य आदि राशिका है । यही दृष्टि सीता, गौरी आदि में समझनी चाहिए । इस दृष्टि से भगवती का स्वरूप ही सर्वान्तर्गत और सर्वोत्कृष्ट ठहरता है ।

ब्रह्मजाया

अनेक स्थानों से भगवती की परमात्मा की भोगदा भार्या बतलाया गया है—“निगुणः परमात्मा तु स्वदाशयतया स्थितः । तस्य महारिकासि स्व-मुक्तेनैव भोगदा ॥” निगुण परमात्मा ही भगवती के आभयरूप से

स्थित है, भगवती उस की भोगदा भक्षिका हैं, अतएव वही भुवनेश्वरी है।
-जीव, ईश्वर आदि अन्यान्य सभी वस्तुएँ भगवती की ही सन्तान हैं—
“मायाख्यायाः कामधेनोर्वस्ती जीवेरवराधुमौ ।” (शक्तितत्त्वदर्शिनी)
जैसे वह्नि और उस की दाहिका शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है,
वैसे ही परमात्मा और उस की शक्ति का तादात्म्यसम्बन्ध है—“तादात्म्य-
मनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ।”

भगवती की ब्रह्मरूपता

केवल शक्तिरूप से ही नहीं, किन्तु ब्रह्मरूप से भी अनेकों स्थलों में उसी का प्रतिपादन मिलता है। “अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा प्रतिव्यवस्थधिष्ठानसत्त्वैकमूर्तिः । गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥” अचिन्त्य अमृत आकारों की मूलभूता शक्ति भी भगवती ही है और प्रत्येक व्यक्तियों की अधिष्ठानभूता सत्तास्वरूपा भी वही है, वही गुणातीत है। निर्विकल्प बोध से ही स्वप्रकाशरूपेण भगवती की अवगति होती है, अतएव अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप से भगवती नित्य ही प्रसिद्ध है।

‘केनोपनिषद्’ में ब्रह्मविद्यारूप भगवती का वर्णन मिलता है। उसी की कृपा से इन्द्र आदिकों को ब्रह्मस्वरूप का बोध हुआ था। जब इन्द्र के सामने से ब्रह्म का अन्तर्धान होगया, तब इन्द्र लज्जित होकर उसी आकाश में खड़ा रह गया और तपस्या करने लगा। बहुत दिनों की तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवती इन्द्र के सामने प्रकट हुई—“स तस्मिन्ने-
वाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानासुमां हैमवतीम् ।” इन्द्र ने उसी आकाश में बहुशोभमाना हैम अलङ्कारों से युक्त ब्रह्मविद्यारूपा भगवती को देखा और उस की कृपा से ब्रह्म को जाना। शक्ति के उपासकों का तो शक्ति सर्वस्व है ही, परन्तु तत्तद्देवताओं के उपासकों को भी शक्ति की आराधना करनी पड़ती है। यहाँ तक कि शक्ति की उपासना के विना उन-उन देवताओं की प्राप्ति ही नहीं होती ‘संमोहन तन्त्र’ में तो स्पष्ट ही यह उक्ति है कि गौर तेज राधिका की उपासना किये विना जो केवल श्यामतेज कृष्ण की आराधना करता है, वह पातकी होता है—“गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत् । जपेद्वा ध्यायेत् वापि स भवेत् पातकी शिवे ।”

लक्ष्मचण्डी महायज्ञ-संस्मरण

(श्री स्वामी करपात्री जी)

लक्ष्मणपुर (लखनऊ) में लक्ष्मचण्डी महायज्ञ श्री भगवती की कृपा से सम्पन्न हुआ। ‘छाद दे छदा दे लादनवाला साथ कर दे’ की उक्ति यहाँ सर्वथा ही चरितार्थ हुई। एक विचित्र सूचना से यह धारणा उत्पन्न हुई कि पाँच लक्ष्मचण्डी होनी चाहिए। कब हो, कहाँ हो इसकी कोई भी कल्पना न थी। कुछ ही दिनों बाद श्री विन्ध्यक्षेत्र से पत्र आया कि यहाँ का विद्वन्मण्डल लक्ष्मचण्डी करना चाहता है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रयाग की यात्रा में विन्ध्याचल पहुँचने पर यह निश्चय हुआ कि जब मैं भी रहूँ तभी यह कार्य हो सकता है। परन्तु निर्विघ्नता सिद्धयर्थ अभी से चण्डी-पाठ का सङ्कल्प हो जाना चाहिए। अम्बा की अनुमति जानकर गत माघ कृष्ण में ही सङ्कल्प हो गया। प्रयाग पहुँचने पर स्वामी चिद्बनानन्द से ज्ञात हुआ कि उन्होंने ने लखनऊ में लक्ष्मचण्डी करने का विचार कर लिया है। यह और हर्ष की बात हुई। परन्तु विचार यह हुआ कि वहाँ पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सके तभी जाना अच्छा होगा। उन्होंने ने कहा “सब हो जायगा, निष्काम भावना से पाठ करनेवाले ब्राह्मण मिल जायेंगे।” बहुत कुछ पूछने पर भी राय न बदली, अन्त में पहुँचने की स्वीकृति दे दी गयी। विज्ञप्तियों और पत्रों में ‘हम लोगों के तत्वावधान में लक्ष्मचण्डी होने’ की नार्त निकलने लगी। प्रयाग से चलकर प्रतापगढ़, रायबरेली, उन्नाव के अनेक नगरों तथा राज्यों में जाना हुआ, प्रसङ्गानुसार लक्ष्मचण्डी की चर्चा भी होती रही। कानपुर पहुँचकर भी विश्वम्भरनाथ बाजपेयी को स्थिति का अन्दाजा लगाने के लिए लखनऊ भेजा गया, जिस से यह निश्चय किया जा सके कि वहाँ जाना चाहिए या नहीं? इसके पहले से ही वहाँ की कठिनाइयों का पता लगने लगा था। बाजपेयी जी ने वहाँ से आकर कहा कि

“परिस्थिति थी तो कठिन, परन्तु अब ठीक हो गयी।” स्वामी चिद्बनानन्द ने भी यही कहा और चलने के लिए आग्रह किया। अस्तु, विद्वर के विचल्य और यज्ञ की व्यवस्था को देखते और अनेक सद्गुरुशास्त्राओं को स्थापित करते हुए उन्नाव पहुँचे। वहाँ मालूम हुआ कि लखनऊ में अभी तक कोई भी अनुकूल स्थिति नहीं है। एक भाव ऐसा उठने लगा कि न जाया जाय, परन्तु घोषणाओं का ध्यान रखकर अन्त में चलना ही निश्चय हुआ। लखनऊ से लगभग १५ मील दूर पर ही स्वामी चिद्बनानन्द जी और कुछ नागरिक आकर मिले। उनसे पूछने पर पता लगा कि “अभी तक कोई भी सामग्री ठीक नहीं है। कल पूर्णिमा है, उस के पाँचवें दिन-तृतीयाश्विनी की तिथि है। कुण्ड, मण्डप आदि भी अभी तक बनने प्रारम्भ नहीं हुए हैं। रुपये का भी प्रबन्ध नहीं है, सरकारी प्रतिबन्ध भी पर्याप्त है, उस में शिथिलता न हो सकेगी। ‘राशनिक्’ जारी होनेवाला है, दस सेर से अधिक सामान नहीं यिल सकता, अधिक इकट्ठा करने पर जप्त कर लिया जायगा और मुकदमा ऊपर से चलेगा।” इन स्थितियों को जानकर चित्त में आया कि ‘अब वहाँ चलना ठीक नहीं।’ परन्तु एक सेठ ने रुपियों की बात करते हुए कहा कि “रुपिया खुदा नहीं तो खुदा से कम भी नहीं है।” मुझे यह बात सहन न हुई, मैंने कहा कि “भाई ऐसा न कहो, रुपया तुच्छ है ईश्वर की बराबरी उस से नहीं होती। लाखों रुपये ठोकर खाते हैं और तरसते हैं कि हम भी काम में ले लिये जायें पर नहीं लिये जाते।” अस्तु, वह चुप हो गया, स्वामी चिद्बनानन्द जी को कहा गया कि “जाकर जो लोग यज्ञ से प्रेम रखते हैं उन लोगों से सलाह लो कि क्या यज्ञारम्भ ठीक है अथवा टाल देना?” अपने लोग शहर से दूर ही एक मन्दिर में टिक गये। भावना चल रही थी और उस से भी कठिनाइयों ही का अनुभव हो रहा था। अकस्मात् प्रातःस्नानादि के पश्चात् रुचि हुई कि भगवान का सङ्केत प्राप्त किया जाय, जैसा सङ्केत हो वैसा किया जाय। कई पक्ष रखे गये, परन्तु भगवान् का सङ्केत यही हुआ कि “चलना चाहिए, यज्ञ होगा और धीरे धीरे सब ठीक हो जायगा।” बस, हिम्मत बँध गयी, कुछ देर में नगर के लोग आ गये। वहाँ की बातें उ्यों कि त्योथीं ही, कुछ प्रतिष्ठित लोग भी अभाव की ही चर्चा कर रहे थे, परन्तु उन से कहा गया कि “किसी पर दबाव नहीं डालना चाहिए। अपनी रुचि से जो भी काम करना चाहे करें। हाँ, मण्डप-निर्माण शीघ्रता से होना चाहिए। जो भी द्रव्य हो उसी में लगा देना चाहिए।” लोगों ने मान लिया और विश्वास करके काम करना आरम्भ कर दिया। पूर्णिमा और प्रतिपदा को होली की ही धूम रही, द्वितीया को भी कोई काम न हो सका। तबतक सङ्केत विशेष प्राप्त हुआ कि “अमुक अमुक देवता की अमुक अमुक ढङ्ग से पूजा की जाय।” आज्ञानुसार कार्य चलने लगा, ब्राह्मण भी काशी आदि से आने लगे। कानपुर में श्रीमान् पं० राम-यशजी ने पूछा था कि “आप पहुँचेंगे कि नहीं?” मैंने कहा “अवश्य पहुँचने का विचार है। ब्राह्मण लोग काशी से आने को तय्यार हैं कि नहीं?” उन्होंने कहा “यदि आप जायेंगे तो अवश्य ब्राह्मण आयेंगे, परन्तु भोजन के प्रबन्ध में भी गड़बड़ी है, अब तो सुनते हैं ठीक हो रहा है, पर दक्षिणा, मार्गव्ययादि की सम्भावना नहीं है।” अस्तु, काशी से लगभग ६०० ब्राह्मण और चारों वेद के विद्वान् भी आ गये। लखनऊ, अयोध्या तथा अन्य जगहों के विद्वान् यहाँ तक कि महास प्रान्त के भी कुछ योग्य वैदिक पहुँच गये। बाजपेयी विश्वम्भरनाथ जी, श्री स्वामी चिद्बनानन्द जी, श्री तेजशङ्कर जी आदि स्थानीय अनेक सज्जन यथासम्भव प्रयत्न कर ही रहे थे, कुछ यव का आटा आदि आया, जलपान की आवश्यकता पड़ने पर चना और गुड़ बँटवाया गया। हाँ, इसके पहले ही सत्यनारायण की पूजा करके श्री अन्नपूर्णा तथा गणेश जी का अनुष्ठान बिठला दिया गया था। अन्नपूर्णा अम्बा की कृपा के बल पर ही तो सब काम ही था। यजमान निश्चित हो गये और कर्मकाण्डनिष्णात आचार्य पं० रामनाथ जी आ गये। आप कहीं बहुदक्षिण याग के आचार्यरूप से निमन्त्रित थे, परन्तु धर्मसङ्घ के कार्य में आप ऐसी भ्रष्टा रखते हैं कि अन्य कार्य्यों को छोड़कर भी सम्मिलित होते हैं। सारांश यह कि ब्राह्मण लोग यव की रोटी तथा चना-चवेना चबाकर अनुष्ठान में लग गये और मण्डप में कार्यारम्भ हुआ। पहले तो यहाँ ऐसी उदासी थी कि दर्शन करनेवालों की भी कमी थी। पूज्यपाद श्री शास्त्राचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर जी के पधारने पर इन का शूल बड़ी अच्छी रीति से निकला। ‘राशनिक्’ वालों ने भी अपनी कड़ाई

जारी की, पर जहाँ आयाशक्ति भगवती विराजमान हो, वहाँ कोई कठिनाई क्या हो सकती है ? यह तो बालकों की परीक्षा थी। कुछ सेठ लोग इकट्ठे होकर आये और कहने लगे कि "भोजन का भार हम लोग उठाते हैं, परन्तु कोई हमारे काम में दुखल न दे।" यह कहकर वहाँ आपस के चन्दे की बात और खींचातानी करने लगे। इस पर मैंने कहा—“हे कबीर वह खून बराबर जामें खींचातानी। भाई भ्रष्टा से जो कर सके, वही ठीक है।” वे सज्जन चले गये और काम न कर सके। हाँ, (अन्नपूर्णा की प्रेरणा से) उन में से कुछ ने अवश्य काम किया। सुनने में आया कि कुछ लोगों ने भोजन के लिए १० हजार का चन्दा दिया परन्तु वह स्वीकार न किया गया। फिर अन्नपूर्णा की कृपा से सेठ कुन्दनलाल जी और उन के किसी सम्बन्धी ने पक्को खानेवालों के लिए भण्डारा जारी कर दिया और जलपान का भी अच्छा प्रबन्ध कर दिया। श्री तेजशङ्कर और अनेक सज्जनों ने जो काम कर रहे थे, कच्ची खानेवालों का भी प्रबन्ध कर लिया। अब तो घृत भी ठीक मिलने लगा, वरुण के लिए धोती आदि भी मिल गयी। इधर अम्बा की कृपा से निश्चिन्तता हुई, उधर सभा का काम भी जोरों से बढ़ा। लाउड-स्पीकर लग गये, ५० हजार से अधिक जनता की उपस्थिति होने लग गयी। कोर्डावरोधी सम्मेलन, गोरक्षा और अखण्ड भारत सम्मेलन के अनन्तर युक्तप्रान्तीय धर्मसङ्घ का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। जिस में अनेक

प्रस्ताव पास हुए। म० म० गिरिधर-शर्मा, श्री अखिलानन्द जी, पं० माध-वाचार्य जी, श्री ब्रजमोहन जी दीक्षित, स्वामी स्वरूपानन्द जी, श्री ब्रह्मानन्द आदिकों ने बड़ा परिश्रम किया। इधर अपने साथ का ब्रह्मचारी वर्ग भी अनुष्ठानों तथा अन्य कार्यों में लगा था। श्री महाशय जी के परिश्रम का तो कहना ही क्या ? पं० सभापति, पं० रुद्रदत्त आदि भी कार्यों में संलग्न थे। लखनऊ के भी सभी सज्जन अन्त में सम्मिलित हुए। कुछ काङ्ग्रेसियों ने भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया। सभा में एक सज्जन जो प्रधान व्यक्ति हैं, जिज्ञासा भाव से एक प्रश्न किया; जिस का सन्तो-षप्रद समाधान कर दिया गया। अब प्रश्न उपस्थित हुआ दक्षिणा का। कुछ रुपया नागरिकों के यहाँ से, कुछ रिया-सतों से आ गया था। अब दैवीप्रेरणा से रायबहादुर सेठ रामेश्वरप्रसाद दूधवे-वाले आ गये और १० हजार रुपया दे गये। इसतरह मार्गव्यय और दक्षिणा का भी काम चल गया। ग्यारह-बारह सौ ब्राह्मणों ने दिन-रात परिश्रम करके लक्षचण्डीपाठ और नवकुण्डों के द्वारा ही कार्यों सम्पन्न किया। यद्यपि इस यज्ञ का आरम्भ हुआ साधारण तथापि अम्बा की कृपा से समाप्ति बड़ी ही सुन्दर और सज्जज के साथ हुई। अबमृथ स्नान में लाख से अधिक भीड़ का अखबारी समाचार है। इस में लखनऊ के प्रतिष्ठित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी सम्मिलित हुए। राजासाहब दतिया, राजासाहब कालकांकर, लाल साहब ढिंगवस, हिन्दू सभा के प्रमुख नेता राजा महेश्वरदयाल सेठ, रानी साहबा तिलोई, रानी पन्हीना, रानी

“प्रश्नकर्ता श्री बालमुकुन्द जी बाजपेयी थे। आप ने हमें लिखा है कि “मेरी एकमात्र शक्ती या आपत्ति इतनी ही थी कि धर्मपालन तो ठीक ही है पर क्या अर्थनीति की सिद्धि के लिए आर्थिक उपायों और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए राजनीतिक आन्दोलन की आवश्यकता नहीं है ? उत्तर में श्री महाराज जी ने बड़ी उदारता से घोषित किया कि “हमारा कदापि यह अभिप्राय नहीं कि रोटी के पक्ष को हल करने के लिए अथवा अन्याय-आपदाओं के निवारण के लिए प्रयत्न न किया जाय, हम तो केवल इतना ही चाहते हैं कि अपने धर्म को बिना छोड़े भगवान् का आश्रय ग्रहण किये रहने के साथ साथ सब प्रकार के प्रयत्न किये जायें।” —(सं०)

इधरा आदि बहुत से ज्ञात-अज्ञात, राजा-रईय सम्मिलित हुए। विदेशी भी दर्शन करने आये। भगवती के चरणारविन्दों के सब काम ठीक ही होते हैं। वस, यही विश्वास बढ़ होना चाहिए। परन्तु यह भी उसी की कृपा से सम्भव है।

धर्मसङ्घ समाचार

श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज की यात्रा—

शाहजहाँपुर—जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य जी महाराज के साथ श्रीस्वामीजी यहाँ पधारे। दूसरे दिन सनातनधर्म सभा का उत्सव मनाया गया, जिस में इस सभा तथा ब्राह्मण सभा की ओर से श्रीचरणों में अभिनन्दन पत्र उपस्थित किया गया। ‘सगोत्र बिल’ तथा ‘हिन्दूकोड’ का विरोध किया गया। प्रस्ताव में सरकार को सावधान करते हुए कहा गया कि—हमारे घोर विरोध करने पर भी यदि ये बिल कानून रूप में पास हो गए तो भी हम सनातनीधर्मों इन को अपने व्यवहार में कानून का स्थान नहीं देंगे। एक प्रस्ताव द्वारा सभा को धर्मसंघ की शाखा रूप में रखना निश्चित हुआ।

जनता ने बड़ा उत्साह दिखाया।

[रामलाल जेतली] बरेली—दूसरे दिन श्रीमहाराज जी यहाँ पधारे। राधेश्याम प्रेस में महती सभा हुई और ‘कोड-विरोधी’ प्रस्ताव पास किया गया। फर्रुखाबाद—यहाँ के लिए ब्रह्मचारी मार्कण्डेय जी शाहजहाँपुर से ही चल चुके थे। मार्ग में कर्णपुरदत्त गाँव में वहाँ के निवासी बड़ी उत्सुकता से श्रीमहाराजजी के स्वागत की तयारी कर रहे थे, उन को समझाया गया और सभा करके ‘कोड विरोधी’ प्रस्ताव पास किया गया। बरेली से अनन्त-श्रीविभूषित जगद्गुरुजी के साथ श्री महाराजजी फर्रुखाबाद पधारे। हिन्दू मुसलमान सबने मिलकर बड़ी धूमधाम से स्वागत किया। उस दिन नगर क सब दुकानें बन्द रहीं। संस्कृत पाठ-शाला में धर्मसङ्घशाखा स्थापित हुई। जिस के शिवदत्तजी शुक्ल सभापति

आभार-प्रदर्शन

इस अङ्क के साथ ‘सिद्धान्त’ का पाँचवां वर्ष समाप्त हो रहा है। सरकारों ‘कागज नियन्त्रण आज़ा’ के कारण इस वर्ष उस के कई रूप बदलने पड़े। अगले वर्ष से वह ‘अखबारी कागज’ (न्यूजप्रिण्ट) पर छपने जा रहा है। धन देकर, ग्राहक बनकर तथा बनाकर, लेख भेजकर तथा पढ़कर जिन लोगों ने हमारी सहायता की है, उन के हम बड़े कृतज्ञ हैं। प्रेस से छपाई का रेट बढ़ाने की सूचना हमारे पास अभी से आ गयी है, जिस के फलस्वरूप अगले वर्ष हमारा खर्च लगभग एक हजार रुपिया बढ़ जायगा। अब दो ही उपाय रह जाते हैं या तो वार्षिक मूल्य बढ़ाया जाय या कहीं से इतनी आर्थिक सहायता मिले कि वर्तमान मूल्य में पत्र सर्वसुलभ बना रहे। इस पर अभी विचार चल रहा है। अगले वर्ष पहले से भी अधिक सब का सहयोग तथा सहाय्य प्राप्त किये बिना यह सङ्कट दूर न होगा। भगवान् के भरोसे ही हम श्री रामनवमी से छठा वर्ष आरम्भ कर रहे हैं। —गदाधर ब्रह्मचारी

और शिवचरणजी मन्त्री नियुक्त हुए। चन्दौसी—यहाँ सनातनधर्म सभा का स्वर्णजयन्ती महोत्सव हो रहा था। श्रीआचार्यचरणों का जुलूस बड़े समारोह से निकाला गया। दो दिन तक महात्माओं के प्रवचन होते रहे। नरवर विशालय के अधिष्ठाता ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्त जी भी पधारे थे, आप ने भी अपने उपदेश से जनता को कृतार्थ किया। एक यज्ञ भी हुआ, जिस में श्री ओझारशङ्कर जी ने याज्ञिकों को स्वर्णदान से सम्मानित किया। (विष्णुदत्त शर्मा) मुरादाबाद—यहाँ ऋषिकुल में आप लोगों के निवास का प्रबन्ध किया गया। उस दिन धर्मसंघ का अधिवेशन हुआ, जिस के अध्यक्ष श्री १०८ स्वामी गोपालतीर्थजी महाराज हुए। ऋषिकुल तथा ‘जवाहरलाल संस्कृत विशालय’ की ओर से श्रीचरणों की सेवा में अभिनन्दन पत्र अर्पित किया गया। सभा में ‘कोड विरोधी’ प्रस्ताव पास हुआ। श्री आचार्यप्रवर और श्रीस्वामीजी महाराज के प्रवचनों से जनता बड़ी प्रभावित हुई। जेठ—एप्रैल को श्रीआचार्यचरण स्वामीजी सहित यहाँ पधारे। रात ही से नगर के बाहर जनता की अपार भीड़ संघ का भण्डा लिए प्रतीक्षा में खड़ी थी। बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया गया। बाबा यादवगिरि के मन्दिर में, जहाँ सहस्रचण्डी यज्ञ हुआ था, आपने विभ्राम किया। एक ही दिन में धर्मसंघ मोरीपाड़ा, सनातनधर्म सभा सदर और सनातन-धर्म सभा शहर में सभाएँ हुईं। तीनों जगह कोड-विरोधी प्रस्ताव पास हुए।

आचार्यचरणों के उपदेशाश्रित से जनता कृतवृत्त हुई। श्रीस्वामीजी महाराज का 'हिन्दू-कोड' के विरोध में बड़ा ओजस्वी भाषण हुआ। आपने कहा—अब केवल हस्ताक्षर करने, तार देने या सभा करने से काम न चलेगा। परन्तु अब धर्म के निमित्त मर मिटने के लिए 'धर्मप्रदी' बनना पड़ेगा। हमारे एक ही आवाहन पर आप के जत्थे के जत्थे देहली पहुँचने चाहिएँ। यह सब कार्य केवल परमात्मा के ही भरोसे पर रहकर हो सकता है।" [कृष्णप्रसाद शर्मा] मुजफ्फरनगर—यहाँ भी बड़ी धूमधाम से स्वागत हुआ। सभा में कोड-विरोधी प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ। श्री जगद्गुरुजी महाराज तथा स्वामीजी महाराज का प्रवचन जनता ने बड़ी श्रद्धा से सुना। रुडकी—यहाँ भी जुलूस निकाला गया और सभा में कोड-विरोधी प्रस्ताव पास किया गया। श्री ब्रह्मचारी मार्कण्डेयजी तथा पं० श्रीमयादत्तजी के कोडविरोध पर भाषण होते रहे। हरद्वार—यहाँ धर्मसङ्घ का विशेषाधिवेशन होने जा रहा है। श्री महाराजजी इस समय 'विहारी भवन, भूपतवाला' में विराज रहे हैं।

धार्मिक अनुष्ठान तथा अधिवेशन—

महदवा, जि० मिण्ड (गवालियर)—श्री १०८ योगिराज महात्मा परशुरामदासजी के तत्वावधान तथा म० म० श्री चिन्मस्वामी शास्त्री के नेतृत्व में 'धर्मरत्नान्यधर्माभ्युत्थाननिवृत्ति' तथा 'विश्वकल्याण' के उद्देश्य से त्रिलक्ष होमात्मक महाविष्णुयज्ञ आगामी रामनवमी से पूर्णिमा पर्यन्त होने जा रहा है। विभिन्न प्रान्तों से समागत महात्मा तथा विद्वानों के प्रवचन, उपदेश आदि होंगे। धर्मातुरागी महानुभावों की उपस्थिति प्रार्थनीय है। [माताचरण शास्त्री—मन्त्री, प्रबन्ध समिति]। सूरतगढ़ (बीकानेर)—यहाँ भी 'शतचण्डी' यज्ञ की तयारी हो रही है। पं० हूँगरदत्तजी पुजारी ने सङ्घ के निमित्त एक 'लक्ष' गायत्री जप तथा रामायण पारायण किया है, प्रति अमावस्या को हवन होता है। (ब्रजलाल सरावगी)। वेङ्गा—जि० प्रतापगढ़—ठा० शमशेरबहादुरसिंहजी ने सङ्घ के सङ्कल्पानुसार २४ घण्टे श्रीहरिकोत्तन कराया। उपस्थित जनता ने प्रतिदिन कुछ भगवन्नाम जप और जीव न मारने की प्रातिज्ञा की (परमेश्वर दयाल)। सण्डीला जि० हरदोई—श्रीरामप्रसादजी जायसवाल, श्रीलक्ष्मीचन्दजी गुप्त के प्रयत्न से श्री मुरारेश्वर के मन्दिर में तथा श्रीहरिशङ्करजी के स्थान पर दो दिन तक अखण्ड श्रीहरि कीर्तन हुआ। विश्वकल्याणार्थ पुरुषोत्तम मास में श्रीसनत्कुमार संहिता का भी पाठ हुआ (बाबूलालगुप्त 'श्याम')। वज्ज्रा—श्री बालाजी मन्दिर में श्रीरामायणप्रचारसमिति के तत्वावधान में सात ब्राह्मणों द्वारा श्रीमद्भागवत के सप्त सप्ताह पारायण हुए। दशमस्कन्ध के स्वाहाकार तथा ब्राह्मणभोजन के साथ समाप्ति हुई (रघुनन्दन शर्मा)। नोहर-बीकानेर—अग्निहोत्री श्रीबालकरामजी के आचार्यत्व में अतिरुद्रयाग सम्पन्न हुआ। स्थानीय सङ्घ का अधिवेशन भी हुआ, जिस में श्री स्वामी नरोत्तमाश्रमजी, शङ्कराश्रमजी, म० म० गिरिधरशर्माजी, श्रीमाधवाचार्यजी और अखिलानन्दजी आदि ने भाग लिया। (श्रीनिवासाचार्य) जालन्धर—श्री कृष्णमन्दिर में जपयज्ञ विश्वकल्याण की भावना से हुआ। वेदपाठ, दुर्गापाठ, गायत्री जप आदि भी चलते रहे। अन्त में सिंह-बाहिनी महादुर्गा की सवारी निकली और एक पुस्तकालय स्थापित हुआ (द्वारिकाप्रसाद)। बीवापुर—जि० उन्नाव—स्थानीय सङ्घ के अध्यक्ष डा० श्याममनोहरजी अग्निहोत्री के यहाँ विश्वकल्याणार्थ श्रीरामचरितमानस का अखण्ड पारायण हुआ, तीन दिन तक हवन, कीर्तन, उपदेशादि चलते रहे। जनता बड़ी श्रद्धापूर्वक भाग लेती रही। डा० साहव का प्रयत्न सराहनीय रहा (गदाधरप्रसाद पाण्डेय)। कटराबाजार-छपरा—सङ्घशाखा की ओर से विश्वकल्याणार्थ बाबा मनस्कामनानाथजी के मन्दिर में ब्रह्मविषेक सम्पन्न हुआ (रामपुकार)। अमृतसर—श्री रघुनाथजी के मन्दिर में भक्त मोहनलालजी के सत्संग में १०८ रामचरितमानस के पाठ हुए। अनेक भाई-बहनों ने मिलकर इस पुण्यकार्य को सम्पन्न किया। समाप्ति पर भजन कीर्तन का जो आनन्द बना, वह वर्णन नहीं किया जा सकता। अन्त में ब्राह्मण तथा गरीबों को खन भोजन कराया गया (मूलराज कपूर)। बिवाई जि० बुलन्दशहर—स्थानीय सनातनधर्म सभा का गत मास का अधिवेशन हुआ। श्रीस्वामी दर्शनानन्दजी

पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, पं० मनोषारामजी शास्त्री, श्री शिवदत्तजी शास्त्री आदि के सारगर्भित भाषण हुए। कोड विरोधी जोरदार प्रस्ताव पास हुए। जनता ने बड़ा उत्साह दिखलाया (दुलोचन्द अग्रवाल)। मेरठ—श्री सनातनधर्म सभा सदर का वार्षिकोत्सव ता० ६-७-८ अप्रैल को बड़े समारोह के साथ समाप्त हुआ। बाहर से प्रो० वशिष्ठ शर्मा एम. ए., पं० गिरजेशकुमार जी शास्त्री, पं० चन्द्रशेखर जी शास्त्री आदि पधारे थे। उत्सव में हिन्दूकोड विरोधी सम्मेलन, हिन्दी सम्मेलन, महिला सम्मेलन, भी हुए। 'कोड विरोधी सम्मेलन' में मेरठ के सनातनधर्मी, आर्यसमाजी तथा जैन भी सम्मिलित हुए। (मदनगोपाल सिंहल)

हिन्दू कोड विरोध—

'अखिल भारतीय हिन्दू कोड विरोध समिति' ने यह निश्चय किया है कि 'राव कमेटी' के पास विरोध में जितने लिखित वक्तव्य गये हैं और जो गवाहियाँ हुई हैं, उन सब का एक संग्रह पुस्तकरूप में शीघ्र ही प्रकाशित किया जाय। अतः जिन लोगों ने लिखित वक्तव्य भेजे हैं और जिन्होंने गवाहियाँ दी हैं, उन से प्रार्थना है कि वे अपने वक्तव्य की एक प्रतिलिपि शीघ्र ही 'मन्त्री, अखिल भारतीय हिन्दू कोडविरोध समिति, ३१ बकस्ता स्ट्रीट, कलकत्ता' के पास भेज दें। (सूर्यनाथ पाण्डेय)

वीरस्तुति

(श्री केशवमणि शास्त्री)

स्तुति में, किस की स्तुति की जाय यह बात तो प्रधान है ही, परन्तु स्तोता के प्रकृति की भी उस पर कुछ छाप होती है। साधारण पुरुषों की स्तुति में यह बात सङ्गत न हो सकेगी। क्योंकि स्तोता की प्रकृति के अनुसार ही स्तोतव्य हो, यह कठिन है। लोक में स्तोता अपने स्तोतव्य के गुणों, कर्मों को हँदकर उन्हें अतिगजित करके प्रायः लोभ से उन की प्रशंसा किया करते हैं। वास्तव भाव उन में बहुत ही कम होता है। किन्तु ईश्वर-तत्त्व ही एक ऐसी वस्तु है, जिस में अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार स्तोताओं को उस की स्तुति करने को मिल जाती है। सच तो यह है कि किसी लोकोत्तर गुणगणावलीसम्पन्न भगवत्तत्त्व के अभाव में स्तुति का ही अस्तित्व कठिन हो जाता। यह सूक्ति सचमुच ही चरितार्थ होती—“अद्यापि दुर्निवारं स्तुतिकन्या वहति कौमारम्। सद्भ्यो न रोचते सा सन्तोऽप्यस्यै न रोचन्ते।” पितामह भीष्म का महाभारत में एक ज्वलन्त चरित है। यदि सच कहा जाय तो कौरवों को एकमात्र इन्हीं का बल था। जिस समय इन के घनुष की टङ्कार होती, वीरों के भी हृदय दहल जाते थे। 'महाभारत' इन के विरत होने पर ही समाप्त हुआ। वे मृत्युञ्जयी योद्धा थे। कुरुक्षेत्र में शरशय्या पर सुख से सो रहे थे। उन्हें उत्तरायण में शरीर छोड़ने की प्रतीक्षा थी। श्रीकृष्ण विजयी किन्तु मोहग्रस्त पाण्डवों को राज-धर्म की शिक्षा दिलाने उन के पास ले गए। साथ में देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि सभी थे। भगवान् कृष्ण को वे तत्त्वतः समझते थे, उन के वे परम भक्त थे। उन्हें उस समय आया जानकर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। पर उठ तक नहीं सकते थे, कैसे पूजा-आतिथ्य करते? मायाशरीरधारी उन भगवान् की उन्होंने ने हृदय में ही पूजा की और पाण्डवों को धर्मोपदेश करते हुए एक दिव्य स्तुति की, जो भागवत में भीष्म-स्तुति के नाम से प्रसिद्ध है। (स्क० १ अ० ९ श्लोक ३२ से ४२ तक) ११ मनोहर पद्यों में यह हृदयप्रादी स्तवन है। हमारे विचार से भागवतभर में शायद ही इस कोटि की कोई स्तुति मिले। हमारी इच्छा प्रत्येक पद्य को विशद भावों सहित उपस्थित करने की थी, परन्तु संक्षेपता के कारण उस का एक ही पद्य यहाँ प्रस्तुत करेंगे—“युधि तुरगरजोविभूजविरवक्कचलुलितभ्रमवायलङ्कृतास्ये। मम निशित-शरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसकवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥” युद्धों में घोड़ों की टापों से रज उड़कर जिन के केशों में प्रदी है, जिस से वे धूसर-वर्ण के हो गए हैं, इधर उधर हिल-डुल रहे हैं, सारथ्य के परिग्रम से जिन के मुख-मण्डल पर स्वेदबिन्दु बह रहे हैं, जो केशों से इधर उधर फैलाए जा रहे हैं, इसी से जिन का मुखमण्डल अलङ्कृत हो रहा है और मेरे तीखे बाणों से जिन का देह छिद गया है, बाणों की तीखी मार से जिन की कवच भी चूर-चूर हो गया है, उन वीरशेखरमणि अर्जुन के सखा श्रीकृष्ण में मेरी आत्मा मिल जाय।

